राजस्थान का इतिहास

[प्रारम्भिक काल से मध्ययुग तक]

प्रथम भाग

डा० गोपीनाथ शर्मा, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०
प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी
पुस्तक-प्रकाशक एवं विक्रेता आगरा-३

प्रधान कार्यालय
अस्पताल रोड,   –३
●
शाखाएं
चौडा रास्ता, जयपुर ● खजूरी बाजार, इन्दौर

प्रथम संस्करण . १९७१
मूल्य   बीस रुपये

शिव आर्ट प्रिण्टर्स, आगरा–३

भूमिका

राजस्थान के इतिहास पर कर्नल टॉड, कविराज श्यामलदास, डा० ओझा, पण्डित रेऊ आदि लेखको ने अपने गण्यमान ग्रन्थो मे ऐतिहासिक घटनाओ का विवेचनात्मक वर्णन किया है, जो सवथा स्तुत्य है। परन्तु नयी खोज सम्बन्धी सामग्री के उपलब्ध हो जाने से इनके द्वारा प्रतिपादित कई विषयो पर पुन विचार करने की आवश्यकता हो गयी है। प्रस्तुत पुस्तक मे इन ग्रन्थो के साथ-साथ ऐसे नये साधनो का उपयोग किया गया है कि विभिन्न विश्वविद्यालयो के विद्यार्थियो के के सम्मुख राजस्थान का इतिहास विशद रूप से उपस्थित हो सके। इसमे राजनीतिक उथल-पुथल, राज्य-विस्तार आदि क्रमो के वर्णन के साथ-साथ विचारो की गतिविधियो तथा सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सास्कृतिक जीवन की झाँकियो को इस प्रकार सँजोया गया है कि एक दीर्घकाल का दृश्य पाठको के नेत्रो के सामने स्पष्ट हो सके। यथास्थान सहायक ग्रन्थो तथा उनके अवतरणो के अशो को देकर पाठक के वैज्ञानिक विश्लेषण की जिज्ञासा को बढाने की चेष्टा की गयी है।

पुस्तक को इस रूप मे प्रस्तुत करने के सम्बन्ध मे मुझे डा० जी० सी० पाण्डेय, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय से समय-समय पर प्रेरणा मिलती रही है जिसके लिए मैं उनके प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

लेखक ने पुस्तक की रचना मे कितनी ही सतर्कता क्यो न रखी हो, फिर भी इसमे त्रुटियाँ अथवा न्यूनताओ का रह जाना असम्भव नही। आशा है कि इस पुस्तक से पाठको को राजस्थान की अन्तरात्मा की अनुभूति होने मे सहायता मिलेगी।

जयपुर
१ मार्च, १९७१

—गोपीनाथ शर्मा

विषय-सूची

अध्याय १

प्रवेशक

(१) राजस्थान का ऐतिहासिक भूगोल और उसका जनजीवन पर प्रभाव

नाम

सारे राजस्थान के लिए पहले किसी एक नाम का प्रयोग होना नही पाया जाता। उसके कितने ही भागो के, प्राचीन तथा मध्ययुग मे, भिन्न-भिन्न नाम थे और उसके कुछ विभाग अन्य प्रदेशो के अन्तर्गत थे। वर्तमान बीकानेर और जोधपुर के जिले महाभारत काल मे 'जागल देश' कहलाते थे। कभी-कभी इनका नाम 'कुरु जागला' और 'माद्रेय जागला' भी मिलता है जो 'कुरु' और 'मद्र' के पडोसी देशो के नाम से सम्बन्धित था। इसकी राजधानी अहिच्छत्रपुर थी जिसको इस समय नागौर कहते हैं। बीकानेर के राजा इसी जागल देश के स्वामी होने के कारण अपने को 'जगलधर बादशाह' कहते थे। बीकानेर राज्य के राज्य-चिह्न मे 'जय जगलधर बादशाह' लिखा मिलता है।[1]

जागल देश के आसपास के भाग को 'सपादलक्ष' कहते थे जिस पर चौहानो का अधिकार था। उन्हें इसीलिए 'सपादलक्षीय नृपति' भी कहते थे। जब उनके राज्य का विस्तार हुआ तो राज्य की राजधानी शाकम्भरी (साँभर) हो गयी और वे 'शाकम्भरीश्वर' कहे जाने लगे। जब इनकी राजधानी अजमेर हुई तब इनके राज्य-विस्तार मे मारवाड, बीकानेर, दिल्ली और मेवाड के बहुत-से भाग सम्मिलित थे।[2]

प्राचीनकाल मे उत्तरी भारत मे कुरु, मत्स्य और शूरसेन बहुत विस्तृत राज्य थे। अलवर राज्य का उत्तरी विभाग कुरु देश के, दक्षिणी और पश्चिमी मत्स्य देश के और पूर्वी विभाग शूरसेन देश के अन्तर्गत था। भरतपुर और धौलपुर राज्य तथा

---

[1] महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ६, श्लो० ५६, वही, उद्योगपर्व, अध्याय ५४, श्लो० ७, वही, वनपर्व, अ० २३, श्लो० ५-६, एपिग्राफिया इण्डिका, जि० ३, पृ० २३५, बम्बई गजेटियर, जि० १, भा० २, पृ० ५६०, टिप्पणी १, ओझा, बीकानेर व मारवाड राज्य का इतिहास—भूगोल सम्बन्धी वर्णन

[2] पृथ्वीराज विजय, सर्ग ८, श्लो० ५७-५८, आशाधर धर्मामृत शास्त्र, श्लो० ५, प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० १९०, कीर्ति कौमुदी, सर्ग २, श्लो० ५३, ओझा, राजपूताने का इतिहास, भा० १, पृ० २, टिप्पणी १

करौली राज्य का अधिकाश भाग शूरसेन देश के अन्तर्गत थे। शूरसेन राज्य की राजधानी मथुरा, मत्स्य की विराट् (वैराट) और कुरु की इन्द्रप्रस्थ थी।[3]

उदयपुर राज्य का प्राचीन नाम 'शिवि' था जिसकी राजधानी मध्यमिका थी। आजकल मध्यमिका को नगरी कहते है जो चित्तौड से ७ मील उत्तर मे है। वहाँ पर मेव जाति का अधिकार रहा जिससे उसे मेदपाट या प्राग्वाट भी कहा जाने लगा, अथवा सतत् रूप से यहाँ के शासक म्लेच्छो से सघर्ष करते रहे अतएव इस देश को 'मेद' अर्थात 'म्लेच्छो को मारने वाला' की सज्ञा दी गयी और उसे मेदपाट कहने लगे। डूंगरपुर, बाँसवाडा के प्रदेश को वागड कहते थे। आज भी यह भाग उसी नाम से जाना जाता है। जोधपुर के राज्य को मरु और फिर मरुवार और मारवाड कहा जाने लगा। जोधपुर के दक्षिणी भाग को गुर्जरत्रा कहते थे और सिरोही के हिस्से की गणना अर्वुद (आबू) देश मे होती थी। जैसलमेर राज्य का पुराना नाम माड था और कोटा तथा बूंदी, जो पहले सपादलक्ष के अन्तर्गत थे, हाडौती कहलाने लगे। झालावाड राज्य और टोक के छवडा, पिरावा तथा सिरौज मालव देश के अन्तर्गत माने जाते थे।[4]

इसी प्रकार भौगोलिक विशेषताओ को लेकर भी कुछ राजस्थान के भागो के नाम रखे गये थे। उदाहरणार्थ, माही नदी के पास वाले प्रतापगढ के भू-भाग को 'काठल' कहा जाता था, क्योकि वह माही नदी के काँठे अर्थात किनारे का या सीमा का भाग था। प्रतापगढ और बाँसवाडा के बीच के भाग मे ५६ ग्राम-समूह थे अतएव उस भाग का नाम छप्पन कहलाने लगा। डूंगरपुर और बाँसवाडा के बीच के भाग को मेवल और देवलिया और मेवल के निकटवर्ती प्रदेश को मूढोल (मण्डल) कहते थे, क्योकि वह एक स्वतन्त्र मण्डल था। भैंसरोडगढ से लेकर बिजोलिया के पठारी भाग को ऊपरमाल कहते थे। जरगा और रागा के पहाडी भाग हमेशा हरे-भरे रहते थे अतएव उसे 'देशहरो' कहा जाता था। उदयपुर के आसपास पहाडियाँ होने से उस प्रान्त को गिरवा कहते थे।[5]

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि जिस देश के भू-भाग को आजकल हम राजस्थान कहते हैं वह किसी विशेष नाम से कभी प्रसिद्ध नही रहा। मुगल इतिहासकार 'राजपूत शब्द को बहुवचन मे लिखने मे 'राजपूताँ' प्रयुक्त किया करते थे। इसी आधार पर

---

[3] महाभारत, भीष्मपर्व, अ० ६, श्लो० ३६, विष्णुपुराण, अश ४, अध्याय २१, मेकडोनल और कीथ, वैदिक इण्डेक्स, जि० १, पृ० १६६, कनिंघम, कार्प्स इन्सक्रिपशन्स इण्डिकेरम्, जि० १, पृ० ६६-६७, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २

[4] बृहत् सहिता, अ० १४, कूर्म विभाग, श्लो० १२, कीर्ति कौमुदी, सर्ग ३, श्लो० ९, हर्षनाथ का लेख, अमर कोष, काण्ड २, भूमिवर्ग, श्लो० ५, घटियाले का लेख, एपि० इण्डि०, जि० ६, पृ० २८०

[5] नेणसी ख्यात, पत्र ६, ११, १२, ४५, डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३

सम्भवत गोंडवाना, तिलिंगाना आदि के ढग पर अंग्रेजो ने इस राज्य का नाम राजपूताना अर्थात राजपूतो का देश रखा । राजपूताने के प्रथम और प्रसिद्ध इतिहास लेखक करनल जेम्स टॉड[६] ने पुरानी वहियो के अनुसार इस राज्य का नाम रजवाडा' या 'रायथान' दिया है, जो राजाओ या उनके राज्यो का सूचक है। रयात लेखक अलग-अलग राज्यो के लिए, जिनके वे आश्रित थे, 'रायथान' शब्द का प्रयोग करते थे। आगे चलकर सारे राज्य के लिए इस लौकिक रूप को वदलकर राजस्थान प्रयुक्त किया जाने लगा और आज भी एक इकाई के रूप मे वह इसी नाम से विख्यात है।[७]

राजस्थान आकार मे विषमकोणीय चतुर्भुज है जिसके उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी कोणो मे वीकानेर, जैसलमेर, वाँसवाडा तथा धौलपुर की सीमाएँ मिलती हैं। इसके पश्चिम मे तथा उत्तर-पश्चिम मे पाकिस्तान, उत्तर-पूर्व मे पजाव, उत्तर-पूर्व और पूर्व मे उत्तर प्रदेश और पूर्व मे ग्वालियर और दक्षिण मे मध्य प्रदेश और गुजरात हैं। यह समूचा राज्य लगभग २३ ३° से ३० १२° उत्तरी अक्षाश और ६९ ३०° से ७८ १७° पूर्वी देशान्तर के बीच फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल लगभग १,३२,१४७ वर्गमील है।[८]

इस समय राजस्थान पहले के १८ राज्यो के विलीनीकरण की एक इकाई है जिसमे २६ जिले हैं।[९]

इस राज्य की आन्तरिक स्थिति पर जव हम दृष्टि डालते है तो इसकी वनावट के आधार पर पाँच स्पष्ट प्राकृतिक भाग दिखायी देते है—पर्वतीय प्रदेश, पठारी भाग, मैदानी हिस्सा, मरुस्थलीय भाग तथा नदियो का प्रकार। यदि इन प्राकृतिक भू-भागो की जलवायु, वर्षा तथा वनस्पति और उपज के सन्दर्भ मे अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि राजस्थान की भौगोलिक अवस्था का प्रभाव ऐतिहासिक घटनाओ और यहाँ के राजनीतिक तथा सास्कृतिक जीवन पर विशेप रूप से परिलक्षित होता

---

६ "Rajasthan is the collective and classical denomination of that portion of India which is the abode of princes In the familiar dialect of these countries it is termed *Rajwada*, but by the more refined *Raethana*, corrupted to Rajputana, the common designation amongst the British to denote the Rajpoot principalities"
—Tod, *Annals*, p 1

७ अभय विलास, पत्र ४, सरदार म्यूजियम अभिलेख, वि० १७६५, टॉड राजस्थान, भा० १, पृ० १, डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १

८ इम्पीरियल गजट, राज० प्रो० सि०, पृ० १

९ वे राज्य थे—जोधपुर, वीकानेर, जैसलमेर, अलवर, जयपुर, भरतपुर, धौलपुर, करौली, बूँदी, कोटा, झालावाड, प्रतापगढ, वाँसवाडा, डूंगरपुर, उदयपुर, सिरोही, किशनगढ और टोंक

है। यह तो ठीक ही है कि जितनी भी सस्कृतियाँ है उनमे भौगोलिक[१०] स्थिति का वडा हाथ है और यह राजस्थान के सम्वन्ध मे अधिक स्पष्ट है।

पर्वतीय प्रदेश

राजस्थान की पर्वतीय श्रेणियाँ इस राज्य को दो प्राकृतिक विभागो मे विभक्त करती है, जिनको पश्चिमी और पूर्वी विभाग कह सकते हैं। ये श्रेणियाँ अर्वली पर्वत के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी प्रमुख श्रेणी राजस्थान के ईशान कोण से आरम्भ होकर नैर्ऋत्य कोण तक चली गयी है। ये पहाड शृखलावद्ध उदयपुर, वाँसवाडा, डूँगरपुर तथा प्रतापगढ मे चौडे हो गये है और आवू मे गुरुशिखर पर सवसे ऊँचे हैं। इसकी एक श्रेणी माण्डलगढ से चलकर वूंदी, कोटा, झालावाड तक फैल गयी है। जोधपुर मे अर्वली[११] विलग पहाडियो के रूप मे तथा जैसलमेर मे ऊँचे टीलो के रूप मे दिखायी देता है।

ये पर्वतमालाएँ और पहाडी घाटियाँ उन आदिम निवासियो के लिए सुरक्षा का साधन वन गयी जिन्हे हम भील, मीणें, मेर आदि कहते है। इन भागो मे रहते हुए इन जातियो ने अपने आपको वाहरी सम्पर्क से अलग रखा जिससे वे एक लम्बे समय तक अपनी सस्कृति को अपने ढग से परिवर्धित करने मे सफल हो सके। उनका जीवन पर्वतो तथा जगलो मे रहने के कारण एकान्तप्रिय और उदात्त वन गया। उनके रक्षा के साधन और युद्ध के तरीके भी विलक्षण थे जिसका उपयोग महाराणा कुम्भा, प्रताप, महाराजा चन्द्रसेन, महाराणा राजसिह तथा दुर्गादास राठौड ने इन जातियो के सहयोग से इस प्रकार किया कि आक्रमणकारियो को उन्हे परास्त करने मे पग-पग पर असफलता का सामना करना पडा। इन जातियो के सहवास से राजपूतो ने भी रहन-सहन तथा युद्ध-शैली मे स्थानीय गुणो को इस तरह अपना लिया कि वे उनके आचरण तथा व्यवहार के अग वन गये।[१२]

वैसे तो ये पहाडी प्रदेश कुछ एक जगली जातियो तथा नये राज्य सस्थापको की वस्तियो के लिए कुछ सीमा तक उपयोगी हो सके, परन्तु जहाँ तक व्यापार, वाणिज्य, खेती तथा उद्योग मे लगी हुई जातियो का सम्वन्ध था वे इन भागो मे अधिक सख्या मे नही वस सकी। ऐसी स्थिति मे ये प्रदेश अधिक जनसख्या को आवाद करने

---

[१०] "All civilizations are to some extent the product of geographical factors, but history provides no clearer example of the profound influence of geography upon a culture than in the historical development of Rajasthan" —G N Sharma, *Social Life*, p 33

[११] अर्वली का लौकिक रूप 'आडावला' है जिसका अर्थ मार्ग मे सीधी वल्ली मे है। वास्तव मे राजस्थान के एक छोर से दूसरे छोर तक अर्गला के रूप मे 'अर्वली' दिखायी देता है

[१२] डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ६-७

मे क्षमता न रख सका। इसका फल यह हुआ कि आज भी पर्वतीय प्रदेश जनसख्या के विचार से विशेष रूप से आवाद नही हैं। इनमे वस्तियाँ दूर-दूर है या घनी नही हैं।[13]

इस सम्पूर्ण पर्वतमाला का राजस्थान के जीवन पर गहरा प्रभाव पडा है। अर्वली की पश्चिमी और केन्द्रीय मेखला इतनी घनी और दुर्गम है कि इस भाग मे दूसरे भाग मे आक्रमण होने की कम सम्भावना रही है। जिस व्यक्ति के पास इस भाग के सँकरे मार्गो का अधिकार रहा है उसने अपने भू-भाग को शत्रुओ से सुरक्षित रखने मे सफलता प्राप्त की। मेवाड मे होने वाले आक्रमण पश्चिम से न हो सके क्योकि अवली की इधर वाली श्रेणियाँ ऊँची और सरलता से पार नही की जा सकती थी। इसी तरह हाडौती मे फैली हुई अर्वली की पहाडियाँ देश की रक्षा के लिए पर्याप्त थी। अबुल फजल ने इस भाग की पर्वत-श्रेणियो को 'ऊँट गर्तन' कहकर दुर्गम कहा है। मेवाड, मारवाड तथा हाडौती के रणस्थलो मे जब विदेशियो ने स्थानीय सैनिको से टक्कर ली तो उन्हे विफलता का सामना करना पडा। स्थानीय शासक आक्रमण-कारियो की सशक्त सेना का भी मुकावला घाटियो, गिरि-गह्वरो और पहाडी चोटियो की सहायता से कर पाये थे। यौधेय, मालव, शिवि आदि जातियाँ प्राचीनकाल मे तथा मेवाती, राठौड, सिसोदिया और चौहान मध्ययुग मे अपने शत्रुओ को पहाडी स्थिति के कारण नीचा दिखा सके, जिसके लिए इतिहास के पृष्ठ साक्षी है।

इन पहाडी प्रदेशो का उपयोग धर्म-स्थानो को प्रश्रय देने मे लाभप्रद सिद्ध हुआ। आक्रमणकारियो से धर्म को वचाये रखने के लिए समृद्ध परिवारो ने अपनी निजी सम्पत्ति को अनुदान के रूप मे देकर पर्वतीय प्रदेशो मे मन्दिरो और धर्म-स्थानो का निर्माण करवाया। नागदा, एकलिंगजी, धुलेव, राणकपुर, सिहाड, करेडा आदि धर्म-स्थानो की स्थिति इस अवस्था का परिणाम है। परन्तु इन पर्वतीय प्रदेशो को सम्पर्क की असुविधा तथा यातायात के अभाव के कारण कलात्मक प्रवृत्ति और साहित्यिक उन्नति को पल्लवित होने से लम्बे समय तक वचित रखा। आज भी इस भाग की गणना पिछडे हुए प्रदेश मे की जाती है।

पठार

राजस्थान का पठार चित्तौड से वेगूं, बिजोलिया, माण्डलगढ तथा हाडौती के निकटवर्ती भू-भाग मे फैला हुआ है। अधिक ऊँचा न होने, एक स्थान से दूसरे स्थान मे चौडा होने तथा उपजाऊ होने के नाते पठारी भाग का बडा महत्त्व है। इसकी केन्द्रीय स्थिति ने इसके अन्तर्गत बडे नगरो की स्थापना, धर्म-स्थानो के निर्माण और राजनीतिक प्रभुता को परिवर्द्धित करने मे बडा योग दिया है। चौहानो और उनके पीछे तुर्क, मुगल और अंग्रेजी शक्ति को सुदृढ वनाने मे इसका बडा उपयोग रहा है।

---

[13] डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ७-६

है। यह तो ठीक ही है कि जितनी भी सस्कृतियाँ है उनमे भौगोलिक[१०] स्थिति का वडा हाथ है और यह राजस्थान के सम्बन्ध मे अधिक स्पष्ट है।

पर्वतीय प्रदेश

राजस्थान की पर्वतीय श्रेणियाँ इस राज्य को दो प्राकृतिक विभागो मे विभक्त करती हैं, जिनको पश्चिमी और पूर्वी विभाग कह सकते है। ये श्रेणियाँ अर्वली पर्वत के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी प्रमुख श्रेणी राजस्थान के ईशान कोण से आरम्भ होकर नैर्ऋत्य कोण तक चली गयी है। ये पहाड शृखलावद्ध उदयपुर, वाँसवाडा, डूँगरपुर तथा प्रतापगढ मे चौडे हो गये है और आवू मे गुरुशिखर पर सवसे ऊँचे हैं। इसकी एक श्रेणी माण्डलगढ से चलकर बूँदी, कोटा, झालावाड तक फैल गयी है। जोधपुर मे अर्वली[११] विलग पहाडियो के रूप मे तथा जैसलमेर मे ऊँचे टीलो के रूप मे दिखायी देता है।

ये पर्वतमालाएँ और पहाडी घाटियाँ उन आदिम निवासियो के लिए सुरक्षा का साधन वन गयी जिन्हे हम भील, मीणे, मेर आदि कहते हैं। इन भागो मे रहते हुए इन जातियो ने अपने आपको वाहरी सम्पर्क से अलग रखा जिससे वे एक लम्बे समय तक अपनी सस्कृति को अपने ढग से परिवर्द्धित करने मे सफल हो सके। उनका जीवन पर्वतो तथा जगलो मे रहने के कारण एकान्तप्रिय और उदात्त वन गया। उनके रक्षा के साधन और युद्ध के तरीके भी विलक्षण थे जिसका उपयोग महाराणा कुम्भा, प्रताप, महाराजा चन्द्रसेन, महाराणा राजसिह तथा दुर्गादास राठौड ने इन जातियो के सहयोग से इस प्रकार किया कि आक्रमणकारियो को उन्हे परास्त करने मे पग-पग पर असफलता का सामना करना पडा। इन जातियो के सहवास से राजपूतो ने भी रहन-सहन तथा युद्ध-शैली मे स्थानीय गुणो को इस तरह अपना लिया कि वे उनके आचरण तथा व्यवहार के अग वन गये।[१२]

वैसे तो ये पहाडी प्रदेश कुछ एक जगली जातियो तथा नये राज्य सस्थापको की वस्तियो के लिए कुछ सीमा तक उपयोगी हो सके, परन्तु जहाँ तक व्यापार, वाणिज्य, खेती तथा उद्योग मे लगी हुई जातियो का सम्वन्ध था वे इन भागो मे अधिक सख्या मे नही वस सकी। ऐसी स्थिति मे ये प्रदेश अधिक जनसख्या को आवाद करने

---

[१०] "All civilizations are to some extent the product of geographical factors, but history provides no clearer example of the profound influence of geography upon a culture than in the historical development of Rajasthan" —G N Sharma, *Social Life*, p 33

[११] अर्वली का लौकिक रूप 'आडावला' है जिसका अर्थ मार्ग मे सीधी वल्ली से है। वास्तव मे राजस्थान के एक छोर से दूसरे छोर तक अर्गला के रूप मे 'अर्वली' दिखायी देता है

[१२] डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ६-७

मे क्षमता न रख सका। इसका फल यह हुआ कि आज भी पर्वतीय प्रदेश जनसख्या के विचार से विशेष रूप से आबाद नही हैं। इनमे बस्तियाँ दूर-दूर है या घनी नही हैं।[13]

इस सम्पूर्ण पर्वतमाला का राजस्थान के जीवन पर गहरा प्रभाव पडा है। अर्वली की पश्चिमी और केन्द्रीय मेखला इतनी घनी और दुर्गम है कि इस भाग मे दूसरे भाग मे आक्रमण होने की कम सम्भावना रही है। जिस व्यक्ति के पास इस भाग के सँकरे मार्गों का अधिकार रहा है उसने अपने भू-भाग को शत्रुओ से सुरक्षित रखने मे सफलता प्राप्त की। मेवाड मे होने वाले आक्रमण पश्चिम से न हो सके क्योकि अवली की इधर वाली श्रेणियाँ ऊँची और सरलता से पार नही की जा सकती थी। इसी तरह हाडौती मे फैली हुई अर्वली की पहाडियाँ देश की रक्षा के लिए पर्याप्त थी। अबुल फजल ने इस भाग की पर्वत-श्रेणियो को 'ऊँट गर्तन' कहकर दुर्गम कहा है। मेवाड, मारवाड तथा हाडौती के रणस्थलो मे जब विदेशियो ने स्थानीय सैनिको से टक्कर ली तो उन्हे विफलता का सामना करना पडा। स्थानीय शासक आक्रमण-कारियो की सशक्त सेना का भी मुकाबला घाटियो, गिरि-गह्वरो और पहाडी चोटियो की सहायता से कर पाये थे। यौधेय, मालव, शिवि आदि जातियाँ प्राचीनकाल मे तथा मेवाती, राठौड, सिसोदिया और चौहान मध्ययुग मे अपने शत्रुओ को पहाडी स्थिति के कारण नीचा दिखा सके, जिसके लिए इतिहास के पृष्ठ साक्षी है।

इन पहाडी प्रदेशो का उपयोग धर्म-स्थानो को प्रश्रय देने मे लाभप्रद सिद्ध हुआ। आक्रमणकारियो से धर्म को बचाये रखने के लिए समृद्ध परिवारो ने अपनी निजी सम्पत्ति को अनुदान के रूप मे देकर पर्वतीय प्रदेशो मे मन्दिरो और धर्म-स्थानो का निर्माण करवाया। नागदा, एकलिंगजी, धुलेव, राणकपुर, सिंहाड, करेडा आदि धर्म-स्थानो की स्थिति इस अवस्था का परिणाम है। परन्तु इन पर्वतीय प्रदेशो को सम्पर्क की असुविधा तथा यातायात के अभाव के कारण कलात्मक प्रवृत्ति और साहित्यिक उन्नति को पल्लवित होने से लम्बे समय तक वचित रखा। आज भी इस भाग की गणना पिछडे हुए प्रदेश मे की जाती है।

पठार

राजस्थान का पठार चित्तौड से बेगूं, बिजोलिया, माण्डलगढ तथा हाडौती के निकटवर्ती भू-भाग मे फैला हुआ है। अधिक ऊँचा न होने, एक स्थान से दूसरे स्थान मे चौडा होने तथा उपजाऊ होने के नाते पठारी भाग का बडा महत्त्व है। इसकी केन्द्रीय स्थिति ने इसके अन्तगत बडे नगरो की स्थापना, धर्म-स्थानो के निर्माण और राजनीतिक प्रभुता को परिवर्द्धित करने मे बडा योग दिया है। चौहानो और उनके पीछे तुर्क, मुगल और अंग्रेजी शक्ति को सुदृढ बनाने मे इसका बडा उपयोग रहा है।

---

[13] डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ७-९

चन्दवरदाई तथा सूर्यमल्ल मिश्रन की उद्भूति यह सकेत करती है कि मानसिक विकास मे भी पठारी भाग अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है।[१४]

मैदान

प्राकृतिक विभागो मे उपजाऊ मैदानो ने राजस्थान की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति को एक नयी देन दी है। ये मैदान नदियो के तटीय भाग तथा पहाडियो की चौडी घाटियो मे मिलते है। मेवात का दक्षिणी भाग, जयपुर, किशनगढ तथा अजमेर से मालवा की सीमा के भू-भाग उपजाऊ मैदान है। इसी क्षेत्र मे आवादी घनी है और वडे पैमाने पर यहाँ के निवासी खेती, पशुपालन, व्यापार तथा विविध व्यवसाय मे लगे रहते हैं। युद्ध के अवसर पर, अभाग्यवश, इसी मैदानी भाग को आर्थिक सकट उठाना पडा था और जन तथा पशु-धन की क्षति झेलनी पडी थी।[१५]

रेगिस्तान

सबसे वडा प्राकृतिक भाग राजस्थान का रेगिस्तान है जो उत्तरी छोर से गुजरात की सीमा तक अर्वली के पश्चिमी भाग मे फैला हुआ है, जिसके अन्तर्गत जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर का अधिकाश भाग सम्मिलित है। प्राचीन जैन ग्रन्थो और मुगल तवारीखो मे इस रेतीले भाग का वर्णन मिलता है जिसमे पानी और वनस्पति का अभाव प्रमुख है। इस कमी से यहाँ की आवादी नगण्य है। कोसो यात्रा करने पर कही-कही गाँव और पानी की सुविधा मिलती है। पानी के जहाँ-जहाँ स्थान मिलते है वहाँ कुछ लोग वसते है और पशुपालन का व्यवसाय करते हैं। पानी के सूखने पर वस्तियाँ उजड जाती है और उसकी तलाश मे यहाँ के निवासियो को स्थान-स्थान पर घूमना पडता है। सैनिक सुरक्षा तथा राजनीतिक नियन्त्रण के विचार से रेगिस्तान का अपना स्थान है।[१६]

नदियों की स्थिति

राजस्थान मे नदियो के वहाव से उसके चारो ओर के ढलाव का अनुमान हो सकता है। उत्तर-पश्चिमी ढलाव की नदियो मे सरस्वती और दृषद्वती प्रमुख है जिनके आसपास प्राचीन भारतीय सम्कृति का विकास हुआ। समयान्तर मे ये नदियाँ

---

[१४] नेणसी री ख्यात, पत्र ३४, डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ६-१०

[१५] नेणसी री ख्यात, पत्र १२ और ६ आदि, डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १०-११

[१६] तवकात-ए-नासिरी, रेवर्टी, पृ० ४६५-४६७, फरिश्ता, भाग २, पृ० १६, पावू अभिलेख, वि० १६१५, तजकिरात-उल-वाकियात, पत्र ७३-७४, अकवरनामा (मूल) भा० १, पृ० १८२, डा० गोपीनाथ शर्मा दि मोशल लाइफ इन मेडीवल राजम्थान, पृ० ११-१३

सूख गयी और अब यहाँ केवल बरसाती नदी के रूप मे घग्घर बहती हुई दिखायी देती है। दक्षिण-पश्चिमी ढलाव की नदी मे लूनी प्रमुख है जो इस भाग की अधिक उपज का साधन है। सबसे बडी नदी चम्बल (चर्मनवती) है जो मध्य भारत से चलकर राजस्थान के उत्तर-पूर्वी भाग मे बहती हुई यमुना मे जा मिलती है। इसकी सहायक नदियो मे बनास (वर्णनाशा), बेडच, खारी आदि है। दक्षिण की नदियो मे माही, सोम और जाखम हैं जो बडी तेजी से पहाडी भाग मे बहती हैं। इन नदियो के आस-पास प्राचीनकाल मे अनेक सस्कृतियो का विकास हुआ। आसपास के भाग उपजाऊ होने से समृद्धि के केन्द्र भी इनके किनारे विकसित हुए। अनेक राज्यो की सीमा-निर्धारण मे इनका एक राजनीतिक महत्त्व भी रहा है। माही बाँसवाडा और डूंगरपुर की और खारी उदयपुर और अजमेर मेरवाडा की सीमा-रेखा थी। जब प्रारम्भ मे राजस्थान मे नयी सस्कृतियो का विकास और सक्रमण हुआ तो नदियो के मार्गों से बडी सहायता मिली। आक्रमण के समय नदियो के किनारो ने आक्रामक सेनाओ को मार्गदर्शन देकर प्रस्थान मे सुविधा पैदा की। मुगलो के आक्रमण मे बनास और चम्बल के बहाव का बहुत बडा योग है।[१७]

जलवायु और वनस्पति

राजस्थान के जनजीवन मे जलवायु और वर्षा का अपना महत्त्व है। यहाँ की जलवायु विशेष रूप से शुष्क है और अधिकाश भागो मे वर्षा का अभाव अधिक रहता है। उपज की कमी होने से इस पर विदेशी आक्रमणकारियो को यहाँ अपना अधिकार स्थापित करने मे कम उत्साह रहा। मारवाड की विजय के उपरान्त शेरशाह का उत्साह कम हो गया था और उसके बाद उसने अपनी नीति को नया मोड दे दिया। यहाँ की गरम हवाएँ और आँधियाँ जो उत्तर और उत्तर-पश्चिमी भाग मे बडी तेजी से चलती रहती है, सुखकर नही होती। जलवायु की विषमता के कारण बाबर ने खानवा के बाद राजस्थान के भीतरी भाग मे बढने मे अपनी उपेक्षा प्रदर्शित की थी। परन्तु जहाँ राजस्थान मे बडे सूखे भाग हैं तो चित्तौड, कोटा तथा बाँसवाडा अपनी अधिक वर्षा के लिए प्रसिद्ध हैं। वर्ष मे औसत ४०-४५ इच वर्षा हो जाने से यहाँ की भूमि घने जगलो से ढकी रहती है। इन भागो की वनस्पति एक प्रकार से कई स्थानीय उद्योगो को बढावा देती है और समृद्धि का बहुत बडा कारण बनती है। इन्ही

[१७] नेणसी री ख्यात, पत्र ११, १३, २५, २६, ३४, ६०, ६७ आदि, फरिश्ता, पृ० ४१६, तारीख-ए-मुबारकशाही, पृ० २१७, टेवर्नियर की यात्रा, भा० १, अध्याय ५, राजप्रकाश, सग ७, श्लो० १६, डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १४-१६

भागो मे जगली पशु वहुत पाये जाते हैं। जहाँगीर ने इन भागो के जगलो को आखेट के लिए वडा उपयोगी वताया था।[१८]

इस प्रकार राजस्थान की प्राकृतिक स्थिति मे विविधता होते हुए भी एक-सूत्रता भी दिखायी देती है। पर्वत-श्रेणी का सिलसिला, नदियो का वहाव तथा मरुस्थल का फैलाव इसके एक कोने से दूसरे कोने तक प्रसारित होने से समूचे प्रदेश को एकसूत्र मे वाँधता है। प्राचीनकाल के राष्ट्रीय सगठन के तत्त्व तथा मध्यकालीन युग का स्वातन्त्र्य-प्रेम राजस्थान के जनजीवन के मुख्य अग इसीलिए वनने पाये कि यहाँ भाषा, धर्म, आचार-विचार के वन्धन दृढ रहे और जनजीवन को सकीर्ण दृष्टि से ऊपर उठाने मे सफल हुए। सवसे वडी विशेषता भौगोलिक और राजनीतिक सम्वन्ध मे यह है कि भौगोलिक स्थिति राजनीतिक सीमाओ के निर्माण मे वडी सहायक रही है। ऊपर के वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि भौगोलिक वातावरण ने हर युग मे कला, धर्म, शिक्षा, शासन और अन्य सास्कृतिक पहलुओ को प्रभावित किया है। अगर राजस्थान मे घुमक्कड जातियाँ है या ऐसी पेशेवर कौमे है जो खेती या वाणिज्य मे लगी हुई हैं तो इसमे उनके आसपास का वातावरण जिम्मेदार है। इसी प्रकार खाना, पीना, रहना आदि का भी अधिकाश मे सम्वन्ध स्थानीय वनस्पति और भौगोलिक स्थिति से है। दक्षिणी राजस्थान की जलवायु और दारिद्रय का मेल है। साथ ही वस्तुओ की उपलब्धि के सकोच से यहाँ के निवासियो मे शौर्य और स्पष्ट-वादिता के गुण भी हैं। उत्तर-पूर्व के भाग की समृद्धि ने वहाँ के निवासियो मे एक निश्चिन्तता और सुख से जीवन विताने की प्रवृत्ति को वढावा दिया है। हम जानते हैं कि किस प्रकार मेवाड के शासक और उनकी प्रजा अपनी आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक न होते हुए भी पीढियो तक मुगलो मे टक्कर लेते रहे, जवकि जयपुर आदि राज्यो ने परिस्थिति के अनुसार अपना भविष्य निर्धारित कर लिया। इस सम्वन्ध मे यह कहना ठीक ही है कि ऐसी भौगोलिक वास्तविकता और उसका प्रभाव राजस्थान के जन-जीवन पर पर्याप्त मात्रा मे है।[१९]

(२) पूर्व मध्यकालीन राजस्थान के ऐतिहासिक साधन

जहाँ प्राचीन राजस्थान के निर्माण के साधन अत्यन्त न्यून हैं वहाँ पूर्व मध्य-कालीन राजस्थान की जानकारी की सामग्री प्रचुर मात्रा मे है। केवल इसके सम्वन्ध मे

---

[१८] अचलेश्वर अभिलेख, वि० १३३१, समिधेश्वर अभिलेख, वि० १४८५, कुम्भलगढ अभिलेख, वि० १५१७, वावरनामा, पत्र २५०, २५४, २६२ आदि, आइने-अकवरी, भा० २, पृ० २७३, ढोलामारू-री-वात, पृ० ३६६, डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १६-१८, मेरा लेख—इन्फ्लूएन्स ऑफ ज्योग्राफिकल फीचर्स इन राजस्थान, रिसर्च जरनल, जयपुर, पृ० १-९

[१९] "Thus it becomes apparent that such geographical facts and their effects on man are virtually innumerable"
—G N Sharma, *The Social Life In Medieval Rajasthan*, p 21

कठिनता यही है कि यह समृद्ध सामग्री चारो ओर बिखरी पडी है जिससे उसको सगृहीत कर घटनाओ का तिथिपरक उचित अकन करना साधारणत साध्य नही है। परन्तु प्रसन्नता का विषय है कि करनल टॉड, कविराज श्यामलदास, महामहोपाध्याय डा० हीराचन्द गौरीशकर ओझा आदि मेधावियो ने अपने ढग से इतिहास की सामग्री का ऐतिहासिक साहित्य के निर्माण और विकास मे काफी प्रयोग किया है। फिर भी राजस्थान के इतिहास के अनुशीलन मे वैज्ञानिक रूप से साधनो के सग्रह की आवश्यकता है जिनको मुख्य रूप से दो भागो मे बाँटा जा सकता है—पुरातत्त्व सम्बन्धी और इतिहासपरक साहित्य सम्बन्धी।

पुरातत्त्व सम्बन्धी

पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री सबसे अधिक विश्वस्त है। मूक होते हुए इसमे ऐसे सच्चे ऐतिहासिक तत्त्व निहित है जो प्रामाणिक है। इनकी विवेचना स्मारक सम्बन्धी, अभिलेख सम्बन्धी तथा मुद्रा सम्बन्धी शीर्षक मे की जा सकती है।

स्मारक सम्बन्धी—स्मारक सम्बन्धी प्रमाणों के अन्तर्गत प्राचीन इमारतें, मूर्तियाँ तथा अन्य प्राचीनता द्योतक कृतियाँ आती हैं। इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार के प्रमाणो से राजनीतिक इतिहास का सीधा सम्बन्ध नही है, परन्तु इनसे समाज की धार्मिक स्थिति और शिल्प-शैली पर विशेष रूप से प्रकाश पडता है। हर्ष माता का मन्दिर (आबानेरी), देव सोमनाथ का मन्दिर (सोम नदी के तट का), सास-बहू के मन्दिर (नागदा), देलवाडा के मन्दिर (आबू), पुष्कर और चित्तौड के सूर्य मन्दिर, समिधेश्वर का मन्दिर (चित्तौड), किराडू और ओसियाँ के मन्दिर और इनमे उत्कीर्ण अनन्त मूर्तियाँ अपने समय की सभ्यता, धार्मिक विश्वास और कला के गौरव का सम्यक् चित्रण करती हैं। कही-कही मूर्तियो आदि पर प्राय अभिलेख खुदे पाये जाते है जिनसे इतिहास सम्बन्धी तिथियो, घटनाओ और व्यक्ति विशेष का प्रत्यक्षीकरण होता है। इसी तरह कई प्राचीन नगरो के भग्नावशेष जिनमे अर्थूणा, आबेर, नागदा, कल्याणपुर, जावर, बसी, मेडता, मण्डोर, भीनमाल आदि प्रमुख हैं तथा वे काल-विशेष के वास्तु, नगर-निर्माण तथा शिल्प-शैलियो के साक्षी है। पुरानी इमारतो के प्राचीरो, भित्तियो की पाषाण-पट्टियो और मकानो के खण्डहरो से सामाजिक स्थिति का अच्छा बोध होता है। चित्तौड के कीर्ति-स्तम्भ से जैन धर्म की ११वी शताब्दी मे बढती हुई प्रगति का बोध होता है। मण्डोर, चित्तौड, कुम्भलगढ और आबू के पुराने भग्नावशेषो का सैनिक, सामाजिक तथा धार्मिक महत्त्व भी कुछ कम नही है।

अभिलेख सम्बन्धी—अभिलेख सम्बन्धी प्रमाण भी पुरातत्त्व के अन्तर्गत है जो पाषाण की पट्टियो, स्तम्भो, शिलाओ, ताम्रपत्रो, दीवारो, मूर्तियो एव प्रतिमाओ पर खुदे हुए मिलते है। इनमे भाषा सस्कृत और राजस्थानी प्रयुक्त हुई है। इनमे से कई तो

साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के है। ये गद्य और पद्य मे हैं। अभिलेख अधिकतर महाजनी लिपि या हर्षकालीन लिपि मे खोदे गये है। इन अभिलेखो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे दान या विजय के स्मारक हैं, अथवा प्रशस्ति या मृत्यु-घटना के द्योतक हैं। तिथियाँ स्थापित करने और ऐतिहासिक घटनाओ तथा साहित्यिक स्थिति को समझने मे इनकी सहायता असामान्य है। मानमोरी का वि० स० ७७० (७१३ ई०) का लेख चित्तौड की प्राचीन स्थिति तथा मोरी वश पर प्रकाश डालता है। वि० स० ९८२ (९२५ ई०) के दुर्गराज के लेख मे पुष्कर के तीर्थस्थान का वर्णन मिलता है। प्रतापगढ के वि० स० १००३ (९४६ ई०) के लेख से कृषि, समाज तथा धार्मिक स्थिति पर प्रकाश पडता है। वि० स० १०१० (९५३ ई०) के साडेश्वर के अभिलेख से वराह मन्दिर की व्यवस्था, स्थानीय व्यापार, कर, शासकीय पदाधिकारियो आदि के विषय मे पता चलता है। इसी तरह वीसलदेव चतुर्थ का बनवाया हुआ 'हरिकेलि नाटक' तथा उसी के राजकवि सोमेश्वर रचित 'ललित विग्रह नाटक', जो शिलाओ पर खुदे हुए हैं, चौहानो के इतिहास के प्रमुख साधन है। साँभर के ऊमरशाह नामक कुएँ से मिला हुआ सोलकियो का एक लेख मूलराज की राज्य-प्राप्ति का समय वि० स० ९९८ स्थिर करता है। इस लेख मे शाकम्भरी का भी उल्लेख है। बाँसवाडा जिले के तलवाडा नामक ग्राम के निकट मन्दिर की गदाधर की मूर्ति पर सोलकी राजा सिद्धराज जयसिंह का लेख है। सम्भवत वह मूर्ति वहाँ गुजरात से लायी गयी हो या जयसिंह का सम्बन्ध इस प्रान्त से रहा हो। वि० स० १२०७ (११५० ई०) का कुमारपाल का समिधेश्वर का लेख चालुक्यो की विजय का द्योतक है और उसकी शिव-भक्ति का समर्थक है। वि० स० १२०९ (११५२ ई०) का अल्हणदेव का किराडू का लेख बडा रोचक है जिसमे उसके राज्य की सभी जातियो को प्रत्येक मास की दोनो पक्षो की अष्टमी, एकादशी एव चतुर्दशी तिथियो को जीव-हत्या करने से रोका गया है और बताया गया है कि जो इस आज्ञा का उल्लघन करेगा उसे ५ द्रम्भ दण्ड भोगना होगा। वि० स० १२१८ (११६१ ई०) के कुमारपाल के लेख मे आबू के परमारो की वशावली प्रस्तुत की गयी है। वि० स० १२६५ (१२०८ ई०) का सोलकी भीमदेव का शिलालेख आबू के शिव-मन्दिर के स्तम्भ-निर्माण और जीर्णोद्धार का वर्णन करता हैं। बिजोलिया का वि० स० १२२६ (११६९ ई०) का लेख चौहानो के वश का परिचायक है और उस समय की कृषि, धर्म तथा शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था पर प्रकाश डालता है। वि० स० १३३० (१२७३ ई०) के बीठू अभिलेख से राठौड सिंहा की मृत्यु-तिथि निर्धारित होता है। वि० स० १३३१ (१२७४ ई०) के रसिया की छत्री तथा अचलेश्वर के वि० स० १३४२ (१२८५ ई०) के लेखो मे उस समय की धार्मिक स्थिति, शिक्षा की उन्नति, यज्ञ, दान, तप, छुआछूत, दास-प्रथा आदि विषयो पर प्रभूत प्रकाश पडता है। इन अभिलेखो के अतिरिक्त हाडो, सोनगरो, राठौडो, दहियो आदि के ८वी से १३वी सदी तक के कई

शिलालेख हैं जो उस युग के राजनीतिक तथा सास्कृतिक इतिहास का यथार्थ बोध कराते हैं।[२०]

मुद्रा सम्बन्धी—अभिलेखो की भाँति सिक्के भी राजस्थान के इतिहास के निर्माण मे सहायक हैं। ये सिक्के सोने, चाँदी, ताँबे और मिश्रित धातुओ के होते हैं जिन पर अनेक प्रकार के चिह्न—त्रिशूल, छत्र, हाथी, घोडे, चँवर, पेड, देवी-देवताओ की आकृति, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि खुदे रहते है। तिथि-क्रम, शिल्प-कौशल, आर्थिक अवस्था, राजाओ के नाम और उनकी धार्मिक रुचि आदि पर ये सिक्के प्रचुर प्रकाश डालते हैं। शासन, राज्य-सीमा तथा आदान-प्रदान की व्यवस्था सम्बन्धी जानकारी भी इनसे होती है। राजस्थान के विभिन्न भागो से मालव, शिवि, यौधेय, शक आदि जनपदो के सिक्के उपलब्ध हुए हैं जो इस बात के प्रमाण हैं कि वे लेन-देन और तोल के साधन थे। कई शिलालेखो और साहित्यिक ग्रन्थो मे 'द्रम' और 'एला' सुवर्ण और चाँदी की मुद्रा के रूप मे उल्लिखित मिलते है। उसी तरह 'द्रमार्ध', 'द्रमाष्ट', 'विंशटिक', 'अर्द्ध-विंशटिका' आदि राणकपुर, गोडवाड आदि मन्दिरो मे दिये गये अनुदानो के सम्बन्ध मे वर्णित हैं। इन सिक्को के साथ-साथ 'रूपक', 'नाणक', 'नाणा' आदि शब्द भी मुद्राओ के वाचक है। बापा का सिक्का भी ७वी शताब्दी का एक प्रसिद्ध सिक्का है जिसका वर्णन डा० ओझा ने किया है। अन्य राजस्थानी नरेशो के छोटे-मोटे आकार के सिक्के भी देखने को मिले हैं। ९वीं शताब्दी के प्रतिहारो के सिक्के भीनमाल तथा साँभर से प्राप्त हुए थे। चौहानो के सिक्को मे अजयदेव, सोमदेव, पृथ्वीराज तृतीय आदि के सिक्के बडे प्रसिद्ध हैं। अजयदेव के सिक्के पर पूर्व-पृष्ठ मे लक्ष्मी का चिह्न और पृष्ठ-तल पर अजयदेव खुदा हुआ देखा गया है। सोमेश्वर के सिक्के पर एक तरफ बैल और दूसरी ओर उसका नाम अंकित है। १२९३ ई० के आसपास के फीरोजी सिक्के भी राजस्थान मे प्रचलित थे जो मारवाड, मेवाड आदि के खजानो मे देखे गये हैं।[२१]

इतिहासपरक साहित्य

इस शीर्षक के अन्तर्गत हम उन ग्रन्थो की ओर संकेत करेंगे जिनकी गणना ऐतिहासिक साहित्य मे की जाती है और जिनमे इतिहास के मूल तत्त्व छिपे पडे हैं

---

[२०] एपिग्राफिया इण्डिका, जि० २, पृ० ४२२-४२४, जि० १०, पृ० ९८-९९, जि० ११, पृ० ३३-३४, जि० ४१, पृ० २०३ आदि, ओझा निबन्ध संग्रह, भाग १, पृ० २६२-२७१, डा० गोपीनाथ शर्मा, ए बिबलिओग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ३-६

[२१] सारनाथ अभिलेख, वि० स० १०१०, हटुण्डी लेख, वि० स० १०५३, नाडोल लेख, वि० स० १२०२, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, भा० २, पृ० ६७-६९, राणकपुर इन्सक्रिप्शन, वि० स० १४४५, रेऊ, काइन्स ऑफ मारवाड, पृ० १-४, डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३३१—३३३, राजस्थान थ्रू दि एजेज, भा० १, पृ० २७-२८

साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के है। ये गद्य और पद्य मे हैं। अभिलेख अधिकतर महाजनी लिपि या हर्षकालीन लिपि मे खोदे गये है। इन अभिलेखो के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे दान या विजय के स्मारक हैं, अथवा प्रशस्ति या मृत्यु-घटना के द्योतक हैं। तिथियाँ स्थापित करने और ऐतिहासिक घटनाओ तथा साहित्यिक स्थिति को समझने मे इनकी सहायता असामान्य है। मानमोरी का वि० स० ७७० (७१३ ई०) का लेख चित्तौड की प्राचीन स्थिति तथा मोरी वश पर प्रकाश डालता है। वि० स० ९८२ (९२५ ई०) के दुर्गराज के लेख मे पुष्कर के तीर्थस्थान का वर्णन मिलता है। प्रतापगढ के वि० स० १००३ (९४६ ई०) के लेख से कृषि, समाज तथा धार्मिक स्थिति पर प्रकाश पडता है। वि० स० १०१० (९५३ ई०) के साडेश्वर के अभिलेख से वराह मन्दिर की व्यवस्था, स्थानीय व्यापार, कर, शासकीय पदाधिकारियो आदि के विषय मे पता चलता है। इसी तरह बीसलदेव चतुर्थ का बनवाया हुआ 'हरिकेलि नाटक' तथा उमी के राजकवि सोमेश्वर रचित 'ललित विग्रह नाटक', जो शिलाओ पर खुदे हुए हैं, चौहानो के इतिहास के प्रमुख साधन हैं। साँभर के ऊमरशाह नामक कुएँ से मिला हुआ सोलकियो का एक लेख मूलराज की राज्य-प्राप्ति का समय वि० स० ९९८ स्थिर करता है। इस लेख मे शाकम्भरी का भी उल्लेख है। बाँसवाडा जिले के तलवाडा नामक ग्राम के निकट मन्दिर की गदाधर की मूर्ति पर सोलकी राजा सिद्धराज जयसिंह का लेख है। सम्भवत वह मूर्ति वहाँ गुजरात से लायी गयी हो या जयसिंह का सम्बन्ध इस प्रान्त से रहा हो। वि० स० १२०७ (११५० ई०) का कुमारपाल का समिधेश्वर का लेख चालुक्यो की विजय का द्योतक है और उसकी शिव-भक्ति का समर्थक है। वि० स० १२०९ (११५२ ई०) का अल्हणदेव का किराडू का लेख बडा रोचक है जिसमे उसके राज्य की सभी जातियो को प्रत्येक मास की दोनो पक्षो की अष्टमी, एकादशी एव चतुर्दशी तिथियो को जीव-हत्या करने से रोका गया है और बताया गया है कि जो इस आज्ञा का उल्लघन करेगा उसे ५ द्रम्भ दण्ड भोगना होगा। वि० स० १२१८ (११६१ ई०) के कुमारपाल के लेख मे आबू के परमारो की वशावली प्रस्तुत की गयी है। वि० स० १२६५ (१२०८ ई०) का सोलकी भीमदेव का शिलालेख आबू के शिव-मन्दिर के स्तम्भ-निर्माण और जीर्णोद्धार का वर्णन करता है। बिजोलिया का वि० स० १२२६ (११६९ ई०) का लेख चौहानो के वश का परिचायक है और उस समय की कृषि, धर्म तथा शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था पर प्रकाश डालता है। वि० स० १३३० (१२७३ ई०) के बीठू अभिलेख से राठौड सिहा की मृत्यु-तिथि निर्धारित होता है। वि० स० १३३१ (१२७४ ई०) के रसिया की छत्री तथा अचलेश्वर के वि० स० १३४२ (१२८५ ई०) के लेखो से उस समय की धार्मिक स्थिति, शिक्षा की उन्नति, यज्ञ, दान, तप, छुआछूत, दास-प्रथा आदि विषयो पर प्रभूत प्रकाश पडता है। इन अभिलेखो के अतिरिक्त हाडो, सोनगरो, राठौडो, दहियो आदि के ८वी से १३वी सदी तक के कई

शिलालेख हैं जो उस युग के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास का यथार्थ बोध कराते हैं।[२०]

मुद्रा सम्बन्धी—अभिलेखो की भाँति सिक्के भी राजस्थान के इतिहास के निर्माण मे सहायक हैं। ये सिक्के सोने, चाँदी, ताँबे और मिश्रित धातुओ के होते है जिन पर अनेक प्रकार के चिह्न—त्रिशूल, छत्र, हाथी, घोडे, चँवर, पेड, देवी-देवताओ की आकृति, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र आदि खुदे रहते है। तिथि-क्रम, शिल्प-कौशल, आर्थिक अवस्था, राजाओ के नाम और उनकी धार्मिक रुचि आदि पर ये सिक्के प्रचुर प्रकाश डालते हैं। शासन, राज्य-सीमा तथा आदान-प्रदान की व्यवस्था सम्बन्धी जानकारी भी इनसे होती है। राजस्थान के विभिन्न भागो से मालव, शिवि, यौधेय, शक आदि जनपदो के सिक्के उपलब्ध हुए हैं जो इस बात के प्रमाण है कि वे लेन-देन और तोल के साधन थे। कई शिलालेखो और साहित्यिक ग्रन्थो मे 'द्रम' और 'एला' सुवर्ण और चाँदी की मुद्रा के रूप मे उल्लिखित मिलते है। उसी तरह 'द्रमार्ध', 'द्रमाष्ट', 'विंशटिक', 'अर्द्ध-विंशटिका' आदि राणकपुर, गोडवाड आदि मन्दिरो मे दिये गये अनुदानो के सम्बन्ध मे वर्णित हैं। इन सिक्को के साथ-साथ 'रूपक', 'नाणक', 'नाणा' आदि शब्द भी मुद्राओ के वाचक हैं। बापा का सिक्का भी ७वी शताब्दी का एक प्रसिद्ध सिक्का है जिसका वर्णन डा० ओझा ने किया है। अन्य राजस्थानी नरेशो के छोटे-मोटे आकार के सिक्के भी देखने को मिले है। ९वी शताब्दी के प्रतिहारो के सिक्के भीनमाल तथा साँभर से प्राप्त हुए थे। चौहानो के सिक्को मे अजयदेव, सोमदेव, पृथ्वीराज तृतीय आदि के सिक्के बडे प्रसिद्ध है। अजयदेव के सिक्के पर पूर्व-पृष्ठ मे लक्ष्मी का चिह्न और पृष्ठ-तल पर अजयदेव खुदा हुआ देखा गया है। सोमेश्वर के सिक्के पर एक तरफ बैल और दूसरी ओर उसका नाम अंकित है। १२९३ ई० के आसपास के फीरोजी सिक्के भी राजस्थान मे प्रचलित थे जो मारवाड, मेवाड आदि के खजानो मे देखे गये हैं।[२१]

इतिहासपरक साहित्य

इस शीर्षक के अन्तर्गत हम उन ग्रन्थो की ओर संकेत करेंगे जिनकी गणना ऐतिहासिक साहित्य मे की जाती है और जिनमें इतिहास के मूल तत्त्व छिपे पडे है

---

[२०] एपिग्राफिया इण्डिका, जि० २, पृ० ४२२-४२४, जि० १०, पृ० ९८-९९, जि० ११, पृ० ३३-३४, जि० ४१, पृ० २०३ आदि, ओझा निबन्ध संग्रह, भाग १, पृ० २६२-२७१, डा० गोपीनाथ शर्मा, ए बिबलिओग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ३-६

[२१] सारनाथ अभिलेख, वि० स० १०१०, हटुण्डी लेख, वि० स० १०५३, नाडोल लेख, वि० स० १२०२, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, भा० २, पृ० ६७-६९, राणकपुर इन्सक्रिप्शन, वि० स० १४४५, रेऊ, काइन्स ऑफ मारवाड, पृ० १-४, डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३३१—३३३, राजस्थान थ्रू दि एजेज, भा० १, पृ० २७-२८

ये साहित्य काव्य ग्रन्थ, गद्य-पद्य साहित्य तथा लौकिक और भाषा साहित्य के रूप मे मिलता है। जैन साहित्य जिसका प्रमुख उद्देश्य धार्मिक है वह भी यत्र-तत्र कई ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन करता है और राजस्थान की तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक स्थितियो पर प्रकाश डालता है। वाण के हर्ष चरित्र मे गुर्जरो का वर्णन मिलता है जो राजस्थान मे थे। इमी तरह राजशेखर, क्षेमेश्वर और पम्पा की कृतियाँ प्रतिहारो के इतिहास और उनकी सस्कृति पर प्रकाश डालते हैं।[22]

इसके अतिरिक्त काव्य-रचना मे जयानक का 'पृथ्वीराज विजय' अपने ढग का एक ही ग्रन्थ है। यह मूलत काव्यपरक है और इसमे स्वभावत अलकारो तथा उपमाओ का अधिकाधिक समावेश है, फिर भी सपादलक्ष के इतिहास के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी हैं। इससे चौहानो के वश-क्रम पर अच्छा प्रकाश पडता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि अजमेर का विकास प्रारम्भिक शासको के काल से लेकर १२वी शताब्दी तक होता रहा जिसके फलस्वरूप वह एक समृद्ध नगर बन गया। इस काव्य से पृथ्वीराज तृतीय के गुणो पर भी अच्छा प्रकाश पडता है। लेखक सम्राट के अन्य गुणो के साथ-साथ यह भी लिखता है कि उसकी कला मे बडी रुचि थी जिससे उसके समय मे कला और साहित्य विकासोन्मुख बने रहे। आनुसगिक रूप से इस काव्य से उस समय की धार्मिक और सामाजिक स्थिति का भी बोध होता है। नयचन्द्र सूरि के 'हम्मीर महाकाव्य' और चन्द्रशेखर के 'सुर्जन चरित्र' से भी चौहानो के इतिहास पर प्रकाश पडता है।[23]

काव्य साहित्य की भाँति कथा साहित्य का भी ऐतिहासिक महत्त्व है। इन प्रवन्धो मे ऐतिहासिक व्यक्तियो को लेकर कथानक और काल्पनिक बातो को लिया गया है। प्रसगवश जनसाधारण तथा साधुओ का भी उल्लेख उनमे हो गया है। इनके जीवन-वृत्तान्त के क्रम मे राजनीतिक तथा सास्कृतिक जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ, मेरुतुग ने 'प्रवन्ध चिन्तामणि' मे (१३०६ ई०) राजस्थान के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली उपादेय सामग्री को भी सकलित किया है जिसका प्रयोग रासमाला और बम्बई गजट मे खूब है। राजशेखर के 'प्रवन्ध कोष' मे (१३४९ ई०) कई जैन साधु, कवि, राजा और अन्य व्यक्तियो का जीवन-वृत्त है। इनके अतिरिक्त हरिभद्र सूरी की 'समराइच्चकहा', जो प्राकृत गद्य मे है, उद्योतन सूरि की 'कुवलयमाला', हरिसेन का 'बृहत् कथा कोष' आदि ऐसे प्रवन्ध है जिनमे उस समय के धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश पडता है। इनमे राजस्थान मे ८वी शताब्दी मे विवाह, जनजीवन, त्यौहार, दण्ड, भेद-नीति, भीलो का

---

[22] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३०

[23] डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ३३८, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३०

जीवन आदि का सविस्तार वर्णन मिलता है। पूर्व मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास को समृद्ध बनाने के लिए इन प्रबन्धो का उपयोग अत्यन्त वाछनीय है।[२४]

इन ग्रन्थो की भाँति जैन पट्टावलियों से जैन गुरु-परम्परा या धार्मिक स्थिति का ही वर्णन नही मिलता वरन् उनसे कई राजाओ के नाम, नगरो के वर्णन, व्यापारिक स्थिति आदि पर अच्छा प्रकाश पडता है। उदाहरणार्थ, खरतरगच्छ वृहत् गुर्वावली मे अर्णोराज, पृथ्वीराज, समरसिंह, जैसलमेर के कर्णदेव, सुल्तान कुतुबुद्दीन आदि का वर्णन है। प्रसगवश ११वी से १४वी शताब्दी तक के अन्य ऐतिहासिक विषयो की इसमे चर्चा की गयी है। १३३६ ई० की 'उपेशगच्छ पट्टावलि', पाल्ह की 'जिनदतमूरि-स्तुति,' श्रीधर की, 'पार्श्वनाथ चरित्र' आदि भी जैन साहित्य के अन्तर्गत उपयोगी ग्रन्थ हैं जिनसे धार्मिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक जीवन का बोध होता है।[२५]

इनके अतिरिक्त भाषा-ग्रन्थो मे चन्दवरदाई के 'पृथ्वीराज रासो' का स्थान बडे महत्त्व का है। वैसे तो इसका वृहत् कलेवर समसामयिक नही है, फिर भी इसका लघु सस्करण पृथ्वीराज तृतीय के समय के सन्निकट का हो सकता है। इसके वृहत् सस्करण मे दी गयी वशावलियाँ और व्यक्तियो की नामावलियाँ अशुद्ध और अपूर्ण है, परन्तु सयोगिता की कथा और मोहम्मद गोरी के आक्रमण के अशो मे तथ्य अवश्य हैं। 'पृथ्वीराज रासो' के लघु सस्करणो मे वर्णित कई घटनाएँ परम्पराओ पर आधारित हैं जिनमे सच्चाई का भाग होना स्वाभाविक है।[२६]

ऐतिहासिक साहित्य के रूप मे फारसी तवारीखो के वृत्तान्त भी कम महत्त्व के नही हैं। इनमे वर्णित घटनाएँ सुने हुए वृत्तान्तो अथवा स्वय देखी हुई अवस्था पर अवलम्बित है। 'चचनामा' मे सिन्ध के अरब आक्रमण के वर्णन के प्रसग मे राजस्थान से सम्बन्धित घटनाओ पर भी प्रकाश पडता है। अल बरुनी (१००० ई०) के वर्णन मे राजस्थानी समाज तथा आर्थिक व्यवस्था का समावेश है। महमूद गजनवी के 'किताब-जैनुल अखबार, अलउतबी के 'तारीख-ए-यामीनी', मिनहाजउद्दीन के 'तबकात-ए-नासिरी' आदि मे यामीनी-राजपूत सघर्ष का अच्छा वर्णन है। हसन निजामी के 'ताजउल-मासीर' मे राजस्थान मे प्रथम मुस्लिम सत्ता की स्थापना की गतिविधि का उल्लेख है। लेखक ने मुस्लिम राज्य की स्थापना के पूर्व और पश्चात के अजमेर की समृद्धि तथा पतन का क्रमश अच्छा वर्णन किया है। 'तबकात-ए-नासिरी' मे मेवातियो का वर्णन तथा नागौर और जालौर में पठानो की सत्ता की सस्थापना का ब्यौरा दर्ज

---

[२४] कुवलयमाला, सिन्धी जैन सिरीज, पृ० १७०-७१, समराइच्चकहा, भाग २, गाथा १०३-१५४, १५७-१६८, डा० जी० सी० चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नॉर्दन इण्डिया, पृ० ३-४, अन्वेषणा, वर्ष १, अक १

[२५] इण्डियन एण्टिक्वेरी, जि० २०, इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टरली, जि० २६, पृ० २३३

[२६] नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका, वाराणसी, पृ० १५४-१६०

है। इन विदेशी लेखको के वृत्तान्त प्रारम्भिक मध्ययुगीन राजस्थान की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक धार्मिक, भौगोलिक आदि परिस्थितियो पर तो प्रकाश डालते ही है, परन्तु कुछ घटनाओ के तिथि-क्रम की गुत्थियाँ सुलझाने मे भी इनसे प्रचुर सहायता मिलती है।[२७]

इस युग के राजस्थान के ऐतिहासिक वर्णन के कलेवर के निर्माणार्थ सक्षेप मे इस प्रकार के साधन हैं। यदि इन साधनो की सहायता से राजस्थान का इतिहास लिखा जाय तो वह इतिहास अतिरजित वर्णन से मुक्त वैज्ञानिक इतिहास होगा। एक विशेषता इस प्रकार के इतिहास मे यह भी होगी कि वह केवल राजकुलो के युद्ध का विवरण ही नही होगा अपितु वह जन-समुदाय के धार्मिक तथा कला और साहित्यिक उत्कर्षो का आकर्षक चित्रण भी होगा। इन साधनो से करनल टॉड[२८] ने भी बडी आशाएँ व्यक्त की हैं, यह बताते हुए कि यदि इनका ध्यानपूर्वक विश्लेपण किया जाय तो भारतीय इतिहास के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध हो सकेगी। इस सम्बन्ध मे डा० दशरथ शर्मा ने भी आशा प्रकट की है कि राजस्थान के इतिहास के लिए हमे पर्याप्त मात्रा मे सामग्री मिलती है जिसके आधार पर धार्मिक, सामाजिक और सास्कृनिक इतिहास का क्रमबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है।[२९]

---

२७ इलियट एण्ड डाउसन, २, वि० इण्डिका, १८७३-९७, इलियट एण्ड डाउसन, ३, पृ० ५४४-५५६, डा० गोपीनाथ शर्मा, विवलिओग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० २४-२५

२८ "In the absence of regular and legitimate historical records, there are, however, other native works, which, in the hands of a skilful and patient investigator, would afford no despicable materials for the history of India" —Tod, *Annals*, p 15

२९ "Thus everything considered, we have a fairly large amount of source material for the early history of Rajasthan and on its basis we can give a connected account of its social, religious and cultural evolution" —*Rajasthan Through the Ages*, p 32

अध्याय २

राजपूत राज्यो के उदय के पूर्व प्राचीन राजस्थान

प्राक्कथन

राजस्थान मे राजपूत राज्यो की स्थापना ऐतिहासिक काल-क्रम मे वहुत ही निकट की है। इन राज्यो की स्थापना के पहले युग-युगान्तर के अन्तराल व्यतीत होते रहे और यहाँ भू-भाग की विविधता और वैचित्र्य की भाँति ऐतिहासिक घटनाओ मे विलक्षणता आती रही। इस प्रकार के वैविध्य की साक्षी मरुस्थल या चट्टानो मे दवे जीवाश्म या भू-गर्भ मे दबे नमक के आकार अथवा मिट्टी के ढेर मे सोई हुई वस्तियाँ तथा मन्दिर आदि दे रहे हैं। इन सामग्रियो का वैज्ञानिक अध्ययन हमे इस निश्चय पर पहुँचाता है कि भारतीय प्राचीनतम वस्तियो मे राजस्थान का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और उसकी गणना अनुमानत एक लाख वर्ष प्राचीन प्रतीको मे की जा सकती है।[1]

राजस्थान और प्रस्तर-युग

वनास, गम्भीरी, वेडच, वाधन तथा चम्वल नदियो की घाटियो तथा इनके समीपवर्ती तटीय स्थानो के परिवेक्षण से प्रमाणित हो चुका है कि दक्षिण-पूर्वी तथा उत्तर-पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी राजस्थान की नदियो के किनारे, जो वर्तमान कालीन वाँसवाडा, डूगरपुर, उदयपुर, भीलवाडा, बूँदी, कोटा, झालावाड, जयपुर, इन्द्रगढ आदि जिलो या तहसीलो के अन्तर्गत हैं प्रस्तरयुगीन, मानव रहता था और पत्थरो के हथियारो का प्रयोग करता था। ये हथियार भद्दे और भौंडे थे। इस प्रकार के हथियार वहुतायत से अनेक स्थानो से प्राप्त हुए हैं जो ये हैं

नगरी, खोर, व्यावर, खेडा, वडी अचनर, ऊणचा देवडी, हीरोजी का खेडा, वल्लूखेडा (वेडच और गम्भीरी के तट पर चित्तौड जिले मे), भैंसरोडगढ, नवाघाट (चम्वल और वामनी के तट पर), हमीरगढ, सरूपगज, मण्डपिया, वीगोद, जहाजपुर, खुरियास, देवली, मगरोप, दुरिया, गीगाखेडा, पुर, पटला, सद, कुवारिया, गिलूंड आदि (वनास तट तथा भीलवाडा जिले मे), लूणी (जोधपुर मे लूणी की घाटी), सिंगारी और पाली (गुहिया और वाँदी नदी की घाटी), समदडी, शिकारपुरा, भावल,

---

[1] सकालिया, विगिनिंग ऑफ सिविलीजेशन इन राजस्थान, उदयपुर सेमीनार

पीचक, भाँडेल, धनवासनी, सोजत, धनेरी, भेटान्दा, दुन्दारा, गोलियो, पीपाड, खीमसर, उम्मेदनगर आदि (मारवाड मे), गागरोन (झालावाड), गोविन्दगढ (सागरमती अजमेर जिले मे), कोकानी (परवानी नदी कोटा जिले मे), भुवाणा, हीरो, जगन्नाथपुरा, सियालपुरा, पच्चर, तरावट, गोगासला, भरनी (वनास के तट पर टोक जिले मे)। इन हथियारो को प्रयोग मे लाने वाला मनुष्य निरा बर्वर था। उसका आहार शिकार किये हुए वनैले जानवरो का माँस और प्रकृति द्वारा उपजाये कन्द, मूल, फल आदि थे। इस काल का मनुष्य अपने मृतको को जानवरो, पक्षियो और मच्छियो के लिए मैदान या पानी मे फेंक दिया करता था।[२]

प्रस्तर-धातु युग और राजस्थान

अव तक जो हमने राजस्थान के वारे मे जानने का मार्ग ढूँटा वह तमपूर्ण था। आगे चलकर मानव इस स्तर से आगे वढा और राजस्थानी सभ्यता की गोधूलि की आभा स्पष्ट दिखायी देने लगी। ऋग्वैदिक काल से शायद सदियो पूर्व आहड (उदयपुर के निकट) और दृषद्वती और सरस्वती (गगानगर के निकट) नदियो के काँठे जीवन लहरें मारता हुआ दिखायी देने लगा। इन काँठो पर मानव-सस्कृति सक्रिय थी और कुछ अश मे हडप्पा तथा मोहनजोदडो की सभ्यता के समकक्ष तथा समकालीन सी थी। आज से पाँच-छ हजार वर्ष पहले इन नदी-घाटियो मे वसकर मानव पशु पालने, भाण्ड वनाने, खिलौने तैयार करने, मकान-निर्माण करने आदि कलाओ को जान गया था। इस सुदूर अतीत को समझने के लिए हमे कालीवगा व आघाटपुर से उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करना होगा।

कालीवगा

आहड और वेडच नदी की घाटी से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सभ्यता दृषद्वती और सरस्वती घाटी मे पायी गयी है जो हडप्पा की सभ्यता के समकालीन-सी है। इन नदियो के काँठे पर कई ऐसे स्थान है जो उस युग के प्रतीक हैं, जिनमे कालीवगा वडा प्रसिद्ध है। आज से ४-५ हजार वर्ष पूर्व यहाँ उदीयमान सभ्यता विकसित हुई जिसका प्रमाण साहित्य नही वरन् खुदाई से प्राप्त कई वस्तुएँ हैं। इन वस्तुओ का तथा स्थान विशेप का विश्लेपण यह प्रमाणित करता है कि यहाँ के जन-जीवन और शासन-व्यवस्था का ऐसा स्वरूप वन गया कि वह राजस्थान के लिए एक गौरव की घटना हो गयी। यहाँ की खुदाई से मिलने वाली वस्तुओ में वर्तन, ताँवे के औजार, चूडियाँ, अकित मुहरें, तौल, मृणमय मूर्तियाँ, खिलौने आदि हैं। यहाँ के मकान, चौडी सडके, किला, गोल कुएँ, दीवारे आदि अपने ढग के हैं जो उस समय के शालीन तथा

---

२ विशेप जानकारी के लिए द्रष्टव्य, इण्डियन आर्कियोलोजी—ए रिव्यू, १९५८-५९, १९५९-६०

डा० सत्यप्रकाश—राजस्थान प्रीहिस्टोरिक रिव्यूज, रिसर्चर, भा० २, पृ० २५-३५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, भा० १, पृ० ३४-३५, ४४-४५, ४६-४७

क्रमिक नगर योजना के अग हैं। पत्थर के अभाव के कारण दीवारें सूर्यतपी ईंटो से बनती थी और इन्हे मिट्टी से जोडा जाता था। व्यक्तिगत और सावजनिक नालियाँ और कूडा डालने के भाण्ड नगर की सफाई की असाधारण व्यवस्था के अग थे। यदि मुहरो की उत्कीर्ण लिपि को जब कभी भी पढा जा सकेगा तो इस सभ्यता के कई पक्ष स्पष्ट हो सकेंगे।

अभाग्यवश ऐसे समृद्ध सभ्यता के केन्द्र का ह्रास हो गया। सम्भवत भूचाल से या कच्छ का रन के रेत से भर जाने से ऐसा हुआ हो। जो समुद्री हवाएँ पहले इस ओर से नमी लाती थी और वर्षा का कारण बनती थी वे ही हवाएँ अब सूखी चलने लगी और कालान्तर मे यह भू-भाग रेत का समुद्र बन गया। सरस्वती नदी के अन्तर्ध्यान होने के उल्लेख पुराणो मे मिलते हैं जो इस अवस्था के द्योतक है।[3]

आघाटपुर या आहड[4]

आहड आज खण्डहरो के ढेर मे दबा पडा है। यह कहना कठिन है कि उस नगर का विध्वस किन कारणो को लेकर हुआ। भूकम्प, आहड नदी का प्रवाह या बाढ, आक्रमण आदि कोई भी नगर विध्वस का कारण हो सकता है। परन्तु निकट भविष्य की खुदाई जो ४५ फुट नीचे तक कुछ खाइयो मे की जा चुकी है और लगभग १५ स्तर मे दिखायी देती है, यह प्रमाणित करती है कि वर्षा के प्राचुर्य तथा आहड घाटी की उपज ने सम्भवत भीलो को यहाँ आकर बसने के लिए आकर्षित किया और उन्होने यहाँ बसकर हजारो वर्ष अपनी सस्कृति को समृद्ध बनाये रखा। यदि पूरे खण्डहर के ढेर को, जो लगभग १६०० फुट लम्बा और ५५० फुट चौडा है, खोदा जाय तो यहाँ की विकसित सभ्यता के कई अज्ञात पहलू स्पष्ट हो सकते हैं। फिर भी कुछ परीक्षण-खनन ने यहाँ से प्राप्त सामग्री को हमारे लिये उपलब्ध किया है जिसके आधार पर प्रमाणित होता है कि आहड-दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान का सभ्यता का केन्द्र था।

यहाँ के मकान पत्थरो से बने थे जिनमे सामने से सफाई से चिनाई की जाती थी। कमरे विशेष रूप से बडे होते थे जिन्हें बाँसो और कवेलू से छाया जाता था। कमरो मे बाँस की पडदी बनाकर छोटे कमरो मे परिणित किया जाता था। पडदी पर चिकनी मिट्टी चढाकर टिकाऊ बनाया जाता था। फर्श को भी मिट्टी से लीपा जाता था। कुछ खाइयो मे दीवारें एक पर दूसरी बनायी हुई दिखायी देती है और कभी

---

3 आर्कियोलोजिकल रिमेन्स, मोनुमेण्टस एण्ड म्यूजियम, भा० २, पृ० १८-१९, वीलर, इण्डियन सिविलीजेशन, पृ० ९६, रिसर्चर, भा० १, समर अक, पृ० ३७, रिसर्चर, भा० २, पृ० ३६, प्रोसीडिंग्ज आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, १९५४, पृ० १९, राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ० ३९-४०

4 इण्डियन आर्कियोलोजी, १९५९-१९६०, राजस्थान सिम्पोजियम, पृ० १०-१५

तो वे ऊपर की दीवार के समान्तर और कभी तिरछी जाती हैं जो अलग-अलग समय के निर्माण की द्योतक हैं।

आहड सभ्यता के लोग कृषि से परिचित थे। यहाँ से मिलने वाले वडे-वडे भाण्ड तथा अन्न पीसने के पत्थर प्रमाणित करते है कि ये लोग अन्न का उत्पादन करते थे और उसको पकाकर खाते थे। एक वडे कमरे मे जो वडी-वडी भट्टियाँ मिली हैं वह सामूहिक भोज की पुष्टि करती है। इस भाग मे वर्षा अधिक होने और नदी पास मे होने से सिचाई की सुविधा यह सिद्ध करती है कि वहाँ भोजन प्रभूत मात्रा मे प्राप्त रहा होगा।

आहड के निवासियो को वर्तन वनाने की कला आती थी। यहाँ से मिट्टी की कटोरियाँ, रकाबियाँ, तश्तरियाँ, प्याले, मटके, कलश आदि वडी सख्या मे मिले हैं। साधारणतया इन वर्तनो को चाक से वनाते थे जिन पर चित्राकन उभरी हुई मिट्टी की रेखा से किया जाता था और उसे 'ग्लेज' करके चमकीला वना दिया जाता था। वैठक वाली तश्तरियाँ और पूजा मे काम आने वाली धूपदानियाँ इरानियन शैली की वनती थी जिससे हमे आहडियो का सम्वन्ध ईरानी गतिविधि से होने की सम्भावना प्रकट करता है।

इनके आभूषण सीप, मूँगा, वीज तथा मूल्यवान पत्थरो के होते थे। ये लोग सीग वाले पशु, कुत्ते, मेडा, हाथी, गेंडा तथा मनुष्य आकृति वाले मिट्टी के खिलौने वनाते थे। इनके हथियार पत्थर के वजाय ताँवे के वनते थे। सम्भवत इस नगर का वैभव इसके निकट मिलने वाली ताँवे की खानो के कारण भी हो।

इनके मृतक-सस्कार के सम्वन्ध मे हमे कोई स्पष्ट जानकारी नही मिलती, परन्तु पहली-दूसरी शताव्दी के ऊपर की सतह के मनुष्य के अस्थि-पिंजर के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वे मृतको को आभूषण युक्त गाडते थे जिनका मस्तक उत्तर और पाँव दक्षिण को रखे जाते थे।

यह सभ्यता, ऐसा प्रतीत होता है कि आहड से उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व की ओर वढी जैसा कि गिलूंड और भगवानपुरा से मिलने वाली सामग्री से सिद्ध है। आगे चलकर इन स्थानो की सभ्यता मालवा और सौराष्ट्र के सम्पर्क मे आयी, नवदा-तोली मे मिलने वाले उपकरणो और गिलूंड के उपकरणो की साम्यता इस अनुमान की पुष्टि करती है। फिर भी यह तो सर्वथा मान्य है कि आहड सभ्यता का आरम्भ गिलूंड की सभ्यता (लगभग १५०० ई० पू०) से अधिक प्राचीन रहा होगा, क्योंकि आहड का जटिल और समन्वित नागरिक जीवन नि सन्देह शताव्दियो के विकास का परिणाम था।[५]

---

५ राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३५–३८

राजस्थान और आर्य बस्तियाँ

धीरे-धीरे सरस्वती और दृषद्वती तटीय भाग की प्राचीन बस्तियाँ हटकर पूर्व और दक्षिण की ओर किसी कारणवश बढने लगी और सम्भवत आर्य, जो बसने के स्थानो की खोज मे इधर-उधर बढ रहे थे, इन नदियो की उपत्यकाओ मे आकर बसने लगे। इसके प्रमाण मे भूरी मिट्टी के बर्तनो के टुकडे हैं जो अनूपगढ के दूसरे ढेर से या तरखानवाला डेरा की खुदाई से प्राप्त है। ये भाण्डो के टुकडे हडप्पा के बर्तनो के टुकडो से भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि यही से आर्य बस्तियाँ कालान्तर मे दोआब आदि स्थानो की ओर बढी हो। इन्द्र और सोम की अर्चना के मन्त्रो की रचना, यज्ञ की महत्त्वता की स्वीकृति और जीवन-मुक्ति का ज्ञान आर्यो को इसी नदी की घाटी मे निवास करे हुआ था, ऐसी विद्वानो की मान्यता है।[६]

महाभारत तथा पौराणिक गाथाओ से प्रमाणित होता है कि जागल (बीकानेर), मरुकान्तार (मारवाड) आदि भागो से बलराम और कृष्ण गुजरे थे जो आर्यो की यादव शाखा के नेता थे। इसी तरह अनुश्रुतियो के आधार से माना जाता है कि पुष्करारण्य और अर्बुदाचल, मध्यदेश और गुर्जर देश को मिलाने वाले मार्ग पर थे और उनकी गणना बडे तीर्थों मे थी। महाभारत मे शाल्व जाति की बस्तियो का भी उल्लेख मिलता है जो भीनमाल, साचोर और सिरोही के आसपास थी।[७]

राजस्थान और जनपद युग (३०० ई० पू० से ३०० ई०)

इस प्रारम्भिक आर्य सक्रमण के बाद राजस्थान मे जनपदो का प्रभात होता है, जहाँ से हमारे इतिहास की घटनाएँ अधिक प्रमाणो पर आधारित की जा सकती हैं। तीसरी ईसा पूर्व से हमे यहाँ मुद्राएँ, आभूषण, अभिलेख, नगरो के खण्डहर अधिक परिमाण मे मिलते हैं जिससे प्रमाणित होता है कि पूर्वी राजस्थान मे ब्राह्मण और बौद्ध सस्कृति पनप रही थी। बैराट, रेड, साभर, नगर और नगरी के खनन और अन्वेषण ने इस सम्बन्ध मे अच्छा प्रकाश डाला है। वैसे तो सिकन्दर के अभियान से जर्जरित तथा अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने मे उत्सुक दक्षिण पजाब की मालव, शिवि तथा अर्जुनायन जातियाँ, जो अपने साहस और शौर्य के लिए प्रसिद्ध थी, अन्य जातियो के साथ राजस्थान में आयी और सुविधा के अनुसार यहाँ बस गयी। ये जातियाँ जनपद के रूप मे व्यवस्थित थी जिनके सिक्के लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से मिलते हैं। इनमे भरतपुर का राजन्य जनपद और मत्स्य जनपद, नगरी का शिवि जनपद, अलवर के भाग का शाल्व जनपद प्रमुख हैं। परन्तु लगभग इसी काल से लगाकर

---

६ राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४२–४३, आर्कियोलोजिकल रिमेन्स, मोनुमेण्ट्स एण्ड म्यूजियम्स, भाग १, पृ० ३–६

७ वैध, हिस्ट्री आफ मेडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, पृ० ६४–६९, रिसर्चर, भाग १, पृ० ३७

चौथी शताब्दी के प्रारम्भ तक मालव, अर्जुनायन तथा यौधेयो की प्रभुता का काल राजस्थान मे मिलता है जब कुशाण शक्ति निर्बल हो चली थी और भारतवर्ष मे गुप्ताओ के पूर्व कोई केन्द्रीय शक्ति नही रही थी।[८]

मालवो की शक्ति का केन्द्र जयपुर के निकट नगर, था। कुछ मुद्राएँ तथा एक ताम्र-पत्र इसी प्रान्त से उपलब्ध हुए है जो इनकी शक्ति सगठन काल को तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व ले जाते है। समयान्तरो मे मालव अजमेर, टोक तथा मेवाड के क्षेत्र तक फैल गये और प्रथम शताब्दी ईसा के अन्त तक गणतन्त्रीय राज्य के रूप मे बने रहे। थोडे समय तक पश्चिमी क्षत्रियो के प्रभाव ने इन्हे निर्बल बना दिया परन्तु तीसरी शताब्दी मे इन्होने अपने सगठन द्वारा क्षत्रियो को पराजित कर अपनी स्वतन्त्रता को पुन स्थापित किया। सम्भवत श्री सोम ने २२५ ई० मे अपने शत्रुओ को परास्त करने के उपलक्ष मे एकषष्ठी यज्ञ का आयोजन किया और ब्राह्मणो को गोदान से सन्तुष्ट किया। ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के काल तक वे स्वतन्त्र बने रहे।[९]

भरतपुर-अलवर प्रान्त के अर्जुनायन भी अपनी विजय श्री के लिए बडे प्रसिद्ध है। इनकी मुद्राओ पर भी 'अर्जुनायनाना जय' अकित मिलता है जो प्रमाणित करता है कि ये क्षत्रियो को परास्त करने मे मालवो के सहयोगी रहे हो, क्योकि मालव मुद्राओ पर भी इसी भाँति 'मालवाना जय' मिलता है। इसी प्रकार राजस्थान के उत्तरी भाग के यौधेय भी एक बलशाली गणतन्त्रीय कबीला था जिनमे कुमारनामी इनका एक बडा शक्तिशाली नेता हो चुका है। यौधेय सम्भवत उत्तरी राजस्थान की कुषाण शक्ति को नष्ट करने मे सफल हुए थे जो एक रुद्रदामा के लेख से स्पष्ट है। कुषाणो की साम्राज्य-शक्ति से मुकाबला कर इन्होने वीरता और अदम्यता की ख्याति प्राप्त की थी। ये इन्ही का गणराज्य था जिसने अन्य गणतन्त्रीय व्यवस्थाओ से मिलकर शक-ऋषिक-तुखार सत्ता को राजस्थान, पजाब और दोआब से उखाड फेंका।[१०]

यह तो निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि मालव या यौधेयो मे किस प्रकार की शासन-व्यवस्था थी परन्तु कुछ शिलालेखो तथा निकट सामयिक ग्रन्थो से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यौधेय व्यवस्था मे अर्द्ध-राजसत्तात्मक शासन के ढग को अपनाया गया था और उनके प्रमुख नेता को महाराज-सेनापति कहा

---

८ जरनल आफ बिहार रिसर्च सोसायटी, भाग ४२, पृ० ३४–३८, एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३४, पृ० ३५, जरनल आफ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, भाग १०, पृ० १००–१८१

९ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग १, पृ० २५७, ए न्यू हिस्ट्री आफ इण्डियन पीपुल, भाग ६, पृ० ३३

१० ए न्यू हिस्ट्री आफ इण्डियन पीपुल, पृ० २८-५६

जाता था। उसकी- नियुक्ति यौधेयगण करता था। वैसे तो वैशाली के गणतन्त्र मे भी सेनापति एक पद था परन्तु सतत युद्ध की स्थिति ने यौधेय सेनापति को महाराज की उपाधि से भी अलकृत कर दिया था। मालवो के जनपदो मे भी उपरीय व्यवस्थापक का एक स्थान था परन्तु उसके अधिकारो पर नियन्त्रण जनपद का होना स्वाभाविक था।

इस युग मे स्थापत्य कला ने अपनी एक विशेष प्रगति की थी। वैराट के विहार, रेड के ईंटो के मकान, बीजक पहाडी का गोलाकार मन्दिर, नगरी का गरुड स्तम्भ, शिला प्राकार, स्तूप तथा स्वास्तिक और त्रिरत्न के चिह्न उस समय के स्थापत्य के अवशेष के अच्छे उदाहरण हैं। इसी प्रकार कुषाणो के सम्पर्क ने राजस्थान के पत्थर और मृण्मय मूर्ति-कला को एक नवीन मोड दिया जिसके नमूने अजमेर के नाद की शिव प्रतिमा, साँभर का स्त्री का धड तथा अश्व तथा अजामुख हयग्रीव या अग्नि की मूर्ति अपने आप कला के अद्वितीय नमूने है। बीकानेर क्षेत्र मे वडोपल और रगमहल की मूर्तियो मे केश, आभूषण और उत्तरीय के दिखाव गाधार शैली से प्रभावित दीख पडते हैं, परन्तु वास्तव मे उनमे एक स्थानीयपन है जो गले के आभूषण, कन्धे के आच्छादन तथा बालो की बनावट से स्पष्ट है। परन्तु गान्धार शैली का इतने दूर तक तीसरी शताब्दी मे प्रभाव वढना असगत प्रतीत होता है।

लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से तीसरी शताब्दी ईसा काल मे धर्म का राजस्थान मे एक स्वरूप निर्धारित हो चुका था। नागरी, लालसोट, रेड, वैराट, पुष्कर के खण्डहर तथा स्तम्भ और स्तूप यह प्रमाणित करते हैं कि राजस्थान के केन्द्रीय भागो मे बुद्ध धर्म का काफी प्रचार था। परन्तु यौधेय और मालवो के यहाँ आने से ब्राह्मण धर्म को प्रोत्साहन मिलने लगा और बौद्ध धर्म के ह्रास के चिह्न दिखायी देने लगे। यज्ञ, दान, दक्षिणा का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया। श्री सोम नान्दसा मे षष्ठिरात्र यज्ञ के उत्सव के उपलक्ष मे गौओ का दान देकर और ब्राह्मणो को सन्तुष्ट कर अपने आपको कृतकृत्य समझने लगा। घोसुडी शिलालेख से (२०० ई० पू०) विदित है कि शकर्षण और वासुदेव की आराधना उस समय प्रचलित थी। बीकानेर सग्रहालय की दानलीला की मूर्ति कृष्ण कथा की लोकप्रियता प्रमाणित करती है। समाज मे शिव तथा महिषासुर-मर्दिनी (नगर की) की आराधना प्रचलित थी। यौधेय युद्धप्रिय होने से कार्तिकेय और चामुडा के उपासक थे। इन सभी धार्मिक विश्वासो के होते हुए पचरात्र विधि और शैव सिद्धान्त के दर्शन अभी बौद्धिक विचार मे पूरा प्रवेश नही करने पाये थे। ये अभी शैशव स्थिति से गुजर रहे थे।[११]

---

[११] आर्कियोलोजिकल रिमेन्स, मोनुमेण्ट्स एण्ड म्यूजियम्स, भाग १, पृ० ६१, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४८-५६

राजस्थान—गुप्तकाल से हूण आक्रमण तक (३००–६०० ई०)

गुप्ताओ की शक्ति के उदय के साथ-साथ राजस्थान मे स्थित मालव, यौधेय, आभीर आदि गणराज्य यथाविधि वने रहे जैसा कि समुद्रगुप्त के प्रयाग अभिलेख से प्रमाणित होता है। परन्तु इस लेख मे मोखरियो का जिक्र नही है जो कोटा के आस-पास शक्तिशाली थे। सम्भवत ३५० ई० तक ये नगण्य हो गये हो। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त सम्राटो ने इन विभिन्न गणतन्त्रो को समाप्त नही किया परन्तु इन्हे अर्द्ध-आश्रित रूप मे बनाये रखा। इस स्थिति मे वे ईसा की पाँचवी शताब्दी तक गण-तन्त्र के रूप मे वने रहे। परन्तु जब हूणो ने पजाव तथा अन्य उत्तरी भागो को अपने आतक से नप्ट-भ्रष्ट कर दिया तो उस तूफानी अभियान का धक्का सहन करने की क्षमता उनमे नही रही। हूण अपनी नृशस प्रवृत्ति से वैराट, रगमहल, बडोपल, पीर सुल्तान की थडी आदि समृद्ध स्थानो को नष्ट-भ्रप्ट करने से न हिचके। राजस्थान के लिए छठवी शताब्दी शुभ अवसर नही था, इस अर्थ मे कि यहाँ सदियो से पनपी हुई गणतन्त्रीय व्यवस्था सर्वदा के लिए समाप्त हो गयी।[12]

शासन-व्यवस्था

जहाँ तक राजनीतिक जीवन का प्रश्न है, हमने पहले ही पढा है कि राजस्थान मे केन्द्रीय गुप्त व्यवस्था ने आन्तरिक शासन मे कोई हस्तक्षेप नीति को नही अपनाया। इसका फल यह हुआ कि गणतन्त्रीय व्यवस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र वनी रही। एक प्रकार का नाममात्र का आधिपत्य स्वीकार करने के अतिरिक्त उनका केन्द्रीय राज्य से कोई विशेष सम्वन्ध नही था। परन्तु समुद्रगुप्त की मृत्यु के पीछे धीरे-धीरे गणतन्त्रीय राज्यो मे निर्वलता आ जाने से उनमे भी छोटी-छोटी इकाइयाँ वन गयी जिनका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

सामाजिक और आर्थिक स्थिति

इस काल मे राजस्थान का समाज वर्णो मे विभाजित था, परन्तु विदेशी प्रभाव तथा विदेशी जातियो के आ जाने से सामाजिक विघटन और विकृति के तत्त्व दिखायी देने लगे थे। ज्यो-ज्यो शको की शक्ति कम होती गयी उनको यहाँ की स्थायी सामाजिक व्यवस्था से मिल-जुलकर रहने और एक-दूसरे के प्रति सहयोग तथा सहवास की भावना उत्पन्न करने की क्षमता आ गयी। हूणो के आक्रमण ने पहले के विदेशी समुदाय को स्थानीय समुदाय के साथ मिला दिया। आगे चलकर हूण भी ऐसे समाज के साथ मिल गये। इस युग की आर्थिक स्थिति की जानकारी हमे भरतपुर, वुन्दीवाली डूंगरी (जयपुर), अजमेर तथा मेवाड से मिलने वाले चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम की सुवर्ण मुद्राओ से होती है।

---

[12] जैसवाल, हिस्ट्री आफ इण्डिया (हिन्दी), पृ० ३२२, इलाहावाद स्तम्भ लेख, २२, मन्दसौर शिलालेख, श्लो० १६

धार्मिक प्रगति

राजस्थान के गुप्त शासनकाल मे ब्राह्मण धर्म की उन्नति हुई। साभर के नालियासर की रजत मुद्राओ से जो कुमारगुप्त प्रथम की हैं और जिन पर मयूर की आकृति बनी हुई है, प्रमाणित होता है कि उस समय स्वामी कार्तिक की पूजा लोकप्रिय थी। कोटा के मुकन्दरा और कृष्ण विलास के मन्दिर तथा भीनमाल, मडोर के स्तम्भ, पाली और कामा की विष्णु, कृष्ण, वलराम आदि की मूर्तियां इन क्षेत्रो मे वैष्णव धर्म के प्रसार की द्योतक हैं। ये मूर्तियाँ कुछ तो जोधपुर तथा भरतपुर सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। इसी तरह ४२३ ई० का गगधार शिलालेख और ४२५ ई० का नगरी का शिलालेख इन स्थानो मे विष्णु के मन्दिरो के निर्माण का उल्लेख करते हैं।[13]

जब वैष्णव धर्म समाज का धर्म वना हुआ था तो उत्तरी, पूर्वी तथा दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान मे इस धर्म के साथ-साथ शैव धर्म की भी मान्यता थी। कोटा का चारचोमा का मन्दिर और रगमहल व बडोपल से प्राप्त शिव-पार्वती की मूर्तियाँ तथा साभर, कल्याणपुर और कामा के शिव-पार्वती की मूर्तियाँ शैव धर्म की लोकप्रियता बताती हैं।

इन धर्मों के साथ-साथ उदयपुर जिले का भ्रमरमाता का मन्दिर, नालियासर की दुर्गादेवी की खण्डित पट्टिका तथा दुर्गा और गगा का रेड से प्राप्त मिट्टी के बर्तनो पर अकन यहाँ मातृ देवी की उपासना का प्रचलन वताते हैं।

इन देवता और देवियो की उपासना के साथ-साथ राजस्थान मे ब्राह्मण धर्म और अनुष्ठान को प्रोत्साहन मिला हुआ था। एक खण्डित शिलालेख मे जो लगभग चौथी शताब्दी का है, वाजपेय यज्ञ का उल्लेख है तो ४२४ के गगधार यूप लेख मे नरवर्मन द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने की अभिलाषा से यज्ञो के करने का वर्णन है। इसी गगधार के लेख मे तान्त्रिक विधि से मातृदेवी की आराधना का उल्लेख तन्त्र और मन्त्र मे विश्वास रखने की ओर सकेत करता है। मण्डोर, सिरोही तथा पिण्डवाडा से मिलने वाली पत्थर, काँसे और सर्वधातु की जैन मूर्तियाँ पश्चिमी राजस्थान मे जैन धर्म के प्रचार और प्रसार पर प्रकाश डालती हैं।

मूर्तिकला तथा वास्तु कला

गुप्त कला की अभिव्यक्ति मे राजस्थान वडा समृद्ध है। इस काल की प्रतिमाएँ जो अमझेरा (डूंगरपुर), कल्याणपुर और जगत (उदयपुर), आम्बानेरी (जयपुर), मण्डोर, ओसियाँ (जोधपुर), वाडोली, कोटा, वसेरी (धौलपुर), नीलकठ और सेंचली (अलवर) आदि स्थानो से प्राप्त हुई हैं, अलकृत कला, सटे हुए त्रिचीवरो तथा केश के नवीन प्रसाधनो से गुप्त शैली के अधिक समीप है। रगमहल, मुण्डा, पीर सुल्तान री थडी से, जो बीकानेर क्षेत्र मे हैं, जो सामग्री उपलब्ध हुई है वह अपनी सजीवता, सादगी,

---

[13] राजस्थान स्कल्पटर, पृ० १२-१३, १७, राजस्थान थ्रू दि एजेज पृ० ६०-६८

गति तथा तक्षण-कला मे विशिष्टता प्रकट करती है। साभर की उत्खनन सामग्री मे मिट्टी के वर्तनो के टुकडो पर वनी हुई विविध आकृतियाँ, फूलो की पखडियाँ, पत्तियो की वनावट और जालीदार रेखाकृति परम्परा के विचार से ऐसी निर्दोप है कि उन्हे देखते ही वनता है।

इस युग मे वास्तु-शिल्प को वहुत प्रोत्साहन मिला जो मुकन्दरा तथा नगरी के मन्दिरो से प्रमाणित है। इन मन्दिरो के शिखर, प्रासाद तथा चौकोर और गोल खम्भो की प्रणाली उत्तर गुप्तकाल मे वनने वाले ओसियाँ, आम्बानेरी और वाडोली के मन्दिरो की निर्माण-कला मे नयी दिशा निर्धारित करने के आधार बने। इतना ही नही, इन्ही मन्दिरो की मूलभूत वास्तु-कुशलता को लेकर भारतीय नागर और द्रविड शैली का विकास हुआ था।[१४]

शिक्षा का प्रसार

इस काल मे नि सन्देह अनेक प्रतिभाशाली मेधावी हुए जिन्होने स्तम्भ-लेखो के द्वारा काव्य-प्रतिभा तथा सुसस्कृत होने का प्रमाण दिया है। इससे यह भी प्रकट होता है कि इन मेधावियो ने अपनी साहित्यिक प्रखरता का जनता पर गहरा प्रभाव डाला था। ठीक इस युग की समाप्ति के वाद सातवी शताब्दी मे भीनमाल मे माघ का होना और चित्रकूट (चित्तौड) मे हरिभद्र सूरि के होने से सिद्ध है कि राजस्थानी साहित्यिक तथा गणित सम्वन्धी प्रगति गुप्त काल मे विकसित और समृद्ध अवस्था मे थी, जो निकट-भविष्य मे प्रतिभासम्पन्न विद्वानो को जन्म दे सकी। इस काल की वौद्धिक अभिसृष्टि से विदित होता है कि उस युग मे प्रचलित शिक्षा प्रणाली भी अच्छी रही होगी। व्रह्म सिद्धान्तो का लेखक व्रह्मगुप्त भीनभाल मे रहकर गणित सम्वन्धी ज्ञान को प्रसारित करता रहा। सम्भवत ७२ आर्य छन्दो मे इसी विद्वान ने 'ध्यानगृह' का सृजन किया था।

---

[१४] राजस्थान स्कल्पटर, पृ० २६-२७, ३०, ३१, आर्कियोलोजिकल रिमेन्स, मोनुमेण्ट्स एण्ड म्यूजियम्स, भाग १, पृ० १६७-१७२, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६८-७२

अध्याय ३

राजपूतो का उदय, अधिवासन और उनकी उत्पत्ति

इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना युद्धप्रिय राजपूत जाति का उदय एव राजस्थान मे राजपूत राज्यो की स्थापना है। गुप्त साम्राज्य के पतन के वाद केन्द्रीय शक्ति का अभाव उत्तरी भारत मे एक प्रकार की अव्यवस्था का प्रवर्तक बना। राजस्थान की गणतन्त्रीय जातियो ने (जिनमे मालव, यौधेय, शिवि आदि थी) जिन्होने गुप्ताओ की अर्द्ध-अधीनता स्वीकार कर ली थी, इस अव्यवस्था से लाभ उठाकर फिर स्वतन्त्र हो गये और परस्पर विरोधी भावना से अपने-अपने अधिकार क्षेत्र को वढाने मे लग गये। परन्तु इस पारस्परिक विद्वेष की प्रवृत्ति तथा आचरण ने इन्हे निर्वल बना दिया। ऐसी अवस्था मे हूणो के विध्वसकारी आक्रमण आरम्भ हो गये। इनके एक नेता तोरमन ने मालवा तक अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। उसके पुत्र मिहिरकुल ने तो अपने प्रलयकारी आक्रमण से राजस्थान को वडी क्षति पहुँचायी और बिखरी हुई गणतन्त्रीय व्यवस्था को जर्जरित कर दिया।

भाग्यवश मालवा के शासक यशोवर्मन ने, जिसकी शक्ति एक सम्मान प्राप्त कर चुकी थी, इन हूणो को, लगभग ५३२ ई० मे, परास्त करने मे सफलता प्राप्त की। उसने मालवा तथा राजस्थान से हूणो को दबाया और उन्हें शान्त नागरिक के रूप मे बसने को वाध्य किया। कुछ ममय के लिए यशोवर्मन राजस्थान मे सुख और सम्पदा लाने मे सहायक सिद्ध हुआ।

परन्तु यह शान्ति क्षणिक थी। यशोवर्मन की मृत्यु के वाद फिर अव्यवस्था का दौर आरम्भ हुआ। इधर तो राजस्थान मे यशोवर्मन के अधिकारी जो राजस्थानी कहलाते थे, अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर रहे थे और उधर अव्यवस्थित गणतन्त्र की विखरी हुई जातियाँ, जो अलग-अलग समूह मे रहती थी, फिर से अपने प्रावल्य के लिए सघर्षशील हो गयी। किसी केन्द्रीय शक्ति का न होना इनकी प्रवृत्ति के लिए सहायक वन गया।

जव राजस्थान इस स्थिति से गुजर रहा था तो उत्तरी भारत की शक्ति (सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे) पुष्पभूति शासको के हाथ मे थी, जिनमे हर्षवर्धन प्रमुख था। इसके तत्त्वावधान मे राजस्थान मे फिर से एक शान्ति की लहर आयी, परन्तु जो

विखरी हुई अवस्था यहाँ पैदा हो गयी थी वह न सुधर सकी। हर्ष की मृत्यु (६४८ ई०) के वाद तो इस शक्ति के विभाजन ने और वल पकड लिया।

इन राजनीतिक उथल-पुथल के सन्दर्भ मे एक सामाजिक परिवर्तन भी उसी समय से आरम्भ हो गया था। राजस्थान मे, जैसा कि हमने ऊपर पढा, विदेशी जातियो के जत्थे दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से छठी शताब्दी तक आते रहे और यहाँ के स्थानीय समूह उनका मुकावला करते रहे। परन्तु कालान्तर मे इन विदेशी आक्रमण-कारियो की पराजय हुई। कई मारे गये और कई यहाँ वस गये। जो शक या हूण यहाँ वचे रहे उनका यहाँ की शस्त्रोपजीवी जातियो के साथ निकट सम्पर्क स्थापित होता गया और अन्ततोगत्वा छठी शताब्दी तक स्थानीय और विदेशी योद्धाओ का भेद जाता रहा।

इस प्रकार के सामजस्य मे जैन धर्म ने भी काफी योग दिया हो ऐसा दिखायी पडता है, क्योकि जैन धर्म मे भारतीय अथवा अभारतीय का कोई भेद न था। सम्भवत वचे हुए शक और हूणो को स्थानीय समुदाय मे मिलाने मे जैन धर्म ने अपना प्रयत्न अवश्य किया हो। इसका प्रमाण हरिभद्र सूरी द्वारा भीनमाल मे कई विदेशियो को यहाँ के समाज मे मिलाया जाना प्रसिद्ध है। हिन्दू धर्म भी इस युग तक विदेशियो को भारतीय समाज मे सम्मिलित करने मे अनुदार नही था। आवू के यज्ञ से नयी जातियो का उद्भव, जिसका विस्तार से आगे वर्णन किया जायेगा, इस स्थिति को प्रमाणित करता है। हिन्दू तथा जैन धर्म मे दीक्षित इन विदेशियो की एक नयी जाति वन गयी जिसने अपने युद्धप्रियता आदि गुणो के साथ स्थानीय धर्म और परम्पराओ के प्रति अपनी निष्ठा जोड दी। इस प्रकार जो विदेशी जातियाँ पहले आक्रमणकारी के रूप मे राजस्थान को अस्त-व्यस्त करने मे सक्रिय रही थी वे अव नयी व्यवस्था की जन्मदाता वनी। जहाँ-जहाँ वे वसी वहाँ-वहाँ स्थानीय जातियो से अचार-विचार तथा जीविका के विचार मे उनमे साम्यता हो गयी जिसके फलस्वरूप इनके कुलो की अपनी-अपनी सीमाएँ वन गयी, उनका अपना सगठन वन गया और अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल उनमे एक राजनीतिक व्यवस्था भी उत्पन्न हो गयी। धार्मिक पुरोहितो ने उन्हे हिन्दू तथा जैन धर्म के सरक्षक पाकर क्षत्रियो के रूप मे ग्रहण कर लिया और इन समूहो के नेताओ तथा अनुयायियो को 'राजपुत्र' की सज्ञा दी। इस प्रकार राजपुत्र (राजपूत) और क्षत्रिय समानार्थक समझे जाने लगे।

राजपूतों का अधिवासन

यह समन्वय सामाजिक स्तर तक ही सीमित नहीं रहा। जिन-जिन समूहो ने मैत्री व एक-दूसरे के प्रभाव को स्वीकार कर लिया था उन्होंने सहयोग से आसपास के क्षेत्र मे अपना राजनीतिक प्रभाव भी स्थापित करना प्रारम्भ किया। लगभग छठी शताब्दी से इन अधिवासियो के द्वारा सत्ता सस्थापन के उल्लेख मिलते हैं और ये भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि गुजरात, पजाव तथा गगा-यमुना के मैदानी भाग से

उन दिनो मे कई राजपूतो के समुदाय राजस्थान मे आये और उन्होंने भी यहा के अधिवासियो के सहयोग से अपनी सत्ता स्थापन करने मे सफलता प्राप्त की। इन्होंने पहले दक्षिण, दक्षिण-पश्चिमी, दक्षिण-पूर्वी, उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी भाग मे अपने अधिवासो की स्थापना की और कुछ एक भीतरी भागो मे भी जाकर बस गये। इस तरह राजपूतो के पृथक-पृथक सत्ता क्षेत्र की इकाइयो मे सम्पूर्ण राजस्थान बँट गया। इस गतिविधि मे उनको बडी कठिनता का सामना करना पडा और इसमे उन्हे सैकडो वर्ष लग गये।[1] इस तरह १३वी शताब्दी तक उनके अधिकार मे पर्याप्त भू-भाग आ गया।

इतना लम्बा समय जो इनको अपने अधिवासन मे लग गया उसके प्रमुख दो कारण दिखायी देते हैं प्रथम कारण तो यह था कि उनको कई जगली, पठारी, पहाडी, नदी-नाले व रेगिस्तानी भागो को पार कर अपने लिये उपयुक्त अधिकार क्षेत्र को ढूंढना पडा था जो सहज काम न था। द्वितीय महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि उन्हे पद-पद पर स्थानीय जातियो जिनमे भील, मीडें, मेव, भवाती तथा ब्राह्मण जातियो के समूह थे, टक्कर लेनी पडी थी। ये जातियाँ जगली व पहाडी भागो मे अपनी बस्तियाँ बसाकर पहले से ही रहती थी और वास्तविक अर्थ मे स्वतन्त्र थी। इन जातियो का सघर्ष राजपूतो के साथ कब-कब हुआ और कैसे हुआ इसके समसामयिक प्रमाण तो नही हैं, परन्तु अनुश्रुतियो, कथानको और वशावलियो के आधार से प्रमाणित होता है कि इन राजपूतो और भील, मेव, मीडो आदि जाति का जगह-जगह सघर्ष होता रहा। कही उनकी बस्तियाँ नष्ट कर दी गयी, कही उनको दबाकर अर्द्ध-आश्रित के रूप मे रखा गया और कही उनसे यदाकदा झगडा चलता रहा। जेता, कोट्या, डूंगरिया, भील और आमेर के मीड और राजपूत वशो के सघर्ष इस कथन के साक्षी हैं। यह अधिवासन एक लम्बे युग की कहानी है। इस काल मे राजपूतो ने अपने अध्यवसाय और शौर्य का अच्छा परिचय दिया।[2]

इन प्रारम्भिक राजपूत कुलो मे जिन्होने राजस्थान मे अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये थें, मारवाड के प्रतिहार और राठौड, मेवाड के गुहिल, साभर के चौहान, चित्तौड के मौर्य, भीनमाल तथा आबू के चावडा, आम्बेर के कछवाहा,

---

[1] अपराजित का शिलालेख, वि० स० ७१८, बीठू अभिलेख, वि० १३३०

[2] नेणसी री ख्यात (असोपा), पृ० ११२, ११५, १३२, १३६, वशभास्कर, भाग ३, पृ० १६७८-७९

"All the vast expanse of this area had been occupied by the Rajputs in the course of long historical process Both in this great expansion and in the remarkable persistence with which they meanwhile held their position, the Rajputs had demonstrated much fortitude and determination"

—G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*,

जैसलमेर के भाटी आदि प्रमुख है। शिलालेखो के आधार से हम जानते है कि छठी शताब्दी मे मण्डोर के आसपास प्रतिहारो का राज्य था और फिर वही राज्य आगे चलकर राठौडो को प्राप्त हुआ। इसी समय के आसपास साभर मे चौहान राज्य की स्थापना हुई और धीरे-धीरे वह राज्य बहुत शक्तिशाली बन गया। पाँचवी या छठवी शताब्दी मे मेवाड और आसपास के भाग मे गुहिलो का शासन स्थापित हो गया। १०वी शताब्दी मे अर्थूणा तथा आबू मे परमार शक्तिशाली बन गये। बारहवी शताब्दी तथा तेरहवी शताब्दी के आसपास तक जालौर, रणथम्भौर और हाडौती मे चौहानो ने अपनी शक्ति का सगठन किया और उसका कही-कही विघटन भी होता रहा।[3]

राजपूतों की उत्पत्ति

इन राजपूत कुलो का अधिवासन राजस्थान के सन्दर्भ मे बडे महत्त्व का है। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि हम उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे भी कुछ विवेचन करें। ज्यो-ज्यो इन अधिवासियो की प्राधान्यता स्वीकृत होती गयी त्यो-त्यो धर्माधिकारियो, विद्वानो और भाटो ने इनके वश की पवित्रता स्थापित करने के लिए उनका उद्भव हिन्दू देवताओ—सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि आदि से जोड दिया। ऐसा करने का सीधा यह अभिप्राय था कि राजपूत विशुद्ध क्षत्रिय हैं और उनका सम्बन्ध देवताओ से है। परन्तु इस प्रकार की दैवी-उत्पत्ति मे कई यूरोपियन तथा स्थानीय विद्वान सन्देह प्रकट करते हैं। उनकी इस सम्बन्ध मे मान्यता है कि राजपूत जाति प्राचीन क्षत्रिय नही, परन्तु उत्तर-पश्चिम से आने वाले सीथियन, शक, यूची आदि की सन्तान है। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार टॉड ने तथा उनके ग्रन्थ के सम्पादक क्रुक ने इन्हें सीथियन होना बताया है। डॉ० भण्डारकर ने भी इसी मान्यता को अपने विशेष तर्कों पर कसकर प्रतिपादित किया है। स्मिथ ने कुछ राजपूत कुलो को स्थानीय और कुछ एक को सीथियन प्रमाणित किया है। वैद्य ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राजपूत विशुद्ध क्षत्रियो से उत्पन्न हुए थे। डॉ० हीराचन्द गौरीशकर ओझा ने इन दोनो मतो के बीच अपना मत स्थिर करते हुए लिखा है कि राजपूतो की नसो मे क्षत्रिय रक्त प्रवाहित था परन्तु क्षत्रिय जाति मे एल, इक्ष्वाकु ही नही वरन् कुशाण, शक आदि अनार्य जातियाँ भी सम्मिलित थीं। अतएव राजपूतो को क्षत्रिय मानने अथवा न मानने के सम्बन्ध मे अनेक मत बन गये है जिनका वर्गीकरण हम अग्निवशी, सूर्य-चन्द्रवशी,

---

[3] अपराजित शिलालेख, वि० ७१८, आटपुर शिलालेख, वि० १०३४, अर्थूणा शिलालेख, वि० ११०९, ११५९, भीनमाल शिलालेख, १०६०, बीठू लेख, वि० १३३०, हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ४, श्लो० २०-२६, ए० इ०, भाग ४, पृ० ३१, भाग २१, पृ० ५०, श्लो० ५, जैन लेख सग्रह, भाग १, पृ० २०५, २४०, भाग २, पृ० ६०, भाग ४, पृ० १०८, एच० सी० राय, डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नॉर्दर्न इण्डिया, डा० गोपीनाथ शर्मा, दि सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १८-२१

विदेश वशीय तथा गुर्जर और ब्राह्मण वशीय शीर्षक के अन्तर्गत करेंगे और देखेंगे कि प्रत्येक मे तथ्यातथ्य कितना है।

अग्निवशीय

राजपूतो का विशुद्ध जाति से उत्पन्न होने के मत को बल देने के लिए उनको अग्निवशीय बताया गया है। इस मत का प्रथम सूत्रपात्र चन्दवरदाई के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' से होता है। उसका लिखना है कि राजपूतो के चार वश—प्रतिहार, परमार, चालुक्य और चौहान वशिष्ठ के यज्ञ कुण्ड से राक्षसो के सहार के लिए उत्पन्न किये गये। ऐसा करना इसलिए आवश्यक हो गया कि वे राक्षस ऋषियो के यज्ञ को हाड, माँस, विष्ठा, मूत्रादिक के द्वारा अपवित्र करते थे। इस कथानक का प्रचार १६वी से १८वी शताब्दी तक भाटो के द्वारा खूब होता रहा। नेणसी और सूर्यमल्ल मिश्रण ने इस आधार को लेकर उसको और बढावे के साथ लिखा। इन चारो वशो के राजपूतो ने इस मत को अपनी विशुद्धता की पुष्टि करने के लिए अपना लिया। करनल टॉड ने भी इस अग्निवशीय मत को अपने मत 'विदेश वशीय राजपूतो' की पुष्टि मे मान्यता दी। क्रुक ने अग्निवशीय कथानक को इनका विदेशियो से शुद्ध करने का आयोजन बताते हुए उसकी प्रामाणिकता पर बल दिया।[४]

परन्तु यदि गहराई से 'अग्निवशीय मत' का विश्लेषण किया जाय तो सिद्ध हो जाता है कि यह मत केवल मात्र कवियो की मानसिक कल्पना का फल है। कोई इतिहास का विद्यार्थी यह मानने के लिए उद्यत नही हो सकता कि अग्नि से भी योद्धाओ का सृजन होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्दवरदाई वशिष्ठ द्वारा अग्नि से इन वशो की उद्भूति से यह अभिव्यक्ति करता है कि जब विदेशी सता से सघर्ष करने की आवश्यकता हुई तो इन चार वशो के राजपूतो ने अपने आपको शत्रुओ से मुकाबला करने को सजग कर दिया। यदि चन्दबरदाई वास्तव मे इन वशो को अग्निवशीय मानता होता तो वह अपने ग्रन्थ मे स्पष्ट रूप से राजपूतो की ३६ शाखाओ को सूर्य, चन्द्र और यादव वशीय न लिखता। छठी शताब्दी मे १६वी शताब्दी के अभिलेखो तथा साहित्यिक ग्रन्थो की सामग्री हमे यह प्रमाणित करने मे सहायता पहुँचाती है कि इन चार वशो मे से तीन वश सूर्यबशी और चन्द्रवशीय थे। उदाहरणार्थ, प्रतिहार जिन्होने कन्नौज मे अपने राज्य को स्थापित किया था सूर्यवशी थे। राजशेखर ने महेन्द्रपाल को रघुकुल तिलक की उपाधि से अलकृत किया है। इसी तरह कई दानपत्रो से सोलकियो का चन्द्रवशी होना प्रमाणित होता है। विहारी प्रस्तर अभिलेख मे चालुक्यो की उत्पत्ति चन्द्रवशीय बतायी गयी है। हर्ष अभिलेख, पृथ्वीराज विजय काव्य तथा हम्मीर महाकाव्य से चौहान सूर्यवशीय क्षत्रिय की सन्तान हैं। परमारो के सम्बन्ध मे जहाँ-तहाँ उल्लेख मिलते हैं जिनमे उदयपुर प्रशस्ति, पिंगल सूत्रवृत्ति, तेजपाल

---

४ पृथ्वीराज रासो, भाग १, पृ० ४५-५१, नेणसी री रयात, १, पृ० ११९, ना० प्र० स० सस्करण, टॉड राजस्थान, १, अध्याय २-३, क्रुक-टॉड राजस्थान की प्रस्तावना

अभिलेख आदि मुख्य हैं, वहाँ उन्हे अग्निवशीय नही वताया गया है। उनके लिए 'ब्रह्म-क्षत्रकुलीन' शब्द का प्रयोग किया गया है।[५]

वास्तव मे 'अग्निवशीय कथानक' पर विश्वास करना व्यर्थ है क्योंकि सम्पूर्ण कथानक बनावटी या अव्यावहारिक है। इस कथानक का स्वरूप डिंगल साहित्य की शैली पर निर्मित होने से ऐतिहासिक तथ्य से रिक्त है। यह बात सर्वमान्य है कि रासो साहित्य मे सभी अश मौलिक नही वरन् पिछले समय के जोडे हुए है। अतएव सारे कथानक का मूल पाठ से मिलावट करना अस्वाभाविक नही। डा० ओझा भी इस सम्बन्ध मे लिखते है कि ऐसी दशा मे 'पृथ्वीराज रासो' का सहारा लेकर जो विद्वान इन चार राजपूत वशो को अग्निवशीय मानते हैं यह उनकी हठधर्मी है। वैद्य ने 'अग्निकुल मत' को कवि-कल्पना बताते हुए लिखा है कि अपने वश की प्रतिष्ठा का प्रतीक समझकर राजपूतो ने भी इसकी सत्यता पर कभी सन्देह प्रकट नही किया। डा० दशरथ शर्मा भी इस मत के सम्बन्ध मे लिखते है कि यह भाटो की कल्पना की एक उपज-मात्र है। डा० ईश्वरी प्रसाद भी इसे तथ्य से रहित बताते हुए लिखते हैं कि यह ब्राह्मणो का एक प्रतिष्ठित जाति की उत्पत्ति की महत्ता निर्धारित करने का प्रयास मात्र है।[६]

सूर्य और चन्द्रवशीय मत

जहाँ 'अग्निकुल' मत का खण्डन डा० ओझा ने किया है वहाँ वे राजपूतो को सूर्यवशीय और चन्द्रवशीय बताते है। अपने मत की पुष्टि मे उन्होने कई शिलालेखो और साहित्यिक ग्रन्थो के प्रमाण दिये हैं। उदाहरण के लिए, १०२८ वि० (९७१ ई०) के नाथ अभिलेख मे, १०३४ वि० (९७७ ई०) के आटपुर लेख मे, १३४२ वि० (१२८५ ई०) के आबू के शिलालेख मे तथा १४८५ वि० (१४२८ ई०) के शृंगीऋषि के लेख मे गुहिलवशीय राजपूतो को रघुकुल से उत्पन्न बताया गया है। इसी तरह से पृथ्वीराज विजय, हम्मीर महाकाव्य, सुजान चरित्र ने चौहानो को क्षत्रिय माना है। वशावली लेखको ने राठौडो को सूर्यवशीय, यादवो, भाटियो और चन्द्रावती के चौहानो को चन्द्रवशीय निर्दिष्ट किया है। इन सब आधारो से उनकी मान्यता है कि "राजपूत

---

५ ग्वालियर भाज अभिलेख, ए० इ०, भा० २४, पृ० ११२, ए० इ०, भा० १, पृ० २५८-५९, ए० इ०, भा० २, पृ० ११९, पृथ्वीराज विजय काव्य, भा० १-२, हम्मीर महाकाव्य, भा० १, पृ० १४-१७, पिंगल सूत्र वृत्ति, ए० इ०, भा० ८, पृ० २१०-११

६ वैद्य, हिस्ट्री आफ मेडीवल हिन्दू इण्डिया, भा० २, पृ० १७, डा० दशरथ शर्मा, अर्लि चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ४

"No serious student of history can, of course, believe that fire actually produced warriors" डा० ईश्वरी प्रसाद, हिस्ट्री ऑफ मेडीवल इण्डिया, पृ० २५

प्राचीन क्षत्रियो के ही वशधर है और जो लेखक ऐसा नही मानते उनका कथन प्रमाण-शून्य है।"[७]

परन्तु इस मत को सभी राजपूतो की उत्पत्ति के लिए स्वीकार करना आपत्ति-जनक है, क्योंकि राजपूतो को सूयवशी बताते हुए उनका वशक्रम इक्ष्वाकु से जोड दिया गया है जो प्रथम सूर्यवशीय राजा था। बल्कि सूर्य और चन्द्रवशाय समर्थक भाटो ने तो राजपूतो का सम्बन्ध इन्द्र, पद्मनाभ, विष्णु आदि से बताते हुए एक काल्पनिक वशक्रम बना दिया है। इससे स्पष्ट है कि जो लेखक राजपूतो को चन्द्रवशीय या सूर्यवशीय मानते हैं वे भी इनकी उत्पत्ति के विषय मे किसी निश्चय पर नही पहुँचने पाये हैं। अलबत्ता इस मत का एक ही उपयोग हमे दिखायी देता है कि ग्यारहवी शताब्दी से इन राजपूतो का क्षत्रियत्व स्वीकार कर लिया गया, क्योकि इन्होने क्षात्र धर्म के अनुसार विदेशी आक्रमणो का मुकाबला सफलतापूर्वक किया। आगे चलकर यह मत लोकप्रिय हो गया और तभी से इसको मान्यता प्रदान की जाने लगी।

विदेशी वश का मत

इन दोनो मतो के विपरीत राजपूताना के प्रसिद्ध इतिहासकार करनल टॉड ने राजपूतो को शक और सीथियन बताया है। इसके प्रमाणो मे उनके बहुत-से प्रचलित रीति-रिवाजो का, जो शक जाति के रिवाजो से साम्यता रखते हैं, उल्लेख किया है। ऐसे रिवाजो मे सूर्य की पूजा, सती-प्रथा, अश्वमेध यज्ञ, मद्यपान, शस्त्रो और घोडो का पूजन, तातारी और शको की पुरानी कथाओ का पुराणो की कथाओ से मिलना आदि हैं। डा० स्मिथ ने भी राजपूतो के इस विदेशी वशज होने के मत को स्वीकार किया है और बताया है कि शक और यूची की भाँति गुजर और हूण जातियाँ भी शीघ्र ही हिन्दू धर्म मे मिलकर हिन्दू बन गयी। उनमे से जिन कुटुम्बो या शाखाओ ने कुछ भूमि पर अधिकार प्राप्त कर लिया वे तत्काल क्षत्रिय या राजवर्ण मे मिला लिये गये। वे फिर लिखते है कि इसमे कोई सन्देह नही कि परिहार और उत्तर के कई दूसरे प्रसिद्ध राजपूत वश इन्ही जगली समुदायो से निकले है, जो ई० स० की पाँचवी या छठी शताब्दी मे भारतवर्ष मे आये थे। इन्होने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया और और इन्ही से चन्देल, राठौड, गहरवाड आदि प्रसिद्ध राजपूत वश निकले और उन्ही ने अपनी उत्पत्ति को प्रतिष्ठित बताने के लिए उसे सूर्य-चन्द्र से जा मिलाया। करनल टॉड की पुस्तक के सम्पादक विलियम क्रुक ने भी इसी मत का मण्डन करते हुए यह दलील दी है कि चूँकि वैदिक क्षत्रियो और मध्यकालान राजपूतो के-समय-मे इतना अन्तर है कि दोनो के सम्बन्ध को सच्चे वश-क्रम से नही जोडा जा सकता, इसलिए उनकी मान्यता यह है कि जो शक और सीथियन तथा हूण आदि विदेशी जातियाँ

---

[७] इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० ६, पृ० ५५, एपिग्राफिया इण्डिका, भा० १६, पृ० ३६, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ८६, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० ४१-७८

हिन्दू समाज मे स्थान पा चुके थे और देश-रक्षक के रूप मे सम्मान प्राप्त कर चुके थे उन्हे महाभारत तथा रामायणकालीन क्षत्रियो से सम्बन्धित कर दिया गया और उन्हे सूर्य तथा चन्द्रवशीय मान लिया गया।[८]

इस विदेशी वशीय मत को कुछ स्थानीय विद्वानो ने रस्मो-रिवाज तथा समसामयिक ऐतिहासिक साहित्य पर अमान्य ठहराने का प्रयत्न किया है। ऐसे विद्वानो मे डा० ओझा प्रमुख हैं। उनका कहना है कि राजपूतो तथा विदेशियो के रस्मो-रिवाजो मे जो साम्यता करनल टॉड ने बतायी है वह साम्यता विदेशियो से राजपूतो ने उद्धृत नही की है, वरन् उनकी साम्यता वैदिक तथा पौराणिक समाज और सस्कृति से की जा सकती है। अतएव उनका कहना है कि शक, कुषाण या हूणो के जिन-जिन रस्मो-रिवाजो व परम्पराओ का उल्लेख साम्यता बताने के लिए करनल टॉड ने किया है वे भारतवर्ष मे अतीत काल से ही प्रचलित थी। उनका इन विदेशी जातियो से जोडना निराधार है। इसी तरह से डा० ओझा ने अभिलेखो से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दूसरी शताब्दी से सातवी शताब्दी तक क्षत्रियो के उल्लेख मिलते हैं और मौर्य तथा नन्दो के पतन के बाद भी क्षत्रिय होना प्रमाणित है। कटक के पास उदयगिरि के वि० स० ,पूर्व की दूसरी शताब्दी के राजा खारवेल के लेख मे कुसब जाति के क्षत्रियो का उल्लेख है। इसी तरह नासिक के पास की पाण्डव गुफा के वि० स० की दूसरी शताब्दी के लेख मे उत्तमभाद्र क्षत्रियो का वर्णन मिलता है। गिरिनार पर्वत के १५० ई० के लेख मे यौधेयो को स्पष्ट रूप से क्षत्रिय लिखा है। वि० स० तीसरी शताब्दी के आसपास जग्गयपेट तथा नागार्जुनी कोड के लेखो मे इक्ष्वाकुवशीय राजाओ का नामोल्लेख है।[९]

वैसे तो जो प्रमाण डा० ओझा ने रिवाजो की साम्यता का खण्डन करने के दिये है वे करनल टॉड की कल्पना को निराधार प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। इसी तरह पण्डितजी का नन्द-वश के पहले और बाद मे क्षत्रियो का होना भी सिद्ध करना प्रशसनीय है। फिर भी इनकी दलीलो मे वे यह नही ठीक-ठीक सिद्ध करने पाये हैं कि राजपूत, जो छठी व सातवी शताब्दी से एक जाति के रूप मे भारतीय राजनीतिक जीवन मे आये उनका प्राचीन आय से ही सम्बन्ध था न कि विदेशियो से, जिन्होने निश्चित रूप से हिन्दू सस्कृति को अपना लिया था। अब महत्त्व का प्रश्न यह रह जाता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० से छठी शताब्दी तक आने वाले विदेशी

---

८ टॉड, राजस्थान, भा० १, पृ० ७३-९७, स्मिथ, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १७२-७३, क्रुक-टॉड राजस्थान, इण्ट्रोडक्शन, पृ० ३१

९ भगवानदास इन्द्रजी, दि हाथी गुफा एण्ड दि अदर इन्सिक्रपशन्स, पृ० २५ और ३९, ए० इ०, भा० ८, पृ० ४४, ४७, ७८, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० ५८, लिपि पत्र १२, ए० इ०, जि० २०, पृ० १९, ओझा, राजपूताने का इतिहास, भा० १, पृ० ६१-७९

अन्ततोगत्वा कहाँ गये ? इस प्रश्न को हल करने मे हमे यही युक्ति सहायक होगी कि इन विदेशियो के यहाँ आने पर पुरानी सामाजिक व्यवस्था मे अवश्य हेर-फेर हुआ।

गुर्जर वश का मत

राजपूतो को गुर्जर मानकर, डा० भण्डारकर ने विदेशी वशीय मत को और बल दिया है। उनकी मान्यता है कि गुर्जर जाति जो भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम विभाग मे फैली हुई थी उसका श्वेत-हूणो के साथ निकट सम्बन्ध था और ये दोनो जातियाँ विदेशी थी। इसकी पुष्टि मे वे बताते हैं कि पुराणो मे गुर्जर और हूणो का वर्णन विदेशियो के सन्दर्भ मे मिलता है। इसी प्रकार उनका कहना है कि अग्नि-वशीय प्रतिहार, परमार, चालुक्य और चौहान भी गूजर थे, क्योकि राजोर अभिलेख मे प्रतिहारो को गूजर कहा गया है। राष्ट्रकूट और अरब यात्री भी प्रतिहारो को गूजर ही बताते हैं। जहाँ तक चौहानो का विदेशियो से उद्गम है, उनकी मान्यता है कि सेसेरियन मुद्राओ पर 'वासुदेव वहमन' जो अकित मिलता है वह 'वासुदेव चह-मन' है।[६]

जो प्रमाण डा० भण्डारकर ने राजपूतो का उद्गम गुर्जरो से सिद्ध करने के पक्ष मे दिये हैं उनसे वैद्य सहमत नही हैं। इनकी मान्यता है कि प्रतिहारो को जो गुर्जर कहा गया है वह जाति की सज्ञा से नही वरन् उनका देश विशेष—गुजरात पर अधिकार होने के कारण है। राष्ट्रकूटो ने तथा अरब यात्रियो ने भी उन्हे भूमि विशेष से सम्बन्धित होने के कारण गुर्जर कहा है। इसी तरह डा० दशरथ शर्मा मानते हैं कि सेसेरियन मुद्रा वाले 'वासुदेव वहमन' तथा 'वासुदेव चौहान' दोनो समकालीन नही है। ऐसी स्थिति मे चौहानो को विदेशी नही ठहराया जा सकता।[१०]

ब्राह्मणवंशीय मत

डा० भण्डारकर ने जहाँ गुर्जर मत को विदेशी आधार पर स्थिर किया है वहाँ यह भी प्रतिपादन किया है कि-कुछ राजपूत वश धार्मिक वर्ग से भी सम्बन्धित थे जो विदेशी थे। इस मत की पुष्टि के लिए वे बिजोलिया-शिलालेख को प्रस्तुत करते हैं जिसमे वासुदेव के उत्तराधिकारी सामन्त को वत्स गोत्रीय ब्राह्मण बताया गया है। उनके अनुसार राजशेखर ब्राह्मण का विवाह अवन्ति सुन्दरी के साथ होना चौहानो का ब्राह्मण वश से उत्पत्ति होने का एक अकाट्य प्रमाण है। कायमखाँ रासो में भी चौहानो की उत्पत्ति वत्स से बतायी गयी है जो जमदग्नि गोत्र से था। इस कथन की पुष्टि

---

९ डा० भण्डारकर, फोरन एलिमेण्ट्स इन हिन्दू पोपूलेशन, इ० एण्टिक्वेरी, जि० ११, रेपसन की भारतीय मुद्राएँ, पृ० ३०-३१

१० वैद्य, हिस्ट्री आफ मेडीवल इण्डिया, भा० २, पृ० २७-३८, डा० दशरथ शर्मा, अर्लि चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७-८

सुण्डा तथा आबू अभिलेख से भी होती है। इसी तरह डा० भण्डारकर का मत है कि गुहिल राजपूतो की उत्पत्ति नागर ब्राह्मणो से थी।[११]

डा० ओझा तथा वैध इस ब्राह्मणवशीय मत को अस्वीकार करते हैं और लिखते हैं कि जो भ्रान्ति डा० भण्डारकर को राजपूतो की ब्राह्मणो से उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हुई है वह 'द्विज', 'ब्रह्मक्षत्री', 'विप्र' आदि शब्दो से हुई है जिनका प्रयोग राजपूतो के लिए अभिलेखो मे हुआ है। परन्तु इनकी मान्यता है कि इन शब्दो का प्रयोग क्षत्रिय जाति की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है न कि ब्राह्मण जाति के लिए।[१२]

वैसे तो डा० भण्डारकर के राजपूतो की उत्पत्ति सम्बन्धी ब्राह्मणवशीय मत राजवशो के लिए लागू किया जाना ठीक नही दिखायी देता, परन्तु इसके पीछे बल अवश्य है। मेरी कुम्भलगढ प्रशस्ति, द्वितीय पट्टिका की खोज और उसके पद्याशो का सम्पादन इस निर्णय पर पहुँचाते हैं कि बापा रावल, जो गुहिल वशीय थे, आनन्दपुर के ब्राह्मण वश से थे और जिन्होने नागदा मे आकर हारीत ऋषि की अनुकम्पा से शासक की प्रतिष्ठा को प्राप्त किया। बापा के पीछे भर्तृभट्ट को भी चाटसू अभिलेख मे 'ब्रह्मक्षत्री' इसीलिए कहा है कि उसे ब्राह्मण सज्ञा से क्षत्रियत्व प्राप्त हुआ था। चाहे हम 'ब्रह्मक्षत्री' तथा 'द्विज' शब्दो को ब्राह्मण या क्षत्री के सन्दर्भ मे काम मे लायें, परन्तु वस्तुत 'विप्र' शब्द का उपयोग पुराने लेखो मे, जो इन राजपूत वशो के लिए किया गया है, उनका ब्राह्मण होना सिद्ध करता है। भारतवर्ष का इतिहास ऐसे कई उदाहरणो को उपस्थित करता है जहाँ प्रारम्भ मे ब्राह्मण होते हुए कई राजवश क्षत्रिय पद को प्राप्त हुए। ऐसे वशो मे कण्व तथा शुग वश मुख्य हैं।

साराश यह है कि जिस तरह शक, पह्लव, हूण आदि विदेशी यहाँ आये और जिस तरह उनका विलीनीकरण भारतीय समाज मे हुआ, इसका साक्षी इतिहास है। ये लोग लाखो की सख्या मे थे। पराजित होने पर इनका यहाँ बस जाना भी प्रामाणिक है। ऐसी अवस्था मे उनका किसी न किसी जाति से मिलना स्वाभाविक था। उस समय की युद्धोपजीवी जाति ही ऐसी थी जिसने इन्हे दबाया और उन्हे समानशील होने से अपने मे मिलाया। इसी तरह छठी व सातवी शताब्दी मे क्षत्रियो और राजपूतो का समानार्थ मे प्रयुक्त होना भी यह सकेत करता है कि इन विदेशियो के रक्त से मिश्रित जाति ही राजपूत जाति थी जो यकायक क्षात्र धर्म से सुसज्जित होकर प्रकाश मे

---

[११] डा० भण्डारकर का लेख, इ० ए०, पृ० २५-४६, कायमखाँ रासो, पद्य ४५-४८, सुण्डा अभिलेख, श्लो० ४, अचलेश्वर अभिलेख, श्लो० ७, इण्डियन एण्टिक्वेरी, भा० २६, पृ० ३४७-३७८, १९१०, भा ३६, पृ० १९१

[१२] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ६५-८९, वैध, हिस्ट्री आफ मेडीवल हिन्दू इण्डिया, भा० २, पृ० ३३०-३३, डा० गोपीनाथ शर्मा, दि फ्रेग्मेण्टरी सेकण्ड स्लेब आफ कुम्भलगढ इन्सक्रिप्शन, १५१७ वि०, प्रोसिडिंग्ज आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, १९५१, पृ० ३६७-३७२

आ गयी और शकादिको का अस्तित्व समाप्त हो गया। यह स्थिति सामाजिक उथल-पुथल की पोषक है। हरियादेवी नामक हूण कन्या का विवाह गुहिलवशीय अल्लट के साथ होना जो कि स० १०३४ के शक्ति कुमार के शिलालेख से स्पष्ट है, इस सामजस्य का अकाट्य प्रमाण है। जब सभी राजसत्ता ऐसी जाति के हाथ आ गयी तो ब्राह्मणो ने भी उन्हे क्षत्रियो की सज्ञा दी। उनकी राजनीतिक स्थिति ने उन्हे राजपुत्र की प्रतिष्ठा प्रदान की जिसे लौकिक भाषा मे राजपूत कहने लगे। इस सम्बन्ध मे इतना अवश्य स्वीकार करना पडेगा कि सभी क्षत्रियो का विदेशियो से सम्पर्क न हुआ हो और कुछ एक वशो ने अपना स्वतन्त्र स्थान बनाये रखा हो।[१३]

[१३] "The sum and substance of the following discussion leads us to believe that during the period preceeding and following the supremacy of the early and later Guptas, many foreign races like the Sakas, the Pahlavas and the Hunas had come to India, settled in the northern parts of the country and adopted manners and customs of the Hindus and merged in the Kshatriya or other warlike people By virtue of their valour and devotion to Hinduism the priestly class conferred upon them the status of the Kshatriyas As they enjoyed a regal position they turned themselves as Rajputs In course of time the Kshatriyas and the Rajputs become identical terms" —G N Sharma, *Origin of the Rajputs, The University of Rajasthan Studies*, p 10

अध्याय ४

गुहिलो का अभ्युदय

(७वी शताब्दी से १२वी शताब्दी तक)

गुहिलवश की प्राचीनता

हूण राजा मिहिरकुल के पीछे जिन राजपूत वशो ने राजस्थान मे अपने राज्य स्थापित किये उनमे गुहिलवशीय राजपूत मुख्य हैं। इस वश मे सर्वप्रथम गुहिल के प्रतापी होने के कारण इस वश के राजपूत जहाँ-जहाँ जाकर बसे उन्होने अपने को गुहिलवशीय कहा। सस्कृत लेखो मे इस वश के लिए 'गुहिल', 'गुहिलपुत्र', गोभिलपुत्र', 'गुहिलोत' और 'गौहिल्य' शब्दो का प्रयोग किया गया है। भाषा मे इन्हे 'गुहिल', 'गोहिल', 'गहलोत' और 'गैहलोत' कहते हैं। भाषा का 'गोहिल' रूप सस्कृत के 'गोभिल' और 'गौहिल्य' से बना है।[1]

गुहिलों की उत्पत्ति

गुहिलो के आदि निवास-स्थान तथा उत्पत्ति के विषय मे कई भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। अबुल फजल ने सरकार अजमेर के प्रसग मे मेवाड के गुहिलो को ईरान के बादशाह नौशेरवा आदिल की सन्तान होना लिखा है। इसी आधार पर 'मासिरुलउमरा' तथा 'विसातुल गनाइम्' के कर्ताओ ने मेवाड के गुहिलो को नौशेरवा के वशज मानकर यह लिखा है कि जब नौशेरवा जीवित था तो उसके पुत्र नौशेजाद ने, जिसकी माता रूम के कैसर की पुत्री थी, अपना प्राचीन धर्म छोडकर ईसाई धर्म स्वीकार किया और वह बडी सेना के साथ हिन्दुस्तान मे आया। यहाँ से वह फिर अपने पिता के साथ लडने को ईरान पर चढा और वहाँ मारा गया। उसकी सन्तान हिन्दुस्तान मे ही रही। उसी के वश मे गुहिल हैं।[2]

---

[1] ए० इ०, जि० २, पृ० ११-१२, जि० ४, पृ० ३१, जि० ४१, पृ० १९, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ७४-७५, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ६५-६६

[2] बम्ब० गजे०, जि० १, भा० १, पृ० १०२, टॉड राजस्थान, जि० १, पृ० २७५, २७६, २७८, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ७१-७२

करनल टॉड ने राजपूतो को विदेशियो की सन्तान मानने के पक्ष की पुष्टि मे फारसी तवारीखो के वर्णन को ठीक माना और जैन ग्रन्थो के आधार पर यह धारणा बनायी कि वल्लभी के शासक शिलादित्य के समय जो कनकसेन (१४४ ई०) के पीछे हुआ था, विदेशियो ने वल्लभी पर ५२४ ई० म आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया। उस समय शिलादित्य की राणी पुष्पावती ही, जो अम्वा भवानी की यात्रा के लिए गयी हुई थी, बचने पायी। उसी ने गोह (गुहदत) को जन्म दिया जो आगे चलकर मेवाड का स्वामी बना। स्मिथ ने भी गुहिलो का विदेशी होना बताया है।[3]

वीर विनोद के लेखक कविराज श्यामलदास ने यह तो स्वीकार कर लिया कि गुहिलवश वल्लभी से मेवाड मे आया, परन्तु उन्होने शिलादित्य के समय मे वल्लभी पतन की टॉड की दलील से मतभेद प्रकट करते हुए यह लिखा है कि उस समय वल्लभी मे कोई दूसरा राजा होगा जिसके मारे जाने के बाद उक्त खानदान की बडी शाखा (जिसमे गुहिल और बापा हुए) मेवाड के अर्वली पहाड मे आकर छुपी। वल्लभी की गुहिल शाखा को मान्यता देने के साथ कविराज ने इसको क्षत्रियो की ३६ शाखा के अन्तर्गत बताया है।[4]

डा० ओझा ने करनल टॉड की इन सभी धारणाओ को कपोल-कल्पित बताया है, क्योकि ई० स० १४४ मे सौराष्ट्र का स्वामी कनकसेन नही, किन्तु क्षत्रप वशीय राजा रुद्रदामा था। इसी तरह उनका कहना है कि कनकसेन से पाँचवी पीढी मे विजयसेन का होना तथा नौशेजाद के हिन्दुस्तान मे आने की मान्यता प्रमाणशून्य हैं। वह तो बगावत करने पर ईरान मे ही मारा गया था, ऐसी स्थिति मे भारतवर्ष मे उसका आना निराधार है। इन आधारो से डा० ओझा टॉड का मत अस्वीकार करते हुए यह लिखते है कि यदि वल्लभी का पतन टॉड के अनुसार ५२४ ई० मे माना जाय तो शिलादित्य का यवनो के विरुद्ध युद्ध मे मारा जाना, राणी पुष्पावती का मेवाड मे आना और गुहा का वहाँ जन्म होना तिथिक्रम से असगत है। यह तो प्रमाणित है कि नौशेरवा ईरान के तख्त पर ५३१ ई० मे बैठा था तो फिर टॉड द्वारा दी गयी उपरोक्त घटनाएँ ५२४ ई० मे कैसे हो सकती हैं। ऐसी स्थिति मे नौशेजाद या माहबान् के वश न मे तो वल्लभी के राजा ही हो सकते हैं और न गुहिल का इस वश का होना ही सिद्ध होता है। इन दलीलो से डा० ओझा गुहिलो को विदेशियो से उत्पन्न नही मानते। वे तो यह विश्वास करते हैं कि गुहिलवशीय राजपूत विशुद्ध सूर्यवशीय है। अपने मत की पुष्टि मे वे लिखते है कि बापा के सिक्के पर सूर्य का चिह्न इस मत का बहुत बडा प्रमाण है। वे यह भी लिखते है कि वि० स० १०२८ के शिलालेख मे गुहिल-वशीय राजाओ को रघुवश की कीर्ति के फैलाने वाले इसीलिए लिखा है कि वे सूर्यवशीय क्षत्रिय हैं। इसी तरह वे लिखते हैं कि वि० स० १०३४ के शिलालेख मे उनको

---

[3] टॉड राजस्थान, जि० १, पृ० २४७, २५१-२६०

[4] वीर विनोद, भा० १, पृ० १८६, २३९, २४७-२४९

'क्षत्रियो का उत्पत्ति-स्थान' बताना, वि० स० १३४२ के समरसिंह के लेख मे उनको 'मूर्तिमान् क्षात्रधर्म' कहना, वि० स० १४८५ के लेख मे उनके लिए 'क्षत्रियवश मण्डनमणि' शब्द का प्रयोग करना, वि० स० १५५७ के रायमल के लेख मे उनको 'सूर्यवशीय क्षत्रिय' लिखना आदि प्रमाण उदयपुर के राजवश का सूर्यवश होना सूचित करते हैं।[५]

श्रीयुत् देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने बगाल एशियाटिक सोसायटी के जरनल मे एक लेख प्रकाशित कर यह बताने का प्रयत्न किया है कि मेवाड के राजा ब्राह्मण (नागर) हैं। अपने मत की पुष्टि मे उन्होने कई प्रमाण दिये हैं। वे लिखते है कि वि० स० १०३४ के आहड से प्राप्त एक लेख मे गुहिल को आनन्दपुर से निकले हुए ब्राह्मणो के कुल को आनन्द देने वाला लिखा है। इसी तरह रावल समरसिंह के वि० स० १३३१ की प्रशस्ति मे बापा के लिए 'विप्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। वि० स० १५१७ की कुम्भलगढ प्रशस्ति तथा एकलिगमहात्म्य मे राणा को आनन्दपुर से निकले हुए ब्राह्मण वश को आनन्द देने वाला कहा गया है। नैणसी ने भी इन्हे आदि रूप से ब्राह्मण तथा जानकारी से क्षत्री बताया है। इसी तरह कई स्थानो मे 'ब्रह्मक्षत्र' शब्द का प्रयोग इनके लिए किया जाना भी भण्डारकर इन्हे ब्राह्मण मानने का प्रमाण मानते हैं।[६]

डा० ओझा ने इन सभी दलीलो को अस्वीकार किया है और जिन प्रशस्तियो से गुहिलो को ब्राह्मण वश से उत्पन्न प्रमाणित किया गया है उन्ही शिलालेखो मे गुहिलो को क्षत्रिय सम्बोधित किया जाना बताकर उन्होने ब्राह्मण वश से उत्पन्न बताने वाले मत का विरोध किया है। 'ब्रह्मक्षत्र' शब्द के सम्बन्ध मे डा० ओझा मानते हैं कि इस शब्द का यही अभिप्राय है कि 'ब्राह्मण और क्षत्रिय गुणयुक्त' दोनो गुण जिसमे हो। उनकी यह भी मान्यता है कि 'विप्र' शब्द का प्रयोग, जो चित्तौड की १३३१ वि० स० की प्रशस्ति मे किया गया है, वह बापा के पूर्वजो का ब्राह्मण धर्म-पालन का द्योतक है, न कि उसको ब्राह्मण कुल से पैदा होने का।[७]

मुझे भी कुछ समय पूर्व कुम्भलगढ प्रशस्ति की द्वितीय पट्टिका का खोया हुआ पूरा पद्याश प्राप्त हुआ जिसको मैंने बिहार रिसर्च सोसायटी जरनल मे सम्पादित किया। इसके सम्पादन से मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि गुहिलवशीय शासक ब्राह्मणवशीय थे, क्योकि महाराणा कुम्भा ने बडी छानबीन के बाद अपने वश के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से ब्राह्मण-

---

५ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ७३-८०, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १, पृ० २४१-२८५, माल्कम, हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ११२, बम्बई एशियाटिक सोसायटी जरनल, जि० २२, पृ० १६६-६७

६ इ० ए०, जि० १६, पृ० ३४७, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ७५, ए० इ०, जि० १२, पृ० १३, वैद्य, हिस्ट्री आफ मेडीवल हिन्दू इण्डिया, भा० २, पृ० ८३-८६

७ ओझा, उदयपुर का इतिहास, भा० १, पृ० ७८-८०

वशीय होना अंकित करवाया था। अभाग्यवश इस पट्टिका को पीछे से नष्ट करवा दिया गया। परन्तु इसका सभी पद्यांश 'प्रशस्ति संग्रह' मे सुरक्षित बना रहा जिससे इस वंश के ब्राह्मणवंश से माने जाने मे १५वी शताब्दी तक कोई सन्देह नही रह जाता। वैसे भी यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय शासक वंशो मे कण्व, शुंग आदि वंश ब्राह्मणवंशीय थे, जिन्होंने अपने प्रताप मे प्रतिष्ठित शासकों मे स्थान प्राप्त कर लिया था। यदि ये वंश ब्राह्मणवंशीय थे तो नागदा के गुहिलो का ब्राह्मणवंशीय होना कोई आश्चर्य की बात नही है। बापा को हारीत द्वारा, जो ब्राह्मण थे, राज्य प्राप्त होने की कथा भी बापा का ब्राह्मणवंश से होना प्रमाणित करता है। नैणसी द्वारा लिखित कथा, जिसमे विजयादित्य का बापा का पोषण करना और उसकी १० पीढ़ी तक राजाओ का ब्राह्मण धर्म के आचार का परिपालन करना आदि इन्हे ब्राह्मण-वंशीय प्रमाणित करती है। ये भी एक बडे महत्त्व की बात है कि १२वी शताब्दी के पहले के किसी लेख ने स्पष्ट रूप से गुहिलो को सूर्यवंशी नही लिखा है। सूर्यवंशी या क्षत्रिय लिखने की परिपाटी चित्तौड के १२७८ के लेख के आसपास अपनायी गयी प्रतीत होती है। आगे चलकर १८वी शताब्दी मे इस प्रकार के प्रचलन ने बल पकड लिया। ६७७ ई० के आटपुर लेख मे काल भोज को 'अकसम' अर्थात 'सूर्य की भाँति' लिखा है न कि सूर्यवंशीय। यह तो निर्विवाद है कि ७वी शताब्दी से १७वी शताब्दी तक भी गुहिलवंशीय अपने आपको ब्राह्मणवंशीय मानते रहे और इसीलिए इनके लिए प्रशस्तिकार 'विप्र', 'विप्रकुल' आदि शब्दो का स्वतन्त्रता से प्रयोग करते रहे। इसी प्रकार 'ब्रह्मक्षत्र' शब्द का भी प्रयोग प्रशस्तिकार इसीलिए करते रहे कि इन्होने ब्राह्मण होते हुए क्षत्रियोचित काम से अपनी प्रतिष्ठा को बढाया था। फिर भी इस दिशा मे अधिक खोज अपेक्षित है। इस सम्पूर्ण विवाद को समाप्त करने के लिए एक तो सामग्री का अभाव है और दूसरा इस प्रश्न को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से निर्णय करने के बजाय भावुकता से निर्णय करने का दृष्टिकोण बनता जा रहा है, जिससे खोज की वृत्ति गौण बनती जा रही है।[८]

गुहिलों का राजस्थान मे विस्तार

ऐसा अनुमानित होता है कि प्रारम्भ मे गुहिल मेवाड मे शक्तिशाली बने और तदनन्तर इसी वंश के अन्य प्रतिभाशाली व्यक्ति राजस्थान के तथा अन्य भागो मे जाकर बस गये। क्योंकि गुहिल इनमे सबसे अधिक प्रभावशाली था। इसके वंशज जहाँ-जहाँ जाकर बसे और जहाँ-जहाँ उन्होंने अपने राज्य स्थापित किये उन्होने अपने आपको गुहिलवंशीय ही माना। उन्होने अपने-अपने वंश-क्रम को भी गुहिल से ही आरम्भ किया। ७वी शताब्दी से लेकर १५वी शताब्दी तक के मिलने वाले शिलालेखो और

---

८ मेरा लेख दि फ्रेगमेण्टरी सेकण्ड स्लेब ऑफ कुम्भलगढ इन्सक्रिप्शन, प्रोसिडिंग्ज ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कॉंग्रेस, १९५१, पृ० ३६७-३७२, मेरा लेख ओरिजिन ऑफ दि राजपूत्स, यूनिवर्सिटी ऑफ राजस्थान स्टडीज, १९६५-६६, पृ० ५-१०

ताम्रपत्रो से इन विभिन्न शाखाओ के विषय मे हमे जानकारी प्राप्त होती है। रावल समरसिंह के समय वि० स० १३३१ (ई० स० १२७४) की चित्तौड की प्रशस्ति से गुहिलवश की अनेक शाखाओ के होने का बोध होता है। मुहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात मे गुहिलो की २४ शाखाओ का जिक्र किया है। करनल टॉड ने भी उनके गुरु ज्ञानचन्द्र के माण्डल के उपासरे के सग्रहालय के आधार पर गुहिलो की २४ शाखाओ को माना है जिनकी नामावली मे नैणसी की नामावली से यत्र-तत्र विभिन्नता है। इनमे कल्याणपुर के गुहिल, वागड के गुहिल, चाटसू के गुहिल, मारवाड के गोहिल, धोड के गुहिल, काठियावाड के गुहिल, मेवाड के गुहिल आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।[९]

कल्याणपुर के गुहिल

कल्याणपुर से प्राप्त ७वी शताब्दी के ताम्रपत्रो से प्रमाणित होता है कि गुहिलवशीय राजा पद्र ने एक शिवालय का निर्माण कराया और उसी शाखा मे देवगण, भाविहित, भेति आदि कई शासक हुए।[१०]

चाटसू के गुहिल

चाटसू और नगर, जो जयपुर जिले मे हैं, पूर्व मध्यकालीन काल मे गुहिलवशीय शाखा के अधिकार मे थे। इस शाखा का सस्थापक भर्तृभट्ट था जिसमे ब्राह्मण तथा क्षत्रियोचित गुणो का समावेश था। इसी वश मे ईशान भट्ट, उपेन्द्रभट्ट और गुहिल हुए जिनमे से एक वडा विद्वान था। गुहिल का पुत्र वडा धर्मात्मा था जिसने नगर मे शिव के अभिषेक के लिए तथा धर्म प्राप्ति के लिए एक वावली का निर्माण करवाया था। धनिक के वाद इस वश मे कई प्रतापी शासक हुए जिनमे आहुक, कृष्णराज, शकरगण, नागभट्ट द्वितीय, हर्ष आदि मुख्य है। शकरगण के सम्वन्ध मे चाटसू लेख से ज्ञात होता है कि उसने गौडो को परास्त कर अपना राज्य मध्यदेश तक प्रसारित किया। इसने महामहीमृत की कन्या यज्ञा से विवाह किया और अपनी प्रतिष्ठा को वढाया। इसका लडका हर्ष और हर्ष का पुत्र भोज प्रथम भी वडे शक्तिशाली शासक थे जिन्होने सम्भवत अरवो को पीछे धकेलने मे सफलता प्राप्त की थी। इसी तरह इसी शाखा के गुहिल द्वितीय, भट्ट, वालादित्य आदि शासक हुए थे जिन्होने प्रतिहारो को उनके शत्रुओ को परास्त करने मे सहयोग दिया था और पीछे से सम्भवत इस शाखा के शासको ने चौहानो की अधीनता स्वीकार कर ली थी। ऐसे ही अजमेर जिले के नासूण गाँव से मिले हुए वि० स० ८८७ (ई० स० ८३०) के शिलालेख से यह भी

---

९ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ८६–८७

१० एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३४, पृ० १६७, भाग ३५, पृ० ५५-५७, दि ओरिसा हिस्टोरिकल रिसर्च जरनल, भाग ८, जुलाई १९५९

अनुमान होता है कि चाटसू के गुहिलवंशियो की एक शाखा का अधिकार उस समय अजमेर के आसपास के प्रदेश पर भी रहा था।[११]

मालवा के गुहिल

जैसा कि हमने ऊपर पढा है कि भर्तृभट्ट गुहिलवंशीय राजाओ का अधिकार प्रारम्भ मे चाटसू के आसपास था, वे कालान्तर मे मालवा की ओर जाकर बस गये। धार के पास इगोदा के वि० स० ११९० (ई० स० ११३३) के दानपत्र से भर्तृभट्ट के वशज पृथ्वीपाल, तिहुणपाल और विजयपाल के नाम उपलब्ध होते है। सम्भवत परमारो और सोलकियो के सघर्ष से लाभ उठाकर इन राजाओ ने मालवा क्षेत्र के कुछ भागो पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया हो और जब कुमारपाल ने परमार वल्लाल को वि० स० १२०८ (ई० स० ११५१) मे परास्त कर फिर से मालवा पर अपना अधिकार स्थापित कर दिया तब यहाँ की गुहिल शाखा के शासक कुमारपाल के सामन्त बन गये। इस वश के शासको मे पृथ्वीपाल, तिहुणपाल, विजयपाल, सूरपाल, अमृतपाल, सोमेश्वर तथा विजयपाल विशेष उल्लेखनीय हैं।[१२]

वागड के गुहिल

ऐसा प्रतीत होता है कि मावला के विजयपाल ने (११९० वि०=११३३ ई०) कुमारपाल के सामन्त रहते हुए वागड के कुछ भाग पर अधिकार स्थापित कर लिया। इसके पश्चात इसका पुत्र सूरपाल वहाँ का शासक रहा। परन्तु जब वि० स० १२२८ (ई० स० ११७१) के आसपास सामन्तसिंह कीतु सोनगरा के द्वारा मेवाड से निकाला गया तो उसने ई० स० ११८१ के आसपास सूरपाल के पुत्र अनगपाल या उसके भाई अमृतपाल से वागड का राज्य छीन लिया और वह वहाँ का स्वतन्त्र शासक बन गया। परन्तु वि० स० १२४२ (ई० स० ११८५) के ताम्रपत्र से मालूम होता है कि सामन्तसिंह से गुजरात के शासक ने वागड का राज्य छीनकर फिर से अमृतपाल को सुपुर्द किया। कुछ समय तक वागड गुजरात के अधीन इस शाखा के द्वारा बना रहा। परन्तु कुछ लेखो से प्रमाणित होता है कि मेवाड के गुहिलवशीय जयसिंह और तत्पश्चात सीहड ने १२वी सदी के मध्य मे वागड पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। क्योंकि ये गुहिल मेवाड के आहड से यहाँ आये थे 'आहडा' कहलाये। डूंगरपुर

---

[११] डा० भण्डारकर, इन्सक्रिप्शन्स ऑफ नॉदर्न इण्डिया, न० १३७१, चाटसू इन्सक्रिप्शन्स, पक्ति १०, १२, १७, १९, २०, राजस्थान थ्रू दि एजेज, भाग १, पृ० २११-१४, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ८५

[१२] पजण्णु चरिउ की प्रशस्ति (आमेर शास्त्र भण्डार), इंण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग ४, पृ० ५५-५६, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग ३५, न० १, मार्च १९५९, पृ० ९-१२, सोमानी का वरदा मे लेख

राज्य की ख्याते सम्भवत इसी आधार पर सीहड को डूंगरपुर राज्य का मस्थापक मानती हैं।[१३]

घोड के गुहिल

घोड, जो जहाजपुर के निकट है, पहले गुहिल की एक शाखा के अधीन था जैसा ७२५ ई० के एक लेख से प्रमाणित है। सम्भवत घोड के गुहिल धवलप्पदेव के, जो चित्तौड का मौर्य शासक था, सामन्त थे।

काठियावाड और मारवाड के गुहिल

काठियावाड के गोहिलो के दो प्राचीन शिलालेखो से (वि० स० १२०२ व वि० स० १२८७) स्पप्ट हैं कि ये गुहिलो की शाखा सोलकी राजा सिद्धराज और कुमारपाल की सामन्त थी जो कुछ समय सौराष्ट्र मे शासन करती रही। मारवाड मे भी गुहिलवशीय राजपूत वसे थे जिन्हे १४वी शताब्दी मे आस्थान ने पराजित किया।[१४]

मेवाड के गुहिलो का उत्थान

इन सभी शाखाओ मे मेवाड के गुहिल अधिक प्रसिद्ध हैं जो आनन्दपुर (वडनगर) से आकर यहाँ वस गये। परन्तु यह निश्चित रूप से कहना बडा कठिन है कि मेवाड के गुहिल, जिनकी प्रसिद्धि सर्वमान्य थी, इन विभिन्न शाखी गुहिलो से किस प्रकार सम्वन्धित थे। शिलालेखो मे जहाँ-जहाँ विभिन्न शाखा के गुहिलो का वर्णन मिलता है उन्हे 'महाराज' या 'राज' शब्द से सम्बोधित्त किया गया हैं। इन विरुदो से इतना अवश्य स्पष्ट है कि या तो ये स्थानीय शासक-मात्र थे या किसी के सामन्त थे। मालवा तथा काठियावाड के गुहिल, उदाहरणार्थ, सोलकियो के सामन्त थे। घोड के गुहिल मौर्यो के। परन्तु सभी शाखाओ का सम्वन्ध गुहिल से जोडा जाना यह अवश्य सकेत करता है कि इनका मूल पुरुप गुहिल था और जिससे सम्वन्धित चाटसू, नगर (जयपुर जिले मे), नासूण (अजमेर जिले मे), वागड, मारवाड आदि की गुहिल शाखाएँ थी और इनका राज्य वडा विस्तार मे था। हूण राजा मिहिरकुल के पीछे राजस्थान के अधिकाश तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशो पर गुहिल का राज्य रहा हो तो कोई आश्चर्य नही। आगरे के पास ई० स० १८६९ मे प्राप्त २००० से अधिक चाँदी के सिक्के तथा ९ ताँवे के सिक्के, जो श्री रोशनलाल साँभर के सग्रह मे हैं, प्रमाणित करते हैं कि गुहिल एक स्वतन्त्र तथा विस्तृत राज्य का स्वामी था। मिहिरकुल के पीछे गुहिल के ही सिक्के मिलना उसके प्रभाव के द्योतक हैं।

---

[१३] एपिग्राफिया इण्डिका, जि० ८, पृ० २११, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, जुलाई १९६१, पृ० ७१५-१६, जरनल ओरियण्टल इन्सटीट्यूट, वडोदा, सितम्वर १९६४, पृ० ७६, राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, सन् १९१४-१९१५-१९२६-१९२७

[१४] ओझा, निवन्ध सग्रह, भाग २, पृ० २३१-२३७

वैसे तो गुहिल का ठीक समय ज्ञात नही पर डा० ओझा का सुझाव है कि यदि उसके पाँचवें या छठे वशधर शिलादित्य का वि० स० ७०३ (ई० स० ६४६) के साँभोली के लेख से अनुमान लगाया जाय और प्रत्येक शासक का काल औसतन २० वर्ष मान लिया जाय तो गुहिल का समय वि० स० ६२३ (५६६ ई०) के पास स्थिर किया जा सकता है।[१५] परन्तु इस तिथि को मानने मे यह आपत्ति है कि प्रथम तो शील के पहले यदि बापा को माना जाय, जैसा हम आगे बतायेंगे, जो इस औसत से गुहिल का समय और पीछे चला जाता है। इसके अतिरिक्त वि० स० ७४१ (६८४ ई०) के नगर के शिलालेख[१६] से जो भर्तृभट्ट वशीय गुहिलो का पता लगता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि ५६४ ई० के लगभग तो भर्तृभट्ट ही हुआ था। इस लेख से जब भर्तृभट्ट वशीय गुहिल को अपना आदि पुरुष मानते है तो गुहिल का समय सहज मे पाँचवी शताब्दी के अन्त तक पहुँच जाता है।

गुहिल के उत्तराधिकारी

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि गुहिल के उत्तराधिकारी किस क्रम में थे। कुछ एक समसामयिक शिलालेखो की सहायता से गुहिल के पीछे होने वाले मेवाड के कुछ शासको के नाम और वर्णन पर कुछ प्रकाश पडता है, जिनमे शील, अपराजित, भर्तृभट्ट, अल्लट, नरवाहन, शक्तिकुमार, विजयसिंह आदि प्रमुख है। परन्तु इन शासको के बीच मे होने वाले कतिपय शासको के नाम पिछले शिलालेखो या भाटो की वशावलियो से ही लिये जा सकते हैं। इस प्रकार वश-क्रम की पूर्ति कुछ तो जाँच की कसौटी मे ठीक उतरती है और कुछ काल्पनिक ही रह जाती है। उदाहरण के लिए, गुहिल से शील के बीच के शासको के जो नाम खुम्माण महायक आदि के मिलते हैं वे पिछली पोथियो से लिये गये प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति मे जिन शासको के कुछ शिलालेख या वर्णन के सामयिक साधन नहीं मिलते उनके विषय मे अधिकार से लिखना कठिन है। परन्तु गुहिल के बाद मान्य प्राप्त शासको मे बापा का नाम उल्लेखनीय हैं। विद्वानों का मतभेद है कि बापा का मेवाड के वश-क्रम मे गुहिल के पीछे कहाँ स्थान रखा जाय। परन्तु बापा का नाम गुहिल की तुलना मे भी कभी-कभी बढ जाता है तो हम बापा का वर्णन गुहिल के पीछे करना उपयुक्त समझेंगे। कोई आश्चर्य नही कि बापा गुहिल का उत्तराधिकारी या वश-क्रम मे निकटवर्ती समय का शासक रहा हो।

बापा की ऐतिहासिकता

बापा के सम्बन्ध मे कल्पित कथाएँ—बापा जिसे बप्प, बाप्पा, बप्पक, बाप्प आदि नाम से सम्बोधित किया गया है, मेवाड के इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान

---

१५ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ९८

१६ क्लासिकल_एज (भारतीय विद्याभवन सिरीज), पृ० १६०

रखता है।[१७] परन्तु खेद का विषय है कि वापा के समय का कोई समकालीन लेख उपलब्ध नही है। इस अभाव मे पिछले ख्यात लेखको ने वापा के सम्बन्ध मे कई कपोल-कल्पित वाते लिख दी जिन्हे टॉड आदि लेखको ने मान्यता दी। इन वातो ने इतिहास प्रेमियो के हृदय मे स्थान पा लिया और वापा एक आख्यायिको के वर्णन का विपय वन गया। नैणसी ने इसके विषय मे लिखा है कि वापा अपने वचपन मे हारीत ऋषि की गौएँ चराता था। इस सेवा से प्रसन्न होकर हारीत ने राष्ट्रसेनी देवी की आराधना से वापा के लिए राज्य माँगा। देवी ने 'ऐसा हो' का वरदान दिया। इसी तरह हारीन ने महादेव का ध्यान किया जिससे एकलिंगजी का लिंग प्रक्ट हुआ। हारीत ने महादेव को प्रसन्न करने के लिए कठोर तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर हारीत को वरदान माँगने को कहा। हारीत ने महादेव से वापा के लिए मेवाड का राज्य माँगा। जव हारीत स्वर्ग को जा रहे थे तो उन्होने वापा को वुलाया। वापा को आने मे कुछ विलम्व हो गया तो वापा उडते हुए विमान के निकट पहुँचने के लिए १० हाथ शरीर मे वढ गये। हारीत ने वापा को मेवाड का राज्य तो वरदान मे दे ही दिया था परन्तु वह चाहता था कि उसे सदा के लिए अमर कर दे। इस आशय से उसने अपने मुँह का पान वापा को देना चाहा। वह उसके मुँह मे न पड पैरो पर पडा। हारीत ने कहा कि यदि वह पान मुँह मे गिरता तो वह अमर हो जाता। फिर भी जव पैरो पर पान का पीक पडा है अतएव उसके अधिकार से मेवाड का राज्य नही हटेगा। प्रसन्न होकर उस समय उसने उसे किसी स्थान से पन्द्रह करोड मुहरें निकालने का आदेश दिया और कहा कि उस धन से वह सेना का सगठन करे और मोरियो से चित्तौड का राज्य ले। इस आदर्श के अनुसार वापा ने धन निकालकर एक वडी सेना तैयार की और चित्तौड पर अधिकार स्थापित कर लिया।[१८]

करनल टॉड ने भी इसी तरह की कथा लिखते हुए वताया है कि जव वापा का पिता ईडर के भीलो के हमले मे मारा गया तो उसकी माँ उसे वडनगरा (नागर) जाति की कमलावती के वशजो के पास ले गयी। प्रारम्भ मे उन्होने उसे भाडेर के किले मे रखा और तदनन्तर वे उसे नागदा मे ले आये। नागदा मे वह गौएँ चराता था जहाँ उसे हारीत ऋषि का सम्पर्क हुआ। वही उसे एकलिंगजी के दर्शन हुए। इनकी कृपा से वापा भविष्य मे मेवाड का शासक हो सका।[१९]

इसी प्रकार की अन्य चमत्कारपूर्ण कथाएँ वापा के सम्बन्ध मे वन गयी जिनमे एक झटके मे दो भैंसो की वलि देना, वारह लाख वहत्तर हजार सेना रखना, चार

---

[१७] नागरी प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० २४८-५० और टिप्पणी १०-२१

[१८] नैणसी री ख्यात, पत्र १, पृ० २, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास; भाग १, पृ० ११२-११५

[१९] टॉड राजस्थान, जि० १, पृ० २६०-६६

बकरे खाना, पैंतीस हाथ धोती और १६ हाथ दुपट्टा पहनना, बत्तीस मन का खड्ग रखना आदि बडी प्रसिद्ध है।[20]

ये सभी कथाएँ बडी रोचक हैं परन्तु इनमे ऐतिहासिक तथ्य आशिक नही है। हारीत की कृपा से बापा की वैभव प्राप्ति मे ऐतिहासिकता झलकती है।

बापा नाम अथवा विरुद ?—१०वी शताब्दी से आगे के समय तक के शिलालेखो की वशावलियो मे कही-कही बापा का नाम नही है और यदि है तो उसका वशक्रम मे नाम लोम-विलोम रूप से मिलता है। इस प्रकार की स्थिति के कारण विद्वानो को सन्देह होने लगा कि क्या बापा नाम का कोई व्यक्ति हो सकता है या 'बापा' किसी व्यक्ति का विरुद है ? करनल टॉड ने[21] कुम्भलगढ की प्रशस्ति मे 'शील' के स्थान पर 'वप्प' नाम को पाकर यह निर्णय निकाला है कि जब कुम्भलगढ के पहले की सभी प्रशस्तियो मे शील का नाम अकित है तो उक्त प्रशस्ति मे शील के अभाव मे 'वप्प' का अकन यही बताता है कि शील का ही नाम बापा था। परन्तु इस कल्पना मे तथ्य नही है क्योकि शील का ६४६ ई० का शिलालेख[22] प्राप्त है जिससे शील का स्वतन्त्र रूप मे होना सिद्ध है। यदि करनल टॉड को इस शिलालेख की जानकारी हो जाती तो सम्भवत वह शील को नही वरन् उसके अन्य वशधर को बापा निर्धारित करता।

कविराज श्यामलदास ने इस सम्बन्ध मे लिखते हुए यह प्रतिपादन किया है कि 'बापा किसी राजा का नाम नही, किन्तु खिताब है'। उनके अनुसार ६६१ ई० मे अपराजित राज्य कर रहा था तो ७१३ ई० मे मान का चित्तौड मे राज्य करना और ७३४ ई० के लगभग बापा द्वारा चित्तौड लेना कैसे सम्भव हो सकता है। कविराज की सम्मति मे चित्तौड लेने के काल से तारतम्य मिलाने वाला शील न होकर उसका पोता महेन्द्र हो सकता है। उनका यह भी कहना है कि महेन्द्र ही रावल पद से प्रसिद्ध था और बापा को भी रावल पद से विभूषित किया जाता है। अतएव महेन्द्र का ही खिताब बापा होना सिद्ध होता है।[23]

कविराज के इस कथन को मानने मे सबसे बडी आपत्ति डा० ओझा यह बताते हैं कि जब ६६१ ई० मे अपराजित विद्यमान था और बापा ने ७५३ ई० मे सन्यास लिया था (जो कविराज मानते हैं), तो ऐसी स्थिति मे उनमे दोनो राजाओ के

---

[20] टॉड राजस्थान, जि० १, पृ० २६७

[21] वही, पृ० २५६-६१

[22] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० ३११-३४, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १०४

[23] वीर विनोद, भाग १, पृ० २५०

बीच अनुमान १०० वर्ष का अन्तर आता है, जो अधिक है। ऐसी स्थिति मे महेन्द्र का खिताब वापा नही हो सकता।[२४]

प्रोफेसर देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने[२५] खुम्माण को वापा ठहराया है। इस मत के प्रतिपादन मे उन्होने एक युक्ति बिठायी है, यह बताते हुए कि अपराजित की ६६१ ई० की ज्ञात प्रशस्ति मे तथा अल्लट की ९५३ ई० की प्रशस्ति के बीच मे १२ राजाओ की नामावली आती है और इनकी कुल राज्यकाल की अवधि २९२ वर्ष होती है। यदि प्रत्येक राजा का औसत समय निकाला जाय तो एक का राज्य-काल २४½ वर्ष आता है। उन्होने इसी क्रम को अपराजित के ६६१ ई० के लेख और वापा के सन्यास के वर्ष ७५३ ई० मे लगाने से ९२ वर्ष का अन्तर पाया और गणना से २४½ वर्ष का औसत लगाया जिससे अपराजित से चौथे शासक खुमाण का वापा होना अनुमानित किया। परन्तु यह युक्ति भी दोषपूर्ण सिद्ध हो सकती है क्योकि यह सर्वदा सम्भव नही है कि प्रत्येक शासक हर परिस्थिति मे २४½ वर्ष शासन करे। एक शासक कभी ५० वर्ष भी शासन कर सकता है और कभी-कभी ५० वर्ष मे कई शासक हो सकते है। भर्तृभट्ट दूसरे के ज्ञात समय ९४२ ई० से शक्तिकुमार के ज्ञात काल ९७७ ई० का काल पाँच शासको का है जो केवल ३५ वर्ष का ही होता है जिसमे औसत ७ वर्ष ही होता है।

इन मतो के विपरीत डा० ओझा का विचार है कि वापा उपाधि थी परन्तु वह शील की, या महेन्द्र की, या खुम्माण की उपाधि न थी। वह तो कालभोज की थी। इस सम्बन्ध मे उनका कहना है कि ख्यातकारो, नैणसी तथा राजप्रशस्ति मे वापा के पुत्र का नाम खुम्माण दिया है और आटपुर की प्रशस्ति मे कालभोज के पुत्र का नाम खुम्माण दिया है। इस वश-वर्णन से उचित दिखायी देता है कि कालभोज का उपनाम ही वापा हो सकता है। उन्होने वापा का सन्यास लेना (७५३ ई०), वापा का राज्या-रोहण (७३४ ई०), वापा का ७१३ ई० के बाद चित्तौड लेना आदि घटनाओ के वर्षो को मान्यता देते हुए यही माना है कि कालभोज ही वापा था।[२६]

डा० ओझा का वापा और कालभोज को एक व्यक्ति मानना और उसका समय ८वी शताब्दी के द्वितीय चरण मे मानना युक्तिसगत नही प्रतीत होता। प्रथम तो कालभोज को ही वापा मानना ठीक नही, क्योकि १७वी शताब्दी की प्रशस्ति तथा ख्यातो मे वापा का पुत्र खुम्माण दिया है। क्योकि कालभोज का पुत्र खुम्माण था अतएव कालभोज वापा हो यह कोई तर्क नही हो सकता। जहाँ डा० ओझा

[२४] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १०५

[२५] ए० इ०, जि० ३९, पृ० १९०, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १०५-१०६

[२६] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १०६-११०

एकलिंगमहात्म्य[२७] के आधार पर बापा के सन्यास लेने का वर्ष ७५३ ई० लेते है तो फिर वे उसी समय की कुम्भलगढ प्रशस्ति को विश्वस्त आधार क्यो नही मानते, जबकि यह प्रशस्ति बडी छानबीन के साथ तैयार की गयी थी। इस प्रशस्ति से डा० ओझा के लिए कोई सन्देह की गुजाइश नही होनी चाहिए, क्योकि इसमे बप्प के बाद अपराजित, महेन्द्र द्वितीय और कालभोज क्रम से मेवाड के शासक अकित हैं। चित्तौड[२८], आबू[२९], राणकपुर[३०] आदि की प्रशस्तियो मे भी 'बप्प' और 'कालभोज' अलग-अलग नाम दिये हैं। ऐसी स्थिति मे 'बापा' और 'कालभोज' का एक ही व्यक्ति मानना ठीक नही है और न यह मानना ही ठीक है कि बापा एक उपाधि थी। वल्लभी के ताम्रपत्र[३१] मे 'बप्प' शब्द तथा भेटी के धुलेव के अभिलेख मे 'बप्पदती'[३२] शब्द व्यक्तियो के लिए प्रयुक्त हुए हैं। वैसे तो इन व्यक्तियो का हमारे बापा से कोई सम्बन्ध नही है पर इससे इतना अवश्य स्पष्ट है कि 'बप्प' शब्द नाम के लिए प्रयुक्त होते रहे हैं। नाथो की प्रशस्ति[३३] मे तो 'बप्पक' बापा के लिए स्वतन्त्र नाम की तरह ही अकित है।

बापा का समय—जिस प्रकार बापा शब्द पर मतैक्य नही है उसी प्रकार बापा का समय भी एक विवादास्पद विषय है। बापा के समय को जानने के लिए करनल टॉड ने यह युक्ति काम मे ली कि बापा के लिए स० १९१ राज्य पाने का समय माना जाता है। इस सम्बन्ध मे करनल टॉड ने[३४] यह अनुमान लगाया कि वि० स० ५८० (५२३ ई०) मे वल्लभीपुर का नाश होने पर वहाँ का राजवश मेवाड मे भाग आया, उस समय से लेकर बापा के जन्म तक १९१ वर्ष होने चाहिए। इस स्मृति मे उनकी मान्यता है कि 'सवत् एकै एकाण्वै' प्रसिद्ध है। इस अनुमान से बापा का काल ७वी शताब्दी आता है। परन्तु इस काल को स्वीकार करने मे यह आपत्ति है कि वल्लभी का नाश वि० स० ८२६ (७६९ ई०) मे हुआ था। इसमे १९१ वर्ष बढाने से बापा का समय बहुत आगे बढ जाता है जो ठीक नही है।

श्यामलदास भी बापा द्वारा मौर्यो के किले चित्तौड लेने के काल को ७३४ ई० मानकर बापा का समय आठवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं।[३५] भण्डारकर[३६] भी

---

[२७] एकलिंगमहात्म्य, अध्याय २०, श्लो० २१-२२

[२८] चित्तौड का लेख, वि० स० १३३१

[२९] आबू लेख, वि० स० १३४२

[३०] राणकपुर लेख, वि० स० १४९६

[३१] कार्प्स इन्सक्रिप्शन्स, जि० ३, पृ० १७३-१८०

[३२] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २४१

[३३] बम्बई ए० सो० ज०, जि० २२, पृ० १६६-६७

[३४] टॉड राजस्थान, जि० १, पृ० २६९

[३५] वीर विनोद, भाग १, पृ० २५२

[३६] इ० ए०, जि० ३९, पृ० १९०

इसी समय को मान्यता देते हैं। ओझा चित्तौड लेने की ७१३ ई० के वाद मानकर और वापा का ७५३ ई० मे सन्यास लेना स्वीकार कर ७३४ से ७५३ ई० वापा का समय स्थिर करते हैं। अपने मत की पुष्टि मे वे १६१ वर्ष को लिपि-भेद से स० ७६१ लेते हैं जिससे इनके द्वारा निर्धारित तिथि के निकट वापा का समय आ जाता है।[३७]

परन्तु वास्तव मे देखा जाय तो जो समय अर्थात ७५३ ई० वापा के सन्यास लेने का माना गया है वह कुम्भा के समय के एकलिंगमहात्म्य मे केवल वापा का उस वर्ष मे विद्यमान होना ही वताता है।[३८] पिछले रायमल के समय के एकलिंग-महात्म्य मे इस समय को उसके सन्यास लेने का समय वता दिया गया है।[३९] इन विभिन्न अकनो से तो ७५३ का समय विश्वास योग्य नही। इसी को आधार मानकर सभी विद्वानो ने वापा का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया है जो ठीक नही। इसी तरह वापा का ७२७ ई० के आसपास चित्तौड लेना मानकर भी भूल की है। मानसरोवर के ७१३ के अभिलेख[४०] के आधार पर यह मान लिया कि कुछ वर्षो के वाद मान को हराकर वापा ने चित्तौड ले लिया। परन्तु ७५५ ई० के कुकूरेश्वर के अभिलेख[४१] से राजा कुकुश्वर द्वारा, जो मोरी वश का था, चित्तौड मे एक मन्दिर और कुण्ड वनाने का उल्लेख है। इसी तरह ८३०-३१ ई० मे चित्तौड का धरणीवराह शासक था जो माहुक की कृति हरमेरवला से स्पष्ट है।[४२] अतएव ६वी शताब्दी तक चित्तौड पर गुहिलो के द्वारा अधिकार होना कल्पना के वाहर है। यदि मोरियो से चित्तौड किसी ने लिया तो वे प्रतिहार थे। सम्भवत देवपाल प्रतिहार को अल्लट ने परास्त कर चित्तौड कुछ समय को लिया हो।[४३] ऐसी स्थिति मे चित्तौड विजय के समय को वापा से मिलाना भूल है। वापा का ८वी शताब्दी मे होने के आधार की ये दोनो घटनाएँ है—जैसे ७२७ ई० मे चित्तौड लेना और ७५३ ई० मे सन्यास लेना, जो निर्मूल हैं। अवुल फजल ने भी वापा द्वारा चित्तौड लेने का उल्लेख नही किया है। केवल राज-प्रशस्ति या पिछली ख्यातो ने वापा के सम्वन्ध मे चित्तौड विजय का वर्णन किया है जो निर्मूल है। डा० रायचौधरी भी वापा द्वारा चित्तौड लेना नही मानते।

---

[३७] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १०८-११०

[३८] एकलिंगमहात्म्य, राजवर्णन

[३९] वही, अध्याय २०, श्लो० २१-२२

[४०] टॉड राजस्थान, भा० १, पृ० ७९९, वीर विनोद, भा० १, पृ० ३७८-३८०

[४१] वही (क्रुक), भा० ३, पृ० १८२३।

[४२] प्रोसिडिंग्ज ऑफ दि इ० हि० काँ०, १९६०, भा० १, पृ० ८६-८८

[४३] अल्लट कालीन आहड का लेख, ओझा, उ० रा० इ०, भा० १, पृ० १२४, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २३९-४०, रायचौधरी, हिस्ट्री ऑफ मेवाड, पृ० ५१। "The conclusion is forced upon us that the fortress was not possibly conquered by Bappa" —Raychaudhari

ऐसी स्थिति मे हमे यह देखना है कि बापा का क्या समय हो सकता है या गुहिल वशावली में उसका कहाँ स्थान हो सकता है ? बापा का सबसे पहला उल्लेख हमे ९७१ ई० के शिलालेख में मिलता है जहाँ उसे 'गुहिल गोत्र नरेन्द्रचन्द्र श्री बप्पक क्षितिपति' कहा गया है। इससे इतना अवश्य स्पष्ट है कि बापा गुहिल के बाद मेवाड का बडा प्रतापी राजा था। इस प्रशस्ति के बाद प्राचीन राजाओ की शृखला की जानकारी कम हो गयी, परन्तु फिर भी पिछले प्रशस्तिकार बापा को तथा गुहिल को नही भूले। चित्तौड की १२७४ ई० की प्रशस्ति मे, आबू की १२८५ ई० में तथा राणपुर की १४३९ ई० की प्रशस्ति मे बापा को भूल से गुहिल का पिता लिख दिया। फिर भी गुहिल के निकट ही उसे स्थान मिला। कुम्भलगढ प्रशस्तिकार ने गुहिल से चौथे वशधर के रूप मे उसका नाम अकित किया। इससे इतना स्पष्ट है कि बापा गुहिल के निकटतम वशधरो मे था। शील के साभोली गाँव के ६४६ ई० के शिलालेख को गणना की धूरि मान लिया जाय, जो गुहिल का पाँचवाँ वशधर था, तो गुहिल का समय पाँचवी शताब्दी के अन्त तक या छठी शताब्दी ई० पूर्वार्द्ध आसपास आ सकता है और बापा का समय ६२० ई० के लगभग हो सकता है। वैसे तो उसके ठीक काल का निर्णय करना कठिन है, परन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि बापा गुहिल का निकटवर्ती वशक्रम मे था। इस कल्पना की पुष्टि ६८४ ई० के नगर गाँव के शिलालेख से भी होती है जिसमे भर्तृभट्ट वशीय गुहिलो का वर्णन है। इस प्रशस्ति से गुहिल का समय भर्तृभट्ट से पहले होता है और यदि बापा को शील और अपराजित के पीछे मानें तो भी बापा का समय इसी अनुपात से ७वी शताब्दी के तृतीय चरण के पास पहुँच जाता है।[४४]

बापा का सिक्का—बापा का गुहिल के निकटवर्ती वशधरो मे होना इससे भी प्रमाणित होता है कि उसका एक ताँबे का २७$\frac{1}{2}$ रत्ती का, जो श्री रोशनलाल साभर[४५] के पास सुरक्षित है, लिपि, आकार तथा ढग की दृष्टि से गुहिल के सिक्के के अनुरूप है। यह सिक्का पिछले वाले राजा सिंह, भर्तृभट्ट या अल्लट के सिक्के मे मेल नही खाता।

बापा रावल ने अपने पूर्वजो की भाँति सोने के सिक्के का भी प्रचलन किया जो उसकी प्रतिभा और वैभव का प्रतीक है। डा० ओझा[४६] ने एक बापा का सोने का सिक्का देखा जिसका तोल ११५ ग्रेन का था। इसके दोनो तरफ बापा से सम्बन्ध रखने वाले अकन थे। कामधेनु, बछडा, शिवलिंग, नन्दी, दण्डवत करता हुआ पुरुष, नदी, मछली, बिन्दुओ की पक्ति, त्रिशूल, चमर आदि। ये सभी चिह्न एक ही साथ

---

[४४] बम्ब० ए० सो० ज०, जि० २२, पृ० १६६-६७

[४५] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २५१

[४६] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ११०-११२

वापा के सम्वन्ध की सभी कथाओ के मूचक होने के नाते सन्देह के भाजन वने हुए हैं। निश्चित रूप से इस सिक्के के सम्वन्ध मे कुछ भी नही कहा जा सकता, परन्तु इतना अवश्य है कि वापा अपने समय का एक महान शासक था।

वापा की मृत्यु—इसकी मृत्यु के सम्वन्ध मे यह प्रसिद्धि रही है कि अपने पिछले दिनो मे उसने खुरासान पर विजय प्राप्त की और वहाँ रहकर अनेक स्त्रियो से विवाह किया जिनमे अनेक पुत्र पैदा हुए। अन्त मे उसकी वही मृत्यु हुई। वताया जाता है कि उसके शव के सम्वन्ध मे, कवीर की भाँति, हिन्दुओ और मुसलमानो के वीच जलाने और गाडने के प्रश्न पर झगडा हुआ, परन्तु जव शव से चादर हटायी गयी तो शव के स्थान पर फूलो का ढेर ही मिला। इस कथानक मे भी सच्चाई नही है क्योकि उसका देहान्त नागदा मे हुआ था। आज भी उसका समाधि-स्थान 'वापा रावल' के नाम से प्रसिद्ध है।[४७]

वापा का मूल्याकन—वापा के सम्वन्ध मे सही-सही मूल्याकन करना वडा कठिन है, क्योकि उसके जीवन-वृत्त सम्वन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नही होती। ऐसी स्थिति मे हम कई लव्धप्रतिष्ठ इतिहासकारो के शब्दो मे उसके मूल्याकन पर सन्तोष करेंगे। करनल टॉड ने उसको कई राजाओ के वश-क्रमो का सस्थापक, शासक के रूप मे मान्यता-प्राप्त, मनुष्यो मे पूज्यनीय और अपनी कीर्ति से चिरजीवी[४८] माना है। वैध ने उस ख्यातिमान मेवाड वश के सस्थापक को चार्ल्स मार्टल कहा है जिसके शौर्य की चट्टान के सामने अरव आक्रमण का ज्वार-भाटा टकराकर चूर-चूर हो गया। लेखक फिर लिखते हैं कि वापा रावल शिवाजी के समान धार्मिक थे जो उनकी भाँति गौ-हत्यारे विदेशी आक्रमणकारियो से घृणा करते थे।[४९] कविराज श्यामलदास[५०] ने

---

४७ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ११५-१६

४८ "Bappa, who was the founder of a line of hundred kings, feared as a monarch, adorned as more than mortal, and according to the legend, still living, deserves to have the source of his pre-eminent fortune disclosed, which, in Mewar, it were sacrilege to doubt"
—Tod, *Annals*, p 184

४९ "Bappa Rawal the reputed founder of the Mewar family was the Charles Martel of India against the rock of whose valour, as we have already said, the eastern tide of Arab Conquest was dashed to pieces in India Like Shivaji, Bappa Rawal was an intensely religious man and he equally hated the new invaders of India who were cow-killers"
—C V Vaidya, *History of Medieval Hindu India*, Vol II. pp -72–73

५० वीर-विनोद, भा० १, पृ० २५३-५४

बापा की प्रशसा करते हुए लिखा है कि "इसमे सन्देह नही कि महेन्द्र (बापा) हिन्दुस्तान का बडा प्रतापी, पराक्रमी और तेजस्वी महाराजाधिराज हुआ, और उसने अपने पूर्वजो के प्रताप, बडप्पन और पराक्रम को दुबारा प्रकाशित किया, जो थोडे समय तक नष्ट हो गया था। अगर यह महाराजा सारे हिन्दुस्तान का एक ही छत्रधारी न हुआ हो, तो भी हिन्दुस्तान के दूसरे राजाओ मे अग्रगण्य और बडा समझा गया था। इस राजा का बडा राज्य होने के बहुत-से प्रमाण मिल सकते हैं और यदि मशहूर किस्से-कहानियो को सुनिए, तो बापा और उसके पोते आदि को हिन्दुस्तान का चक्रवर्ती कह सकते हैं।" गोरीशकर हीराचन्द ओझा[५१] के शब्दो मे बापा स्वतन्त्र, प्रतापी और एक विशाल राज्य का स्वामी था। इन विशेष प्रकार की उपलब्धियो को आधार मानकर मैंने[५२] भी बापा का स्थान मेवाड के इतिहास मे अग्रणीय माना है। बापा नि सन्देह राजस्थान के महत्तम व्यक्तियो मे से है। उसके सम्बन्ध मे दोहराई गयी कई दन्तकथाओ मे वास्तविकता न हो, परन्तु उनमे छिपे हुए तथ्य भी उसके जीवन-सम्बन्धी घटनाओ पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरणार्थ, बापा का बचपन मे गौएँ चराने, हारीत से भेंट होने, हारीत द्वारा वरदान देने आदि की कथाओ मे उसके उदात्त जीवन के रहस्य छिपे हुए हैं। हारीत और एकलिंग भगवान की कृपा के कथानक उसकी धर्मनिष्ठा और गुरुभक्ति के द्योतक हैं। उसका पिछले समय मे सन्यास लेना यह सिद्ध करता है कि उसको वैभव के समय भी अपने कर्तव्य का गहरा ध्यान था। जिस कारण उसने अपने पद और स्थान सम्बन्धी सुख तक को त्याग दिया और एक कर्तव्यपरायण और परम्परा सेवी शासक की भाँति राज्य के वैभव से तटस्थ हो गया। उसके द्वारा प्रचलित सुवर्ण मुद्रा और उसमे उत्कीर्ण चिह्न बापा की सम्पन्न स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। उनसे यह भी प्रमाणित होता है कि उसके शासनकाल मे कला को अद्भुत शक्ति और स्फूर्ति मिली। एक अच्छे विजेता की भाँति उसने अपने राज्य का विस्तार कर अक्षुण्ण ख्याति अर्जित की। परन्तु इसमे सन्देह नही कि बापा की विस्तार-नीति मे कुछ ऐसे दोष रह गये कि उसके कारण मेवाड की महत्ता को आगे चलकर अवश्य धक्का पहुँचा। उसके पीछे होने वाले कतिपय शासक निर्बल और निकम्मे थे जिससे गुहिलो की प्रसार-नीति सहसा रुक गयी। मेवाड की पश्चिमी सीमा और दक्षिणी सीमा के निकट भील शक्ति का सगठन आरम्भ हो चला था जिसको वह न रोक सका। शीघ्र ही इनकी चोटो से मेवाड क्षत-विक्षत हो उठा और इस कारण नि सन्देह हम बापा की विजय-नीति मे व्यवस्था की क्षमता की कमी अनुभव करते हैं। परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि मेवाड राज्य की शक्ति

---

[५१] ओझा, उ० रा० का० इ०, भा० १, पृ० ११६

[५२] "In this respect Bapa's name occupies a pre-eminent place in the annals of Mewar"

—G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, p 7

वापा की विजय से ही बढी थी। उसने कम से कम गुहादित्य द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को अपनी विजय-नीति से सम्पूर्ण किया। यदि इस विजय का लाभ उसके उत्तराधिकारी महेन्द्र और नाग न उठा सके, जैसा कि हम आगे पढेंगे, तो वह वापा का दोष न था। वापा की शक्ति की अपनी सीमाएँ थी और उनमे वह सफल विजेता था।

गुहिलवशीय अन्य शासक

नाथो की प्रशस्ति के अनुसार गुहिल के वाद यदि कोई वहुत महत्त्वशाली इस वश का शासक था तो वह वापा था जिसके सम्वन्ध मे हमने ऊपर पढा। आटपुर की प्रशस्ति (९७७ ई०) मे गुहिल के अन्य वशधरो मे भोज, महेन्द्र और नाग के नाम क्रमश मिलते है। भोज के सम्वन्ध मे समरसिंह के आवू के शिलालेख (१२८५ ई०) मे वर्णित है कि वह श्रीपति का उपासक था और उसकी धार्मिक प्रवृत्ति श्लाघनीय थी। उसके ताँवे के दो सिक्के जो उपलब्ध हैं, प्रमाणित करते हैं कि उसने गुहिल और वापा की भाँति अपने समय मे राजनीतिक व्यवस्था को वनाये रखा। परन्तु इसके उत्तराधिकारी महेन्द्र तथा नाग इस पैतृक प्रतिष्ठा को वनाये रखने मे असमर्थ सिद्ध हुए। मेवाड के भीलो ने महेन्द्र से उसके अधिकार की भूमि को छीन लिया और उसकी हत्या करदी।[५३] नाग केवल मात्र नागदा और उसके आसपास की भूमि को ही अपने अधिकार मे रखने पाया। नागदा मे अधिक समय रहने के कारण आगे चलकर यह मान्यता वन गयी कि नाग ने ही नागद्रह या नागदा वसाया था। वास्तव मे प्राचीन जनश्रुति से नागहृद या नागद्दह (नागदा) वडा प्राचीन नगर रहा है और उसका सम्वन्ध नागवशियो से या जनमेजय से माना जाता है। सम्भवत महेन्द्र और नाग के समय मे आशिक विघटन भी हुआ हो। गुहिल की मुख्य शाखा से कल्याणपुर के गुहिलवशियो का अलग होना इसी काल के आसपास प्रतीत होता है। उन्होने इसी समय अपनी स्थानीय स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली हो तो कोई आश्चर्य नही। इस धारणा की पुष्टि कल्याणपुर के प्राचीन दानपत्रो से होती है।[५४]

शिलादित्य

भील फिर भी अपनी विजय को दीर्घकाल तक न भोग सके, क्योकि नाग के उत्तराधिकारी शिलादित्य ने नागदा के आसपास की भूमि शीघ्र ही भीलो से छीन ली। शील की विजय और प्रतिभा की सुविस्तृत तालिका सामोली के वि० स० ७०३ (६४६ ई०) के अभिलेख[५५] मे उपलब्ध है। उसमे लिखा है कि शील शत्रुओ

---

५३ टॉड राजस्थान, भा० १, पृ० २५९

५४ ए० इ०, भा० २५, पृ० ५५-५७

५५ कल्याणपुर का लघु लेख, ए० इ०, भा० ३५, पृ० ५५ से ५७, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १, पृ० ३११-२४

को जीतने वाला, गुरुजनो, ब्राह्मणो और अपने कुल को आनन्द देने वाला था। वह अपने वश के लिए चन्द्र-तुल्य था। इस वर्णन से स्पष्ट है कि उसने अपने शत्रुओं को परास्त कर तथा भीलो को दबाकर गुहिल, बापा और भोज की भाँति फिर से अपने नाम के ताँबे के सिक्के चलाकर अपनी राजनीतिक स्थिति की स्थिरता का परिचय दिया। इस प्रकार की स्थिरता और सुव्यवस्था से प्रभावित होकर वटनगर[५६] के कई वणिक समुदाय, जिनका मुखिया जेजक था, दक्षिण-पश्चिमी मेवाड मे आकर बसे। जेजक ने आरण्यक गिरि मे लोगो के जीवन-रूपी खनिज का साधन उपस्थित किया। ये खनिज का सकेत 'जावर माइन्स' से है जो मेवाड के लिए समृद्धि का बडा साधन बना रहा है। उसी भाग मे अरण्यवासिनी देवी के मन्दिर का उल्लेख शिलादित्य के काल की धर्म-परायणता प्रकट करता है।[५७]

अपराजित

शिलादित्य द्वारा स्थापित गुहिलो की प्रतिष्ठा अपराजित ने परिवर्द्धित की जैसा कि नागदे के कुण्डेश्वर के वि० स० ७१८ (६६१ ई०) के लेख से प्रमाणित होता है। उसके सम्बन्ध मे उक्त लेख से हमे यह सूचना मिलती है कि अपराजित ने अपने शत्रुओ का नाश किया और जो राजा उससे विमुख हो गये थे या जो पहले से ही विरुद्ध थे उनका दमन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपनी सैनिक-शक्ति को खूब बढाया। उसने महाराज वरसिंह को अपना सेनापति बनाया। इसी सेनापति की स्त्री अरुन्धति ने विष्णु मन्दिर के निर्माण द्वारा अपने वित्त का उचित उपयोग किया। इस प्रशस्ति मे दामोदर नामी लेखक और यशोभट नामी उत्कीर्णक का उल्लेख सस्कृत के प्रचार और कलात्मक उन्नति पर प्रकाश डालते हैं। शील के द्वारा स्थापित शौर्य परम्परा के परिवर्द्धन के साथ अपराजित ने सैनिक-व्यवस्था मे कुशलता तथा विद्यानुराग का परिचय दिया था।[५८]

कालभोज

अपराजित के बाद उसका पौत्र कालभोज (महेन्द्र द्वितीय का पुत्र) मेवाड का शासक हुआ। क्योंकि उसके तथा अपराजित के समय के बीच मे उसके पिता महेन्द्र का शासन रहा था। उसका समय ७वी शताब्दी के अन्त या आठवी शताब्दी के प्रारम्भ मे रखा जा सकता है। उसके सम्बन्ध मे १२८५ ई० के आबू के लेख मे वर्णन है कि

---

५६ साभोली गाँव के निकट सिरोही जिले मे वटनगर है जिसे आजकल वसन्तगढ कहते है

५७ ए० इ०, जि० ४, पृ० ३१-३२, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ६८-१००, रायचौधरी, हिस्ट्री आफ मेवाड, पृ० २८-२६

५८ ए० इ०, जि० ४, पृ० ३१-३२, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, रायचौधरी, हिस्ट्री ऑफ मेवाड, पृ० ३२

उसने कर्नाटक के स्वामी को दण्ड दिया और चौड की स्त्रियो के सौभाग्य को समाप्त किया।[५९] इस उल्लेख की सत्यता इतनी ही हो सकती है कि कालभोज ने कन्नौज के यशोवर्मन को उसके दक्षिण के अभियान मे सहायता पहुँचायी हो या वह स्वय विनयादित्य के विरुद्ध लडा हो, जिसके बारे मे बताया गया है कि उसने उत्तरी भारत की ओर सैनिक अभियान का दावा किया था। उसकी सैनिक योग्यता का परिचय नागदे के लेख से प्रमाणित है। आटपुर के लेख मे कालभोज को सूर्य समान तेजस्वी और आबू लेख मे अपने वश की शाखा मे मुकटमणि के सदृश्य बताया है।[६०]

खुम्माण प्रथम

कालभोज का पुत्र खुम्माण प्रथम मेवाड का शासक हुआ। मेवाड के इतिहास मे खुम्माण नाम सभी शासको के साथ प्रशसात्मक रूप से लगाया जाता था। इस प्रवृत्ति से प्रभावित होकर करनल टॉड ने इसके समय मे बगदाद के खलीफा अलमायूँ के द्वारा चित्तौड आक्रमण का वर्णन किया है और बताया है कि उसने आक्रमणकारियो को परास्त किया।[६१] डा० ओझा ने इस आक्रमण को खुम्माण प्रथम के बजाय खुम्माण द्वितीय के समय माना है।[६२] रायचौधरी ने खुम्माण का समय आठवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे मानते हुए बताया है कि जुन्नीद की फौजो ने जो सिन्ध का अरब अधिकारी था मीरमाड (मरुमाड, जोधपुर और जैसलमेर), मडला (मण्डोर), बरवास (ब्रोच), उज्जीन (उज्जैन), अल मलिवह (मालवा) और जुर्ज (गुर्जर) के भागो पर आक्रमण किया। नवसारी के लेख से भी अरब आक्रमण की ओर सकेत होता है। सम्भव है कि इस आक्रमण के समय खुम्माण ने अरावली श्रेणी मे कही अपनी सीमा सुरक्षा के सम्बन्ध मे ख्याति प्राप्त की हो।[६३]

मेवाड का पराभव काल (मत्तट से महायक के राज्यकाल तक)

खुम्माण प्रथम के बाद मत्तट, भर्तृभट्ट, सिंह, खुम्माण द्वितीय और महायक, मेवाड के क्रमश शासक हुए। इनका इतिहास विशेषत अन्धकार मे है। इन शासको का कोई ख्यातिमान वर्णन भी उपलब्ध नही होता। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके समय मे मेवाड के शासक दक्षिण-पश्चिमी मेवाड के शासक मात्र रह गये थे और उनकी राजधानी नागदा थी। राष्ट्रकूटो की बढती हुई शक्ति और परमारो और

---

५९ भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, न० ८५, श्लो० १५

६० फ्लीट, कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, पृ० ३६८, टॉड राजस्थान, पृ० २८३, रायचौधरी, हिस्ट्री ऑफ मेवाड, पृ० ३१-३२

६१ टॉड राजस्थान, जि० १, पृ० २६७

६२ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ११६

६३ मजूमदार, गुर्जर-प्रतिहार, पृ० २१, अरब आक्रमण, जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, १०, भा० १, रायचौधरी, मेवाड, पृ० ३२

प्रतिहारो के उदीयमान प्रभाव को रोकने के लिए ये असमर्थ थे। यत्र-तत्र शिलालेखो मे उनकी कुछ विजयो का वर्णन है, वह केवल राष्ट्रकूटो तथा प्रतिहारो और परमारो के सहायक रूप मे रहते हुए है। ८१५ ई० के डवोक तथा नासून के ८३० ई० के अभिलेखो से सिद्ध है कि चित्तौड और उसके आसपास के प्रदेश राष्ट्रकूटो के अधीन थे और मेवाड के शासक कुछ समय उनके सामन्तो की हैसियत से रहे।[६४]

मेवाड का पुन शक्ति-सगठन

परन्तु खुम्माण तृतीय (८७७-९२६ ई०) ने मेवाड को इस स्थिति से उभारा। १२७४ ई० के चित्तौड अभिलेख मे खुम्माण तृतीय को उसके अधीन राजाओ का मुकट-मणि और उनसे प्रक्षालित चरण वाला बताया है। १४३९ ई० के सादडी अभिलेख मे उसके द्वारा सुवर्ण तुलादान का उल्लेख है जो उसकी समृद्धि का द्योतक है। कुम्भलगढ प्रशस्ति मे भी उसे अगो, कलिगो, सौराष्ट्रो, तेलगो, द्रविडो और गौडा का विजेता कहा गया है। हो सकता है कि यह अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हो, परन्तु इससे इतना अवश्य स्पष्ट है कि उसने अपने राज्य विस्तार के लिए प्रयत्न किया और मेवाड के अधिकाश भागो को पुन अपने अधिकार मे करने का प्रयत्न किया।

भर्तृभट्ट द्वितीय

खुम्माण के पुत्र भर्तृभट्ट द्वितीय को ९७७ ई० के आटपुर लेख मे तीनो लोको का तिलक बताया है। उसी लेख मे अकित है कि उसने राष्ट्रकूट वश की राणी महालक्ष्मी से विवाह किया। ९४२ ई० के प्रतापगढ के अभिलेख मे उसे महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित किया है। कृष्ण तृतीय के वणन से उसका चित्रकूट लेना प्रमाणित होता है। प्रतापगढ के लेख से हमे सूचना मिलती है कि भर्तृभट्ट द्वितीय ने धोटार्सी गाँव मे (प्रतापगढ से ७ मील पूर्व मे) इन्द्रराजादित्यदेव नामक राजा ने सूर्य-मन्दिर को पलास कूपिका (परासिया मन्दसौर से १५ मील दक्षिण मे) गाँव मे बम्बूलिका खेत भेंट किया। ९४३ ई० के आहड के एक खण्डित लेख मे उसके समय मे आदिवराह पुरुष के द्वारा गगोद्भव तीर्थ मे आदिवराह के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। भर्तृभट्ट का देहान्त ९४३ और ९५१ के बीच किसी समय हुआ।[६५]

अल्लट

भर्तृभट्ट का पुत्र अल्लट, जिसे ख्यातो मे आलुगावल कहा है, १०वी शताब्दी के मध्य भाग के आसपास मेवाड का स्वामी बना। उसके पिता तथा प्रपितामह के

---

६४ चित्तौड का वि० १३३१ का शिलालेख, मजूमदार, गुर्जर-प्रतिहार, पृ० २५, ए० इ०, भा० १८, पृ० १०८

६५ इ० ए०, जि० ३९, पृ० १९१, इ० ए०, जि० १०, पृ० २०, २४, जि० १४, पृ० १८७, राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, १९१३-१४, पृ० २, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १२०-१२२

कार्यो मे उसको अपने समय का शक्तिसम्पन्न तथा सफल शासक बनने मे बडी सहायता मिली। उस समय की राजनीतिक परिस्थिति से भी उसने लाभ उठाया हो ऐसा प्रतीत होता है। राष्ट्रकूट कई स्थानो पर प्रतिहारो को परास्त कर रहे थे। सिंहराज चौहान तथा धग चन्देल भी प्रतिहारो से स्वतन्त्र होने मे सफल थे। अल्लट ने भी बहुत सम्भव है, जैसा कि आहड के एक जैन मन्दिर का देव कुलिका के छवने की शक्तिकुमार के समय की प्रशस्ति से स्पष्ट है, अपने प्रवल शत्रु देवपाल परमार को परास्त किया। इस प्रकार की अल्लट द्वारा परमारो की पराजय मे राष्ट्रकूटो की सहायता का भी बहुत बडा हाथ रहा हो, क्योकि उसकी माता, जैसा कि ऊपर वर्णित किया गया है, राष्ट्रकूटो की कन्या थी। इसी तरह हूण भी इसके इस विजय मे सहयोगी रहे हो क्योकि हूण-परमार सघर्ष से ऐसी मैत्री होना स्वाभाविक था। इस मैत्री का सक्रिय रूप हम अल्लट का विवाह हूण कन्या हरियादेवी मे देखते है।

अल्लट एक सम्पन्न और सफल शासक था जो अल्लट के ६५३ ई० के शिलालेख से प्रमाणिन होता है। इस शिलालेख मे उसके समय मे आहड के वराह मन्दिर की स्थापना तथा उसके प्रवन्ध के लिए गोष्ठिका का निर्माण तथा मन्दिर की व्यवस्था के लिए स्थानीय करो का लगाया जाना उल्लिखित है, जो उस समय की सम्पन्न अवस्था का द्योतक है। उक्त लेख से शासकीय व्यवस्था का भी बोध होता है जिसमे मुख्यमन्त्री, सधिविग्रहिक, अक्षपटलिक, वदिपति, भिषगाधिराज के नाम अकित हैं। इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि उसके समय मे मेवाड व्यापारिक केन्द्र भी वन गया था जहाँ कर्नाटक मध्यदेश, लाट, टक्कदेश (पजाव का एक भाग) आदि से व्यापारी आया-जाया करते थे। वैसे तो आहड २००० ई० पू० के समय से ही अच्छा कस्वा था, परन्तु अल्लट ने इसके महत्त्व को अपने राज्यकाल की सम्पन्नता से अधिक वढा दिया। इसी कारण आघाट के सस्थापको मे उसकी गणना की जाती है।[६६]

नरवाहन

नरवाहन अल्लट की मृत्यु के वाद मेवाड का शासक वना। इसने भी अपने पूर्वजो की भाँति मेवाड राज्य को सुदृढ बनाये रखा। चौहानो के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित रखने के लिए उसने चौहान राजा जेजय की पुत्री से विवाह किया। शक्तिकुमार के समय के आहड के ६७७ ई० के शिलालेख से मालूम होता है कि नरवाहन एक पराक्रमी और योग्य शासक था। प्रशस्तिकार ने उसके सम्वन्ध मे लिखा है कि वह कलाप्रेमी, धीर, विजय का निवास-स्थान और क्षत्रियो का क्षेत्र, शत्रुहन्ता, वैभव का निधि और विद्या की वेदी था।[६७] उसने अपने पिता के समय से चलने वाले शासन-प्रवन्ध को सम्भवत यथाविधि वनाये रखा। उसके समय के एक शिलालेख से, जो

---

[६६] इ० ए०, जि० ३६, पृ० १६१, ओझा, उदयपुर राज्य का इनिहास, भा० १, पृ० १२२-१२४

[६७] इ० ए०, जि० ३६, पृ० १६१

आहड के देवकुलिका के छवते मे लगा हुआ है, प्रतीत होता है कि शामक-वग का पद पैतृक था। अल्लट के समय के अक्षपटलाधीश मयूर के पुत्र श्रीपति को नरवाहन ने अक्षपटलाधीश नियत किया।[६८] नाथो के मन्दिर के शिलालेख मे (९७१ ई०) नरवाहन को शिव का उपासक कहा है।[६९]

मेवाड का ह्रास-काल (९९७-११७४)

नरवाहन के पीछे मेवाड की शक्ति का ह्रास आरम्भ होता है। शालिवाहन के समय मे कई गुहिलवशीय सोलकियो की सेवा मे जाकर रहे जो मेवाड के गुहिलो की शक्ति-क्षीणता का प्रमाण है। इस दौर्बल्य का परिणाम यह हुआ कि शक्तिकुमार के समय मे, जैसा कि अस्तिकुण्डी के शिलालेख (९९७ ई०) से स्पष्ट है कि मुज ने आधाट को तोडा और प्रसिद्ध चित्तौड दुग और उसके आसपास के प्रदेश पर भी अधिकार स्थापित करने मे सफल रहा। मुज के उत्तराधिकारी और छोटे भाई सिंधुराज के पुत्र भोज ने चित्तौड मे रहते हुए त्रिभुवन नारायण के मन्दिर का निर्माण कराया जो मोकलजी के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। कुम्भलगढ की प्रशस्ति के अनुसार नागदे के भोजसर का निर्माण भोज के द्वारा हुआ था और १०२१ ई० मे उसके द्वारा नागदे मे भूमिदान दिया गया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम-अर्द्ध अवधि तक मेवाड का कुछ भाग जिसमे चित्तौड भी सम्मिलित था, परमारो के अधीन बना रहा। फिर ऐसा प्रतीत होता है कि परमारो से चालुक्य सिद्धराज ने चित्तौड पर अधिकार कर लिया जो उसके पीछे उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के अधीन रहा है।[७०]

शक्तिकुमार के बाद अम्बाप्रसाद भी निर्बल शासक था जो चौहान राजा वाक्पतिराज के द्वारा परास्त किया गया और युद्ध मे मारा गया।[७१] इसके बाद लगभग १० शासक ऐसे हुए जो इतने प्रतिभासम्पन्न नही थे जो खोयी हुई मेवाड की शक्ति को पुन स्थापित कर सकें। इस समय की वशावली भी अशुद्ध-सी है। कुछ निश्चित आधार पर इनकी नामावली मे शुचिवर्म, नरवर्म, कीर्तिवर्म, योगराज, वैरट, हसपाल, वैरिसिंह, विजयसिंह, अरिसिंह, चोडसिंह, विक्रमसिंह आदि हैं।[७२] ऐसा प्रतीत होता है कि इनमे से हसपाल ने (भैंराघाट प्रशस्ति ११५५ ई०) अपने निज शौर्य से शत्रुओ के समुदाय को अपने आगे झुकाया[७३] और वैरिसिंह ने परमारो से आहड लेकर उसके

---

[६८] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १२५
[६९] बम्ब० ए० सो० ज०, जि० २२, पृ० १६६-६७
[७०] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १२६-१३४
[७१] पृथ्वीराज विजय, सर्ग० ५, श्लो० ५८-६०, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १३४
[७२] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १३५
[७३] ए० इ०, जि० २, पृ० ११-१२

चारो ओर शहरपनाह और दरवाजे बनाकर अपनी शक्ति को सुदृढ किया।[७४] वैरिसिंह के उत्तराधिकारी विजयसिंह के पालडी और कदमाल के भूमिदान से सकेत मिलता है कि गुहिलो का आहड के आसपास के भागो पर पुन अधिकार हो गया था।[७५] मालवा के उदयादित्य की लडकी से उसने विवाह कर तथा अपनी लडकी अल्हणदेवी का विवाह कलचुरी के शासक के साथ कर उसने अपनी शक्ति को सगठित किया और अपने समर्थको की सख्या को बढाया।[७६]

विजयसिंह के पीछे अरिसिंह, चोडसिंह और विक्रमसिंह हुए जिनके विषय मे हमे बहुत कम जानकारी है। विक्रमसिंह के पीछे उसका पुत्र रणसिंह मेवाड का शासक हुआ जिससे रावल और राणा शाखाएँ फटी। रावल शाखा वाले मेवाड के शासक रहे जिनका अन्त अलाउद्दीन की चित्तौड विजय से हुआ और तब तक राणा शाखा वाले, जो सीसोदे के जागीरदार थे मेवाड के शासक बनते गये। रणसिंह ने, जिसे कर्णसिंह भी कहते हैं, आहोर के पर्वत पर किला बनवाया। उसके बाद क्षेमसिंह मेवाड का शासक बना जिसके सामन्तसिंह और कुमारसिंह दो लडके थे। सामन्तसिंह ने ११७४ ई० के आसपास गुजरात के शासक, सम्भवत अजयपाल से युद्ध किया और मेवाड का बहुत-सा भाग अपने अधिकार मे कर लिया। परन्तु सामन्तसिंह अपने पैतृक राज्य को अधिक समय अपने अधिकार मे नही रख सका। चौहान कीतू ने उसे मेवाड से निकाल दिया, तब उसे ११७८ ई० के लगभग वागड मे जाकर अपना नया राज्य स्थापित करना पडा। वटपद्रक (वडौदा) उसके राज्य की राजधानी थी। १२८५ ई० के समरसिंह के लेख से प्रमाणित होता है कि उसने मेवाड के सामन्तो की जागीरें छीन ली थी। सम्भवत सामन्तो को अप्रसन्न करने के कारण वह उनसे कोई सहायता प्राप्त नही कर सका हो और उसे अपने पैतृक राज्य से हाथ धोना पडा हो। सामन्तसिंह का विवाह अजमेर के चौहान शासक पृथ्वीराज द्वितीय की बहन पृथा बाई से होना पाया जाता है। कीतू और पृथ्वीराज द्वितीय मे अनबन रही जिससे सामन्तसिंह को कीतू के कोप का भाजन बनना पडा हो तो कोई आश्चर्य नही।[७७]

सामन्तसिंह के भाई मथनसिंह ने फिर से अपने वश-परम्परागत राज्य को चौहान कीतू से छीना और उसे अपने अधिकार मे किया। उसके उत्तराधिकारी मथनसिंह और पद्मसिह ने फिर से मेवाड की व्यवस्था स्थापित की। उसने टाटेड जाति के उद्धरण को, जो दुष्टो को शिक्षा देने और शिष्टो का रक्षण करने मे कुशल था,

---

[७४] कुम्भलगढ प्रशस्ति, श्लो० १४५

[७५] राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, १९१५-१६, पृ० ३, लेख स० १

[७६] ए० इ०, जि० २, पृ० १२

[७७] कुम्भलगढ प्रशस्ति, श्लो० १४९-१५०, ए० इ०, जि० ८, पृ० २११, जि० १६, ३४९, नैणसी की ख्यात, पत्र ४२, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १ ,पृ० १४४-१५४

नागदा नगर का तलारक्ष नियुक्त किया। मथनसिंह के उत्तराधिकारी पद्मसिंह ने भी इसी उद्धरण के बडे पुत्र योगराज को नागदे का तलारक्ष बनाया।[७८]

इस प्रकार गुहिलो ने १३वीं सदी के प्रारम्भिक काल तक, मेवाड मे कई उथल-पुथल होने पर भी, अपने कुल परम्परागत राज्य को बनाये रखा। कभी उनके हाथ से चित्तौड, कभी आहड और कभी नागदा भी निकलते रहे, परन्तु फिर भी उन्होने हिम्मत न हारी और धीरे-धीरे एक-एक भाग को वे अपने अधीन करते रहे। ऐसी स्थिति बनने मे सोलकियो, परमारो और चौहानो की निर्बलता भी एक बहुत बडा कारण थी। केवल चित्तौड इनके अधिकार मे पूरी तौर से न आ सका जिसको विजय करने का श्रेय पद्मसिंह के पुत्र जैत्रसिंह[७९] को है जिसका वर्णन हम यथास्थान करेंगे।

---

[७८] चीरवे का शिलालेख, श्लो० ९-१२, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, १५४-५५

[७९] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २४०

अध्याय ५

प्रतिहारो का अधिवासन, अभ्युदय तथा ह्रास

(७वी सदी से १२वी सदी तक)

गुहिलो की भाँति प्रतिहारो का अधिवासन काल भी वडा प्राचीन है। ये प्रारम्भ मे कहाँ वसे थे यह तो कहना वडा कठिन है, परन्तु इनके सम्वन्ध के उल्लेख अधिकाश रूप से राजस्थान मे मिलते हैं जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होने अपने राज्य की स्थापना सर्वप्रथम राजस्थान मे की हो। जोधपुर के शिलालेखो से प्रमाणित होता है कि प्रतिहारो का अधिवासन मारवाड मे लगभग छठी शताव्दी के द्वितीय चरण मे हो चुका था। चूंकि उस समय राजस्थान नाम के राज्य या प्रान्त की कोई इकाई विद्यमान नही थी, राजस्थान का भाग गुर्जरत्रा कहलाता था। इसीलिए चीनी यात्री युवानच्याग ने गुर्जर राज्य की राजधानी का नाम 'पीलो मोलो', भीनमाल या वाडमेर वताया है। चूंकि प्रतिहारो का उल्लेख गुर्जर शव्द या गुर्जरत्रा अथवा गुर्जरेश्वर के सम्वन्ध मे प्राचीन आधारो मे मिलता है, इनको गुर्जर-प्रतिहार कहते हैं। जहाँ-जहाँ उत्तरोतर प्रतिहार सामन्त के रूप मे या स्वतन्त्र शासक के रूप मे लगभग ७वी शताव्दी से १४वी शताब्दी तक पाये गये इनके लिए प्रतिहार शव्द का प्रयोग न कर गुर्जर-प्रतिहार ही कहा जाने लगा। इनके अधिवासन के स्थानो और अभ्युदय के वर्णन के पहले हम गुर्जर-प्रतिहार शव्द की व्युत्पत्ति पर विचार करें और देखें कि इनकी प्रसिद्धि गुर्जर-प्रतिहार के रूप मे कैसे हुई।[1]

गुर्जर-प्रतिहार नाम और उसकी व्युत्पत्ति

प्रतिहारो को अरव, राष्ट्रकूट तथा पाल वश के राज्यो के सम्पर्क मे आने के अनेक अवसर आये। ऐसे सम्वन्ध को व्यक्त करने वाले लेखो मे प्रतिहारो को गुर्जर-प्रतिहार कहा गया है। प्रतिहारो का उल्लेख करते हुए नीलगुण्ड, राधनपुर, देवली तथा करहाड के शिलालेखो मे इन्हे गुर्जर सम्वोधित किया गया है। पम्पा के विक्रमार्जुन-विजय मे प्रतिहार महीपाल को गुर्जरराज कहा है। भोज प्रथम, जिसे वगाल के देवपाल ने परास्त किया था, गुर्जर था। अरव यात्रियो ने इन गुर्जरो को 'जुर्ज' लिखा

[1] दि क्लासिकल एज, पृ० ६४-६६, १५३-५४

है जो गुर्जर शब्द का एक विकृत रूप है। चन्देलो के शिलालेखो मे भी गुर्जर-प्रतिहारो के सकेत मिलते हैं।[२]

गुर्जर शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध मे विद्वानो के विभिन्न मत हैं। भगवानलाल इन्द्रजी ने अपने गुजरात देश के प्राचीन इतिहास मे गुर्जरो को गूजर माना और यह धारणा बनायी कि वे सम्भवत पश्चिमोत्तर मार्ग से वाहरी प्रदेश से कुशाणवशीय राजा कनिष्क के समय मे यहाँ आये हो। गुप्ताओ के समय मे ये राजपूताना, गुजरात और मालवा मे उनके सामन्तो के रूप में रहे हो। सातवी शताब्दी मे चीनी यात्री युवानच्याग ने भीनमाल को गुर्जर राज्य की राजधानी लिखा है जिससे प्रमाणित है कि तब तक ये स्वतन्त्र शासक वन गये थे। गुजरात मे रहने के कारण ये शासक गूजर कहलाये। इस मत की पुष्टि मे इन्द्रजी लिखते हैं कि देश विशेष के नाम से केवल गूजर राजपूत ही नही बल्कि गूजर बनिये, गूजर सुथार, गूजर सोनी, गूजर कुम्हार, गूजर सिलावट कहलाते है।[३]

मिस्टर जैक्सन ने बम्बई गजेटियर मे गुर्जरो को विदेशी माना है और उनका गुजरात मे बसना लिखा है।[४] भण्डारकर ने भी गुर्जरो को जाति विशेष के रूप मे स्वीकार किया है।[५]

डा० ओझा हर्षचरित्र, पम्पाभारत आदि ग्रन्थो मे आने वाले 'गुर्जरेश्वर' और 'गुर्जर' शब्दो का अर्थ देश विशेष से लेते हैं। उनका कहना है कि गुर्जर जाति का कनिष्क के समय मे यहाँ आना और गुप्ताओ के समय मे उनका सामन्त रहना प्रमाण-शून्य है। युवानच्याग का गुर्जर से अभिप्राय, उनकी मान्यता है कि, जाति से न होकर देश से है।[६]

वास्तव में गुर्जरेश्वर या गुर्जर शब्द प्राचीन लेखो मे मिलते हैं। वहाँ प्रसग और प्रयोग से उनका अर्थ किया जाना चाहिए। आहोल, नवसारी आदि शिलालेखो मे जहाँ 'गुर्जरेश्वर' या 'गुर्जर' आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है उसका अर्थ गुर्जर देश के राजा या गुर्जर जाति के राजा दोनो तरह से हो सकता है। परन्तु उद्योतन सूरि द्वारा ७७८ ई० के लिखे गये कुवलयमाला मे जहाँ लाटो, सैधवो, मालवो तथा गुर्जरो का प्रयोग किया गया है। वह जाति विशेष का सूचक ही है। इसी तरह स्कन्ध-पुराण मे पचद्रविडो के वर्णन मे गुर्जरो का नामोल्लेखन देश विशेप से ही है। यशस्तिलक चम्पू मे, जिसे सोमदेव ने ९५९ ई० मे लिखा था, गुर्जर सेना का उल्लेख

---

२ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १३, पृ० १५७-६६, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० १०८

३ बम्बई गजेटियर, जि० १, भा० १, पृ० २-५

४ वही, पृ० ४६५-४६९

५ बम्बई एशियाटिक सोसाइटी जरनल, १९०५ (विशेष अक), पृ० ४१३-३९

६ ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १७६-१७८

प्रान्तीय सेना से है। प्राचीन लेखो के सन्दर्भ से यह ठीक ही दिखायी देता है कि गुर्जर शब्द का प्रयोग प्राय देश से ही है। चूंकि प्रतिहारो का प्रारम्भिक शासन गुजरात से सम्बन्धित है, अत उन्हे गुर्जर-प्रतिहार कहते है।[७]

जैसे गुर्जर शब्द की व्युत्पत्ति का सम्बन्ध देश विशेष से या जाति विशेष से है प्रतिहार शब्द का सम्बन्ध उस तरह से नही है। न इस शब्द का सम्बन्ध गुहिल, चहमान, चौलुक्य आदि की भाँति किसी वश प्रवर्तक से ही है। इनके विपरीत प्रतिहार शब्द राज्याधिकार के पद से बना हुआ है। इस पद से उस व्यक्ति का बोध होता था जो राजा के बैठने के स्थान या रहने के महल के द्वार पर रक्षक के रूप मे सेवा करे। यह शब्द जाति का सूचक नही, किन्तु पद का सूचक है। इसीलिए प्राचीन शिलालेखो मे ब्राह्मण प्रतिहार, क्षत्रिय प्रतिहार, गुर्जर प्रतिहारो का प्रयोग मिलता है।[८] जहाँ नागभट्ट को राम का प्रतिहार और विशुद्ध क्षत्रिय बताया है वहाँ जोधपुर प्रशस्तिकार ने एक प्रतिहार शाखा को ब्राह्मण से चलने वाली अंकित किया है।[९] विद्ध शालमञ्जिका मे कवि राजशेखर ने अपने शिष्य महेन्द्रपाल प्रतिहार को रघुकुल तिलक अर्थात सूर्यवशी क्षत्रिय बताया है।[१०] हर्षनाथ के ९७३ ई० की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि उत्तरी भारत मे प्रतिहारो का उस समय प्रबल राज्य था जिसमे चौहान राजा सिंहराज इनके सामन्त थे।[११] नैणसी ने प्रतिहारो की २६ शाखाओ का वर्णन किया है जो राजस्थान के विभिन्न भागों मे मिलती हैं।[१२] इनके राज्य मे राजपूताना का अधिकाश भाग ही नही था वरन् गुजरात, काठियावाड, मध्यभारत एव सतलज से लगाकर बिहार तक के भाग सम्मिलित थे।[१३] इनमे मण्डोर, जालौर, राजोगढ, कन्नौज, उज्जैन और भडौंच के प्रतिहार बडे प्रसिद्ध है।

मण्डोर के प्रतिहार

मण्डोर के प्रतिहारो के सम्बन्ध मे हमे जानकारी कुछ शिलालेखो से होती है। इनमे एक ८३६ ई० का जोधपुर का शिलालेख है और दो ८३७ ई० और ८६१ ई० के घटियाले के शिलालेख हैं।[१४] इन लेखो से पाया जाता है

[७] एनाल्स ऑफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द १८, पृ० १३७, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ११०

[८] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १६५

[९] ज० रा० ए० सो० इ०, स० १८९४, पृ० ४-९, १८९५, पृ० ५१६-१८, ए० इ०, जि० ९, पृ० २७९-८०, बैजनाथ पुरी, दि गुर्जर-प्रतिहार, पृ० २०-३४

[१०] विद्धशाल मजिका, १, ६, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० १११

[११] ए० इ०, जि० २, पृ० २२१-२२

[१२] नैणसी की ख्यात, जि० १, पृ० २२१-२२

[१३] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १७१

[१४] ज० रो० ए० सो०, १८९४, ४-९ ज० रो० ए० सो०, १८९५, पृ० ५१६-१८

कि हरिश्चन्द्र नामक एक ब्राह्मण जिसे रोहिलद्धि भी कहते थे, वेद और शास्त्रो के अर्थ जानने मे निपुण था। वह प्रतिहारो का गुरु भी था। इसके एक स्त्री ब्राह्मणी थी और दूसरी राणी भद्रा क्षत्रिय कुल की थी। क्षत्रिय राणी से विवाह होने से सम्भव हो सकता है कि हरिश्चन्द्र प्रारम्भ मे प्रतिहारो का सामन्त भी रहा हो। ब्राह्मण स्त्री से, जिसका नाम अज्ञात है, ब्राह्मण प्रतिहार कहलाये और भद्रा की सन्तान क्षत्रिय परिहार हुए। भद्रा से उसके चार पुत्र हुए जो भोगभट्ट, कक्क, रज्जिल और दह नाम से विख्यात हैं। इन चारो ने मिलकर माण्डव्यपुर (मण्डोर) को जीता और उसके चारो ओर प्राकार बनवाया। वैसे रज्जिल तीसरा पुत्र था फिर भी मण्डोर की वशावली इससे प्रारम्भ होती है। हरिश्चन्द्र का समय छठी शताब्दी के आसपास होता है।[१५] इसी शाखा का नागभट्ट प्रथम जो रज्जिल का पोता था, बडा प्रतापी शासक था। जब उसने देखा कि मण्डोर मे प्रतिहारो की स्थिति सुदृढ हो गयी है तो उसने अपनी राजधानी को वहाँ से बदलकर मेडता स्थापित की जो मण्डोर से ६० मील से भी अधिक दूरी पर है। इस परिवर्तन से स्पष्ट है कि शासकीय सुविधा के लिए उसे ऐसा करना पडा था। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि तब तक प्रतिहारो का राज्य भी विस्तृत हो चुका था जिसके लिए मेडता अपनी केन्द्रीय स्थिति के लिए अधिक उपयुक्त हो सके। परन्तु इससे मण्डोर का महत्त्व कम नही हुआ था, क्योकि इसका पुत्र तात जीवन को क्षणभगुर समझ मण्डोर के पवित्र आश्रम मे जाकर धर्माचरण मे लग गया, जहाँ प्राकृतिक नदियो और नालो से चारो ओर का वातावरण शान्त था।[१६]

इस वश के दसवें शासक शीलुक ने वल्ल देश मे अपनी सीमा को बढाया और वल्ल मण्डल के शासक भाटी देवराज को युद्ध मे पछाडकर उसके छत्र का स्वामी बना।[१७] इसके तीसरे वशज कक को विहार के गौडो के साथ युद्ध करने का श्रेय मिला था। वह स्वय व्याकरण, ज्योतिष तर्क और विविध भाषाओ का ज्ञाता था और निपुण कवि भी था। उसकी भट्टि (भाटी) वश की महाराणी पद्मिनी से बाउक और दूसरी राणी दुर्लभदेवी से कक्कुक नाम के पुत्र हुए।[१८]

कक्क का पुत्र बाउक हुआ जो अपने शत्रु नन्दवल्ल को मारकर भूअकूप मे आ गया। इसके पश्चात जब निज पक्ष मे लडने वाले- द्विजनृपकुल के प्रतिहार, उसका मन्त्री और उसका भाई रणस्थल से भाग निकले तो बाउक ने साहस और शौर्य से अपने शत्रु राजा मयूर और उसके सैनिको का सहार किया। यह वही बाउक है

---

१५ बैजनाथ पुरी, दि गुर्जर-प्रतिहार, पृ० २३-२४

१६ घटियाला शिलालेख, श्लो० १५, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १६७-१६८

१७ वही, श्लो० १८-१९, ज० रो० ए० सो० इ०, स० १८९४, पृ० ६

१८ ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १६९

जिसने ८३७ की प्रशस्ति[१९] मे अपने वश का वर्णन अकित कराकर मण्डोर के एक विष्णु मन्दिर मे लगवाया था। वहाँ से हटाकर पीछे मे किसी ने इस शिलालेख को जोधपुर शहर के कोट मे लगा दिया।[२०]

उसके वाद उसका भाई कक्कुक मण्डोर के प्रतिहारो का नेता वना। उसने वि० स० ९१८ (८६१ ई०) मे दो शिलालेख उत्कीर्ण करवाये जो घटियाले के लेख के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन शिलालेखो से इसके पूर्वजो तथा उसके वारे मे हमे कुछ सूचना मिलती है। इनके अनुसार कक्कुक ने अपने सच्चरित्र के मरु, माड (जैसलमेर), वल्ल, तमणी (त्रवणी-मलानी), अज्ज (मध्यदेश) एव गुर्ज्जरत्रा के निवासियो का अनुराग अर्जित किया। हो सकता है कि ये उल्लेख उसकी विजय के धोतक न हो पर इनसे यह तो प्रमाणित है कि उपर्युक्त वर्णित भागो मे उसका राजनीतिक प्रभाव अवश्य स्थापित हो गया था। उसने वडणायण मण्डल के पर्वतीय भाग के भीलो की वस्तियो को जलाकर शान्ति स्थापित की। उसने रोहिंसकूप अर्थात घटियाले के निकट के गाँवो में वाजार वनाकर महाजनो को वसाया तथा व्यापार की वृद्धि की। उसके द्वारा घटियाला और मण्डोर मे जयस्तम्भ भी स्थापित किये गये थे। इन शिलालेखो से उसकी न्याय प्रियता तथा प्रजापालक होने के गुण स्पष्ट होते है। वह स्वय विद्वान था और विद्वानो को आश्रय देता था। इन शिलालेखो मे से एक शिलालेख का अन्तिम श्लोक स्वय कक्कुक ने रचा था जिससे उसकी विद्वता प्रमाणित होती है।[२१]

कुछ शिलालेखो से हरिश्चन्द्र के पिछले वशजो की स्थिति का अनुमान होता है, परन्तु उसका शृखलाबद्ध इतिहास उपलब्ध नही होता। एक लेख ९३६ ई० का जोधपुर राज्य के चेराई गाँव से उपलब्ध हुआ है जिसमे प्रतिहार दुर्लभराज के पुत्र जसकरण का उल्लेख है। इसी तरह ११४५ ई० का सहजपाल चौहान का एक लेख मण्डोर मे मिला। इससे मालूम होता है कि मण्डोर मे परिहारो के स्थान मे, १२वी शताब्दी के मध्यकाल तक, चौहानो का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। इस समय से ऐसा प्रतीत होता है कि मण्डोर से सम्वन्धित कई प्रतिहार वश छोटे-मोटे सामन्त के रूप मे जोधपुर के आसपास रहने लगे। मण्डोर का गढ इन्दा शाखा के परिहारो ने परिहार हम्मीर से तग आकर राववीरम के पुत्र राठौड चूडा को १३९५ मे दहेज में दिया। इस घटना के साथ परिहारो के राजनीतिक विस्तार का इतिहास समाप्त हो गया।[२२]

---

[१९] ज० रो० ए० सो०, १८९४, पृ० ७–८

[२०] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १६६

[२१] ए० इ०, जि० ९, पृ० २८०, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १७०, पुरी, दि गुर्जर-प्रतिहार, पृ० २१

[२२] आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एन्युअल रिपोर्ट, १९०९-१०, पृ० १०२-३

मण्डोर शाखा के प्रतिहारो का राज्य-विस्तार अनुमानत जोधपुर से ४० मील उत्तर-पश्चिम और ६० मील के लगभग उत्तर-पूर्व मे चारो ओर फैला हुआ था। ये शासक अपने क्षेत्र मे लम्बे समय तक स्वतन्त्र थे जैसा कि उनके तथा उनकी रानियो के विरुदो से स्पष्ट है। भद्र और जानकी देवी के लिए 'राज्ञि' शब्द का, कक्क की रानी के लिए 'महाराज्ञि', नागभट्ट तथा तात के राज्य-केन्द्र के लिए 'राजधानी' और उनके पुत्रो के लिए 'भूधर', 'भूपति' शब्द के प्रयोग उनके राजनीतिक महत्त्व के द्योतक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मण्डोर के गुर्जर-प्रतिहारो का राज्य-विस्तार काठियावाड तक चला गया था और राजस्थान के बचे हुए और कुछ भाग कन्नौज के या मालवा तथा गुजरात के प्रतिहारो के तत्त्वाधान मे थे।[२३]

भडौंच के गुर्जर-प्रतिहार

मण्डोर के प्रतिहार वश से भडौंच के गुर्जर-प्रतिहारो का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। ऐसी मान्यता है कि हरिश्चन्द्र का भाई या पुत्र दद्द प्रथम मण्डोर से दक्षिण की ओर नयी राज्य-व्यवस्था प्राप्त करने के अभिप्राय से निकल पडा। उसको और उसके वशजो को कुछ समय कलचुरियो और पीछे से चालुक्यो के तत्त्वावधान मे रहना पडा हो।[२४] यह भी सम्भव है, जैसा ओझाजी की मान्यता है कि भीनमाल के गुर्जरो का राज्य ही भडौंच तक फैल गया हो और भीनमाल का राज्य उनके हाथ से निकल जाने पर भी भडौंच के राज्य पर उनका या उनके कुटुम्बियो का अधिकार बना रहा हो।[२५] किसी भी स्थिति मे या तो मण्डोर से अलग होकर या भीनमाल से अलग होकर, इस गुर्जर-प्रतिहार शाखा ने गुर्जर राज्य की सस्थापना की हो। इस गुर्जर-प्रतिहार शाखा के ६२९ ई० से ६४१ ई० के कुछ दानपत्र मिले हैं जिन्हें नान्दीपुरी से दिया गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि नान्दीपुरी इस प्रतिहार वशियो की राजधानी रहा हो। परन्तु इनमे इन शाखाओ के लिए सामन्त या महा-सामन्त शब्दो का प्रयोग मिलता है जिससे यह प्रमाणित होता है कि इस शाखा के गुर्जर-प्रतिहार कभी सार्वभौम सत्ता के रूप मे नही रहे। इनको राजनीतिक अधीनता या तो मण्डोर के प्रतिहारो या चालुक्यो की माननी पडी हो तो कोई आश्चर्य नही। इनके राज्य-विस्तार की सीमा उत्तर मे माही से लेकर दक्षिण मे कीम तक और पूर्व मे मालवा और खानदेश की सीमाओ से पश्चिम मे समुद्रतट तक थी। जयभट्ट चतुर्थ इस वश का अन्तिम शासक प्रतीत होता है जिसका ज्ञात समय ७३५ ई० है। ऐसा प्रतीत होता है कि अवन्ति के प्रतिहारो ने इस राजवश को नान्दीपुरी से निकाल दिया और इस घटना से इसका अन्त हो गया।[२६]

---

२३ वैजनाथपुरी, दि गुर्जर-प्रतिहार, पृ० २७
२४ वही, पृ० ३१
२५ ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १४९-५०
२६ क्लासिकल एज, भाग ३, पृ० ६६, १५७

गुर्जर-प्रतिहार—जालौर, उज्जैन और कन्नौज

इस शाखा के प्रतिहारो का भी उद्भव स्थान मण्डोर ही प्रतीत होता है, क्योकि हरिश्चन्द्र की भाँति शिलालेखो[२७] मे इस वश के प्रवर्तक नागभट्ट को राम का प्रतिहार, मेघनाद के युद्ध का अवरोधक, इन्द्र के गर्व का नाशक, नारायण की मूर्ति का प्रतीक आदि विशेषताओ से विभूषित किया है। अन्तर एकमात्र यह है कि हरिश्चन्द्र को ब्राह्मण कहा गया है तो नागभट्ट को क्षत्रिय। इसीलिए इस शाखा को रघुवशी प्रतिहार भी कहते है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रतिहारो ने चावडो से सर्वप्रथम भीनमाल का राज्य छीना, तदनन्तर आबू, जालौर आदि स्थानो पर उनका अधिकार रहा और फिर उज्जैन उनकी राजधानी रही। इन्होने आगे चलकर कन्नौज के महाराज्य को अपने अधिकार मे किया और वहाँ अपनी राजधानी स्थापित की।[२८] राजधानियो के सम्बन्ध मे बडे मतभेद हैं। कुवलयमाला तथा अन्य ऐतिहासिक साधनो के आधार पर डा० दशरथ शर्मा[२९] नागभट्ट के गुर्जर-प्रतिहारो की राजधानी जालौर मानते हैं और दूसरे मत उज्जैन और कन्नौज।[३०] वास्तविकता यह है कि गुर्जर-प्रतिहार जिनका उद्भव मण्डोर से था, हरिश्चन्द्र के समय से ही उसके वशज राजस्थान, गुजरात, मालवा, कन्नौज आदि पडौसी प्रान्तो मे जा बसे और जब-जब उन्हे सुविधा हुई इधर-उधर राज्य-स्थापना मे लग गये। जितने समय एक स्थान मे बने रहे तब तक वह स्थान राजधानी के रूप मे चलता रहा। उदाहरण के लिए, रणहस्ती वत्सराज कुवलयमाला के अनुसार जालौर का शासक था तो नागभट्ट का पोता वही वत्सराज 'अवनी-भूभृत' जैन हरिवश से प्रमाणित होता है। इन विभिन्न शासको के एक ही प्रकार के नाम और उनके समय मे विशेष अन्तर नही होना भी इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। वैसे इन प्रतिहारो का उद्भव स्थान मण्डोर होते हुए भी इस वश का राजकीय परिवार, जिनके समान नाम थे, विभिन्न स्थानो मे शासक और सामन्त के रूप मे बना रहा हो जिसको लेकर विभिन्न मतो का बनना स्वाभाविक हो गया।

जालौर-अवन्ति-कन्नौजी प्रतिहारो की नामावलि नागभट्ट से आरम्भ होती है। इस वश के प्रवर्तक नागभट्ट को नागावलोक भी कहते हैं। चौहान राजा भर्तृभट्ट दूसरे के हासोट के ७५६ ई० के ताम्रपत्र से पाया जाता है कि भर्तृभट्ट दूसरा नागावलोक का सामन्त था। यदि यह धारणा ठीक है तो उसका राज्य उत्तर मे मारवाड से लगाकर दक्षिण मे भडौंच की सीमा तक प्रसारित था, जिसमे लाट, जालौर, आबू और मालवा के कुछ भाग सम्मिलित थे। उसके समय मे सिन्ध की ओर से बिलोचो

[२७] ए० इ०, भा० १७, पृ० ९९, भा० १२, पृ० २०२, इ० ए०, भा० १५, पृ० १४१

[२८] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १७२

[२९] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० १२१

[३०] पुरी, गुर्जर-प्रतिहार, पृ० ३४-३६

ने आक्रमण किया और अरबो ने अरब से। नागभट्ट ने इन्हे अपनी सीमा मे नही घुसने दिया जिससे उसकी ख्याति बहुत बढी। उसकी ग्वालियर प्रशस्ति की 'नारायण' की उपाधि म्लेच्छो के दमन की और दीनो के उद्धारक की द्योतक है।[३१]

इस वश का चौथा शासक वत्सराज भी बडा प्रभावशाली था। उसने अपने पराक्रम से गौड और बगाल के शासको को पराजित किया। इसके प्रभाव का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि मण्डोर का प्रतिहार कक्क भी उसके साथ सामन्त के रूप मे उसका सहयोगी था। वत्सराज ने जो विजयी होने की ख्याति प्राप्त की थी उसको राष्ट्रकूट ध्रुवराज ने उसे परास्त कर समाप्त कर दी। उसने गौड राज्य से जो श्वेत छत्र छीना था, वह तथा अतुल विजय से प्राप्त सम्पत्ति उसके हाथ से निकल गये। परन्तु उसने कन्नौज के इन्द्रायुध को परास्त कर तथा भाण्डियो को हराकर अपनी शक्ति का सन्तुलन बनाये रखा। वह कुछ समय ही इन्द्रायुध को कन्नौज मे अपने अधीन सामन्त रख सका, क्योकि धर्मपाल ने उसके स्थान पर अपने व्यक्ति चक्रायुध को वहाँ स्थानापन्न किया था। इस परिस्थिति से वत्सराज राजस्थानी भागो का ही शासक रह गया। उसके समय मे ७७८ ई० मे लिखी गयी कुवलयमाला, जो जालौर मे लिखी गयी थी तथा ७८३ ई० मे जैन आचार्य जिनसेन द्वारा लिखा गया हरिवश पुराण, अपने ढग के अच्छे ग्रन्थ हैं जो उस समय की राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। इनके द्वारा वत्सराज का विद्यानुराग तथा शैव होना भी प्रमाणित होता है। अन्य भारतीय घटना-चक्रो के अध्ययन से अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी मृत्यु ७९४ ई० के लगभग हुई होगी।[३२]

वत्सराज की रानी सुन्दरदेवी से नागभट्ट द्वितीय का जन्म हुआ था जिसे भी नागावलोक कहते थे। उसके जीवन तथा शासनकाल का वर्णन ग्वालियर प्रशस्ति तथा अन्य काव्य-ग्रन्थो से उपलब्ध है। इनके आधार से विदित है कि उसने चक्रायुध को परास्त कर कन्नौज मे अपनी राजधानी स्थापित की। परन्तु राजस्थानी भाग उसके अधिकार मे यथाविधि बने रहे जैसा कि उसके कई दानपत्रो से प्रमाणित होता है। डीडवाना और कालिजरा-मण्डल के भूमिदान के द्वारा उसने स्थानीय लोगो को सन्तुष्ट किया और कई यज्ञो के द्वारा धर्म के महत्त्व की प्रतिष्ठा को बढाया। वह भगवती देवी की भक्ति के लिए भी बडा प्रसिद्ध था। उसने ग्वालियर प्रशस्ति के

---

[३१] ग्वालियर प्रशस्ति, श्लो० ४, आर्कियो० सर्वे० ई०, १९०३-४, पृ० २८०, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० १२२

[३२] ग्वालियर प्रशस्ति, आ० स० ऑफ इ०, १९०३-४, पृ० २८०, बम्बई गजेटियर, जि० १, भा० २, पृ० १९७, टि० २, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १७९-८०, पुरी, दि गुर्जर-प्रतिहार, पृ० ३९-४२, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० १२४-१३४

अनुसार आन्ध्र, आनर्त, मालव, किरात, तुरुष्क, वत्स और मत्स्य आदि देशो के पहाडी किलो को लेकर अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ वनाया। हो सकता है कि इनमे से कुछ एक देशो को प्रशस्तिकार ने औपचारिक रूप से ही अकित कर दिया हो, परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि गुर्जर-प्रतिहारो की प्रतिष्ठा आगे वढाने से तथा अरवो से मुकावला करने से उसने विशेष प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी। चन्द्रप्रभ सूरि द्वारा रचित 'प्रभावक चरित्र' से हमे ज्ञात होता है कि नागभट्ट द्वितीय का स्वर्गवास २३ अगस्त, ८३३ ई० मे हुआ था। नागभट्ट अपनी वीरता, नेतृत्व, शौर्य और पराक्रम के लिए वडा प्रसिद्ध था। उसने कन्नौज को पूर्ववर्ती शासको की भाँति विद्योन्नति का केन्द्र वनाने मे वडी सफलता प्राप्त की थी, जहाँ अनेक कवि और विद्वान उसका आश्रय प्राप्त करते थे।[३३]

नागभट्ट के वाद रामभद्र और भोजदेव इस वश के शासक थे। भोजदेव के ८४३ से ८८१ ई० के वीच के कई शिलालेख मिले है जिससे उसकी राजनीतिक स्थिति का पता चलता है। उसके समय के चाँदी और ताँवे के सिक्के, जिन पर 'श्रीमदादि-वराह' अकित रहता था, मिले हैं जो उसके पराक्रम और शत्रुओ से राज्य-उद्धार के द्योतक हैं।[३४] इसके उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल के भी ८९३-९०७ ई० के ताम्र-पत्र मिलते हैं जिससे उसके राज्य-विस्तार की सीमा काठियावाड तक प्रमाणित होती है, जिसमे परम्परागत राजस्थान के भाग भी सम्मिलित हैं। उसके गुरु राजशेखर के काव्य मीमासा, कर्पूर मजरी, विद्धशाल भजिका, वालरामायण, वालभारत आदि ग्रन्थो की रचना से महेन्द्रपाल के समय के समाज, शिक्षा-स्तर आदि का वोध होता है।[३५] उसका पुत्र महीपाल भी वडा विजेता रहा है जिसके ९१४ से ९१७ ई० के दानपत्र मिले हैं।[३६] उसके पीछे होने वाले भोज और विनायकपाल के समय से, अर्थात १०००वीं शताब्दी के प्रथम चरण से कन्नौज के प्रतिहारो के राज्य निर्वल होने के चिह्न दृष्टिगोचर होते है। तव से उनके राजस्थानी सामन्त भी स्वतन्त्र वनने के प्रयत्न करने लगते हैं।[३७] तथापि उसके पुत्र महेन्द्रपाल द्वितीय के समय के प्रतापगढ के

---

[३३] प्रभावक चरित, वप्पभट्टि प्रवन्ध, पृ० १७०-१७७, ए०इ०, जि० ६, पृ० १९९-२००, आ० स० ऑफ इण्डिया, १९०३-४, पृ० २८१, श्लो० ८-११, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १८०-८१, पुरी, दि गुर्जर-प्रतिहार, पृ० ४३-४९, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० १३४-१४४

[३४] ए० इ०, जि० १, पृ० १८६-८८, स्मि० कै० का० ई० म्यू०, पृ० २४१-४२, पुरी, दि गुर्जर-प्रतिहार, पृ० ५१-६६, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १८१-८२

[३५] ए० इ०, जि० १, पृ० १७३, ना० प्र० प०, भा० १, पृ० २१२-१५, पुरी, दि गुर्जर-प्रतिहार, पृ० ६६-७३

[३६] ओझा, राजपूताने का इतिहास, भा० १८३

[३७] वही, पृ० १८३

९४६ ई० के लेख से प्रतीत होता है कि घोटार्सी का चौहान उसका सामन्त था। उसके समय मे माडू मे उसके सेनानायक, महादण्डनायक आदि अधिकारी रहते थे।[३८] उसके पीछे देवपाल, जिसका कि ९४८ ई० का शिलालेख मिला है, परमभट्टारक, महाराजाधिराज और परमेश्वर के विरुद से विभूषित था।[३९] परन्तु देवपाल के पोते राज्यपाल के समय मे महमूद गजनवी ने कन्नौज पर चढाई कर उसे अधिक निर्बल बना दिया।[४०] अन्त मे १०९३ ई० के आसपास चन्द्रदेव गहडवाल ने प्रतिहारो से कन्नौज छीनकर इसके अस्तित्व को समाप्त कर दिया, अलबत्ता कन्नौज के आसपास तथा राजस्थान मे कुछ प्रतिहार फिर भी गहडवालो, राठौडो और चौहानो के सामन्त बने रहे।[४१]

राजोगढ के गुर्जर-प्रतिहार

अलवर राज्य के राजोगढ से ९६० ई० के शिलालेख से पाया जाता है कि उस समय राज्यपुर (राजोगढ) पर प्रतिहार गोत्र का गुर्जर महाराजाधिराज सावट का पुत्र, महाराजाधिराज परमेश्वर मथनदेव राज्य करता था और वह कन्नौज के रघुवशी प्रतिहार का सामन्त था। उसके विरुद महाराजाधिराज परमेश्वर से अनुमान होता है कि मथनदेव महीपाल के बडे सामन्तो मे से एक था। उस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय गुर्जर (गूजर) जाति के किसान भी उस भाग मे रहते थे। ढूंढाढ और माचेडी मे भी गुर्जर रहते थे जो बडगूजर कहलाते थे। बहलोल लोदी के समय तक बडगूजरो का राजोगढ मे रहना शिलालेख से प्रमाणित होता है। पीछे से सम्भवत कछवाहो ने उन्हे स्थान-स्थान से निकाल दिया और उनकी जागीरें छीन ली। फीरोजशाह तुगलक के समय मे माचेडी मे गोगादेव बडगूजर का राज्य था। बहलोल लोदी के समय राजपाल्देव का राज्य उसी प्रान्त मे होना शिलालेखो से प्रमाणित होता है।[४२]

गुर्जर-प्रतिहारों के ह्रास के कारण

गुर्जर-प्रतिहारो के राजनीतिक जीवन मे उनका एक उत्थान-काल था जिसमे मण्डोर वश के नागभट्ट, शीलुक, बाजक आदि प्रतिभाशाली शासक हुए। इसी तरह से कन्नौज शाखा के गुर्जर-प्रतिहारो मे नागभट्ट प्रथम, वत्सराज, नागभट्ट द्वितीय, महेन्द्रपाल आदि प्रतिष्ठित शासक हुए जिनके समय मे लगभग सम्पूर्ण राजस्थान, काठियावाड तक की सीमा, कन्नौज, ग्वालियर और मालवा के भाग इनके राजनीतिक

---

[३८] ए० इ०, जि० १४, पृ० १८२-८४

[३९] ए० इ०, जि० १, पृ० १७७

[४०] इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० २, पृ० ४५, ब्रिग्ज-फरिश्ता, जि० १, पृ० ५७-६३

[४१] इ० ए०, जि० १८, पृ० ३४, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १८१-१८६

[४२] ए० इ०, जि० ३, पृ० २६६, राजपूताना म्यूजियम, अजमेर, १९१८-१९, रिपोर्ट पृ० २, ले० स० ६-८, ११, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १४९-१५३

क्षेत्र मे थे। परन्तु १०वी सदी के प्रारम्भ से उन्ही के सामन्त या उन्हीं के राज्य-परिवार के व्यक्तियो ने आपसी फूट के कारण केन्द्रीय शक्ति को निर्बल बना दिया। साथ ही साथ पालो, राष्ट्रकूटो और अरवो से सतत सघर्ष लेने के कारण इनकी सैनिक क्षमता भी उत्तरोत्तर घटती चली गयी। जो सामन्त इनके सहयोगी थे वे अपनी राज्य-सीमा को वढाने मे लग गये जिससे सम्पूर्ण सैनिक-सचालन के ढग मे एक क्षुब्ध वातावरण उपस्थित हो गया। जिस सामन्त के सहयोग की अपेक्षा की जाती थी उसी के विरुद्ध गुर्जर-प्रतिहार के शासक अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाने लगे। ऐसे अवसरो मे वाह्य सैनिक को वैतनिक रखा जाने लगा जिन्हे हार और जीत से कोई मोह न था। वे तो केवल अपने वेतन वसूल करने और स्वार्थ-पूर्ति मे लगे रहते थे। सवसे वडा कारण यह भी था कि प्रतिहारो की निर्वलता का लाभ उठाकर गुहिल, राठौड, चौहान तथा भाटी आदि राजपूत वश अपने-अपने क्षेत्र मे रहकर सगठन करने लगे जो गुर्जर-प्रतिहार शक्ति के लिए घातक सिद्ध हुआ। राजस्थान मे गुर्जर-प्रतिहारो की शक्ति कम होने का एक और महत्त्वपूर्ण कारण था और वह यह था कि वे अव राजस्थान के वाहर रह कर अवन्ति और कन्नौज को अपनी शक्ति का विन्दु मानने लगे जिससे स्वाभाविक था कि उनका ध्यान उन विन्दुओ मे लगे रहने से राजस्थान से हट गया। ज्योही गुर्जर-प्रतिहार 'अनुपस्थित-स्वामी' के रूप मे राजस्थान मे देखे जाने लगे तो इनके आश्रित सामन्तो ने उदीयमान अन्य राजपूत वशो की तरफ अपनी स्वामिभक्ति को मोड दिया। जो गुर्जर-प्रतिहार शासक के रूप मे राजस्थान मे स्वच्छन्द विचरण करते थे वे समय की गति के साथ सामन्त के रूप मे रहने लगे। अन्त मे महमूद गजनवी के सगठित और धर्मान्ध प्रयास ने इनकी विखरी हुई शक्ति की इतिश्री कर दी।

प्रतिहारों की शक्ति का मूल्याकन

परन्तु प्रतिहारो के उत्तरोत्तर ह्रास और गजनवियो से पराजित होने की घटना से क्षुब्ध होकर हमे उनकी सेवाओ की उपेक्षा नही करना चाहिए। जव अरवो के आक्रमणो से दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफीका कुछ ही वर्षो मे अपनी स्वतन्त्रता खो चुका था, भारतवर्ष मे अरव आक्रमणकारियो को प्रतिहारो से पद-पद पर वर्षो तक मुठभेड करनी पडी। प्रतिहार नागभट्ट प्रथम ने म्लेच्छो की वडी सेना का सामना किया और उसे कम से कम राजस्थान मे घुसने से रोका। इस कार्य मे राजस्थान के अन्य राजवशो ने भी उसकी सहायता की। नागभट्ट ने लाट देश से भी अरवो को पीछे धकेला। यह भारतवर्ष को म्लेच्छो के आक्रमण को झेलने का पहला अवसर था जव नागभट्ट ने इस काम को अपने नेतृत्व मे सम्पादित किया। त्रसित वर्ग का उद्धार करने और शत्रु से समाज की रक्षा करने के उपलक्ष मे उसका विरुद ग्वालियर प्रशस्ति में 'नारायण' का अकित है।

प्रतिहारो को कठियावाड से मध्यदेश और कन्नौज से मालवा तक एक वश का राज्य स्थापित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उत्तरी भारत मे मौर्यों, गुप्ताओ

और मौखरियो को छोडकर किसी वश ने एक लम्बे काल तक इस प्रकार का विस्तारित राज्य स्थापित नहीं किया।

युद्ध के साथ प्रतिहारो ने अपने राज्य मे व्यवस्था तथा शान्ति सम्पादन करने मे बडी प्रयत्नशीलता दिखायी थी। इनके समय के शिलालेख, दानपत्र, काव्य-ग्रन्थ जैसे कुवलयमाला, हरिवश, कर्पूर मजरी, विद्धशाल मजिका आदि समृद्ध सस्कृत साहित्य के साक्षी हैं। कवि राजशेखर, कवि पम्पा, जैन आचार्य जिनसेन आदि प्रतिहार कालीन विभूतियाँ थी जिन्होने इस काल को अमर बना दिया है। साथ ही साथ इन्होने विष्णु, शिव और शक्ति के उपासक होने के नाते राजस्थान, गुजरात, कन्नौज और मालवा मे कई मन्दिरो का निर्माण करवाया या उसके निर्माण मे सहयोग प्रदान किया। इनके समय के बने हुए मन्दिरो मे ओसियाँ और कन्नौज के मन्दिर कला की दृष्टि से अनुपम हैं जो आज भी अपने स्थापत्य और कला के विलक्षण नमूने हैं। इनकी जो अभिव्यक्तियाँ रही हैं उनका यथास्थान वर्णन किया जायगा।[४३]

इनकी उपलब्धियो के सम्बन्ध मे डा० दशरथ शर्मा लिखते हैं कि प्रतिहारो ने अपने राज्य का इतना विस्तार किया कि जो किसी प्राचीन भारतीय राज्य की होड कर सकता है। जहाँ तक इनकी राज्य-व्यवस्था का प्रश्न है वह वर्धन साम्राज्य से अधिक व्यवस्थित थी। उन आक्रमण और प्रत्याक्रमण के दिनो मे उन्होने देश को शान्ति प्रदान कर अपने राज्य को सस्कृति का केन्द्र बना दिया, जिसमे उत्तर तथा दक्षिण भागो के कवि तथा विद्वान आश्रय पाते थे। उनके समय मे कला ने भी इतनी उन्नति कर ली थी कि जिसकी तुलना किसी भी सुन्दर कलाकृति से की जा सकती है।

---

[४३] "They carved out also an empire which rivalled in extent the earlier empires of India and were probably better organised than the empire of the Vardhanas They gave the country peace to the extent it was possible in those days of raids and counter-raids and made their empire a great cultural centre, extending their patronage to poets and scholars from every part of India, from the north as well as south A new school of art came into existence the production of which rival in their beauty some of the best art compositions of other periods"

—*Rajasthan Through the Ages*, p 209

अध्याय ६

परमारो का अधिवासन और राज्य-विस्तार

(८वी शताब्दी से १३वी शताब्दी तक)

'परमार' शब्द का अर्थ शत्रु को मारने वाला होता है जिससे इस वश के राजपूतो का नाम अपने क्षत्रियोचित धर्म से सम्बन्धित है। प्रारम्भ मे परमार आवू के आसपास के प्रदेशो मे रहते थे। ज्यो-ज्यो प्रतिहारो की शक्ति का ह्रास होता गया परमारो का राजनीतिक प्रभाव अधिक बढता चला गया। धीरे-धीरे इन्होंने मारवाड, सिन्ध, गुजरात, वागड, मालवा आदि स्थानो मे अपने राज्य स्थापित कर लिये।

आवू के परमार

आवू के परमारो का मूल पुरुष धूमराज के नाम से विख्यात है, परन्तु इनकी वशावली उत्पलराज से आरम्भ होती है। प्रारम्भ मे इस शाखा के शासको को सोलकियो से विशेष रूप से सघर्ष करने पडे, क्योकि दोनो पडोसी थे तथा अपने राज्य-विस्तार के लिए महत्त्वाकाक्षी थे। इस शाखा के चतुर्थ पीढी के राजा धरणीवराह पर सोलकी मूलराज ने, दसवी शताब्दी ईसा के मध्यकाल के बाद, आक्रमण कर दिया। धरणीवराह ने शत्रु से वचने के लिए हथुण्डी के राष्ट्रकूट धवल की शरण ली, जैसा कि धवल के ९९७ के शिलालेख से पाया जाता है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि इस घटना के बाद कभी धरणीवराह का अधिकार फिर से आवू पर हो गया हो, क्योकि उसके पुत्र महीपाल का एक १००२ ई० का दानपत्र आवू पर परमारो के राज्य का साक्षी है। हो सकता है कि सोलकियो ने आवू के परमारो के प्रति अधीन बनाने की नीति का अवलम्बन किया हो, जैसा कि आगे की घटनाओ से स्पष्ट होता है।

महीपाल का पुत्र धधुक कुछ स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति था। उसने गुजरात के सोलकियो की सेवा मे रहने से अस्वीकृति प्रकट की। इस पर भीमदेव क्रुद्ध होकर आवू पर चढ आया। अपनी सुरक्षा के लिए धधुक अपने स्वजन धार के भोज के पास चला गया जो उस समय चित्तौड मे था। आवू की व्यवस्था के लिए भीमदेव ने पोरवाड महाजन विमलशाह को आवू का दण्डपति नियुक्त किया। विमलशाह ने किसी तरह भीमदेव और धधुक मे मेल करवा दिया। जव विमल और धधुक के अच्छे सम्बन्ध

---

[1] ए० इ०, जि० १०, पृ० २१, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १९२

हो गये तो विमलशाह ने आबू पर १०३१ ई० मे आदिनाथ का भव्य मन्दिर करोडो रुपयो की लागत लगाकर बनवाया जिसकी समता का आज कोई अन्य मन्दिर नही है। धधुक की विधवा पुत्री ने भी वसन्तगढ मे सूर्य-मन्दिर और सरस्वती वापी का जीर्णोद्धार करवाकर अपनी धार्मिक रुचि का परिचय दिया।[२]

वैसे तो भीमदेव और धधुक मे विमलशाह के कारण अच्छे सम्बन्ध हो गये थे, परन्तु जब कृष्णदेव १०६० ई० के लगभग अपने दो भाइयो के बाद आबू का शासक बना तो सोलकियो के साथ उसके फिर सम्बन्ध बिगड गये। भीमदेव ने अवसर पाकर उसे कैद करवा दिया, परन्तु नाडौल के चौहान राजा बालाप्रसाद की सहायता से उसे मुक्ति मिली। उसके समय के दो शिलालेख १०६० और १०६६ ई० के भीनमाल से उपलब्ध हुए हैं। इनके द्वारा कृष्णदेव और उसके समय के आसपास होने वाले आबू के परमारो के काल को निर्धारित करने मे बडी सहायता मिलती है।[३]

इसके बाद विक्रमसिंह जो कृष्णदेव का पौत्र था आबू की गद्दी पर बैठा। उसने अर्णोराज और कुमारपाल के बीच मे अजमेर मे होने वाले ११४४ ई० तथा ११५० ई० के युद्धो मे भाग लिया। ११४५ ई० के एक शीलालेख मे विक्रमसिंह को महामण्डलेश्वर कहा है जो उसकी विस्तृत शक्ति का द्योतक है। इन लडाइयो का वर्णन कुछ हेर-फेर के साथ हेमचन्द्र के 'द्वयाश्रय महाकाव्य' तथा 'जिनमण्डनोपाध्याय' के 'कुमारपाल प्रबन्ध' मे मिलता है।[४]

विक्रम का प्रपौत्र धारावर्ष आबू के परमारो मे बडा प्रसिद्ध है। उसके कई शिलालेखो से जो ११६३ से १२१९ ई० तक के प्राप्त हैं, निश्चित है कि उसने लगभग ६० वर्ष राज्य किया हो। इसके समय की सबसे बडी घटना सोलकियो से अच्छा सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य को सुदृढ बनाना था। उसके व्यक्तित्व और नयी नीति का यह प्रभाव पडा कि वह सोलकियो का कृपापात्र और विश्वस्त अधिकारी भी हो गया। इस नयी नीति में वैसे तो अपने राज्य की प्रतिष्ठा बढाना हो सकता है, परन्तु उसमे एक दूरदर्शिता और देश के हित की चिन्ता भी थी। ताज-उल-मआसिर से पाया जाता है कि जब ई० स० ११९६ मे कुतुबुद्दीन ने अन्हिलवाडा पर चढाई की और कायद्रा गाँव मे (आबू के पास) लडाई हुई तो धारावर्ष गुजरात की सेना के दो

---

[२] राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, अजमेर, १९३२, पृ० २-३, विमलशाह के मन्दिर का शिलालेख, वि० स० १३७८, जिनप्रभ सूरि रचित तीर्थकल्प मे अर्बुदकल्प, श्लो० ३९-४०, ए० इ०, जि० ९, पृ० १२-१५, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १९३-९४

[३] बम्बई गजेटियर, जि० १, पृ० ४७२-७४, ओझा, राजपूताने का इतिहास पृ० १९५

[४] द्वयाश्रय महाकाव्य, सर्ग १६, श्लो० ३३-३४, इ० ए०, ४१, पृ० १९५-९६, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १९५-९६

मुख्य सेनापतियो मे से एक था। वैसे तो इस युद्ध मे गुजरात का शासक हार गया परन्तु दूसरी लडाई मे इन्ही साथियो के सहयोग से गुजरात की विजय हुई और शहाबुद्दीन गोरी को घायल होकर भागना पडा। यह चार सोलकी राजाओ का सम-कालीन शासक था जो कुमारपाल, अजयपाल, मूलराज और भीमदेव (द्वितीय) थे। भीमदेव के अल्पवयस्क होने को उपयुक्त अवसर समझकर उसके कई सामन्त और अधिकारी स्वतन्त्र हो गये। धारावर्ष भी इनमे एक था। जब अल्तमश ने एक ओर से और दूसरी ओर से दक्षिण के यादव राजा सिंहल ने गुजरात पर आक्रमण कर दिया, तो धारावर्ष ने वीरधवल और वस्तुपाल और तेजपाल के आग्रह से गुजरात की सहायता करना स्वीकार कर लिया। जिस प्रकार धारावर्ष ने सोलकियो से अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे उसी प्रकार उसने चौहानो को भी अपनी ओर मिला लिया था। उसकी दो राणियाँ शृगारदेवी और गीगादेवी नाडोल के चौहान राजा केल्हण की पुत्रियाँ थी। दोनो पडोसी शासको से अच्छे सम्बन्ध बनाना उसकी कूटनीति का द्योतक है। इसके पराक्रम के सम्बन्ध मे पटनारायण के मन्दिर के वि० स० १३४४ (ई० स० १२८७) के शिलालेख से प्रमाणित होता है कि धारावर्ष एक बाण से तीन भैसो को बीध डालता था। इस उल्लेख की साक्षी अचलेश्वर के मदाकिनी कुण्ड पर बनी हुई धारावर्ष की मूर्ति और समान रेखा मे आरपार छिद्रित तीन भैसें है।[५] धारावर्ष का काल विद्योन्नति तथा अन्य जनोपयोगी कार्यो के लिए प्रसिद्ध है।

इसका छोटा भाई प्रह्लादनदेव वीर और विद्वान था। इसकी वीरता और विद्वत्ता की प्रशसा कवि सोमेश्वर ने अपनी रचना 'कीर्ति कौमुदी' नामक पुस्तक मे की है। तेजपाल के बनवाये हुए लूणवसही के मन्दिर की प्रशस्ति भी उसके गुणो की श्लाघा करती है। सोलकी राजा अजयपाल और गुहिलवशीय राजा सामन्तसिंह के बीच होने वाले युद्ध मे प्रह्लादन ने वीरता से लडकर गुजरात की सहायता की थी। प्रह्लादन वीर ही नही स्वय एक अच्छा नाटककार भी था, जो उसके द्वारा रचे गये 'पार्थ पराक्रम व्यायोग' नामक नाटक से स्पष्ट है। उसने अपने नाम से प्रह्लादनपुर (पालनपुर) बसाकर जन-हितोपयोगी कार्य में रुचि बतायी थी।[६]

धारावर्ष का लडका सोमसिंह भी गुजरात के सोलकी राजा भीमदेव (द्वितीय) का सामन्त था। उसने अपने पिता से शस्त्र-विद्या और अपने चाचा प्रह्लादन से शास्त्रो मे निपुणता प्राप्त की थी। उसके समय मे वस्तुपाल के छोटे भाई तेजपाल ने आबू के

---

५ आबू प्रशस्ति, वि० स० १२८७, ए० इ०, जि० ८, श्लो ३६, पृ० २१०-११, कीर्ति कौमुदी, सर्ग २, श्लो० ६१, कायद्रा गाँव का शिलालेख, वि० स० १२२०, पटनारायण शिलालेख, श्लोक १५, ईलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० २, पृ० २२६-२३०, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १९७-९८

६ कीर्ति कौमुदी, सर्ग १, श्लोक २०, ए० इ०, जि० ८, पृ० २११, श्लोक ३८, ओझा, राजपूताने का इतिहास पृ०, १९९-२००

देलवाडा गांव मे लूणवसही नामक नेमिनाथ का मन्दिर अपने पुत्र लूणवसही और अपनी स्त्री अनुपमादेवी के श्रेयार्थ करोडो रुपये लगाकर बनवाया। यह मन्दिर आबू की कलाकृतियो मे अपना उच्च स्थान रखता है।[७]

इसके पोते प्रतापसिंह ने जैत्रकर्ण (मेवाड के शासक) को परास्त कर चन्द्रावती पर अपना अधिकार स्थापित किया। उसके समय मे ब्राह्मण देल्हण ने वि० स० १३४४ मे पटनारायण के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया।

प्रतापसिंह का उत्तराधिकारी विक्रमसिंह था। कुछ शिलालेखो से पता चलता है कि इस समय से आबू के परमार अपना विरुद रावल (राजकुल) और महाराजकुल (महारावल), मेवाड के शासको की भांति धारण करने लगे। विक्रमसिंह के समय मे जालौर के चौहानो ने आबू के पश्चिमी भाग को अपने अधिकार मे कर इसकी शक्ति क्षीण कर दी। ऐसी अवस्था मे, उसके किसी वशज के समय, ई० स० १३११ के आसपास, राव लूम्बा ने परमारो की राजधानी चन्द्रावती को छीन लिया। यही से आबू मे परमार राज्य का अन्त हुआ और चौहान राज्य की स्थापना हुई।[८]

जालौर के परमार

इस शाखा के परमार आबू के परमार धरणीवराह के वशज रहे हो तो कोई आश्चर्य नही। ऐसी स्थिति मे यह शाखा आबू के परमारो की छोटी शाखा मानी जानी चाहिए। जालौर से मिलने वाले १०८७ ई० के एक शिलालेख से यहाँ के परमारो के सात नाम उपलब्ध होते हैं—वाक्पतिराज, चन्दन, देवराज, अपराजित, विज्जल, धारावर्ष और विसल। वाक्पतिराज जो इस वश-क्रम मे प्रथम ९६०-९८५ ई० के लगभग तक जालौर का राजा रहा, सम्भवत वह आबू शाखा के ध्रुवभट्ट का समकालीन था। इस वश के सातवें राजा विसल की राणी मेलरदेवी ने सिंधुराजेश्वर के मन्दिर पर १०८७ ई० में सुवर्ण का कलश चढवाया।[९]

किराडू के परमार

किराडू के शिवालय पर उत्कीर्ण ११६१ ई० के एक लेख मे यहाँ की शाखा के शासको के नाम उपलब्ध होते हैं जिनमे कृष्णराज, सोच्छराज, उदयराज और सोमेश्वर हैं। इनमे उदयराज गुजरात के सोलंकियो का सामन्त रहकर चोड, गौड, कर्ण और मालवा मे कई युद्ध लडा था। इसका पुत्र सोमेश्वर प्रारम्भ मे सिद्धराज का सामन्त और कृपाभाजन रहा। सिद्धराज की कृपा से उसने सिन्धुराजपुर पुन प्राप्त किया। उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल का भी वह कृपापात्र रहा जिससे वह सिन्धुराजपुर को सुदृढ बनाने मे सफलता

---

७ ए० इ०, जि० ८, पृ० २०८-२२, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १९९-२००

८ ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २०१-२

९ वही, पृ० २०४

प्राप्त कर सका। किराडू इस राज्य की राजधानी थी। ११६१ ई० मे उसने जज्जक को परास्त किया और उससे तन्नोट (जैसलमेर राज्य मे) और नौसर (जोधपुर राज्य मे) के किले छीन लिये। उसने उसे १७०० घोडे दण्ड देने के लिए भी बाध्य किया। अन्त मे उसने फिर से उसके किले दे दिये पर उसे चालुक्य राजा कुमारपाल की अधीनता स्वीकार करनी पडी।[१०]

मालवा के परमार

मालवा के परमार इन उपरोक्त परमारो मे बडे शक्तिसम्पन्न थे और उनका राजत्व-काल भी अन्य शाखाओ की तुलना मे बडा लम्बा था। जहाँ तक व्यक्तिगत शासको का वर्णन है, इस शाखा के शासक वीर, साहसी और विद्या तथा धन सम्पन्न थे। परन्तु इनका मूल उत्पत्ति स्थान आबू था। जैसा कि तत्कालीन अनेक शिलालेखो और 'नवसाहसाक चरित' आदि ग्रन्थो से प्रमाणित होता है। इनकी राजधानी या तो उज्जैन रही या धारानगरी रही, परन्तु राजस्थान मे इनके अधिकार मे कई भाग थे, जैसे कोटा राज्य का दक्षिणी विभाग, झालावाड, वागड, प्रतापगढ का पूर्वी विभाग आदि। वैसे तो ये मालवा के ही मुख्य रूप से शासक थे, फिर भी राजस्थान के कई भागो पर इनका प्रभाव होने से इनके बारे मे भी कुछ जान लेना आवश्यक है।

मालवा शाखा का सातवाँ वशधर जिसका नाम मुज था और जिसके विरुद वाक्पतिराज, अमोघवर्ष, उत्पलराज, पृथ्वीवल्लभ और श्रीवल्लभ थे, कर्णाट, लाट, केरल, चोल आदि के राजाओ को पराजित करने मे सफल हुआ। वह हैहयवशीय युवराजदेव (द्वितीय) का विजेता था। वह मेवाड के शासक शक्तिकुमार के समय आक्रमण कर आहड को तोडने, चित्तौड विजय करने और मालवा के निकटवर्ती प्रदेशो को अपने राज्य मे मिलाने मे सफल हुआ। जब उसने कर्णाट देश के चालुक्य राजा तैलप पर आक्रमण किया तो वह वन्दी बनाया गया और कुछ समय के बाद वह वही मारा गया।[११]

मुज की ख्याति एक विद्वान और विद्वानो के आश्रयदाता के रूप मे है जिसकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे।

मुज के बाद सिन्धुराज और उसके बाद भोज परमार हुए। इनमे भोज अपनी विजयो और विद्यानुराग के लिए बडा प्रसिद्ध है। इसके समय मे कई विद्वानो ने अनेक मौलिक रचनाएँ की और अनेक मन्दिरो के निर्माण कराये। उसने स्वय सरस्वती कण्ठाभरण, राजमृगाक, विद्वज्जनमण्डन, समरागण, शृगारमजरी कथा, कूर्मशतक

---

[१०] किराडू का शिलालेख, श्लोक १६-२५, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २०५

[११] ए० इ०, जि० १, पृ० २२७, उदयपुर प्रशस्ति, ए० इ०, जि० १, पृ० २३५, ए० इ०, जि० १०, पृ० २०, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २०८-१०

आदि ग्रन्थ लिखे। सरस्वती कण्ठाभरण नामक पाठशाला बनवाकर उसने विद्योन्नति में पूर्ण योग दिया। वल्लल, मेरुतुग, वररुचि, सुबन्धु, अमर, राजशेखर, माघ, धनपाल, मानतुग आदि अनेक विद्वान भोज के दरबार मे आश्रय पाये हुए थे।[१२]

चित्तौड मे रहते हुए उसने वहाँ त्रिभुवननारायण का विशाल शिवमन्दिर बनवाया जिसका जीर्णोद्धार आगे चलकर १४२९ ई० मे मोकल ने करवाया था।

इसका पुत्र जयसिंह भी बडा प्रतापी शासक था जिसका सामन्त वागड का राजा मण्डलीक था। उसके चाचा उदयादित्य की लडकी श्यामलदेवी का विवाह मेवाड के गुहिलवशीय राजा विजयसिंह के साथ हुआ था।[१३] इसी वश के जयसिंह के समय मालवा के परमारो की पराजय सिद्धराज द्वारा हुई जिसके फलस्वरूप चित्तौड और वागड मालवा की भाँति सिद्धराज के राज्य के भाग बन गये। यही से मालवा के परमारो का ह्रास-काल आरम्भ होता है। यह घटना वि० ११९२ और वि० ११९५ के आस-पास घटी थी।[१४] परन्तु तेहरवी शताब्दी के आसपास अर्जुनवर्मा नामक परमार ने सोलकियो की निर्बलता से लाभ उठाकर फिर से मालवा की खोई हुई भूमि को अपने अधीन किया। यह विद्वान, कवि और गानविद्या मे निपुण था।[१५] इसी वश के जयतुगदेव को गुहिलवश के राजा जैत्रसिंह ने अर्थूणा (बाँसवाडा) मे परास्त किया। इसका देहान्त १२५७ ई० मे हुआ। इसके छोटे भाई जैत्रसिंह ने फिर परिहार जयसिंह तृतीय को कई युद्धो मे हराया और रणथम्भौर मे उसे कैद रखा।[१६]

अन्त मे खलजियो के आतक से सदियो से बने हुए मालवा का वैभव समाप्त हुआ और यहाँ के परमार भागकर अजमेर जा रहे। इन्ही के वशजो मे महापा पँवार, कुम्भा का समकालीन और कर्मचन्द्र पँवार साँगा का समकालील था जो अजमेर के आसपास छोटे सामन्त के रूप मे रहते थे।[१७]

वागड के परमार

मालवा के परमार कृष्णराज के दूसरे पुत्र डम्बरसिंह के वश से वागड के परमार हैं। इनका राज्य डूंगरपुर-बाँसवाडा का भाग था जिसे वागड कहते है। इस शाखा के दूसरे राजा धनिक ने महाकाल के मन्दिर के निकट धनेश्वर का मन्दिर बनवाया था।[१८]

---

[१२] प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० ८०, ए० इ०, जि० १, पृ० २३२-३३, जि० ८, पृ०१०१-२२, जि० ११, पृ० १८२-८३, इ० ए०, जि० ६, पृ० ५३, ना०प्र०प०, भाग ३, पृ० १-१८

[१३] भेराघाट का शिलालेख, ए० इ०, जि० २, पृ० १२

[१४] ए० इ०, जि० १९, पृ० ३४९

[१५] प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० २५०

[१६] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २२७

[१७] राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, अजमेर, १९११-१२, पृ० २, लेख २

[१८] पाणाहेडा का शिलालेख, श्लोक २६-२७

इसका पोता ककदेव मालवा के राजा श्रीहर्ष के शत्रु कर्णाट से नर्वदा नदी तक लडकर मारा गया। इसका पोता सत्यराज गुजरात वालो से लडा। इसकी स्त्री राजश्री चौहान वश की थी।[१९] इसका छोटा पुत्र मण्डलीक मालवा के परमार भोज और जयसिंह का सामन्त था। उसने कन्ह नामक किसी बडे सेनापति को उसके घोडो और हाथियो सहित पकडकर जयसिंह को सुपुर्द किया और अपने नाम से मण्डलेश्वर का मन्दिर १०५६ ई० मे पाणाहेडा मे बनवाया।[२०] उसका पुत्र चामुण्डाराज शिव का भक्त था जिसने अर्थूणा मे १०७९ ई० मे मण्डलेश्वर का मन्दिर बनवाया।[२१] इस वश का विजयराज अन्तिम शासक मालूम होता है, क्योकि उसके समय के ११०८ ई० और ११०९ ई० के दो शिलालेख तो मिलते हैं, परन्तु उसके बाद परमारो के इस भाग मे कोई महत्त्व-पूर्ण शिलालेख नही मिलते। इन लेखो से पता चलता है कि उसके समय मे कायस्थ जाति का वामन इसका साधिविग्रहिक था। ऐसा प्रतीत होता है कि गुहिल राजा सामन्तसिह जब मेवाड छोडकर ११७९ ई० के लगभग इधर आया तो उसने गुहिल शाखा का राज्य यहाँ स्थापित कर दिया और क्रमश सारा वागड इन परमारो के हाथ से निकल गया।

वैसे तो परमारो का राज्य वागड से समाप्त हो गया, परन्तु इनकी राजधानी उत्थूणक (अर्थूणा) आज भी ध्वसप्राय होने पर उनके वैभव के स्मारक रूप मे विद्यमान है। उसके खण्डहरो से पता चलता है कि अर्थूणा उस समय बडा वैभवशाली नगर था, जिसमे अनेक शैव, वैष्णव, शक्ति और जैन देवालय थे। यहाँ से प्राप्त मूर्तियो, तोरणो और स्तम्भो के खण्ड उस काल की कला की उत्कृष्टता की दुहाई दे रहे हैं।[२२]

---

[१९] पाणाहेडा का शिलालेख, श्लोक ३२

[२०] राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, अजमेर, १९१६-१७, पृ० २

[२१] वही, १९१४-१५, पृ० २

[२२] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २२८-२३३

अध्याय ७

राठौडो का अधिवासन और राज्य-विस्तार

(८वी सदी से १३वी सदी तक)

जिस प्रकार दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान मे गुहिलो का शासन मेवाड और वागड प्रान्त मे स्थापित हुआ और प्रतिहारो का एक छत्रीय राज्य पनपा उसी प्रकार राजस्थान के उत्तरी तथा पश्चिमी भागो मे राठौडो के राज्य भी स्थापित हुए। इसके पूर्व कि हम इनके अधिवासन की चर्चा करें, यह उपयुक्त होगा कि इनकी उत्पत्ति और विभिन्न शाखाओ के सम्बन्ध मे भी जानकारी प्राप्त करें।

'राठौड' शब्द की व्युत्पत्ति

'राठौड' शब्द भाषा मे एक राजपूत जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसे सस्कृत मे 'राष्ट्रकूट' लिखते हैं। राष्ट्रकूट शब्द का प्राकृत रूप 'रट्टऊड' है जिससे 'राडउड' या राठौड बनता है। अशोक के शिलालेखो मे कुछ दक्षिणी जातियो के लिए 'रिस्टिक', 'लटिक' और 'रटिक' शब्दो का प्रयोग किया गया था। ये सभी शब्द 'रट्ट' शब्द के प्राकृत रूप हैं जो 'राष्ट्रकूट' शब्द से मेल खाते हैं। कभी-कभी महा शब्द का प्रयोग आदर सूचक के रूप मे ऐसे शब्दो के साथ लगाया जाता था। राष्ट्रवशी अपने को 'महाराष्ट्र' या 'महाराष्ट्रिक' लिखने लग गये जिसका प्राकृत रूप 'महारठी' बना और भाषा मे उसे 'मराठा' कहा जाने लगा। तात्पर्य यह है कि राठौड शब्द राष्ट्रकूट से सम्बन्धित है और उस जाति विशेष के लिए उपयुक्त हुआ है जो दक्षिण मे राष्ट्रकूट नाम से विख्यात थी।

राठौडों की उत्पत्ति

राष्ट्रकूटो की उत्पत्ति का विषय विवादास्पद है।[1] भिन्न-भिन्न ताम्रपत्रो, शिलालेखो और प्राचीन पुस्तको मे राठौड वश की उत्पत्ति को भिन्न-भिन्न रूप से प्रतिपादित किया गया है। कुछ भाटो की मान्यता है कि राठौड हिरण्यकश्यप की सन्तान है।[2] जोधपुर राज्य की ख्यात मे इन्हें राजा विश्वुतमान के पुत्र राजा वृहद्वल से

---

[1] कार्प्स इन्सक्रिप्शन्स इण्डिकेरम्, जि० १, पृ० ८, ५५, ७४, ८७, इण्डियन एण्टिक्वेरी, जि० ८, पृ० १२, बम्बई प्रेसीडेन्सी गजेटियर, भाग २, पृ० २०८-९

[2] राजस्थान रत्नाकर, भाग १, पृ० ८८

पैदा होना लिखा है।[३] दयालदास ने इन्हे सूर्यवशीय लिखा है और इन्हे ब्राह्मण के वश मे होने वाले भल्लराव की सन्तान वताया है।[४] नैणसी ने मारवाड के राठौडो को कन्नौज से आने वाली शाखा बताया है।[५] १५९६ ई० मे लिखे हुए 'राष्टौढ वश-महाकाव्य' मे राठौडो की उत्पत्ति शिव के शीश पर स्थित चन्द्रमा से वतायी है।[६] करनल टॉड ने राठौडो की वशावलियो के आधार पर इन्हे कुश की सूर्यवशीय सन्तान माना है।[७]

राठौड वश की शाखाएँ

ऊपर दिये गये राठौडो के सम्वन्ध के मत अनुमान पर आधारित हैं जिनके विषय मे अधिकार से कहना कठिन है। परन्तु इतना अवश्य है कि अशोक के समय से लेकर आज तक हमे इस वश के सम्वन्ध मे जानकारी अवश्य प्राप्त है। यह भी निर्विवाद है कि राष्ट्रकूटो (राठौडो) का वडा प्रतापी राज्य सर्वप्रथम दक्षिण मे था। इनकी विभिन्न शाखा के शासक दक्षिण, गुजरात, काठियावाड, राजस्थान, मध्यदेश आदि मे कभी स्वतन्त्र और कभी अर्द्ध-स्वतन्त्र रूप से राज्य करते रहे। दक्षिण के राष्ट्रकूटो की वशावली दन्तिवर्म से आरम्भ होती है जो लगभग छठी शताब्दी मे प्रतापी शासक था। गुजरात के राष्ट्रकूटो की दूसरी शाखा का इतिहास इन्द्रराज से आरम्भ होता है। इसी तरह ईस्वी सन् की सातवी शताब्दी के आसपास मध्यभारत की राष्ट्रकूट शाखा का अभ्युदय दिखायी देता है। काठियावाड, वदायूं, कन्नौज मे भी इसी समय के लगभग राष्ट्रकूटीय राज्य थे।[८]

राजस्थान के राठौड

राजस्थान के राठौड, हस्तिकुण्डी के राठौड, धनोप के राठौड, वागड के राठौड तथा जोधपुर और वीकानेर के राठौड के नामो से विख्यात हैं। इनमे ऊपर की तीन शाखाओ के राठौड दक्षिण के राठौडो के ही वशज हो सकते हैं। हस्तिकुण्डी के राठौड गोडवाड इलाके मे राज्य करते थे। इस शाखा के विदग्धराज ने ९१६ ई० मे हस्तिकुण्डी मे एक चैत्यगृह का निर्माण कराया। इसी शाखा के एक धवल ने मेवाड के शासक मुज के विरुद्ध सहायता पहुँचायी और दुर्लभराज चौहान से नाडौल के चौहान महेन्द्र को वचाया तथा आवू के धरणीवराह परमार को आश्रय दिया। मेवाड के शासक भर्तृभट्ट की राणी महालक्ष्मी हथुण्डी के राठौड राजा की पुत्री थी।[९]

---

[३] जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ५

[४] दयालदास की ख्यात, भाग १, पृ० २-३

[५] नैंणसी की ख्यात, जि० २, पृ० ५०-५५ और ५८

[६] राष्टौड वशमहाकाव्य, सर्ग १, श्लोक १२-२९

[७] टॉड राजस्थान, जि० १, पृ० १०५

[८] ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ८८-१३४

[९] ए० इण्डिका, जि० १०, पृ० २०, इण्डियन एण्टिक्वेरी, जि० ५९, पृ० ५१, राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, १९२३-२४, पृ० ३

१००६ ई० के शिलालेख मे राठौड चच्च का उल्लेख मिलता है जो धनोप शाखा का राठौड था। इसी वश मे भल्लील, दन्तिवर्मा, बुद्धराज, गोविन्द आदि शासक हुए।

वागड के राठौडो मे राका और वीरम का उल्लेख १३०५ ई० के नोगामा के शिलालेख मे मिलता है। ये वागडिया राठौड या छप्पनिया राठौड भी कहलाते थे।[१०]

जोधपुर के राठौडो के विषय मे विद्वानो का मतैक्य नही है। नैणसी जोधपुर के राठौडो को कन्नौज से आना बताता है।[११] जोधपुर राज्य की ख्यात भी उन्हें कन्नौज के निवासी बताती है। दयालदास भी इसी मत का है।[१२] पृथ्वीराज रासो ने भी इन्हे कन्नौजिया गहडवाल ठहराया है।[१३] टॉड ने भी इन्हे ख्यातो के आधार पर गहडवालो को जयचन्द्र के वशज मान लिया।[१४] इन सभी मतो मे गहडवालियो की और राठौडो की साम्यता प्रदर्शित होती है।

डाक्टर हॉर्नली[१५] ने सबसे प्रथम गहडवालो को राठौडो से भिन्न बताया जिसकी पुष्टि डा० ओझा ने की। इनका कहना है कि गोविन्दचन्द्र गहडवाल था तथा उसकी राणी कुमारदेवी के शिलालेखो मे उन्हे गहडवाल लिखा है, न कि राठौड।[१६] पृथ्वीराज रासो मे जयचन्द्र को राठौड लिखकर भाटो का मार्गदर्शन किया जिससे गहडवालो को राठौड मानने की भूल होती चली गयी। इसके अतिरिक्त जब कन्नौज मे गहडवाल शासन करते थे तो राष्ट्रकूटो की एक शाखा बदायूं मे राज्य करती थी। इस राज्य का प्रवर्तक चन्द्र था। भाटो और पिछले लेखको ने बदायूं के चन्द्र को कन्नौज के जयचन्द्र से मिला दिया। वास्तव मे बदायूं का चन्द्र शिलालेखो[१७] मे वोदामयूता (बदायूं) का प्रथम शासक और गढवाल के चन्द्रदेव को गाधीपुर (कन्नौज) का विजेता लिखा है। ऐसी दशा मे वे दोनो चन्द्र विभिन्न व्यक्ति ही अनुमानित होते हैं। डा० ओझा का यह भी कहना है कि यदि गहडवाली और बदायूंनी दोनो राठौडवशीय होते तो इनका परस्पर विवाह सम्बन्ध नही हो सकता था, परन्तु इनके विवाह के कई उदाहरण मिलते हैं। ऐसी स्थिति मे ओझा का यह

---

[१०] इण्डियन एण्टिक्वेरी, जि० ४०, पृ० १७५

[११] नैणसी की ख्यात, जि० २, पृ० ५०-५५ और ५८

[१२] जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० १०-१५

[१३] पृथ्वीराज रासो, समय १

[१४] टॉड राजस्थान, जि० २, पृ० ६३९-६४२

[१५] इण्डियन एण्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० ८९

[१६] इण्डियन एण्टिक्वेरी, जि० १४, पृ० १०३, जि० १८, पृ० १५, एपि० इण्डिका, जि० २, पृ० ३२३ व ३५९

[१७] चन्द्रदेव के वि० स० ११४८ का दानपत्र

निश्चित मत है कि कन्नौज का राठौड वश कल्पना-मात्र है। कैप्टेन लुअर्ड[१८], डा० रामशकर त्रिपाठी[१९] और डा० हेमचन्द्र राय[२०] ने गहडवालो और राठौडो के वशो को भिन्न बताया है। इन सब दलीलो के बाद विद्वान लेखक लिखते है कि "इन सब बातो पर विचार करने से तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वस्तुत गहडवाल और राठौड दो भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं और इनमे परस्पर किसी प्रकार की भी समानता नही है। गहडवाल एक अलग जाति है, जो सूर्यवशीय है और राठौड इसके विपरीत चन्द्रवशीय है। सम्भवत राजपूताना के वर्तमान राठौड बदायूं के राठौडो के वशधर हो।"[२१]

परन्तु प० रेऊ फिर भी इन उपरोक्त दलीलो के होते हुए भी मारवाड के राठौडो को कन्नौज के मानते हैं और इन्हे जयचन्द्र के वशज बताते हैं।[२२]

स्वर्गीय डा० माथुर ने इस सम्बन्ध मे एक नया मत स्थिर करते हुए यह लिखा है कि बदायूं के राष्ट्रकूट कन्नौज से बदायूं गये और दक्षिण के राष्ट्रकूटो का १२०० ई० के लगभग कन्नौज पर शासन रहा। इस मत की पुष्टि मे उन्होंने त्रिलोचनपाल का वि० स० ११५१ का ताम्रपत्र तथा बदायूं का १२वी शताब्दी का शिलालेख उल्लिखित किया है। इससे यह प्रमाणित किया गया है कि कन्नौज से राठौडो की एक शाखा बदायूं गयी और दूसरी शाखा मारवाड आयी।[२३]

हाल ही मे विश्वम्भरा मे सोमानी ने शान्तिनाथ ज्ञान भण्डार, खम्भात के कल्पसूत्र ज्ञान भण्डार, सूर्यपुर की १५४६ वि० स० की एक प्रति, फलोदी के १५५५ के शिलालेख आदि के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि जयचन्द्र राठौडो का आदि पुरुष था और राठौड और गहडवाल के वशो मे साम्यता रही।[२४]

इन सभी विभिन्न मतो के अपने-अपने आधार हैं परन्तु किसी मत से यह ठीक नही स्पष्ट होता कि वस्तुत मारवाड के राठौडो का किस प्रकार कन्नौज या बदायूं की शाखाओ से सम्बन्ध रहा। किसी ने भी इनके मूल पुरुष का समसामयिक आधार पर सम्बन्ध स्थापित करने मे सफलता नही प्राप्त की है, अतएव सम्पूर्ण विषय विचारणीय है। परन्तु ये सभी लेखक यह भूल जाते हैं कि बदायूं का राज्य कन्नौज के विस्तृत राज्य के अन्तर्गत था, अतएव बदायूं तथा कन्नौज की शाखाओ मे साम्यता मानने की भूल स्वाभाविक है। वैसे ये शाखाएँ विभिन्न रही हैं। क्योकि कन्नौज बदायूं की तुलना मे

---

[१८] मध्यभारत गजेटियर, जि० ६, पृ० १०

[१९] हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० ३००

[२०] डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉदर्न इण्डिया, जि० १, पृ० ५५१-५२

[२१] ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १३५-१४५

[२२] रेऊ, मारवाड का इतिहास, भाग १, पृ० ३१

[२३] इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९४४, पृ० १५६-१६६

[२४] विश्वम्भरा, पृ० ८१-८४

अधिक विस्तृत था, भाटो ने कन्नौज को प्रधानता दी और बदायूं की उपेक्षा कर दी। ये तो इन दोनो की साम्यता मानने का निराकरण हुआ, परन्तु हम इसकी क्यो उपेक्षा करें कि अन्त मे हस्तिकुण्डी की शाखा जो बालाप्रसाद की ११वी शताब्दी तक की उपलब्ध है और जो मारवाड मे ६वी सदी से थी उसका क्या हुआ ? सम्भवत उससे मारवाड की राठौड शाखा का कोई सम्बन्ध रहा हो, या दक्षिण या गुजरात और काठियावाड के राष्ट्रकूटो का भी मारवाड के राठौडो का सम्बन्ध रहा हो। सम्भवत. इस दिशा मे विचार करने से हमे कोई नया मार्ग मिले और यह सारी पहेली सुलझ जाय।

राठौड राज्य की स्थापना और राव सीहा (१२४०-१२७३ ई०)

जोधपुर राज्य का मूल पुरुष सीहा था जो बदायूं के राठौडो का वशधर हो या हथूडी के राष्ट्रकूटो की शाखा से सम्बन्धित कोई व्यक्ति हो ? इसके विषय मे हमे कोई समसामयिक सामग्री नही मिली है जिससे इसके जीवन पर कोई विशेष प्रकाश पडे। केवल मात्र, पाली से चौदह मील उत्तर-पश्चिम मे बोठू गाँव के पास वि० स० १३३० कार्तिक वदी १२ (ई० स० १२७३, दिनाक ६ अक्टूबर) का एक देवल का लेख[२५] प्राप्त है जिससे सिद्ध है कि उक्त तिथि को सीहा की मृत्यु हुई थी। जोधपुर राज्य के इतिहास के लिए यह लेख बडे महत्त्व का है। इस लेख के द्वारा राठौडो के प्रारम्भिक इतिहास मे एक निश्चित तिथि का हमे बोध होता है। इसकी सहायता से १५वी शताब्दी तक मिलने वाली भाटो की तिथियो की जो बहुत कल्पित हैं, जाँच की जा सकती है। इस लेख के ऊपरी भाग मे शत्रु पर भाला मारता हुआ अश्वारोही सीहा की मूर्ति भी बनायी गयी है जो उसके लडकर काम आने की घटना की द्योतक है। इस लेख से यह भी प्रकट होता है कि सीहा कुँवर सेतराम का पुत्र था और उसकी सोलकी वश की पार्वती नामक रानी उसके साथ सती हुई थी। लेख का बीठू मे, पाली के पास होने से भी यह प्रमाणित होता है कि प्रारम्भ मे राठौडो का राज्य-विस्तार पाली के आसपास ही सीमित था।

सीहा के सम्बन्ध मे पिछले लेखक—अन्य ऐतिहासिक साधनो के अभाव में सीहा के सम्बन्ध मे कई मनगढन्त बातें लिखी जाने लगी और पिछले लेखको ने कुछ बातो को बढा-चढाकर लिखा। मुहणौत नैणसी ने लिखा है कि राव सीहा अपनी गोत्र-हत्या से निवृत्ति प्राप्त करने के लिए कन्नौज से द्वारिका यात्रा को चला। मन की विरक्ति के कारण उसने अपना राजपाट अपने पुत्र को सौंप दिया। उसने यह यात्रा पैदल ही की। मार्ग मे चावडे और सोलकियो ने उसका आतिथ्य किया और उससे प्रार्थना की कि वह उनके शत्रु सिन्ध के मारु लाखा को पराजित करने में उनकी सहायता करे। उस समय तो वह द्वारिका गया, पर लौटते समय उसने लाखा से युद्ध कर उसकी हत्या कर दी। विजयी सीहा का विवाह चावडो और सोलकियो के राजाओ

---

२५ इण्डियन एण्टिक्वेरी, जि० ४०, पृ० ३०१

ने अपनी कन्याओ के साथ कर दिया। एक रानी सोभागदे मूलराज वागनाथोत की पुत्री थी और दूसरी सोलकी राव जयसिंह की पुत्री थी जिससे आस्थान का जन्म हुआ।[२६]

जोधपुर राज्य की ख्यात के अनुसार राव सीहा वरदाई सेन का पौत्र और सेतराम का पुत्र था। जब वह कन्नौज से पुष्कर यात्रा पर गया तब भीनमाल के ब्राह्मणो ने वहाँ से मुसलमानो को निकालने मे उससे सहायता मांगी। यात्रा से लौटकर उसने मुसलमानो को परास्त किया और भीनमाल ब्राह्मणो को लौटाकर वह फिर कन्नौज लौट गया। उसकी वीरता के समाचारो से प्रभावित होकर गुजरात के सोलकी राजा ने अपनी पुत्री (जिसकी सगाई लाखा फुलाणी से हो चुकी थी) के विवाह के नारियल सीहा के पास भेजे। वह द्वारिका यात्रा करने चला तब मार्ग मे उसने कई भोमियो को परास्त किया, द्वारिका मे भाटियो से युद्ध किया और मूलराज की कन्या का विवाह किया। कन्नौज लौटते समय मार्ग मे उसने पाली के ब्राह्मणो की प्रार्थना पर वालेचा चौहानो को परास्त किया और पाली ब्राह्मणो को फिर से लौटा दिया। उसने ११५२ ई० मे लाखा फुलाणी को भी मारा। उसके छ राणियाँ थी। जब वह कन्नौज पहुँचा तो वहाँ का राज्य उसने अल्हड को सौपा और स्वय गोयन्दाणागढ मे जाकर शासन करने लगा। मरते समय उसने अपने पुत्रो को पाली जाने का आदेश दिया।[२७]

दयालदास ने सीहा का जन्म १११८ ई० मे, ११५५ मे गद्दी नशीनी और ११८७ मे मृत्यु होना लिखी है। उसके सम्बन्ध मे उसने मुगलो से ५२ लडाइयाँ होना लिखा है और फिर उसका मनसबदार होना बताया है। द्वारिका यात्रा से लौटने पर लाखा फुलाणी का मारना और मूलराज सोलकी की पुत्री से विवाह आदि का वर्णन दिया है।[२८]

करनल टॉड ने अपने राजस्थान के इतिहास मे लिखा है कि स० १२६८ मे कन्नौज के अन्तिम राजा (जयचन्द्र) के पोते सीहा ने अपने साथियो के साथ राजस्थान की ओर प्रयाण किया। उसने कुलमुद (बीकानेर से २० मील पश्चिम) के सोलकी सरदार की लाखा फूलाणी के विरुद्ध सहायता की जिससे उसने अपनी बहन का विवाह उसके साथ कर दिया। पाटन मे भी उसका अच्छा सम्मान हुआ। वहाँ उसने लाखा फूलाणी को मारा। उसने खेड के गुहिलो को परास्त कर वहाँ अपनी राजधानी स्थापित की। पाली भी उसने वहाँ के ब्राह्मणो से छल द्वारा छीन ली।[२९]

डा० ओझा ने[३०] इन विभिन्न लेखको के मत का विश्लेषण किया है और

२६ नैणसी की ख्यात, जि० २, पृ० ५०-५८
२७ जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० १०-१५
२८ दयालदास की ख्यात, जि० १, पृ० ३९-४०
२९ टॉड राजस्थान, जि० २, पृ० ९३९-४३
३० ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १५०-१५६

अधिकाश मे इन्हे निराधार बताया है। उनका कहना है कि नैणसी ने जो चावडो और सोलकियो का राज्य गुजरात मे बताया है वह ठीक नही, क्योकि सीहा के समकालीन सोलकी राजा, त्रिभुवनपाल, वीसलदेव और अर्जुनदेव थे। इसी तरह लाखा फूलाणी सीहा के २०० वर्ष पूर्व हो गया था जिसे मूलराज ने मारा था न कि सीहा ने। इसकी पुष्टि हेमचन्द्र के द्वयाश्रय महाकाव्य, सोमेश्वर की कीर्ति कौमुदी, मेरुतुग की प्रबन्ध चिन्तामणि, अरिसिंह के सुकृत-सकीर्तन और कुछ प्राचीन गुजराती पद्यो से होती है। इसी प्रकार सीहा का विवाह जयसिंह की पुत्री से होना भी निर्मूल है क्योकि वह सीहा का समकालीन न था। मूलराज ने १०९४ से ११४३ ई० तक राज्य किया था। भीनमाल के ब्राह्मणो को मुसलमानो के विरुद्ध सहायता देना भी कल्पित है; क्योकि सीहा के समय तक और उसके पीछे भी वहाँ चौहानो का राज्य था तथा वहाँ सीहा समकालीन चौहान राजा उदयसिंह और उसका पुत्र चाचिगदेव थे।

जोधपुर राज्य की ख्यात मे मूलराज की कन्या का विवाह सीहा से होना और उसके द्वारा लाखा फूलाणी का मारा जाना कल्पित है। इसी प्रकार उसका कन्नौज जाना और अल्हड को वहाँ का राज्य देना और अपने पुत्रो को पाली जाकर बसने का आदेश देना निर्मूल है, क्योकि कन्नौज का राज्य सीहा के जन्म के पूर्व ही मुसलमानो के अधिकार मे जा चुका था। अलबत्ता पाली के ब्राह्मणो से धन मिलने मे सत्यता हो सकती है क्योकि वे सम्पन्न थे और उसने उनकी रक्षा बालेचा चौहानो से की हो जो चौहानो के जागीरदार थे।

ओझा लिखते है कि दयालदास द्वारा दिया गया सीहा का जन्मकाल (१११८ ई०), कन्नौज की गद्दी पर बैठने का समय (११५५ ई०), मुगलो से लडाई तथा उनसे मनसब प्राप्ति, मूलराज की कन्या से विवाह निराधार है। टॉड का कथन भी ख्यातो से आधारित होने से विश्वसनीय नही है। इसी प्रकार प० रेऊ[३१] सीहा जी का पहले खेड जाना तथा वहाँ से महुई मे जा रहना लिखते है जो ख्यातो के आधार पर ही है।

परन्तु इन सभी लेखो से हमे कुछ सीहा के जीवन के सकेत अवश्य मिलते हैं। सीहा एक महत्त्वाकाक्षी राठौड था। उसके पराक्रम से प्रभावित होकर सोलकियो ने उससे वैवाहिक मेल-जोल बढाया। यात्रा के बहाने, परन्तु नया राज्य प्राप्त करने की अभिलाषा से, वह पुष्कर और द्वारिका गया हो और ऐसे अवसर पर उसे चौहानो तथा गुहिलो से टक्कर लेनी पडी हो। क्योकि ये शक्तियाँ अभी क्षीण नही होने पायी थी, सीहा केवल मात्र मारवाड के एक छोटे भाग, अर्थात पाली से उत्तर-पश्चिम मे अपना राज्य स्थापित करने पाया था। ऐसा प्रतीत होता है कि सीहा ने मारवाड के राज्य को सस्थापित तो कर दिया, परन्तु वह उसे व्यवस्थित राज्य के रूप मे निर्माण करने मे सफल न हो सका। उसकी मृत्यु के बाद आस्थान को अपने ननिहाल मे जाकर

---

[३१] मारवाड का इतिहास, भाग १, पृ० ३२

रहना पडा था, जैसा कि ख्यात[३२] लेख लिखते हैं। इसमे सच्चाई की भी सम्भावना है क्योकि सीहा के राज्य के आसपास चौहान, मेर आदि रहते थे। गुहिलो तथा सोलकियो की शाखाएँ पश्चिमी राजस्थान मे विस्तार कर चुकी थी। परमार भी निकट के ही पडोसी थे जो शक्तिशाली थे। ऐसी स्थिति मे सीहा ने जो अपना स्थान राजस्थान मे वनाया था, वह वडा निर्बल और नगण्य ही था। फिर भी विजय के द्वारा राज्य सस्थापन का श्रेय हम सीहा को दे सकते है। इस अर्थ मे वह मारवाड के राठौडो के राज्य का प्रथम सस्थापक था। परन्तु गुहिलो, परमारो, चौहानो आदि राजपूत वशो की तुलना मे अभी राठौड राजस्थान मे अपने पूरे पाँव नही जमाने पाये थे। जबकि अन्य राजपूत वश यहाँ के राजनीतिक सन्तुलन मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे तो राठौड अभी तक अपने प्रभुत्व की स्थापना करने के तलाश मे ही थे। इन्हें लगभग २०० वर्ष और अथक परिश्रम करना पडा जिससे यहाँ उनकी स्थिति को मान्यता प्राप्त हुई। यह स्थिति चूंडा, जोधा और मालदेव के सतत प्रयास का फल था जिनका वर्णन हम यथास्थान करेंगे।

---

३२ नैणसी की ख्यात, जिल्द २, पृ० ५५-५७, जोधपुर राज्य की ख्यात, जिल्द १, पृ० १५-१६, दयालदास की ख्यात, जिल्द १, पृ० ४१

अध्याय ८

चाहमानो का अधिवासन और राज्य-विस्तार

(८वी से १२वी शताब्दी तक)

'चाहमान' शब्द की व्युत्पत्ति और उनका उद्भव

जयानक[1] ने 'चाहमान' शब्द के प्रत्येक अक्षर के सम्बन्धित शब्दो से चहमानो का सम्बन्ध जोडा है, जिसमे यह बताया है कि 'च' से 'चाप', 'ह' से 'हरि', 'म' से 'मान' और 'न' से 'नय' होता है, जो इनकी प्रारम्भिक प्रतिभा के द्योतक हैं। ये विशेषताएँ कम से कम यह बताती हैं कि चाहमान नाम का इस वश का कोई आदि पुरुष रहा हो जिसने अपने भुजबल से एक नवीन राज्य की स्थापना की हो। इस प्रकार के नाम के सम्बन्ध मे एक यह भी मत[2] है कि मोरी वशियो के शासको से सम्बन्ध होने से, जिनके नाम के अन्त मे दाम, मान आदि रहता था, इस वश के प्रवर्तक ने भी अपने को चाहमान नाम से सम्वोधित किया। जहाँ तक इनकी उत्पत्ति का प्रश्न है वह अत्यन्त विवादास्पद है। भाटो और चारणो की वशावलियो और ख्यातो ने इनको अग्निवशीय माना है। डा० ओझा के विचार से ये सूर्यवशीय क्षत्री थे और गोत्रोच्चार मे इन्हे चन्द्रवशीय माना जाता है। कई भारतीय और यूरोप के विद्वान इन्हें आर्य मानकर विदेशी मानते हैं। इन सभी मतो का विवेचन करते हुए डाक्टर दशरथ शर्मा चाहमानो की उत्पत्ति ब्राह्मण वश से मानते हैं जिनका कुछ विस्तार से हम वर्णन करेंगे।

अग्निवशीय मत

जिन भाटो और चारणो ने चाहमानो को अग्निवशीय माना है उनका मूल आधार चन्दबरदाई का पृथ्वीराज रासो[3] है। इस पुस्तक मे एक कथानक मिलता है। वह यह है कि जव ऋषियो ने आवू मे यज्ञ करना आरम्भ किया तो राक्षसो ने उसमें मल-मूत्र, हड्डियाँ आदि अपवित्र वस्तुओ को डालकर उसे भ्रष्ट करने की चेष्टा की। वशिष्ठ ऋषि ने यज्ञ की रक्षा के लिए मन्त्र-सिद्धि से अग्नि से चार पुरुषो को

---

[1] पृथ्वीराज विजय, द्वि० श्लो० ४४

[2] दि क्लासीकल एज, भा० ३, पृ० १६३

[3] नागरी प्रचारिणी सस्करण, भा० १

जन्म दिया जो प्रतिहार, परमार, चालुक्य और चौहान कहलाये। 'नैणसी' और सूर्य मल्ल मिश्रण ने भी अपने ग्रन्थो मे इस कथानक को कुछ हेर-फेर के साथ लिखकर प्राधान्यता दी जिसका फल यह हुआ कि पीछे होने वाले ख्यात और वशावली लेखको ने इनको अग्निवशीय ठहराया। राजपूतो को भी अपनी पवित्रता घोषित करने के लिए यह विचार अच्छा लगा और वे सभी अपने को अग्निवशीय मानने लग गये।

यदि निरपेक्ष भाव से देखा जाय तो सम्पूर्ण कथानक एक कल्पना-मात्र है, क्योकि न तो अग्नि से पुरुष पैदा हो सकते हैं और न पृथ्वीराज रासो जिसने इस कथा को जन्म दिया है समसामयिक ग्रन्थ है। इस कथानक का यदि कोई अर्थ हो सकता है तो वह यही है कि जब विदेशी आक्रमण से देश मे भय का वातावरण उपस्थित हो गया था तो राजपूत वशो ने अपने बलिदान के द्वारा देश की रक्षा का भार अपने कन्धो पर लिया।

पृथ्वीराज विजय[४], हम्मीर महाकाव्य[५], हम्मीर रासो[६] आदि ग्रन्थो मे चाहमानो को सूर्यवशीय मानते हैं और गोत्रोच्चार मे इनको चन्द्रवशीय बताया जाता है। डा० ओझा ने इन्हे जैसा कि ऊपर बताया गया है, सूर्यवशीय क्षत्रिय कहा है। कुछ लेखक इन्हे सूर्यवशीय और अग्निवशीय मतो को एक मानने मे आपत्ति नही मानते क्योकि सूर्य और अग्नि एक ही रूप है।[७]

इस मत के खण्डन के लिए हमे चाहमानो का प्राचीन रायपाल का सेवाडी का लेख[८] मिलता है जिसमे इन्हे इन्द्र के वशज माना है। यदि इन्हे सूर्यवशीय भी माना जाय तो उनका उद्गम इक्ष्वाकु वश से जोडना होगा। परन्तु किसी भी प्राचीन लेख या लेखक ने इन्हें इक्ष्वाकु की सन्तान नही बताया है। इस मत का सम्भवत यही अभिप्राय हो सकता है कि जब राजपूतो को नवीन भारतीय समाज मे मान्यता प्राप्त हो गयी तो इनको सूर्यवशीय क्षत्री कहा जाने लगा।

करनल टॉड[९] ने चाहमानो को विदेशी माना है और उसके पक्ष मे इनकी साम्यता मध्य एशियाई जातियो के रस्मो-रिवाज के आधार पर बतायी है। डा० स्मिथ[१०] तथा क्रुक ने भी इसी मत को स्वीकार किया है। डा० ओझा[११] ने इस

---

४ पृथ्वीराज विजय, २, श्लो० १-४३, २, श्लो० ५४, प्रोसिडिंग्ज एशियाटिक सोसाइटा, बगाल, १८७३, पृ० ६४

५ हम्मीर महाकाव्य, १२, भा० ३, पृ० २६४

६ हम्मीर रासो, न० प्र० स० सस्करण, पृ० ७-१४

७ राजस्थानी, कलकत्ता, ३, भा० २, पृ० १-८

८ ए० इ०, भा० ११, पृ० ३०८

९ टॉड राजस्थान, भा० १, पृ० ८०

१० अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, तृतीय सस्करण, पृ० ४१२

११ ओझा, राजपूताना का इतिहास, पृ० ७२-७५

प्रकार की रस्मो-रिवाज की साम्यता को ऊपरीय बताते हुए यह कहा है कि जो रस्मो-रिवाज, जैसे—वेश-भूषा, पेशा, सूर्य-उपासना, अग्नि और पशु-पूजन आदि राजपूतो और मध्य एशियाई जातियो मे साम्यता के कारण दिखायी देते है वे आर्य सस्कृति के, उन देशो मे प्रचार के प्रतीक हैं न कि उत्पत्ति के। डा० भण्डारकर[12] ने चाहमानो को खज्र जाति से सम्बन्धित बताया है और इनके आदि पुरुष वासुदेव वहमन ने चाहमान की व्युत्पत्ति पर बल दिया है। इस मत की पुष्टि मे एक वासुदेव की मुद्रा का आधार लिया गया है। परन्तु मुद्रा वाले वासुदेव और पृथ्वीराज मे वर्णित वासुदेव का समय मेल नही खाता, जिससे इस मत को स्वीकार करने मे आपत्ति दीखती है।

डा० दशरथ शर्मा[13] चाहमानो को बिजोलिया के लेख के आधार पर ब्राह्मण वश की सन्तान मानते हैं। 'विप्र श्रीवत्सगोत्रेभूत्' अकित पक्ति इस विचार की पुष्टि करती है। कायमखाँ रासो तथा चन्द्रावती के लेख मे भी इनका ब्राह्मणवशीय होना माना गया है। इस मत को बल और अधिक मिल जाता है जब हम जानते हैं कि भारत के प्राचीन राजवश जैसे पल्लव, कदम्ब, गुहिल आदि ब्राह्मणवशीय थे। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इन मतो मे सत्य कहाँ है, यह बताना बडा कठिन है।

चाहमानो का मूल स्थान

चाहमानो का प्रारम्भ मे कहाँ राज्य था और कहाँ से उन्होने विकास कर अपनी शक्ति को बलवती बनाया, इस सम्बन्ध मे निश्चित मत स्थिर करना बडा कठिन है। चित्तौडगढ के मान मोरी के ७१३ ई० के शिलालेख मे दी गयी वशावली मे महेश्वरदाम और भीमदाम नाम आते हैं, जो चहमान शासक भर्तृवृद्ध द्वितीय के भी पूर्व-पुरुष थे। इसी तरह जैसे चित्तौड के वे शासक 'त्वष्ट्री' वश के थे तो चाहमान भी पहले उन्हें इसी वश के मानते थे। चाहमान और मोरी वश की वशावलियो के नाम या नामान्त की ही साम्यता नही है वरन् इनके समय मे भी साम्यता दीख पडती है। ऐसी हालत मे चाहमानो का मोरियो से वश सम्बन्ध हो सकता है और उनका मूल निवास-स्थान चित्तौड माना जा सकता है।[14]

एक यह भी सम्भावना बतायी जाती है कि ७५६ ई० के एक शिलालेख मे चाहमानो की छ पीढियो के नाम दिये गये हैं जिनमे भतृवृद्ध का नाम अन्त मे है। यह भतृवृद्ध द्वितीय नागावलोक का सामन्त माना जाता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सातवी शताब्दी के लगभग भडौंच के चाहमान प्रतिहारो के सामन्त थे और उनकी भडौच मे स्थिति ६०० ई० से शासक के रूप मे थी। परन्तु इस क्रम को स्वीकार करने मे मुख्य आपत्ति यह आती है कि प्रतिहार भी इस समय तक उसी स्थान मे शासक थे।

---

[12] इ० ए०, भा० ४१, पृ० २५-२६

[13] अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ९-१०

[14] दि क्लासीकल एज, पृ० १६३

७३५ ई० तक तो जयभट्ट चतुर्थ का इस भाग मे शासक होना निश्चित है। इस परिस्थिति मे यही माना जा सकता है कि यदि छठी और सातवी शताब्दी मे भड़ौच प्रान्त मे चाहमान थे तो वे प्रतिहारो के सामन्त थे।[१५]

परन्तु अधिक विश्वस्त मान्यता जो चाहमानो के मूल स्थान के सम्बन्ध मे है वह यह है कि वे सपादलक्ष झील के आसपास रहते थे। पृथ्वीराज विजय काव्य, शब्द कल्पद्रुम कोष, लाडनूं लेखादि मे चाहमानो के निवास-स्थान के सम्बन्ध मे जागल देश, सपादलक्ष, अहिछत्रपुर आदि स्थान विशेष का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि चाहमान जागल देश (बीकानेर, जयपुर और उत्तरी मारवाड) के रहने वाले थे और उनके राज्य का प्रमुख भाग सपादलक्ष (सॉंभर) था और उनकी राजधानी अहिछत्रपुर (नागौर) थी। उस समय की भौगोलिक सीमा के अनुकूल जागल देश के विस्तृत भाग के सॉंभर और नागौर अग थे।[१६]

सॉंभर के चाहमानों की शक्ति का आरम्भ

सपादलक्ष के चाहमानो का आदि पुरुष वासुदेव था जिसके बारे मे विजोलिया के शिलालेख मे बताया गया है कि वह सॉंभर झील का प्रवर्तक था। इसका समय ५५१ ई० के लगभग अनुमानित किया जाता है। इसी के वश मे सामन्त सॉंभर का शासक था जो विजोलिया लेख के अनुसार वत्सगोत्र ब्राह्मण-वश से पैदा हुआ था। इसका समय ८१७ ई० के लगभग अनुमानित किया जाता है। इसके पीछे विजोलिया लेख मे नृप का नाम आता है जिसे हम्मीर काव्य और सुर्जन चरित्र के लेखको ने जो पूर्णतल (पूढाला जोधपुर राज्य मे) का शासक था। उसके उत्तराधिकारी क्रमश जयराज, विग्रहराज प्रथम, चन्द्रराज प्रथम और गोपेन्द्रराज हुए।[१७]

गोपेन्द्रराज के लडके दुर्लभराज ने वत्सराज के सहयोगी रहते हुए दोआब, मध्यदेश और पालो के देश तक विजयनाद प्रतिध्वनित किया और गौड देश पर अधिकार स्थापित कर वश-गौरव को बढाया। इसका पुत्र गूवक प्रथम प्रतिहार नागभट्ट द्वितीय का सामन्त था। जब गूवक शासक बना तब तक नागभट्ट के सामन्त होने से उसे प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। उसके द्वारा हर्षनाथ के मन्दिर का निर्माण होना जो चाहमानो के इष्टदेव थे, इस बात का प्रमाण है कि तब तक चाहमानो की राजनीतिक स्थिति सन्तोषजनक हो चुकी थी और इसका उत्तराधिकारी चन्द्रराज द्वितीय

---

[१५] दि क्लासीकल एज, पृ० १६२, सीगवी जैन ग्रन्थमाला, भा० ६, पृ० १२३

[१६] शब्द कल्पद्रुम कोष, भा० २, पृ० ५२६, डाइनेस्टिक हिस्ट्री, भा० २, पृ० १०५२, बुद्धिस्ट रेकार्ड ऑफ वेस्टर्न वर्ल्ड, भा० १, पृ० २००, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १०-१२

[१७] विजोलिया शिलालेख, श्लो० १२, हम्मीर महाकाव्य, ३, पृ० ५, सुर्जन चरित्र, १, श्लो० २०, प्रबन्ध कोष, पृ० १३३, डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० २, पृ० १०६१-६२, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० २३-२४

और उसका उत्तराधिकारी गूवक द्वितीय था। गूवक ने अपनी शक्ति को वढाने के लिए कन्नौज के शासक भोजराज से अपनी वहन कलावती का विवाह कर दिया। गूवक द्वितीय के पुत्र चन्दनराज ने दिल्ली के तोमर शासक को परास्त कर अपनी ख्याति को वढाया। उसकी रानी रुद्राणी जिसे आत्मप्रभा भी कहते है, यौगिक क्रिया मे निपुण थी और वडी शिव भक्त थी। वह प्रतिदिन पुष्कर मे एक हजार दीपक अपने इष्टदेव महादेव के सम्मुख जलाती थी।[१८]

चन्दनराज का उत्तराधिकारी वाक्पतिराज प्रथम अपने समय का प्रतिभाशाली शासक था। हर्षनाथ के लेख मे उसे महाराज की उपाधि से सम्वोधित किया गया है जो उसकी राजनीतिक सम्पन्नता का सूचक है। भाग्यवश वह उस समय साँभर का शासक था जव राष्ट्रकूटो ने दक्षिण से प्रयाण कर उत्तरी भारत मे प्रतिहारो की शक्ति को जर्जरित कर दिया था। जब राष्ट्रकूट फिर दक्षिण लौट गये तो अवसर का लाभ उठाकर वाक्पतिराज प्रथम ने प्रतिहारो को परास्त कर उनके राज्य के कई भागो को अपने राज्य मे मिला लिया। जव प्रतिहारो के अधिकारी तन्त्रराज ने खोये हुए राज्य के भागो को इससे छीनने का प्रयत्न किया तो उसने इसको पराजित कर अपने वल और शौर्य का परिचय दिया।[१९]

वाक्पति के पीछे विंध्यराज और उसके पीछे सिंहराज शासक हुए। इनमे सिंहराज ने वाक्पति प्रथम की नीति के अनुसार तोमरो को परास्त किया और उसके सहायको को भागने या वन्दी वनने के लिए विवश किया। प्रतिहारो को भी उसने दण्डित किया। जव चारो ओर उसके शत्रु हो गये तो सम्भवत उन्होने मिलकर उसकी हत्या कर दी जिसका वदला उसके पुत्र विग्रहराज द्वितीय ने लिया।[२०]

विग्रहराज द्वितीय चाहमान-वश के प्रारम्भिक शासको मे वडा प्रभावशील तथा योग्य था। इसके समय के ६७३ ई० के हर्षनाथ लेख से इसके समय की घटनाओ को निर्धारित करने मे हमे सहायता मिलती है। जयानक और चन्द्रशेखर ने इसके द्वारा मूलराज चालुक्य के परास्त करने की घटना की प्रशसा की है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मूलराज को अपनी सुरक्षा के लिए कांठा के किले मे शरण लेनी पडी थी और उसे अन्त मे चाहमान नृप को वार्षिक कर देने के लिए वाध्य होना पडा था। इस समय के गुजरात-शाकम्भरी सघर्ष का कारण विग्रहराज का भृगुकच्छ तक प्रयाण करना

---

[१८] हर्षनाथ लेख, श्लो० १३-१४, पृथ्वीराज विजय, श्लो० ३१, ३७, डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दन इण्डिया, भा० २, पृ० ६७२

[१९] हर्षनाथ लेख, श्लो० १६, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० २६-२७

[२०] हर्षनाथ शिलालेख, श्लो० १६, ए० इ०, भा० ३, पृ० २६६

हो सकता है। उसमे एक अच्छे विजेता और अश्वारोही के गुण थे जिससे उसके शत्रु सतत भयभीत रहा करते थे।[२१]

दुर्लभराज द्वितीय अपने समय का प्रतापी शासक था। उसने नाडौल के महेन्द्र चाहमान को परास्त किया था, सम्भवत इसलिए कि वह दुर्लभराज के शत्रु चालुक्यो से मिल गया था। शक्राई लेख मे इसे महाराजाधिराज लिखा है जो इसकी विशिष्टता की ओर सकेत करता है।[२२] उसका उत्तराधिकारी गोविन्द तृतीय था जिसकी उपाधि पृथ्वीराज विजय मे 'वैरीघरट्ट' की दी है जो उसको शत्रु सहारक होना प्रमाणित करता है। फरिश्ता ने इसको गजनी के शासक को मारवाड मे आगे बढने से रोकने वाला कहा है। इसके पुत्र वाक्पतिराज द्वितीय ने मेवाड के शासक अम्वाप्रसाद को युद्ध मे मारकर ख्याति प्राप्त की थी। इसके पीछे वीर्यराम निर्वल शासक हुआ जिसके हाथ से साँभर का राज्य निकल गया। परन्तु उसके उत्तराधिकारी चामुण्डराजा ने फिर से पैतृक राज्य को प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त की। इसके वाद सिंहट और फिर दुर्लभराज तृतीय शासक वना। उसने सम्भवत पृथ्वीपाल (नाडौल) और असराज के सहयोग से गजनी के इब्राहीम के साथ युद्ध कर या प्रतिहारो से युद्ध कर अपने प्राण गँवाये।[२३]

दुर्लभराज तृतीय का उत्तराधिकारी उसका भाई विग्रहराज तृतीय था जिसे वीसल भी कहते है। उसने परमार उदयादित्य की अपने अश्वरोहियो द्वारा चालुक्य राजा कर्ण की सहायता की थी। उसके लडके पृथ्वीराज प्रथम ने, जो ११०५ ई० के लगभग विद्यमान था, ७०० चालुक्यो को, जो पुष्कर के ब्राह्मणो को लूटने के लिए वहाँ आये हुए थे, मौत के घाट उतारा।[२४]

साँभर के चाहमानों का साम्राज्य-निर्माण

जिस शक्ति का आरम्भ वासुदेव के काल से आरम्भ हुआ था वह शक्ति पृथ्वीराज प्रथम के पुत्र अजयराज के समय मे सुदृढ हो गयी, जिससे उसमे राज्य-विस्तार हेतु सघर्ष करने की क्षमता उत्पन्न हो गयी। हम अजयराज के काल को चाहमानो के साम्राज्य-निर्माण का काल मानते हैं। अजयराज ने उज्जैन पर आक्रमण कर मालवा के परमार शासक नरवर्मन को परास्त किया और उसके सेनापति सुलहाणा को वन्दी वनाया। इस अवसर पर उसने तीन राजाओ का, चाचिग, सिंधुल और यशोराज का वध किया। पृथ्वीराज विजय के आधार से उसका गजना मातगो को

---

२१ हर्षनाथ शिलालेख, श्लो० २४, ५०-५३, प्रवन्ध चिन्तामणि, पृ० १५-१६, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० २७-३२

२२ हर्ष लेख, श्लो० २६

२३ पृथ्वीराज विजय, श्लो० ५०-७०; ए० इ०, भा० १८, पृ० ११, इ० ए०, भा० १६, पृ० २१८, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ३४

२४ पृथ्वीराज विजय, श्लो० ७७-७६, विजोलिया लेख, श्लो० १४

परास्त करना भी पाया जाता है। इस उल्लेख मे यही सत्यता हो सकती है कि उसने आक्रमणकारी सालार हुसैन या उसके पूर्ववर्ती किसी व्यक्ति को पीछे धकेल दिया हो। मालवा के परमारो को दबाये रखने तथा अन्य शत्रुओ से अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए उसने १११३ ई० के लगभग अपने नाम से अजयमेरु (अजमेर) की सस्थापना की। उसकी राजनीतिक प्रतिभा उसके समय के चाँदी और ताँवे के सिक्को से प्रमाणित होती है। कुछ मुद्राओ पर उसकी रानी सोमलदेवी का नाम भी अकित मिलता है। अजयराज शैव होते हुए भी धर्म-सहिष्णु था। उसने जैन और वैष्णव धर्मावलम्बियो को सम्मान की दृष्टि से देखा। उसने नये नगर मे जैनो को मन्दिर वनाने की अनुज्ञा दी और पार्श्वनाथ के मन्दिर के लिए सुवंण कलश प्रदान किया। उसके समय मे होने वाले दिगम्बर और श्वेताम्बरो के शास्त्रार्थ की अध्यक्षता स्वय के द्वारा किया जाना यह बताता है कि वह दोनो मतावलम्बियो का विश्वासभाजन था और उनके शास्त्रो का मर्मज्ञ था। वह ११३० ई० के पहले किसी समय अपने लडके अर्णोराज को राज्य का भार देकर पुष्करारण्य मे जा रहा।[२५]

अर्णोराज ११३३ ई० के आसपास गद्दी पर बैठा और ११५५ ई० तक राज्य करता रहा। अजमेर सग्रहालय की खण्डित-प्रशस्ति से विदित होता है कि उसने उन तुर्को को जो अजमेर तक आ पहुँचे थे, पराजित किया और मालवा के नरवर्मन को परास्त किया। उसने अपनी विजय-पताका को सिन्धु और सरस्वती नदी के प्रदेशो तक ले जाकर अपने वश की परम्परा के महत्त्व को बढाया। हरितानक देश तक अभियान का नेतृत्व कर उसने अपनी पैतृक विजय-भावनाओ के प्रति कटिबद्धता प्रकट की। इन विजयो से उसने पजाब के कुछ पूर्वी भाग और सयुक्त प्रान्त के पश्चिमी भाग को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया।[२६]

परन्तु जब वह गद्दी पर बैठा उस काल तक चालुक्य बडे शक्तिशाली हो गये थे। जयसिंह, सिद्धराज और कुमारपाल बडे महत्वाकाक्षी थे जो अपने पैतृक राज्य की सीमाओ को परिवर्द्धित करना चाहते थे। यह तो ठीक तरह से कहना कठिन है कि चाहमान-चालुक्य सघर्ष क्यो छिड गया, परन्तु इतना अवश्य दिखायी देता है कि यह सघर्ष जो पुराना था इन दोनो शासको की महत्त्वाभिलाषा के कारण उग्र हो गया था। अर्णोराज अपना राज्य-विस्तार मालवा की ओर करना चाहता था तो जयसिंह राजस्थान की ओर बढना चाहता था। अन्त मे जयसिंह ने अर्णोराज की कुछ बातें मानकर उसे राजी कर लिया, और दोनो का वैमनस्य वैवाहिक सम्बन्ध से कुछ समय

---

[२५] बिजोलिया शिलालेख, श्लो० १५, चाहमान प्रशस्ति, अजमेर, श्लो० २१, पृथ्वीराज विजय, श्लो० ९७, ११३, अपभ्रश काव्यत्रयी, पृ० ११२, जिनपाल खरतारगच्छ पद्यावली, पृ० १६, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ३८-४२

[२६] पृथ्वीराज विजय, ६, श्लो० १-२७, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ४३-४४

के लिए समाप्त हो गया। जयसिंह ने अपनी पुत्री कान्चनदेवी का विवाह अर्णोराज से कर दिया।[२७]

परन्तु चाहमान-चालुक्य सघर्ष, ११४२ ई० मे कुमारपाल के शासक होने पर, फिर छिड गया। हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'द्वाश्रय महाकाव्य' मे इस युद्ध को आरम्भ करने का दोपी अर्णोराज को ठहराया है, यह वताते हुए कि उसने कुमारपाल के विरुद्ध कुछ राजाओ को मिलाकर गुजरात पर धावा वोल दिया था। मेरुतुग ने अपने प्रवन्ध चिन्तामणि मे युद्ध के कारणो पर प्रकाश डालते हुए यह वताया है कि अर्णोराज आक्रामक था और उसने चाहड से मिलकर गुजरात के सामन्तो मे फूट डालकर कुमारपाल की स्थिति को गम्भीर वना दिया था। जयसिंह सूरी, जिनमण्डन, चरित्र सुन्दर तथा प्रवन्ध कोष का लेखक आदि इस युद्ध का कारण कुछ और ही वताते हैं। उनका लिखना है कि एक समय अर्णोराज और उसकी स्त्री देवलदेवी, जो कुमारपाल की वहन थी, चौपड खेलते समय हास्य-विनोद मे एक-दूसरे के वश की निन्दा करने लगे। हास्य-विनोद वैमनस्य मे वदल गया जिसके फलस्वरूप कुमारपाल ने अर्णोराज पर आक्रमण कर दिया। परन्तु इस कथानक मे सत्य कम है क्योकि देवलदेवी नाम की कोई कुमारपाल की वहन अर्णोराज को नही व्याही थी। हेमचन्द्र का, जिसका सम्वन्ध कुमारपाल से घनिष्ठ था, कहना ठीक मालूम होता है कि इस युद्ध का कारण राजनीतिक था। जयसिंह के वाद होने वाले आन्तरिक वखेडो से लाभ उठाने के अभिप्राय से अर्णोराज ने चालुक्यो की राजनीति मे भाग लिया हो जिससे कुमारपाल को भी अर्णोराज के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी पडी हो तो कोई आश्चर्य नही।[२८]

जव युद्ध की सम्भावना नही टाली जा सकती थी तो अर्णोराज गुजरात की ओर चला, परन्तु कुमारपाल ने उसे आवू के निकट परास्त कर दिया। सम्भवत विजयी चालुक्यो की सेना अजमेर तक आ पहुँची। परन्तु वह सुदृढ दिवारो मे घुसने नही पायी। उसे हताश होकर लौटना पडा। दुवारा फिर अर्णोराज ने अपनी विफलता का वदला कुमारपाल से लेने की योजना वनायी परन्तु चालुक्य वढते हुए अजमेर तक आ पहुँचे। अर्णोराज की इस वार करारी हार हुई। उसे कुमारपाल को अपनी वहन, हाथी, घोडे आदि उपहार के रूप मे देकर विदा करना पडा। इस पराजय से अर्णोराज की प्रतिष्ठा को वडी हानि उठानी पडी। परन्तु समयोचित सन्धि कर उसने

---

[२७] देवसूरी चरित्र, श्लो० ७०-८०, सुरथोत्सव, १५, श्लो० २२

[२८] द्वयाश्रय महाकाव्य, १६, ७-१४; हेमचन्द्र प्रवन्ध, श्लो० ४१६, ४२३, ५१८, कुमारपाल प्रवन्ध, पत्र ३७-४०, प्रवन्ध कोप, पृ० ५१, पृथ्वीराज विजय, ५, श्लो० ५१, सिंघवी जैन ग्रन्थमाला, पृ० ९४, ओझा, भापण, अजमेर और पुष्कर, पृ० १३५, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ५०-५२

अपने राज्य की सीमा को यथावत वनाये रखा। अलवत्ता इस विजय से कुमारपाल का आतक राजस्थान मे जम गया।

अर्णोराज शैव था परन्तु उसमे अन्य धर्मावलम्वियो के प्रति सहिष्णुता की भावना थी। उसने अजमेर मे खरतरगच्छ के अनुयायियो के लिए भूमिदान दिया और पुष्कर मे वराह-मन्दिर का निर्माण करवाया। देववोध और धर्मघोप उसके समय के प्रकाण्ड विद्वान थे जिनको उसने सम्मानित किया था। वैसे तो चालुक्यो की पराजय से उसको कुछ मान-हानि उठानी पडी थी, फिर भी गजनवियो को परास्त कर तथा मालवा और हरियाना अभियानो का नेतृत्व कर उसने अपने वश के प्रभुत्व को नही घटने दिया। ऐसे ख्यातिमान स्वदेश प्रेमी शासक की हत्या उसके वडे लडके जगदेव ने कर दी।[२६]

पितृ घातक जगदेव के अल्पकालीन शासन के पश्चात विग्रहराज चतुर्थ ११५८ ई० के आसपास गद्दी पर वैठा और ११६३ ई० तक राज्य करता रहा। इसके समय मे चौहान साम्राज्य का स्वरूप वडा विस्तारित हो गया। उसने ढिल्लिका (दिल्ली) के तोमरो को पराजित किया। पजाव मे हिसार और आशिक प्रदेश मुसलमानो से जीत कर अपने अधिकार मे लिये। चालुक्य कुमारपाल से पाली, जालौर और नागौर छीन लिये और परमार कुमारपाल को नीचा दिखाया। उसने अपने प्रवल शत्रु सज्जन को भी परास्त किया। विग्रहराज की राज्य की सीमा शिवालिक पहाडी, शहरानपुर तथा उत्तर प्रदेश तक प्रसारित थी। शिलालेखो के अनुसार जयपुर और उदयपुर जिले के कुज भाग उसके राज्य के अन्तर्गत थे। इसमे कोई सन्देह नही कि अपनी शक्ति और वल से विग्रहराज ने म्लेच्छो का दमन कर आर्यावर्त को वास्तव मे आर्य भूमि वना दिया था। जिस मुस्लिम शासक हम्मीर को परास्त करने का उल्लेख ललितविग्रह नाटक मे किया गया है, वह गजनी का अमीर खुसरूशाह था।[३०]

विग्रहराज चतुर्थ न केवल एक अच्छा विजेता या सेनाध्यक्ष ही था वह साहित्य का प्रेमी और उसका आश्रयदाता भी था। उसके समय के लोग उसे 'कविवन्धु' के नाम से पुकारते थे। 'ललितविग्रह' नाटक का लेखक सोमदेव उसके दरवार का राजकवि था। वह स्वय हरकेलि नाटक का रचयिता था जिसकी रचना से उसके समय की साहित्यिक प्रगति का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है।[३१]

---

[२६] द्वयाश्रय महाकाव्य, १६, ८, १८, १०८, इण्डियन एण्टिक्वेरी, ४६, पृ० १२, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ५२-५५

[३०] उपेशगच्छ प्रवन्ध, सिंघवी जैन ग्रन्थमाला, पृ० १०, शिवालिक शिलालेख, श्लो० २

[३१] पृथ्वीराज विजय, ८, ५५, प्रवन्ध चिन्तामणि, पृ० ६०, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ६३-६४

वह एक अच्छा निर्माता भी था। उसने अजमेर मे धार की भाँति, एक सस्कृत पाठशाला वनवायी। उसने अपने नाम पर विसालसर की झील वनवायी जिसके वीच उसके रहने के प्रासाद और उसके चारो ओर अनेक मन्दिरो का निर्माण कराया। विसालपुर नाम के कस्वे की स्थापना तथा कई दुर्गों का निर्माण भी इसके द्वारा किया गया था।[३२]

शैव मतावलम्बी होते हुए भी उसने जैन विहार वनवाये, उनके उत्सवो मे भाग लिया और धर्मघोष सूरी के आदेश से एकादशी के दिन के लिए पशुवध पर प्रतिवन्ध लगाया।[३३]

विग्रहराज अपने समय का महान शासक था जिसका काल सपादलक्ष का सुवर्ण युग था। जव उसने अपने राज्य की वागडोर हाथ मे ली थी तो वह पराजय, अप्रतिष्ठा, दुर्वलता आदि पराभवो से निम्न स्तर पर पहुँचा हुआ था। परन्तु वह अपनी सूझबूझ, वल और कार्य-परायणता से अपने राज्य की प्रतिष्ठा को अपनी विजयो द्वारा पुन सस्थापित करने मे सफल हुआ। तोमर, भण्डानक, गुहिल आदि शक्तियो को दवाकर उसने अपने राज्य की प्रतिष्ठा को दृढ वढाया। साहित्य और स्थापत्य की सेवा कर उसने सपादलक्ष राज्य का स्तर ऊपर उठाया। उसके समय की कृतियाँ आज भी विग्रहराज के काल की स्मृति को जीवित वनाये हुए हैं।

विग्रहराज चतुर्थ के मूल्याकन मे डा० दशरथ शर्मा[३४] लिखते हैं कि उसकी महत्ता निर्विवाद है, क्योकि एक सेनाध्यक्ष के साथ-साथ वह एक विजेता, साहित्य का सरक्षक, अच्छा कवि और सूझबूझ वाला निर्माता था। अपने समकालीन विद्वानो मे वह 'कविवान्धव' कहलाता था। पृथ्वीराज का लेखक लिखता है कि जव

---

[३२] आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, भा० २, पृ० २६३

[३३] पृथ्वीराज विजय, ८, ५५

[३४] "Vigraharaja's greatness is an undisputed fact, for besides being a first class general and a mighty conqueror he was a patron of literature, a good poet himself, and a builder with imagination and vision To his contemporaries he was known as *Kavibandhava*" "When he died", states the Prathvirajavijaya "the term *Kavibandhava*, became useless, there was none else to whom it could be applied with aptness" Someshwara regarded Vigraharaja as the foremost not only of heroes but even the learned people of his time Kielhorn appears to have held Vigraharaja's poetic powers in high estimation, for according to him we find in (*Harakeli*) actual and undoubted proof that Hindu rulers of the past were eager to compete with Bhavabhuti and Kalidas in poetic fame"
—Dr Dashrath Sharma, *Early Chauhan Dynasties*, p 63

"Vigraharaja IV's reign is to be regarded as the golden age of Sapadalaksha"
—Dr Dashrath Sharma, *Early Chauhan Dynasties*, p 65

विग्रहराज की मृत्यु हो गयी तो 'कविबान्धव' की उपाधि निरर्थक हो गयी, क्योंकि इस उपाधि को धारण करने की किसी मे क्षमता नही रही थी। सोमदेव तो विग्रहराज को वीरो मे ही नही वरन् विद्वानो मे भी अग्रणीय मानता था। ये केवल मात्र उसकी मिथ्या प्रशसा नही है, हरकेली नाटक से उसकी योग्यता आँकी जा सकती है। किलहोर्न ने भी उसकी विद्वत्ता की प्रशसा करते हुए स्वीकार किया है कि वह उन हिन्दू शासको मे से एक व्यक्ति था जो कालिदास और भवभूति की होड कर सकता था। विग्रहराज का समय सपादलक्ष का सुवर्ण काल था।

विग्रहराज चतुर्थ के बाद अपरगाग्य शासक बना और उसके बाद पृथ्वीराज द्वितीय। पृथ्वीराज ने अपने मामा गुहिल किल्हण को हसी का अधिकारी नियुक्त किया जिससे वह मुसलमानो को उसकी सीमा से दूर रखे। उसने सतलज के तटीय पचपट्टन राज्य को भ्रष्ट कर दिया और वहाँ के शासक को बन्दी बनाया। पृथ्वीराज के समय का यमीनी वश का खुसरो मलिक उसका शत्रु था जिसको पूरी तौर से दबाया गया। कुछ शिलालेखो से पता चलता है कि पृथ्वीराज द्वितीय का राज्य अजमेर और शाकम्भरी के अतिरिक्त थोड (जहाजपुर के निकट), मेनाल (चित्तौड के निकट), हसी (पजाब मे) आदि भागो तक विस्तारित था। शिव का उपासक होते हुए भी वह अपने पूर्वजो की भाँति धम-सहिष्णु नीति को मान्यता देता था। उसने ब्राह्मणो को जहाँ सुवर्ण दान दिया तो वहाँ बिजोलिया के पार्श्वनाथ के मन्दिर के लिए मोरझरी नाम के गाँव को अनुदान के रूप में देकर अपने आपको कृतकृत्य अनुभव करने लगा।[३४]

पृथ्वीराज के नि सन्तान मरने पर उसका चाचा सोमेश्वर (अर्णोराज का पुत्र), जो गुजरात मे जयसोम और कुमारपाल के दरवार मे पला था, शाकम्भरी राज्य का स्वामी बना। उसने कुमारपाल के कोकण के शत्रु मल्लिकार्जुन को परास्त कर एक ख्याति प्राप्त कर ली थी। उसी समय उसने कलचुरी की राजकुमारी से विवाह किया जिससे उसके पृथ्वीराज तृतीय और हरिराज पुत्र पैदा हुए। जब उसे अजमेर के शासन की वागडोर हाथ मे लेने को आमन्त्रित किया गया तो वह अपनी पत्नी और पुत्रो के साथ वहाँ आया। उसके राज्य में बीजोलिया, रेवासा, थोड, अणवाक आदि भाग भी सम्मिलित थे। उसने अपने पूर्वजो की भाँति नगर, मन्दिर और प्रासाद निर्माण मे रुचि ली। उसने अपने पिता और स्वय की मूर्ति वनाकर एक नवीन मूर्तिकला को प्रोत्साहन दिया। उसके समय के सिक्के भी उसकी आर्थिक और कलात्मक समृद्धि का परिचय देते हैं। शैव धर्मावलम्वी होते हुए भी उसने जैन धर्म के प्रति सहिष्णुतापूर्ण नीति का अवलम्वन किया। उसके समय मे फिर से चालुक्य-चौहान सघर्ष छिड गया जिससे उसे कुछ हानि उठानी पडी। उसके पीछे उसका पुत्र

---

[३४] इण्डियन एण्टिक्वेरी, ३१, पृ० १६, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ६०-६१

पृथ्वीराज तृतीय ११७७ ई० मे चाहमानो का नेता बना जिसका वर्णन हम यथास्थान करेंगे।[३५]

शाकम्भरी के चाहमानो से ही इनका इतिहास समाप्त नही होता। इनकी अन्य शाखाएँ भी राजस्थान मे यत्र-तत्र बिखरी हुई थी, जिनका अपना स्वतन्त्र इतिहास था। इन विभिन्न शाखाओ के चाहमानो ने विदेशियो से सघर्ष लिया और अपना इतिवृत्त उज्ज्वल बनाया। ये शाखाएँ रणथम्भौर, नाडौल, जालौर और साँचौर की थी जिनका वर्णन उनके उदात्त वीरोचित कार्यों के साथ किया जायगा।

---

[३५] पृथ्वीराज विजय, ८, पृ० ११, १५, ३५, ६२-६६, बिजोलिया लेख, श्लो० २८; किराडू लेख, ४-५, एन्युअल रिपोर्ट राजपूताना म्यूजियम, १९२२-२३, पृ० ८, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ६८-७१, दि स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० ८३

अध्याय ६

अन्य राजपूत वशो के अधिवासन और राज्य-विस्तार

(८वी से १२वी शताब्दी तक)

जिन राजपूत वशो का ऊपर वर्णन किया गया है इनके अतिरिक्त राजस्थान मे अन्य राजपूत वश भी थे जिन्होने अलग-अलग स्थानो मे अपने राज्य स्थापित किये थे, जिनमे भाटी, चावडा और कछवाहा प्रमुख हैं।

भाटी

जैसलमेर का राजवश राजपूतो की चन्द्रवशीय यादवो की भाटी शाखा मे है। इस वश का मूल पुरुष कोई 'भाटी' हो सकता है, जिससे इसके वशज 'भाटी' कहलाने लगे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग वि० स० ८०० के लगभग राजस्थान मे पजाब से आकर बल्लमाड के मरुस्थलीय भाग मे सुरक्षा की दृष्टि से आकर बस गये। अपने प्रारम्भिक अधिवासन मे उनको स्थानीय लघा, जामडा, मोहिया आदि जातियो से सघर्ष करना पडा और धीरे-धीरे आठवी शताब्दी से १२वी शताब्दी तक इन्होने तन्नौट, देरावल, लोद्रवा और जैसलमेर मे अपनी बस्तियाँ स्थापित कर दी।

इनका प्रारम्भिक इतिहास अन्धकार मे है। नैणसी ने पुरानी भाटो की पोथियो के आधार पर प्राचीन भाटियो की वशावली बडी विस्तृत बतायी है। करनल टॉड ने भी इस नामावलि मे अन्य भाटो की पुस्तको से विशेप नामो को जोड दिया है। इन नामो मे अधिकाश काल्पनिक हैं। हमे भाटियो के सम्बन्ध मे लोद्रवा से एक शिलालेख ११५७ ई० का मिला है जिसमे भाटी राजाओ के नाम और उनके सम्बन्ध मे कुछ वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त गोवर्धन नामक स्थान से दूसरे लेख तथा अन्य स्थानो से कुछ और लेख उपलब्ध हुए हैं जो कि भाटियो के अधिवासन और विस्तार पर प्रकाश डालते है। हम इन लिखित प्रमाणो को ही प्राधान्यता देकर भाटियो के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं।

दन्तकथाओ तथा पिछली ख्यातो के आधार पर भट्टिवश के मुख्य प्रवर्तको मे रज और गज का नाम आता है जो पजाब मे छठी शताब्दी मे शासक थे। सातवी शताब्दी के इसी वश के शासक शालिवाहन और बलन्द बताये जाते हैं जो पजाब मे राज्य करते रहे। फिर उत्तरोत्तर बलन्द, भाटी, मगलराव और मजसराव तथा केहरजी और तन्नूजी के नाम गिनाये जाते हैं। मजसराव का राजस्थान के रेगिस्तान मे आना

माना जाता है। केहर के द्वारा तन्नौट किले के बनाये जाने की मान्यता है जो जैसलमेर से ७५ मील उत्तर-पश्चिम मे है। इनके बाद भी कई शासको के नाम मिलते हैं। ये वंशावली भट्टियो के इतिहास की प्राचीनता तो स्थापित करती हैं पर विश्वस्त नही हैं।[1]

भाटियो का व्यवस्थित इतिहास विजयराज से आरम्भ होता है क्योकि उसके समय की घटनाएँ उसके तीन शिलालेखो से उपलब्ध होती है। पहला शिलालेख विजादासर के पास मिला है जिसके कई अंश नष्ट है। इसका समय ११६५ ई० है जिससे मालूम होता है कि विजयराय ने देवी के मन्दिर के लिए अनुदान दिया हो। दूसरे ११६७ ई० के लेख मे इसी के द्वारा देवी के मन्दिर के मठ के निर्माण का उल्लेख है। तीसरे ११७६ ई० के धनावा के लेख मे विजयराज को महाराजा की उपाधि से विभूषित किया गया है जिसकी पट्टराजिनी (मुख्य रानी) द्वारा किसी मूर्ति के स्थापित किये जाने का वर्णन है। इन तीनो शिलालेखो से उसकी धर्म-परायणता और राजनीतिक स्थिति की स्थिरता प्रमाणित होती है। परन्तु इसके नाम से साम्यता रखने वाला जैसलमेर मे विजल को इसके साथ जोडा गया है, जिसको नैणसी ने तथा टॉड ने व्यभिचारी और दुराचारी शासक बताया है। उसकी मृत्यु भी दुखान्त घटनाओ से सम्बन्धित बतायी गयी है। यह व्यक्ति दूसरा हो सकता है। जिस शासक को समकालीन शिला लेखक 'परमभट्टारक महाराजाधिराज-परमेश्वर' की उपाधि से विभूषित करता है वह निम्न-स्तर का हो यह सम्भव नही। नाम की साम्यता की तुलना मे घटनाओ की विभिन्नता दोनो शासको को अलग-अलग व्यक्ति प्रमाणित करती है। जो व्यक्ति देवी का भक्त हो और जो विजासर ताल का तथा मठ का निर्माणकर्ता हो उसका जीवन 'विजल' की भाँति घृणित नही हो सकता।[2]

विजयराज के बाद उसका पुत्र भोज शासक बना, परन्तु उसकी मृत्यु गोरियो से युद्ध करने मे हो गयी। जैसल जो इसके बाद राजा बना उसने लोद्रवा को अरक्षित स्थान समझकर किसी दूसरे प्राकृतिक सुरक्षा की सुविधा के स्थान पर राजधानी बनायी और वह स्थान उसके नाम से जैसलमेर कहलाया। वह केवल मात्र नयी राजधानी के लिए कुछ द्वार और प्राकार का निर्माण कराने पाया था कि पाँच वर्ष राज्य करने के बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी।[3] उसका उत्तराधिकारी शालिवाहन

---

[1] ए० इ०, भा० १, पृ० २२२, आ० सर्वे रिपोर्ट, भा० २, पृ० २०, ज० रा० रा० सो०, १८९४, पृ० ४-६, टॉड राजस्थान, भा० २, पृ० ११७६-१२०४

[2] विजासर गोवर्धन लेख, भट्टिक संवत् ५४१ (११६५ ई०), चामुण्डा माता लेख, भट्टिक संवत् ५४३ (११६७ ई०), धनावा का ताल लेख, भट्टिक संवत् ५५२ (११७६ ई०), जैसलमेर की तवारीख, पृ० २७, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २८०-२८२, २८६-८७

[3] नैणसी, २, पृ० २७९

था जिसने ११८७ ई० के आसपास तक राजधानी के निर्माण-कार्य को पूरा करवाया।[४] वह शक्तिशाली शासक था। उसकी शक्ति का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नैणसी ने[५] दिया है यह बताते हुए कि उसने झारखण्ड, मेवाड, गुजरात, आबू, कोकण, रामेश्वर आदि स्थानो को जीत लिया। इस वर्णन मे सत्य का अश कम है परन्तु यह अवश्य दीख पडता है कि वह अपने समय का प्रतिभाशाली शासक था।

शालिवाहन के बाद बैजल शासक बना जो दुश्चरित्र व्यक्ति था। नैणसी ने उसके सम्बन्ध मे लिखा है कि उसका सम्बन्ध उसकी विमाता से सशयात्मक था।[६] उसके अन्त के सम्बन्ध मे टॉड ने लिखा है कि उसने शालिवाहन के पद को नियम-विरुद्ध हथिया लिया था और उसे उसके थोडे समय के बाद आत्महत्या करनी पडी।[७] नैणसी ने उसके सम्बन्ध मे लिखा है कि उसको भाटियो ने अयोग्य मानकर गद्दी से उतार दिया था।[८] एक बही के आधार पर प्रमाणित है कि उसकी हत्या करवा दी गयी थी।[९]

बैजल के बाद केल्हण गद्दी पर बैठा। उसके उत्तराधिकारियों मे चाचकदेव, कर्णसिह, लाखणसेन, पुण्यपाल, जैतसिह आदि हुए। इनकी मुठभेड बिलोचियो, मुल्तानियो आदि से होती रही। गुलाम-वश के शासको के साथ भी इनकी छेडछाड होने के उल्लेख मिलते हैं।

चावडा वश

भट्टियो की भाँति राजस्थान के अधिवासियो मे चावडा भी बडे प्राचीन राजपूत है। वैसे तो इनके राज्य का होना भीनमाल, वडवाण (काठियावाड मे) और अन्हिलवाडा (पाटन) मे प्रमाणित होता है, परन्तु इन सब मे भीनमाल मे इनका राज्य सबसे प्राचीन था। सस्कृत लेखो मे चावडो के लिए चाप, चापोत्कट, चावोटक आदि नामो को काम मे लिया गया है। ९१४ ई० के धरणीवराह के दानपत्र[१०] मे शकर के चाप से उत्पन्न होने के कारण इन्हे चाप कहा गया। यह उल्लेख कल्पना पर आधारित मालूम होता है। सम्भवत चाप, चाँपा या चपक नाम का इस वश का इनका कोई आदि पुरुष रहा हो जिसके नाम से इस वश को चावडा वश कहा गया हो।

इनकी उत्पत्ति के विषय मे भी विभिन्न मत है। कोई इन्हे चालुक्यो की और कोई इन्हे परमारो की प्रशाखा मानते हैं। कुछ विद्वान इनकी गणना गुर्जरो के

---

[४] बृहद् गुर्वावलि, पृ० ३४
[५] नैणसी, भा० २, पृ० २८१
[६] नैणसी, भा० २, पृ० ३७
[७] टॉड राजस्थान, भा० २, पृ० १२०८
[८] नैणसी, भा० २, पृ० ३७
[९] बही हनुवन्तजी, प्रतिलिपि, वि० १९१०, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २८२
[१०] इ० ए०, जि० १२, पृ० १९३-९८

अन्तर्गत करते हैं। परन्तु ७३९ ई० के कलचुरी के दानपत्र[११] मे अरवो के आक्रमण के प्रसग में चावडा और गुर्जरो को विभिन्न अकित किया गया है। करनल टॉड ने इन्हें सीथियन प्रमाणित किया है। युवानच्याग, जो ६४१ ई० के आसपास भीनमाल आया था, चावडो को क्षत्रिय लिखता है।[१२]

भीनमाल के चावडो का, सामग्री के अभाव से, शृखलावद्ध इतिहास नही मिलता है। परन्तु यत्र-तत्र कुछ सकेतो के द्वारा जो समसामयिक साधनो मे मिलते हैं, हम इनके सम्वन्ध मे धुँधली ऐतिहासिक स्थिति पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं। वसतगढ के ६२५ ई० के शिलालेख[१३] मे वर्मलात नामक शासक के राज्य मे सामन्त रज्जिल, जो सत्याश्रय का पुत्र था, अर्वुद देश का स्वामी वना। भीनमाल मे रहने वाले माघ कवि ने अपनी पुस्तक 'शिशुपाल वध'[१४] मे सुप्रभदेव को वर्मलात का सर्वाधिकारी वताया है। व्रह्मगुप्त ने अपने 'व्रह्मस्फुट सिद्धान्त'[१५] नामक रचना मे ६२८ मे चापावशी व्याघ्रमुख का उल्लेख किया है। इस वश के नाश होने का सकेत ७३९ ई० के कलचुरी के दानपत्र मे मिलता है जहाँ अरवो की चढाई का वर्णन है। इसकी पुष्टि 'फतहुल वलदान'[१६] नामक फारसी तवारीख से होती है, जिसमे जुनैद के द्वारा भीनमाल (वूलमाल) पर अरव आक्रमण का जिक्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि अरवो के द्वारा नष्ट किये गये चावडो के वचे हुए राज्य को प्रतिहारो ने अपने अधिकार मे कर लिया।[१७]

नागवश

नागवश भारतीय जातियो मे एक प्राचीन जाति थी जिसका अधिकार प्राचीन-काल मे राजस्थान मे था। अहिछत्रपुर (नागौर) मे इनके अधिकार का केन्द्र रहा हो तो कोई आश्चर्य नही। कोटा जिले के शेरगढ के द्वार से ७९१ ई० के शिलालेख[१८] से नागवशियो के चार नाम उपलब्ध होते हैं जो विन्दुनाग, पद्मनाग, सर्वनाग और देवदत्त हैं। इसमे सर्वनाग की रानी का नाम 'श्री' मिलता है। इसमे यह अकित है कि देवदत्त ने ७९१ ई० मे कौशवर्धन पर्वत के पूर्व मे एक वौद्ध चैत्य और विहार का निर्माण कराया। इस लेख मे देवदत्त को सामन्त वताया है। सम्भवत ये कन्नौज के रघुवशी प्रतिहारो के सामन्त रहे हो।

---

[११] ना० प्र० प०, भा० १, पृ० २१०
[१२] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १६३
[१३] ए० इ०, जि० ९, पृ० १९१-९२
[१४] शिशुपाल-वध, सर्ग २०, श्लो० १
[१५] व्रह्मस्फुट सिद्धान्त, श्लो० ७-८
[१६] इलियट, हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ४४१-४२
[१७] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १६४-६५
[१८] इ० ए०, जि० १४, पृ० ४५, ओझा राजपूताने का इतिहास, पृ० २६१-२६३

यौधेय वश

यौधेय हमारे देश के प्राचीन क्षत्रिय हैं। भरतपुर के बयाना नगर के पास विजयगढ के किले से वि० स० छठी शताब्दी का एक खण्डित लेख मिला है जिनमे जोहियो (यौधेयो) का उल्लेख है। बीकानेर के राठौडो को इनसे कई युद्ध लडने पडे थे जैसा कि पिछले प्रमाणो से सिद्ध है। राजस्थान के उत्तर-पूर्व और उत्तरी भाग मे इनका प्रारम्भिक अधिवासन होना प्रमाणित है। बीकानेर के निकटवर्ती भागो मे मिलने वाले जोहिये अधिकाश मे मुसलमान हो गये थे।[१९]

तवर वश

जिस समय कन्नौज में प्रतिहार राज्य करते थे उस समय तवर दिल्ली के आसपास के भागो मे शासन करते थे। चाहमानो से परास्त होने पर इस वश के कई व्यक्ति राजस्थान मे आये और वे जयपुर के आसपास बस गये। इनके बसने के स्थान को आज भी तवारवाटी कहते हैं।[२०]

दहिया वश

दहियावशीय राजपूत सस्कृत के शिलालेखो मे 'दधीचिक', 'दहियक' या 'दधीच' नाम से जाने जाते है। इनकी उत्पत्ति किनसरिया गाँव (जोधपुर) के ९९९ ई० के शिलालेख[२१] से दधीचि ऋषि से मानी जाती है। ये चौहानो के सामन्त थे। इस वश मे मेघनाद और वैरीसिंह प्रसिद्ध योद्धा हुए थे। वैरीसिंह के पुत्र चच्च ने ९९९ ई० मे केवायमाता के मन्दिर का निर्माण कराया। इसी तरह से १२१५ ई० के मगलाणा (जोधपुर) के शिलालेख[२२] मे महामण्डलेश्वर कदुवराज, पुत्र पदमसिंह, पुत्र महाराज, पुत्र जयत्रसिंह के नाम मिलते हैं। १२४३ ई० के स्मारक-स्तम्भ[२३] से, जो केवायमाता के मन्दिर के पास लगा हुआ है जिसमे दहिया कीर्ति-सिंह के पुत्र विक्रम का अपनी रानी नाइलदेवी के साथ स्वर्गारोहण का उल्लेख है। नैणसी[२४] के दहियो के वणन से इनके अधिवासन के स्थान देरावर, पर्वतसर, सावर, घटियानी, हरसोर और मारोठ थे। जालौर का गढ भी दहियो द्वारा निर्मित माना जाता है।[२५]

---

[१९] फ्लीट, गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, पृ० २५२
[२०] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २६४-६७
[२१] ए० इ०, जि० १२, पृ० ५९-६१
[२२] इ० ए०, जि० ४१, पृ० ८०-८८
[२३] ए० इ०, जि० १२, पृ० ५८
[२४] नैणसी की ख्यात, पत्र २९
[२५] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २६८-२७०

अन्तर्गत करते हैं। परन्तु ७३९ ई० के कलचुरी के दानपत्र[११] मे अरवो के आक्रमण के प्रसग में चावडा और गुर्जरो को विभिन्न अकित किया गया है। करनल टॉड ने इन्हें सीथियन प्रमाणित किया है। युवानच्याग, जो ६४१ ई० के आसपास भीनमाल आया था, चावडो को क्षत्रिय लिखता है।[१२]

भीनमाल के चावडो का, सामग्री के अभाव से, शृखलावद्ध इतिहास नही मिलता है। परन्तु यत्र-तत्र कुछ सकेतो के द्वारा जो समसामयिक साधनो मे मिलते है, हम इनके सम्बन्ध मे धुंधली ऐतिहासिक स्थिति पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं। वसतगढ के ६२५ ई० के शिलालेख[१३] मे वर्मलात नामक शासक के राज्य मे सामन्त रज्जिल, जो सत्याश्रय का पुत्र था, अर्वुद देश का स्वामी वना। भीनमाल मे रहने वाले माघ कवि ने अपनी पुस्तक 'शिशुपाल वध'[१४] मे सुप्रभदेव को वर्मलात का सर्वाधिकारी वताया है। ब्रह्मगुप्त ने अपने 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त'[१५] नामक रचना मे ६२८ मे चापावशी व्याघ्रमुख का उल्लेख किया है। इस वश के नाश होने का सकेत ७३९ ई० के कलचुरी के दानपत्र मे मिलता है जहाँ अरवो की चढाई का वर्णन है। इसकी पुष्टि 'फतहुल वलदान'[१६] नामक फारसी तवारीख से होती है, जिसमे जुनैद के द्वारा भीनमाल (वूलमाल) पर अरव आक्रमण का जिक्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि अरवो के द्वारा नष्ट किये गये चावडो के वचे हुए राज्य को प्रतिहारो ने अपने अधिकार मे कर लिया।[१७]

नागवश

नागवश भारतीय जातियो मे एक प्राचीन जाति थी जिसका अधिकार प्राचीनकाल मे राजस्थान मे था। अहिछत्रपुर (नागौर) मे इनके अधिकार का केन्द्र रहा हो, तो कोई आश्चर्य नही। कोटा जिले के शेरगढ के द्वार से ७९१ ई० के शिलालेख[१८] से नागवशियो के चार नाम उपलब्ध होते है जो विन्दुनाग, पद्मनाग, सर्वनाग और देवदत्त हैं। इसमे सर्वनाग की रानी का नाम 'श्री' मिलता है। इसमे यह अकित है कि देवदत्त ने ७९१ ई० मे कौशवर्धन पर्वत के पूर्व मे एक वौद्ध चैत्य और विहार का निर्माण कराया। इस लेख मे देवदत्त को सामन्त वताया है। सम्भवत ये कन्नौज के रघुवशी प्रतिहारो के सामन्त रहे हो।

---

[११] ना० प्र० प०, भा० १, पृ० २१०
[१२] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १६३
[१३] ए० इ०, जि० ९, पृ० १९१-९२
[१४] शिशुपाल-वध, सर्ग २०, श्लो० १
[१५] ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त, श्लो० ७-८
[१६] इलियट, हिस्ट्री आफ इण्डिया, जि० १, पृ० ४४१-४२
[१७] ओझा, राजपूताने का इनिहास, पृ० १६४-६५
[१८] इ० ए०, जि० १४, पृ० ४५, ओझा राजपूताने का इतिहास, पृ० २६१-२६३

यौधेय वश

यौधेय हमारे देश के प्राचीन क्षत्रिय हैं। भरतपुर के बयाना नगर के पास विजयगढ के किले से वि० स० छठी शताब्दी का एक खण्डित लेख मिला है जिनमे जोहियो (यौधेयो) का उल्लेख है। बीकानेर के राठौडों को इनसे कई युद्ध लडने पडे थे जैसा कि पिछले प्रमाणो से सिद्ध है। राजस्थान के उत्तर-पूर्व और उत्तरी भाग में इनका प्रारम्भिक अधिवासन होना प्रमाणित है। बीकानेर के निकटवर्ती भागो मे मिलने वाले जोहिये अधिकाश मे मुसलमान हो गये थे।[१९]

तवर वश

जिस समय कन्नौज मे प्रतिहार राज्य करते थे उस समय तवर दिल्ली के आसपास के भागो मे शासन करते थे। चाहमानो से परास्त होने पर इस वश के कई व्यक्ति राजस्थान मे आये और वे जयपुर के आसपास बस गये। इनके बसने के स्थान को आज भी तवारवाटी कहते हैं।[२०]

दहिया वश

दहियावशीय राजपूत सस्कृत के शिलालेखो मे 'दधीचिक', 'दहियक' या 'दधीच' नाम से जाने जाते हैं। इनकी उत्पत्ति किनसरिया गाँव (जोधपुर) के ९९९ ई० के शिलालेख[२१] से दधीचि ऋषि से मानी जाती है। ये चौहानो के सामन्त थे। इस वश मे मेघनाद और वैरीसिंह प्रसिद्ध योद्धा हुए थे। वैरीसिंह के पुत्र चच्च ने ९९९ ई० मे केवायमाता के मन्दिर का निर्माण कराया। इसी तरह से १२१५ ई० के मगलाणा (जोधपुर) के शिलालेख[२२] मे महामण्डलेश्वर कदुवराज, पुत्र पदमसिंह, पुत्र महाराज, पुत्र जयत्रसिंह के नाम मिलते हैं। १२४३ ई० के स्मारक-स्तम्भ[२३] से, जो केवायमाता के मन्दिर के पास लगा हुआ है जिसमे दहिया कीर्ति-सिंह के पुत्र विक्रम का अपनी रानी नाइलदेवी के साथ स्वर्गारोहण का उल्लेख है। नैणसी[२४] के दहियो के वर्णन से इनके अधिवासन के स्थान देरावर, पर्वतसर, सावर, घटियानी, हरसोर और मारोठ थे। जालौर का गढ भी दहियो द्वारा निर्मित माना जाता है।[२५]

---

[१९] फ्लीट, गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, पृ० २५२

[२०] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २६४-६७

[२१] ए० इ०, जि० १२, पृ० ५९-६१

[२२] इ० ए०, जि० ४१, पृ० ८०-८८

[२३] ए० इ०, जि० १२, पृ० ५८

[२४] नैणसी की ख्यात, पत्र २९

[२५] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २६८-२७०

दाहिमा वश

जोधपुर जिले मे गोठ और मागलोद के बीच एक दधिमती का मन्दिर है जो प्राचीनकाल मे दधिमती क्षेत्र कहलाता था। इस क्षेत्र मे रहने वाले दाहिमे ब्राह्मण, दाहिमे राजपूत, दाहिमे जाट आदि कहलाये। इनका कोई राज्य नही था। वे सामन्त रूप से इन भागो मे पाये जाते थे।[२६]

निकुप वश

अलवर-जयपुर के आसपास के क्षेत्र मे निकुपवशीय राजपूत सामन्तो के रूप मे थे।[२७]

डोडिया वश

डोडिये परमारो की शाखा मे थे। चौहानो के शिलालेखो से डोडिये आवलदा (जहाजपुर), गागरौन आदि स्थानो मे सामन्त रूप मे वसे थे। उदयपुर राज्य के अन्तर्गत सरदारगढ डोडियो की जागीर मे था।[२८]

गौड वश

ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्थान मे गौड बहुत प्राचीनकाल से बसे थे। अजमेर मे ये चौहानो के सामन्त रूप मे रहे हो। उनके अधीन जूनिया, सावर, देवलिया और श्रीनगर थे।[२९]

यादव वश

यादव चन्द्रवशीय ययाति के पुत्र यदु की सन्तान बताते है। राजस्थान मे मथुरा के आसपास के भाग से आकर यादव भरतपुर, करौली, धौलपुर आदि स्थानो मे बस गये। करौली के विजयपाल ने १०४० ई० मे विजय मन्दिर गढ बनवाया और और तहणपाल ने तवनगढ। मुहम्मद गोरी के आक्रमण से धकेले गये बयाना के कुछ यादव तिजारा और अलवर की सरहद मे जा बसे। यहाँ कुछ ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया और वे खानाखाना कहलाये।[३०]

कछवाहा वश

ऐसी मान्यता है कि कछवाहा रामचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वशधर थे। कुछ विद्वान कच्छपघट का विकृत रूप कछवाहा मानते है और इनका सम्बन्ध ग्वालियर, डुबकुण्ड और नरवर से स्थापित करते हैं। परन्तु 'स्ट्रगल फॉर एम्पायर'[३१] मे कछ-

२६ ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २७०
२७ वही, पृ० १३१
२८ इ० ए०, जि० ४१, पृ० १२, ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २७१-२७३
२९ ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० २७३-७४
३० कर्निघम आ० स० रि०, भा० २०
३१ स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० ५६

वाहा और कच्छपघटो को अलग माना है। इनका तीनो शाखाओ के कच्छपघटो से कोई सम्बन्ध नही, ऐसा इस पुस्तक मे स्थिर किया गया है। प्राचीन लेखो[३२] मे कछवाहो को कच्छपघट या कच्छपारि लिखा है। जरनल कनिंघम[३३] का विचार है कि ऊपर बताये गये दोनो शब्दो के अर्थ मे कोई भेद नही है। 'कच्छपघन' शब्द से बोलचाल मे कछवाहा बना है। कुश की सतति होने से भी कुशवाहा से कछवा बनना स्वाभाविक दिखायी देता है। कुछ विद्वान यह भी मानते है कि कच्छपवाहिनी कुलदेवी से इस राजवश को कछवाहा कहने लगे। सूर्यमल्ल के अनुसार किसी कूर्म नामक रघुवशी शासक की सतति होने से ये कूर्मवशीय कहलाने लगे और भाषा मे उन्हे कछवाहा कहा जाने लगा। डा० ओझा की तो यह मान्यता है कि किसी मूल-पुरुष से इस वश के राजपूतो को कछवाहा कहा जाने लगा।[३४]

कछवाहा के एक वशज दुलहराय के लिए यह बताया जाता है कि उसने ग्वालियर से आकर दौसा मे और फिर बडगूजरो को परास्त कर ११३७ ई० मे ढूँढाढ मे नवीन राज्य स्थापित किया। इस प्रकार राज्य स्थापना मे प्रारम्भिक कछवाहो को मीणो से, जो इस प्रान्त के आदि निवासी थे, कई सघर्ष करने पडे। इन्हे खोह, झोटवाडा, गैटोर आदि भाग मीणो को परास्त करने के फलस्वरूप मिले थे।

इसी वश के काकिलदेव १२०७ ई० मे मीणो से आमेर लेने मे सफल हुए और उसे अपनी राजधानी बनाया। इसने यादवो से मेड व वैराट जीते। इसी वश के नरू से नरूका और शेखा से शेखवतो की शाखाएँ फटी। ये प्रारम्भ मे मुख्य शाखा के अधीन रहे परन्तु शेखा ने आगे चलकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। जिस भाग मे शेखा ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया वह शेखावाटी नाम से प्रसिद्ध हैं।

कछवाहा कुछ समय चौहानो के तथा पीछे गुहिलो के राजनीतिक प्रभाव-क्षेत्र मे रहे। आगे चलकर मुगल सत्ता से सम्बन्ध जोडने से कछवाहो का राजस्थान मे प्रभाव बढ गया।

---

[३२] इ० ए०, भा० १४, पृ० १०, ए० इ०, भा० २, पृ० २३

[३३] आ० स० इ०, भा० ४, पृ० २७-५१

[३४] ना० प्र० पत्रिका, भा० १, अक ४, पृ० ४३१-३२, इम्पीरियल गजेटियर, जि० १३, पृ० २८४

अध्याय १०

शासन और समाज

(८वी से १२वी शताब्दी तक)

अधिवासनकालीन शासन-व्यवस्था

वैसे तो इस युग के राजस्थान के शासन-सम्बन्धी विवेचन की सामग्री विशेष रूप से उपलब्ध नही होती, फिर भी उस समय के शिलालेखो, दानपत्रो तथा साहित्य के ग्रन्थो मे यत्र-तत्र ऐसे सकेत मिलते है जिसके द्वारा हम शासन-व्यवस्था का कलेवर तैयार कर सकते हैं। फिर भी यह स्मरणीय बात है कि इस प्रकार की सामग्री किसी विशेष वश या राज्य की स्थिति का सर्वांगीण चित्रण नही करती, क्योकि इन साधनो की उपलब्धि सीमित है और अनेक राजवशो के लिए विभिन्न रूप मे है। इसके अतिरिक्त चार शताब्दी के काल-स्तरो मे प्रचलित शासन-व्यवस्था का एक लम्बी अवधि तक एक ही रूप मे बने रहना सम्भव नही। कुछ शासन के ढग उत्तरोतर बदलते रहे और प्राचीन तथा मध्ययुगीन शासन के स्वरूप मे हेर-फेर होता रहा। फिर भी हम अपना ध्यान उन्ही शासन-सम्बन्धी धाराओ पर देंगे जो व्यापक रूप मे पूरे युग मे प्रवाहित होती रही। ये धाराएँ प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था से विभिन्न नही हैं।

केन्द्रीय

राजा—सम्पूर्ण शासन का सर्वेसर्वा स्वय राजा होता था जो राज, महाराज, परमभट्टारक, महाराजाधिराज आदि विरुदो से सम्बोधित होता था।[1] इस प्रकार के विरुदो से इस युग के शासको की राजनीतिक शक्ति का हमे परिज्ञान होता है। इनसे यह भी स्पष्ट है कि ये राजा सभी काल के लिए सम्मानित व्यक्ति थे और उनकी शक्ति सर्वोपरि थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शासक अपने को ईश्वर का अश भी मानते थे और ऐसी स्थिति मे वे प्रजा के धार्मिक, सामाजिक, सैनिक और राजनीतिक जीवन

[1] विद्धशाल भजिका, १, ग्वालियर प्रशस्ति, इ० ए०, जि० १६, पृ० २५४, शक्राई लेख—दुर्लभराज को महाराजाधिराज लिखता है। हर्ष लेख, वि० १०५०, सोडोनी का लेख, ९४८ ई० मे परमभट्टारक और परमेश्वर का उल्लेख देवपाल के लिए

के नेता भी थे। एक प्रकार से वे भूमि के उद्धारक तथा प्रजा के सरक्षक भी थे जो म्लेच्छो से देश और प्रजा की रक्षा करते थे। प्रतिहार नागभट्ट प्रथम व द्वितीय अपने को नारायण का स्वरूप मानते थे[२] और भोज प्रथम ने आदिवराह का विरुद धारण किया था।[३] गुहिल और चौहान शासक परमेश्वर आदि विरुद से विख्यात थे। इन सभी विरुदो मे जन-नेतृत्व तथा मलेच्छो से देश और समाज के सरक्षण की भावना छिपी हुई थी। इस काल के शासक 'प्रभु' और 'वल्लभ' शब्दो से भी तत्कालीन साहित्य मे सम्बोधित किये जाते थे। 'प्रभु'[४] शब्द से उनकी शक्ति और नेतृत्व का बोध होता है और 'वल्लभ' शब्द से उनकी लोकप्रियता। अर्थात इस युग के शासको मे इन दोनो गुणो का समावेश होना आवश्यक था।

निर्बल शासको का जहाँ स्तम्भन नही था तो वहाँ शासको मे स्वेच्छाचारिता को भी अच्छा नही माना जाता था। सर्वथा निरकुश और स्वेच्छाचारी होना शासको के लिए कठिन था, जब उन्हें अपने साथियो के साथ रहकर शासन करना होता था। लोकप्रिय राजाओ के नेतृत्व मे ही प्रजा अपने को सुखी अनुभव करती थी। गुहिल-वशीय शील के राज्य मे अन्य भागो से व्यापारी आकर उसकी जनप्रियता के कारण आकर वसे थे। शील को उसके प्रशस्तिकार ने[४अ] इसीलिए शत्रुओ को जीतने वाला, देव, ब्राह्मण और गुरुजनो को आनन्द देने वाला कहा है। इसके साथ-साथ उसे पृथ्वी का विजेता भी माना है। शक्तिकुमार की प्रशस्ति[५] मे भर्तृभट्ट द्वितीय (गुहिल) को तीनो लोक का तिलक मानकर राजाओ के नेतृत्व की कल्पना की है। जिनेश्वर ने[६] यह ठीक ही लिखा है कि जो शासक स्वेच्छाचारी होते है वहाँ भले पुरुष नही रहते। इन शासको की स्वच्छन्दता पर रोक लगाने वाली कई सस्थाएँ भी थी जिनमे मन्त्रि-मण्डल, स्थानीय शासन-सस्थाएँ, धर्म-मर्यादाएँ और जनसमूह प्रमुख है। अपने राज्य-विस्तार की नीति मे तथा विदेशी आक्रमण से राज्य को सुरक्षित रखने के लिए ये शासक सभी वर्गो का सहयोग चाहते थे। ऐसी स्थिति मे उनके लिए निरकुश होना सम्भव भी न था।

इन राजनीतिक आचार-नियमो के अतिरिक्त इस युग के शासको के कर्तव्यो मे दुष्टो को दण्ड देना, धर्म की रक्षा करना, प्रजा-पालन करना, युद्ध में सैन्य-सचालन

---

२ सागरताल लेख, श्लो० ४

३ ए० इ०, जि० १, पृ० १८६-८८, जि० ५, पृ० २११, ज० न्यू० सो० ज०, भा० १८, पृ० २२२-२३

४ मानसोल्लास, १, २, ६९४, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३०८

४ अ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० ३११-२४

५ आहड का लेख, ९७ ई०, ए० इ०, जि० १०, पृ० २४

६ राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३०८

करना, न्याय वितरण करना, जनोपयोगी कार्यो को सम्पादन करवाना, सार्वजनिक उत्सवो मे भाग लेना आदि भी सम्मिलित थे। आहड के हस्तिमाता के मन्दिर की सीढी मे लगे हुए शुचिवर्मा के समय के खण्डित लेख[७] की पहली पक्ति मे शुचिवर्मा (गुहिलवशीय) को मर्यादा पालन करने वाला, दानी और शत्रुओ को नष्ट करने वाला शासक कहा है जो राजा के सम्बन्ध मे ऊपर बताये गये कर्तव्यो की ओर सकेत करता है। महेश्वर सूरि ने सार्वजनिक उत्सवो मे भाग लेना भी राजा का धर्म बताया है।[८]

जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध है उस समय के शासको को 'धर्म प्रतिपाल', 'धर्मपरायण' आदि कहा गया है। वे किसी भी धर्म के अनुयायी क्यो न हो उन्हे सभी मतावलम्बियो के प्रति सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार करना होता था। ऐसा दृष्टिकोण हम उस समय के कई शासको मे पाते है। भर्तृभट्ट द्वितीय (गुहिल) द्वारा सूर्य-मन्दिर को भूमि-अनुदान का उल्लेख ९४२ ई० के प्रतापगढ के लेख[९] मे मिलता है। आहड के जैन मन्दिर की देवकुलिका के ९७७ ई० का लेख शक्तिकुमार (गुहिलवशीय) जैन धर्म के प्रति उदार दिखायी देता है।[१०] भोज प्रथम (प्रतिहार) भगवती का उपासक होते हुए भी विष्णु मन्दिरो का निर्माता था।[११] चौहान शासक भी विभिन्न देवताओ के उपासक होते हुए भी हर्षनाथ के मन्दिर मे भेंट समर्पित कर अपने आपको कृतकृत्य समझते थे। अर्णोराज शैव था परन्तु उसने पुष्कर मे वराह का मन्दिर बनवाया और खरतरगच्छ के जैन धर्मावलम्बियो को मन्दिर बनाने के लिए अजमेर मे भूमि का अनुदान दिया। उसने श्वेताम्बर जैन धर्मघोष सूरि को जयपत्र प्रदान कर उसकी विद्वता के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया।[१२]

युवराज—राजा के पद के बाद युवराज या महाराजकुमार का स्थान शासन मे बडे महत्त्व का है। बहुविवाह की परम्परा के कारण राजाओ के अनेक राजकुमार होते थे, अतएव इनमे से एक को उत्तराधिकारी चुन लेना आवश्यक होता था। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक था कि राजपूतो मे उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम न था। राजा बहुधा अपने जीवनकाल मे ही अपना उत्तराधिकारी बना लिया करते थे जिससे वे युद्ध या शान्ति के अवसर पर राजा के सहायक बने रहे और पीछे से उत्तराधिकार की समस्या न उपस्थित हो। ऐसा प्रतीत होता है

७ भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, पृ० २२-२४
८ राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३१३
९ राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, १९१३-१४, पृ० २
१० ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १३०
११ ए० इ०, जि० १, पृ० १८६-८८
१२ पृथ्वीराज विजय, अ० ६, श्लो० ३२, ३४, अ० ७, श्लो० १२, अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ४६, प्रभावक चरित्र, पृ० २३२-३३, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ५५

कि महाराजकुमार के पद को किसी विशेष उपचार[१३] के द्वारा घोषित कर दिया जाता था, इसलिए कई दानपत्रो या लेखो मे इस शब्द का उल्लेख दिखायी देता है। जब इस पद की मान्यता थी तभी इस पद का उल्लेख भी होता था। कभी-कभी राजा किसी विशेष कारणो से अपने जीवन-काल मे ही राज्य-कार्य से विरक्ति प्राप्त कर शासन का भार महाराजकुमार को दे दिया करता था। बापा का राज्य छोडकर सन्यास लेना और खुम्माण को राज्य सुपुर्द करना प्रसिद्ध है।[१४] मण्डोर के शिलालेख मे प्रतिहार तात द्वारा राज्य छोडने और अपने छोटे भाई भोज को राज्य देना उल्लिखित है।[१५] भिल्लादित्य प्रतिहार ने कक्क को राज्य दे दिया और स्वय हरिद्वार चला गया।[१६] भोजदेव प्रतिहार ने नागभट्ट को युवराज बनाया था। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि युवराज या महाराजकुमार का शासन की व्यवस्था मे एक सम्मानित स्थान था।[१७]

मन्त्रिमण्डल या परामर्शदाता और राज्य के उच्चाधिकारी

उस युग की शासन-व्यवस्था मे मन्त्रियो और उच्चाधिकारियो का राज्य-व्यवस्था मे विशेष स्थान था। व्यावहारिक रूप से कई मन्त्रियो के होते हुए भी हम इनके लिए मन्त्रिमण्डल शब्द का आधुनिक अर्थ मे प्रयोग नही कर सकते। आजकल की भाँति मन्त्री न तो निर्वाचित पद्धति से लिये जाते थे और न उनका कोई सामूहिक उत्तरदायित्व था। राजा अपनी इच्छा से इन्हें नियुक्त करता था और हटा देता था। परन्तु विशेष रूप से जो मन्त्री जनहित सम्पादन मे उपयुक्त माने जाते थे उनका पद पितृ-परम्परा से चलता रहता था। इस प्रकार के पद का पिता से पुत्र और उसकी सन्तति में बने रहने के दोष थे, परन्तु उसी समाज मे अपनी ख्याति बनाये रखने के लिए ऐसे मन्त्री अधिक उपयोगी सिद्ध होते थे। वैसे तो यह आवश्यक नही था कि सदैव राजा इन मन्त्रियो की सलाह मानने के लिए बाध्य हो, परन्तु वह बहुधा योग्य मन्त्रियो की सलाह का सम्मान करता था।[१८]

प्रधानमन्त्री—ऐसे मन्त्रियो मे प्रधानमन्त्री या महामन्त्री अन्य मन्त्रियो या सलाहकारो मे प्रमुख होता था। अन्य मन्त्रियो के कार्यो को देखना और राज्य के सभी कार्यो को देखना तथा उन्हें कुशलतापूर्वक चलाना इसका मुख्य

---

[१३] उपमितभवप्रपचाकथा, पृ० २३७-३८, ३६७, तिलकमजरी, पृ० ६५, कुवलय-माला, पृ० २००, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३१३-१४

[१४] एकलिंगमहात्म्य, अध्याय २०, श्लो० २१-२२

[१५] ए० इ०, जि० ६, पृ० २७६-८०

[१६] ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० १६६

[१७] वही, पृ० १८२

[१८] जिनेश्वर कथाकोप, पृ० १६२, जोधपुर की ८३७ ई० की प्रशस्ति

काम रहता था। अल्लट के मुख्यमन्त्री का नाम मम्भट था। जोधपुर प्रशस्ति मे वाजक के मन्त्री का[१९] भी उल्लेख मिलता है।

सान्धिविग्रहिक—अल्लट के शारणेश्वर लेख मे दुर्लभराज नामी सान्धिविग्रहिक का उल्लेख मिलता है। इस पद के सम्बन्ध मे यशस्तिलक चम्पू मे वर्णित है कि जो व्यक्ति इस पद को धारण करता था उसे सभी आदेशो और विदेश के लिए पत्रो आदि को तैयार करना पडता था। वह कई भाषाओ और लिपियो का ज्ञाता होता था।[२०]

अक्षपटलिक—इस पदाधिकारी का मुख्य काम राज्य के आय-व्यय का ब्यौरा रखना था। इस युग मे जो अनुदान दिये जाते थे या राजा अपनी इच्छा से जो व्यय करता था उसे शीघ्र ही लिख लिया करता था। मेवाड के शासक अल्लट के दो अक्षपटलिक थे जिनके नाम मयूर और समुद्र थे। इस वश के नरवाहन के समय मे मयूर का पुत्र श्रीपति और शक्तिकुमार के समय मे श्रीपति का पुत्र मतट अक्षपटलाधिपति थे। ये पद वश-परामपरागत बन गया था जैसा कि उस समय के लेखो से स्पष्ट है।[२१]

भाण्डारिक—इस पदाधिकारी पर राजकोष और आभूषणो को रखने का उत्तरदायित्व था। इसी भाण्डारिक शब्द से बिगडकर भण्डारी हो गया जो वश-परम्परा से राजस्थान मे खजाने या रसद रखने का काम करते रहे हैं।[२२]

महाप्रतिहार—जैसा कि शब्द से स्पष्ट है, यह अधिकारी राजसभा का उपरीय अधिकारी था जो स्वय बडे रौब-दौब से रहता था और सभी दरबारियो से अनुशासन रखने की अपेक्षा करता था। राजसभा मे नये आने-जाने वालो को अभिवादन आदि की शिक्षा भी यह देता था। इसके कार्यो के सम्बन्ध मे हमे तिलकमजरी से अच्छा वर्णन उपलब्ध होता है।[२३]

इनके अतिरिक्त राज्य मे धार्मिक-कार्यों के लिए महापुरोहित, उपचारादिक कामो के लिए भिषगाधिराज, कविता के लिए वन्दिपति आदि होते थे।[२४]

राजस्व व्यवस्था—राज्य के आय के साधन मे राजस्व व्यवस्था प्रमुख स्थान रखती है। यह आय भूमि कर, दण्ड, शुल्क और अन्य आवश्यक करो पर निर्भर थी।

---

१९ कुवलयमाला, पृ० ३२

२० यशस्तिलक चम्पू, पृ० ७४०, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १२२, हिस्टोरिकल इन्सक्रिप्शन्स आफ गुजरात, भा० ३, स० २३६

२१ भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १५२, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १२२-३०

२२ समराइच्छकहा, पृ० ८६, १७१, ८६८, तिलकमजरी, पृ० ८४, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३१६

२३ तिलकमजरी, पृ० ५७-५८, ६१, ३७१-७२

२४ राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३२०-३२३

भूमि कर लगभग उपज का १/६, १/८, १/१० आदि भाग के रूप मे होता था जो उदरङ्ग कहलाता था। उदरङ्ग सम्भवत उन कृषको से वसूल होता था जो भूमि को अपनी समझते थे और जिन पर उनका वश-परम्परा से अधिकार होता था। परन्तु कुछ भूमि ऐसी होती थी जिस पर कोई भी व्यक्ति खेती कर लेता था और उसकी उपज का जो भी हिस्सा निश्चित हो जाय राज्य को देता था। इस प्रकार की खेती की भूमि से राज्य 'भाग' के रूप मे कर लेता था जो 'उदरङ्ग' से कई गुना अधिक होता था। 'उदरङ्ग' और 'भाग' ऐसे भूमि-कर थे जो उपज के रूप मे लिये जाते थे। परन्तु जव राज्य अपना हिस्सा मुद्रा के रूप मे कृषको से वसूल करता था तो वह कर 'हिरण्यक' कहलाता था। भूमि-कर के सम्बन्ध मे एक और शब्द का लेखो मे प्रयोग मिलता है जिसे 'भोग' कहते थे। भोग एक सामूहिक कर था जो सभी प्रकार के भूमि-कर का द्योतक हो सकता है। इसमे उपज का भाग, फल, सब्जी, दूध, दही आदि जो स्वामित्व के अधिकार के कारण लिये जाते थे, सम्मिलित थे।[२५]

दण्ड के अन्तर्गत वे कर थे जो अपराधियो से लिये जाते थे या पराजित पक्ष को देने के लिए बाध्य किया जाता था। इसमे मुद्रा, द्रव्य, वस्तु, पशु आदि सम्मिलित थे।

'दान' और 'शुल्क' वे कर थे जो आयात और निर्यात पर लिये जाते थे। ऐसे करो को 'मण्डपिका' अर्थात चुगीघरो पर देना होता था। एक राज्य मे ऐसी कई मण्डपिकाएँ होती थी और माल को इधर-उधर ले जाने के लिए कई जगह चुगी देनी होती थी। मण्डपिका पर वसूल किये जाने वाले कुछ शुल्क धर्म-स्थानो के लिए भी वसूल किये जाते थे।

इनके अतिरिक्त छोटे-मोटे कई कर होते थे जिन्हे 'आभाव्य' कहते थे। प्रतापगढ के लेख मे तथा गुजर-प्रतिहारो के राजोर लेख मे ऐसे 'आभाव्यो' का उल्लेख मिलता है जिनमे स्कन्धक (कन्धे पर ले जाने वाले सामान पर कर), वेणी (बाँस या भारा), कोश्य (पिलाई), खल-भिक्षा आदि (नाई, धोबी, कुम्हार आदि को दिये जाने वाला भाग) है।[२६]

न्याय-व्यवस्था—उस समय के साहित्य मे न्याय-व्यवस्था का जो वर्णन मिलता है उससे प्रतीत होता है कि चोरी, धान्य-अपहरण, धोखेबाजी आदि अपराधो की गणना वडे अपराधो मे होती थी जिसके लिए अग-विच्छेद का दण्ड दिया जाता था। सच्चाई की परीक्षा के लिए कई मापदण्ड थे, जिनमे अग्नि-परीक्षा प्रमुख थी। कुछ अपराधो के लिए अभियुक्तो को कारावास की यातना भुगतनी पडती थी

---

२५ जरनल ऑफ न्यूमिसमेटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, १९५०, पृ० ३०, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३२३-३२६

२६ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भा० ३६, पृ० १७-२०, २६५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३२६-३३१

जो वडी कठोर होती थी। न्याय-सम्वन्धी व्याख्या मे उन्हें पण्डित सहायता देते थे। न्याय-निर्णय की अपेक्षा राजा से भी की जाती थी जो अपने दरवार मे खुले तौर से न्याय करता था। स्थानीय मामले गाँवो मे पचकुल मिलकर तय करते थे। न्याय का ढग सरल था और उसके निर्णय मे नैतिक बन्धन और मानव-धर्म को प्राधान्यता दी जाती थी। ऐसा होने से उस समय अपराध कम होते थे।[२७]

रक्षा-व्यवस्था—उस समय देश की आन्तरिक रक्षा और शान्ति-व्यवस्था के लिए रक्षा-विभाग का सगठन था। इस विभाग के अधिकारियो मे दण्डपाशिक, आरक्षिक, दाण्डिक और तलार प्रमुख थे। इस विभाग मे छिपकर पता लगाने वाले गुप्तचर भी होते थे। ये अधिकारी गाँवो, कस्वो तथा किले की वस्तियो के निवासियो के आचरण को देखा करते थे और चोरो व डकैतो का ध्यान रखते थे। इस प्रकार की व्यवस्था से रक्षा का प्रवन्ध उचित रूप से होता रहता था।

सैनिक-प्रबन्ध—इस युग मे युद्ध और उसके द्वारा राज्य-विस्तार को प्राधान्यता दी जाती थी और सैन्य-सगठन का राज्य के कार्यो मे प्रमुख स्थान था। परन्तु जबकि कोई भाग विजय के द्वारा राज्य मे सम्मिलित कर दिया जाता था तो साधारण और सैन्य-शासन की व्यवस्था मे बहुत कम अन्तर रहता था। इसीलिए हम देखते हैं कि पुलिस अधिकारी, मन्त्री और फौजदारी अदालत के अधिकारी के काम और पद मे साम्यता थी। महादण्डनायक, दण्डपति, सेनानायक आदि पदाधिकारी साधारण तथा सैन्य-शासन के सचालक होते थे। परन्तु तिलकमजरी के लेखक धनपाल ने इन अधिकारियो को सैन्य अधिकारी ही माना है। परमारो और प्रतिहारो के राज्य मे, जो अधिक विस्तार मे था, कई दण्डनायक होते थे। कस्वो की सेना का अधिकारी वलाधिकृत होता था और मण्डपिकाओ में भी इस पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है जो सैनिक सेवाओ को करता था। इनके अतिरिक्त महाअश्वपति घुडसवारो का, पीलूपति हाथियो का, पायिकाधिपति पैदलो का, स्यन्दनपति रथो का और कोट्टपाल किलो का अधिकारी होता था।[२८]

धनपाल और जिनेश्वर के वर्णन से ज्ञात होता है कि राजकीय दल एक स्थान से दूसरे स्थान मे वडे शान-शौकत से रहते थे और आवागमन करते थे। परन्तु आने-जाने के अवसर पर वे खेती या वस्ती को कोई हानि नही पहुँचाते थे। ऐसा करना दण्डनीय होता था। जव राजाओ और महाराजाओ का दल इधर-उधर जाता था तो उनके साथ स्त्रियाँ भी होती थी और वेश्याओ का समूह भी नाच-गान के लिए साथ

---

२७ समराइच्छकहा, पृ० १५६, २०८, २७५, ३२५-३२७, वृहत्कथा कोप, पृ० ११४, ११६, १२६, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३४२-४३

२८ प्रतापगढ लेख, रापि० इ०, भा० १८, पृ० १८२, इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० १, पृ० २१, २५, भा० ४, पृ० ६२, तिलकमजरी, पृ० ६७, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३३१-३३६

चलता था। ऐसे दलो की आवश्यकता की पूर्ति व्यापारी करते थे और सेना मे किसी प्रकार की वस्तु की कमी का अनुभव नही होता था।[२६]

प्रान्तीय शासन

चौहानो और प्रतिहारो के लेखो से उस समय के प्रान्तीय शासन की व्यवस्था पर प्रकाश पडता है। राज्य का सर्वेसर्वा 'भूचक्रवर्ती' होता था और उसके आश्रय मे राजा, महाराजा, नरेन्द्र आदि वडे-बडे सामन्त होते थे। राज्य के अन्तर्गत 'मण्डल' होते थे जिनके राजा 'मण्डलिक' कहलाते थे। मण्डलो के अन्तर्गत 'विषय' होते थे जिनका ऊपरीय अधिकारी 'विषपति' कहलाता था। प्रतापगढ लेख के अनुसार 'विपयो' के भाग 'पथक' और 'खेटक' होते थे। ब्राह्मणो को अनुदान मे दिये गये गाँव 'अग्रहार' कहलाते थे। इन सब शासन की इकाइयो का सर्वोपरि अधिकारी तन्त्रपाल होता था। गाँवो के समूह का अधिकारी 'ग्रामपति' कहलाता था।[३०]

स्थानीय शासन

हमे इस युग के कुछ ग्रन्थ तथा शिलालेख मिलते हैं जो स्थानीय शासन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। गाँवो और ग्राम-समूहो के शासन का भार 'पचकुल' नामी सस्था पर होता था, जिसमे पाँच या पाँच से अधिक शिष्ट व्यक्ति होते थे, जो भूमि सम्वन्धी या अन्य समाज सम्वन्धी विषयो के झगडे निपटाते थे। इनके निर्णय को स्थानीय समाज और राज्य मान्यता देता था। इन पचकुलो मे एक या दो कर्णिक (राजकीय अधिकारी) होते थे जो राज्य का प्रतिनिधित्व करते थे। इस प्रकार यह सस्था राज्य द्वारा और प्रजा द्वारा प्रमाणिक समझी जाती थी।[३१]

वडे गाँवो, कस्वो और मण्डियो की व्यवस्था 'मण्डपिकाएँ' करती थी। ये सस्थाएँ राजकीय, स्थानीय तथा सार्वजनिक सस्थाओ के लिए कर वसूल करती थी और विभिन्न विभागो के लिए कोष वनाती थी और उसका उचित वँटवारा करती थीं।[३२]

कही-कही गाँव मे ग्रामिक और महत्तर होते थे जो स्थानीय समस्याओ को निपटाया करते थे। विभिन्न पेशो के लिए श्रेणियाँ भी रहती थी जो अपने-अपने क्षेत्र

---

[२९] तिलकमजरी, पृ० ९५, कथाकोष, पृ० १६४-६५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३३७-३८

[३०] हिस्टोरिकल इन्सक्रिप्शन्स ऑफ गुजरात, भा० २, सख्या १४१, १४२, १५५, १६६, भा० ३, सख्या २३४, २३५, ए० इ०, भा० १४, पृ० १७६-१८३, ओझा, निवन्ध सग्रह, भा० ४, पृ० १५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३४४-४३८

[३१] वृहत् कथाकोप, श्लो० १८-१९, २६-२७, समरादित्यकथा, पृ० २७०, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३५०-५१

[३२] हिस्ट्री ऑफ गुर्जर-प्रतिहार्स, पृ० ११३

जो बडी कठोर होती थी। न्याय-सम्बन्धी व्याख्या मे उन्हे पण्डित सहायता देते थे। न्याय-निर्णय की अपेक्षा राजा से भी की जाती थी जो अपने दरबार मे खुले तौर से न्याय करता था। स्थानीय मामले गाँवो मे पचकुल मिलकर तय करते थे। न्याय का ढग सरल था और उसके निर्णय मे नैतिक बन्धन और मानव-धर्म को प्राधान्यता दी जाती थी। ऐसा होने से उस समय अपराध कम होते थे।[२७]

रक्षा-व्यवस्था—उस समय देश की आन्तरिक रक्षा और शान्ति-व्यवस्था के लिए रक्षा-विभाग का सगठन था। इस विभाग के अधिकारियो मे दण्डपाशिक, आरक्षिक, दाण्डिक और तलार प्रमुख थे। इस विभाग मे छिपकर पता लगाने वाले गुप्तचर भी होते थे। ये अधिकारी गाँवो, कस्बो तथा किले की बस्तियो के निवासियो के आचरण को देखा करते थे और चोरो व डकैतो का ध्यान रखते थे। इस प्रकार की व्यवस्था से रक्षा का प्रबन्ध उचित रूप से होता रहता था।

सैनिक-प्रबन्ध—इस युग मे युद्ध और उसके द्वारा राज्य-विस्तार को प्राधान्यता दी जाती थी और सैन्य-सगठन का राज्य के कार्यों मे प्रमुख स्थान था। परन्तु जबकि कोई भाग विजय के द्वारा राज्य में सम्मिलित कर दिया जाता था तो साधारण और सैन्य-शासन की व्यवस्था मे बहुत कम अन्तर रहता था। इसीलिए हम देखते है कि पुलिस अधिकारी, मन्त्री और फौजदारी अदालत के अधिकारी के काम और पद मे साम्यता थी। महादण्डनायक, दण्डपति, सेनानायक आदि पदाधिकारी साधारण तथा सैन्य-शासन के सचालक होते थे। परन्तु तिलकमजरी के लेखक धनपाल ने इन अधिकारियो को सैन्य अधिकारी ही माना है। परमारो और प्रतिहारो के राज्य मे, जो अधिक विस्तार मे था, कई दण्डनायक होते थे। कस्बो की सेना का अधिकारी बलाधिकृत होता था और मण्डपिकाओ मे भी इस पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है जो सैनिक सेवाओ को करता था। इनके अतिरिक्त महाअश्वपति घुडसवारो का, पीलूपति हाथियो का, पायिकाधिपति पैदलो का, स्यन्दनपति रथो का और कोट्टपाल किलो का अधिकारी होता था।[२८]

धनपाल और जिनेश्वर के वर्णन से ज्ञात होता है कि राजकीय दल एक स्थान से दूसरे स्थान मे बडे शान-शौकत से रहते थे और आवागमन करते थे। परन्तु आने-जाने के अवसर पर वे खेती या बस्ती को कोई हानि नही पहुँचाते थे। ऐसा करना दण्डनीय होता था। जब राजाओ और महाराजाओ का दल इधर-उधर जाता था तो उनके साथ स्त्रियाँ भी होती थी और वेश्याओ का समूह भी नाच-गान के लिए साथ

---

२७ समराइच्छकहा, पृ० १५६, २०८, २७५, ३२५-३२७, बृहत्कथा कोष, पृ० ११४, ११६, १२६, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३४२-४३

२८ प्रतापगढ लेख, एपि० इ०, भा० १४, पृ० १८२, इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० १, पृ० २१, २५, भा० ४, पृ० ६२, तिलकमजरी, पृ० ६७, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३३१-३३६

चलता था। ऐसे दलो की आवश्यकता की पूर्ति व्यापारी करते थे और सेना मे किसी प्रकार की वस्तु की कमी का अनुभव नही होता था।[२९]

प्रान्तीय शासन

चौहानो और प्रतिहारो के लेखो से उस समय के प्रान्तीय शासन की व्यवस्था पर प्रकाश पडता है। राज्य का सर्वेसर्वा 'भूचक्रवर्ती' होता था और उसके आश्रय मे राजा, महाराजा, नरेन्द्र आदि वडे-वडे सामन्त होते थे। राज्य के अन्तर्गत 'मण्डल' होते थे जिनके राजा 'मण्डलिक' कहलाते थे। मण्डलो के अन्तर्गत 'विषय' होते थे जिनका ऊपरीय अधिकारी 'विषपति' कहलाता था। प्रतापगढ लेख के अनुसार 'विपयो' के भाग 'पथक' और 'खेटक' होते थे। ब्राह्मणो को अनुदान मे दिये गये गाँव 'अग्रहार' कहलाते थे। इन सब शासन की इकाइयो का सर्वोपरि अधिकारी तन्त्रपाल होता था। गाँवो के समूह का अधिकारी 'ग्रामपति' कहलाता था।[३०]

स्थानीय शासन

हमे इस युग के कुछ ग्रन्थ तथा शिलालेख मिलते हैं जो स्थानीय शासन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। गाँवो और ग्राम-समूहो के शासन का भार 'पचकुल' नामी सस्था पर होता था, जिसमे पाँच या पाँच से अधिक शिष्ट व्यक्ति होते थे, जो भूमि सम्बन्धी या अन्य समाज सम्बन्धी विषयो के झगडे निपटाते थे। इनके निर्णय को स्थानीय समाज और राज्य मान्यता देता था। इन पचकुलो मे एक या दो कर्णिक (राजकीय अधिकारी) होते थे जो राज्य का प्रतिनिधित्व करते थे। इस प्रकार यह सस्था राज्य द्वारा और प्रजा द्वारा प्रमाणिक समझी जाती थी।[३१]

वडे गाँवो, कस्बों और मण्डियो की व्यवस्था 'मण्डपिकाएँ' करती थी। ये सस्थाएँ राजकीय, स्थानीय तथा सार्वजनिक सस्थाओ के लिए कर वसूल करती थी और विभिन्न विभागो के लिए कोष वनाती थी और उसका उचित वँटवारा करती थी।[३२]

कही-कही गाँव मे ग्रामिक और महतर होते थे जो स्थानीय समस्याओ को निपटाया करते थे। विभिन्न पेशो के लिए श्रेणियाँ भी रहती थी जो अपने-अपने क्षेत्र

---

२९ तिलकमजरी, पृ० ६५, कथाकोष, पृ० १६४-६५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३३७-३८

३० हिस्टोरिकल इन्सक्रिप्शन्स ऑफ गुजरात, भा० २, सख्या १४१, १४२, १५५, १६६, भा० ३, सख्या २३४, २३५, ए० इ०, भा० १४, पृ० १७६-१८३, ओझा, निवन्ध सग्रह, भा० ४, पृ० १५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३४४-४३८

३१ वृहत् कथाकोप, श्लो० १८-१९, २६-२७, समरादित्यकथा, पृ० २७०, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३५०-५१

३२ हिस्ट्री ऑफ गुर्जर-प्रतिहार्स, पृ० ११३

मे काम करने वालो को धन द्वारा सहायता पहुँचाया करती थी और उद्योग-धन्धो की व्यवस्था भी कर लिया करती थी। इस अर्थ मे हमारे देश की भाँति राजस्थान मे छोटी-छोटी इकाइयाँ थी जिनकी शासन-व्यवस्था वर्तमान युग के स्वायत्त शासन की सस्थाओ से किसी प्रकार कम नही थी।[३३]

अधिवासनकालीन समाज और सस्कृति

अभाग्यवश आठवी शताब्दी से बारहवी शताब्दी के समाज और सस्कृति के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। इस सम्बन्ध मे हम केवल कुछ सामग्री शिलालेखो, मूर्तिखण्डो तथा साहित्य-ग्रन्थो के अस्पष्ट निर्देशो से एकत्रित कर सकते है। इन्ही आधारो पर हम उस समय की समाज-रचना, स्त्रियो की दशा, वेश-भूषा, भोजन-पेय, आमोद-प्रमोद, धार्मिक जीवन, भाषा और लिपि, साहित्य आदि का चित्रण करते है।

समाज रचना

इस युग के शिलालेखो और धर्म-ग्रन्थो मे चार वर्णो—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा चार आश्रमो—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास का उल्लेख मिलता है। पर यह समाज का परम्परागत वर्णन औपचारिक होता गया। वास्तव मे इन वर्णो मे कई भेद और विभेद दृष्टिगोचर होते हैं और उनमे पेशे तथा स्थान विशेष के विचार से ऊँच-नीच की भावना भी स्पष्ट दिखायी देती है। स्कन्दपुराण, वि० ९८२ के पुष्कर-शिलालेख, कान्हडदे प्रबन्ध आदि से पचगौड, पचद्राविड, पुष्करणा और श्रीमाली ब्राह्मणो का बोध होता है जो ब्राह्मणो मे श्रेष्ठ माने जाते थे। इनका खान-पान, रहन-सहन और आचार-विचार अन्य ब्राह्मणो से विभिन्न होते थे।[३४] इसी प्रकार कुछ ऐसे भी ब्राह्मण होते थे जो भोजक कहलाते थे जिनसे दूसरे ब्राह्मण कम सम्पर्क रखते थे।[३५] राजस्थान के कई ब्राह्मण अपने को पूर्वी भारत के ब्राह्मणो से उच्च मानते थे, क्योकि उधर के कुछ ब्राह्मण माँसाहारी होते थे। नगर और भीनमाल के नागर और श्रीमाली अपने आपको उच्चकोटि के समझते थे क्योकि इन प्रान्तो मे विद्या की उन्नति थी और उनके अध्ययन तथा अध्यापन का स्तर अन्य स्थानो से ऊँचा था।[३६] मुसलमानो के आने से ब्राह्मणो मे कई जातियाँ और उपजातियाँ और बढ गयी क्योकि खानपान आदि मे अधिक कठोर नियम का पालन करने वाले और इनमे कुछ सरल मार्ग अपनाने वाले ब्राह्मणो मे स्वत भेद हो गया। अन्तरजातीय विवाह, भोजन

---

[३३] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ३५४-५५

[३४] स्कन्दपुराण, सहयाद्र खण्ड, श्लो० २-३, इ० ए०, भा० ११, पृ० ७१, प्रो० रि० आ० स० वे० स०, १९०९-१९१०

[३५] सच्चियामाता लेख, जैन लेख सग्रह, भा० १, पृ० १९८

[३६] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४४४

और सम्पर्क मे नियमो को अधिक जटिल बनाकर जाति-व्यवस्था मे सीमाएँ निर्धारित कर दी गयी। इन सीमाओ को उल्लघन करने पर दण्ड दिये जाने लगे। नाडौल, जालौर, चन्द्रावती, गोडवाड आदि स्थानो मे जहाँ जैन प्रभाव अधिक था, ब्राह्मणो को कटाक्ष दृष्टि से देखा जाने लगा और उनके आचार-विचारो की टीका-टिप्पणी की जाने लगी।[३७] कुछ ब्राह्मण गोत्र या प्रवर से भी अलग माने जाने लगे। पुरोहित, द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, दीक्षित, जोशी, त्रिपाठी आदि सज्ञा की भी मान्यता बढने लगी। इन ब्राह्मणो मे कुछ अध्ययन मे, कुछ राजकीय सेवा मे और कुछ व्यापार के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। वेदशर्मा ब्राह्मण ने आबू के वि० १३४२ के शिलालेख की रचना की। चीरवे के लेख मे वर्णित ताँताड जाति के ब्राह्मण 'तलार' पद और सैनिक-सेवा मे दक्ष बने। पल्लीवाल ब्राह्मण पुरोहिती या व्यापार मे कुशल माने जाते थे।

राजपूत

प्राचीन क्षत्रियो के उत्तरदायित्व को निभाने वाली हमारे इस युग की एक और जाति थी जो राजपूत कहलाने लगी। देश की रक्षा करना, युद्ध करना और वर्ण और आश्रम-धर्म की रक्षा करना इनका धर्म था। अपने कर्तव्य से यह जाति क्षत्रिय ही थी। परन्तु यह मानना कि वे प्राचीन क्षत्रियो की ही सन्तान थी अधिक उपयुक्त नही। इस जाति मे युद्ध करने वाली और राज्य-विस्तार की योजना मे लगी हुई सभी जातियाँ सम्मिलित हो गयी। चौहान, परमार, गुहिल आदि राजपूत वश का उद्गम ब्राह्मण जाति से था जैसा कि ऊपर शिलालेखो से प्रतिपादित किया गया है। यह भी हमने ऊपर पढा है कि हूण जाति भी राजपूतो के दायरे मे प्रवेश पा चुकी थी। कान्हडदे प्रबन्ध मे कई राजपूत वशो के साथ हूणो को भी इसी वश-परम्परा के साथ सम्मिलित किया गया है। इसमे छत्तीस कुलो का उल्लेख करते हुए सोलह कुलो का ही वर्णन दिया है, जिससे प्रतीत होता है कि कई कुल प्रसिद्ध माने जाने लगे हो और अन्य नगण्य हो गये हो। परमारो और प्रतिहारो के स्थान मे इसी युग मे राठौड और चौहान प्रतिष्ठित बन गये और उन्हें अपने आश्रित बना लिया।[३८]

वैश्य

जिन्होंने व्यापार और वाणिज्य तथा लेन-देन या कृषि-कार्य को अपना लिया था वे वैश्य सज्ञा मे गिने जाते थे। कई क्षत्रिय जिन्होने व्यापार और कृषि को अपना लिया या जिन्होंने मांसाहार छोड दिया वे भी वैश्य कहलाने लगे। जालौर लेख में

---

[३७] जिनेश्वर, कथाकोष प्रकरण, कथा न० ३२

[३८] मेरा लेख—ओरिजिन ऑफ दि राजपूत्स, राजस्थान स्टडीज, जयपुर, १९६५-६६, पृ० १-१०

सोनी वश के पुरखाओ को ठक्कुर बताया है। इसी तरह पुरातन प्रबन्ध मे नाडौल के लक्ष्मण चौहान का विवाह एक श्रेष्ठी की पुत्री से होना लिखा है। इस विवाह की सन्तति को कोषाध्यक्ष बनाया गया और उन्हे वैश्य कहा गया। राजकीय गोदामो के अध्यक्ष भण्डारी भी कहे जाने लगे। अग्रवाल, माहेश्वरी, जैसवाल, खण्डेलवाल और ओसवालो का भी उद्भव इसी प्रकार क्षत्रियो से है। इनका मॉसाहारी न होना और व्यापार मे लगना वैश्य सज्ञा का परिचायक हुआ। इस युग के शिलालेखो मे जैसे शीलादित्य का शिलालेख और कुवलयमाला, कान्हडदे प्रबन्ध आदि साहित्य के ग्रन्थ व्यापार करने वाली जाति को वैश्य सज्ञा मे बताते हैं। ये जाति अपनी समृद्धि के लिए प्रसिद्ध रही हैं। इनमे से कुछ वैश्य राज्य के मन्त्री और सलाहकार की हैसियत से भी विख्यात रहे हैं। विमलशाह, वस्तुपाल और तेजपाल अपनी समृद्धि और राज्य-सेवा के लिए प्रसिद्ध हैं।[३९]

शूद्र

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो से इतर जातियो को शूद्र कहा जाता था। कथा-कोष प्रबन्ध, देशीनाममाला आदि ग्रन्थो के आधार से कई दस्तकारी मे या खेती मे लगी हुई जातियाँ शूद्रो की गणना मे आती हैं जिनमे कुम्हार, माली, तम्बोली, तेली, नाई, लुहार, खाती, सुनार, ठठेरा, दर्जी, गडरिया, आभीर आदि मुख्य हैं। कई धर्म-ग्रन्थो मे इन्हे यज्ञ और वेदाध्ययन से वचित रखना लिखा है। परन्तु जब वैश्यो ने व्यापार पर अधिक बल देना शुरू किया तो ऊपर वर्णित शूद्र जातियो की स्थिति खेती करने से ठीक होती चली गयी और उनको सम्मानित पद दिया जाने लगा। इनके द्वारा खेती किया जाना और दस्तकारी मे हाथ बटाना समाज सेवा का अग माना जाने लगा। इनमे बहु-विवाह और विधवा विवाह को मान्यता दी जाने लगी तथा इन्हें भी समाज का एक उपयोगी अग माना जाने लगा। आठवी सदी से १२वी सदी के युग मे खेती तथा दस्तकारी मे लगे हुए समुदायो की अलग-अलग जातियाँ मानी जाने लगी और उनकी शूद्र सज्ञा एक प्रकार से समाप्त-सी हो गयी।[४०]

अन्त्यज

इन चार वर्णो के अतिरिक्त कुवलयमाला, समराइच्छकहा, उपमितिभवप्रपन्चा-कथा तथा कथाकोष प्रकरण कई जातियो को, जिनमे भील, डोम, मच्छीमार, व्याध, धोबी, चीडीमार, मातग, चाण्डाल, चमार, नट, गाछे, जुलाहे आदि सम्मिलित हैं, अन्त्यज बताते हैं। इनको अधम और अधमाधम कहा गया है। इनकी बस्ती गाँवों

---

३९ कक्कसूरि, नाभिनन्दन जिनोद्धार ग्रन्थ, पुरातन प्रबन्ध सग्रह, ए० इ०, भा० ११, पृ० ६१, इ० ए०, भा० १५, पृ० ३४९, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४३८-३९

४० जिनेश्वर, कथाकोष प्रकरण, पृ० ११५, कुवलयमाला, पृ० ६५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४३३-३६

के बाहर होना ठीक माना है। सार्वजनिक तालाबो और जलाशयो के लाभ से इनको वचित किया गया है। वास्तव मे इस जाति की यह स्थिति दयनीय है। यही कारण है कि जब विदेशी आक्रमणकारी हमारे अध्ययन के युग के ठीक बाद यहाँ आने लगे तो इन्ही जातियो मे से कई लोग धर्म-परिवर्तन कर उनके सहयोगी बन गये। जो जाति इस देशवासियो की प्रिय हो सकती थी वही जाति इनकी शत्रु बन गयी।[४१]

म्लेच्छ

हमारे अध्ययन-काल मे म्लेच्छो[४२] का भी वर्णन मिलता है जिनका न कोई धर्म था और जिनका पेशा मनुष्य-हत्या, चोरी, डकैती, अधर्म-परायणता आदि था। इनमे शवर, भील, मीणें, मेड जाति आदि को लिया गया है। धौलपुर के वि० ८९९ के लेख मे चम्बल के किनारे इनकी बस्ती का उल्लेख मिलता है। भीनमाल और मेवाड मे भील और मेडो के रहने और राजपूतो से सघर्ष का जिक्र आता है। सम्भवत- इन्हे म्लेच्छ सज्ञा मे इसीलिए लिया गया है कि वे राजपूतो से कई सदियो तक लडते रहे जिससे उनको निम्नाति-निम्न जाति मे सम्मिलित कर लिया गया। अन्यथा उनकी भी एक सस्कृति रही होगी। इस युग मे विदेशो से आने वाली सभी जातियो को म्लेच्छ सज्ञा दी गयी थी।

अन्य जातियाँ

इनके अतिरिक्त कायस्थो का भी वणन हमे इस युग के साहित्य मे मिलता है। वृहत् कथाकोष[४३] मे इस जाति को लेखक कहा है और बताया है कि इनकी असावधानी से राज्य को हानि हो सकती है। कसवा के ७३८ ई० के लेख मे कायस्थ का नामोल्लेखन है। विग्रहराज चतुर्थ के शिलालेखो को गौड कायस्थ ने लिखे थे। चौहानो के राज्य के उत्तरी भाग मे जाट रहते थे और गुर्जरो का सम्बन्ध प्रतिहारो और सोलकियो से था।[४४]

ऊपर दिये गये समाज-रचना के वणन से ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल मे वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था के नियम कठोर बन चुके थे। उनके अनुसार प्रत्येक जाति ने अपनी सीमा बना ली थी। परन्तु कुछ व्यवसायो के अदल-बदल से ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक व्यवहार मे अभी लचक थी और लोग अपना व्यवसाय बदल सकते थे और अन्तरजातीय विवाह सम्भव थे। इसी काल मे कई जातियाँ व्यापार

---

[४१] कुवलयमाला, पृ० ४०, उपमितिभवप्रपचाकथा, पृ० ३६, ९५, २३०, ५९२, जिनेश्वर, कथाकोप प्रकरण, पृ० ११५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४२९-३२

[४२] कुवलयमाला, पृ० १३६, जैन आगम साहित्य, पृ० १३४-३५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४२७-२९

[४३] वृहत् कथाकोप, १५, १६, २५, भण्डारकर इन्सक्रिप्शन्स, न० १८

[४४] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४४७-५०

और कृषि करने से वैश्य कहलाती थी और कई क्षत्रिय वैश्य सज्ञा मे आ चुके थे। शूद्र और अन्त्यज की परिभाषा मे भी लचक दिखायी देती है। जहाँ म्लेच्छो मे भीलो को बताया गया है तो वहाँ उन्हे अन्त्यज मे भी शुमार किया गया है। शूद्रो के समुदाय भी स्वतन्त्र जाति मे परिणत हो गये थे और उनका स्थान सम्मानित शिल्पियो मे सम्मिलित कर दिया गया था।

स्त्रियो की अवस्था

वहु-विवाह की प्रथा का प्रचलन तथा पुत्री के पैदा होने पर दुख मनाना यह बताता है कि समाज मे स्त्री का स्थान इतना ऊँचा नही था। "ज्ञानपचमी कथा"[४५] तथा "उपमिति"[४६] मे ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि अधिक सख्या मे पुत्रियो का होना नरक मे रहने के समान समझा जाता था। एक से अधिक स्त्रियो का रखना प्रतिष्ठा का सूचक था। महेन्द्र प्रतिहार और अर्णोराज के दो-दो रानियाँ थी। कई समृद्ध व्यापारी बहु-विवाह मे विश्वास करते थे। विवाह-सस्था शास्त्रीय नियमो और प्रथाओ से मर्यादित थी, परन्तु उच्च वर्ण मे कभी-कभी स्वयवर को भी मान्यता प्राप्त थी। सगोत्र विवाह का प्रचलन नही था। अनुलोम विवाह अधिक प्रचलित नही था परन्तु उसके भी उदाहरणो का अभाव नही था। मण्डोर का हरिश्चन्द्र ब्राह्मण प्रतिहार और राजपूत प्रतिहारो का मूलपुरुष माना जाता है।[४७] ब्राह्मण कवि राजशेखर ने चौहान कन्या से विवाह किया था। राज-परिवारो मे इस काल मे सती होने के भी कई उदाहरण मिलते हैं। वि० स० ९७७ के घटियाले के लेख मे सावलदेवी के सती होने का उल्लेख है और ऐसे अन्य उदाहरण भी उपलब्ध हैं। पुरातन प्रवन्ध, प्रबन्ध चिन्तामणि तथा उपमितिभवप्रपचाकथा मे पुनर्विवाह, नियोग और विमाता से पैदा होने वाले दोषो का भी जिक्र किया है।[४८] विधवाओ को परिवार की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार न था, वे केवल अपने आभूषण और स्त्री-धन की अधिकारी ही मानी जाती थी।[४९]

भोजन

इस युग का राजस्थान वडा समृद्ध था, जैसा कि उस समय के खाद्य-पदार्थों तथा खाने-पीने की वस्तुओ के बाहुल्य से प्रकट होता है। भीमदेव द्वितीय के आबू-शिलालेख (वि० १२८७) मे अन्न, फल और मसालो का उल्लेख है जिनमे गेहूँ, ज्वार, त्रिफला, आँवला, गुड, शक्कर, खजूर, महुआ आदि मुख्य है। बृहत् कथाकोष[५०] मे

---

[४५] ज्ञानपचमीकथा, ४, ७२

[४६] उपमिति, पृ० ६९८

[४७] ए० इ०, १८, पृ० ९५

[४८] पुरातन प्रवन्ध, ८९, उपमिति, पृ० ३३२

[४९] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४५०-६२

[५०] बृहत् कथाकोष, ५६, ८०, १००, १२०, १२७ आदि

भोज्य-सामग्री मे खीर, पुआ, लड्डू, मोदक, मूंग, चावल आदि सम्मिलित हैं। घी, तेल, दूध से बनने वाले कई स्वादिष्ट पदार्थों का दुकानो पर मिलने का वर्णन मिलता है। क्षत्रियो मे माँस खाने का रिवाज था और उसे कई प्रकार के मसालो से बनाया जाता था जैसा कि समराइच्छकहा[५१] मे अंकित है। अकेले खाने और सामूहिक भोजन की भी व्यवस्था रहती थी। राजकीय भोजन करने की विधि मे भोजन चाँदी की या सुवर्ण की थाल और कटोरियो मे रखा जाता था और थाल को पाट पर रख दिया जाता था। साधारणत आसन पर, चटाई पर या भूमि पर ैठकर खाने की प्रथा थी।

वेश-भूषा तथा आभूषण

पुरुष और स्त्रियो की वेश-भूषा तथा आभूषणो का वर्णन वैसे तो इस युग के साहित्य मे मिलता है परन्तु उसके आकार और रूप का अनुमान उत्कीर्ण मूर्तियो से लगाया जा सकता है। समृद्ध परिवार के पुरुष कुण्डल, मुकुट, हार तथा केयूर से सुशोभित लगते थे। कपडों मे पगडी, धोती, अगरक्षी तथा दुपट्टे का प्रयोग होता था। स्त्रियो के आभूषणो मे कुण्डल, हार, बाजूबन्द, कर्धनी, नुपूर, चूडारत्न, पत्रलता, माला आदि मुख्य थे। गाँवो की स्त्रियाँ शख, गुजा और सस्ते धातुओ के आभूषणो का प्रयोग करती थी। स्त्रियाँ साडी, अधोवस्त्र, स्तनपट्ट और आगी का व्यवहार करती थी जो रेशम और सूत के होते थे।[५२]

आमोद-प्रमोद तथा उत्सव और त्यौहार

मनोविनोद और पवित्र आचरण के लिए इस युग के ग्रन्थो मे कई मन बहलाने के साधन और उत्सवो का वर्णन मिलता है। इन उत्सवो मे धार्मिक और सामाजिक पव सम्मिलित हैं। देवशयनी एकादशी, जन्माष्टमी, भीष्मपचरात्रि, शिवरात्रि, गौरितृतीया, महानवमी आदि धार्मिक पर्व थे जिनको व्रत, उपवास, पूजा आदि से मनाया जाता था। होली की भाँति वसतोत्सव मनाया जाता था जिसमे नाच, गान और रग उछालना मनोविनोद के साधन थे। महानवमी के दिन घोडे व शस्त्र पूजे जाते थे। विवाह और पुत्रोत्पत्ति के अवसरो को वडे धूमधाम से मनाया जाता था। मृग या रथ की दौड, गाना, वजाना, नाचना, घोडे की दौड आदि भी मनोरजन के अन्तर्गत थे जो उत्कीर्ण कला मे देखे जा सकते हैं। जुआ, जैसा कि अल्लट के लेख से स्पष्ट है, सरकार की ओर से मान्यता प्राप्त खेल था। गूजरीयात्रा, दीपोत्सव, रथ-

---

[५१] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४६६-६७

[५२] ज्ञानपचमीकथा, द्वि० १८, कुवलयमाला, पृ० ७, २७, २३१ आदि, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४६२-६५

यात्रा आदि जैनियो के वडे उत्सव थे। रास का नाच गाँवो मे वडे चाव का मनोरंजन गिना जाता था।[५३]

आर्थिक जीवन

कृषि और पशु-पालन राजस्थान के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार थे। अधिकाश लोग इन्ही कामो के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते थे। ब्राह्मण पठन-पाठन और लेखन के द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। वैश्यो का मुख्य व्यवसाय वाणिज्य था। स्थानीय और देशोत्तर व्यापार के द्वारा यह जाति समृद्ध अवस्था मे पहुँच चुकी थी। इसी युग के कई व्यापारी रेगिस्तान को पारकर राजस्थान के वाहर जाते थे और अनेक प्रकार की वस्तुओ का क्रय-विक्रय करते थे। उस युग के साधनो के विचार से सभी वर्गो की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक थी। उस समय के शिलालेखो और काव्य-ग्रन्थो मे देश की समृद्धि का प्रचुर वर्णन मिलता है जिससे अनुमान किया जाता है कि कृषक-वर्ग की हालत अच्छी थी। देश मे खाद्य पदार्थों की कमी न होना इस अनुमान की पुष्टि करता है। यदि व्यापारियो के आवागमन मे कोई रुकावट होती थी तो वह चोरी-डकैती का डर था। परन्तु जगली भागो को छोडकर अन्य भागो मे इनका कोई अधिक भय न था।[५४]

धार्मिक जीवन

इस युग का धार्मिक जीवन तीन मुख्य धाराओ से प्रभावित था—वैदिक, पौराणिक और जैन। वैदिक धर्म के प्रधान अग यज्ञ, बलिदान, श्राद्ध आदि थे। यज्ञो मे पशु भी मारे जाते थे जिसका निषेध उस समय के जैन ग्रन्थो मे मिलता है। पौराणिक धर्मो मे शिव, विष्णु, देवी की मान्यता थी। ब्राह्मणो को आदर की दृष्टि से देखना सभी का धार्मिक कर्तव्य था। इस समय चित्तौड, ओसियाँ, पुष्कर, आहड, भीनमाल, जावर, आम्वानेरी आदि कस्वो मे कई शिव, विष्णु, महावीर, वराह आदि देव-देवियो के मन्दिर वनाये गये थे। जगत् का देवी का मन्दिर इसी काल का है। चित्तौड का सूर्य मन्दिर सूर्य की आराधना के प्रचलन का द्योतक है। पाशुपत और पन्चरात्र उस युग की उच्चकोटि की धार्मिक पद्धति थी। आवू, पिण्डवाडा, अर्थूणा, नागदा, चित्तौड आदि स्थानो से मिलने वाले कतिपय शिलालेख उस समय के पौराणिक आराध्य देवो की स्तुतियो से भरे पडे हैं। उस युग के हरिभद्र सूरी तथा खरतर आचार्यो के लेखो मे विधिचैत्य सुधारण आन्दोलन के सफल प्रयत्न दिखायी देते हैं। तीर्थयात्रा करने की भी प्रथा का हमे उस समय के साहित्य से पता चलता है। जनता स्वर्ग और नरक मे विश्वास करती थी, उसमे कई एक अन्धविश्वास भी प्रचलित थे।

---

५३ उपमिति, पृ० १८१, ३०२, ३९०, ३९७, राजस्थान भारती, भा० ६, पृ० ३–८, जरनल आफ इण्डियन हिस्ट्री, भा० ९, ११९-३१, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४६८-७१

५४ जैन लेख सग्रह—व्यापारियो के नामो का प्रकरण

परन्तु इस समय मे सभी सम्प्रदायो को विश्वास और पूजा-पद्धति की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इसीलिए अनेक जैन आचार्य शैव या वैष्णव मतावलम्बी राजाओ के राज्य मे अपने धर्म का प्रचार करते थे। अनेक मन्दिरो को चाहे वे शिव के हो या विष्णु अथवा देवी के या महावीर के हो, किसी भी एक धर्म मे रुचि रखने वाले शासको के द्वारा अनुदान प्राप्त होते थे। शक्तिकुमार के ९७७ ई० के शिलालेखो मे आहड के जैन मन्दिर तथा सूर्य मन्दिर के बनाये जाने के उल्लेख हैं। विग्रहराज चतुर्थ के समय मे जैन विहार के बनाये जाने का प्रमाण उपलब्ध है।[५५]

साहित्य का विकास

इस समय के साहित्य ने कई दिशाओ मे प्रगति की जिनमे सस्कृत और भाषा साहित्य प्रमुख हैं। विक्रमी स० ८वी का अपराजित का शिलालेख उस समय के सस्कृत साहित्य का विशुद्ध उदाहरण है। इसकी रचना ब्रह्मचारी के पुत्र दामोदर ने की थी। इस लेख की कविता बडी मनोहर है। कुटिल लिपि मे लिखे गये लेखो मे यह एक उत्कृष्ट शिल्प का उदाहरण है। नरवाहन के समय का ९७१ ई० का नाथो का लेख भी रचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसकी श्लोकबद्ध रचना वेदागमुनि के कृपापात्र शिष्य आम्रकवि के द्वारा की गयी थी। आबू और शेखावाटी प्रान्त से मिलने वाले कतिपय शिलालेख इस बात के प्रमाण हैं कि इस युग मे सस्कृत गद्य और पद्य लिखने का स्तर बडा ऊँचा था और शिक्षा की प्रगति सन्तोषजनक थी। हो सकता है कि साधारण जन-समुदाय मे शिक्षितो की सख्या अधिक न हो, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि सस्कृत अभिजात कुलीय शिक्षित समुदाय की भाषा बन गयी थी। उस समय के राजा भी विद्या के वैभव से वचित नही थे, जैसा कि नरवाहन को ९७७ ई० के शिलालेख में कलाओ का आधार और विद्या की वेदी कहा है। इसी युग का विग्रहराज चतुर्थ स्वय सुसस्कृत था और विद्या के प्रचार मे सयत्न बना रहता था। उसकी विद्या-प्रभा उसके 'कविबान्धव' के विरुद से प्रकट है। इसका दरबारी कवि सोमदेव जिसने ललितविग्रहराज लिखकर चौहान-कालीन काव्य-प्रतिभा को विकसित कर दिया था। विग्रहराज की कवित्व शक्ति का हरकेली नाटक भवभूति और कालिदास की कृतियो की होड मे रखा जा सकता है। पौराणिक और कथा-साहित्य की दृष्टि से कुवलयमाला, समराइच्छकहा, उपमितिभवप्रपन्चाकथा आदि ग्रन्थ उस समय की सुन्दर रचनाओ मे स्थान रखते हैं। वास्तव मे, इस काल मे सस्कृत और स्थानीय भाषाओ को गौरव का स्थान मिला और वे एक प्रकार से राजकीय भाषा का स्थान ग्रहण कर सकी। सरकारी अभिलेखो तथा सिक्को के लेखो मे बहुधा सस्कृत और स्थानीय भाषा का ही प्रयोग होता था।

---

[५५] पृथ्वीराज विजय, सर्ग ८, ५५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४१४-२६

यात्रा आदि जैनियो के वडे उत्सव थे। रास का नाच गाँवो मे वडे चाव का मनोरजन गिना जाता था।[५३]

आर्थिक जीवन

कृषि और पशु-पालन राजस्थान के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार थे। अधिकाश लोग इन्ही कामो के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते थे। ब्राह्मण पठन-पाठन और लेखन के द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। वैश्यो का मुख्य व्यवसाय वाणिज्य था। स्थानीय और देशोत्तर व्यापार के द्वारा यह जाति समृद्ध अवस्था मे पहुँच चुकी थी। इसी युग के कई व्यापारी रेगिस्तान को पारकर राजस्थान के वाहर जाते थे और अनेक प्रकार की वस्तुओ का क्रय-विक्रय करते थे। उस युग के साधनो के विचार से सभी वर्गो की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक थी। उस समय के शिलालेखो और काव्य-ग्रन्थो मे देश की समृद्धि का प्रचुर वर्णन मिलता है जिससे अनुमान किया जाता है कि कृषक-वर्ग की हालत अच्छी थी। देश मे खाद्य पदार्थो की कमी न होना इस अनुमान की पुष्टि करता है। यदि व्यापारियो के आवागमन मे कोई रुकावट होती थी तो वह चोरी-डकैती का डर था। परन्तु जगली भागो को छोडकर अन्य भागो मे इनका कोई अधिक भय न था।[५४]

धार्मिक जीवन

इस युग का धार्मिक जीवन तीन मुख्य धाराओ से प्रभावित था—वैदिक, पौराणिक और जैन। वैदिक धर्म के प्रधान अग यज्ञ, वलिदान, श्राद्ध आदि थे। यज्ञो मे पशु भी मारे जाते थे जिसका निषेध उस समय के जैन ग्रन्थो मे मिलता है। पौराणिक धर्मो मे शिव, विष्णु, देवी की मान्यता थी। ब्राह्मणो को आदर की दृष्टि से देखना सभी का धार्मिक कर्तव्य था। इस समय चित्तौड, ओसियाँ, पुष्कर, आहड, भीनमाल, जावर, आम्वानेरी आदि कस्बो मे कई शिव, विष्णु, महावीर, वराह आदि देव-देवियो के मन्दिर वनाये गये थे। जगत् का देवी का मन्दिर इसी काल का है। चित्तौड का सूर्य मन्दिर सूर्य की आराधना के प्रचलन का द्योतक है। पाशुपत और पन्चरात्र उस युग की उच्चकोटि की धार्मिक पद्धति थी। आबू, पिण्डवाडा, अथूँणा, नागदा, चित्तौड आदि स्थानो से मिलने वाले कतिपय शिलालेख उस समय के पौराणिक आराध्य देवो की स्तुतियो से भरे पडे हैं। उस युग के हरिभद्र सूरी तथा खरतर आचार्यो के लेखो मे विधिचैत्य सुधारण आन्दोलन के सफल प्रयत्न दिखायी देते हैं। तीर्थयात्रा करने की भी प्रथा का हमे उस समय के साहित्य से पता चलता है। जनता स्वर्ग और नरक मे विश्वास करती थी, उसमे कई एक अन्धविश्वास भी प्रचलित थे।

---

५३ उपमिति, पृ० १८१, ३०२, ३९०, ३९७, राजस्थान भारती, भा० ६, पृ० ३–८, जरनल आफ इण्डियन हिस्ट्री, भा० ९, ११९-३१, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४६८-७१

५४ जैन लेख सग्रह—व्यापारियो के नामो का प्रकरण

परन्तु इस समय मे सभी सम्प्रदायो को विश्वास और पूजा-पद्धति की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इसीलिए अनेक जैन आचार्य शैव या वैष्णव मतावलम्बी राजाओ के राज्य मे अपने धर्म का प्रचार करते थे। अनेक मन्दिरो को चाहे वे शिव के हो या विष्णु अथवा देवी के या महावीर के हो, किसी भी एक धर्म मे रुचि रखने वाले शासको से द्वारा अनुदान प्राप्त होते थे। शक्तिकुमार के ९७७ ई० के शिलालेखो मे आहड मे जैन मन्दिर तथा सूर्य मन्दिर के बनाये जाने के उल्लेख है। विग्रहराज चतुर्थ के नगर मे जैन विहार के बनाये जाने का प्रमाण उपलब्ध है।[५५]

साहित्य का विकास

इस समय के साहित्य ने कई दिशाओ मे प्रगति की जिनमे संस्कृत और भाषा साहित्य प्रमुख हैं। विक्रमी स० ८वी का अपराजित का शिलालेख उस समय के संस्कृत साहित्य का विशुद्ध उदाहरण है। इसकी रचना ब्रह्मचारी के पुत्र दामोदर ने की थी। इस लेख की कविता बडी मनोहर है। कुटिल लिपि मे लिखे गये लेखो मे यह एक उत्कृष्ट शिल्प का उदाहरण है। नरवाहन के समय का ९७१ ई० का नाथों का लेख भी रचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसकी श्लोकबद्ध रचना वेदागमुनि के कृपापात्र शिष्य आम्रकवि के द्वारा की गयी थी। आबू और शेखावाटी प्रान्त से मिलने वाले कतिपय शिलालेख इस बात के प्रमाण हैं कि इस युग मे संस्कृत गद्य और पद्य लिखने का स्तर बडा ऊँचा था और शिक्षा की प्रगति सन्तोषजनक थी। हो सकता है कि साधारण जन-समुदाय मे शिक्षितो की संख्या अधिक न हो, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि संस्कृत अभिजात कुलीय शिक्षित समुदाय की भाषा बन गयी थी। उस समय के राजा भी विद्या के वैभव से वंचित नही थे, जैसा कि नरवाहन को ९७७ ई० के शिलालेख मे कलाओ का आधार और विद्या की वेदी कहा है। इसी युग का विग्रहराज चतुर्थ स्वय सुसंस्कृत था और विद्या के प्रचार मे सयत्न बना रहता था। उसकी विद्या-प्रभा उसके 'कविबान्धव' के विरुद से प्रकट है। इसका दरबारी कवि सोमदेव जिसने ललितविग्रहराज लिखकर चौहान-कालीन काव्य-प्रतिभा को विकसित कर दिया था। विग्रहराज की कवित्व शक्ति का हरकेली नाटक भवभूति और कालिदास की कृतियो की होड मे रखा जा सकता है। पौराणिक और कथा-साहित्य की दृष्टि से कुवलयमाला, समराइच्छकहा, उपमितिभवप्रपन्चाकथा आदि ग्रन्थ उस समय की सुन्दर रचनाओ मे स्थान रखते हैं। वास्तव मे, इस काल मे संस्कृत और स्थानीय भाषाओ को गौरव का स्थान मिला और वे एक प्रकार से राजकीय भाषा का स्थान ग्रहण कर सकी। सरकारी अभिलेखो तथा सिक्को के लेखो मे बहुधा संस्कृत और स्थानीय भाषा का ही प्रयोग होता था।

---

[५५] पृथ्वीराज विजय, सर्ग ८, ५५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४१४-२६

यात्रा आदि जैनियो के बडे उत्सव थे। रास का नाच गाँवो मे बडे चाव का मनोरजन गिना जाता था।[४३]

आर्थिक जीवन

कृषि और पशु-पालन राजस्थान के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार थे। अधिकाश लोग इन्ही कामो के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते थे। ब्राह्मण पठन-पाठन और लेखन के द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। वैश्यो का मुख्य व्यवसाय वाणिज्य था। स्थानीय और देशोत्तर व्यापार के द्वारा यह जाति समृद्ध अवस्था मे पहुँच चुकी थी। इसी युग के कई व्यापारी रेगिस्तान को पारकर राजस्थान के वाहर जाते थे और अनेक प्रकार की वस्तुओ का क्रय-विक्रय करते थे। उस युग के साधनो के विचार से सभी वर्गो की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक थी। उस समय के शिलालेखो और काव्य-ग्रन्थो मे देश की समृद्धि का प्रचुर वर्णन मिलता है जिससे अनुमान किया जाता है कि कृषक-वर्ग की हालत अच्छी थी। देश मे खाद्य पदार्थो की कमी न होना इस अनुमान की पुष्टि करता है। यदि व्यापारियो के आवागमन मे कोई रुकावट होती थी तो वह चोरी-डकैती का डर था। परन्तु जगली भागो को छोडकर अन्य भागो मे इनका कोई अधिक भय न था।[५४]

धार्मिक जीवन

इस युग का धार्मिक जीवन तीन मुख्य धाराओ से प्रभावित था—वैदिक, पौराणिक और जैन। वैदिक धर्म के प्रधान अग यज्ञ, बलिदान, श्राद्ध आदि थे। यज्ञो मे पशु भी मारे जाते थे जिसका निषेध उस समय के जैन ग्रन्थो मे मिलता है। पौराणिक धर्मो मे शिव, विष्णु, देवी की मान्यता थी। ब्राह्मणो को आदर की दृष्टि से देखना सभी का धार्मिक कर्तव्य था। इस समय चित्तौड, ओसियाँ, पुष्कर, आहड, भीनमाल, जावर, आम्बानेरी आदि कस्बो मे कई शिव, विष्णु, महावीर, वराह आदि देव-देवियो के मन्दिर बनाये गये थे। जगत् का देवी का मन्दिर इसी काल का है। चित्तौड का सूर्य मन्दिर सूर्य की आराधना के प्रचलन का द्योतक है। पाशुपत और पन्चरात्र उस युग की उच्चकोटि की धार्मिक पद्धति थी। आबू, पिण्डवाडा, अथूँणा, नागदा, चित्तौड आदि स्थानो से मिलने वाले कतिपय शिलालेख उस समय के पौराणिक आराध्य देवो की स्तुतियो से भरे पडे हैं। उस युग के हरिभद्र सूरी तथा खरतर आचार्यो के लेखो मे विधिचैत्य सुधारण आन्दोलन के सफल प्रयत्न दिखायी देते हैं। तीर्थयात्रा करने की भी प्रथा का हमे उस समय के साहित्य से पता चलता है। जनता स्वर्ग और नरक मे विश्वास करती थी, उसमे कई एक अन्धविश्वास भी प्रचलित थे।

---

५३ उपमिति, पृ० १८१, ३०२, ३६०, ३६७, राजस्थान भारती, भा० ६, पृ० ३-८, जरनल आफ इण्डियन हिस्ट्री, भा० ९, ११९-३१, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ४६८-७१

५४ जैन लेख सग्रह—व्यापारियो के नामो का प्रकरण

शिक्षा

इस काल की बौद्धिक उन्नति और अभिसृष्टि से विदित होता है कि उस युग मे प्रचलित शिक्षा की प्रणाली काफी अच्छी रही होगी। अभिलेखो के अनुसार उस युग के विद्वानो को शिक्षक, आचार्य, पण्डित, उपाध्याय, भट्ट, कविप्रवर आदि कहते थे। उनके अनुयायियो को शिष्य कहते थे जो उनके चरणो मे बैठकर वेद, धर्म, पुराण, ज्योतिष, गणित, साहित्य, व्याकरण आदि विषयो मे ज्ञान प्राप्त करते थे। शिक्षा नि शुल्क होती थी और शिष्य गुरु का सम्बन्ध घनिष्ठ रहता था। गुरु का शिष्य के चरित्र-निर्माण मे पूरा हाथ रहता था। इन शिक्षको के भरण-पोषण का भार दानप्रिय जनता या राजाओ पर था जो दान और अग्रहार के गाँव से उनके व्यय की व्यवस्था करते थे। उस समय की शिक्षा सम्बन्धी उदारता और प्रसार का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि अकेले भीनमाल से ही माघ, मण्डन, माहुक, धाइल्ल, ब्रह्मगुप्त आदि कतिपय लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान निकले थे। चित्तौड ने हरिभद्रसूरि तथा जिनवल्लभ जैसे मेधावियो से ख्याति प्राप्त की थी। चौहानो के राज्य मे विद्वानो के रहने की अलग ब्रह्मपुरी थी जहाँ अनेक विषयो का अध्ययन और अध्यापन होता रहता था। बहुधा शिक्षा मौखिक होती थी जिसमे वाद-विवाद और विचार-विनिमय करने की प्रणाली को प्राधान्यता दी जाती थी। स्वय चौहान वशीय अजयपाल ने धर्मघोष और गुणचन्द्र के बीच होने वाले वाद-विवाद की अध्यक्षता की थी जैसा कि रविप्रभ सूरि का धर्मघोष स्तुति से प्रमाणित होता है।

जहाँ हम इस समय की शिक्षा की उन्नति और साहित्य सृजन की प्रशसा करते हैं वहाँ हम इस बात को कहे बिना नही रह सकते कि जो शिक्षा का विकास इस युग मे हुआ था वह व्यावहारिक ज्ञान से शून्य था। साहित्य रचना मे भी मौलिकता कम थी। उन्ही परम्परागत गतिविधियो को साहित्य मे स्थान मिल रहा था जिनसे उस युग का काव्य-सौरभ चमत्कारपूर्ण न हो सका। ज्योतिष और गणित के अध्ययन की गति मे भी अवरोध दिखायी देता है।[५६]

वास्तु और तक्षण कला

हमारे इस अध्ययन के युग मे वास्तु-शिल्प और तक्षण कला को बडा प्रोत्साहन मिला। इस काल के शिल्प की यह विशेपता है कि सतत युद्ध और सघर्ष के वातावरण मे भी यह कला पनपती रही। युद्ध और सघर्ष की स्थिति की छाप अवश्य वास्तु शिल्प पर दिखायी देती है। जितने भी नगरो, राजप्रासादो, मन्दिरो आदि का निर्माण इस युग में हुआ उनमे सैन्य, स्थापत्य और सुरक्षा सम्बन्धी उपायो को प्राधान्यता दी गयी। तक्षण कला के प्रतीक भी इस विशेपता से वचित नही रखे गये। इन विशेपताओ को प्रमाणित करने वाले अवशेष अधिकाश मे प्रकृति के कोप से या

---

५६ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २६६-८७, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ५२६-३०

शिक्षा

इस काल की बौद्धिक उन्नति और अभिसृष्टि से विदित होता है कि उस युग मे प्रचलित शिक्षा की प्रणाली काफी अच्छी रही होगी। अभिलेखो के अनुसार उस युग के विद्वानो को शिक्षक, आचार्य, पण्डित, उपाध्याय, भट्ट, कविप्रवर आदि कहते थे। उनके अनुयायियो को शिष्य कहते थे जो उनके चरणो मे बैठकर वेद, धर्म, पुराण, ज्योतिष, गणित, साहित्य, व्याकरण आदि विषयो मे ज्ञान प्राप्त करते थे। शिक्षा नि शुल्क होती थी और शिष्य गुरु का सम्बन्ध घनिष्ठ रहता था। गुरु का शिष्य के चरित्र-निर्माण मे पूरा हाथ रहता था। इन शिक्षको के भरण-पोषण का भार दानप्रिय जनता या राजाओ पर था जो दान और अग्रहार के गाँव से उनके व्यय की व्यवस्था करते थे। उस समय की शिक्षा सम्बन्धी उदारता और प्रसार का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि अकेले भीनमाल से ही माघ, मण्डन, माहुक, धाइल्ल, ब्रह्मगुप्त आदि कतिपय लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान निकले थे। चित्तौड ने हरिभद्रसूरि तथा जिनवल्लभ जैसे मेधावियो से ख्याति प्राप्त की थी। चौहानो के राज्य मे विद्वानो के रहने की अलग ब्रह्मपुरी थी जहाँ अनेक विषयो का अध्ययन और अध्यापन होता रहता था। बहुधा शिक्षा मौखिक होती थी जिसमे वाद-विवाद और विचार-विनिमय करने की प्रणाली को प्राधान्यता दी जाती थी। स्वय चौहान वशीय अजयपाल ने धर्मघोष और गुणचन्द्र के बीच होने वाले वाद-विवाद की अध्यक्षता की थी जैसा कि रविप्रभ सूरि का धर्मघोष स्तुति से प्रमाणित होता है।

जहाँ हम इस समय की शिक्षा की उन्नति और साहित्य सृजन की प्रशसा करते हैं वहाँ हम इस बात को कहे बिना नही रह सकते कि जो शिक्षा का विकास इस युग मे हुआ था वह व्यावहारिक ज्ञान से शून्य था। साहित्य रचना मे भी मौलिकता कम थी। उन्ही परम्परागत गतिविधियो को साहित्य मे स्थान मिल रहा था जिनसे उस युग का काव्य-सौरभ चमत्कारपूर्ण न हो सका। ज्योतिष और गणित के अध्ययन की गति मे भी अवरोध दिखायी देता है।[५६]

वास्तु और तक्षण कला

हमारे इस अध्ययन के युग मे वास्तु-शिल्प और तक्षण कला को बडा प्रोत्साहन मिला। इस काल के शिल्प की यह विशेषता है कि सतत युद्ध और सघर्ष के वातावरण मे भी यह कला पनपती रही। युद्ध और सघर्ष की स्थिति की छाप अवश्य वास्तु शिल्प पर दिखायी देती है। जितने भी नगरो, राजप्रासादो, मन्दिरो आदि का निर्माण इस युग मे हुआ उनमे सैन्य, स्थापत्य और सुरक्षा सम्बन्धी उपायो को प्राधान्यता दी गयी। तक्षण कला के प्रतीक भी इस विशेषता से वचित नहीं रखे गये। इन विशेषताओ को प्रमाणित करने वाले अवशेष अधिकाश मे प्रकृति के कोप से या

---

५६ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २६६-८७, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ५२९-३०

वसाया जिनमे विसालपुर सवसे अधिक प्रसिद्ध है। उसने कई पहाडी स्थानो मे भवन-निर्माण कर अपने राज्य की सुरक्षा की व्यवस्था की। जावर, आमेर, नाडौल आदि प्राचीन बस्तियो का भी वास्तु इसी भाँति का है।

दुर्ग-निर्माण तथा नगर-निर्माण कला के साथ जब हम मन्दिरो के निर्माण और तक्षण कला की ओर आते है तो हम पाते हैं कि इन वास्तु और तक्षण के प्रतीको मे शक्ति, विकास और जातीय-सगठन की भावना स्थापत्य मे प्रस्फुटित हुई। इस काल मे बनने वाले मन्दिरो मे, चाहे वे विष्णु के हो अथवा शिव के, शक्ति के हो या सूर्य के, बल और शौर्य का उन्मीलन प्रगाढ रूप से दिखायी देता है। अरण्यवासिनी के मन्दिर, कुण्डाग्राम के कैटभ-रिपु के मन्दिर, जगत् के अम्बिका के मन्दिर, किराडू के देव मन्दिर आदि मे भावगत एकत्व स्पष्ट हैं, भिन्नता केवल धर्मगत है। मूर्तिकार ने जगह-जगह भय, विनाश तथा सघर्ष का चित्र इस प्रकार किया है कि पद-पद मे विजय-पिपासा को प्रेरणा मिलती है। यहाँ तक कि अटू, चन्द्रावती, जगत् आदि के मन्दिरो की तक्षण कला मे नारी की आकृतियो मे कही-कही सौन्दर्य के स्थान पर रौद्ररस को प्रवाहित करने की चेष्टा की गयी है। इन मन्दिरो मे देवो और असुरो के सघर्ष मे अथवा विष्णु तथा शिव के अकन मे प्राय तमोगुण प्रतिबिम्बित है। चन्द्रावती के मन्दिरो मे यदि द्वारपालो का स्वरूप योद्धाओ की साम्यता करता है तो आम्बानेरी मे रति धनुष लिये पुरुष की भाँति जीवन और शक्ति का प्रदर्शन किये हुए है। इस युग के कई मन्दिरो मे कलाकारो ने देव-मानव युद्ध के अकन मे वातावरण को शौर्य से ओतप्रोत कर दिया है। जहाँ बाल-गोपाल की क्रीडा है तो वहाँ शक्ति का प्रतीक गोवर्धन-धारण भी हैं। इसी प्रकार वराह तथा नृसिंह का अकन तो भक्ति रहस्य के ओट मे भयकरता का वातावरण उपस्थित करता है। समिधेश्वर के मनुष्य स्तर का भाग तो बढती हुई फौजो, हथियारो, योद्धाओ तथा ध्वजा, पताका, शखनाद, तुरही आदि युद्धोचित उपकरणो से भरा पडा है, जिसको देखने से दर्शक के हृदय मे युद्ध की विभीषिका का नाद प्रतिध्वनित होता दिखायी देता है।

इसी प्रकार जहाँ इन मन्दिरो और मूर्तियो मे शक्ति और शौर्य के दृश्यो की प्राधान्यता दिखायी देती है वहाँ गुप्तकालीन तक्षण कला की परम्परा भी स्पष्ट है। कलाकार ने नारी-जगत् के अकन मे नृत्य, शृगार, क्रीडा, प्रेम आदि की अभिव्यक्ति वडे सुन्दर ढग से अकित की है। वस्त्रालकार, केशालकार तथा दाम्पत्य-जीवन और प्रेम के दृश्यो की अभिव्यक्ति आम्वानेरी के मन्दिर मे उत्कृष्ट कोटि की है। बाडोली के खम्भो मे हूणराज और उनकी रानी पिंगला के प्रेम को शिव-पार्वती की मूर्तियो द्वारा वडी दक्षता से अकित किया गया है। इस युग की तक्षण कला जहाँ शक्ति और प्रेम के अकन मे उत्कृष्ट है तो वहाँ कला और काव्य का भी सयोग वडी निपुणता से दिखाया गया है। किराडू के मन्दिरो मे एक स्त्री का पुस्तक के साथ अकन इसी सकेत का द्योतक है। इसी तरह छोटी सादडी के मन्दिर की तक्षण और कल्याणपुर की जैन और शिव मूर्तियाँ चेतना, तक्षण-सूक्ष्मता, प्रसन्न-मुद्रा, धार्मिक भाव तथा परम्परा की

वसाया जिनमे विसालपुर सवसे अधिक प्रसिद्ध है। उसने कई पहाडी स्थानो मे भवन-निर्माण कर अपने राज्य की सुरक्षा की व्यवस्था की। जावर, आमेर, नाडौल आदि प्राचीन वस्तियो का भी वास्तु इसी भाँति का है।

दुर्ग-निर्माण तथा नगर-निर्माण कला के साथ जव हम मन्दिरो के निर्माण और तक्षण कला की ओर आते है तो हम पाते हैं कि इन वास्तु और तक्षण के प्रतीको मे शक्ति, विकास और जातीय-सगठन की भावना स्थापत्य मे प्रस्फुटित हुई। इस काल मे वनने वाले मन्दिरो मे, चाहे वे विष्णु के हो अथवा शिव के, शक्ति के हो या सूर्य के, वल और शौर्य का उन्मीलन प्रगाढ रूप से दिखायी देता है। अरण्यवासिनी के मन्दिर, कुण्डाग्राम के कैटभ-रिपु के मन्दिर, जगत् के अम्विका के मन्दिर, किराडू के देव मन्दिर आदि मे भावगत एकत्व स्पष्ट है, भिन्नता केवल धर्मगत है। मूर्तिकार ने जगह-जगह भय, विनाश तथा सघर्ष का चित्र इस प्रकार किया है कि पद-पद मे विजय-पिपासा को प्रेरणा मिलती हैं। यहाँ तक कि अट्रू, चन्द्रावती, जगत् आदि के मन्दिरो की तक्षण कला मे नारी की आकृतियो मे कही-कही सौन्दर्य के स्थान पर रौद्ररस को प्रवाहित करने की चेष्टा की गयी है। इन मन्दिरो मे देवो और असुरो के सघर्ष मे अथवा विष्णु तथा शिव के अकन मे प्राय तमोगुण प्रतिविम्वित है। चन्द्रावती के मन्दिरो मे यदि द्वारपालो का स्वरूप योद्धाओ की साम्यता करता है तो आम्वानेरी मे रति धनुष लिये पुरुष की भाँति जीवन और शक्ति का प्रदर्शन किये हुए है। इस युग के कई मन्दिरो मे कलाकारो ने देव-मानव युद्ध के अकन मे वातावरण को शौर्य से ओतप्रोत कर दिया है। जहाँ वाल-गोपाल की क्रीडा है तो वहाँ शक्ति का प्रतीक गोवर्धन-धारण भी है। इसी प्रकार वराह तथा नृसिह का अकन तो भक्ति रहस्य के ओट मे भयकरता का वातावरण उपस्थित करता हैं। समिधेश्वर के मनुष्य स्तर का भाग तो वढती हुई फौजो, हथियारो, योद्धाओ तथा ध्वजा, पताका, शखनाद, तुरही आदि युद्धोचित उपकरणो से भरा पडा है, जिसको देखने से दर्शक के हृदय मे युद्ध की विभीपिका का नाद प्रतिध्वनित होता दिखायी देता है।

इसी प्रकार जहाँ इन मन्दिरो और मूर्तियो मे शक्ति और शौर्य के दृश्यो की प्राधान्यता दिखायी देती है वहाँ गुप्तकालीन तक्षण कला की परम्परा भी स्पष्ट है। कलाकार ने नारी-जगत् के अकन मे नृत्य, शृगार, क्रीडा, प्रेम आदि की अभिव्यक्ति वडे सुन्दर ढग से अकित की है। वस्त्रालकार, केशालकार तथा दाम्पत्य-जीवन और प्रेम के दृश्यो की अभिव्यक्ति आम्वानेरी के मन्दिर मे उत्कृष्ट कोटि की है। वाडोली के खम्भो मे हूणराज और उनकी रानी पिगला के प्रेम को शिव-पार्वती की मूर्तियो द्वारा वडी दक्षता से अकित किया गया है। इस युग की तक्षण कला जहाँ शक्ति और प्रेम के अकन मे उत्कृष्ट है तो वहाँ कला और काव्य का भी सयोग वडी निपुणता से दिखाया गया है। किराडू के मन्दिरो मे एक स्त्री का पुस्तक के साथ अकन इसी सकेत का द्योतक है। इसी तरह छोटी सादडी के मन्दिर की तक्षण और कल्याणपुर की जैन और शिव मूर्तियाँ चेतना, तक्षण-सूक्ष्मता, प्रसन्न-मुद्रा, धार्मिक भाव तथा परम्परा की

सूचक हैं। मेनाल, अमझेरा, डवोक आदि स्थानो से मिलने वाली शिव, पार्वती, विष्णु, महावीर, भैरव, दक्ष, नर्तिकाएं आदि की मूर्तियाँ लोकोत्तर आनन्द, दया और प्रेम के भाव की द्योतक हैं।

इस समूचे काल की सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक चेतना ने केवल मूर्तिकला को ही प्रभावित नही किया वरन् देवालय निर्माण योजनाओ को अपने स्पर्श से आभासित किया। इन मन्दिरो और उनके उपकरणो से उस युग के सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास का क्रमिक इतिहास स्पष्ट होता है। इनको देखने से सौन्दर्य और शान्ति की आभा प्रस्फुटित होती है। इन्ही शताब्दियो मे चित्तौड का सूय मन्दिर एव बाडोली के शिव मन्दिर बडे महत्त्व के हैं। अनेक देवताओ की मूर्तियो के अकन के द्वारा जहा सूर्य मन्दिर के निर्माणकर्ताओ ने पारलौकिक जगत् का स्पष्ट रूप हमारे सामने रखा है तो कलाकारा ने बाडौली की तक्षण कला द्वारा पशु-जीवन तथा जन-जीवन के अनुभवो का स्पष्टीकरण किया है। विविध स्तरो तथा स्तम्भो मे उभारी गयी यक्षी मूर्तियाँ मुद्रा तथा शारीरिक सौन्दर्य की पराकाष्ठा हैं।

इस शौर्य और प्रेम से ओतप्रोत मन्दिरो के स्थापत्य और तक्षण कला मे धर्म का भी प्रधान स्थान है। जैन धर्म से सम्बन्धित मन्दिरो मे आबू का विमलशाह का मन्दिर (१०३१ ई०) और वस्तुपाल का (१२३० ई०) मन्दिर बडे महत्त्व के है। चित्तौड का १२वी शताब्दी का कीर्ति-स्तम्भ, जिसे बघेरवशीय शाह जीजा ने बनवाया था, कला का भव्य प्रतीक है। इन प्रतीको और मन्दिरो मे आचार प्रतिपादक दृश्यो और परम्परागत शिल्प सिद्धान्तो मे वैविध्य और वैचित्र्य दिखायी देता है। तोरण-द्वारो, गुम्बजो और सभा-मण्डपो के विविध स्तरो मे भावसूचक शिल्प के उत्कृष्ट नमूने दिखायी देते हैं। देलवाडा समुदाय के मन्दिरो की मूर्तियो के बनाने मे कलाकार ने धैर्य और गाम्भीर्य को प्राधान्यता दी है। इसी प्रकार अर्थूणा, ओसियाँ, बाडौली, नागदा आदि स्थानो के शिव, विष्णु, सूर्य तथा जैन मन्दिरो के शिल्प मे आत्मोत्थान के भाव प्रतिबिम्बित होते हैं। यहाँ के कलाकारो ने अपनी बारीक छैनी से भारतीय जीवन पर अद्भुत प्रकाश डाला है। यहाँ परमात्मा की आराधना, साधुओ की वाणी का श्रवण तथा अर्चन आदि भावो को अकित कर कलाकार ने उच्चतर कल्पना का स्तर निर्धारित करने मे सफल प्रयत्न का प्रदर्शन किया है। सक्षेप मे, इस काल के बने हुए मन्दिर विशालता और कला की दृष्टि से, जिसमे मन्दिर के आकार, प्रकार, योजना, निर्माण-शैली, तक्षण आदि सम्मिलित हैं, सास्कृतिक विजय के उज्ज्वल प्रमाण हैं।[६०]

---

६० राजस्थान के स्थापत्य की विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य, डा० गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, अध्याय १६

अध्याय ११

मध्यकालीन इतिहास की सामग्री

(१२वी शताब्दी से १८वी शताब्दी)

प्राक्कथन—प्राचीन राजस्थान के इतिहास के जानने मे जितनी कठिनाई एक इतिहास के विद्यार्थी को होती है उतनी मध्यकालीन इतिहास के जानने मे उसे नही होती। इसका कारण स्पष्ट है। इस युग मे ऐतिहासिक सामग्री की कमी का इतना अनुभव हम नही करते जितना प्राचीनकालीन इतिहास के सम्बन्ध मे करते हैं। लिखित इतिहास की कमी नही होने के कारण हमे पुरातत्त्व से सम्बन्धित 'मूक ऐतिहासिक सामग्री' पर भी इतना अवलम्बित नही होना पडता। जिस सामग्री का विवेचन हम करने जा रहे हैं उस सामग्री के कुछ भागो के प्रारम्भ मे दिये गये ऐतिहासिक साधनो मे सकेत रूप से बताया जा चुका है। इनमे से कुछ एक को यहाँ दोहराया भी जायगा, क्योकि ऐतिहासिक सामग्री मे भी एकरूपता है। उसको विशुद्ध प्राचीन या विशुद्ध मध्यकालीन सामग्री मानकर विभिन्न नही बताया जा सकता। प्राचीनकाल के अवशेष मध्य युग मे रह जाते है और मध्य युग का आधार प्राचीन मे मिलता है। इस पूर्वापर का सम्बन्ध मानते हुए हम यहाँ दोनो काल की सीमा के दायरे मे आने वाली सामग्री का भी आवश्यकता के अनुसार उल्लेख करेंगे।

मध्यकालीन इतिहास की सामग्री को हम मोटे तौर से दो भागो मे बाँटते हैं—(१) पुरातत्त्व सम्बन्धी, और (२) ऐतिहासिक साहित्य और साधन सम्बन्धी। इन दोनो के अन्तर्गत कई विभिन्न तत्त्व भी है जिनका यथास्थान विचार करेंगे।

(१) पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री

पुरातत्त्व के अन्तर्गत हम अभिलेख, सिक्के, इमारतें तथा तक्षण-कला के प्रतीको का विवेचन करेंगे और देखेंगे कि इनका मध्ययुगीन राजस्थान के निर्माण मे क्या स्थान है।

(अ) अभिलेख

मध्ययुगीन अभिलेख शिलाओ, स्तम्भो, मूर्तियों, ताम्र-पत्रो पर बडी सख्या मे खुदे मिलते हैं। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, इनमे सस्कृत भाषा तथा स्थानीय बोलियो का प्रयोग हुआ है और इनमे नागरी लिपि को विशेष रूप से काम मे लाया गया है। इन अभिलेखो के विषय विभिन्न और विविध हैं जिनमे वश-वर्णन, विजय, स्मारक, घटनाएँ और धर्म प्रमुख हैं। तिथि-क्रम निर्धारित करने तथा

सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विषयो पर प्रकाश डालने के लिए इनकी सहायता असामान्य है। इन सभी अभिलेखो का वर्णन करना कठिन है और अनावश्यक भी है, परन्तु कतिपय अभिलेखो के उल्लेखो द्वारा यह वाछनीय है कि पाठक उनकी उपयोगिता का स्वय मूल्याकन कर सकें।

(१) **चीरवे का शिलालेख**—यह लेख कार्तिक शुक्ला १, वि० स० १३३० (१२७३ ई०) का है जिस समय समरसिंह मेवाड का शासक था। चीरवा गाँव जो उदयपुर से ८ मील उत्तर मे है, वहाँ के एक मन्दिर की बाहरी दीवार पर यह लेख लगा हुआ है। शिलालेख सस्कृत मे ५१ श्लोको का है जिसमे गुहिलवशी बापा, पद्मसिंह, जैत्रसिंह, तेजसिंह और समरसिंह का वर्णन है। इस लेख मे टॉडेड जाति के तलारक्षो का उल्लेख है जो एक प्रकार की शासन-व्यवस्था के अग थे। इस लेख मे चीरवा गाँव की स्थिति, विष्णु मन्दिर की स्थापना, शिव मन्दिर के लिए खेतो का अनुदान आदि विषयो का समावेश है। लेख मे गोचर भूमि, सती-प्रथा, पाशुपत शैव-धर्म आदि पर प्रभूत प्रकाश पडता है। अन्त मे, इस लेख द्वारा हमे प्रशस्तिकार रत्नप्रभसूरि, लेखक पार्श्वचन्द्र, खोदने वाला केलिसिंह और शिल्पी देल्हण का बोध होता है, जो उस युग के साहित्यकारो तथा कलाकारो की परम्परा मे थे।[1]

(२) **रसिया की छत्री का शिलालेख**—यह लेख आषाढ शुक्ला ३, वि० स० १३३१ (१२७४ ई०) का है। इस लेख की एक शिला बची है जो चित्तौड के राज-प्रासाद के पीछे के द्वार पर लगी हुई है। इसमे बापा से नरवर्मा तक के गुहिल-वशीय मेवाड शासको की उपलब्धियो का वर्णन है। इस शिलालेख के कुछ अश १३वी सदी के जनजीवन पर काफी प्रकाश डालते है। इसमे नागदा और देलवाडा के गाँवो का अच्छा वर्णन है तथा दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान के पहाडी भाग की वनस्पति का सुन्दर चित्रण है। इस प्रान्त के आदिम निवासियो के आभूषणो, वैदिक यज्ञ-परम्परा और एतवकालीन शिक्षा के स्तर का इससे समुचित वर्णन प्राप्त होता है।[2]

(३) **चित्तौड के पार्श्वनाथ के मन्दिर का लेख**—यह लेख वैशाख शुक्ला ५, वि० स० १३३५ (१२७८ ई०) का है। यह लेख तेजसिंह की रानी जयतल्लदेवी के द्वारा एक पार्श्वनाथ के मन्दिर बनवाने का उल्लेख करता है, जिसे रानी ने भर्तृ-पुरीय आचार्य के उपदेश से बनवाया था। इस मन्दिर के मठ के लिए भूमिदान दिये जाने तथा चित्तौड की तलहटी, आहड, खोहर और सज्जनपुर की माडवियो से उस मठ के लिए कई एक भद्र, घी, तेल आदि दिये जाने का उल्लेख है। उस समय की शासन-व्यवस्था, धर्म-व्यवस्था तथा धर्म-सहिष्णुता के अध्ययन के लिए यह शिलालेख बडा उपयोगी है।[3]

---

[1] वियना ओरियण्टल जरनल, जि० २१, पृ० १५५-१६२

[2] भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ७४-७७, गोपीनाथ शर्मा, बिबलियोग्राफी, पृ० ६

[3] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १७५-७६

(४) आबू का लेख—यह लेख माघ शीर्ष शुक्ला १, वि० स० १३४२ (१२८५ ई०) का है। इस लेख मे ६२ श्लोक हैं, जिसकी रचना चित्तौड-निवासी वेद शर्मा ने की थी। इसमे बापा से लगाकर समरसिंह तक के मेवाड के शासको का वर्णन है। इसमे समरसिंह के द्वारा अचलेश्वर के मठाधीश भावशकर की आज्ञा से उक्त मठ का जीर्णोद्धार कराने और तपस्वियो की भोजन-व्यवस्था करने का उल्लेख है। लेख मे आबू प्रान्त की वनस्पति का सुन्दर चित्रण तथा जप, ध्यान यज्ञ आदि से सम्बन्धित प्रचलित मान्यताओ का वर्णन है। इस शिलालेख से लेखक का नाम शुभचन्द्र और शिल्पी सूत्रधार का नाम कर्मसिंह मिलता है।[४]

(५) गम्भीरी नदी के पुल का लेख—यह लेख किसी स्थान से लाकर अला-उद्दीन के समय मे बनने वाले गम्भीरी नदी के पुल के १०वें कोठे मे लगा दिया गया था। इसका जो अश पढा जाता है उससे समरसिंह के द्वारा अपनी माता जयतल्लदेवी के श्रेय के निमित्त भर्तृपुरीय आचार्य के लिए पोषधशाला के लिए भूमिदान और मड-पिकाओ से द्रभादि दिया जाना स्पप्ट है। यह लेख महाराणाओ की धर्म-सहिष्णु नीति पर तथा मेवाड की आर्थिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालता है।[५]

(६) शृगी ऋषि का शिलालेख—यह लेख श्रावण शुक्ला ५, वि० स० १४८५ (१४२८ ई०) का है। यह लेख खण्डित दशा मे है जिसका बडा टुकडा खो गया है। इस लेख की रचना कविराज वाणीविलास योगीश्वर ने की और सूत्रधार हादा के पुत्र पन्ना ने उसे खोदा। हम्मीर के सम्बन्ध मे इसमे लिखा है कि उसने जालवाडे को छीना और पालनपुर को जलाया। उसका भीलो के साथ भी सफल युद्ध होने का इसमे उल्लेख है। उसने राजा जैत्र को भी मारा जो उसका शत्रु था। इस लेख मे लक्ष्मणसिंह और क्षेत्रसिंह की 'त्रिशाली' की यात्रा का वर्णन है जहाँ उन्होने दान मे विपुल धन-राशि दी और गया मे मन्दिरो का निर्माण करवाया।[६]

(७) समिधेश्वर मन्दिर का शिलालेख—यह लेख माघ शुक्ला ३, वि० स० १४८५ (१४२९ ई०) का है। समिधेश्वर के लेख की रचना दशपुर जाति के भट्ट विष्णु के पुत्र एकनाथ ने की थी। इस लेख से हमे उस समय के शिल्पियो के परिवार का भी बोध होता है। इस लेख को शिल्पकार वीसल ने लिखा और सूत्रधार मन्ना के पुत्र वीसा ने खोदा। इसमे मोकल द्वारा विष्णु मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है तथा इसमे यह भी लिखा मिलता है कि महाराणा लक्ष्मणसिंह (लाखा) झोटिंग भट्ट जैसे विद्वानो का आश्रयदाता था।[७]

---

४ ए० इ०, जि० १६, पृ० ३४७-५१
५ वगा० ए० सो० ज०, जि० १६, पृ० ३४७
६ एन्युयल रिपोर्ट ऑफ राजपूताना म्यूजियम, अजमेर, १९२४-२५
७ ए० इ०, भा० २, पृ० ४१०-४२१, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ९६-१००

(८) देलवाडा का शिलालेख—यह लेख वि० स० १४६१ (१३३४ ई०) का है। इस लेख मे कुल १८ पक्तियाँ हैं जिसमे आरम्भ की ८ पक्तियाँ सस्कृत मे और शेष १० भाषा मे हैं। इस लेख से तत्कालीन धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति पर प्रकाश पडता है। प्रस्तुत लेख मे मण्डपिका मे कर सग्रह करने का तथा 'टक' नाम की मुद्रा के प्रचलन का उल्लेख है। 'सेलहथ नामी' स्थानीय अधिकारी इस प्रकार के करो को लेते थे, ऐसा इस लेख से स्पष्ट है। इस लेख मे मेवाडी भाषा का प्रयोग किया गया है जो उस समय की बोलचाल की भाषा थी।[८]

(९) राणकपुर प्रशस्ति का लेख—यह लेख वि० स० १४९६ (१४३९ ई०) का है। यह राणकपुर के जैन चौमुख मन्दिर मे लगा हुआ है। इस लेख से प्रतीत होता है कि राणकपुर मन्दिर का निर्माता सूत्रधार दीपा था। प्रस्तुत लेख मे बापा से कुम्भा तक की वशावली दी है। जिसमे बापा को गुहिल का पिता माना है और वशावली मे महेन्द्र, अपराजित आदि कई नाम छोड दिये गये हैं। इस प्रकार की कई भूले होने पर भी इस शिलालेख का महत्त्व कुम्भा के वर्णन के लिए बडे महत्त्व का है। इसमे महाराणा की प्रारम्भिक विजयो—बूंदी, गागरोन, सारगपुर, नागौर, चाटसू, अजमेर, मण्डोर, माडलगढ आदि का वर्णन है। इस लेख मे 'नाणक' शब्द का प्रयोग मुद्राओ के लिए किया गया है। स्थानीय भाषा मे आज भी 'नाणा' शब्द मुद्रा के लिए काम मे लाया जाता है।[९]

(१०) कुम्भलगढ का शिलालेख—यह लेख वि० स० १५१७ (१४६० ई०) का है। यह मेवाड के महाराणाओ की वशावली को विशुद्ध रूप से जानने के लिए बडा महत्त्वपूर्ण है। इसको कुल पाँच शिलाओ पर लिखा गया था। पहली शिला मे ६८ श्लोक हैं जिनमें एकलिंगजी के आसपास का वर्णन, चित्तौड वर्णन तथा मेदपाट वर्णन मुख्य हैं। दूसरी शिला का एक खण्ड-मात्र मिला है जिसके ६९ से १११ श्लोको को मैंने 'प्रशस्ति सग्रह' नामक पाण्डुलिपि से उपलब्ध किये हैं। इसमे चित्तौड का वर्णन बडा रोचक है। तीसरी शिला मे १२१ से १८४ तक श्लोक दिये गये हैं जिससे मेवाड के महाराणाओ की उपलब्धियो पर अच्छा प्रकाश पडता है। चतुर्थ व पचम शिला मे १८५ से २७० तक श्लोक हैं जिनमे हम्मीर और कुम्भा की कुम्भलगढ सम्बन्धी तथा अन्य प्रचलित सामाजिक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पडता है। दासता, आश्रम-व्यवस्था, यज्ञ, तपस्या, शिक्षा आदि अनेक विषयो का उल्लेख इस शिलालेख

---

८ जैन इसक्रिप्शन्स, भा० २, न० २००६, पृ० २५५-५६, गोपीनाथ शर्मा, बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ७

९ भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, न० ८, पृ० ११३-११७, आ० सर्वे रिपोर्ट, १९०७-८, पृ० २१६, गोपीनाथ शर्मा, बिबलियोग्राफी, पृ० ७

मे मिलता है। इस शिलालेख का रचयिता डा० ओझा के अनुसार महेष होना चाहिए, क्योकि इस लेख के कई श्लोक चित्तौड की प्रशस्ति से मिलते हैं।[१०]

(११) **कीर्ति-स्तम्भ प्रशस्ति**—यह प्रशस्ति वि० स० १५१७ (१४६० ई०) की है। यह प्रशस्ति कई शिलाओ पर खुदी हुई थी और सम्भवत कीर्ति-स्तम्भ के अन्तिम मजिल की ताकों मे लगायी गयी थी। सिवाय दो शिलाओ के इस प्रशस्ति की अन्य शिलाएँ अप्राप्य है। हो सकता है कि कीर्ति-स्तम्भ पर पडने वाली बिजली के कारण ये शिलाएँ टूट गयी हो। एक शिला के १-२८ तक के श्लोक और अन्य शिला के १६२ से १८७ तक के श्लोक प्राप्य हैं। इनमे बापा, हम्मीर और कुम्भा का वर्णन बडे विस्तार से मिलता है। इसमे कुम्भा के व्यक्तिगत गुणो का वर्णन मिलता है और उसे दान गुरू, शैलुगुरू आदि विरुदो से सम्बोधित किया गया है। इससे हमे कुम्भा द्वारा विरचित ग्रन्थो का पता चलता है जिनमे चण्डीशतक, गीतगोविन्द की टीका, सगीतराज आदि मुख्य हैं। कुम्भा द्वारा मालवा और गुजरात की सम्मिलित सेनाओ का हराना १७९वें श्लोक मे वर्णित है। इस प्रशस्ति का रचयिता महेष था। मेवाड की भौगोलिक स्थिति पर भी इस प्रशस्ति से अच्छा प्रकाश पडता है।[११]

(१२) **रायसिंह की प्रशस्ति**—यह प्रशस्ति वि० स० १६५० (१५९३ ई०) की है। यह बीकानेर के नये गढ की सूर्यपोल की ताक मे लगी हुई है, जिसे महाराजा रायसिंह ने गढ-निर्माण-काल के समाप्त होने के अवसर पर लगवाया था। विस्तार के विचार से तथा खुदाई की सुन्दरता की दृष्टि से यह लेख बडे महत्त्व का है। इस लेख का उपयोग और अधिक बढ जाता है जब हमे इसमे बीका से रायसिंह तक के बीकानेर के शासको की उपलब्धियो का परिचय मिलता है। ६०वी पक्ति से राय-सिंह के कार्यो का उल्लेख आरम्भ होता है जिनमे उसकी काबुलियो, सिन्धियो और कच्छियो पर विजयें मुख्य है। इसमे गढ-निर्माण कार्य का सम्पादन किस प्रकार उत्त-रोत्तर होता रहा, यह भी समुचित रूप से दिया गया है। इसका रचयिता जइता नामक एक जैन मुनि था जो क्षेमरत्न का शिष्य था।[१२]

(१३) **जगन्नाथराय का शिलालेख**—यह लेख वि० स० १७०९ (१६५२ ई०) का है। उदयपुर के जगन्नाथराय मन्दिर के सभा मण्डप के प्रवेश-मार्ग के दोनो तरफ

---

[१०] जरनल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, भा० ५५, पार्ट १, पृ० ७१-७२, जी० एन० शर्मा, प्रोसिडिंग्ज ऑफ इण्डियन हिस्ट्री काग्रेस, १९५१, मेरा लेख, जरनल ऑफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, मार्च १९५५

[११] आर्कियोलोजी सर्वे रिपोर्ट, भा० २३, प्लेट न० २०-२१, गोपीनाथ शर्मा, बिबलियोग्राफी, पृ० ८

[१२] जनरल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, न्यू सीरीज, १६, १९२०, पृ० २७९, गोपीनाथ शर्मा, बिबलियोग्राफी, पृ० ११

की ताको वाले काले पत्थर पर यह प्रशस्ति खुदी हुई है, जो मेवाड के इतिहास के लिए वडी उपयोगी है। इसमे बापा से जगतसिह तक के शासको की उपलब्धियाँ उल्लिखित हैं। इसमे हल्दीघाटी मे प्रात युद्ध आरम्भ होने का अच्छा वणन है। जगतसिंह के समय मे उसके द्वारा किये जाने वाले दान-पुण्यो का तथा उसकी उदारता का इसमे अच्छा वर्णन मिलता है। इसमे महाराणा के समय की विद्या सम्वन्धी प्रगति का भी समुचित वर्णन है। इस प्रशस्ति का रचयिता कृष्णभट्ट नामी तैलग ब्राह्मण था जिसको जगतसिंह ने दान-दक्षिणा तथा भूमिदान से कई वार सम्मानित किया था। प्रशस्ति मे जगन्नाथराय के मन्दिर वनाने वाले सूत्रधार भाणा और उसके पुत्र मुकुन्द का उल्लेख मिलता है जिन्हे सोने और चाँदी के गज तथा चित्तौड के पास एक गाँव मिला था।[१३]

(१४) राजप्रशस्ति—यह प्रशस्ति वि० स० १७३२ (१६७६ ई०) की है। राजनगर मे राजसमुद्र के नौचौकी नामक वाँध पर सीढियो के पास वाली ताको मे २५ वडी-वडी शिलाओ पर २५ सर्गो का 'राजप्रशस्ति महाकाव्य' खुदा हुआ है, जो हमारे देश का सबसे वडा शिलालेख है। इसकी रचना राजसिंह के समय मे हुई थी, जबकि उक्त तालाब का बाँध तैयार हो गया था। प्रशस्ति की रचना तैलग जातीय कटोडी कुल के गोसाई मधुसूदन के पुत्र रणछोड भट्ट ने की थी। इस शिला-काव्य के अन्त मे हिन्दी भाषा की कुछ पंक्तियाँ खुदी है, जिसमे इस तालाव के काम के लिए नियुक्त किये गये निरीक्षको और मुख्य-मुख्य शिल्पियो के नाम दिये हुए हैं। "इसकी कई शिलाओ के अन्त मे वही सवत् दिया है जो राजसमुद्र की प्रतिष्ठा का है। यह काव्य अन्य काव्यो के समान कवि कल्पना-प्रसूत नही है। इसमे सवतो के साथ ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन है। प्रारम्भ मे कुछ सर्गों मे मेवाड का जो प्राचीन इतिहास लिखा गया है वह भाटो की ख्यातो आदि के आधार पर होने कारण अधिक विश्वसनीय नही है, तो भी पिछले सर्ग इतिहास के लिए बडे उपयोगी हैं।" इस प्रशस्ति मे उल्लिखित है कि राजसमुद्र के बाँध बनवाने के कार्य का आरम्भ दुष्काल-पीडितो की सहायता पहुँचाने के लिए किया गया था। इसमे राजसिंह की कई उपलब्धियो का वर्णन है जिनमे विद्यानुराग, शासन-काय युद्ध आदि मुख्य है। इस प्रशस्ति से हमे सूचना मिलती है कि राजसमुद्र तालाब की प्रतिष्ठा के अवसर पर ४६,००० ब्राह्मण तथा अन्य लोग आये थे और तालाब को बनवाने मे महाराणा ने १,०५,०७,६०८ रुपये व्यय किये। सत्रहवी शताब्दी की सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक व्यवस्था जानने के लिए यह प्रशस्ति वडी उपयोगी है।[१४]

(१५) हिम्मतराम के मन्दिर का लेख—यह लेख वि० स० १८९१ (१८३४ ई०) का है। यह लेख जैसलमेर के एक मन्दिर मे लगा हुआ है जिसमे तीर्थ-यात्रा का वणन है। इससे यात्रा के व्यय, गाडियो और मजदूरो के भाडे, यात्रा के प्रबन्ध आदि

---

[१३] ए० इ०, भा० २४, गोपीनाथ शर्मा, बिबलियोग्राफी, पृ० १२

[१४] ए० इ०, भा० २९-३०, गोपीनाथ शर्मा, बिबलियोग्राफी, पृ० १२-१३

विषयो पर अच्छा प्रकाश पडता है। यात्रा के अवसर पर वितरण किये गये उपहारो से उस समय के सामाजिक स्तर का बोध होता है। यह लेख स्थानीय भाषा मे है।[१५]

इन शिलालेखो के अतिरिक्त ताम्र-शासनो का भी ऐतिहासिक उपयोग है। ऐसे ताम्र-शासनो मे खेरौदा, चीकली, वोखरा-खेडी, बाँसवाडा, शवली आदि के नाम प्रमुख है। ये ताम्र-शासन सहस्रो की सख्या मे उपलब्ध होते हैं जिनकी सहायता से भूमि की स्थिति, खेती की उपज, विविध घटनाओ की तिथियो आदि पर प्रभूत प्रकाश पडता है। इनके अध्ययन से स्थानीय भाषाओ के स्तर का भी परिज्ञान हो सकता है। कभी-कभी इनकी सहायता से अज्ञात नाम या वशक्रम भी स्पष्ट होता है। इनसे कई अधिकारियो के नाम तथा इनके विभागो की भी सूचना मिलती है। कुछ ताम्र-शासन जो 'ओल्ड डिपोजिट रेकार्ड, उदयपुर' मे है, कृषि भूमि की कई किस्में वताते हैं जिन्हे पीवल, तलाई, कांकड गलत-हाँस, राखड, माल, हकत-वहत आदि कहते हैं। कई दानपत्र धार्मिक पर्वो के अवसर पर दिये गये दानो का उल्लेख करते है।[१६]

(ब) सिक्के

राजस्थान के सिक्को का स्थान वडा रोचक है। आरम्भिक मध्यकालीन युग के अव तक सोने, चाँदी, ताँवे और सीसे के हजारो सिक्के मिल चुके हैं। इन पर अकित लेख, सख्या तथा चिह्न आदि मध्ययुगीन इतिहास के लिए वडे उपयोगी हैं। इन सिक्को के वैज्ञानिक अध्ययन से राजाओ की नामावली, वश-परिचय, स्थान विशेष जहाँ से सिक्को का प्रचलन किया गया हो या घटना विशेष को लेकर इन्हें वनाया गया हो आदि का समुचित वोध होता है। विभिन्न राज्यो की सीमाओ को निर्धारित करने मे सिक्को का वडा महत्त्व है। इन सिक्को से तत्कालीन राजनीतिक, मामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि स्थिति का परिज्ञान होता है। इसी प्रकार तत्कालीन कला के अध्ययन मे सिक्के वडे काम के प्रमाणित हुए है।

हर्ष की मृत्यु से लेकर मुसलमानो के प्रारम्भिक काल को राजस्थान के इतिहास का एक सीमा-निर्धारण काल कहा जा सकता है। इस अवधि में यहाँ अपने ढग के सिक्के वनते रहे जिनके वनाने की विधि प्राचीन पद्धति पर आधारित थी। इन पर एक विशेष प्रकार से ठप्पे लगाये जाते थे जिनमे कोई चिह्न विशेष, मूर्ति विशेष तथा नाम विशेष रहता था। ऐसे सिक्को मे गुहिल, प्रतिहार, चौहान, राठौड तथा कछवाहो के सिक्के वडे महत्त्व के हैं।

गुहिल, वापा, शील आदि के सिक्के मेवाड मे चलते थे जो अपने ढग की विशेपता रखते थे। पारुथ द्रमो को, जिनका प्रचलन मालवा के परमारो के द्वारा

---

१५ जैन इन्सक्रिप्शन्स, भा० ३, पृ० १४२-१५०, गोपीनाथ शर्मा, विवलियोग्राफी, पृ० १६

१६ दानपत्रो के सम्वन्ध मे द्रष्टव्य मेरी पुस्तक 'विवलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान', पृ० १३-१६

किया गया था, मेवाड मे लेन-देन के काम मे लाये जाते थे। यह मुद्रा चाँदी की होती थी और जो आठ द्रमो की कीमत के बराबर मानी जाती थी। नरवर्मन ने इस प्रकार के दो पारूथ चित्तौड के कर के नाके से दैनिक रूप से अनुदान के रूप मे देने का आदेश दिया था। द्रमो का प्रचलन १३वी शताब्दी तक चित्तौड मे मिलता है।[१७]

विशाल प्रिय द्रमो को, जिनका चालुक्यो के समय मे प्रचलन पाया जाता है, राजस्थान मे काम मे लाया जाता था। वि० स० ११७२ के लेख से, वि० स० १२०५ के अल्हणदेव के लेख से, वि० स० १२२८ के केल्हणदेव के लेख से राजस्थान मे द्रम के प्रयोग का स्पष्टीकरण होता है। बृहद्कल्पभाष्य से भीनमाल मे किसी विशेष प्रकार के द्रम के प्रचलन की पुष्टि होती है।[१८]

प्रतिहारो के भी अपने सिक्के थे जो राजस्थान मे चलते थे। इनमे वराहनाम वाले द्रम और देवी की मूर्ति वाले, वृषभ, मत्स्य और अश्वारोहियो के अकन वाले अनेक सिक्के मिले हैं जो तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति के द्योतक हैं। कुछ सिक्के विनायकपाल के समय के मिले है जिन पर 'श्री मदादिवराह' का लेख तथा नरवराह की मूर्ति अकित है। हरिसेन के बृहद्कथाकोष मे 'वरमल' नामक मुद्रा का वर्णन आता है जिसमे एक स्त्री एक 'वरमल' मे एक मच्छी को खरीदती है। जिनेश्वर के कथा कोष मे 'द्रमाध' और सियादोनी लेख मे 'द्रमात्रिभाग' तथा 'पचीयक द्रम' का उल्लेख मिलता है।[१९]

चौहानो का राज्य भी प्रतिहारो की भाँति अधिक विस्तृत रहा है। इनके कतिपय सिक्के मिले है जिन पर वृषभ तथा अश्वारोही अकित है। धोड के वि० स० १२२८ के लेख मे अजयदेव-मुद्रा का उल्लेख आता है जो पृथ्वीराज विजय मे वर्णित 'अजयप्रिय रूपक' का साम्य हो सकता है। अजयदेव की रानी सोमलेखा के द्वारा चाँदी की मुद्रा का तथा सोमेश्वर द्वारा वृषभ शैली तथा अश्वारोही शैली के सिक्को का चलाना प्रमाणित है। ११९२ ई० का एक सिक्का जिस पर मुहम्मद साम और पृथ्वीराज का नाम अकित है चौहानो के ह्रास-काल को बताता है।[२०]

आरम्भिक मध्यकालीन सिक्को मे 'गधिया सिक्को' का एक स्वतन्त्र स्थान है। ऐसी मुद्राओ को 'गधिया मुद्रा' इसलिए कहा जाता है कि उस पर अकित मूर्ति गधे के मुंह की भाँति दिखायी देती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसी मुद्राओ पर

---

[१७] खरतरगच्छ पट्टावली, पृ० ८, १०, २०, जरनल न्युमिसमेटिक सोसाइटी, भा० २०, पृ० १५, २६, ३०, ३१, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ११०-११२, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २५०-५१, ४८८

[१८] जरनल ऑफ न्युमिसमेटिक, पार्ट २, पृ० ७२, बम्बई गजेटियर, भा० १, पृ० ४०८ राजस्थाल थ्रू दि एजेज, पृ० ५००-०१

[१९] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ५०३

[२०] पृथ्वीराज विजय, ५, श्लो० ८७-८८, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ३०४

गधे का मुँह नही है। उस समय चलने वाले प्रतिहार, क्षत्रप आदि मुद्राओ को पीछे से पतला कर दिया गया जिससे उस पर वृषभ, वराह, देवी आदि का अकन स्पष्ट न आ सका। आगे चलकर इन मूर्तियो का अस्पष्ट रूप 'गधिया मुद्रा' से सम्वोधित किया जाने लगा। नरहद, रैणी, सिरोही, त्रिभुवनगिरी की मुद्राएँ, जिनका उल्लेख फेरू ने किया है, 'गधिया शैली' के ही हैं। राजस्थान मे ऐसी मुद्राओ का प्रयोग पीछे से तोल के लिए किया जाने लगा।[२१]

चौहानो की पराजय भारतीय मुद्राओ के ह्रास का काल था। कई पीढियो से चलने वाली भारतीय मुद्राओ का स्वरूप इस विजय ने परिवर्तित कर दिया। कुछ विजेताओ ने भारतीय लिपि और नामो के साथ अपनी मुद्राओ का प्रचलन रखा, परन्तु शीघ्र ही उन पर हिजरी सन्, दिल्ली के सुल्तानो के नाम, पैगम्बरो के नाम आदि अकित किये जाने लगे। तोल, आकार, प्रकार, लिपि आदि ने नया स्वरूप ले लिया जो मुस्लिम मुद्रा-शैली कहलायी। फिर भी यह नही समझना चाहिए कि राजस्थान की अपनी मुद्रा समाप्त हो चली थी। अलाउद्दीन के समय तक चलने वाले द्रम, तेजसिंह (१२६१-१२७० ई०) के काल की ताँवे की मुद्राएँ, कुम्भा के समय के चाँदी, सोने और ताँवे के सिक्के तथा १५४० ई० तक चलने वाले फदिया सिक्के राजस्थान मे व्यवहार मे आते रहे। महाराणा साँगा, रत्नसिह, विक्रमादित्य और उदयसिंह के सिक्के भी देखने मे आते हैं।[२२]

जब महाराणा अमरसिंह की सुलह जहाँगीर के साथ हुई तब से मेवाड मे सिक्के बनना बन्द हो गये। अकबर ने चित्तौड मे टकसाल स्थापित की। मुहम्मदशाह के जमाने से फिर मेवाड मे टकसाल सिक्के निकालने लगी, जिन पर शाहआलम का नाम अकित रहने लगा। इस मुद्रा को उदयपुरी, भीलाडी और चित्तौडी कहते थे। आगे चलकर अग्रेजो से मैत्री होने पर स्वरूपसिंह ने 'स्वरूपशाही' मुद्रा चलायी, जिसमे एक ओर चित्रकूट-उदयपुर और दूसरी ओर 'दोस्ती-लधन' नागरी लिपि मे रहता था।[२३]

इसी प्रकार जब मुगल राज्य निर्वल हुआ तो जोधपुर के शासक विजयसिंह ने १७८१ ई० मे शाहआलम के नाम के सिक्के चलाये जो १८५८ ई० तक चलते रहे। ये सिक्के सोने, चाँदी और ताँवे के होते थे। विजयसिंह के समय मे वनने वाले सिक्के को 'विजयशाही' कहते थे। इसके एक तरफ 'सिक्कह मुवारक गाजी शाहआलम

---

[२१] जरनल ऑफ न्युमिसमेटिक, भा० ८, पृ० ६६, १५७ आदि, विवलियोग्राफी ऑफ इण्डियन कोइन्स, भा० १, पृ० ८८-८६

[२२] रेऊ, कोइन्स ऑफ मारवाड, पृ० ३, शारदा-कुम्भा, पृ० १८७-८८, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ ५०५, गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३३१-३३६

[२३] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २३-२४

और दूसरी तरफ 'मैमनत मानूस जर्ब अल् मसूर जोधपुर' अंकित रहता था। इसी आधार पर महाराजा भीमसिंह, जसवन्तसिंह आदि के सिक्के बने। सिपाही-विद्रोह के बाद सिक्को पर 'श्रीमाताजी' या 'श्रीमहादेव' भी अंकित होने लगा। ई० स० १९०० मे स्थानीय सिक्को के स्थान पर 'कलदार' का चलन जारी हो गया।[२४]

बीकानेर मे भी मुगल राज्य की निर्बलता पर स्थानीय मुद्राओ का प्रचलन फिर से आरम्भ हुआ। बादशाह के नाम के सिक्के स्थानीय टकसालो मे बनने लगे। सर्वप्रथम महाराजा गजसिंह ने बादशाह आलमगीर द्वितीय से अपने राज्य मे सिक्के बनाने की सनद प्राप्त की। गजसिंह के समय के सिक्को पर एक ओर 'सिक्का मुबारक बादशाह गाजी आलमशाह' और दूसरी ओर 'सन् जुलूस मैमनत मानूस' लिखा रहता था। इन सिक्को पर फारसी मे अक्षर रहते थे और शाहआलम के बाद भी उस बादशाह का नाम सिक्को पर चलता रहा। गदर के बाद सिक्को पर एक तरफ "औरंग आराम हिन्द व इंगलिस्तान क्वीन विक्टोरिया, १८५९" तथा दूसरी तरफ "जब श्री बीकानेर, १९१६" लेख फारसी मे रहता था। इन सिक्को पर कभी-कभी छत्र, चँवर, मोरछल आदि के चिह्न भी बनाये जाते थे। १८९३ ई० के समझौते के अनुसार बीकानेर के सिक्को पर एक ओर विक्टोरिया का चेहरा और दूसरी ओर नागरी और उर्दू लिपि मे 'महाराजा गंगासिंह बहादुर' का नाम अंकित होने लगा। बाद मे यहाँ भी 'कलदार' चलने लगे।[२५]

प्रतापगढ राज्य मे पहले स्वतन्त्र ढंग का सिक्का नही चलता था। माण्डू और गुजरात के सिक्को का यहाँ अधिक प्रचलन था। जब माण्डू और गुजरात अकबर बादशाह के राज्य के अंग बन गये तो यहाँ भी मुगलकालीन सिक्के चलने लगे। अन्य राज्यो की भाँति शाहआलम से उसके नाम के सिक्के चलाने की आज्ञा महारावल सालिमसिंह ने प्राप्त की। तब से प्रतापगढ की टकसाल मे सिक्के बनने लगे जिनके एक तरफ 'सिक्कह मुबारक बादशाह गाजी शाहआलम, ११९९' और दूसरी ओर 'जर्ब २५ जुलूस मैमनत मानूस' अंकित होने लगा। ऐसे सिक्के 'सालिमशाही' कहलाने लगे। १८१८ ई० की सन्धि के बाद यहाँ के सिक्को पर 'सिक्का मुबारकशाह लन्दन' लिखा जाने लगा। १९०४ ई० से ऐसे सिक्को के बजाय 'कलदार' का प्रचलन आरम्भ हो गया। ताँबे के सिक्के स्थानीय ढंग के 'श्री' तथा तलवार और सूर्य-चिह्न के चलते रहे।[२६]

कोटा राज्य में भी पहले गुप्तकालीन और हूणकालीन सिक्के चलते थे। मध्यकालीन युग मे माण्डू और दिल्ली के सिक्को का भी यहाँ प्रचलन था। अकबर के राज्य-विस्तार के साथ यहाँ मुगलकालीन सिक्को का प्रवेश हुआ। बादशाह शाह-

---

[२४] ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १८-२१
[२५] ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३८-४१
[२६] ओझा, प्रतापगढ राज्य का इतिहास, पृ० १३-१५

आलम के समय से यहाँ चाँदी का 'सालिमशाही' रुपया कोटा और गागरोन की टकसालो मे बनता रहा। फिर यहाँ हाली और मदनशाही सिक्के भी चलते रहे। १६०१ ई० से यहाँ स्थानीय सिक्को के स्थान पर 'कलदार' का प्रचलन हो गया।[२७]

अन्य राज्यो की भाँति बाँसवाडा मे 'सालिमशाही' सिक्का चलता था। महारावल लक्ष्मणसिंह ने 'लछमनशाही' सिक्को को भी चलाया। १६०४ ई० से इन सिक्को के स्थान पर 'कलदार' का चलन आरम्भ हो गया। डूंगरपुर राज्य मे भी पुराने 'चित्तौडी' और 'सालिमशाही' रुपयो का चलन था जिसे १६०४ ई० मे बदलकर 'कलदार' कर दिया गया। अलबत्ता यहाँ की टकसाल मे ताँबे के पैसे बनते रहे जिन पर एक तरफ 'सरकार गिरपुर' और दूसरी ओर सवत् का अक (१६१७ ई०), उसके नीचे तलवार का चिह्न और नीचे वृक्ष की डाली बनी रहती थी।[२८]

(स) इमारतें

राजस्थान की मध्ययुगीन इमारते जिनमे भग्नावशेष, दुर्ग, राजप्रासाद, मन्दिर आदि सम्मिलित हैं, इतिहास के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुई हैं। वैसे तो इन इमारतो से राजनीतिक स्थिति पर सीधा प्रकाश नही पडता, परन्तु इनके द्वारा धार्मिक भावनाओ को, वास्तु-शैलियो को तथा जनजीवन के स्तर को आँका जा सकता है। चित्तौड, कुम्भलगढ, गागरोन, रणथम्भौर, आमेर, जालौर आदि दुर्ग एतदकालीन सैनिक-व्यवस्था तथा सुरक्षा के साधनो पर ही प्रकाश नही डालते, वरन् उस समय के राजपरिवार तथा जनसाधारण के जीवन-स्तर को स्पष्ट रूप से बताते है। जावर के भग्नावशेष इस बात के प्रमाण है कि चाँदी की खान होने से उस स्थान मे कितने समृद्ध परिवार वहाँ रहने लगे। जब १५वी शताब्दी के बाद खान से चाँदी का निकालना बन्द कर दिया तो वही कस्बा उजाड हो गया। इसी तरह ऋषभदेव और नाथद्वारा के तीर्थस्थानो की प्रसिद्धि बढती गयी तो ये कस्बे छोटे-मोटे व्यापार और कला-कौशल के केन्द्र बन गये। ऋषभदेव मे पारेवे की मूर्तियाँ, बर्तन और खिलौने अच्छे बनने लगे, क्योकि पारेवे की खाने निकट थी और सहस्रो यात्रियो के आने-जाने से ऐसी वस्तुओ की बिक्री अच्छी हो सकती थी। नाथद्वारा भी इसी प्रकार छपाई, रँगाई, बँधाई, चित्रकारी, मीनाकारी आदि हस्तकलाओ का अच्छा केन्द्र बन गया, क्योकि देश-विदेश से समृद्ध परिवार प्रतिवर्ष यहाँ आने-जाने लगे और इन कलाओ के नमूनो को खरीदकर कलाकारो को प्रोत्साहन देने लगे। इस युग के मन्दिरो मे देलवाडे के मन्दिर, आम्बानेरी, किराडू, ओसियाँ, नागदा के सास-बहू के मन्दिर, जगदीश का उदयपुर का मन्दिर, जयपुर का जगत्-शिरोमणि का मन्दिर अपने ढग के धार्मिक वास्तु के अच्छे नमूने हैं, जिससे किसी विशेष युग की

२७ डा० एम० एल० शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ५, गहलोत, कोटा राज्य का इतिहास, पृ० २०

२८ ओझा, बाँसवाडा राज्य का इतिहास, पृ० ११, ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० १३

धार्मिक भावना और मन्दिर-निर्माण-कला का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसे मन्दिरो तथा इमारतो की कला सम्बन्धी विश्लेपण हम यथास्थान करेंगे। तिथि-क्रम निर्धारित करने और राजनीतिक उथल-पुथल को समझने के लिए भी इन इमारतो का महत्त्व कुछ कम नही। पुरातत्त्ववेत्ताओ की दृष्टि मे इन इमारतो के भग्नावशेषो के विविध स्तर विभिन्न और विविध ऐतिहासिक निष्कप निकालने मे सहायक होते है।[२९]

(द) मूर्तिकला

पूर्व मध्यकालीन तथा उत्तर मध्यकालीन युग मे राजस्थान मे सहस्रो की सख्या मे मन्दिरो का निर्माण हुआ जिनमे कतिपय मन्दिरो के बाहरी और भीतरी भागो मे अनन्त मूर्तियाँ बनायी गयी जो देव, देवियो, गधर्व, पुरुप, स्त्री, पशु आदि की थी। इन मूर्तियो को यदि बारीकी से देखा जाय तो धार्मिक तथा सामाजिक इतिहास के अनुसन्धान मे प्रभूत सहायता मिल सकती है। मूर्तिकारो ने १२वी से १४वी शताब्दी की मूर्तियो के द्वारा कही-कही भय और विपाद का चित्रण किया है जिससे वह युग गुजर रहा था। मूर्तियो की आकृति से ऐसे भाव टपकते है। कही देव-दानव के सघर्ष की मूर्तियो मे तमोगुण की प्रधानता दिखायी देती है, तो कही सुन्दर नर और नारी के अकन मे प्रेम-रस प्रवाहित दीख पडता है। चित्तौड के कीर्ति-स्तम्भ मे, उदयपुर के जगदीश के मन्दिर मे तथा राजनगर की नौचौकी मे सामाजिक भावो और जीवन को व्यक्त करने की अनेक मूर्तियाँ है जिनसे हमे १५वी से १७वी शताब्दी के समाज की स्पष्ट झाँकी मिलती है। इन मूर्तियो मे वस्त्र, आभूपण, शृगार आदि उपकरणो के अध्ययन की प्रभूत मात्रा मे सामग्री उपलब्ध होती है। ज्यो हम १६वी शताब्दी के मध्य मे पहुँचते हैं तो इन मूर्तियो से यह स्पष्ट हो जाता है कि उच्चवर्गीय समाज पर मुगल-जीवन का प्रभाव बढता जा रहा था और एक सामजस्य की भावना पैदा होती जा रही थी। नृत्य के दिखावो मे थोडे वस्त्रो का पहनाव मुगल परम्परा के अनुसार है। इसी तरह राजसमुद्र की मूर्तियो में वेशभूषा पर मुगलकालीन छाप है। यहाँ के दरबारी दिखावो मे तथा पशु-जीवन के अकन मे मुगल तत्त्वो की प्रधानता दिखायी देती है। आमेर के जगत् शिरोमणिजी के मन्दिर मे तो सामजस्य के आधार प्रौढ रूप मे दिखायी देते हैं। इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि जिस प्रकार हम लिखित सामग्री से इतिहास के कलेवर का निर्माण करते है उसी प्रकार सृजनात्मक मूर्तिकला भी उस कलेवर को समृद्ध बनाने मे योग देती है।[३०]

---

[२९] स्थापत्य सम्बन्धी विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य—गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निबन्ध सग्रह राजस्थान, पृ० ८९-१११

[३०] गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ० १०२-१०९, गोपीनाथ शर्मा ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ४५-४८
"As we build up history through the written records so also we reconstruct it through a creative art sculpture"—G N Sharma, *A Bibliography of Medieval Rajasthan*, p 45

(२) ऐतिहासिक साहित्य और साधन सम्बन्धी सामग्री

ऐतिहासिक साहित्य और अन्य साधनो के अन्तर्गत हमे विविध प्रकार की सामग्री मिलती है जिसे कई भागो मे विभाजित किया जा सकता है। ऐसी सामग्री मे ऐतिहासिक काव्य, फारसी तवारिखें, वही, पट्टे, परवाने, चित्र आदि सम्मिलित है। यह सामग्री प्रभूत मात्रा मे मिलती है जिसका स्थानाभाव से सक्षेप मे ही वर्णन किया जा सकता है।

(अ) इतिहासपरक साहित्य

इस वर्ग का साहित्य सस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी और फारसी भाषा मे लिखा गया है, जिसमे ऐसी सामग्री निहित है जिससे इतिहास की काया सँवारी जा सकती है। इसमे सन्देह नही कि इतिहासपरक साहित्य मे राजस्थान की तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक अवस्था का समुचित चित्रण मिलता है। अलवत्ता कही-कही अतिशयोक्ति या कवि-कल्पना या कल्पित कथाओ से प्रभावित वर्णन मिलता है जो असन्तोषप्रद है। इन दोषो के होते हुए भी इतिहास के मूल तत्त्वो को इनमे खोज निकालना कठिन नही है।

समसामयिक ऐतिहासिक साहित्य—सस्कृत

पृथ्वीराज विजय—जो जयानक ने १२वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे लिखा था, सपादलक्ष के राजनीतिक एव सास्कृतिक इतिहास के लिए बडे महत्त्व का है। इसके वर्णन से प्रतीत होता है कि गोरी की पराजय के पूर्व ही इसे लिख दिया गया हो, क्योकि कवि ने पृथ्वीराज के नक्षत्रो के आधार पर यह कल्पना की है कि वासुदेव के वशजो के अधिकार मे साँभर झील बनी रहेगी। वैसे तो यह कल्पना सही नहीं उतरी, फिर भी इससे यह प्रमाणित होता है कि कवि ने अपने ग्रन्थ को गोरी आक्रमण के पूर्व समाप्त कर दिया था। इसमे अजमेर के उत्तरोत्तर विकास का अच्छा वर्णन है।[३१]

हम्मीर महाकाव्य—जो नयनचन्द्र सूरि ने हम्मीर की मृत्यु के लगभग १०० वर्ष पीछे लिखा था, रणथम्भौर के चौहान-वश के इतिहास के लिए वडा उपयोगी है। इसमे दिये गये वर्णन को यदि हम फारसी तवारीखो से तुलना करते है तो प्रतीत होता है कि लेखक ने वडी छानबीन के साथ तथा समसामयिक ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर रणथम्भौर के चौहानो का वर्णन किया है। अलाउद्दीन के द्वारा किये गये रणथम्भौर के आक्रमण की कई घटनाओ को समझने के लिए इसका एक स्वतन्त्र महत्त्व है। उस समय की धार्मिक तथा सामाजिक जीवन की झाँकी के कई पहलू इमसे स्पष्ट हो जाते हैं। हम्मीर के चरित्र के मूल्याकन मे हमे इस ग्रन्थ मे काफी सहायता मिलती है।[३२]

---

[३१] डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ३३७-३८, डा० जी० एन० शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ६१

[३२] डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ३३८

राजवल्लभ—जिसको महाराणा के मुख्य शिल्पी मण्डल ने लिखा था, १५वी शताब्दी के अध्ययन का प्रमुख साधन है। यह ग्रन्थ विद्याप्रेमी महाराणा कुम्भा के समय मे लिखा गया था। इसके द्वारा नगर, गाँव, दुर्ग, राजप्रासाद, मन्दिर, बाजार आदि के निर्माण की पद्धति पर पूरा प्रकाश पडता है। प्रत्येक नगर या गाँव मे मार्गो की व्यवस्था, विविध जाति के पेशेवरो की बस्तियाँ किस प्रकार की होनी चाहिए, इसका इसमे पूरा विवेचन है। राजप्रासाद के विविध भागो के बनाने मे किस व्यवस्था को अपनाया जाना चाहिए उन पर लेखक ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। राजसभा, सिंहासन, मुख्य द्वार, बाग तथा सेनापति, पुरोहित, ज्योतिषियो के आवास-स्थान आदि का भी इसमे विवेचन है। इस ग्रन्थ मे कुल १४ अध्याय हैं। इस ग्रन्थ से हम १५वी शताब्दी के वास्तु-कला के स्तर का अनुमान कर सकते हैं और समझ सकते है कि उस काल के शिल्पी किस अनुपात से परम्परागत शिल्पशास्त्र के सिद्धान्तो को मान्यता देते थे और किस सीमा तक नयी गतिविधि को निर्माण-काय मे समावेशित करते थे।[३२अ]

भट्टिकाव्य—यह काव्य पाण्डुलिपि मे उपलब्ध है जो सम्भवत १५वी शताब्दी मे रचा गया था। इस काव्य मे जैसलमेर की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति का वर्णन है जो स्थानीय इतिहास के लिए बडा उपयोगी है। यहाँ के शासक भीम की मथुरा और वृन्दावन यात्रा का इसमे अच्छा वर्णन मिलता है। महाराजा अक्षयसिंह के प्रासादो का तथा तुलादान आदि का भी इसमें रोचक वर्णन है।[३३]

राजविनोद—इस ग्रन्थ की रचना भट्ट सदाशिव ने बीकानेर के महाराजा कल्याणमल (१५४२-१५७४ ई०) की आज्ञा से की थी। इसमे विविध विषयो जैसे सामाजिक, आर्थिक, सैनिक आदि का वर्णन है। उस समय के समाज के रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, भोजन, पेय, उत्सव आदि का इसमे अच्छा वर्णन मिलता है। लेखक ने किलो के निर्माण तथा सैनिक उपकरणो सम्बन्धी विषयो पर प्रकाश डालकर हमारी प्रभूत जानकारी बढायी है।[३४]

एकलिंगमहात्म्य—वैसे तो इसकी सज्ञा पुराणो मे की गयी है, परन्तु इसका राज-वर्णन का अध्याय इतिहास के लिए बडे काम का है। ऐसी मान्यता है कि इसकी रचना स्वय महराणा कुम्भा ने की थी। रायमल के समय में भी इसकी रचना मानी जाती है। इसमें दी गयी गुहिलो की प्राचीन वशावली भाटो की पुस्तको के आधार पर है, जो अधिक विश्वसनीय नही है। जहाँ तक १५वी शताब्दी के समाज सगठन का प्रश्न है, एकलिंगमहात्म्य उपयोगी सिद्ध होता है। वर्णाश्रम और वर्ण-व्यवस्था पर

[३२अ] जी० एन० शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ६१-६२

[३३] वही, पृ० ६२

[३४] वही, पृ० ६३

इससे अच्छा प्रकाश पडता है। चित्तौड तथा एकलिंगजी के सम्बन्ध का वर्णन, जो इस ग्रन्थ मे मिलता है, बडा रोचक है।[३५]

कर्मचन्द्र वशोत्कीर्तनककाव्यम्—इस काव्य की रचना जय सोम ने कर्मचन्द्र नामी बीकानेर के मन्त्री के आश्रय मे रहकर की थी। इस काव्य मे हमे बीकानेर के शासको के वैभव और विद्यानुराग का पता चलता है। जहाँ तक बीकानेर के नगर, फाटक, बाजार, बस्तियाँ, राजप्रासाद आदि का प्रश्न है इससे हमे बडी जानकारी होती है। ग्रन्थकर्ता हमे १६वी शताब्दी की अनेक सस्थाओ का भी वर्णन करता है जिनमे पुस्तकालय, मन्दिर, पाठशालाएँ, भिक्षुगृह, भोजन-सत्र आदि सम्मिलित है। सम्पूर्ण काव्य श्लोकबद्ध है।[३६]

अमरसार—इसकी रचना प० जीवाधर ने की थी। काव्य से महाराणा प्रताप और अमरसिंह प्रथम के सम्बन्ध मे पूरा प्रकाश पडता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बडा महत्त्व है। इसमे उस समय के रहन-सहन, आमोद-प्रमोद और जन-जीवन की अच्छी झाँकी दी गयी है।[३७]

अमरकाव्य वशावली—इसको महाराणा राजसिंह के आश्रित कवि रणछोड भट्ट ने लिखा था। लेखक जो वर्णन राजप्रशस्ति मे न दे सका उसका समावेश उसने इसमे किया है। इस दृष्टि से ग्रन्थ का उपयोग अधिक बढ जाता है। उदयपुर के शासको की राजनीतिक उपलब्धियो के उपरान्त लेखक ने धार्मिक और सामाजिक विषयो को भी अपने ग्रन्थ मे स्थान दिया है, जिनमे धर्म-यात्राएँ, तुलादान, दीपावली, जोहर आदि मुख्य हैं। सैनिको की वेशभूषा तथा उनके युद्धोपयोगी साधनो का भी इसमे अच्छा वर्णन मिलता है।[३८]

राज रत्नाकर—इस ग्रन्थ की रचना सदाशिव ने महाराणा राजसिंह के समय मे की थी। इसमे २२ सर्ग हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से बडे उपयोगी हैं। प्रारम्भ के राज-वर्णन मे वही बाते मिलती है जो भाटो की पुस्तको पर आधारित है। परन्तु महाराणा राजसिंह के समय के समाज चित्रण मे तथा उस समय के दरबारी जीवन के वर्णन मे लेखक ने अपनी निपुणता का अच्छा परिचय दिया है। उस समय के पाठ्यक्रम तथा पठन-पाठन की गतिविधि पर कवि ने अच्छा प्रकाश डाला है। १७वी शताब्दी के युद्धो और सन्धियो के सम्बन्ध मे भी इसमे हमे यत्र-तत्र प्रसग मिलते हैं।[३९]

अजितोदय—इसकी रचना भट्ट जगजीवन ने महाराजा अजीतसिंह के दरबारी कवि की हैसियत से की थी। मारवाड की कई ऐतिहासिक घटनाओ के अध्ययन के लिए

---

[३५] जी० एन० शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ६२

[३६] वही, पृ० ६३

[३७] वही, पृ० ६३-६४

[३८] मेरा लेख, प्रोसीडिंग्ज ऑफ इण्डियन हिस्टोरिकल रेकार्ड्स कमीशन, १६४६

[३९] मेरा लेख, प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्टोरिकल रेकार्ड्स कमीशन, १६५६

इस ग्रन्थ का बडा उपयोग है। विशेष रूप से लेखक ने महाराजा जसवन्तसिंह तथा अजीतसिंह के मुगल मारवाड सम्बन्ध की रोचक कहानी देकर ग्रन्थ के महत्त्व को और बढा दिया है। उस युग की परम्परा, विचारधारा तथा सामाजिक सगठन को समझने के लिए अजितोदय वडे काम का है। लेखक ने विविध सस्कारो जिनमे जन्म, विवाह और मृत्यु आदि मुख्य हैं, काफी प्रकाश डाला है। जोधपुर के नगर वर्णन और मण्डोर के वागो का चित्रण कवि ने सजीव रूप से किया है।[४०]

(ब) ऐतिहासिक साहित्य— राजस्थानी

कान्हडदे प्रबन्ध—इसकी रचना पद्मनाभ नामी कवि ने जालौर के शासक अखैराज के आश्रय मे सवत् १५१२ मे की थी। कवि ने सम्पूर्ण कृति को चार वडे भागो मे चौपाई, दोहे आदि मे लिखा था। इस काव्य का आधार अलाउद्दीन द्वारा जालौर आक्रमण है जिसमे कान्हडदे, उसका लडका वीरमदे तथा उसके साथी तुर्की सेना से लडकर काम आये। मूलभूत कथा के साथ वीरमदे का अलाउद्दीन की लडकी फिरोजा से प्रेम होना, आठ वर्ष तक युद्ध चलते रहना आदि रोचक अश जोड दिये गये हैं जो ऐतिहासिक नही हैं। परन्तु इसमे कई राजनीतिक तथा सामाजिक तथ्य भी छिपे पडे हैं जो उस युग की विशेषताओ का उन्मूलन करते हैं। युद्ध के अवसर पर की जाने वाली तैयारी, मोर्चा-बन्दी, सभी जातियो का ऐसे अवसर पर योगदान आदि वातो के ऊपर प्रकाश डालने से इस ग्रन्थ की उपयोगिता वढ जाती है। इस अवसर पर किये जाने वाले जौहर का भी कवि ने अच्छा वर्णन किया है। साहित्यिक दृष्टि से यह एक सुन्दर कलाकृति है जो उस युग के साहित्य-स्तर को अकित करती है। ऐतिहासिक घटना को उचित रूपेण व्यक्त करने के कारण इस काव्य का महत्त्व और अधिक वढ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने इसमे वर्णित अशो को राजकीय ऐतिहासिक सामग्री पर आधारित किया हो।[४१]

राव जैतसी रोछन्द—इसकी रचना वीठू सूजे ने की थी और ग्रन्थ को स० १६२९ मे लिपिवद्ध किया गया था। इस कृति मे कामरा द्वारा भटनेर किले पर किये गये आक्रमण का वर्णन है जिसमें वीकानेर राज्य के कई वीर किले को मुगलो के हाथ से बचाने मे मारे गये। इस ग्रन्थ द्वारा वीकानेर के शासक जैतसी की युद्ध-प्रणाली का भी वोध होता है और स्थानीय रीति-रिवाज की भी जानकारी होती है। इसमे जगह-जगह कवि ने विदेशी आक्रमणकारियो के प्रति राजपूतो की मनोवृति का सुन्दर चित्रण किया है। इसमे राव चूण्डा से लेकर राव लुणकरण के पराक्रमों का भी हृदयग्राही वर्णन है। इस ग्रन्थ का महत्त्व इसलिए भी बढ जाता है कि जैतसी-कामरा युद्ध का वर्णन अन्य फारसी ग्रन्थो मे नही मिलता और इसकी पुष्टि वीकानेर के चिन्तामणि

---

[४०] जी० एन० शर्मा, ए विवलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ६५-६६
[४१] वही, पृ० ७०-७१

श्री चौवीसटाजी के जैन मन्दिर के मूलनायक की प्रतिभा के शिलालेख तथा 'जैतसी रासो', 'दयालदास ख्यात' आदि से हो जाती है। यह ग्रन्थ राजस्थान ही नही वरन् भारतीय इतिहास के एक नवीन पहलू पर प्रकाश डालता है। हो सकता है कि वीठू सूजा के कथन-शैली मे अतिशयोक्ति हो, परन्तु कथा का मूल भाग विश्वसनीय है।[४२]

वेलि क्रिसन रुकमणी री—यह ३०४ छन्दो की कृति है जिसकी रचना कुँवर पृथ्वीराज राठौड ने की थी। यह अकवर के दरवार का सम्मानित दरवारी था जिसने निर्भीक भाव से ओजस्वी कविता की रचना की। वेलि मे मूलत भक्ति रस की कविता की प्रधानता है, परन्तु कथा भाग मे वर्णित अशो से उस समय के रहन-सहन, रीति-रिवाज, उत्सव-त्यौहार, वेशभूपा आदि पर अच्छा प्रकाश पडता है। इस कृति द्वारा उस समय के काव्य-सौरभ और साहित्य गरिमा का भी अनुमान लगाया जा सकता है।[४३]

गुण भाषा—इसकी रचना हेम कवि ने जोधपुर के महाराजा गजसिंह के समय मे की थी। गजसिंह द्वारा किये गये राज्य-विस्तार तथा उस समय की वेशभूपा और नगर-योजना के सम्वन्ध मे हमे इससे अच्छी सूचना मिलती है।[४४]

गुणरूपक—गजसिंह के समकालीन अन्य कवि ने, जिसका नाम केशवदास था, गुक्षरूपक नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमे कई प्रकार की वेशभूपा तथा खाद्य-पदार्थों का वर्णन आता है जिससे राजस्थान मे वढते हुए मुगल-प्रभाव का हम अनुमान कर सकते है। इसमे दिये गये विवाह-उत्सव और दशहरे के त्यौहार का वर्णन वडा रोचक है।[४५]

राजरूपक—इसकी रचना रतनू चारण कवि वीरभाण ने की थी। यह जोधपुर के महाराजा अभयसिंह का समकालीन था। अभयसिंह और मुगल सम्वन्ध को लेकर और विशेप रूप से अहमदावाद मे लडी गयी शेर विलन्दखाँ के विरुद्ध की लडाई का इसमे आँखो-देखा वर्णन है। यह वृहत्‌काय काव्य ४६ प्रकाशो मे लिखा गया था। इसमे देसूरी, नागौर, नाडौल आदि के युद्धो का सन्तुलित वर्णन है। युद्ध मे भाग लेने वाले जेता हरनाथ, गिरधारी आदि वीरो की उपलब्धियाँ भी इसमे यथास्थान दे दी गयी हैं। प्रसगवश इस ग्रन्थ से उस समय की सामाजिक स्थिति का भी अच्छा वोध होता है।[४६]

---

[४२] टेसीटोरी, डिस्क्रिपटिव केटलॉग, सेक्शन २, भा० १, गोपीनाथ शर्मा, ए विवलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ७१

[४३] जी० एन० शर्मा, ए विवलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ७१

[४४] वही, पृ० ७२

[४५] वही, पृ० ७२

[४६] वही, पृ० ७३-७४

सूरजप्रकाश—इसकी रचना अभयसिंह के दरबारी कवि करणीदान ने की थी। इसमे भी अभयसिंह के समय के युद्धो का आँखो देखा-वर्णन है। उस समय के सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिए इसका अधिक उपयोग है। इसमे वर्णित वेश-भूषा, खानपान, रीति-रिवाज, विवाह, उत्सव, आखेट, यज्ञ, दान, पुण्य, यात्रा आदि का सजीव वर्णन है। "ग्रन्थ मे भारत की प्राचीन परम्परा को ध्यान मे रखते हुए मध्य-कालीन सस्कृति के अन्तगत वीरता आदि का राजस्थानी भाषा मे आकर्षक छन्दो मे अनूठा प्रदर्शन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे वर्णन ऐसा धारा-प्रवाह चलता है कि जिससे पाठको की उत्कण्ठा निरन्तर अग्रसर होती जाती है। कवि महोदय ने यत्र-तत्र अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन ऐसी दक्षता से किया है कि प्राय कही पर भी मूल कथा से क्रम नही टूटा है।"[४७]

वशभास्कर—इस ग्रन्थ को बूँदी राज्य के चारण कवि सूर्यमल मिश्रण ने करनल टॉड के पश्चात कवितावद्ध लिखा था। इसमे दिये गये प्राचीन इतिहास के वर्णन प्राय भाटो आदि की दन्तकथाओ पर ही आधारित है, फिर भी ग्रन्थ की अपनी उपयोगिता है। ज्यो-ज्यो लेखक अपने समय के अधिक निकट आता है इसमे दिये गये वर्णन सत्यता के निकट आ जाते है। इसका मुख्य कारण यह है कि जहाँ से लेखक को इतिहास के लिए उपयोगी सामग्री अधिक मात्रा मे मिलती गयी उसको सन्तुलित वर्णन देने मे सुविधा हो गयी। इस ग्रन्थ मे बूँदी का विस्तृत और राजपूताने के राज्यो का सक्षिप्त इतिहास मिलता है। जयपुर-बूँदी सम्बन्ध, मराठो के राजस्थान के आक्रमण और अग्रेजी सत्ता के प्रवेश की घटनाओ का इसमे समुचित वर्णन है। लेखन-शैली बडी निर्भीक तथा भाषा ओजस्वी है।

भाषा के ग्रन्थो मे पृथ्वीराजरासो तथा राजविलास का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(स) ऐतिहासिक साहित्य—ख्यातें, बात आदि

ख्यात वशावली तथा प्रशस्ति लेखन का विस्तृत रूप है। ख्यातो मे राजवश की पीढियाँ, जन्म-मरण की तिथियाँ, किन्ही विशेष घटनाओ का उल्लेख तथा जिस वश के लिए ख्यात लिखी गयी हो उसके व्यक्ति विशेषो के जीवन सम्बन्धी विवरण रहता है। वैसे इन ख्यातो का विस्तृत रूप १६वी शताब्दी के अन्त से बनना आरम्भ हुआ तो इससे पहले का वर्णन कल्पना के आधार पर कर दिया गया। ऐसी स्थिति मे यह कहना अत्युक्ति नही होगी कि १६वी शताब्दी के पूर्व का वर्णन जो इन ख्यातो से उपलब्ध होता है अधिकाश मे कपोल-कल्पित ही है। इनमे दिये हुए पहले के सवत् तथा नाम भी कृत्रिम पाये जाते हैं। जहाँ तक कई घटनाओ का सम्बन्ध है, जो इनमे उल्लिखित हैं, वे भी अतिशयोक्ति और पक्षपातपूर्ण ही दिखायी देती हैं। उपरोक्त दोषो

---

[४७] सूरजप्रकाश, भूमिका खण्ड ३, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, जी० एन० शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ७८

के रहते हुए भी १७वी तथा १८वी शताब्दी की ख्यातो का सास्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व किसी प्रकार कम नही है।

ये ख्यातें हमे राजस्थानी भाषा मे लिखित गद्य-साहित्य के रूप मे मिलती हैं, जिनमे मुहता नैणसी री ख्यात, बाकीदास री ख्यात, दयालदास री ख्यात, राठौड़ा री ख्यात, कछवाहा री ख्यात, महाराजा मानसिंहजी री ख्यात, सोनगरा री ख्यात, फलोदी री ख्यात, साचोरा री ख्यात, जैसलमेर री ख्यात, किशनगढ री ख्यात आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमे से अधिकाश ख्यातें अब तक अप्रकाशित हैं जिससे इनकी उपयोगिता का हमारा परिज्ञान सीमित है।

इन सभी ख्यातो मे मुहता नैणसी री ख्यात अधिक प्रसिद्ध है। नैणसी को बाल्य-काल से ही इतिहास सम्बन्धी बातो की जानकारी मे बडी रुचि थी। जब कभी ये किसी चारण, भाट या किसी विशेष जानकार व्यक्ति से मिलते थे या किसी पुरानी पुस्तक को पढते थे तो वे इतिहास के उपयोगी अशो को अपनी डायरी मे दर्ज कर लिया करते थे। जब वे महाराजा जसवन्तसिंह के दीवान नियुक्त हुए तो इस कार्य मे उन्हें अधिक सुविधा हो गयी। धीरे-धीरे यह सकलन समृद्ध होता गया जो 'मुहता नैणसी री ख्यात' के नाम से विख्यात हैं। इसमे काठियावाड, मालवा, बुन्देलखण्ड, उदयपुर, बाँस-वाडा, डूंगरपुर, प्रतापगढ, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ, आमेर, बूंदी, सिरोही आदि राज्यो के इतिहास का बहुत बडा सग्रह है। कई ऐसे वशो और खाँपो की पीढियाँ इसमे दी गयी हैं जो अन्यत्र अप्राप्य-सी हैं। इसमे अनेक योद्धाओ के वर्णन को देकर नैणसी ने हमारे राजस्थानी वीरो को अमर कर दिया है। राजपूताने के इतिहास सम्बन्धी घटनाओ की जानकारी के लिए यदि हमे कही अन्य साधन उपलब्ध नही होते वहाँ 'नैणसी री ख्यात' हमारी बहुत सहायता करती है। वश-क्रम में या कही-कही सवतो मे अशुद्धि रह जाने पर भी इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व कम नही होता। नैणसी ने जब किसी राज्य का इतिहास लिखना आरम्भ किया वहाँ उन्होने उस राज्य की प्राकृतिक अवस्था, उपज, जातियाँ, वाणिज्य, व्यापार, जलवायु, भाषा आदि पर भी प्रकाश डाला है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बडा उपयोगी है। स्वर्गीय मुशी देवीप्रसादजी ने तो नैणसी को इसी कारण 'राजपूताने का अबुल फजल' कहा है जो अनुपयुक्त नही है। जिस प्रकार अबुल फजल ने अकबर के समय की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का वर्णन किया है उसी प्रकार नैणसी ने भी इन विषयो को अपनी ख्यात मे स्थान दिया है। सबसे बडी बात जो नैणसी के सम्बन्ध मे हम पाते हैं वह यह है कि उन्होने जो वर्णन जिस पुस्तक से लिया या जो बात किसी व्यक्ति से सुनी तो उसका भी उल्लेख स्पष्टता से कर दिया। इस अर्थ मे अबुल फजल से भी नैणसी मे अपने जानकारी के साधनो के प्रति आभार प्रदर्शन की भावना उत्कृष्ट रही है जो सर्वथा स्तुत्य है।

ऐतिहासिक उपयोगिता के अतिरिक्त 'नैणसी री ख्यात' का साहित्यिक महत्त्व भी है। इस ख्यात से उत्तरकालीन मध्ययुगीन राजस्थानी गद्य पर अच्छा प्रकाश

पड़ता है। गद्य के अध्ययन के लिए ही नही वरन् इसका उपयोग शब्दों के रूपों के अध्ययन तथा जन-प्रचलित राजस्थानी भाषा के लिए भी अत्यधिक है।

पर खेद है कि ऐसे विद्याप्रेमी इतिहासज्ञ की जीवन-लीला दुखद रही। सवत् १७२४ मे जब नैणसी महाराजा जसवन्तसिंह के साथ औरंगाबाद मे थे तो इनसे किसी कारण महाराजा अप्रसन्न हो गये और इन्हे अपने भाई सुन्दरसी के साथ बन्दी बना लिया गया। उन्हे बन्दी बनाने के बाद यह कहा गया कि यदि वे एक लाख रुपया दण्ड के रूप मे देने को राजी हो तो उन्हें मुक्त किया जा सकता है। दोनो भाइयो ने इसे अस्वीकार किया जिसके सम्बन्ध मे दो दोहे प्रसिद्ध है

लाख लखारा नीपजै, वड-पीपल री साख।
नटियो मूतो नैणसी, तावो देण तलाक ॥१॥

लेसो पीपल लाख, लाख लखारा लावसी।
तावो देण तलाक, नटिया सुन्दर नैणसी ॥२॥

इसके उपरान्त इन्हें कारावास मे कठोर यातना भुगतनी पडी। जब इन्हे इसी अवस्था मे मारवाड भेजा गया तो इन्हे अपने ऐहिक जीवन से घृणा हो गयी जिसे उन्होने फूलमरी नामक ग्राम मे भद्रपद वदी १३, स० १७२७ मे आत्महत्या द्वारा समाप्त कर दिया।[४८]

नैणसी द्वारा लिखित 'मारवाड रा परगणा री विगत' भी बडी उपयोगी पुस्तक है जिसमे मारवाड के प्रत्येक परगने का इतिहास, आबादी आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

इसी तरह एक बडी प्रसिद्ध रचना 'बाँकीदास री बाता' है जिसकी आसिया जाति के चारण बाँकीदास ने रचना की थी। बाँकीदास डिंगल, सस्कृत, ब्रजभाषा तथा इतिहास के अच्छे ज्ञाता थे। बताया जाता है कि जब इनका मिलना ईरान के बादशाह से हुआ तो वह इनसे इतिहास की बातें सुनकर इतना प्रसन्न हुआ कि वह कहने लगा कि बाँकीदास केवल मात्र कवि ही नही है, वरन् एक अच्छा इतिहासवेत्ता भी है जो हमसे भी अधिक ईरान का इतिहास जानता है। ये महाराजा मानसिंह के समय के दरबारी कवि थे जिनकी स्वतन्त्र प्रकृति और स्वाभिमान व सम्मान स्वय महाराजा बहुत करते थे। बताया जाता है एक अवसर पर बाँकीदास ने अपनी पालकी महारानी की सवारी के आगे निकाल ली जिसमे महारानी ने क्रुद्ध होकर इनको प्राण-दण्ड देने के लिए महाराजा से आग्रह किया। महाराजा ने उसे यही उत्तर दिया कि मुझे तुम्हारी जैसी अनेक महारानियाँ मिल सकती हैं, परन्तु मुझे दूसरा बाँकीदास नही

---

[४८] राजस्थानी गद्य-साहित्य, पृ० ८१-८८, जी० एन० शर्मा, ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ० १८५, जी० एन० शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ७२-७३

मिल सकता। इसी स्वाभिमान की झलक वांकीदास की रचनाओ मे मिल सकती है। उन्होंने राजस्थान के उन निष्प्राण नरेशो को अपनी ओजस्वी कविता के माध्यम से ललकारा है जिन्होने विना युद्ध किये अग्रेजो की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इसी वात को लेकर उन्होने 'आयो अग्रेज मुलकरे ऊपर' नामक शीर्षक से राजस्थानी गीत की रचना कर नरेशो की भर्त्सना की है। इन्होने अपनी 'वातो' मे विविध विषयो को लेकर २००० वातो का सग्रह किया है, जिनमे चौहान, हाडा, गहलोत, राठौड आदि वशो का इतिवृत्त दिया है। साथ ही साथ मुसलमान शासको का, जिनमे अला-उद्दीन, तैमूर, वावर, हुमायूं, अकवर आदि वादशाह हैं, भी उल्लेख किया है। इनकी 'वातो' से अनेक प्रकार के भौगोलिक विषयो, रहन-सहन, रीति-रिवाज, व्यवसाय-वाणिज्य आदि पर भी प्रकाश पडता है। साथ ही साथ यदि हम १९वी सदी की राजस्थानी का ठीक प्रयोग समझना चाहे तो वह 'वांकीदास री वाता' से उपलब्ध होता है। राजस्थान का सम्पूर्ण तथा क्रमिक इतिहास तैयार करने मे ये 'वातें' एक आधार-ग्रन्थ के रूप मे वडी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।[४९]

ख्यातो मे जो स्थान 'नैणसी री ख्यात' और 'वांकीदास री वाता' को प्राप्त है वही स्थान दयालदास की ख्यात को भी है। दयालदास बीकानेर के सिढायच शाखा के चारण थे। वे बीकानेर नरेश महाराजा रत्नसिंह, सरदारसिंह और डूंगरसिंह के विश्वासपात्र थे। इन्होने अनेक वशावलियो, पट्टो, परवानो, वहियो, शाही फरमानो तथा राजकीय दफ्तरो के पत्रो को अपनी ख्यात तैयार करने के काम मे लिया था। इसमे इन्होने बीकानेर का ऐतिहासिक विवरण दिया है और विशेष रूप से महाराजाओ के शासन का भी अच्छा वर्णन अकित किया है। इसमे राव बीका से महाराजा सरदार-सिंह के राज्यारोहण तक का समुचित वर्णन है। दयालदास ने ऐतिहासिक महत्त्व को ध्यान मे रखते हुए अपनी ख्यात मे वोलचाल की भाषा को साहित्यिक भाषा की तुलना मे अधिक प्राधान्यता दी है जो तत्कालीन लोक-भाषा की जानकारी के लिए वडी उपयोगी है।[५०]

इन ख्यातो के अतिरिक्त 'जोधपुर रा राठौरा री ख्यात' राव जोधा से महा-राजा मानसिंह के जीवनवृत्त, शासन-व्यवस्था, रानियाँ आदि के विवरण के लिए वडी उपयोगी है। इसी प्रकार 'जोधपुर रा महाराजा मानसिंहजी री' तथा तख्तसिंहजी री ख्यात' मे मानसिंह के तथा तख्तसिंह के शासनकाल का, महाराजा मानसिंह और नाथो का सम्वन्ध तथा तत्कालीन जीवन की झाँकियाँ मिलती हैं। किशनगढ री ख्यात, भाटियो री ख्यात आदि किशनगढ और जैसलमेर के इतिहास के लिए क्रमश उपयोगी

---

४९ राजस्थानी गद्य-साहित्य, पृ० ९३-९५, जी० एन० शर्मा, ए विवलियोग्राफी, पृ० ८०, जी० एन० शर्मा, ऐतिहासिक निवन्ध सग्रह, पृ० १८४-८५

५० राजस्थानी गद्य-साहित्य, पृ० ८८-९१, जी० एन० शर्मा, ऐतिहासिक निवन्ध सग्रह, पृ० १८५-८६

है। शिशोदिया री वशावली तथा शिशोदिया री ख्यात मे उदयपुर के राणाओ की उपलब्धियो का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार 'वात सग्रह' मे सहस्रो ऐसी कथाएँ हैं जो मध्ययुगीन राजस्थान की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालती है। 'बीजा सोरठ री वात' तथा 'अचलदास खीची री वार्ता' अपने ढग के साधन हैं जो तत्कालीन परिस्थिति के परिचायक है।[५१]

(द) ऐतिहासिक साहित्य—पुरालेख[५२]

पुरालेख की सामग्री जो सरकारी विभागो, प्राचीन घरानो आदि मे पायी जाती है वह इतिहास के लिए बडी उपयोगी है। इसमे वहियाँ, फाइले, पट्टे, परवाने आदि लेख सम्मिलित है। इस प्रकार की सामग्री की सज्ञा मे हजारो की सख्या मे पुरालेख हैं। भाग्यवश राजस्थान सरकार ने इस प्रकार की सामग्री को एक जगह इकट्ठा कर दिया है जो बीकानेर, जोधपुर, जयपुर, उदयपुर आदि के पुरालेख सग्रहालय मे उपलब्ध है। इसी सामग्री को हम जोधपुर, जयपुर, कोटा, उदयपुर, अजमेर रेकार्ड मे वर्गीकृत करते हैं।

जोधपुर रेकार्ड मे प्रमुख रूप मे 'दस्त्रीरेकार्ड' है जिसमे सहस्रो वहियाँ, फाइले, पट्टे आदि है। १७वी शताब्दी से यह सामग्री व्यवस्थित रूप मे पायी जाती है। इन वहियो और फाइलो मे राज्य की आय और व्यय का हिसाव, अधिकारियो की नियुक्तियाँ, किसी विशेप अवसर पर दिये गये पट्टे, परवाने, दुष्काल का उल्लेख आदि मिलते है। स० १८६२ की एक वही मे जोधपुर के घेरे का वणन है जवकि प्रत्येक जाति के व्यक्ति ने जोधपुर को बचाने के लिए अपना योग दिया था। व्याव वही मे विवाह के अवसर पर दिये गये दहेज का अच्छा अकन है। पट्टा वहियो मे वि० स० १७६४ से १९९७ तक राज्य की ओर से दिये गये पट्टो की हूवहू प्रतिलिपियाँ मौजूद हैं। १८५७ ई० की हकीकत बही मे भारतीय विद्रोह सम्बन्धी कई अश प्राप्त होते है जो भारतीय जन-जागरण के द्योतक हैं। स० १८२४ से १९४० तक की हथ वहियो मे महाराजा की निजी याददाश्तो का, गुप्त मन्त्रणाओ का अथवा धार्मिक कार्यो का उल्लेख मिलता है। खरीता वहियो मे प्रमुख व्यक्तियो से प्राप्त पत्रो की प्रतिलिपियाँ प्राप्त होती हैं।

बीकानेर के अभिलेखागार से कई प्रकार की बहियाँ और फाइलें प्राप्त हुई है जिनमे आये दिन के खर्चे तथा आय का ब्यौरा मिलता है। व्याव बहियो मे राजपूत परिवारो तथा मुगलो के साथ किये गये विवाह-सम्वन्ध तथा दस्तूरो का वर्णन दर्ज

---

[५१] जी० एन० शर्मा, ए विवलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ७८-८४, जी० एन० शर्मा, ऐतिहासिक निवन्ध सग्रह, पृ० १८५-८६

[५२] इस सम्वन्ध मे विशेप जानकारी के लिए द्रष्टव्य—जी०एन० शर्मा, ए विवलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ३४-४४, जी० एन० शर्मा, ऐतिहासिक निवन्ध सग्रह, पृ० १-६, १८७-१८९, १९०-१९२

है। यहाँ के कई कागजातो से अधिकारियो के वेतन तथा उनके पद का बोध होता है। बीकानेर से कुछ ब्याज वहियाँ भी प्राप्त हुई हैं जिनसे ब्याज की विभिन्न दरो का अनुमान लगाया जा सकता है। कमठाना वहियो से राजप्रासाद बनाने के खर्च तथा दैनिक मजदूरो के वेतन का बोध होता है।

कोटा के अभिलेखागार का वर्गीकरण वस्तो तथा भण्डारो की सख्या की गणना पर आधारित है। उदाहरणार्थ, वस्ता न० ११, ४१, ६२ से जो भण्डार न० १ के वर्ग मे हैं, गनगौर, दीपावली, होली, रक्षावन्धन आदि उत्सवो पर किये गये खर्च का अनुमान लगाया जा सकता है। भण्डार न० ५२ के कागजातो मे दान-पुण्य के खर्चे का उल्लेख है। भण्डार न० ४ तथा वस्ता न० ४१० मे मजदूरो को वेतन के वजाय घूघरी देने का उल्लेख है। भण्डार न० १ तथा वस्ता न० ४ मे कई प्रकार के करो का जिक्र है जो पेशेवर कौम से लिया जाता था।

जयपुर के अभिलेखागार मे 'सियाहजूर' तथा 'दस्तूर कौमवार' वडे काम के है। 'सियाहजूर' मे वो खर्चे दर्ज हैं जो राज परिवार की आवश्यकताओ से सम्वन्धित थे। छोटी वस्तुओ से लेकर वहुमूल्य पदार्थो के दामो तथा तोलो का इनमे दर्ज होने से हमे उस समय की आर्थिक स्थिति का बोध होता है। वि० स० १७६१ के 'सिया-हजूर' मे दो रुपयो से २,००० तक की चौपड की खरीदी का उल्लेख मिलता है। स० १७६४ के सियाहजूर मे जयपुर के कई मुहल्लो का उल्लेख आता है जहाँ से विविध प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध होती थी। इसी प्रकार दस्तूर कौमवार, जो ३२ जिल्दो मे हैं, उन अधिकारियो के नाम और जातिवार व्यौरा देते है जिन्होने समय-समय पर राजकीय सेवाएँ की और उनके उपलक्ष्य मे पद या इनाम के भागी बने। इनके प्रसग मे अन्य भी कई उल्लेख इनसे उपलब्ध हो जाते हैं जिनसे उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति का वोध होता है। इसी तरह 'तोजी रेकार्ड' मे भी दैनिक व्यय का हिसाब मिलता है जिमसे कई सन्दर्भो पर प्रकाश पडता है। जयपुर के अभिलेखागार मे कई 'वकील रिपोर्टे' भी हैं जो मुगल-कछवाह तथा मुगल-मराठा सम्वन्ध पर अच्छा प्रकाश डालती है।

उदयपुर के अभिलेखागार मे 'देवस्थान का रेकार्ड', 'सिलहखाना का हिसाव', 'हिसाव दफ्तर के कागजात' आदि वडे काम के हैं। अजमेर अभिलेखागार मे दर्गाह फाइल वडी उपयोगी हैं जिनसे यात्रियो के वर्णन तथा वस्तुओ की कीमतो के अनुपात मिलते हैं। उदयपुर रेकार्ड मे जमा-खर्च वहियाँ १७वींश ताब्दी से २०वी शताब्दी की उपलब्ध हैं। इनमे वाहर से आने वाले तथा वहाँ से भेजे जाने वाले माल के भाव, तोल तथा उन पर लगाये गये करो का अच्छा वर्णन है। उस समय मे प्राप्त होने वाली वस्तुओ के मूल्यो का भी अन्दाज हम इन वहियो से लगा सकते हैं। उदाहरणार्थ, स० १७६६ मे गेहूँ का भाव २६ सेर प्रति रुपया, तिल १२ सेर प्रति रु०, गुड १७ सेर प्रति रु० और घृत ५ सेर प्रति रु० था। इन वहियो से यह भी स्पष्ट है कि राजस्थान मे स्थानीय मुद्राओ के अतिरिक्त अन्य मुद्राओ का भी प्रचलन था जिनमें फर्रुखशाही, कुचामनी,

महमूदशाही, शाहआलमशाही प्रमुख थी। इन मुद्राओ के लेन-देन का भाव चांदी की कीमत के आधार पर निर्धारित किया जाता था।

व्यक्तिगत रूप से प्रतिष्ठित घरानो मे भी कागजात और वहियाँ रहती हैं, जो हमारे इतिहास के लिए बडी उपयोगी है। उदाहरण के लिए, धुलेव के फूल पागडी वालो के पास अपने जजमानो का ब्यौरा रहता है। इस ब्यौरे से विविध जाति के पेशे, व्यवसाय, सामाजिक स्तर का बोध होता है। पुष्कर के पण्डो की वहियाँ भी इस अर्थ मे वडे काम की हैं। कुछ उपयोगी वहियाँ व्यापारियो के यहाँ भी मिलती हैं जिनसे उस समय के भाव, तोल आदि का बोध होता है। कई सामाजिक अवसरो पर लिये गये कर्ज और अन्य कारणो के विश्लेषण मे हमे इनसे वडी सुविधा होती है। इन वहियो से मरहठे सरदारो की लूटमार के कारण किस प्रकार अनेक गाँव उजड चुके थे और उनको पुनर्संस्थापन मे सेठ-साहूकारो तथा आम जनता का कितना योग था, प्रमाणित होता है।

(ब) ऐतिहासिक सामग्री—फारसी

मध्ययुगीन घटनाओ के लिए फारसी मे लिखे हुए अनेक विश्वसनीय इतिहास हैं जो तत्कालीन लेखको ने अपने स्वामी की आज्ञा से अथवा आत्म-प्रेरणा से लिखे थे। यदि इनसे अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनो को निकाल दिया जाय तो काल-क्रम को स्थापित करने तथा घटनाओ को समझने मे इनका अत्यधिक उपयोग है। हसन निजामी द्वारा लिखित ताजुल्मआसिर मे प्रथम मुस्लिम आक्रमण से होने वाली प्रक्रिया का अच्छा वर्णन है। मिनहाजउद्दीन की तवकाते-नासिरी से नागौर, जालौर, अजमेर आदि स्थानो मे मुस्लिम प्रभाव स्थापित होने की गतिविधियो का पता चलता है। तारीखे-अलाई, जिसे अमीर खुसरो ने लिखा था, अलाउद्दीन के चित्तौड तथा रणथम्भोर के आक्रमणो का अच्छा वर्णन देती है। तारीखे फिरोजशाही, तारीखे मुवारकशाही, वाकियात-ए-मुश्ताकी आदि फारसी तवारीखो मे तुर्की आक्रमणो का वर्णन है तथा उन मार्गो की सुविधाओ और असुविधाओ का जिक्र है जिन मार्गो से आक्रमणकारी राजस्थान मे आते-जाते थे।

वावरनामा से, जिसे स्वय वावर ने लिखा था, खानुआ के युद्ध का अच्छा ब्यौरा मिलता है। हुमायूँनामा तथा तजकिरात से राजस्थान की भौगोलिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पडता है। अवुल फजल के अकवरनामा तथा आइने अकवरी से राजस्थान के कई नरेशो के उल्लेख मिलते हैं जिन्होने अकवर का विरोध किया था या जिन्होने उससे सन्धि-सम्वन्ध स्थापित किये थे। प्रसगवश अवुल फजल ने यहाँ की उपज, सैनिक-स्थिति तथा सामाजिक स्थिति का भी उल्लेख किया है जो हमारे इतिहास के लिए वडे काम का है। जहाँगीरनामा, शाहजहाँनामा, आलमगीरनामा आदि फारसी तवारीखें राजस्थानी नरेशो की मुगल सेवाओ तथा उनके विरोध की कहानियो को देकर हमारी जानकारी वढाने मे वडी सहायक हैं। इन तवारीखो से प्रसगवश नगरो, कस्वो, गावो तथा

जनजीवन के उल्लेख भी प्राप्त होते है जो सामाजिक इतिहास की जानकारी के लिए उपयोगी हैं। इन इतिहासकारो ने जहाँ-जहाँ राजस्थान मे तुर्की अथवा मुगल सत्ता कायम हुई, वहाँ का उन्होने सविस्तार वर्णन लिखा। अकबर के समय से लेकर पिछले मुगल बादशाहो के समय तक कई राजा, राजकुमार, राजपरिवार के व्यक्ति तथा सामन्त मुगल मनसबदारी स्वीकार करते रहे जिसके फलस्वरूप उनको जमींदारियाँ, पद और प्रतिष्ठा मिलती रही। इन तवारीखो मे ऐसे व्यक्तियो का सविस्तार वर्णन मिलता है जो अन्यत्र नही मिलता। इनमे से कई मुगलो के लिए दक्षिण तथा सीमान्त प्रान्तो मे युद्ध लडते रहे या उन्हे उच्च श्रेणी की सूबेदारी मिलती रही। ऐसे व्यक्तियो का सविस्तार वर्णन फारसी तवारीखो से उपलब्ध होता है जिसमे उनकी उपलब्धियो पर पूरा प्रकाश पडता है। मआसिरुलउमरा मे राजस्थान के अनेक राजाओ, राजकुमारो तथा सामन्तो की जीवनियो का जो सग्रह मिलता है वह इतिहास के लिए बडा उपयोगी है। हो सकता है कि इन फारसी तवारीखो मे युद्ध की घटनाओ को देने मे पक्षपात का दृष्टिकोण रहा हो, तथापि इनमे लिखी हुई तिथियाँ तथा घटना-चक्र प्रमाणित सिद्ध हुए हैं।

चित्र और चित्रित ग्रन्थ

राजस्थान के कई व्यक्तिगत तथा राजकीय सग्रहालयो मे मध्ययुगीन चित्र तथा चित्रित ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जो सामाजिक इतिहास की रूपरेखा के लिए बडे उपयोगी हैं। स्थानीय वेशभूषा, विविध स्तरो के व्यक्तियो के जीवन, रीति-रिवाज, त्यौहार, उत्सव, दरबारी जीवन आदि पहलुओ को समझने के लिए इन चित्रो का बडा उपयोग है। १५वी तथा १६वी शताब्दी के चित्रित कल्पसूत्रो से उस युग की कई गतिविधियो का अनुमान लगाया जा सकता है। कोटा तथा जोधपुर के भागवत के चित्रा से १६वी तथा १७वी शताब्दी के मनोरजन के साधन, वेशभूषा आदि पर अच्छा प्रकाश पडता है। पुस्तक प्रकाश के पचतन्त्र, रामायण आदि के चित्रो से सामाजिक जीवन की कई झाँकियाँ उपलब्ध होती हैं। उदयपुर के सरस्वती भण्डार की आर्शरामायण जीवन के कई पहलुओ पर प्रकाश डालने मे सहायक सिद्ध हुई है। इस ऐतिहासिक साधन का प्रयोग जितना होना चाहिए नही हुआ है, अन्यथा मध्यकालीन समाज की कला-प्रवृत्ति तथा सामाजिक और सास्कृतिक जीवन को आँकने मे इसका बडा महत्त्व है।[५३]

[५३] जी० एन० शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ४६-५७

अध्याय १२

राजस्थान और बाह्य आक्रमणो का विरोध

(८वी से ११वी शताब्दी)

प्राक्कथन—पिछले अध्यायो मे हमने पढा कि राजपूतो को स्थानीय या पारस्परिक युद्धो से अपने-अपने वश के अभ्युत्थान मे सफलता मिली। इस प्रकार वे लगभग चार शताब्दी की अवधि के सतत् प्रयत्नो के फलस्वरूप एक राजपूत अधिवासन के युग की मजिल को तय कर सके। परन्तु इस युग मे तथा इसके बाद इन्हे बाहरी आक्रमणो का भी मुकाबला करना पडा जो स्थानीय या पारम्परिक युद्धो से अधिक भयानक था। आठवी शताब्दी के प्रारम्भ मे ही, जबकि कुछ राजपूत वश अपनी स्थिति पूरी तौर से बनाने ही न पाये थे कि अरबो का आक्रमण भारतवर्ष के पश्चिमी भागो पर हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि सिन्ध और आसपास के भागो पर उनका अधिकार स्थापित हो गया। धीरे-धीरे इनकी शक्ति बढती गयी जिससे मालवा, मारवाड तथा भडौंच आदि स्थान उनके भय से खाली नही समझे जाने लगे।[1] अरब आक्रमण का राजस्थान के राजनीतिक जीवन मे बडा प्रभाव पडा। भीनमाल का चाप-वश और चित्तौड का मौय-वश तो अवश्य अरब आक्रमण से जर्जरित हो गये, परन्तु साथ ही साथ राजस्थान मे गुहिल, चौहान, परमार और प्रतिहार इतने शक्ति-सम्पन्न हो गये कि अरब शक्ति राजस्थान के राजनीतिक जीवन के सन्तुलन को न बिगाड सकी और ये वश उत्तरोत्तर प्रबल होते रहे। इन राजवशो की प्रबलता का परिणाम यह हुआ कि न केवल राजस्थान अधिक समय अपनी सीमा को विदेशी आक्रमण से बचाये रख सका वरन् वह उत्तरी हिन्दुस्तान मे भी एक निभयता का वातावरण बनाये रखने मे सहयोगी रहा।

लगभग तीन शताब्दी तक राजस्थान के कुछ भागो को विदेशी आक्रमण का कोई भय न रहा। यहाँ राजनीतिक जीवन विकास की ओर अग्रसर होता रहा। जो राजपूत वश अपने अधिवासन के प्रयत्न मे लगे हुए थे उन्हें चारो ओर सफलता मिलती रही। इनके नेतृत्व मे जनजीवन भी सास्कृतिक उत्थान करता रहा जिसका वर्णन पिछले अध्याय मे किया गया है। परन्तु ग्यारहवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही उत्तर-भारतीय राजनीतिक जीवन मे एक नया मोड आया। उत्तर-पश्चिम से आने वाली

---

[1] जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, भा० १५, पृ० १६२-१६६

बर्बर तुर्की जाति अपने विध्वसकारी अभियानो से युग-युगान्तर के सास्कृतिक जीवन को समाप्त करने पर उतारू हो गयी। जहाँ-जहाँ भारतीय समृद्धि तथा धर्म के प्रतीक उन्हे दिखायी दिये उन्हे वे नष्ट कर अपने धन-सग्रहण की भावना को शान्त करने लगे। इस जाति का नेतृत्व महमूद गजनवी ने किया। उसकी १००८ ई० की कागडा, १००९ ई० की नरायणा (अलवर के पास), १०१४ ई० की थानेश्वर और उसके कुछ समय के बाद शाही राज्य की विजयो ने उसे राजस्थान के निकटवर्ती भागो तक पहुँचा दिया।[२] वास्तव मे यह बडा उपयुक्त अवसर था कि राजस्थान के भाटी, गुहिल, चौहान आदि मिलकर महमूद का मुकाबला करते। भारतीय सैनिक इतिहास के दुर्भाग्य के अवसरो मे यह भी एक ऐसा अवसर था जब यहाँ के राजपूत सगठित न हो सके और अपनी-अपनी स्वार्थ-पूर्ति मे लगे रहे। इतना ही नही, इस समय इन प्रमुख राजपूत वशो के आपसी सम्बन्ध भी अच्छे न थे। स्थानीय समस्याओ मे लगे रहने के कारण उन्होने इस बडे राजनीतिक बवण्डर की उपेक्षा ही की।

महमूद की बढती हुई धन-लोलुपता ने उसे गुजरात की ओर बढने के लिए प्रेरित किया। वहाँ का सोमनाथ का मन्दिर अपनी समृद्धि के लिए बडा प्रसिद्ध था। हमारे देश के विभिन्न भागो के निवासी उसको तीर्थ रूप मे मानते थे और उसमे श्रद्धा से अपना चढावा भेंट करते थे। महमूद ने जैसलमेर के निकट लोद्रवा के मार्ग से राजस्थान मे प्रवेश किया और साचौर से पालनपुर के पास चिकलोदर पहाडी के पास होता हुआ सोमनाथ पहुँचा। वहाँ से लूट-खसोटकर वह फिर से राजस्थान के मार्ग से न होकर कच्छ और सिन्ध पार कर १०२६ ई० मे गजनी पहुँच गया।[3]

वैसे राजस्थान के राजनीतिक जीवन पर महमूद के आक्रमण का कोई विशेष प्रभाव तत्क्षण न पडा, परन्तु इस आक्रमण से उसके पिछले शासको और सेनाध्यक्षो को राजस्थान मे सगठन के अभाव का भान हो गया। उनको यहाँ अपने प्रभाव क्षेत्र को विकसित करने का मार्ग मिल गया, जो राजस्थान के लिए एक दुर्भाग्य की बात थी। यदि महमूद को जैसलमेर के मार्ग मे ही रोक दिया जाता या साचौर पहुँचने पर सगठित योजना से उसका मुकाबला किया जाता तो भारतवर्ष का इतिहास ही दूसरा होता। महमूद के उत्तराधिकारी जो उत्तर-पश्चिमी सीमान्त भागो के अधिकारी थे, राजस्थान के आसपास आक्रमण करते रहे। १०७९ ई० मे सुलतान इब्राहीम ने भारत के पश्चिमी-तट पर अधिकार स्थापित कर लिया और सम्भवत उसने शाकम्भरी के दुर्लभराज की हत्या कर दी। इसी तरह गजनवी तुर्कों का भय नाडौल तक फैल गया। असराज ने नाडौल के शासक पृथ्वीपाल की तुर्कों के विरुद्ध सहायता की थी जैसा एक अनुदान से स्पष्ट है।[४]

---

२ इलियट, तारीख-ए-यमीनी, पृ० ३५, फरिश्ता (ब्रिग्ज), भाग १, पृ० ५०-५३

3 धनपाल, महावीर उत्साह, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २५३

४ इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भा० ३३, पृ० ३०५-१३, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ३५-३६, नाडौल दानपत्र, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २५६

आगे चलकर मासूद तृतीय ने मलानी पर अधिकार कर लिया था और सुलतान बहराम के गवर्नर वाइलिम ने नागौर को अपनी शक्ति का केन्द्र बनाया था। उसने अपने स्वामी से स्वतन्त्र होने की चेष्टा का साकार रूप नागौर जैसे स्थान को प्राप्त करके की थी। उसने नागौर के आसपास के भागो पर अपने लडको को नियुक्त कर दिया और अपने खजाने, सेना और आश्रितो को यहाँ लाकर राजस्थान को अपने राज्य-विस्तार का क्षेत्र बनाना चाहा। यह अच्छा हुआ कि वह अपने स्वामी बहराम से परास्त होकर मुल्तान से फिर यहाँ न लौट सका। शीघ्र ही शाकम्भरी और अजमेर के स्वामी अर्णोराज ने अजमेर के निकट इन तुर्की सैनिको को करारी हार देकर राजस्थान के पहले के पराभव का बदला चुकाने मे सफलता दिखायी। इसी तरह गजनी-वश के खुसरो मलिक को भी विग्रहराज चतुर्थ ने परास्त कर चौहान शक्ति का परिचय दिया था।[५]

इन प्रारम्भिक तुर्को के आक्रमण से यह स्पष्ट है कि राजपूत शक्ति का उस समय तक एक शौर्य का स्तर था जिसके कारण गजनवी वश के आक्रमण से राजस्थान को कोई हानि न उठानी पडी। परन्तु साथ ही साथ इस बात की भी उपेक्षा नही की जा सकती कि राजस्थानी नरेशो ने चौहानो के साथ एक होकर इस शक्ति को नष्ट करने का कोई प्रयत्न नही किया। वे अपने-अपने वश की प्रभुता बढाने की होड मे लगे रहे और उनके पारस्परिक वैमनस्य का भी अन्त न कर सके। जब मासूद और खुसरो मलिक के समय गजनी शक्ति क्षीण होती जा रही थी, राजस्थानी नरेशो का सगठन बडे काम का होता। ऐसी अवस्था मे यदि गजनी शक्ति को उत्तरी-पश्चिमी सीमा मे पनपने न दिया जाता तो गोरी आक्रमण की सम्भावना न होने पाती। परन्तु पिछले गजनवियो का अस्तित्व तथा गोरी वश की शक्ति चौहानो तथा भारतीय स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध हुई। यहाँ से आरम्भ होने वाला सघर्ष सदियो का एक क्रमिक घटना-चक्र बन गया जिसका वर्णन क्रमश किया जायगा।

---

५ दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ४४

अध्याय १३

चौहानो का चरम उत्कर्ष, सघर्ष और ह्रास

(१) पृथ्वीराज तृतीय का युग (११७७-११९२ ई०)

प्रा —पहले अध्याय मे चौहानो के अधिवासन और विस्तार के सम्बन्ध मे हमने देखा था कि वारहवी शताव्दी के अन्तिम चरण तक इनकी शक्ति बलवती हो चुकी थी और उनका राज्य-विस्तार थानेश्वर से जहाजपुर (मेवाड) के एक छोर तक फैल चुका था, आसपास के कई शासक चौहानो के सामन्त वन चुके थे। ऐसा प्रतीत होता था कि चौहान उत्तरी भारत के माननीय शक्ति-वाहक वन चुके थे और राजस्थान की राजनीति मे उनका प्रतिष्ठित स्थान था। आसपास के कुछ एक राज्य जिनमे कन्नौज और गुजरात प्रमुख थे, अलबत्ता चौहानो के शत्रु थे, परन्तु इनकी वढती हुई शक्ति ने उनको भयभीत कर दिया था। इस परिस्थिति ने उत्तरी भारत मे क्षोभ और आशका के वातावरण को जन्म दिया। उत्तर-पश्चिम मे मुसलमानो की वस्तियाँ और वढता हुआ तुर्को का आतक देश के लिए भय का कारण था, परन्तु ऐसा लगता है कि इस उदीयमान नव-शक्ति की उपेक्षा की जा रही थी और किसी को इस सम्बन्ध की चिन्ता न थी। पृथ्वीराज ने इस शक्ति को दवाने या उससे निपटने के सम्बन्ध की कोई योजना नही वनायी थी। यह तो एक दुर्भाग्य की वात थी कि चौहानो की इतनी वढती हुई शक्ति तुर्को के काँटे को निकाल फेंकने मे चिन्तित नही थी।

पृथ्वीराज तृतीय की प्रारम्भिक स्थिति और कठिनाइयाँ

सोमेश्वर की मृत्यु के समय पृथ्वीराज तृतीय की आयु केवल ११ वर्ष की थी। भाग्यवश उसकी माता कर्पूरदेवी एक कुशल राजनीतिज्ञा थी जिसने वडी योग्यता से अपने अल्पवयस्क पुत्र के राज्य को सँभाला। उसने अपने विश्वस्त अधिकारियो की सहायता से सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था को देखा और उसका दक्षता से सचालन किया। इन अधिकारियो मे कदम्ववास, जिसे कैंवास या केम्ववास भी कहते हैं, राज्य का मुख्य मन्त्री था। कदम्ववास दाहिमा राजपूत था, जिसकी जागीर अहीरावती के भाग मे थी, जो पजाव का दक्षिण-पूर्वी भाग था। उसने पृथ्वीराज के षट्गुणो की रक्षा की और अपने स्वामी की प्रभुता के गौरव को परिवर्द्धित करने के लिए राज्य के चारो ओर शत्रुओ के उत्पाटनार्थ सेनाएँ भेजी। वह विद्यानुरागी था जिसे पद्मप्रभ और

जिनपति सूरि के शास्त्रार्थ की अध्यक्षता का सौभाग्य प्राप्त था। उसने बडी राज-भक्ति से शासन किया। सैनिक-कार्य के लिए कर्पूरदेवी ने एक दूसरे सुयोग्य अधिकारी की नियुक्ति सेनाध्यक्ष के पद पर की। यह अधिकारी भुवनमल्ल था जो कर्पूरदेवी का सम्बन्धी था। जिस प्रकार गरूड ने राम और लक्ष्मण को मेघनाद के नागपाश से बचाया था उसी प्रकार भुवनमल्ल ने भी पृथ्वीराज को प्रारम्भिक कठिनाइयों के काल में सुरक्षित रखा। नागो के दमन मे इसकी सेवाएँ श्लाघनीय थी। इन दोनो अधि-कारियो के अतिरिक्त चन्देल, मोहिल आदि वश के अनेक व्यक्ति थे जिन्होंने बडी श्रद्धा से अपनी सेवाएँ राज्य को अर्पित की। यों तो कर्पूरदेवी के सरक्षक का काल थोडे समय का ही था, फिर भी इस काल मे अजमेर सम्पन्न और समृद्ध नगर बन गया। पृथ्वीराज भी, जो कई भाषाओ और शास्त्रो का अध्ययन कर चुका था, अपनी माता के निर्देशन मे रहकर अपनी प्रतिभा को अधिक सम्पन्न बना सका। सम्भवत इस थोडी अवधि मे ही उसने राज्य-कार्य मे दक्षता प्राप्त करने के साथ अपने भावी कार्यक्रम की रूपरेखा भी बना ली थी, जो इसकी निरन्तर विजय-योजनाओं से प्रमा-णित होता है। पृथ्वीराजकालीन प्रारम्भिक विजयो तथा शासन सुव्यवस्थाओ का अधिकाश श्रेय कर्पूरदेवी को दिया जा सकता है, जिसने विवेक से अच्छे अधिकारियो को अपना सहयोगी चुना और कार्यों को इस प्रकार सचालित किया कि जिससे बालक पृथ्वीराज के भावी कार्यक्रम को बल मिले।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि सरक्षता का समय एक वर्ष से अधिक न रह सका और लगभग ११७८ ई० मे पृथ्वीराज ने स्वय सभी कामकाज को अपने हाथ मे ले लिया। इस स्थिति का कारण उसकी महत्त्वाकाक्षा और कार्य-सचालन की क्षमता पैदा होना ही हो सकता है। सम्भवत कदम्बवास की शक्ति को अपने पूर्ण अधिकार से काम करने मे बाधक समझ उसने कुछ अन्य विश्वस्त अधिकारियो की नियुक्ति की जिसमे प्रतापसिंह विशेष उल्लेखनीय है। भाग्यवश कदम्बवास की मृत्यु ने उसको उसके मार्ग से हटाया। रासो के लेखक ने उसकी हत्या स्वय पृथ्वीराज द्वारा होना लिखा है तथा पृथ्वीराज प्रबन्ध मे उसकी मृत्यु का कारण प्रतापसिंह को बताया है। डा० दशरथ शर्मा[2] पृथ्वीराज या प्रतापसिंह को कदम्बवास की हत्या का कारण नही मानते, क्योंकि हत्या सम्बन्धी वर्णन पिछले ग्रन्थो पर आधारित है। मृत्यु सम्बन्धी कथाओ मे सत्यता का कितना अश है यह कहना तो बडा कठिन है, परन्तु पृथ्वीराज की शक्ति-सगठन की योजनाएँ इस ओर सकेत करती हैं कि पृथ्वीराज ने अपनी महत्त्वाकाक्षाओ मे मुख्यमन्त्री को बाधक अवश्य माना हो और येन-केन-प्रकारेण उससे मुक्ति प्राप्त

---

[1] पृथ्वीराज विजय, सर्ग ६, श्लो० १, ३४, ६७-८६, खरतरगच्छ पट्टावली (पाण्डुलिपि), पृ० २५-३४, डा० दशरथ शर्मा, अर्लि चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७२-७३

[2] वही, पृ० ७३, पाद टिप्पणी न० ८

करने का मार्ग ढूँढ निकाला हो। इस कार्य मे प्रतापसिंह का सहयोग मिलना भी असम्भव नही दीख पडता। इस कल्पना की पुष्टि कदम्बदास का ११८० ई० के पश्चात कही महत्त्वपूर्ण घटनाओ के साथ उल्लेख के अभाव से होती है।

उच्च पदो पर अनेक विश्वस्त अधिकारियो को नियुक्त करने के बाद उसने अपनी विजय-नीति को सम्पादित करने का बीडा उठाया। उसकी विजय-नीति के कई पहलू थे। प्रथम पहलू तो वह था जिसमे उसे अपने स्वजनो के विरोध से मुक्ति पाना था। दूसरा पहलू दिग्विजय की भावना से ओतप्रोत था, जिससे उसे प्राचीन हिन्दू शासको की भाँति पडोसी राज्यो का दमन करना था। तीसरा पहलू विदेशी शत्रु से टक्कर लेने का था जिसके फलस्वरूप उसकी विजय-नीति की आभा क्षीण हो गयी।

पृथ्वीराज की प्रारम्भिक विजयें

(१) **नागार्जुन का अन्त**—पृथ्वीराज ज्योही चौहान राज्य का स्वामी बना तो उसने अपने पद को निर्विवाद नही पाया। उसके चचेरे भाई उन्हे चौहान राज्य के वास्तविक अधिकारी मानते थे। पृथ्वीराज का अल्पवयस्क होना उनकी महत्त्वाकाक्षा को उत्तेजित करने का साधन बन गया। शीघ्र ही उसके चाचा अपरगाग्य ने विद्रोह का झण्डा उठाया, परन्तु पृथ्वीराज ने उसे परास्त कर उसकी हत्या करा दी। फिर भी विरोधी दल शान्त न हुआ। अपरगाग्य के छोटे भाई नागार्जुन ने विद्रोह की अग्नि को प्रज्ज्वलित रखा। अपनी शक्ति को बढाने के लिए उसने गुडगाँव पर अधिकार स्थापित कर लिया। पृथ्वीराज ने एक महती सेना से उसे दबाया। नागार्जुन गुडगाँव से भाग निकला, परन्तु उसकी माँ, स्त्री और बच्चे तथा अन्य परिवार के व्यक्ति विजेता के हाथ आ गये। उन्हे बन्दी बना दिया गया। देवभट्ट नामक सेनाध्यक्ष ने अपने स्वामी की अनुपस्थिति मे कुछ समय तक गुडगाँव की रक्षा का प्रयत्न किया पर वह इसमे सफल न हो सका। सहस्रो की सख्या मे शत्रुदल के सैनिक एक-एक करके मारे गये, बन्दी बनाये गये। कई शत्रुओ को, जो अजमेर लाये गये थे, मौत के घाट उतारा गया और उनके मुण्ड नगर के प्राचीरो और फाटको पर लटकाये गये, जिससे भविष्य मे अन्य शत्रु उसका विरोध करने का साहस न कर सकें। नागार्जुन जो युद्धस्थल से भाग निकला था, ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी राजपूत दरबार मे जाकर रहा जहाँ उसकी मृत्यु हो गयी। ऐसा अनुमान सही हो सकता है, क्योकि हम नागार्जुन का इस घटना के उपरान्त कोई उल्लेख नही पाते।[3]

(२) **भण्डानको का दमन**—इस विजय के उपरान्त पृथ्वीराज का खड्ग ११८२ के लगभग भण्डानको के विरुद्ध बढा, क्योकि उनके उपद्रवो से उसके राज्य के उत्तरी भाग की सीमा को सुरक्षित रखना था। भण्डानक सतलज प्रान्त से आने वाली एक जाति थी जो गुडगाँव और हिसार जिले के आसपास बस गयी थी। इनका प्राबल्य

---

[3] पृथ्वीराज विजय, १०, श्लो० ६-७, पृथ्वीराज विजय, १२, श्लो० ८-३८, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७३-७४

मथुरा, भरतपुर और अलवर के आसपास के प्रदेशो मे बढता जा रहा था। इनकी स्वतन्त्रवृत्ति ने हमेशा चौहानो को उन्हे दबाने के लिए प्रेरित किया। विग्रहराज चतुर्थ ने इन्हें अपने समय मे पराजित तो किया था, परन्तु वह उन्हे पूर्णरूपेण अपने अधीन करने या दबाने मे सफल न हो सका। पृथ्वीराज तृतीय जो एक दिग्विजय की योजना बनाये हुए था बिना इन्हें दबाये उत्तरी या पश्चिमी अभियान मे सफल नही हो सकता था। यही कारण था कि उसने उनकी शक्ति को क्षीण करने की योजना बनायी। उसने जगह-जगह इनकी बस्तियो को घेरा और उन्हे आत्मसमर्पण या उत्तर प्रदेश की ओर भागने के लिए विवश किया। प्रसिद्ध समसामयिक लेखक जिनपति सूरि ने पृथ्वीराज द्वारा भण्डानको को दबाने का उल्लेख अपनी कविता मे किया है जो ठीक प्रतीत होता है। इस घटना के बाद भण्डानको को हम फिर एक शक्ति के रूप मे नही पाते, जिससे उनकी शक्ति का ह्रास होना स्पष्ट है।[४]

पृथ्वीराज की प्रारम्भिक विजयों का महत्त्व

पृथ्वीराज द्वारा आयोजित इन प्रारम्भिक विजयो का एक स्वतन्त्र महत्त्व है। सर्वप्रथम स्वजनो के विरोध के दमन से उसका राज्य पद निर्विवाद बन गया तथा उसके पैतृक राज्य के लिए विरोधियो की सख्या कम हो गयी। इस विजय से वह चौहानो का सशक्त नेता बन गया और उसकी आन्तरिक स्थिति सन्तोषजनक हो गयी। इसी प्रकार भण्डानको को परास्त करने से अजमेर तथा दिल्ली, जो उसके राज्य की दो प्रमुख धुरियाँ थीं, एक राजनीतिक सूत्र मे बँध गयो। इस प्रदेश की विजय ने उसके राज्य का विस्तार भी कर दिया और उसे भावी विजय-क्रम को आगे बढाने मे सुविधा हो गयी। विग्रहराज चतुर्थ द्वारा भण्डानको को परास्त करने का बीडा उठाया गया था। उसकी समाप्ति पृथ्वीराज के भुजबल से सम्पादित हो सकी। उसकी भविष्य की युद्ध योजनाओ में इस सैनिक जाति का दमन लाभप्रद सिद्ध हुआ। सम्भवत इस विजय ने उसकी सैनिक तथा आर्थिक स्थिति को ठीक कर दिया हो।

पृथ्वीराज तृतीय और इसकी दिग्विजय

इन प्रारम्भिक विजयो से पृथ्वीराज के हौसले बढ गये और उसके अभियान का मार्ग भी साफ हो गया। वह अब अपने निकटवर्ती शासको को पराजित करने की योजना बनाने लगा। यह योजना प्राचीन भारतीय सम्राटो की महत्त्वाकाक्षाओ की भाँति थी जिसे उसके प्रशसक दिग्विजय की सज्ञा देते हैं। अब विस्तारित चौहान राज्य की सीमाएँ उत्तर मे मुस्लिम सत्ता, दक्षिण-पश्चिम मे गुजरात तथा पूर्व मे चन्देलो के राज्यो से जा मिली थी। चन्देलो के राज्य के परे कन्नौज के गहड़वाल थे। यदि

---

[४] डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७४

पृथ्वीराज को दिग्विजय की अभिलाषा की पूर्ति करनी थी तो इन राज्यो को वारी-वारी से निपटना आवश्यक था। इन राज्यो से सैनिक-सम्वन्ध ही उसकी दिग्विजय नीति थी और वे राज्य महोवा, गुजरात और कन्नौज थे।

१ **महोवा विजय और दिग्विजय का प्रथम सोपान**—इन प्रारम्भिक विजयो के अनन्तर पृथ्वीराज अपनी दिग्विजय की योजना को साकार करने मे लग गया। भण्डानको की विजय ने पृथ्वीराज के राज्य की सीमा को चन्देलो के राज्य की सीमा से मिला दिया था। इस राज्य के अन्तर्गत वृहद् भूमि भाग था जिसमे वुन्देलखण्ड, जेजाकमुक्ति, महोवा आदि सम्मिलित थे। वताया जाता है कि जव पृथ्वीराज समेता से दिल्ली लौट रहा था कि उसके कुछ जख्मी सिपाहियो को चन्देलराज ने मरवा दिया। अपने सैनिको की हत्या का वदला लेना उसके लिए आवश्यक हो गया। इस समय महोवा राज्य की स्थिति सन्तोपजनक नही थी। परमारदी ने जो राज्य का शासक था, आल्हा और उदल नामक दो सेनानायको को कुछ समय पूर्व अपने राज्य मे निकाल दिया था। इन दोनो ने अपने स्वामी से असन्तुष्ट होकर कन्नौज दरवार मे पहुँचकर शरण ले ली। इस स्थिति ने चन्देलो की सैनिक सुरक्षा व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया। अवसर को उपयुक्त समझकर पृथ्वीराज एक विशाल सेना लेकर महोवा विजय के लिए निकल पडा। उसने सर्वप्रथम सिरस्वा को वलात् छीन लिया जो सिन्धु की सहायक नदी पहूजा के तट पर था। इस विजय से वह महोवा की सीमा के निकट पहुँच गया। जिनपाल की खरतरगच्छ पट्टावली से प्रतीत होता है कि ११८२ ई० मे पृथ्वीराज की सेनाओ ने नरानयन के स्थान पर अपने डेरे डाले और यहाँ से आगे वढकर उन्होने चन्देल राज्य की वस्ती को लूटना और नष्ट करना आरम्भ किया। इस स्थिति से परमारदीदेव वडा भयभीत हो गया। उसने शीघ्र ही अपने पुराने सेनानायक आल्हा और उदल को सैन्य-वल से राज्य की रक्षा के लिए लौट आने को कहलवा भेजा। पहले तो अपमानित सेनानियो की प्रतिक्रिया परमारदी के विरुद्ध हुई, परन्तु राज्य की दयनीय दशा को समझकर उन्हे फिर से अपने कर्तव्य का ध्यान आया और वे राज्यभक्ति को निभाने के लिए सेनासहित राज्य की रक्षा के लिए निकल पडे। उनके आने के पूर्व परमारदीदेव के एक सामन्त ने, जिसका नाम मलखान था, शत्रु सेना को सिरसागढ के निकट रोके रखा और उसका मुकावला किया। परमारदी ने भी कुछ समय के लिए शत्रुओ को भीतर घुसने से रोकने के लिए युद्धविराम की वातचीत जारी रखी, इस अभिप्राय से कि तव तक उसके दो साहसी वीर कन्नौज से सैन्यवल ले पहुँच जायँ। भाग्यवश जव युद्ध-विराम की वातचीत और कुछ रोकथाम के प्रयत्न चल रहे थे कि दोनो देशभक्त सेनानी दल और वल के साथ आ पहुँचे। दोनो दलो मे तुमुल युद्ध हुआ जिसमे आल्हा और उदल अपने साथियो के साथ धराशायी हुए और विजयश्री पृथ्वीराज के हाथ लगी। इसका फल यह हुआ कि महोवा राज्य का वहुत-सा भू-भाग विजेता के हाथ लगा। घटनास्थल से दिल्ली लौटते समय

पृथ्वीराज ने अपने एक विजयी सामन्त पज्जुनराय को महोवा का अधिकारी नियुक्त किया।[५]

इस सम्पूर्ण घटना को काव्य-रचना द्वारा इतना अनिरजित बना दिया है कि वास्तविक तथ्य का निकालना कठिन है। तथापि वर्तमानकालीन शोध ने इस सम्बन्ध मे कुछ तथ्यो को हमारे सामने रखा है। ११८२ ई० के मदनपुर लेख से स्पष्ट है कि पृथ्वीराज द्वारा जेजाकमुक्ति प्रदेश नष्ट किया गया था। सारगधरपद्धति और प्रवन्ध-चिन्तामणि के कुछ पद्यो से ज्ञात होता है कि परमारदीदेव ने पृथ्वीराज से मुख मे तृण लेकर क्षमायाचना की थी। माऊ शिलालेख से महोवा और कन्नौज के मैत्री-सम्वन्ध स्थापित होने का सकेत मिलता है और इन साधनो से चन्देलो के राज्य को ध्वस किया जाना तो प्रमाणित होता है, परन्तु उस पर चौहानो का अधिकार रहना सिद्ध नहीं होता। लगभग चौहानो की विजय के कुछ समय पीछे, कालिजर और महोवा के शिला-लेखो के अनुसार, परमारदी को 'दशार्णधिपति' से सम्वोधित किया गया है, जिससे सिद्ध है कि पृथ्वीराज के चले जाने पर चन्देलो ने ११८३ ई० मे कुछ खोई हुई भूमि फिर से अधिकार मे कर ली थी।[६]

वैसे तो इस दिग्विजय ने चन्देलो की प्रतिष्ठा को नष्ट कर चौहानो की सत्ता के प्रभाव को परिवर्द्धित किया था जैसा डा० सिंह लिखते हैं, परन्तु चौहान इस विजय से स्थायी लाभ न उठा सके। पृथ्वीराज के द्वारा अपनी सीमा के निकट कुछ भूमि, जो चन्देलो के राज्य से अपने राज्य मे मिलती थी, कम से कम द्वितीय तराइन के युद्ध के वाद फिर चन्देलो ने ले ली। इन हानियो के अतिरिक्त चन्देलो और गहडवालो का सगठन पृथ्वीराज के लिए एक सैनिक व्यय का कारण वन गया। उसे ११८२ ई० के वाद अपनी सीमा सुरक्षा के लिए वडी सेना रखनी पडी जो चन्देलो को दबाये रखे। इस अर्थ मे वजाय लाभ के यह विजय आर्थिक दृष्टि से पृथ्वीराज के लिए महँगी पडी और साथ ही साथ चन्देल उसके शत्रुओ की नामावली मे गिने जाने लगे। पृथ्वीराज का यह अभियान एक सैनिक अभियान मात्र रहा जिससे वह थोडे समय के लिए अपनी महत्त्वाकाक्षा की पिपासा को बुझा सका। राजनीतिक दृष्टि से इसमे अन्ततोगत्वा उसे असफलता ही मिली।

२ **चालुक्य-चौहान वमनस्य और दिग्विजय का द्वितीय सोपान**—वैसे तो चालुक्य-चौहान वैमनस्य वडा पुराना था, परन्तु पृथ्वीराज के पिता के समय मे यह

---

५ खरतरगच्छ पट्टावली, पृ० २२, पृथ्वीराजरासो, पृ० २५०७-२६१५, रासोसार, पृ० ४५७-४७५, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, दिसम्वर १९३५, पृ० ७८०, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७५, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ दि चौहान्स, पृ० १६७-६८, दि स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० १०७-०८

६ सारगधरपद्धति, श्लो० १२५४, माऊ लेख, कालिजर और महोवा लेख, वि० स० १२४०, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७४-७५

पृथ्वीराज को दिग्विजय की अभिलाषा की पूर्ति करनी थी तो इन राज्यो को बारी-बारी से निपटना आवश्यक था। इन राज्यो से सैनिक-सम्बन्ध ही उसकी दिग्विजय नीति थी और वे राज्य महोबा, गुजरात और कन्नौज थे।

१ महोबा विजय और दिग्विजय का प्रथम सोपान—इन प्रारम्भिक विजयो के अनन्तर पृथ्वीराज अपनी दिग्विजय की योजना को साकार करने मे लग गया। भण्डानको की विजय ने पृथ्वीराज के राज्य की सीमा को चन्देलो के राज्य की सीमा से मिला दिया था। इस राज्य के अन्तर्गत वृहद् भूमि भाग था जिसमे बुन्देलखण्ड, जेजाकमुक्ति, महोबा आदि सम्मिलित थे। बताया जाता है कि जब पृथ्वीराज समेता से दिल्ली लौट रहा था कि उसके कुछ जख्मी सिपाहियो को चन्देलराज ने मरवा दिया। अपने सैनिको की हत्या का बदला लेना उसके लिए आवश्यक हो गया। इस समय महोबा राज्य की स्थिति सन्तोपजनक नही थी। परमारदी ने जो राज्य का शासक था, आल्हा और उदल नामक दो सेनानायको को कुछ समय पूर्व अपने राज्य से निकाल दिया था। इन दोनो ने अपने स्वामी से असन्तुष्ट होकर कन्नौज दरबार मे पहुँचकर शरण ले ली। इस स्थिति ने चन्देलो की सैनिक सुरक्षा व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया। अवसर को उपयुक्त समझकर पृथ्वीराज एक विशाल सेना लेकर महोबा विजय के लिए निकल पडा। उसने सर्वप्रथम सिरस्वा को बलात् छीन लिया जो सिन्धु की सहायक नदी पहूजा के तट पर था। इस विजय से वह महोबा की सीमा के निकट पहुँच गया। जिनपाल की खरतरगच्छ पट्टावली से प्रतीत होता है कि ११८२ ई० मे पृथ्वीराज की सेनाओ ने नरानयन के स्थान पर अपने डेरे डाले और यहाँ से आगे बढकर उन्होने चन्देल राज्य की बस्ती को लूटना और नष्ट करना आरम्भ किया। इस स्थिति से परमारदीदेव बडा भयभीत हो गया। उसने शीघ्र ही अपने पुराने सेनानायक आल्हा और उदल को सैन्य-बल से राज्य की रक्षा के लिए लौट आने को कहलवा भेजा। पहले तो अपमानित सेनानियो की प्रतिक्रिया परमारदी के विरुद्ध हुई, परन्तु राज्य की दयनीय दशा को समझकर उन्हे फिर से अपने कर्तव्य का ध्यान आया और वे राज्यभक्ति को निभाने के लिए सेनासहित राज्य की रक्षा के लिए निकल पडे। उनके आने के पूर्व परमारदीदेव के एक सामन्त ने, जिसका नाम मलखान था, शत्रु सेना को सिरसागढ के निकट रोके रखा और उसका मुकाबला किया। परमारदी ने भी कुछ समय के लिए शत्रुओ को भीतर घुसने से रोकने के लिए युद्धविराम की बातचीत जारी रखी, इस अभिप्राय से कि तब तक उसके दो साहसी वीर कन्नौज से सैन्यबल ले पहुँच जायँ। भाग्यवश जब युद्ध-विराम की बातचीत और कुछ रोकथाम के प्रयत्न चल रहे थे कि दोनो देशभक्त सेनानी दल और बल के साथ आ पहुँचे। दोनो दलो मे तुमुल युद्ध हुआ जिसमे आल्हा और उदल अपने साथियो के साथ धराशायी हुए और विजयश्री पृथ्वीराज के हाथ लगी। इसका फल यह हुआ कि महोबा राज्य का बहुत-सा भू-भाग विजेता के हाथ लगा। घटनास्थल से दिल्ली लौटते समय

पृथ्वीराज ने अपने एक विजयी सामन्त पन्जुनराय को महोवा का अधिकारी नियुक्त किया।[५]

इस सम्पूर्ण घटना को काव्य-रचना द्वारा इतना अतिरजित वना दिया है कि वास्तविक तथ्य का निकालना कठिन है। तथापि वर्तमानकालीन शोध ने इस सम्वन्ध मे कुछ तथ्यो को हमारे सामने रखा है। ११८२ ई० के मदनपुर लेख से स्पष्ट है कि पृथ्वीराज द्वारा जेजाकमुक्ति प्रदेश नष्ट किया गया था। सारगधरपद्धति और प्रवन्ध-चिन्तामणि के कुछ पद्यो से ज्ञात होता है कि परमारदीदेव ने पृथ्वीराज से मुख मे तृण लेकर क्षमायाचना की थी। भाऊ शिलालेख से महोवा और कन्नौज के मैत्री-सम्वन्ध स्थापित होने का सकेत मिलता है और इन साधनो से चन्देलो के राज्य को ध्वस किया जाना तो प्रमाणित होता है, परन्तु उस पर चौहानो का अधिकार रहना सिद्ध नहीं होता। लगभग चौहानो की विजय के कुछ समय पीछे, कालिजर और महोवा के शिला-लेखो के अनुसार, परमारदी को 'दशार्णधिपति' से सम्वोधित किया गया है, जिससे सिद्ध है कि पृथ्वीराज के चले जाने पर चन्देलो ने ११८३ ई० मे कुछ खोई हुई भूमि फिर से अधिकार मे कर ली थी।[६]

वैसे तो इस दिग्विजय ने चन्देलो की प्रतिष्ठा को नष्ट कर चौहानो की सत्ता के प्रभाव का परिवर्द्धित किया था जैसा डा० सिंह लिखते है, परन्तु चौहान इस विजय से स्थायी लाभ न उठा सके। पृथ्वीराज के द्वारा अपनी सीमा के निकट कुछ भूमि, जो चन्देलो के राज्य से अपने राज्य मे मिलती थी, कम से कम द्वितीय तराइन के युद्ध के वाद फिर चन्देलो ने ले ली। इन हानियो के अतिरिक्त चन्देलो और गहडवालो का सगठन पृथ्वीराज के लिए एक सैनिक व्यय का कारण वन गया। उसे ११८२ ई० के बाद अपनी सीमा सुरक्षा के लिए वडी सेना रखनी पडी जो चन्देलो को दवाये रखे। इस अथ मे वजाय लाभ के यह विजय आर्थिक दृष्टि से पृथ्वीराज के लिए महँगी पडी और साथ ही साथ चन्देल उसके शत्रुओ की नामावली मे गिने जाने लगे। पृथ्वीराज का यह अभियान एक सैनिक अभियान मात्र रहा जिससे वह थोडे समय के लिए अपनी महत्त्वाकाक्षा की पिपासा को वुझा सका। राजनीतिक दृष्टि से इसमे अन्ततोगत्वा उसे असफलता ही मिली।

२ चालुक्य-चौहान वमनस्य और दिग्विजय का द्वितीय सोपान—वैसे तो चालुक्य-चौहान वैमनस्य वडा पुराना था, परन्तु पृथ्वीराज के पिता के समय मे यह

---

५ खरतरगच्छ पट्टावली, पृ० २२, पृथ्वीराजरासो, पृ० २५०७-२६१५, रासोसार, पृ० ४५७-४७५, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, दिसम्वर १९३५, पृ० ७८०, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७५, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ दि चौहान्स, पृ० १६७-६८, दि स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० १०७-०८

६ सारगधरपद्धति, श्लो० १२५४, भाऊ लेख, कालिजर और महोवा लेख, वि० स० १२४०, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७४-७५

वैमनस्य थोडे समय के लिए मधुर सम्बन्ध मे परिणित हो गया था। यह तो कहना बडा कठिन है कि दोनो वशो मे फिर से वैमनस्य कैसे बढ गया, परन्तु वैमनस्य के सम्बन्ध मे अनेक कथानक प्रचलित हैं। पृथ्वीराजरासो का लेखक लिखता है कि पृथ्वीराज ने आबू के परमार नरेश की पुत्री इच्छिनी से विवाह कर भीमदेव द्वितीय को, जो गुजरात का शासक था और इच्छिनी मे विवाह करने के लिए उत्सुक था, अप्रसन्न कर दिया। डा० ओझा इस कारण को मान्यता नही देते, यह बताते हुए कि आबू मे उस समय धारावर्ष परमार शासक था, न कि साखला परमार जो इच्छिनी का पिता था। परन्तु इस मत के खण्डन मे यह भी बताया जाता है कि साखला परमार शाखा का भी हक आबू पर था इसलिए चालुक्यो के शत्रु इन्हे भी परमार मानते थे। ११८३ ई० के शिलालेख से महाराज जय आबू का शासक था। पृथ्वीराज मे वर्णित जेतसि जय का नामधारी हो सकता है।[७]

इसी प्रकार रासो मे यह भी कारण बताया जाता है कि पृथ्वीराज के चाचा कान्हडदेव ने सारगदेव के जो भीमदेव का चाचा था, सात पुत्रो को मार दिया। इस घटना को लेकर भीमदेव ने अजमेर पर आक्रमण कर दिया और सोमेश्वर चौहान की हत्या कर दी तथा नागौर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। पृथ्वीराज ने अपने पिता का बदला लेने के लिए भीमदेव को युद्ध मे परास्त कर मार डाला और नागौर पर पुन अधिकार स्थापित कर लिया। परन्तु इन कथानको का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नही है, क्योंकि सोमेश्वर अपनी मौत से मरा था। भीमदेव १२४१ ई० के लगभग तक जीवित था।[८]

वास्तविक कारण तो यह था कि चालुक्य भीम द्वितीय का राज्य-विस्तार किराडू और नाडौल तक मारवाड मे विस्तारित था। नाडौल के चौहान और आबू के परमार चालुक्यों के सामन्त थे। पृथ्वीराज का भी मारवाड मे नागौर तक राज्य फैला हुआ था। चालुक्य और चौहानो की सीमाएँ मारवाड मे मिलती थी। बल्कि चालुक्य शाकम्भरी को अपनी सीमा मे सम्मिलित कर लेना चाहते थे। ऐसी स्थिति मे चालुक्य और चौहानो मे सघर्ष होना स्वाभाविक था। दोनो राज्यो की सीमाओ का मिलना और दोनो शासको की महत्त्वाकाक्षाएँ दोनो के वैमनस्य के कारण बन गये। इस स्थिति से इनकी सेनाओ मे समय-समय पर छेडछाड होना एक साधारण घटना थी। इन घटनाओ को लेकर पिछले लेखको ने, जिनमे चन्दबरदाई मुख्य है,

---

७ पृथ्वीराजरासो, समय १४, पृ० ५४-५६, सारदा, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्ज, पृ० २८४, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ दि चौहान्स, पृ० १६९-७०

८ पृथ्वीराजरासो, समय ३९, रासोसार, पृ० १३८-४१, पृथ्वीराज विजय, सर्ग ८, श्लो० ७२-१०२, कडी ग्राण्ट, न० ६, जरनल ऑफ बाम्बे ब्रान्च ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, भा० ५, पृ० १५५, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ दि चौहान्स, पृ० १७१

सघर्ष का अतिरजित रूप दे दिया। इच्छिनी का विवाह, भीमदेव का नागौर पर आक्रमण, भीमदेव द्वारा सोमेश्वर की हत्या और पृथ्वीराज द्वारा भीमदेव का मारा जाना आदि वर्णन तिथि-क्रम की कसौटी पर ठीक नही उतरते। सीमा-विवाद और दोनो नरेशो की महत्त्वाकाक्षाएँ ही सघर्ष के उपयुक्त कारण दिखायी देते है।

परन्तु इन असगतियो से चालुक्य-चौहान सघर्ष की सम्भावना कम नही होती। खरतरगच्छ पट्टावली मे ११८७ ई० के पूर्व पृथ्वीराज द्वारा गुजरात अभियान का वर्णन मिलता है। इसकी पुष्टि वीरवल शिलालेख से होती है जिसमे भीमदेव के मुख्यमन्त्री जगदेव प्रतिहार को पृथ्वीराज की कमला सदृशा रानी के लिए चन्द्र तुल्य लिखा है। "पार्थपरिक्रमयायोग" से पृथ्वीराज का धारावर्ष परमार के विरुद्ध रात्रि-आक्रमण करना प्रमाणित होता है। इसी प्रकार बीकानेर के दक्षिण-पूर्व के चार्नू गाँव के शिलालेख से ११८४ ई० मे युद्ध होने की सम्भावना प्रतीत होती है, जिसमे कई मोहिल वीर मारे गये थे। ये मोहिल चौहान थे और पृथ्वीराज के राज्य मे रहते थे। खरतरगच्छ पट्टावली का लेखक जिनपाल ११८४ ई० मे पृथ्वीराज और भीमदेव मे सन्धि होने का उल्लेख करता है। ऐसी स्थिति मे नागौर का युद्ध, जिसका उल्लेख रासो में किया गया है, ऐतिहासिक प्रमाणित होता है। इन विविध आधारो[६] के सर्वेक्षण से हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि चालुक्य-चौहान सघर्ष मे कभी जगदेव प्रतिहार और कभी पृथ्वीराज विजयी रहे हो और उसमे आबू के परमार चालुक्यो के सहायक और मोहिल चौहानो के सहायक रहे हो। इसी तरह जगदेव प्रतिहार के प्रयत्न से ११८७ ई० मे दोनो राज्यो के बीच सन्धि होना भी दिखायी देता है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि परम्परागत वैमनस्य को सन्धि के प्रयत्नो से शान्त रखा गया था। इसी बीच चौहान राज्य से कुछ व्यक्ति उपहार लेकर गुजरात पहुँचे जिसकी सूचना दण्डननायक अभयदेव ने जगदेव परमार को दी। मुख्यमन्त्री ने उन्हे सुरक्षा के साथ यात्रा करने का आदेश जारी किया। परन्तु इतना अवश्य था कि चौहान-चालुक्य द्वेष भीतर ही भीतर सुलगता रहा। दोनो एक-दूसरे के पराभव के अपेक्षी बने रहे। यदि सन्धि बनी रही तो वह ऊपरीय ही थी।

३ **चौहान-गहडवाल वैमनस्य और दिग्विजय का तृतीय सोपान**—जैसे दक्षिण मे चौहानो के शत्रु चालुक्य थे उसी प्रकार उत्तर-पूर्व मे उनके शत्रु गहडवाल थे। दिल्ली को लेकर चौहानो मे और गहडवालो मे वैमनस्य एक स्वाभाविक घटना बन गयी थी। इसी प्रश्न को लेकर विग्रहराज चतुर्थ और कन्नौज के विजयचन्द्र मे युद्ध हुआ था जिसमे विजयचन्द्र को परास्त होना पडा। जयचन्द्र ने भी दिल्ली को आधार मानकर वैमनस्य की अग्नि को प्रज्वलित रखा, जिसका प्रत्युत्तर पृथ्वीराज तृतीय ने

---

६ खरतरगच्छ पट्टावली, पृ० ३०, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, सितम्बर १९४०, पृ० ७४५, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७६ ८८, दि स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० १०८

देने का निश्चय किया। साथ ही पृथ्वीराज की दिग्विजय योजना मे कन्नौज को परास्त करना एक महत्त्वपूर्ण निर्णय था। ताजउलमसीर का लेखक लिखता है कि पृथ्वीराज की विशाल सेना ने उसके दिल मे एक मिथ्या कल्पना को जन्म दे दिया था।[१०] जयचन्द्र भी पृथ्वीराज की होड मे विजय योजनाएँ बना रहा था। जब पृथ्वीराज ने नागो, भण्डानको और चन्देलो को परास्त कर दिया तो जयचन्द्र मे चौहानराज के प्रति एक ईर्ष्या की भावना बन गयी। इस प्रकार दोनो की महत्त्वाकाक्षाएँ परस्पर विरोध की भावनाओ को भडकाने के लिए पर्याप्त कारण थी। एक की सफलताएँ दूसरे के लिए चुनौती के साधन थे। यदि पृथ्वीराज दिग्विजय की अभिलाषा की पूर्ति मे कन्नौज राज्य को अपने राज्य का अग बनाना चाहता था तो जयचन्द्र भी किसी हद तक इस प्रकार की महत्त्वाकाक्षा से मुक्त न था।[११] इस प्रकार दोनो पक्षो मे वैमनस्य बढना स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था।

जहाँ तक तत्कालीन कारण का सम्बन्ध है, पृथ्वीराजरासो[१२] सयोगिता की कथा को प्राधान्यता देता है जो सर्वविदित है। कथा का साराश इस प्रकार है। पृथ्वीराज और सयोगिता मे प्रेम था जिसकी अवहेलना जयचन्द्र ने की। अपने वैमनस्य के कारण उसने अपनी कन्या का विवाह अन्य किसी राजा के साथ करने का निश्चय किया। इसी अभिप्राय से राजसूय यज्ञ का आयोजन किया गया जिसके साथ साथ सयोगिता के स्वयवर को भी रचा गया। इस उत्सव मे कई राजा-महाराजा आमन्त्रित किये गये, परन्तु पृथ्वीराज को उसमे नही बुलाया गया। जयचन्द्र इस अपमान से ही सन्तुष्ट नही था। उसने उसको अधिक अपमानित करने के लिए उसकी लोह की मूर्ति द्वारपाल के स्थान पर खडी कर दी। जब स्वयवर का समय आया और सभी राजा-महाराजा सयोगिता द्वारा वरे जाने की प्रतीक्षा मे थे, तो राजकुमारी ने अपने प्रेमी पृथ्वीराज की मूर्ति के गले मे वरमाला डाल दी। चौहानराज भी अपने सैन्य-बल से घटनास्थल पर पहुँच गया और युक्ति से सयोगिता को उठाकर चल पडा। जयचन्द्र ने अपने सैनिक राजकुमारी को छुडा लाने के लिए पृथ्वीराज के पीछे भगाये पर उन्हे इसमे सफलता न मिली। वे एक-एक करके अपने स्वामी के लिए चौहान सैनिको से लडकर मर मिटे, तब तक पृथ्वीराज सकुशल सयोगिता को अपनी राजधानी लेकर पहुँच गया और वहाँ उसने उसके साथ विवाह कर लिया।

---

१० "From his large army and grandeur the desire of something like the conquest of the world had raised a phantom in the (Prithviraja's) imagination" —E D, II, p 214 "Both were ambitious rulers aspiring to the 1st place in the Indian Policy" —*Dr Dashrath Sharma, p 77*

११ पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० ८६, ८९, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७७

१२ पृथ्वीराजरासो, सयोगिता स्वयवर समय

सयोगिता की ऐतिहासिकता

जयचन्द्र और पृथ्वीराज के सम्वन्ध मे सयोगिता का पृथ्वीराज द्वारा भगा ले जाने की जो कथा है उस पर कई विद्वानो ने, जिनमे डा० त्रिपाठी तथा डा० ओझा मुख्य हैं, सन्देह प्रकट करते है और प्रमाणित करने का प्रयत्न करते है कि यह सम्पूर्ण कथा काल्पनिक है। अपने मत की पुष्टि मे उनका कहना है कि सयोगिता का वर्णन रम्भामजरी मे तथा जयचन्द्र के शिलालेखो मे नही मिलता, अतएव उनके अनुसार सम्पूर्ण कथा किसी १६वी सदी के भाट की कल्पना का फल-मात्र है। डा० त्रिपाठी की यह भी मान्यता है कि पृथ्वीराज के युग मे राजसूय यज्ञ और स्वयवर की प्रथा लुप्त हो गयी थी। उनका यह भी कहना है कि जयचन्द्र की इतनी विस्तारित विजय नही थी कि वह राजसूय यज्ञ करने की आवश्यकता का अनुभव करे। ओझाजी का यह भी कहना है कि रम्भामजरी मे जव जयचन्द्र की उपलब्धियो का जिक्र है और हम्मीर महाकाव्य मे हम्मीर के शौय का वर्णन है तो सयोगिता का वर्णन किसी न किसी रूप मे उसमे होना चाहिए। इन दलीलो के आधार पर सयोगिता के स्वयवर और विवाह की घटना को प्रेमाख्यान कहकर टाल दिया गया।[१३]

डा० दशरथ शर्मा ने इस वर्णन को प्रेम-प्रधान स्वीकार करते हुए यह लिखा है कि प्रेम जीवन का एक अग है और वह सत्य और वास्तविक है।[१४] व्यावहारिक जीवन मे ऐसी घटनाएँ घटती हैं जो प्रेम-प्रधान होते हुए भी सत्य है। वे फिर लिखते हैं कि रम्भामजरी मे सयोगिता के स्वयवर का वर्णन ढूंढना व्यर्थ है जवकि उसमे दिये हुए मदनवर्मन का वणन काल-क्रम की कसौटी पर ठीक नही उतरता। इसी प्रकार उनका कहना है कि हम्मीर महाकाव्य मे यदि सयोगिता का वर्णन नही है तो उसमे पृथ्वीराज के जीवन के साथ मान्यता-प्राप्त अन्य घटनाएँ जैसे नागार्जुन, परमारदी तथा भण्डानको की पराजय आदि भी नही हैं।[१५] इसका यह अर्थ नही कि ये घटनाएँ पृथ्वीराज के जीवन-वृत्त से सम्वन्धित नही है। यदि हम्मीरकाव्य मे विवाहो का वर्णन नही है तो इसका यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि पृथ्वीराज अविवाहित रहा।[१६] वैद्य[१७] ने भी सयोगिता के अपहरण की घटना को माना है।

---

[१३] डा० आर० एस० त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० ३२५-२६, डा० ओझा, निवन्ध सग्रह, भा० २, पृ० ७८-११२

[१४] ' Very romantic indeed But such things do sometimes happen in actual life " —Dr Sharma, *Early Chauhan Dynasties*, p 79

[१५] डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७८

[१६] वही, पृ० ७९ , डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ दि चौहान्स, पृ० १७६-७७-

[१७] "This story is too enchanting to be true , but it is difficult to reject it altogether as some do and we believe that Prithviraj to whom Sanyogita must have communicated her love like Juliet, by a sudden raid on Kannauj must have carried her off ".

—C V Vaidya, *History of Medieval India*, Vol III, p 324

यदि हम प्रेमाख्यान के कई रोचक अशो को छोड दे और मूलभूत आधारो को ले ले तो इसमे कोई अनहोनी बात नजर नही आती। उदाहरणार्थ, पृथ्वीराज की मूर्ति द्वार पर स्थापित करना राजपूत परम्परा के अनुकूल था। जबकि एक राजपूत वश दूसरे को अपमानित करना चाहता था तो ऐसा किया जाता था। राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने अपने शत्रु गुर्जरराज तथा अन्य राजाओ की मूर्तियाँ अपमानार्थ हिरण्यगर्भ महादान के उत्सव पर द्वार पर स्थापित की थी। इसी प्रकार राष्ट्रकूट शासक इन्द्र जो चालुक्यो का सामन्त था, मण्डप से चालुक्य राजकुमारी भवनागा को बलात् ले गया था। जहाँ तक पृथ्वीराज के साहसपूर्ण कार्यो का सम्बन्ध है वह ऐसे कार्यो मे दक्ष था। इस कार्य से भी अधिक शौर्यपूर्ण कार्य चन्द्रावती तथा जैजाकभुक्ति का आक्रमण था जिसमे विपक्षी दल त्रसित हो गया था।

रहा प्रश्न राजसूय यज्ञ का जिसे उस समय नही होना बताया जाता है, ठीक नही है। प्रत्येक प्रतिभासम्पन्न शासक ऐसे यज्ञ करते रहते थे जिसके कई प्रमाण है। यह सर्वविदित है कि जयसिंह ने १७वीं शताब्दी मे राजसूय यज्ञ किया था, अतएव जयचन्द्र ने आर्यावर्त का नेतृत्व प्राप्त करने के लिए ऐसा यज्ञ किया हो तो कोई आश्चर्य नही। जहाँ तक स्वयवर का प्रश्न है उसका उल्लेख ११२५ ई० के विक्रमदेव चरित्र मे मिलता है। हेमचन्द्र सूरि के द्वारत्रयकाव्य में दुर्लभराज द्वारा दुर्लभदेवी का स्वयवर से प्राप्त करना लिखा है। इन उदाहरणो से सिद्ध है कि स्वयवर की प्रथा परम्परागत है। इसीलिए चन्द्रशेखर तथा अबुल फजल आदि लेखको ने सयोगिता की कथा को मान्यता दी। पृथ्वीराजविजय मे भी पृथ्वीराज को तिलोत्तमा नामक अप्सरा के, जो राजकुमारी के रूप मे अवतरित हुई, प्राप्त होने का सकेत है।[१८]

इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज द्वारा सयोगिता को ले आना स्वीकृत विवाह के अन्तर्गत है, जबकि राक्षस विवाह का समर्थन स्मृतिकारो ने किया है। आज भी मण्डप से कन्याएँ उडायी जाती हैं तो उस युग मे ऐसा क्यो नही हो सकता था। राजसूय यज्ञ की गतिविधियो मे लगे हुए जयचन्द्र को राजाओ की भीडभाड मे पृथ्वीराज के सैनिको और सामन्तो पर सन्देह करना सम्भव नही था। ऐसे अवसर पर सयोगिता को ले जाना कोई असाधारण घटना नही थी। सच पूछा जाय तो परम्परा से मान्यता प्राप्त घटना पर सन्देह करना ठीक नही। सदियो से इस प्रचलित कथा मे विश्वास की अविरल शृखला ही उसकी सत्यता का प्रमाण है। फिर भी सयोगिता की कथा की उपेक्षा करने पर गहडवाल-चौहान वैमनस्य की सम्भावना कम नही होती।

---

१८ पृथ्वीराजविजय, १२, ३८, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ७८; इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, भा० ४, पृ० ११२-११४, डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नदर्न इण्डिया, भा० २, पृ० ९४५-९४६, सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १७३-१८१, राजस्थान थ्रू दी एजेज, पृ० २९२-२९७

पृथ्वीराज द्वारा भण्डानको, चन्देलो और चालुक्यों की शक्ति को दी गयी चुनौती गहडवालो के लिए विष की घूंट थी। साथ ही साथ पृथ्वीराज की विजय-योजना मे गहडवालो की स्वतन्त्रता शूल-तुल्य थी। ऐसी स्थिति मे दोनो राज्यो का संघर्ष अवश्यम्भावी था। इस संघर्ष को निकट लाने मे संयोगिता का विवाह एक महत्त्वपूर्ण रोचक घटना हो सकती है।

दिग्विजय नीति की आलोचना—एक दृष्टि मे पृथ्वीराज की दिग्विजय योजना समयोचित थी। अपने निजी शत्रुओ के दमन के पश्चात राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना के लिए ऐसी नीति का अपनाया जाना न्यायोचित दिखायी देता है। इसके साथ-साथ वृहत् चौहान राज्य के आतंक को बनाये रखने के लिए भी दिग्विजय की योजना बनाना आवश्यक था। इसी तरह अपने सैनिको और सामन्तो को सतत् रूप से अभियानो मे लगाये रखने से पृथ्वीराज ने अपने युग मे शक्ति सन्तुलन की स्थिति को ठीक बनाये रखा। वैद्य ने[१९] भी पृथ्वीराज की कीर्ति बढाने मे इन युद्धो को मान्यता दी है।

परन्तु जब हम दिग्विजय नीति के व्यावहारिक पहलुओ को देखते है तो ऐसा दिखायी देता है कि वह अन्ततोगत्वा चौहान राज्य के लिए हितकर सिद्ध नही हुई। डा० दशरथ शर्मा ने[२०] चन्देलो के विजय के सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है कि इसका स्थायी प्रभाव यह हुआ कि पृथ्वीराज ने अपने शत्रुओ की संख्या मे चन्देलो को सम्मिलित कर लिया। इससे गहडवालो और चन्देलो का भी गठबन्धन हो गया। इसके द्वारा उसको सैनिक व्यय बढाने के लिए बाध्य होना पडा और विजय से होने वाले लाभो से उसे वंचित रहना पडा। गुजरात अभियान से भी पृथ्वीराज स्थायी रूप से अपने मे कोई भूमि सम्मिलित न कर सका। इस अभियान से पीढियो पुराने वैमनस्य मे नयी गुत्थियाँ पड गयी। आगे से होने वाले गोरी के आक्रमण के समय चालुक्य शक्ति तटस्थ बनी रही। सम्भवत इनकी संयुक्त शक्ति भारतीय भविष्य को नया रूप दे सकती थी। जहाँ बुन्देलखण्ड और गुजरात चौहानो के शत्रु थे ऐसी दशा मे गहडवालो का वैमनस्य पृथ्वीराज के लिए और अधिक महँगा पडा। गहडवाल चन्देलो के अधिक

---

१९ "The wars established tne fame of Prithviraj and he has rightly been called emperor of Northern India" —C V Vaidya, *Historry of Medieval Hindu Inaia*, Vol III, p 325

२० "The permanent result thus was only the addition of one more individual to the rank of Prithviraja's bitter enemies It brought the Chandellas and the Gahadavalas together, thus obliging Prithviraja to increase his military expenditure and more than affecting any financial advantage that might have accrued to him" —*Rajasthan Through the Ages*, p 291

निकट आ गये जिससे इनका सगठन चौहान शक्ति के लिए भय का कारण वन गया। कई मोर्चों पर तथा सीमाओ पर सैन्य-वल रखने से तथा अनुभवी सैनिक और सामन्तो के धराशायी होने से चौहानो का सैन्य-वल घट गया। ये समूचा वल विदेशी शत्रु के विरुद्ध आसानी से काम मे लाया जा सकता था। यदि समूची चौहान-चालुक्य-गहड-वाल-चन्देल शक्ति मिलकर काम करती तो पृथ्वीराज को एक नेतृत्व भी प्राप्त हो जाता और विदेशी शत्रु भी ढकेले जाते। अतएव यह दिग्विजय योजना जो पडोसी राज्यो के विरुद्ध अपनायी गयी थी, दूरदर्शिता से शून्य थी। इस नीति ने हर प्रकार से पृथ्वीराज की सैनिक स्थिति को निर्वल और गम्भीर वना दिया। वह यह नही सोच सका कि अपने निकटवर्ती राज्यो से भी अधिक भयानक शत्रु उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारी हैं। यदि इस सम्वन्ध मे दिग्विजय नीति का प्रयोग कुछ सूझबूझ के साथ किया जाता तो चौहान राज्य की परिस्थिति कुछ दूसरी होती और आगे से आने वाले तूफान से भारतवर्ष वच सकता।

पृथ्वीराज और तुर्क अभियान

हमने पहले पढा था कि गजनवी शासको का राज्य भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर तक प्रसारित था और वे सिन्ध, पजाव तथा राजस्थान के पश्चिमी भाग मे समय-समय पर घुसपैठ किया करते थे। जव गोरी-वश के शासक प्रवल हुए तो इनका आधिपत्य गजनी राज्य पर भी जमने लगा। गियासुद्दीन गोरी ने अपने छोटे भाई शाहवुद्दीन गोरी को ११७३ ई० मे गजनी का गवर्नर नियुक्त किया जिसने भाटी राजपूतो से उच और कर्मेथियनो से ११७५ ई० मे मुल्तान ले लिया। उसने अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए ११७८ ई० मे गुजरात लेने का भी प्रयत्न किया जिसमे भीमदेव चालुक्य ने उसे परास्त कर इस वात का परिचय दिया कि भारतीय राज्यो से टक्कर लेना सरल काम नही है। इस पराजय मे वह हताश नही हुआ, वरन् उसने अपनी स्थिति को शक्तिशाली वनाने के लिए सिन्ध और पेशावर पर अधिकार स्थापित कर लिया। ११८१ ई० मे सियालकोट के दुर्ग के निर्माण द्वारा तथा ११८६ ई० मे खुसरू मलिक को परास्त कर लाहौर लेने द्वारा उसने अपनी शक्ति भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर सुदृढ वना ली।[२१]

पृथ्वीराज तृतीय जो इस समय तक अपने दिग्विजय की योजना को साकार वना चुका था, एक वृहद् राज्य का स्वामी था। उसका राज्य सतलज नदी से वेतवा तक और हिमालय के नीचे के भागो मे लेकर आवू तक प्रसारित था।[२२] इस विशाल राज्य-सीमा की सुरक्षा करना उसका उत्तरादायित्व हो चुका था जिसमे उसका सीधा

---

२१ तवकात-ए-नासिरी, पृ० ४४९-४५१, तारीख-ए-फरिश्ता, भा० १, पृ० १६६, इलियट, भा० ६४-२६५, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १८६

२२ टॉड, राजस्थान, भा० २, पृ० ६५८

सम्पर्क तुर्की राज्य-सीमा से होना स्वाभाविक था। चौहान और तुर्क एक प्रकार से निकट के पड़ोसी और शत्रु निर्धारित हो चुके थे। ऐसी स्थिति में यदि चौहान अपनी शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते थे तो उन्हें तुर्कों को उत्तर-पश्चिमी सीमान्त भागों से निकाल देना आवश्यक था और यदि शाहबुद्दीन तुर्की सल्तनत को विस्तारित करना चाहता था तो उसके लिए दिल्ली और अजमेर लेना आवश्यक था, जो भारतीय सत्ता के प्रमुख फाटक थे।

इस प्रकार की नवीन राजनीतिक स्थिति ने ११७८ से ११९० ई० के बीच चौहान-तुर्क छेड़छाड़ को जन्म दिया। इन्हीं सीमान्त छेड़छाड़ की घटनाओं को पृथ्वीराजरासो ने राठौड़ों और तुर्कों की २१ बार मुठभेड़ होना लिखा है, जिसमें चौहानों को विजेता बताया है। हम्मीर महाकाव्य[२३] ने पृथ्वीराज का गोरी को सात बार परास्त करना लिखा है। पृथ्वीराज प्रबन्ध[२४] आठ बार हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का जिक्र करता है। प्रबन्ध कोष[२५] का लेख बीस बार गोरी का पृथ्वीराज द्वारा कैद कर मुक्त करना बताता है। सुर्जन चरित्र[२६] में २१ बार और प्रबन्ध चिन्तामणि[२७] में २३ बार गोरी का हारना अंकित है। इन अनेक बार की चौहान विजय में अतिशयोक्ति हो सकती है परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों शक्तियों की सीमाएँ जो पंजाब, सिन्ध और राजस्थान में मिलती थीं इनके आपसी छेड़छाड़ के कारण बनती रहीं, और क्योंकि तुर्क अपना जमाव नये रूप से करने जा रहे थे इनको पद-पद पर कठिनता अनुभव करनी पड़ी। परन्तु इन सभी पराभवों का जिक्र मुस्लिम इतिहासकारों ने नहीं किया है क्योंकि ये सीमान्त झगड़े मात्र थे। केवल दो बार चौहान-तुर्क संघर्ष का वर्णन इन तवारीखों में मिलता है, क्योंकि ये दोनों संघर्ष ही एक प्रकार से निर्णायक रूप में लिये गये थे और उन दोनों का निकटतम समय था। दोनों सैनिक सम्बन्ध पहले की छेड़छाड़ के अन्तिम स्वरूपमात्र थे।

तराइन का प्रथम युद्ध (११९१ ई०)

११९१ ई० में मुहम्मद गोरी ने बड़ी तैयारी के साथ तबरहिन्द (सरहिन्द) को लेने के लिए प्रस्थान किया जिसमें उसे सफलता मिली। किले को काजी जियाउद्दीन को सुपुर्द कर वह पृथ्वीराज से लड़ने के लिए आगे बढ़ा। दोनों फौजें करनाल

---

[२३] हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ३, श्लो० १-४९, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १६१

[२४] सिन्धवी जैन ग्रन्थमाला, भा० २, पृ० ८७, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १८७

[२५] वही, भा० ६, पृ० ११७, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १८७

[२६] सुर्जन-चरित्र, १०, ११९-१३२, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १८७

[२७] प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० १८९-१९१, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १८७

निकट आ गये जिससे इनका सगठन चौहान शक्ति के लिए भय का कारण बन गया। कई मोर्चो पर तथा सीमाओ पर सैन्य-बल रखने से तथा अनुभवी सैनिक और सामन्तो के धराशायी होने से चौहानो का सैन्य-बल घट गया। ये समूचा बल विदेशी शत्रु के विरुद्ध आसानी से काम मे लाया जा सकता था। यदि समूची चौहान-चालुक्य-गहड-वाल-चन्देल शक्ति मिलकर काम करती तो पृथ्वीराज को एक नेतृत्व भी प्राप्त हो जाता और विदेशी शत्रु भी ढकेले जाते। अतएव यह दिग्विजय योजना जो पडोसी राज्यो के विरुद्ध अपनायी गयी थी, दूरदर्शिता से शून्य थी। इस नीति ने हर प्रकार से पृथ्वीराज की सैनिक स्थिति को निर्बल और गम्भीर बना दिया। वह यह नही सोच सका कि अपने निकटवर्ती राज्यो से भी अधिक भयानक शत्रु उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारी हैं। यदि इस सम्बन्ध मे दिग्विजय नीति का प्रयोग कुछ सूझबूझ के साथ किया जाता तो चौहान राज्य की परिस्थिति कुछ दूसरी होती और आगे से आने वाले तूफान से भारतवर्ष बच सकता।

पृथ्वीराज और तुर्क अभियान

हमने पहले पढा था कि गजनवी शासको का राज्य भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर तक प्रसारित था और वे सिन्ध, पजाब तथा राजस्थान के पश्चिमी भाग मे समय-समय पर घुसपैठ किया करते थे। जब गोरी-वश के शासक प्रबल हुए तो इनका आधिपत्य गजनी राज्य पर भी जमने लगा। गियासुद्दीन गोरी ने अपने छोटे भाई शाहबुद्दीन गोरी को ११७३ ई० मे गजनी का गवर्नर नियुक्त किया जिसने भाटी राजपूतो से उच और कर्मेथियनो से ११७५ ई० मे मुल्तान ले लिया। उसने अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए ११७८ ई० मे गुजरात लेने का भी प्रयत्न किया जिसमे भीमदेव चालुक्य ने उसे परास्त कर इस बात का परिचय दिया कि भारतीय राज्यो से टक्कर लेना सरल काम नही है। इस पराजय से वह हताश नही हुआ, वरन् उसने अपनी स्थिति को शक्तिशाली बनाने के लिए सिन्ध और पेशावर पर अधिकार स्थापित कर लिया। ११८१ ई० मे सियालकोट के दुर्ग के निर्माण द्वारा तथा ११८६ ई० मे खुसरू मलिक को परास्त कर लाहौर लेने द्वारा उसने अपनी शक्ति भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर सुदृढ बना ली।[२१]

पृथ्वीराज तृतीय जो इस समय तक अपने दिग्विजय की योजना को साकार बना चुका था, एक वृहद् राज्य का स्वामी था। उसका राज्य सतलज नदी से बेतवा तक और हिमालय के नीचे के भागो से लेकर आबू तक प्रसारित था।[२२] इस विशाल राज्य-सीमा की सुरक्षा करना उसका उत्तरादायित्व हो चुका था जिससे उसका सीधा

---

[२१] तबकात-ए-नासिरी, पृ० ४४९-४५१, तारीख-ए-फरिश्ता, भा० १, पृ० १६६, इलियट, भा० ९४-२९५, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १८६

[२२] टॉड, राजस्थान, भा० २, पृ० ९५८

सम्पर्क तुर्की राज्य-सीमा से होना स्वाभाविक था। चौहान और तुर्क एवं प्रथा ने निकट के पड़ौसी और शत्रु निर्धारित्त हो चुके थे। ऐसी स्थिति में यदि चौहान अपनी शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते थे तो उन्हें तुर्कों को उत्तर-पश्चिमी सीमान्त भागो से निकाल देना आवश्यक था और यदि शाहबुद्दीन तुर्की सल्तनत को निस्तारित्त करना चाहता था तो उसके लिए दिल्ली और अजमेर लेना आवश्यक था, जो भारतीय सत्ता के प्रमुख फाटक थे।

इस प्रकार की नवीन राजनीतिक स्थिति ने ११७८ से ११९० ई० के बीच चौहान-तुर्क छेडछाड को जन्म दिया। इन्हीं सीमान्त छेडछाड की घटनाओं को पृथ्वीराजरासो ने राठौडो और तुर्कों की २१ वार मुठभेड होना लिखा है, जिसमे चौहानो को विजेता बताया है। हम्मीर महाकाव्य[२३] ने पृथ्वीराज का गोरी को सात वार परास्त करना लिखा है। पृथ्वीराज प्रवन्ध[२४] आठ बार हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का जिक्र करता है। प्रवन्ध कोष[२५] का लेख वीस वार गोरी का पृथ्वीराज द्वारा कैद कर मुक्त करना बताता है। सुर्जन चरित्र[२६] मे २१ वार और प्रवन्ध चिन्तामणि[२७] मे २३ वार गोरी का हारना अंकित है। इन अनेक वार की चौहान विजय मे अतिशयोक्ति हो सकती है परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि दोनो शक्तियो की सीमाएँ जो पंजाव, सिन्ध और राजस्थान में मिलती थी इनके आपसी छेडछाड के कारण वनती रही, और क्योंकि तुर्क अपना जमाव नये रूप से करने जा रहे थे इनको पद-पद पर कठिनता अनुभव करनी पडी। परन्तु इन सभी पराभवो का जिक्र मुस्लिम इतिहासकारो ने नही किया है क्योकि ये सीमान्त झगडे मात्र थे। केवल दो वार चौहान-तुर्क संघर्ष का वर्णन इन तवारीखो मे मिलता है, क्योकि ये दोनो संघर्ष ही एक प्रकार से निर्णायक रूप मे लिये गये थे और उन दोनो का निकटतम समय था। दोनो सैनिक सम्बन्ध पहले की छेडछाड के अन्तिम स्वरूपमात्र थे।

तराइन का प्रथम युद्ध (११९१ ई०)

११९१ ई० मे मुहम्मद गोरी ने बडी तैयारी के साथ तबरहिन्द (सरहिन्द) को लेने के लिए प्रस्थान किया जिसमे उसे सफलता मिली। किले को काजी जिया-उद्दीन को सुपुर्द कर वह पृथ्वीराज से लडने के लिए आगे बढा। दोनो फौजें करनाल

---

[२३] हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ३, श्लो० १-४९, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १६१

[२४] सिन्धवी जैन ग्रन्थमाला, भा० २, पृ० ८७, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १८७

[२५] वही, भा० ६, पृ० ११७, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १८७

[२६] सुर्जन-चरित्र, १०, ११९-१३२, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १८७

[२७] प्रवन्ध चिन्तामणि, पृ० १८९-१९१, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ चौहान्स, पृ० १८७

जिले के तराडन के मैदान मे आ पहुँची। पृथ्वीराज ने गोरी की फौज के वाम और दक्षिण पार्श्व को क्षति पहुँचायी, फिर भी तुर्की फौजे लडती रही। गोरी ने अपने भाले का वार दिल्ली के राजा गोविन्द राय के विरुद्ध किया जिससे उसके दोनो दाँत निकल आये। राय ने प्रत्युत्तर मे अपने भाले को ऐसा मारा कि सुलतान स्वय बुरी तरह से घायल हो गया। उसके साथी सुल्तान को लेकर अपनी जान वचाने के लिए भाग निकले। वची हुई फौज मे भी भगदड मच गयी और वे सभी इधर-उधर भटकते हुए गजनी जा पहुँचे। पृथ्वीराज ने भी तवरहिन्द का दुर्ग काजी जियाउद्दीन से छीन लिया। काजी वन्दी वनाकर अजमेर ले जाया गया जहाँ से विपुल धन देकर उसे गजनी लौटा दिया गया। वताया जाता है कि जव भागता हुआ सुलतान जम्मू के निकट से गुजर रहा था तो वहाँ के राजा का एक शिष्ट-मण्डल उससे मिला जिससे उसे आपत्ति-काल मे वडी सान्त्वना मिली।[२८]

प्रथम तराइन का युद्ध तुर्को की पराजय की एक महान घटना है। सम्भवत आक्रमणकारियो को इस प्रकार का पराभव प्रथम वार अनुभव करना पडा था। परन्तु जैसा कि मिनहाज लिखता है कि शीघ्र ही मैदान से भागी हुई तुर्की फौजे आगे जाकर फिर सम्मिलित हो गयी और वे सकुशल गजनी पहुँच गयी। वैसे तो तुर्को के विरुद्ध लडे गये युद्धो मे तराइन का प्रथम युद्ध हिन्दू विजय का एक गौरवपूर्ण अध्याय है, परन्तु इस युद्ध मे की गयी भूल भारतीय भ्रम का एक कलकित पृष्ठ है। पृथ्वीराज ने यह कभी प्रयत्न नही किया कि इस विजय को एक स्थायी विजय वनाया जाय। विजय के आनन्द से मग्न होकर उसने पराजित सैनिको का, जो अस्त-व्यस्त अवस्था मे थे, पीछा न किया। कुछ लोग इसको पृथ्वीराज की उदारता मानते हैं। परन्तु डा० दशरथ शर्मा[२६] उसका शैथिल्य कहते हुए लिखते है कि वैसे तो उदारता का प्रतिपादन हिन्दू शास्त्रो मे मिलता है, परन्तु ऐसी उदारता का मेल न तो सैनिक नियमो से है न मुस्लिम युद्ध-प्रणाली से। यह वास्तव मे उसकी भारी भूल ही मानी जानी चाहिए। इसके विपरीत सयोगिता के अपहरण और कन्नौज को पददलित करने मे लगकर उसने एक वहुत वडा शत्रु अपने विरुद्ध उत्पन्न कर लिया। अन्यथा सम्भवत मुहम्मद गोरी के दूसरे आक्रमण के समय कन्नौज की सहायता वडी उपादेय सिद्ध होती। इतना ही नही, सयोगिता से विवाह करने के वाद पृथ्वीराज का जीवन पतनोन्मुख दिखायी देता है। उसने विलासी और प्रमादी होकर राजकीय तथा सैनिक कार्यो की ओर उपेक्षा वृत्ति धारण करली, जिससे वह अपने विशाल राज्य को भली-

२८ तवकाते नासिरी, भा० १, पृ० ४५६-४६४

२६ "This sort of ideal magnanimity though in tune with the dictates of Hindu *Shastras*, was altogether unwarranted by the rules of warfare as understood now and as unerstood then by the Muslim adversaries of Prithviraja It was one of the greatest blunders of his life" —*Rajasthan Through the Ages*, p 297

भाँति न सँभाल सका। यहाँ तक कि जहाँ पराजित शत्रु अपने पराजय का बदला लेने की पूरी तैयारी कर रहा था वहाँ पृथ्वीराज अपने उत्तर-पश्चिमी सीमान्त भागो की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध न सोच सका। उसने शत्रु को परास्त कर दिया परन्तु उसे नष्ट करने पर उसने कोई ध्यान न दिया।

द्वितीय तराइन का युद्ध (११६२ ई०)

शाहबुद्दीन को तराइन की पराजय का अत्यन्त क्षोभ हुआ। गजनी पहुँच कर उसने उन सैनिक अधिकारियो को, जो युद्धस्थल से भाग निकले थे, सार्वजनिक रूप मे अपमानित किया। उसने शीघ्र ही नये ढग से युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। इस सम्बन्ध मे वह इतना अधिक व्यग्र था कि उसके लिए आराम हराम था। सम्भवत दूसरे मोर्चो के सम्बन्ध मे उसने जयचन्द्र से भी बातचीत का सिलसिला स्थापित कर रखा था। उसने अपनी सेना मे तुर्क, ताजिक और अफगानो को सम्मिलित किया और उन्हे उपयुक्त शस्त्रो से सुसज्जित किया। जब उसके सैनिको की सख्या १,२०,००० हो गयी तो वह लाहौर और मुल्तान के मार्ग से फिर उसी मैदान मे आ डटा जहाँ उसे करारी हार मिली थी। हसन निजामी लिखता है कि जब वह लाहौर पहुँचा तो उसने पृथ्वीराज के पास एक दूत के द्वारा यह सवाद भिजवाया कि वह इस्लाम को स्वीकार कर ले और गोरी की अधीनता मान ले। पृथ्वीराज ने प्रत्युत्तर मे यही कहलवा भेजा कि उसे अपने मुल्क लौट जाना चाहिए, अन्यथा उनकी भेट युद्ध-स्थल मे होगी। मुहम्मद गोरी शत्रु को छल से भी विजय करना चाहता था, इसलिए उसने दुबारा दूत भेजकर उसे यह आश्वासन दिलाया कि वह युद्ध की अपेक्षा सन्धि करना अच्छा मानता है और इसीलिए इसके सम्बन्ध मे उसने एक दूत अपने भाई के पास भेजा है। ज्योही उसे गजनी से आदेश प्राप्त हो जायेगे वह स्वदेश लौट जायगा। सन्धि के सम्बन्ध मे उसने बताया कि पजाब, मुल्तान और सरहिन्द को लेकर वह सन्तुष्ट रहेगा।[३०]

इस सन्धि-वार्ता ने पृथ्वीराज को भुलावे मे डालने का काम किया। वह थोडी-सी सेना लेकर तराइन की ओर बढा, बाकी सेना जो स्कन्द के साथ थी वह उसके साथ न जा सकी। उसका दूसरा सेनाध्यक्ष उदयराज भी समय पर राजधानी से रवाना न हो सका। उसका मन्त्री सोमेश्वर जो युद्ध के पक्ष मे न था पृथ्वीराज द्वारा दण्डित किया गया अतएव वह शत्रुओ से मिल गया। जो सेनाएँ सीमान्त भागो पर लगी हुई थी उन्हें उसकी सेना के साथ मिलने के आदेश भिजवाये। पृथ्वीराज की सेना जो युद्ध-स्थल मे पहुँची, सन्धिवार्ता के भ्रम मे अपने खेमे मे रात-भर बडा आनन्द मनाती रही। इसके विपरीत मुहम्मद गोरी ने शत्रुओ को अधिक भ्रम मे रखने

---

[३०] हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ३, श्लो० ४६-७३, पृथ्वीराज रासो, पृ० २१६-२२६, तबकात-ए-नासिरी, भा० १, पृ० ४६४, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २६७

के लिए युद्ध-शिविर मे रात-भर आग जलाये रखी और सैनिको को शत्रुदल को घेरने की प्रणाली वाली चालो पर दूर-दूर स्थित कर दिया। ज्योंही प्रभात हुआ राजपूत सैनिक शौचादि कार्यो से निवृत्त होने विखर गये कि अचानक तुर्कों ने उन पर आक्रमण कर दिया। वास्तव मे ये कोई नियमित युद्ध न रहा। चारो ओर भगदड मच गयी। पृथ्वीराज जो हाथी पर चढकर युद्ध मे लडने चला था अपने घोडे पर बैठकर मैदान से लडता हुआ भाग निकला। भागता हुआ वीर सिरसा के आसपास पकडा गया और मार दिया गया। गोविन्दराय और अनेक सामन्त वीर योद्धा की भाँति लडते हुए काम आये।[३१]

युद्ध का परिणाम स्पष्ट था। तुर्कों ने भागती हुई राजपूत सेना का पीछा किया और उन्हे विखेर दिया। हाँसी, सिरसा, समाना, कोहराम, अजमेर और दिल्ली पर तुर्कों का आधिपत्य स्थापित हो गया। जहाँ तक पृथ्वीराज के अन्त का प्रश्न है उस सम्बन्ध मे हमे विभिन्न मत दिखायी देते है। पृथ्वीराजरासो[३२] मे पृथ्वीराज का अन्त गजनी मे दिखाया गया है जहाँ उसे नेत्रहीन कर शब्दभेदी वाण चलाने की परीक्षा की गयी थी, और उसमे मुहम्मद गोरी उसके वाण का शिकार बना था। इसी अवसर पर चन्दवरदाई भी वहाँ पहुँच चुका था जिसने स्वामी को कविता के माध्यम से लक्ष्य का वोध कराया। इस घटना के वाद दोनो ने आत्महत्या कर ली। रासो की यह कथा मान्यता प्राप्त नही है, क्योकि किसी भी दूसरे साधन से इसका अनुमोदन नही होता। हम्मीर महाकाव्य[३३] मे पृथ्वीराज को कैद करना और अन्त मे उसको मरवा देने का उल्लेख है। विरुद्धविधिविध्वस[३४] मे उसका युद्ध-स्थल मे काम आना लिखा है। पृथ्वीराज प्रवन्ध[३५] का लेखक लिखता है कि विजयी शत्रु पृथ्वीराज को अजमेर ले गये और वहाँ उसे एक महल मे वन्दी के रूप मे रखा गया। इसी महल के सामने मुहम्मद गोरी अपना दरवार लगाता था जिसको देखकर पृथ्वीराज को वडा दुख होता था। एक दिन उसने उसके मन्त्री प्रतापसिंह से धनुष-वाण लाने को कहा जिनसे वह अपने शत्रु का अन्त कर दे। प्रतापसिंह ने उसे उन्हे ला तो दिया परन्तु इसकी सूचना गोरी को दे दी। पृथ्वीराज की परीक्षा लेने के लिए गोरी की मूर्ति एक स्थान पर रख दी गयी जिसको उसने अपने वाण से ताड दिया। अन्त मे सुलतान ने उसे गड्ढे मे फिकवा दिया जहाँ पत्थरो की चोटो से उसका अन्त कर दिया गया।

[३१] तवकात-ए-नासिरी, भा० १, पृ० ४६६, फरिश्ता, भा० १, पृ० १७६

[३२] पृथ्वीराजरासो, वाणवोध प्रस्ताव, पृ० २३८७-२४६८

[३३] हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ३, श्लो० ६७-७२, इ० ए०, भा० ८, पृ० ६१

[३४] विरुद्धविधिविध्वस, श्लो० २३, इ० हि० क्वा०, सितम्वर १९४०, भा० १६, पृ० ५७, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ दि चौहान्स, पृ० १८८-१९०

[३५] सिंघवी जैन ग्रन्थमाला, भा० २, पृ० ८७

दो समसामयिक लेखक—यूफी और हसन निजामी पृथ्वीराज को कैद किया जाना तो लिखते हैं, परन्तु निजामी यह भी लिखता है कि जब बन्दी पृथ्वीराज, जो इस्लाम का शत्रु था, सुल्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र करता हुआ पाया गया तो उसकी हत्या कर दी गयी। मिनहाज-उस-सिराज उसको भागने पर पकड़ा जाना और फिर मरवाया जाना लिखता है। फरिश्ता भी इसी कथन का अनुमोदन करता है। सिर्फ अबुल फजल लिखता है कि पृथ्वीराज को सुल्तान गजनी ले गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गयी।[३६]

इन विभिन्न आधारो मे अधिकाश वे आधार हैं जो पीछे के है। उनको अक्षरश मानने पर हम किसी ठीक नतीजे पर नही पहुँचते। अलबत्ता यूफी और निजामी समसामयिक अवश्य हैं, परन्तु वे पृथ्वीराज के अन्त के सम्बन्ध मे पूरा वर्णन नही देते। फिर भी स्थानीय और फारसी ग्रन्थो के अन्वेषण द्वारा हम किसी अनुमान को निर्धारित अवश्य कर सकते हैं। निजामी लिखता है कि पृथ्वीराज को कैद किया गया और वह तब मार दिया गया जब वह किसी षड्यन्त्र मे भाग लेने से दोषी समझा गया। यह संकेत पृथ्वीराज प्रबन्ध द्वारा दिये गये कथानक से मेल खाता है। इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सम्भवत पृथ्वीराज अजमेर ले जाया गया हो और वहाँ उसे सुलतान के अधीन रहकर शासन करने को कहा गया हो। परन्तु इस स्थिति को सम्मानित न समझ पृथ्वीराज ने इस पर सुलतान के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र रचा हो। इस कल्पना का अनुमोदन मुहम्मद गोरी द्वारा प्रचलित मुद्राओं[३७] से होता है जिसके एक ओर पृथ्वीराज का और दूसरी ओर मुहम्मद साम का नाम अंकित है। मुहम्मद द्वारा पृथ्वीराज के लडके को आश्रित शासक बनाना भी इसी विचार का अनुमोदन करता है।

पृथ्वीराज की पराजय के कारण

बहुधा यह बताया जाता है कि पृथ्वीराज ठण्डे मुल्क से आने वाले, मांसाहारी तथा बलिष्ठ शत्रुओ का मुकाबला करने मे असमर्थ होने के कारण पराजित हुआ। ऐसी मान्यता भ्रमात्मक है क्योकि इसी पृथ्वीराज ने अपने उन्ही शत्रुओ को एक वर्ष पूर्व उसी मैदान मे ऐसा पराजित किया था कि वह वर्ष भर पूरी नीद न ले सका। अतएव दूसरे तराइन के युद्ध मे पृथ्वीराज के हार के कारण कुछ और ही थे, जो गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण थे। वास्तव में, यह युद्ध सुव्यवस्थित और अव्यवस्थित सैन्य-संगठन का था। मुहम्मद गोरी प्रारम्भ से ही चुने हुए सुसज्जित सैनिको को इस बार

---

[३६] इलियट, भा० २, पृ० २००,२१५,२९७, तबकात-ए-नासिरी, भा० १, पृ० ४६५-४६६, फरिश्ता, भा० १, पृ० १७७, आइन-ए-अकबरी, भा० २, पृ० १०६-०७

[३७] थोमस, क्रोनिकल्स ऑफ पठान किंग्ज ऑफ देहली, पृ० १७-१८, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ८७

के लिए युद्ध-शिविर मे रात-भर आग जलाये रखी और सैनिको को शत्रुदल को घेरने की प्रणाली वाली चालो पर दूर-दूर स्थित कर दिया। ज्योही प्रभात हुआ राजपूत सैनिक शौचादि कार्यो से निवृत्त होने बिखर गये कि अचानक तुर्कों ने उन पर आक्रमण कर दिया। वास्तव मे ये कोई नियमित युद्ध न रहा। चारो ओर भगदड मच गयी। पृथ्वीराज जो हाथी पर चढकर युद्ध मे लडने चला था अपने घोडे पर बैठकर मैदान से लडता हुआ भाग निकला। भागता हुआ वीर सिरसा के आसपास पकडा गया और मार दिया गया। गोविन्दराय और अनेक सामन्त वीर योद्धा की भाँति लडते हुए काम आये।[३१]

युद्ध का परिणाम स्पष्ट था। तुर्कों ने भागती हुई राजपूत सेना का पीछा किया और उन्हे बिखेर दिया। हाँसी, सिरसा, समाना, कोहराम, अजमेर और दिल्ली पर तुर्कों का आधिपत्य स्थापित हो गया। जहाँ तक पृथ्वीराज के अन्त का प्रश्न है उस सम्बन्ध मे हमे विभिन्न मत दिखायी देते हैं। पृथ्वीराजरासो[३२] मे पृथ्वीराज का अन्त गजनी मे दिखाया गया है जहाँ उसे नेत्रहीन कर शब्दभेदी बाण चलाने की परीक्षा की गयी थी, और उसमे मुहम्मद गोरी उसके बाण का शिकार बना था। इसी अवसर पर चन्दबरदाई भी वहाँ पहुँच चुका था जिसने स्वामी को कविता के माध्यम से लक्ष्य का बोध कराया। इस घटना के बाद दोनो ने आत्महत्या कर ली। रासो की यह कथा मान्यता प्राप्त नही है, क्योकि किसी भी दूसरे साधन से इसका अनुमोदन नहीं होता। हम्मीर महाकाव्य[३३] मे पृथ्वीराज को कैद करना और अन्त मे उसको मरवा देने का उल्लेख है। विरुद्धविधिविध्वस[३४] मे उसका युद्ध-स्थल मे काम आना लिखा है। पृथ्वीराज प्रबन्ध[३५] का लेखक लिखता है कि विजयी शत्रु पृथ्वीराज को अजमेर ले गये और वहाँ उसे एक महल मे वन्दी के रूप मे रखा गया। इसी महल के सामने मुहम्मद गोरी अपना दरबार लगाता था जिसको देखकर पृथ्वीराज को बडा दुख होता था। एक दिन उसने उसके मन्त्री प्रतापसिंह से धनुष-बाण लाने को कहा जिनसे वह अपने शत्रु का अन्त कर दे। प्रतापसिंह ने उसे उन्हे ला तो दिया परन्तु इसकी सूचना गोरी को दे दी। पृथ्वीराज की परीक्षा लेने के लिए गोरी की मूर्ति एक स्थान पर रख दी गयी जिसको उसने अपने बाण से तोड दिया। अन्त मे सुलतान ने उसे गड्ढे मे फिकवा दिया जहाँ पत्थरो की चोटो से उसका अन्त कर दिया गया।

---

३१ तबकात-ए-नासिरी, भा० १, पृ० ४६६, फरिश्ता, भा० १, पृ० १७६

३२ पृथ्वीराजरासो, बाणवेध प्रस्ताव, पृ० २३८७-२४६८

३३ हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ३, श्लो० ६७-७२, इ० ए०, भा० ८, पृ० ६१

३४ विरुद्धविधिविध्वस, श्लो० २२, इ० हि० क्वा०, सितम्बर १९४०, भा० १६, पृ० ५७, डा० सिंह, हिस्ट्री ऑफ दि चौहान्स, पृ० १८८-१९०

३५ सिंघवी जैन ग्रन्थमाला, भा० २, पृ० ८७

भारत मे लाया था जिन्हे हर प्रकार की परिस्थिति मे नये सैनिक आचरण करने की शिक्षा प्राप्त थी।[३८] मिनहाज के वर्णन से स्पष्ट है कि अपनी वडी सेना को मुहम्मद ने कई भागो मे इस प्रकार बाँट दिया था कि प्रत्येक भाग को सक्रिय होकर काम करना पडे। भारी और अनावश्यक सामान को उसने पीछे ही छोड दिया, जिसमे हाथी, झण्डे, ध्वजा, पताका, चन्दवे आदि थे। द्रुत गति वाले घुडसवारो को चार भागो मे इस तरह विभाजित किया था कि वे शत्रुओ को चारो दिशाओ से घेरे रहे और उन पर आक्रमण करे। शत्रु सैन्यो और तुर्की घुडसवारो के बीच दस हजार तीरन्दाजो को जमा दिया था जो सतत् रूप से शत्रु पर तीरो की बौछार किया करें। इस सम्पूर्ण व्यवस्था मे राजपूतो को छकाने और उनमे अव्यवस्था पैदा करने का अभिप्राय था। जैसी कि मुहम्मद ने शत्रुओ को विथकित करने की योजना वनायी थी वह पूर्णरूपेण सफल हुई।[३९]

इस योजना के विपरीत राजपूतो का सैन्य-सगठन परम्परागत पद्धति पर आधारित था। स्वय पृथ्वीराज और उसके सैनिक प्रथम तराइन युद्ध से कुछ नयी शैली समझने या उसको व्यवहार मे लाने मे सक्रिय नही रहे। राजपूतो की सेना की सख्या तो किसी प्रकार कम नही थी परन्तु उस सेना के नायक विभिन्न मान्यता और पद के थे। उसके साथ लडने वाले लगभग १५० राय[४०] थे जो अपने-अपने दलो को अपनी दलवन्दी मे रखकर लडने की प्रणाली से अभ्यस्थ थे। केन्द्रीय अनुशासन मे रहकर एक शैली से लडना राजपूत शैली के विरुद्ध था। प्रत्येक दल अपनी मान्यता के अनुकूल वडी वीरता से लडना जानता था परन्तु एक नेतृत्व मे सयुक्त प्रणाली को अपनाना उनके लिए कठिन था। इस आधार रूप कमी के साथ पृथ्वीराज की फौज मे अपनी निजी फौज की सख्या कम थी। उसकी वहुत-सी सेना तो तराइन के मैदान मे पहुँचने ही नही पायी थी, क्योकि सीमान्त भागो मे पृथ्वीराज को अपने अन्य शत्रुओ से बचाव के लिए सेना को लगाये रखना पडा था। कई अच्छे सैनिक प्रथम तराइन युद्ध और उसके दिग्विजय योजना मे काम आ चुके थे। ऐसी स्थिति मे वचे-कुचे योद्धाओ को लेकर पृथ्वीराज को इस युद्ध मे जाना पडा था। केन्द्रीय सेना की यह स्थिति भी पराजय का एक वहुत वडा कारण थी।

इसके अतिरिक्त तुर्क व्यवस्था से ही नही लड रहे थे, उन्होने धोखा और चाल को भी युद्ध शैली का एक अग वनाया था। प्रारम्भ मे ही सन्धि-वार्ता से राजपूतो मे शिथिलता पैदा कर देना मुहम्मद गोरी की एक सफल चाल थी। इसके अतिरिक्त अपने खेमे मे रात-भर आग जलाकर मुहम्मद गोरी ने राजपूतो को इस भुलाव मे डाल दिया कि शत्रु-दल मे युद्ध के लिए कोई तैयारी नही है। ज्योही सुवह हुआ और शौचादि

---

[३८] तवकात-ए-नासिरी, भा० १, पृ० ४६४

[३९] तवकात, भा० १, पृ० ४६८, फरिश्ता (ब्रिग्ज), पृ० १७६-७७

[४०] ब्रिग्ज, तारीख-ए-फरिश्ता, भा० १, पृ० १७३-१७८

कार्य मे राजपूत लगे, सजी हुई गोरी की सेना ने उन पर हमला बोल दिया। यह चाल राजपूतो मे भगदड पैदा करने मे बडी उपयोगी साबित हुई। एक अर्थ मे सजग सेना का और असावधान सेना का मुकाबला तराइन के द्वितीय युद्ध मे था, जिसके फल-स्वरूप असावधान सेना को पराजित होना पडा।

पृथ्वीराजरासो तथा हम्मीर महाकाव्य आदि के लेखक किसी न किसी धोखे-बाजी की चाल का आश्रय लेकर राजपूत पराजय का सन्मार्जन करते है। बताया जाता है कि पृथ्वीराज के अश्वाधिपति को शाहबुद्दीन ने अपनी ओर मिला लिया था जिसने पृथ्वीराज के लिए एक ऐसा घोडा युद्ध के लिए रख छोडा था जो नाचने मे निपुण था। इस घोडे का नाम नाट्यरम्भा था, ज्योही पृथ्वीराज युद्ध के लिए इस घोडे पर चढा तो वह नाचने लगा और इसके कारण राजपूत वीर युद्ध मे इसे आगे न धकेल सका। यह कथा युद्ध की पराजय को छिपाने का एक साधन-मात्र है। वास्तव मे पृथ्वीराज पहले हाथी पर बैठकर लडने चला था जैसा समसामयिक और निकट सामयिक साधन बताते है। पृथ्वीराज प्रबन्ध यह लिखता है कि पृथ्वीराज का एक मन्त्री प्रतापसिंह शत्रु से मिल गया था जिसने अपने स्वामी को हराने के भेद शत्रु को बता दिये थे।[४१]

इसमे कोई सन्देह नही कि मुहम्मद गोरी ने इस युद्ध मे छल से भी काम लिया था, परन्तु घोडे बदलने या मन्त्री के मिलाने आदि के कारणो द्वारा पृथ्वीराज की मौलिक भूलो पर परदा नही डाला जा सकता और न मुहम्मद गोरी द्वारा अपनायी गयी ठोस सैनिक व्यवस्था की ही उपेक्षा की जा सकती है। वास्तव मे पृथ्वीराज तुर्कों की चाल को नही समझने पाया, वह उसकी भारी भूल थी। गोरी ने द्रुतगति वाले घुडसवारो और तीरन्दाजो का ऐसा मेल बिठा रखा था कि वे एक-दूसरे के पोषक बने रहे और शत्रुओ को छकाने मे उपयोगी सिद्ध हुए। साथ ही साथ गोरी ने १२ हजार घुडसवारो का जत्था 'निग्रह' के रूप मे रख छोडा था जिसका उपयोग राजपूतो की सेना मे प्रात नौ बजे पैदा होने वाली अव्यवस्था के समय किया गया। इस 'निग्रह' के जत्थे ने रही-सही विजय की उम्मीद पर पानी फेर दिया।[४२]

इन कारणो के अतिरिक्त पृथ्वीराज की मौलिक भूल की भी उपेक्षा नही की जा सकती जिसके लिए वह स्वय उत्तरदायी था। उसने प्रथम तराइन के युद्ध को अन्तिम युद्ध समझ, सैनिक निश्चिन्तता और उपेक्षा का आचरण किया। उसने उत्तर-पश्चिमी सीमा को सुरक्षित रखने का कोई उपाय न सोचा। यदि प्रारम्भ से ही इस सम्बन्ध मे सावधानी काम मे लायी जाती तो तराइन तक आने की तुर्कों की हिम्मत न होने पाती। इन सैनिक असावधानियो के साथ-साथ प्रथम तराइन युद्ध के

---

[४१] इ० ए०, भा० ८, पृ० ६१, सिन्धवी जैन ग्रन्थमाला, भा० २, पृ० ८७, सिंह, हिस्ट्री ऑफ दि चौहान्स, पृ० २०२-२०४

[४२] तबकात, भा० १, पृ० ४६८

वाद सयोगिता के परिणय और इससे होने वाले वैमनस्य को वढावा देकर उसने अपनी आन्तरिक स्थिति को खोखला कर दिया। इस परिणय से उसका दैनिक आचरण भी विगड गया, जिसके फलस्वरूप उसमे शिथिलता, प्रमाद, विलासप्रियता आदि दुर्गुण घर कर गये। वताया जाता है कि जिस समय गोरी के आक्रमण की सूचना उसे मिली वह अन्त पुर की रगरेलियो मे व्यस्त था। हो सकता है यह वात पीछे से गढ दी गयी हो, परन्तु इसमे सन्देह नही कि पृथ्वीराज का पिछला जीवन विलासप्रिय हो गया था जिससे वह आने वाली आपत्ति की कल्पना न कर सका।

पृथ्वीराज का व्यक्तित्व

इस पराजय के वाद पृथ्वीराज की जीवन-लीला और प्रतिष्ठा सभी समाप्त हो जाते है। फिर भी पृथ्वीराज मे हम एक वीर, साहसी और विलक्षण शासक के गुण पाते है। अपने राज्यकाल के आरम्भ से लेकर अन्त तक वह युद्ध लडता रहा जो उसके एक अच्छे सैनिक और सेनाध्यक्ष होने को प्रमाणित करता है। सिवाय तराइन के दूसरे युद्ध के वह सभी युद्धो मे विजयश्री का भागी वना जो कम गौरव की वात नही है। तराइन के दूसरे युद्ध मे वह पराजित हुआ परन्तु इसमे सन्देह नही कि युद्ध-स्थल मे वह बडे लम्वे समय तक लडता रहा। वन्दी वन जाने पर भी उसने आत्मसम्मान को ध्यान मे रखते हुए आश्रित शासक बनने की अपेक्षा मृत्यु को प्राथमिकता दी। एक अच्छे और आत्माभिमानी के गुणो के साथ-साथ उसमे विद्यानुराग था। स्वय अच्छा गुणी होने के साथ-साथ वह गुणीजनो का सम्मान करने वाला था। पृथ्वीराज विजय का लेखक जयानक, विद्यापति गौड, वागीश्वर, जनार्दन, विश्वरूप तथा पृथ्वीभट्ट उसके दरवारी लेखक और कवि थे, जिनकी कृतियाँ उसके समय को अमर वनाये हुए हैं। पृथ्वीराजरासो का भी तथाकथित लेखक चन्द्रवरदाई उसी का आश्रित कवि वताया जाता है जो भाषा का सर्वोपरि लेखक था। उसके दरवार मे अन्य भी कई पण्डित और विद्वान थे जिनके शास्त्रार्थ और वाद-विवाद पद्मनाथ नामक मन्त्री के विभाग द्वारा आयोजित होते रहते थे। डा० दशरथ शर्मा[४३] ने उसे इन्ही गुणो के आधार पर एक सुयोग्य और रहस्यमय शासक कहा है।

परन्तु इन गुणो के साथ-साथ हम उसमे एक अपरिपक्व सेनाध्यक्ष और अदूरदर्शी राजनीतिज्ञ के दोषो को पाते हैं। अपने यौवन के जोश मे उसने चारो ओर दिग्विजय की दुन्दुभी वजा दी, लेकिन वह इसकी कल्पना न कर सका कि उसने इसमे अपने राज्य के चारो ओर शत्रुओ का जाल विछा दिया। प्राचीन भारतीय शासको के समय दिग्विजय का एक औचित्य था, जब सार्वभौम सत्ता को स्थापित कर देश मे शान्ति का प्रसार करना एक लक्ष्य होता था। परन्तु पृथ्वीराज ने यह नही सोचा कि स्थानीय युद्धो से विदेशी शत्रु का मुकावला करने की व्यवस्था करना अधिक आवश्यक है। जव

---

४३ "One of the most brilliant and romantic rulers of Hindu India" —*Rajasthan Through the Ages*, p 299

अकेली चालुक्यो की शक्ति मुहम्मद गोरी को ११७८ ई० मे खामहरड के मैदान मे पछाड सकती थी और ११९१ ई० के प्रथम तराइन के युद्ध मे चौहान तुर्कों को परास्त कर सकते थे तो कोई सन्देह नही कि चालुक्य-चौहान शक्ति मिलकर दूसरे तराइन के युद्ध मे गोरी को छका सकते थे। यदि इस गुट के साथ गह्डवाल मिला लिये जाते तो भारतीय विजय मे कोई आशका नही रहती। बात तो यह थी कि पृथ्वीराज निरा २५-२६ वर्ष का नया वीर था जो देश की व्यापक स्थिति का पयवेक्षण करने मे असमर्थ था। उसकी यह भी सामर्थ्य न थी कि शत्रु के छल की चालो को भलीभाँति समझ सके और सत्यासत्य का निर्णय ले सके। उसे अपने सहयोगियो को चुनने की भी कम क्षमता थी। वह उस समय का एक विलक्षण साहसी वीर था जो कूटनीति और धोखाधडी मे सन्तुलन न कर सका। अन्त मे डा० शर्मा[४४] इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि उसको सैनिक भूलो के लिए क्षमा नही किया जा सकता। तराइन के युद्ध के ठीक पहले उसके आचरण न तो एक सुयोग्य योद्धा के थे, न एक सेनानायक के वरन् एक नये सिखद्दड के थे।

(२) चौहानो की अन्य शाखाएँ और तुर्कों से विरोध

द्वितीय तराइन के युद्ध से भारतीय राजनीति मे एक नया मोड आया। परन्तु इसका यह अर्थ नही था कि तराइन के बाद चौहानो की शक्ति समाप्त हो गयी। लगभग एक शताब्दी तक चौहानो की शाखाएँ जो रणथम्भौर, जालौर, नाडौल तथा चन्द्रावती और आबू मे शासन कर रही थी राजपूत शक्ति की धुरी बनी रही। इन्होने सुल्तानो की सत्ता का समय-समय पर मुकाबला कर अपने शौर्य और अदम्य साहस का परिचय दिया। इन शाखाओ मे हम प्रमुख रूप से रणथम्भौर और जालौर के चौहानो का वर्णन करेंगे।

(अ) रणथम्भौर के चौहान

रणथम्भौर के प्रारम्भिक चौहान शासक

तेरहवी शताब्दी मे रणथम्भौर मे चौहानो का शासन था। यहाँ के चौहान वश का पृथ्वीराज तृतीय से निकट सम्बन्ध था। गोविन्द, जो इस वश का प्रथम सस्थापक था, पृथ्वीराज का पुत्र था। उसके उत्तराधिकारी क्रमश वाल्हण, प्रल्हादन और वीरनारायण थे। वीरनारायण को इल्तुतमिश की सेना से सफल मुकाबला करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, परन्तु सुलतान ने उसका दिल्ली मे वध करवा दिया। उसके उत्तराधिकारी वागभट्ट ने भी दिल्ली से भेजे गये तुर्क अधिकारियो से अपने पैतृक

४४ "Such Conduct on the eve of an important engagement must be regarded as inexcusable The king's behaviour just before the second battle of Tarain was neither that of a hero nor of a great-general, awake to all the possibilities and probabilities of warfare, but that of a noice in art of finesee and of a common revellers "
—*Rajasthan Through the Ages*, p 301

राज्य को बचाया। उसके पुत्र जैत्रसिंह ने नासिरुद्दीन द्वारा भेजी गयी सेना को रणथम्भौर लेने मे असफल किया, परन्तु उसे कर देने के लिए विवश होना पडा।[४५] जब वागभट्ट के पीछे उसका पुत्र जयसिंह गद्दी पर बैठा तो उसने अपने वश की प्रतिष्ठा को परमार, कच्छप तथा मुसलमानो के साथ युद्ध लडकर बनाये रखा।

हम्मीर चौहान—रणथम्भौर के प्रतिभासम्पन्न शासको मे हम्मीर का नाम सर्वोपरि है। भाग्यवश हम्मीर के काल की घटनाओ को जानने के साधन कम नही है, जिनमे कुछ समसामयिक है तो कुछ पीछे के। अमीर खुसरो और बरनी अलाउद्दीन के रणथम्भौर सम्बन्धी अभियानो का वर्णन देते हैं। इस वर्णन का हम्मीर महाकाव्य (नयचन्द्र सूरि) और सुर्जनचरित्र की सहायता से तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। हम्मीर रासो (जोधराज) तथा हम्मीरहट्ट (चन्द्रशेखर) नामक भाषा के काव्यो से भी कुछ घटनाओ पर प्रकाश पडता है।

हम्मीरदेव जैत्रसिंह का तीसरा पुत्र था। सम्भवत सभी पुत्रो मे योग्यतम होने के कारण उसके पिता ने उसका राज्यारोहण उत्सव १२८२ ई० मे अपने जीवन-काल मे ही सम्पन्न कर दिया था।[४६] शासन का भार सँभालते ही उसने १२८८ ई० तक दिग्विजय को सम्पादन कर बडी ख्याति प्राप्त की और रणथम्भौर के राज्य की सीमा को बढाया। अलबत्ता दिग्विजय के अन्तर्गत वे भी राज्य सम्मिलित थे जिनसे कर ही लिया जाता था या जिनसे विपुल धनराशि लेकर विमुक्त कर दिया जाता था। उसने सर्वप्रथम अर्जुन नामक भीमरस के शासक को परास्त किया और माण्डलगढ से कर वसूल करने की व्यवस्था की। यहाँ से उसने दक्षिण मे प्रयाण किया। इस प्रयाण के अवसर पर परमार शासक भोज को परास्त किया। तदनन्तर वह उत्तर की ओर चित्तौड, आबू, वर्धनपुर (काठियावाड), पुष्कर, चम्पा होता हुआ स्वदेश लौटा। इस अभियान मे त्रिभुवनगिरि के शासक ने उसकी अधीनता स्वीकार की थी। इस बृहद् दिग्विजय के बाद समय-समय पर वह अपनी विजयी फौजो को आसपास के भागो मे भेजता रहता था जिनमे मालवा मुख्य था। यहाँ से उसे हाथी, धन और जन प्राप्त होते थे। अपनी दिग्विजय के अनन्तर उसने कोटियज्ञो का आयोजन किया जिससे उसकी प्रतिष्ठा मे अभिवृद्धि हुई।[४७]

हम्मीर ने थोडे ही समय मे रणथम्भौर को विस्तारित राज्य मे परिणित कर दिया था जिसमे शिवपुर जिला (ग्वालियर मे), बलवन (कोटा राज्य मे), शाकम्भरी

---

४५ हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ४, श्लो० ३२, ४१-७५, १२२-२३, १२६, ताजउल-मासीर, इ० डा०, भा० २, पृ० २१८, तबकात-ए-नासिरी, इ० डा०, भा० २, पृ० २३४, ३७०, डा० दशरथ शर्मा, दिअर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १०२-१०६

४६ हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ४, श्लो० १५६, सर्ग ७, श्लो० ५५-५६

४७ हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ६, श्लो० ६६, ए० इ०, भा० १६, पृ० ४६, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १०७-०८

आदि सम्मिलित थे। मेवाड के शासक समरसिंह को परास्त कर उसने अपनी धाक राजस्थान मे जमा दी थी। आबू के शासक प्रतापसिंह को दबाकर जो गुजरात के बाघेला सारगदेव का सामन्त था, हम्मीर ने अपनी शक्ति का परिचय दिया था।

हम्मीर और जलालुद्दीन खलजी—रणथम्भौर के चौहान तथा हम्मीर अपनी शक्ति इतनी इसीलिए बढाने पाये थे कि बलबन की मृत्यु के बाद तथा जलालुद्दीन के सिंहासनारूढ होने की अवधि (१२८७-१२९०) तक दिल्ली मे अराजकता थी, और इसी अवधि मे हम्मीर को अपने प्रभाव को बढाने का अच्छा अवसर मिल गया था। परन्तु जब दिल्ली सल्तनत की बागडोर जलालुद्दीन के हाथ मे आयी तो वह चौहानो की बढती हुई शक्ति को समाप्त करने पर उतारू हो गया। उसने १२९० ई० मे जाहिन के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया जिसमे उसे सफलता मिली। इस दुर्ग को बचाने का हम्मीर ने प्रयत्न किया परन्तु गुरदास सैनी, जिसने चौहान सेना का नेतृत्व किया था, मारा गया और तुर्क सेना रणथम्भौर की ओर आगे बढी। गढ को लेने के लिए मजनिक, सेवात तथा गरगछ बनाने की व्यवस्था की गयी परन्तु उसे लेने के सभी प्रयत्नो मे असफलता मिलने के कारण सुल्तान को दिल्ली लौट जाना पडा। ज्योंही सुल्तान की सेना लौट गयी कि हम्मीर ने झाइन पर पुन अपना अधिकार स्थापित कर लिया। सुल्तान ने १२९२ ई० मे दुबारा किले को लेने का प्रयास किया परन्तु उसे निराश होना पडा।[४८]

हम्मीर और अलाउद्दीन खलजी—जब जलालुद्दीन की हत्या कर १२९६ ई० मे अलाउद्दीन दिल्ली का शासक बना तो उसने अपनी सत्तावादी नीति के अन्तर्गत रणथम्भौर जीतने की योजना बनायी। वह यह भलीभाँति जानता था कि यदि वह मालवा और गुजरात को अपने राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित करता है और दक्षिण अभियान को एक स्थायी घटना बनाता है तो उसे राजस्थान के दुर्गों को अपने अधिकार मे करना होगा। इसी नीति के तत्त्वावधान में सुल्तान ने रणथम्भौर विजय को अपनी उत्तरी भारत विजय का एक अग बनाया। दुर्ग पर आक्रमण के बहाने भी उसे मिल गये। एक तो यह था कि हम्मीर ने राज-कर देना बन्द कर दिया था और दूसरा यह था कि उसने मगोल विद्रोहियो को आश्रय दे रखा था। ये मगोल विद्रोही मुहम्मदशाह के नेतृत्व मे जालौर से उलुगखाँ और नसरतखाँ के खीमे से भागकर हम्मीर की शरण मे आ गये थे। उलुगखाँ ने उनसे गुजरात विजय से लायी गयी लूट का १/५ वाँ भाग माँगा था जिसको देने मे मगोलों ने आनाकानी की थी। जब ये विद्रोही हम्मीर के दरबार मे चले गये तो सुल्तान ने उसे अपने विद्रोहियो को लौटा देने को लिखा। हम्मीर ने इनको लौटा देना अपनी शान और वश-मर्यादा के विरुद्ध समझा और युद्ध के लिए तैयार हो गया।[४९]

---

[४८] अमीर खुसरो, मिफ्तुल फुतूह, इलियट-डाउसन, भा० ३, पृ० ५४०-४२, तारीख-ए-फिरोजशाही, इलियट-डाउसन, भा० ३, पृ० १४८

[४९] तारीख-ए-फिरोजशाही, इ० डा०, भा० ३, पृ० १४८

जव हम्मीर ने मगोलो को लौटाने के सम्वन्ध मे कोरा जवाव दिया तो अलाउद्दीन ने १२९९ ई० मे उलुगखाँ, अलफ्खाँ और वजीर नसरनखाँ के नेतृत्व मे एक वहुत वडी सेना रणथम्भौर विजय के लिए भेजी। जव ये सेना वनास नदी तक पहुँची तो उन्होने पाया कि इस नदी के आगे ऊवड-खावड भूमि होने से घुडसवारो की पक्ति उपयोगी सिद्ध नही होगी। इसलिए उन्होने अपनी सेना के पडाव वनास के किनारे डाल दिये और आसपास वस्ती और खेती को हानि पहुँचाना आरम्भ किया, जिससे चौहानो के अधिकार के प्रान्त मे अव्यवस्था हो जाय और भविष्य मे भी कोई उपज की सम्भावना न रहे। इस तरीके को इसलिए भी अपनाया गया था कि रणथम्भौर राज्य की आय के साधन नष्ट हो जायँ। जव अपने देश की इस दुर्गति का पता हम्मीर को चला, जो उन्ही दिनो कोटियज्ञ को समाप्त कर मुनिव्रत के नियम से आवद्ध था, तो उसने अपने दो सैनिक अधिकारियो को, जिनके नाम भीमसिंह और धर्मसिंह थे, शत्रु का मुकावला करने भेजा। राजपूत सेना ने वनास के किनारे पडी हुई शत्रु सेना पर हमला वोल दिया जिसमे तुर्कों की हार हुई। राजपूत सेना का भाग, जो धर्मसिंह के नेतृत्व मे था, लूट का माल लेकर रणथम्भौर लौट गया और भीमसिंह की टुकडी धीरे-धीरे दुर्ग की ओर चली। राजपूतो ने यह सोचा था कि वनास पर पडी हुई सेना ही सव कुछ थी, परन्तु तुर्कों की सेना, जो अलफ्खाँ के नेतृत्व मे थी, चारो ओर विखरी हुई थी। उस सेना ने लौटती हुई भीमसिंह की फौज पर धावा वोल दिया। हिन्दुवाट घाटी मे घमासान युद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप भीमसिंह और उसके सैकडो साथी रण-स्थल मे खेत रहे। उलुगखाँ ने राजपूतो का उस समय पीछा करना उचित नही समझा, वह दिल्ली लौट गया।[५०]

इस युद्ध की रणथम्भौर मे प्रतिक्रिया—जव भीमसिंह की मृत्यु के समाचार का पता हम्मीर को चला तो उसे वडा क्षोभ हुआ। उसने धर्मसिंह को इस पराभव का उत्तरदायी ठहराया और उसे अन्धा कर दिया। उसके पद पर उसने भाई भोज को नियुक्त किया। भोज उस समय की विगडी हुई स्थिति को न सँभाल सका, क्योकि राज्य मे तुर्क आक्रमण के कारण अव्यवस्था फैल रही थी और फसलें भी नष्ट हो चुकी थी। धर्मसिंह ने ऐसे समय मे हम्मीर को धन-सग्रह करने का आश्वासन दिलाया, यदि उसे इस सम्वन्ध के अधिकार दिये जायँ। हम्मीर ने विना सोचे-समझे भोज को पदच्युत कर दिया और उसे अपमानित भी किया। वह विवश होकर अपने भाई पृथ्वीसिंह के साथ अलाउद्दीन के दरवार मे चला गया जहाँ उसे जगरा की जागीर से सम्मानित किया गया। धर्मसिंह, जिसके हृदय मे अपने अपमान का वदला लेने की भावना छिपी हुई थी, राज्य का सर्वेसर्वा वन गया। उसने लोगो पर कई कर लगा दिये और वलात् उनसे धन-सग्रह करने लगा। इस नीति से हम्मीर की प्रजा मे असन्तोष वढने लगा। परन्तु अव हम्मीर के लिए अन्य कोई मार्ग न था, सिवाय इसके कि वह

---

५० हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ९, पृ० १०८-१५०, सारदा, हम्मीर, पृ० १६-१८

धर्मसिंह की राय पर चले। उसने उसकी सम्मति से डण्डनायक के पद पर रतिपाल को नियुक्त किया जो उपयुक्त व्यक्ति नही था। उलुगखाँ के अभियान के बाद जो नये परिवर्तन रणथम्भौर मे किये गये वे आगे चलकर हानिकारक सिद्ध हुए।[५१]

तुर्कों का रणथम्भौर लेने का विफल प्रयत्न—भोज ने दिल्ली मे आश्रय पाकर अलाउद्दीन को रणथम्भौर पर आक्रमण करने के लिए उकसाना शुरू किया। सुल्तान ने चौहान राज्य मे फूट जानकर एक बडी सेना से आक्रमण कर दिया। हम्मीर ने अपने भाई वीरम, सेनाध्यक्ष रतिपाल, जाजदेव और रणमल्ल तथा मगोल नेता मुहम्मदशाह, गरभरुक, तिचर और वैचर को शत्रु का मुकावला करने भेज दिया। दोनो पक्षो की हिन्दुवाट की घाटी मे मुठभेड हुई जिसके फलस्वरूप तुर्क सेना को परास्त किया गया। नयचन्द्रसूरि ने इस अवसर पर बन्दी बनायी गयी शत्रुओ की स्त्रियो के बारे मे लिखा है कि उन्हे गाँव-गाँव मट्ठा बेचने को लगाया गया जिससे सम्पूर्ण राज्य मे चौहानो की विजय का पता चल जाय। इसके अतिरिक्त मगोलो ने भोज की जागीर पर हमला बोल दिया जहाँ से उसके कुटुम्बी बन्दी बनाकर रणथम्भौर लाये गये।[५२]

उलुगखाँ का विफल प्रयत्न—जब अलाउद्दीन को इस पराभव का पता चला तो उसने एक बडी सुसज्जित सेना रणथम्भौर पर आक्रमण करने के लिए भेजी जिसका नेतृत्व उलुगखाँ और नसरतखाँ को सौपा गया। इस बार खलजी सेनाध्यक्ष हिन्दुवाट पार कर झाइन लेने मे सफल हो गया। ये सफलता उसे सम्भवत इसीलिए मिल सकी थी कि उसने हम्मीर से सन्धि-वार्ता के लिए आने का बहाना बनाया था। सन्धि मे उसने ये शर्तें रखी थी कि हम्मीर या तो चार लाख मोहरें, चार हाथी और अपनी पुत्री अलाउद्दीन को अर्पण करे या उसके चारो राजनीतिक मगोल विद्रोहियो को वापस दिल्ली भेज दे। हम्मीर ने इन शर्तो को ठुकराते हुए यह कहला भेजा कि वह युद्ध मे सुलतान के शरीर पर अपनी तलवार से उतने ही घाव करने के लिए उद्यत है जितनी मुहरें उसने माँगी जाती हैं। तुर्की सेना ने इस सन्धि-वार्ता की अवधि मे सुरगें तथा पाशिव बनाने का काम आरम्भ कर दिया। परन्तु राजपूत सेना ने उनको ऐसा करने मे पूर्ण सफल नही होने दिया। बल्कि जब नसरतखाँ प्राचीरो की तोड-फोड मे लगा हुआ था कि किले से आने वाले गोले के वार से वह मारा गया। इस घटना से तुर्क सेना मे आतक छा गया और वह झाइन तक फिर पीछे हट गयी।[५३]

अलाउद्दीन का आना और दुर्ग का पतन—ज्योही अलाउद्दीन को इस स्थिति का पता चला तो वह एक बडी सेना लेकर घटनास्थल पर उपस्थित हुआ। उसने वीरो

---

[५१] हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ९, श्लो० १५३-१५८, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ११०-११

[५२] हम्मीर महाकाव्य, सर्ग १०, श्लो० ३५-६१, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १११-१२

[५३] हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ११, श्लो० २३, ५४-७२

मे रेत भरवाकर खाइयो को भरना तथा ऊँचे स्थान बनाकर उन पर पाशिव और मगरिष स्थापित करने की व्यवस्था की जिससे राजपूतो के पश्चिमी मोर्चों को तोडा जा सके। जगह-जगह सुरगें भी खोदी गयी। राजपूत सैनिको ने दुर्ग के प्राचीरो से तेल से भीगे कपडो मे आग लगाकर उन पर फेंकना शुरू किया। दोनो पक्षो के प्रयत्न लम्बे समय तक चलते रहे। जब वर्षाऋतु निकट आने लगी और दिल्ली और अवध मे विद्रोह होने की सूचना सुलतान को मिलने लगी तो वह चिन्तित होने लगा। राजपूत भी किले मे रसद कम होने से व्यग्र थे। अन्त मे हम्मीर के सेनानायक रतिपाल और अलाउद्दीन मे सन्धि-वार्ता चली। सुल्तान ने किले को हम्मीर से छीनकर रतिपाल को देने का लोभ देकर अपनी ओर मिला लिया। रतिपाल जब किले मे गया तो उसने रणमल्ल को भी अपनी ओर मिला लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि रतिपाल ने कुछ प्राचीरो और बुर्जों से मोर्चेबन्दी हटा ली जहाँ से तुर्क सैनिक रस्सो और सीढियो से दुर्ग मे घुस पडे। हम्मीर ने आगे बढकर शत्रु सेना का सामना किया पर वह लडकर वीरोचित गति को प्राप्त हुआ। हम्मीर की रानी और पुत्री ने जौहर व्रत के द्वारा अपने धर्म की रक्षा की। दोनो स्वामीद्रोही, जो शत्रु शिविर मे पहुँच गये थे, और स्वार्थसिद्धि के अवसर की ताक मे थे, अलाउद्दीन की आज्ञा से मौत के घाट उतारे गये। सुल्तान ने उन्हें कृतघ्नता का उचित दण्ड दिया। मुहम्मदशाह जब जख्मी पडा हुआ था कि अलाउद्दीन की नजर उस पर पडी। उसने शीघ्र ही उससे यह प्रश्न किया कि यदि तुम्हारे घावो का उपचार कर तुम्हें ठीक कर दिया जाय तो तुम्हारा हमारे साथ कैसा व्यवहार रहेगा? वीर सैनिक ने उत्तर दिया कि मैं तुरन्त दो काम करूँगा, एक तो यह कि हम्मीर के पुत्र को रणथम्भौर की गद्दी पर बिठाऊँगा और दूसरा यह कि मैं तुझे कत्ल करूँगा। इस उत्तर से रुष्ट होकर सुलतान ने उसे मस्त हाथी के पैरो से कुचलवा दिया। परन्तु हृदय से उसने मगोल सैनिक की प्रशसा की और इसीलिए उसके अन्तिम सस्कार को विधिपूर्वक सम्पादित कराया।[५४] ११ जुलाई, १३०१ ई० मे दुर्ग पर तुर्कों का अधिकार स्थापित हो गया। इस विजय के उपरान्त दुर्ग की कई इमारतें और मन्दिर तोड दिये गये और उस पर उलुगखाँ का अधिकार स्थापित किया गया।

हम्मीर का मूल्याकन—हम्मीर के साथ रणथम्भौर के चौहानो का राज्य समाप्त हो गया और दुर्ग दिल्ली सल्तनत का भाग बन गया। यहाँ के चौहान शासक धर्म और साहित्य की अभिवृद्धि मे रुचि लेते थे। स्वय हम्मीर ब्राह्मणो का पोषक और धर्म-सहिष्णु था। उसमे विद्वानो के प्रति बडी श्रद्धा थी। विजयादित्य उसके समय का राज्य सम्मानित कवि था और राघवदेव उसका गुरु था। उसमे असीम उदारता और विचारो की दृढता थी। उसके बारे मे प्रसिद्ध है कि "तिरिया-तेल हम्मीर-हठ चढे न दूजी

५४ हम्मीर महाकाव्य, सर्ग १३, श्लो० ७१-८६, १३६-१६६, १६६-२२५, खजाने-उल-फतूह, पृ० ४०-४१, तवकात-ए-अकवरी, पृ० १६७, तारीखे फरिश्ता, पृ० १६७

बार।" इस कथन के अनुरूप उसने शरणार्थी की रक्षा के लिए राज्य और जीवन का त्याग कर इस कथन का अन्त तक आचरण किया। जहाँ हम हम्मीर के गुणो की प्रशसा करते हैं वहाँ हम उसकी भूलो की भी उपेक्षा नही कर सकते। उसने अपने पडोसी राज्यो से युद्ध छेडकर और उनसे धन का अपहरण कर अपने शत्रुओ की संख्या बढा ली। उसने अपने बडे शत्रु अलाउद्दीन के विरुद्ध सगठन करने की कोई चेष्टा न की। अपनी प्रजा को भी उसने कर-वृद्धि के द्वारा असन्तुष्ट कर दिया जिससे उसकी लोकप्रियता कम हो गयी। इन कमियो के होते हुए भी आज हम्मीर को लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, क्योकि उसने पैतृक राज्य के लिए व शरणागत की रक्षा के लिए तुर्कों से कई बार टक्कर ली और उसके फलस्वरूप वह वीरोचित गति को प्राप्त हुआ। डा० दशरथ शर्मा लिखते हैं कि "यदि उसमे कोई दोष भी थे तो वे उसके वीरोचित युद्ध, वश की प्रतिष्ठा की रक्षा तथा मगोल शरणागतो की रक्षा के सामने अगण्य हो जाते हैं।"[५५]

इस घटना मे दो विषय बडे रोचक है। सबसे बडी बात इस सम्बन्ध मे यह है कि हम्मीर ने अपने सर्वतोन्मुखी नाश के मुकाबले अपने शरणागतो की रक्षा को सबसे अधिक मूल्यवान समझा। दूसरी बडी बात यह है कि जिन शरणार्थियो के लिए हम्मीर ने अपना सर्वनाश का आह्वान किया था उन्होने भी अपने प्राणो को अपने स्वामी के लिए न्योछावर कर दिया। मुहम्मद ने अन्त समय तक अपने रक्षक के वश के अभ्युदय की कामना की जो बडे महत्त्व की है। इस सम्पूर्ण कथा मे स्वामिभक्ति और शरणागत-वात्सल्य के आदर्श उच्चकोटि के हैं।[५६]

हम्मीर की शरणार्थियो के प्रति उदारता के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि इस सम्पूर्ण घटना और उनके प्रति अपनायी गयी नीति मे दूरदर्शिता का अभाव था। इसकी पुष्टि मे यह भी कहा जा सकता है कि यदि हम्मीर ने इन मगोलो को, जो खलजी खीमे के बागी थे, शरण न दी होती तो अलाउद्दीन का वह कोप-भाजन न बनता और रणथम्भोर के चौहानो के दुर्दिन न आते। सम्भवत इस वश का जीवन कुछ समय आगे बढ सकता था। परन्तु हम इस बात को नही भूल सकते कि अलाउद्दीन द्वारा रणथम्भोर के आक्रमण मे मगोलो को शरण देना मुख्य कारण नही था। यह तो एक बहाना था जिसको लेकर खलजी आक्रमण की न्यायसगतता बतायी गयी थी। वास्तव मे, दक्षिण प्रदेशो पर खलजियो का राजनीतिक प्रभाव बनाये रखने के लिए राजस्थान के दुर्गो पर अधिकार करना आवश्यक था। यदि मगोल

---

[५५] "But the admiration for the gallant fight that he put up in the defence of his kingdom, the honour of his family, and the protection of the neo-Muslim chiefs who had taken refuge with him generally puts all these faults into the background "
—Dr Dashrath Sharma, *Early Chauhan Dynasties*, p 115

[५६] डा० गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ० ७६

अलाउद्दीन के खीमे को छोड हम्मीर की शरण मे न आये होते तो भी रणथम्भौर के आक्रमण को टाला नही जा सकता था। हम्मीर का उन्हे शरण देना कोई राजनीतिक भूल न थी, वरन् एक कर्तव्य-परायणता थी।

हम्मीर की मृत्यु के वाद चौहानो की रणथम्भौर की शाखा समाप्त हो गयी। राजस्थान के इतिहास मे हम्मीर का सम्मान एक वीर योद्धा के रूप मे ही नही है वरन् एक उदार शासक के रूप मे है। वह शिव, विष्णु और महावीर के प्रति समान भाव से श्रद्धा रखता था। उसने कोटियज्ञ के सम्पादन के द्वारा अपनी धर्मनिष्ठा का परिचय दिया जिससे उसे एक स्थायी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।[४७]

(ब) जालौर के चौहान

जिस प्रकार रणथम्भौर के चौहान एक सुदृढ शक्ति के रूप मे थे उसी प्रकार जालौर के चौहान भी तुर्की सल्तनत के लिए कटक के समान थे। जालौर मारवाड राज्य की सीमा का सुदृढ किला था जहाँ से गुजरात तथा मालवा की ओर दिल्ली से मार्ग जाते थे। सुल्तानो की दक्षिण विजय के स्वप्न साकार वनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि वे जालौर जैसे सुदृढ गढ को अपने अधिकार मे रखें। इसी कारण समय-समय पर यहाँ के शासको का और तुर्कों का सघर्ष चलता रहा। प्रारम्भ मे यह गढ परमारो के अधीन था जो परिस्थिति के अनुकूल कभी स्वतन्त्र और कभी चालुक्यों के अधीन सामन्त रूप मे रह चुके थे। जालौर तोपखाने के अभिलेख से ऐसे ५ शासको के नाम उपलब्ध होते है जिनमे वीसल तथा कुन्तपाल के नाम विशेष उल्लेखनीय है। नाडौल शाखा के एक प्रतिभासम्पन्न कीर्तिपाल ने ११८१ ई० के लगभग जालौर को प्रतिहारो से छीनकर अपने अधिकार मे ले लिया और वहाँ का स्वतन्त्र शासक वन वैठा। यह जालौर शाखा के चौहान वश का प्रथम सस्थापक था। प्राचीन शिलालेखो मे जालौर का नाम जावालीपुर और किले का सुवर्णगिरि मिलता है जिसको अपभ्रश मे सोनगढ कहते है। इसी पर्वत के नाम से यहाँ के चौहान सोनगरा कहलाये। नैणसी ने कीर्तिपाल को 'कीतू एक महान राजपूत' कहकर सम्वोधित किया है।[४८]

कीर्तिपाल के लडके समरसिंह ने जालौर मे सुदृढ प्राचीर, कोष्ठागार, शस्त्रागार और विविध प्रकार के यन्त्र तथा अन्य सुरक्षा के साधनो का निर्माण कराया तथा कई मन्दिर वनाकर उसे सुसज्जित किया। उसने गुजरात के भीमदेव द्वितीय से अपनी

४७ "With the death of Hamir the glory of the Chauhan of the Ranthambhor also came to an end In the annals of Rajasthan Hamir is not only remembered for his valour in war but also for his policy of toleration towards different sects "
—*A Comprehensive History of India*, Vol V, a Chapter on Rajasthan by Dr G N Sharma, pp 829-30

४८ नैणसी स्यात, भा० १, पृ० १५२, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १४५-४६

पुत्री लीलादेवी का विवाह कर गुजरात से मधुर सम्बन्ध फिर से स्थापित किये। समरसिंह के उत्तराधिकारी उदयसिंह के समय मे (१२०५-१२५७ ई०) जालोर की सीमा की अधिक परिवृद्धि हुई और उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा भी बढी। रणथम्भोर तथा सपादलक्ष के चौहानो की शक्ति के पतन के बाद तुर्की सल्तनत का नेतृत्व स्थापित करने के प्रयास पर रोक लगाने वाली उस समय यदि कोई शक्ति थी तो वह जालोर के चौहानो की थी। मण्डोर और नाडौल को अपने हस्तगत कर उदयसिंह ने इल्तुतमिश की शक्ति को भी नीचा दिखाने का प्रयत्न किया। लवणप्रसाद को परास्त कर गुजरात की शक्ति को निर्बल बनाने का भी श्रेय उदयसिंह को है। गोडवाड और कुछ मेवाड के भागो पर अधिकार स्थापित कर उसने चौहानो के बल का भान गुहिलो को भी अनुभव करा दिया था। वह नि सन्देह ही अपने समय का महान् तथा शक्तिसम्पन्न उत्तरी भारत का शासक था।[५९]

उदयसिंह ने जिस शौर्य और बल से जालौर के राज्य का विस्तार किया था उसी स्तर को बनाये रख उसके पुत्र चाचिगदेव (१२५७-१२८२ ई०) ने राज्य की सीमा को बढाया। वह नासिरुद्दीन महमूद तथा बलबन का समकालीन था जिन्होंने इसको किसी प्रकार से सताने का साहस नही किया। गुजरात ने भी उसकी स्वतन्त्र स्थिति को मान्यता दी। महाराजाधिराज तथा महाराज कुल के विरुद्ध उसके स्वतन्त्र पद की पुष्टि करते हैं।[६०]

चाचिगदेव के बाद उसका पुत्र सामन्तसिंह (१२८२-१३०५ ई०) जालौर का शासक रहा। वह लगभग २३ वर्ष तक अपने पिता द्वारा परिवर्द्धित राज्य पर शासन करता रहा। परन्तु भारत की राजनीतिक परिस्थिति धीरे-धीरे बदलने लगी। इस बदलती हुई परिस्थिति मे जालौर राज्य इतना शक्तिशाली नही रह सका। खलजी शासक फीरोज १२९१ मे साँचोर तक बढ आया जिसे बाघेला सारगदेव की सहायता से ढकेला जा सका। जब खलजियो की शक्ति अलाउद्दीन खलजी के हाथ में आयी और वह सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अपने एकछत्र शासन की योजना बनाने लगा तो जालौर की स्वतन्त्रता का स्तर बनाये रखना कठिन था। सामन्तसिंह ने समय की गति को पहचानकर अपने योग्य पुत्र कान्हडदेव के हाथ अपने राज्य की बागडोर सौंप दी।[६१]

---

५९ कीर्ति कौमुदी, ४, श्लो० ५९, ६१, सुण्डा लेख, श्लो० ४४-४५, ए० इ०, भा० १०, पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० ५०, नैणसी ख्यात, भा० १, पृ० १५८, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १४९-१५५

६० ए० इ०, भा० ६, पृ० ७४, अजमेर सग्रहालय का वार्षिक विवरण, १९४०-४१, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १५६-५८

६१ तारीख-ए-फिरोजशाही, इ० डा०, भा० ३, पृ० ३२-३३; ए० इ०, भा० ११, पृ० ६१, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १५९-६०

कान्हडदेव और खलजी विरोध—कान्हडदेव और खलजी विरोध के सम्बन्ध मे कई कथानक प्रचलित है और विरोधजनित सघर्ष के समय भी विभिन्न माने गये हैं। कान्हडदे प्रबन्ध मे वर्णित है कि जब अलाउद्दीन खलजी ने १२९८ ई० मे गुजरात विजय के लिए अभियान किया तो मार्ग मे जालौर पडता था। उसने कान्हडदेव को कहलवा भेजा कि शाही सेना को अपनी सीमा से गुजरने दिया जाय, परन्तु राजपूत वीर मे नया जोश था, उसने प्रत्युत्तर मे कहलवा भेजा कि जो सेना ब्राह्मणो की विरोधी है और गौओ की हत्या करती है तथा स्त्रियो तथा शान्तिप्रिय जनता को बन्दी बनाती है उसके प्रति उसकी कोई सहानुभूति नही। वैसे तो इस उत्तर की प्रतिक्रिया जालौर पर आक्रमण की ही होनी चाहिए थी, परन्तु उस समय खलजी सेना, जिसका नेतृत्व उलुगखाँ और नसरतखाँ कर रहे थे, मेवाड के मार्ग से निकल गयी, मार्ग मे जो राज्य पडे उन्हे नष्ट-भ्रष्ट किया, गुजरात और काठियावाड को जीता और सोमनाथ के मन्दिर को तोडा। लौटती बार विजयी सेना जालौर की सीमा से गुजरी। कान्हडदेव के मुख्यमन्त्री जैता देवडा ने मुस्लिम सेनानायक से भेंट की और अपने स्वामी को सम्मति दी कि इस समय शत्रुओ से युद्ध करना अनुचित है। उसी अवधि मे उलुगखाँ के खीमे मे मगोल सिपाहियो ने लूट का धन लौटाने से इन्कार कर रखा था और सम्पूर्ण सेना मे असन्तोष का वातावरण बना हुआ था कि राजपूत सेना ने शत्रुओ पर हमला बोल दिया। बेचारा उलुगखाँ अपनी जान बचाकर भागा।[६२] इस सम्पूर्ण घटना को डा० लाल मिथ्या बताते हैं और कहते हैं कि इस बार गुजरात की ओर अभियान सुल्तान द्वारा नही वरन् उसके सेनानायक द्वारा ले जाया गया था। परन्तु सेनानायक द्वारा अभियान का प्रारम्भ मे वर्णन न देकर सुल्तान का नाम उल्लेख करने से सम्पूर्ण घटना गलत नही ठहराई जा सकती। वस्तुत मध्य-कालीन युग मे यदि किसी भी अभियान का किसी सेनानायक के द्वारा नेतृत्व किया जाता था तो वह सुल्तान के तत्त्वावधान मे ही शुमार होता था। अन्य घटनाएँ जैसे लौटती सेना का जालौर सीमा से गुजरना, मगोलो का विद्रोह होना आदि फारसी तवारीखो से भी सिद्ध है, अतएव इस विफल आक्रमण का आगे आने वाले आक्रमण से सम्बन्ध अवश्य है।

इस अभियान से लज्जित अलाउद्दीन ने जालौर की उपेक्षा की और अपना पूरा ध्यान रणथम्भौर और चित्तौड विजय मे लगा दिया। इन विजयो से सुल्तान के हौसले बढ गये। उसके लिए अब उपयुक्त समय था कि वह जालौर की शक्ति को भी कुचल दे। इस अभिप्राय से १३०५ ई० मे ऐन-उल-मुल्क मुल्तानी के नेतृत्व मे एक सेना भेजी गयी। इस बार सेनानायक ने युक्ति से काम लिया। सम्भवत कान्हडदेव

---

[६२] कान्हडदे प्रबन्ध, प्रथम खण्ड, पद्य ३२, ३३, ११२, २२० २२१ आदि, तारीख-ए-फिरोजशाही, इ० डा०, भा० ३, पृ० १६४, डा० लाल, खलजी वश का इतिहास, पृ० ११४

को 'गौरवपूर्ण सन्धि' का आश्वासन दिलाकर वह उसे दिल्ली ले गया। कान्हडदेव ने अपनी स्थिति खलजी दरबार मे असम्मानित ही पायी। वह वहाँ मे निकलकर लौट जाना चाहता था कि एक दिन सुल्तान ने इस बात पर दर्प से प्रकट किया कि कोई हिन्दू शासक उसकी शक्ति के समक्ष टिक नही सका। ये शब्द कान्हडदेव को चुभ गये और वह सुल्तान को अपने विरुद्ध लडने की चुनौती देकर जालौर लौट गया और युद्ध की तैयारी करने लगा। इस चुनौती के प्रत्युत्तर मे सुल्तान ने भी जालौर के विरुद्ध सेना भेज दी।[६३] इस कथानक को भी स्वीकार नही किया जाता, यह मानते हुए कि कान्हडदेव की इतनी हिम्मत सुल्तान के विरुद्ध नही हो सकती थी, जो वह उसके दरबार मे खुला विद्रोह करता। परन्तु वास्तव मे देखा जाय तो इस कथानक को रोचक बनाने के लिए काव्य-लेखको ने इसमे कुछ अश अपनी ओर से जोड दिये हो, वरन् आधारभूत घटनाएँ ऐसी नही है जिन्हे पूर्णरूपेण अस्वीकार किया जाय।

अलाउद्दीन द्वारा किये जाने वाले आक्रमणो के कारण के सन्दर्भ मे एक और कारण बताया जाता है जो नैणसी[६४] की एक रोचक कथा से सम्बन्धित है। वह लिखता है कि जब कान्हडदेव का पुत्र वीरम अलाउद्दीन के दरबार मे सेवा के उपलक्ष मे रहता था कि उसके प्रति हरम की एक राजकुमारी प्रेम करने लगी। जब इसका पता हरम की महिलाओ तथा सुल्तान को लगा तो उन्होने राजकुमारी को अपना विचार बदलने को डराया-धमकाया, परन्तु जब उन्होंने देखा कि उसे अपने प्रेम से वचित नही किया जा सकता तो विक्रम को उससे विवाह करने के लिए बाध्य किया। राजकुमार तुर्क कन्या से विवाह करना अधार्मिक समझ चुपके से जालौर लौट आया। इस मान-हानि से क्षुब्ध होकर सुल्तान ने जालौर पर धावा बोल दिया।

कान्हडदे प्रबन्ध[६५] मे इसके उपरान्त यह भी उल्लेख मिलता है कि जब सुल्तान को जालौर पर आक्रमण करने से कोई सफलता न मिली तो कुमारी फिरोजा स्वय गढ मे गयी जहाँ कान्हडदेव ने उसका स्वागत किया परन्तु पुत्र से उसका विवाह कराने से इन्कार कर दिया। हताश होकर कुमारी दिल्ली लौट गयी। कुछ वर्षो के बाद अलाउद्दीन ने फिरोजा की एक धाय को आक्रमण के लिए भेजा। उसे यह कहा गया कि वीरम बन्दी हो जाय तो जीवित लाया जाय और यदि धराशायी हो तो उसका सिर लाया जाय। जब राजपूत सेना धाय के आक्रमण से हार गयी और वीरम वीरोचित गति को प्राप्त हुआ तो उसका सिर दिल्ली ले जाया गया और राजकुमारी को दिया गया। वह उसके साथ सती होने को तैयार हुई। अन्त मे उसका दाह-सस्कार कर वह यमुना मे कूदकर मर गयी।

---

[६३] तारीखे फरिश्ता, जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, १९२९, पृ० ३६६, ३७८, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १६२-६३

[६४] नैणसी ख्यात, पृ० १५३-५५

[६५] कान्हडदे प्रबन्ध, खण्ड ४, पद्य ३२६-३२९

कान्हडदेव और खलजी विरोध—कान्हडदेव और खलजी विरोध के सम्बन्ध मे कई कथानक प्रचलित है और विरोधजनित संघर्ष के समय भी विभिन्न माने गये है। कान्हडदे प्रबन्ध मे वर्णित है कि जब अलाउद्दीन खलजी ने १२९८ ई० मे गुजरात विजय के लिए अभियान किया तो मार्ग मे जालौर पडता था। उसने कान्हडदेव को कहलवा भेजा कि शाही सेना को अपनी सीमा से गुजरने दिया जाय, परन्तु राजपूत वीर मे नया जोश था, उसने प्रत्युत्तर मे कहलवा भेजा कि जो सेना ब्राह्मणो की विरोधी है और गौओ की हत्या करती है तथा स्त्रियो तथा शान्तिप्रिय जनता को वन्दी बनाती है उसके प्रति उसकी कोई सहानुभूति नही। वैसे तो इस उत्तर की प्रतिक्रिया जालौर पर आक्रमण की ही होनी चाहिए थी, परन्तु उस समय खलजी सेना, जिसका नेतृत्व उलुगखाँ और नसरतखाँ कर रहे थे, मेवाड के मार्ग से निकल गयी, मार्ग मे जो राज्य पडे उन्हे नष्ट-भ्रष्ट किया, गुजरात और काठियावाड को जीता और सोमनाथ के मन्दिर को तोडा। लौटती वार विजयी सेना जालौर की सीमा से गुजरी। कान्हडदेव के मुख्यमत्री जैता देवडा ने मुस्लिम सेनानायक से भेंट की और अपने स्वामी को सम्मति दी कि इस समय शत्रुओ से युद्ध करना अनुचित है। उसी अवधि मे उलुगखाँ के खीमे मे मगोल सिपाहियो ने लूट का धन लौटाने से इन्कार कर रखा था और सम्पूर्ण सेना मे असन्तोष का वातावरण बना हुआ था कि राजपूत सेना ने शत्रुओ पर हमला बोल दिया। बेचारा उलुगखाँ अपनी जान बचाकर भागा।[६२] इस सम्पूर्ण घटना को डा० लाल मिथ्या बताते है और कहते हैं कि इस बार गुजरात की ओर अभियान सुल्तान द्वारा नही वरन् उसके सेनानायक द्वारा ले जाया गया था। परन्तु सेनानायक द्वारा अभियान का प्रारम्भ मे वर्णन न देकर सुल्तान का नाम उल्लेख करने से सम्पूर्ण घटना गलत नही ठहराई जा सकती। वस्तुत मध्य-कालीन युग मे यदि किसी भी अभियान का किसी सेनानायक के द्वारा नेतृत्व किया जाता था तो वह सुल्तान के तत्त्वावधान मे ही शुमार होता था। अन्य घटनाएँ जैसे लौटती सेना का जालौर सीमा से गुजरना, मगोलो का विद्रोह होना आदि फारसी तवारीखो से भी सिद्ध है, अतएव इस विफल आक्रमण का आगे आने वाले आक्रमण से सम्बन्ध अवश्य है।

इस अभियान से लज्जित अलाउद्दीन ने जालौर की उपेक्षा की और अपना पूरा ध्यान रणथम्भौर और चित्तौड विजय मे लगा दिया। इन विजयो से सुल्तान के हौसले बढ गये। उसके लिए अब उपयुक्त समय था कि वह जालौर की शक्ति को भी कुचल दे। इस अभिप्राय से १३०५ ई० मे ऐन-उल-मुल्क मुलतानी के नेतृत्व मे एक सेना भेजी गयी। इस बार सेनानायक ने युक्ति से काम लिया। सम्भवत कान्हडदेव

६२ कान्हडदे प्रबन्ध, प्रथम खण्ड, पद्य ३२, ३३, ११२, २२० २२१ आदि, तारीख-ए-फिरोजशाही, इ० डा०, भा० ३, पृ० १६४, डा० लाल, खलजी वंश का इतिहास, पृ० ११४

को 'गौरवपूर्ण सन्धि' का आश्वासन दिलाकर वह उसे दिल्ली ले गया। कान्हडदेव ने अपनी स्थिति खलजी दरबार मे असन्मानित ही पायी। वह वहाँ से निकलकर लौट जाना चाहता था कि एक दिन सुल्तान ने इस बात पर दर्प से प्रकट किया कि कोई हिन्दू शासक उसकी शक्ति के समक्ष टिक नही सका। ये शब्द कान्हडदेव को चुभ गये और वह सुल्तान को अपने विरुद्ध लडने की चुनौती देकर जालोर लौट गया और युद्ध की तैयारी करने लगा। इस चुनौती के प्रत्युत्तर मे सुल्तान ने भी जालोर के विरुद्ध सेना भेज दी।[६३] इस कथानक को भी स्वीकार नही किया जाता, यह मानते हुए कि कान्हडदेव की इतनी हिम्मत सुल्तान के विरुद्ध नही हो सकती थी, जो वह उसके दरबार मे खुला विद्रोह करता। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो इस कथानक को रोचक बनाने के लिए काव्य-लेखको ने इसमे कुछ अश अपनी ओर से जोड दिये हो, वरन् आधारभूत घटनाएँ ऐसी नही है जिन्हे पूर्णरूपेण अस्वीकार किया जाय।

अलाउद्दीन द्वारा किये जाने वाले आक्रमणो के कारण के सन्दर्भ मे एक और कारण बताया जाता है जो नैणसी[६४] की एक रोचक कथा से सम्बन्धित है। वह लिखता है कि जब कान्हडदेव का पुत्र वीरम अलाउद्दीन के दरबार मे सेवा के उपलक्ष मे रहता था कि उसके प्रति हरम की एक राजकुमारी प्रेम करने लगी। जब इसका पता हरम की महिलाओ तथा सुल्तान को लगा तो उन्होने राजकुमारी को अपना विचार बदलने को डराया-धमकाया, परन्तु जब उन्होंने देखा कि उसे अपने प्रेम से वचित नही किया जा सकता तो विक्रम को उससे विवाह करने के लिए बाध्य किया। राजकुमार तुर्क कन्या से विवाह करना अधार्मिक समझ चुपके से जालौर लौट आया। इस मान-हानि से क्षुब्ध होकर सुल्तान ने जालौर पर धावा बोल दिया।

कान्हडदे प्रबन्ध[६५] मे इसके उपरान्त यह भी उल्लेख मिलता है कि जब सुल्तान को जालौर पर आक्रमण करने से कोई सफलता न मिली तो कुमारी फिरोजा स्वय गढ मे गयी जहा कान्हडदेव ने उसका स्वागत किया परन्तु पुत्र से उसका विवाह कराने से इन्कार कर दिया। हताश होकर कुमारी दिल्ली लौट गयी। कुछ वर्षो के बाद अलाउद्दीन ने फिरोजा की एक धाय को आक्रमण के लिए भेजा। उसे यह कहा गया कि वीरम बन्दी हो जाय तो जीवित लाया जाय और यदि धराशायी हो तो उसका सिर लाया जाय। जब राजपूत सेना धाय के आक्रमण से हार गयी और वीरम वीरोचित गति को प्राप्त हुआ तो उसका सिर दिल्ली ले जाया गया और राजकुमारी को दिया गया। वह उसके साथ सती होने को तैयार हुई। अन्त मे उसका दाह-सस्कार कर वह यमुना मे कूदकर मर गयी।

---

[६३] तारीखे फरिश्ता, जरनल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, १९२९, पृ० ३६९, ३७८, डा० दशरथ शर्मा, दि अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १६२-६३

[६४] नैणसी ख्यात, पृ० १५३-५५

[६५] कान्हडदे प्रबन्ध, खण्ड ४, पद्य ३२६-३२९

कान्हडदेव द्वारा अलाउद्दीन के दरवार को स्वाभिमानपूर्वक छोडने की घटना को डा० लाल अविश्वसनीय ठहराते हुए लिखते है कि यह वास्तव मे आश्चर्यपूर्ण है कि एक वार तो कान्हडदेव सुल्तान के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए दिल्ली भागता है, और वर्षो तक अटूट आज्ञाकारिता का पालन करता है और फिर अचानक ऐसा उद्धत रुख अपना लेता है कि वह स्वय को और अपनी प्रजा को वहुत विपत्ति मे डाल देता है। इसी तरह डा० लाल रखैल या धाय की कथा को हास्यास्पद वताते हुए लिखते है कि वीर तुर्की अधिकारियो और सैनिको की सेना का नायकत्व स्त्री को सौंपना और उसे सहर्ष स्वीकार करना ठीक नही प्रतीत होता। कोई भी समकालीन इतिहासकार ऐसा नही लिखता। वे लिखते हैं कि यह तो फरिश्ता की कल्पना की उपज है जिसे पूर्णत अस्वीकृत कर दिया जाना चाहिए।[६६]

हो सकता है कि इन घटनाओ मे तिथियो का क्रम तथा घटना विशेष के अश सत्य न हो, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि कान्हडदेव के साथ अलाउद्दीन के सैनिको से प्रारम्भिक रूप मे अवश्य छेडछाड हुई थी। गुजरात जाने के लिए मारवाड के मार्ग से जाते थे। इन मार्गो को अपने अधिकार मे करने के लिए उत्साही होना सुल्तान के लिए स्वाभाविक था। कान्हडदे प्रवन्ध जो फरिश्ता, हाजी उतवी तथा नैणसी से पहले लिखा गया था यदि कुछ घटनाओ को देता है तो उनमे अधिकाश सत्य है। इनको निराधार मानकर अस्वीकार करना उचित नही। उदाहरण के लिए, फिरोजा का वीरम से प्रेम होना तथा गुलविहिश्त को भेजना आदि कथा के अश अस्वाभाविक नही हैं। केवल मात्र इनका जिक्र समसामयिक फारसी तवारीखो मे न होना इनको अस्वीकार करने के लिए पर्याप्त नही है। कम से कम ऐसी घटनाएँ सन्देहात्मक वतायी जा सकती है परन्तु इनको पूर्णत अमान्य ठहराना ठीक नही। १२९९ ई० के आक्रमण और १३११ ई० के आक्रमण के समय के वीच एक लम्वी अवधि इन कथाओ की मान्यता को कुछ वल देती है। अलाउद्दीन इस लम्वे काल तक जालौर के सम्वन्ध मे उपेक्षित रहे, ऐसा नही हो सकता। क्योकि उन आक्रमणो मे उसे सफलता नही मिली इसी से फारसी तवारीखो मे उन घटनाओ को स्थान नही दिया गया। जहाँ डा० लाल एक महिला के नेतृत्व मे सन्देह करते हैं वहाँ वे इस वात को भूल जाते है कि इसके पूर्व सुल्ताना रजिया के हाथ मे सम्पूर्ण सल्तनत थी और उसके नेतृत्व को स्वाभिमानी सामन्तो ने कुछ समय के लिए स्वीकार किया था। इसके अतिरिक्त कान्हडदे प्रवन्ध मे दी गयी कथा को फरिश्ता द्वारा उद्धृत की गयी हो ऐसा तो नही दीख पडता, परन्तु दोनो मे दी गयी कथा का आधार एक प्राचीन परम्परा अवश्य है। इसी स्थिति में कथा के कतिपय माननीय अशो को निरा कपोल-कल्पित नही ठहराया जा सकता। इस वर्णन मे पूर्वापरि सम्वन्ध कुछ लोम-विलोम रूप मे दिये गये हैं, इसमे कोई सन्देह नही।

---

६६ डा० लाल, खलजी वश का इतिहास, पृ० ११४-१५

जालौर का पतन—आगे होने वाले आक्रमण तथा अलाउद्दीन द्वारा पहले किये गये प्रयासो का एक सम्बन्ध है। पहले की पराजय को विजय मे बदलने की महत्त्वाकाक्षा जालौर के अन्तिम आक्रमण का एक कारण हो सकता है, क्योंकि जब तक जालौर का पतन नहीं होता यहाँ के चौहान खलजी सेना के दक्षिण प्रयास मे बाधक हो सकते हैं और दक्षिण प्रदेश पर राजनीतिक प्रभाव बनाये रखने के लिए जालौर का दुर्ग सैनिक दृष्टि से उपयोगी हो सकता है। उत्तरी भारत के अन्य दुर्गों को, जिनमे चित्तौड, रणथम्भौर आदि प्रमुख थे, सैनिक अड्डे बनाये रखने के लिए जालौर की स्वतन्त्रता को समाप्त करने की सुल्तान की दृढता अन्तिम आक्रमण का कारण माना जाना चाहिए। इसी विचार को मैंने कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री के अपने राजस्थान वाले अध्याय मे लिखा है कि अलाउद्दीन खलजी जालौर के राय की बढती हुई शक्ति को सहन नहीं कर सकता था।"[६७]

अलाउद्दीन ने अपनी पहली विफलताओ को सफलता मे परिणित करने का दृढ निश्चय किया। जालौर पहुँचने के पूर्व खलजी सेना को सिवाना होकर जाना पडा। सिवाना का दुर्ग जोधपुर से लगभग ५४ मील पश्चिम की ओर है। इसके पूर्व मे नागौर, पश्चिम में मलानी, उत्तर मे पचपदरा और दक्षिण मे जालौर स्थित है। वैसे तो यह किला चारो ओर रेतीले भाग से घिरा हुआ है, परन्तु इसके साथ-साथ इस भाग मे छप्पन के पहाडो का सिलसिला पूर्व-पश्चिम की रेखा मे ४८ मील फैला हुआ है। इस पहाडी सिलसिले के अन्तर्गत हलदेश्वर का पहाड सबसे ऊँचा है जिस पर एक सुदृढ दुर्ग बना हुआ है, जिसे सिवाना कहते है। ये पहाड बेरी, बबूल, धाक, पलास, बड आदि वृक्षो के समूह से आच्छादित रहने से किसी सीमा तक दुर्गम है। प्रारम्भ मे यह किला पँवारो के अधिकार मे था जिसमे वीरनारायण का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिसे सिवाना दुर्ग और उसी नाम के कस्बे को बसाने का श्रेय है। जब अलाउद्दीन की फौजें जालौर लेने के लिए उत्साही थी तो उनके लिए सिवाना विजय एक आवश्यक कार्य हो गया। उस समय चौहानो के एक सरदार जिसका नाम सीतलदेव था दुर्ग का रक्षक था। उसने अपने समय मे चित्तौड तथा रणथम्भौर जैसे सुदृढ किलो को धराशायी होते देखा था, परन्तु उसमे अब भी अपने अधिकार के किले को स्वतन्त्र रखने का उत्साह था। वह विना युद्ध लडे किले को शत्रुओ के हाथ मे देना अपने वश-परम्परा और सम्मान के विरुद्ध समझता था। उसने सम्भवत मण्डोर मे खलजियो को छकाया था और स्वतन्त्र रूप से कई रावो और रावतो को युद्धो मे परास्त कर चुका था। उसके शौर्य की धाक राजस्थान मे-जम- चुकी थी। भला सीधे हाथ वह शत्रुओ को किला कैसे दे सकता था या उन्हें जालौर की आर

---

[६७] "Alauddin Khalji could not tolerate the growing power of the Rai"—*A Comprehensive History of India*, Vol V, (edited by M Habib)
—Rajasthan by G N Sharma, p 627

कैसे बढने दे सकता था। अलाउद्दीन ने भी देखा कि विना युद्ध किये तथा सिवाना पर अपना अधिकार स्थापित किये विना आगे बढना कठिन है, तो २ जुलाई, १३०८ ई० मे उसने एक सेना किले को फतह करने के लिए नियुक्त कर दी।

इस सेना ने किले को चारो ओर से घेर लिया। शाही सेना के पार्श्वों को पूर्व तथा उत्तर की ओर स्थापित किया गया। इन दोनो पार्श्वों के बीच मलिक कमालउद्दीन ने अपने चुने हुए सैनिको के साथ जमाव किया। राजपूत सैनिक भी किले की बुर्जों पर शत्रुओ का मुकावला करने को आ डटे। जब शत्रुदल ने मजनिको से प्रक्षेपास्त्रो की अविरल बौछार का ताँता बाँध दिया तब राजपूतो ने अपने तीरो, गोफनो तथा तेल से सने और आग से जले वस्त्रो को शत्रुओ पर वरसाना शुरू किया। जब शाही सेना के कुछ दल किले की दीवारो पर चढ़ने का प्रयास करते थे तो वीर राजपूत सैनिक उनके प्रयत्नो को अपनी युक्ति से असफल वना देते थे। लम्बे समय तक घेरा चलने पर भी खलजियो को राजपूतो के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के कोई चिह्न नही दिखायी दिये। इस अवधि मे शत्रुओ को वडी क्षति उठानी पडी तथा उनके सेनानायक नाहरखाँ को तथा भोज को अपने प्राण गँवाने पडे।[६८]

जब लगभग कई महीनो मुस्लिम फौजें किले को लेने मे असमर्थ हुई तो स्वय सुल्तान एक वडी सेना लेकर सिवाना की ओर चल दिया। उसने जब देखा कि तुर्कों के द्वारा स्थापित सीढियो को राजपूतो के प्रक्षेप-यन्त्र दीवार तक पहुँचने मे असफल वना देते हैं तो उसने पाशविको की सहायता से ऊँचे बुर्जों तक पहुँचने की व्यवस्था की। सम्भवत उसी अवधि मे एक राजद्रोही भावले की सहायता से किले के कुण्ड को, जो दुर्ग के निवासियो और सैनिको के लिए पानी का एकमात्र साधन था, गोरक्त से अपवित्र करवा दिया। किले मे भी खाद्य-सामग्री समाप्त हो चली थी। जब सर्वनाश निकट था तो राजपूत वीरागनाओ ने सतीव्रत द्वारा अपनी देह की आहुति दे डाली। किले के फाटक खोल दिये गये और वीर राजपूत केसरी वाना पहनकर शत्रुओ पर टूट पडे तथा एक-एक कर वीरोचित गति को प्राप्त हुए। सीतलदेव भी एक वीर योद्धा की भाँति अन्त तक लडकर मारा गया। कमालउद्दीन गुर्ग ने जब सीतलदेव के शव तथा मस्तक को सुल्तान के सम्मुख उपस्थित किया तो उसके हाथी जैसे शरीर को देखकर उसे वडा आश्चर्य हुआ। अमीर खुसरो ने भी समरागण मे जूझकर मरने वाले राजपूत वीरो की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है। सुल्तान ने इस विजय के वाद सिवाना दुर्ग का अधिकार कमालउद्दीन गुर्ग को सौंपा और उसका नाम खैरावाद रखा।[६९]

---

६८ कान्हडदे प्रवन्ध, खण्ड २, पृ० ४९-५७, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १६३, डा० जी० एन० शर्मा, ऐतिहासिक निवन्ध राजस्थान, पृ० १२८

६९ खजाइन फुतूह, अनुवाद (प्रो० हवीव), पृ० ५३, ३७५-७७, कान्हडदे प्रवन्ध, खण्ड २, पृ० ८०-९५, १५९, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १६४, डा० गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निवन्ध राजस्थान, पृ० १२८

इस विजय के बाद अलाउद्दीन दिल्ली लौट गया और उसके सैनिक मारवाड को नष्ट-भ्रष्ट करने पर उतारू हो गये। उन्होंने बाडमेर को घेरा तथा मांचोर के महावीर के मन्दिर को तोडा। भीनमाल जो चौहानकालीन विद्या का केन्द्र था उसे नष्ट किया तथा हजारो ब्राह्मणो को बन्दी बनाया। इस विध्वस ने कान्हडदेव को बडा चिन्तित किया। उसने आसपास के राजपूतो को अपनी सैनिक-शक्ति से उनकी मदद के लिए आमन्त्रित किया। रेवन्ती तथा धाणासा के मार्ग से आने वाले राजपूत सैनिको ने खण्डाला मे शत्रुओ की बढती हुई प्रगति को रोका। इससे खलजी सैनिक इधर-उधर भागने लगे। इनके नक्कारे भी राजपूतो के हाथ लगे। राजपूत वीर जैता और देवा जालौर की ओर कान्हडदेव को अपनी विजय की सूचना देने के लिए लौट चले, परन्तु मलिक नाइब ने भागती हुई तुर्की सेना को फिर सगठित किया और वह बिखरी हुई राजपूत शक्ति पर टूट पडा। इसमे सफलता को देख उसमे हिम्मत आ गयी और वह जालौर को घेरने के लिए बढ चला। सात दिन तक वह किले को लेने के प्रयत्न मे लगा रहा, परन्तु कान्हडदेव के लडके वीरमदेव और उसके छोटे भाई मालदेव ने शत्रुओ द्वारा किला लेने के प्रयत्नों को विफल कर दिया और उन्हे दूर मेडते के मार्ग तक खदेड दिया। इस अवधि मे उनका सेनानायक शम्सखाँ अपनी स्त्री और साथियो के साथ बन्दी बनाया गया।[७०]

इस बार कमालउद्दीन गुर्ग के नेतृत्व मे खलजी सेना अधिक सख्या मे तथा सुसज्जित रूप मे जालौर की ओर बढी। कान्हडदेव ने उसकी प्रगति को रोकने के लिए मालदेव को वडी तथा वीरमदेव को भाद्राजन के नाको पर भेजा। तुर्की अनुभवी सेनानायक धीरे-धीरे बढता रहा, यहाँ तक कि वह जालौर आ पहुँचा। कान्हडदेव ने सभी शक्ति का सगठन शत्रुओ का मुकाबला करने मे लगाया। अनेक मुठभेडो मे बढने और पीछे हटने के चढाव-उतार आते रहे, फिर भी कमाल ने साहस न छोडा। लम्बे घेरे ने किले में रसद और पानी की कमी से राजपूतो को चिन्तित कर दिया, पर वे अपने कर्तव्य को निभाते रहे। इधर जब किले के पतन की आशा दूर दिखायी देने लगी तो तुर्की अधीरता ने धोखे से किले को लेने की चाल चली। उन्होने एक दहिया राजपूत बीका को अपनी ओर मिला लिया जो भविष्य मे शत्रुओ की सहायता से जालौर का शासक बनने के स्वप्न देख रहा था। वह शत्रु सेना को किले के अरक्षित मोर्चे पर ऐसे कठिन मार्ग से ले गया जिधर से शत्रुओ के आने की कोई सम्भावना नही थी। परन्तु जब दहिया के जघन्य कार्य का पता उसकी पत्नी को पडा तो उसने देशद्रोही पति को रात ही मे मार दिया और अपने पति के द्वारा किये गये विश्वासघात की सूचना कान्हडदेव को दे दी। पर तब तक शत्रु अरक्षित मोर्चे तक पहुँच चुके थे और शीघ्र ही किले के भीतर घुस गये। अब किले को बचाने का कोई उपाय न था। सभी राजपूत

---

[७०] कान्हडदे प्रबन्ध, खण्ड ३, पृ० ७३-८९, १०५, १७०, १७७, १८५, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १६६-६७

अपने स्वामी के नेतृत्व मे प्राणोत्सर्ग के लिए उद्यत हो गये। दुर्ग को बचाने के लिए कन्धाई, जैत उलीचा, जैत देवडा, लूणकरण, अर्जुन आदि अनेक सामन्तो ने अपने प्राणो की आहुति दे डाली, शत्रु-सेना फिर भी बढती गयी। अन्त मे एक सच्चे राजपूत की भाँति कान्हडदेव भी वीरोचित गति को प्राप्त हुआ।[७१]

फिर भी राजपूतो ने हिम्मत न हारी। कान्हडदेव के पुत्र वीरमदेव ने बची हुई राजपूत शक्ति का सगठन कर युद्ध को जारी रखा। थोडे-से मुट्ठी-भर राजपूत रसद की कमी हो जाने तथा शत्रुओ के किले मे घुस आने से युद्ध को अधिक समय न चला सके। वीरमदेव ने, यह समझकर कि या तो उसे शत्रु मार देंगे या बन्दी बना लेंगे, स्वय अपने पेट मे कटार भोक ली और मृत्यु की गोद मे जा बैठा। इसी अवधि मे राजपूत महिलाओ ने जौहर कर अपने सतीव्रत की रक्षा की तथा अन्य किले के निवासी भी अपने अन्तिम साँस तक शत्रुओ से लडकर काम आये। इस भयकर रण-ताडव के उपरान्त किला खलजियो के हाथ लगा। इस विजय की स्मृति मे सुल्तान ने एक मस्जिद का निर्माण करवाया, जो अभी भी वहाँ विद्यमान है। कान्हडदेव का भाई मालदेव जालौर के पतन के पश्चात किसी तरह भीषण सहार से बच निकला। बाद मे उसने सुल्तान की सद्भावना अर्जित कर ली जिससे उसने उसे चित्तौड के कार्यभार को सँभालने के लिए नियुक्त किया।

इस प्रकार १३११ ई० के लगभग कान्हडदेव की जीवन-लीला समाप्त हुई। इसमे कोई सन्देह नही कि कान्हडदेव एक शूरवीर योद्धा, देशाभिमानी तथा चरित्रवान व्यक्ति था। उसने अपने अदम्य साहस तथा सूझबूझ से किले के निवासियो, सामन्तो तथा राजपूत जाति का नेतृत्व कर एक अपूर्व ख्याति अर्जित की थी। वह सैनिक नेतृत्व मे अपने समय के किसी हिन्दू शासक से कम नही था। यदि उसे पराजित होना पडा तो वह उसका दोष नही, परिस्थितियो का दोष था जिस पर उसका अधिकार नही था। उसमे उस कूटनीति का अभाव था जो उसकी सहायता से जमाने को बदल देता। उसकी महानता और अधिक बढ जाती यदि वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा मालवा, गुजरात, सीसोदिया और अन्य चौहानो को साथ लेकर करता। इन्ही भावो मे डा० दशरथ शर्मा ने कान्हडदेव के चरित्र का मूल्याकन किया है।[७२]

---

७१ कान्हडदे प्रबन्ध, खण्ड, ४, पृ० ११५-२५०, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १६८-६६, डा० गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ० १२६

७२ "This ended the career of the last of its independent representatives, Kanhadadeva Chauhan He was a man of character As a general he was not probably inferior to his Hindu contemporaries Brave, interpid to a degree, and sincerely religious, Kanhadadeva represented Rajput chivalry at its best His failure was more of a society than an individual He was great man in

(Contd

(स) नाडौल के चौहान (९६०-१२०५ ई०)

वाक्पति राजा का पुत्र लक्ष्मण नाडोल चौहानो का प्रवृतक था। ९६० ई० मे जब चावडा सामन्तसिंह की मृत्यु हो गयी तो उसने अपने आपको नाडोल का स्वामी बना लिया। वह एक वीर शासक था जिसने नाडौल राज्य की सीमा जोधपुर तक बढा ली थी। ९८३ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हो गयी। उसके उत्तराधिकारियो मे शोभित, बलराज, महेन्द्र, अहिल, बालाप्रसाद, पृथ्वीपाल आदि शासक हुए जिनमे अहिल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने गुजरात के भीमदेव की सेनाओ को परास्त किया तथा अपने हाथ से मालवा के भोज के सेनाध्यक्ष सधा का सर धड से अलग किया। १०२५ ई० मे जब महमूद गजनी, नाडोल और अन्हिलवाडा के मार्ग से सोमनाथ के अभियान के लिए जा रहा था तो उसने उसकी सेना से टक्कर ली थी। इसी प्रकार इसी वश के पृथ्वीपाल ने गुजरात के कर्ण को परास्त किया था।[७३]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नाडौल के चौहान शासको की तीसरी या चौथी पीढी के शासक—असराज, अल्हण, केल्हण लादि निर्बल हो गये थे और उन्हे गुजरात के सोलकियो की सामन्ती स्वीकार करनी पडी थी। केल्हण मूलराज द्वितीय के सामन्त के रूप मे मुहम्मद गोरी के विरुद्ध कायद्रान के ११७८ ई० के युद्ध मे लडा था। फिर १२०५ ई० के लगभग नाडौल शाखा के चौहान जालौर के चौहानो मे विलीन हो गये।[७४]

वैसे तो नाडौल शाखा की स्वतन्त्र सत्ता अधिक समय तक नही रही, फिर भी इनकी सास्कृतिक क्षेत्र मे प्रशसनीय उपलब्धियाँ हैं। लक्ष्मण ने नाडौल के दुर्ग को बनाया और केल्हण ने सोमेश्वर के लिए सुवर्ण तोरण का निर्माण करवाया। वैसे व्यक्तिगत रूप से नाडोली चौहान शिव और विष्णु के उपासक थे, फिर भी उन्होंने नेमीनाथ, ऋषभदेव, महावीर आदि जैन देवताओ के मन्दिरो के लिए, जो सेवाडी, वाली, नाडली आदि स्थानो मे थे, अनुदान देकर धर्म-सहिष्णु नीति का परिचय

---

his own way, but we should have regarded him as much greater had he combined with Ranthambhor, Malwa or Gujarat and saved thereby his own independence and that of the rest of Hindu India,"—Dr Dashrath Sharma, *Early Chauhan Dynasties*, pp 169-70

[७३] पी० सी० जैन, लेख सग्रह, भा० १, २१०-११, २५३-२५८, एपिग्राफिया इण्डिका, भा० ९, पृ० ७६-७७, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८२५

[७४] सुधा लेख, श्लो० २६, डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, ११११५, सिन्धवी जैन ग्रन्थमाला, भा० १, पृ० ५०, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नदर्न इण्डिया, पृ० १४८, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८२५

अपने स्वामी के नेतृत्व मे प्राणोत्सर्ग के लिए उद्यत हो गये। दुर्ग को बचाने के लिए कन्धाई, जैत उलीचा, जैत देवडा, लूणकरण, अर्जुन आदि अनेक सामन्तो ने अपने प्राणो की आहुति दे डाली, शत्रु-सेना फिर भी बढती गयी। अन्त मे एक सच्चे राजपूत की भाँति कान्हडदेव भी वीरोचित गति को प्राप्त हुआ।[७१]

फिर भी राजपूतो ने हिम्मत न हारी। कान्हडदेव के पुत्र वीरमदेव ने बची हुई राजपूत शक्ति का सगठन कर युद्ध को जारी रखा। थोडे-से मुट्ठी-भर राजपूत रसद की कमी हो जाने तथा शत्रुओ के किले मे घुस आने से युद्ध को अधिक समय न चला सके। वीरमदेव ने, यह समझकर कि या तो उसे शत्रु मार देंगे या वन्दी वना लेंगे, स्वय अपने पेट मे कटार भोक ली और मृत्यु की गोद मे जा वैठा। इसी अवधि मे राजपूत महिलाओ ने जौहर कर अपने सतीत्व की रक्षा की तथा अन्य किले के निवासी भी अपने अन्तिम साँस तक शत्रुओ से लडकर काम आये। इस भयकर रण-ताडव के उपरान्त किला खलजियो के हाथ लगा। इस विजय की स्मृति मे सुल्तान ने एक मस्जिद का निर्माण करवाया, जो अभी भी वहाँ विद्यमान है। कान्हडदेव का भाई मालदेव जालौर के पतन के पश्चात किसी तरह भीषण सहार से बच निकला। बाद मे उसने सुल्तान की सद्भावना अर्जित कर ली जिससे उसने उसे चित्तौड के कार्यभार को सँभालने के लिए नियुक्त किया।

इस प्रकार १३११ ई० के लगभग कान्हडदेव की जीवन-लीला समाप्त हुई। इसमे कोई सन्देह नही कि कान्हडदेव एक शूरवीर योद्धा, देशाभिमानी तथा चरित्रवान व्यक्ति था। उसने अपने अदम्य साहस तथा सूझबूझ से किले के निवासियो, सामन्तो तथा राजपूत जाति का नेतृत्व कर एक अपूर्व ख्याति अर्जित की थी। वह सैनिक नेतृत्व मे अपने समय के किसी हिन्दू शासक से कम नही था। यदि उसे पराजित होना पडा तो वह उसका दोष नही, परिस्थितियो का दोष था जिस पर उसका अधिकार नही था। उसमे उस कूटनीति का अभाव था जो उसकी सहायता से जमाने को वदल देता। उसकी महानता और अधिक वढ जाती यदि वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा मालवा, गुजरात, सीसोदिया और अन्य चौहानो को साथ लेकर करता। इन्ही भावो मे डा० दशरथ शर्मा ने कान्हडदेव के चरित्र का मूल्याकन किया है।[७२]

---

७१ कान्हडदे प्रवन्ध, खण्ड, ४, पृ० ११५-२५०, डा० दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० १६८-६९, डा० गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निवन्ध राजस्थान, पृ० १२६

७२ "This ended the career of the last of its independent representatives, Kanhadadeva Chauhan He was a man of character As a general he was not probably inferior to his Hindu contemporaries Brave, interpid to a degree, and sincerely religious, Kanhadadeva represented Rajput chivalry at its best His failure was more of a society than an individual He was great man in (Contd

(स) नाडौल के चौहान (960-1205 ई०)

वाक्पति राजा का पुत्र लक्ष्मण नाडौल चौहानों का प्रवर्तक था। 960 ई० में जब चावडा सामन्तसिंह की मृत्यु हो गयी तो उसने अपने आपको नाडौल का स्वामी बना लिया। वह एक वीर शासक था जिसने नाडौल राज्य की सीमा जोधपुर तक बढ़ा ली थी। 983 ई० के लगभग उसकी मृत्यु हो गयी। उसके उत्तराधिकारियों में शोभित बलराज, महेन्द्र, अहिल, बालाप्रसाद, पृथ्वीपाल आदि शासक हुए जिनमें अहिल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने गुजरात के भीमदेव की सेनाओं को परास्त किया तथा अपने हाथ से मालवा के भोज के सेनाध्यक्ष सधा का सर धड से अलग किया। 1025 ई० मे जब महमूद गजनी, नाडौल और अन्हिलवाडा के मार्ग से सोमनाथ के अभियान के लिए जा रहा था तो उसने उसकी सेना से टक्कर ली थी। इसी प्रकार इसी वंश के पृथ्वीपाल ने गुजरात के कर्ण को परास्त किया था।[73]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि नाडौल के चौहान शासकों की तीसरी या चौथी पीढी के शासक—असराज, अल्हण, केल्हण आदि निर्बल हो गये थे और उन्हें गुजरात के सोलंकियों की सामन्ती स्वीकार करनी पडी थी। केल्हण मूलराज द्वितीय के सामन्त के रूप मे मुहम्मद गोरी के विरुद्ध कायद्रान के 1178 ई० के युद्ध मे लडा था। फिर 1205 ई० के लगभग नाडौल शाखा के चौहान जालौर के चौहानों मे विलीन हो गये।[74]

वैसे तो नाडौल शाखा की स्वतन्त्र सत्ता अधिक समय तक नही रही, फिर भी इनकी सास्कृतिक क्षेत्र मे प्रशसनीय उपलब्धियाँ है। लक्ष्मण ने नाडौल के दुर्ग को बनाया और केल्हण ने सोमेश्वर के लिए सुवर्ण तोरण का निर्माण करवाया। वैसे व्यक्तिगत रूप से नाडौली चौहान शिव और विष्णु के उपासक थे, फिर भी उन्होंने नेमीनाथ, ऋषभदेव, महावीर आदि जैन देवताओं के मन्दिरो के लिए, जो सेवाडी, वाली, नाडली आदि स्थानो मे थे, अनुदान देकर धर्म-सहिष्णु नीति का परिचय

---

his own way, but we should have regarded him as much greater had he combined with Ranthambhor, Malwa or Gujarat and saved thereby his own independence and that of the rest of Hindu India,"—Dr Dashrath Sharma, *Early Chauhan Dynasties*, pp 169-70

73 पी० सी० जैन, लेख सग्रह, भा० 1, 210-11, 253-158, एपिग्राफिया इण्डिका, भा० 9, पृ० 76-77, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० 5, पृ० 825

74 सुधा लेख, श्लो० 26, डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 1115, सिंघवी जैन ग्रन्थमाला, भा० 1, पृ० 50, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नदर्न इण्डिया, पृ० 148, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० 5, पृ० 825

दिया। वि० स० १२१८ के नड्डुल दानपत्र से प्रमाणित होता है कि जहाँ अल्हणदेव ने सूर्य और ईशान की पूजा की तथा ब्राह्मणो को अनुदान दिये, वहाँ साथ ही साथ उसने महावीर के जैन मन्दिर के लिए भी मासिक पाँच द्रम नड्डुल तलपद से देने की व्यवस्था की। १२१६ वि० स० के किराडू अभिलेख से अल्हण द्वारा दोनो पक्षो की अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी के दिनो जीव-हिंसा को वर्जित किया गया और इस प्रकार का आदेश जारी किया गया कि इस नियम के उलघन करने वालो को प्राण-दण्ड दिया जायगा। उससे ब्राह्मण, पुजारी, मन्त्री और अन्य व्यक्तियो के लिए न्याय-क्रम की व्यवस्था की।[७५]

(द) सिरोही के चौहान (१३११-१५२३ ई०)

प्राक्कथन—सिरोही देवडे चौहानो के अधिकार मे आने के पूर्व कई राजवशो के अधिकार मे रही है। सिरोही क्षेत्र से प्राप्त कतिपय मूर्तियाँ, दानपत्र, शिलालेख और सिक्को के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ मौर्य, क्षत्रप, हूण, बैस, चावडा, गुहिलोत, परिहार, सोलकी और परमारो का अधिकार रहा। यहाँ के आदि-निवासी भील थे जिनसे इनमे से कतिपय राजवशो के झगडे चलते रहे। उनकी बस्तियो को नष्ट-भ्रष्ट कर इन राजवशो ने नई बस्तियाँ कायम की जो इधर-उधर दबे हुए भग्नावशेषो से प्रमाणित होता है। पँवार भी चन्द्रावती मे आबू तक फैले हुए थे जिनके तथा गुहिलोतो और नाडौल के चौहानो के बीच इस क्षेत्र मे कई लडाइयाँ होती रही। इस प्रकार सिरोही राज्य के इकाई मे बनने के पूर्व इस क्षेत्र मे अनेक राजनीतिक उथल-पुथल होते रहे।[७६]

देवडाओ का राज्य—सिरोही के राजा देवडा शाखा के चौहान-वशीय राज-पूत हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका आदि-पुरुष लुम्बा जालौर की देवडा शाखा का था, जिसने १३११ ई० के लगभग आबू और चन्द्रावती को परमारो से छीनकर वहाँ अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। वह बाद मे उनसे अनेक लडाइयाँ लडता रहा। उसने १३२० ई० मे अचलेश्वर मन्दिर का जीर्णोद्धार कर एक गाँव हेठूडी भेंट किया। उसकी मृत्यु १३२१ ई० मे मानी जाती है। उसके पीछे पाँच उत्तराधिकारियो के

७५ किराडू अभिलेख, वि० स० १२१६, नाडौल ताम्र-शासन, वि० स० १२१८, सुण्डा अभिलेख, श्लो० ५४, चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नदर्न इण्डिया, पृ० १४७-१५८, एपिग्राफिया इण्डिका, भा० ६, पृ० ६३-६६, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, दि कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८२५-२६

७६ बसन्तगढ का शिलालेख, वि० स० ६८२, सामोली का शिलालेख, वि० स० ७०३, कसवा अभिलेख, वि० स० ७६५, मन्दसौर अभिलेख, आबू के आदिनाथ के मन्दिर का लेख, वि० स० १०३१, धवल का लेख, वि० स० १०५३, जालौर तोपखाने का लेख, वि० स० ११७४, अजारी लेख, वि० स० १३२०, सिरोही स्टेट गजेटियर, पृ० २६८, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० १८६

सम्बन्ध मे, जो तेजसिंह, कान्हडदेव, सामन्तसिंह, सलखा और रायमल थे, हमारी कोई विशेष जानकारी नही है। कुछ शिलालेखो से इतना अवश्य प्रमाणित है कि उन्होंने अचलेश्वर के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया, ऋषिकेश का मन्दिर बनवाया और वशिष्ठ के मन्दिर के लिए गांव भेंट किये। इन शासको की राजधानी कभी चन्द्रावती और कभी अचलगढ में रही। कान्हडदेव के समय की वि० स० १४०० की अचलेश्वर के मन्दिर में एक पाषाण मूर्ति है, जिसके गले की दोलडी कण्ठी, दोनो हाथो के कडे, सिर पर बाल और गर्दन के नीचे दाढी बनी हुई है, जो तत्कालीन वेशभूषा तथा कला के अध्ययन के लिए बडी उपयोगी है।[७७]

सिरोही की स्थापना—चन्द्रावती अब लगातार मुस्लिम आक्रमणो के कारण राजधानी के लिए उपयुक्त नही रही। कुतुबुद्दीन ऐबक तथा अलाउद्दीन खलजी के आक्रमणो ने उसको वीरान-सा कर दिया था। रायमल के पुत्र शिभान ने सरणवा पहाडी पर एक दुर्ग की स्थापना की और शिवपुरी नामक नगर १४०५ ई० मे बसाया। सुरक्षा की दृष्टि से इनकी स्थिति अच्छी थी। उसके लडके सहसमल ने शिवपुरी के स्थान को स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक न समझा और उसे १४२५ ई० मे वहाँ से २ मील आगे बसाया जहाँ आज की सिरोही स्थित है। पुरानी सिरोही को राजधानी न रखने का कारण अहमदशाह गुजराती के आक्रमणो का भी हो सकता है जिसने नगर को उजाडा और वहाँ से संगमरमर अहमदाबाद की स्थापना के लिए ले गया।[७८]

सहसमल बडा महत्त्वाकाक्षी शासक था। उसने सोलंकी राजपूतो के राज्य मे से कुछ भाग लेकर अपने राज्य मे मिला लिया। इसी तरह जब महाराणा कुम्भा अन्य कार्यो मे व्यस्त था तो अवसर पाकर उसने सीमान्त भाग के कुछ गाँवो को अपने राज्य मे मिला लिया। जब महाराणा कुम्भा को इसकी सूचना मिली तो उसने शीघ्र डोढिया नरसिंह की अध्यक्षता मे एक सेना भेजी जिसने आबू, बसन्तगढ और भूड तथा सिरोही के पूर्वी भाग को अपने राज्य में मिला लिया। अपनी विजय के उपलक्ष मे राणा ने वहाँ अचलगढ दुर्ग, कुम्भास्वामी का मन्दिर, एक ताल और राजप्रासाद का निर्माण करवाया।[७९]

१४५१ ई० मे जब लाखा सिरोही का स्वामी बना तो उसने अपना मुख्य उद्देश्य आबू पुन प्राप्त करने का बनाया। परन्तु कुम्भा के हाथ से आबू लेना एक सरल काम नही था। जब माडू और गुजरात की सम्मिलित सेना ने मेवाड पर आक्र-

---

७७ वशिष्ठ मन्दिर शिलालेख, वि० स० १३३७, अचलेश्वर मन्दिर अभिलेख, वि० स० १३४३, १३७७ व १३९७, विमलेश अभिलेख, वि० स० १३७८, राजपूताना गजट, भा० ३ अ, पृ० २३८, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० १५५

७८ ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० १९८, सीताराम, हिस्ट्री ऑफ़ सिरोही राज, पृ० १६४-६५

७९ ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० १९५

मण किया तो कुम्भा का पूरा ध्यान देश-रक्षा मे लग गया। इसको उपयुक्त अवसर समझ उसने सिरोही के कुछ खोये हुए भाग पुन प्राप्त कर लिये। कुम्भा की मृत्यु के उपरान्त जब निर्बल शासक ऊदा मेवाड का शासक बना तो उससे लाखा ने आबू भी ले लिया। उसने इस कार्य मे गुजरात के कुतुबुद्दीन से भी काफी सहायता ली थी। लाखा एक व्यवस्थापक भी था। उसने बिखरी हुई प्रजा को फिर से वहाँ बसाया और व्यापारियो को बुलाकर उन्हे पुन रहने की अनुमति दी। उसने पावागढ से लाकर कालिका की मूर्ति सिरोही मे स्थापित की और अपने नाम से लाखनाव तालाब का निर्माण करवाया। लाखा ने लगभग २२ वर्ष राज्य किया। उसकी मृत्यु १४८३ ई० मे हुई।[८०]

लाखा के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र जगमाल सिरोही के सिंहासन पर बैठा। वह महत्त्वाकाक्षी शासक था। उसने सिरोही राज्य की प्रतिष्ठा बढाने के लिए राजनीतिक गठबन्धन किये। जब महाराणा रायमल और बहलोल लोदी की लडाई हुई तो जगमाल ने रायमल का साथ दिया, जिसमे १४७४ ई० मे लोदी परास्त हुआ। उसने जालौर के मलिक मजीदखाँ को परास्त कर और उससे प्रचुर मात्रा मे दण्ड वसूल कर एक ख्याति प्राप्त की थी। जब उसके छोटे भाई हम्मीर ने कुछ विरोधी सरदारो को अपनी ओर मिलाकर सिरोही का आधा भाग अपने अधिकार मे कर लिया तो जगमाल ने अपनी पूरी शक्ति के साथ उसका मुकाबला किया और अन्त मे उसको परास्त कर मृत्यु की गोद मे भेज दिया। इस स्थिति से राज्य मे विद्रोह की भावना अवश्य जाग्रत हो गयी। इन्ही दिनो जब ४०० फारस और खुरासानी घोडो को लेकर सिरोही की सीमा से कुछ व्यापारी गुजर रहे थे कि उपद्रवियो ने उनसे घोडे छीन लिये और उनका माल असबाब लूट लिया। जब इस घटना की सूचना महमूद शाह बेगडा (गुजरात) को मिली तो उसने जगमाल से इसका हर्जाना भरने को कहा। जगमाल ने पूरा हर्जाना देकर अपनी नैतिकता को निभाया, परन्तु इससे उसकी प्रतिष्ठा को बडी ठेस पहुँची।[८१]

बहु-विवाह के दोषो से जगमाल वंचित नही था। वह मेवाडी रानी आनन्दा-बाई को कष्ट देता था। जब इसका हाल कुँवर पृथ्वीराज (मेवाड) को मालूम हुआ तो वह सिरोही पहुँचा और उसे डराया धमकाया। जगमाल ने ऊपरी प्रेम बताकर पृथ्वीराज का आतिथ्य किया और अपने व्यवहार से उसे सन्तुष्ट किया। परन्तु मन ही मन वह पृथ्वीराज के अन्त का अपेक्षी था। जब पृथ्वीराज वहाँ से विदा हुआ तो दवा के बहाने उसे जहर की गोलियाँ दे दी। जब उनका सेवन कुम्भलगढ पहुँचते-पहुँचते

---

८० टॉड, एनाल्स, अध्याय ८

८१ टॉड, एनाल्स, भा० २, पृ० ५४८, ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० २०५, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८३२

कुँवर पृथ्वीराज ने किया तो मार्ग मे ही उसकी मृत्यु हो गयी।[८२] जगमाल भी १५२३ ई० मे मरा।

हम जगमाल के चरित्र मे एक दौर्बल्य पाते हैं। वह बलवान शत्रु से तो भय खाता था। इसीलिए महमूद वेगडा के पत्र आने पर उसने खुरासानी व्यापारियो को पूरा-पूरा हर्जाना दे दिया और मजीदखाँ जैसे निर्बल शत्रु से उसने दण्ड वसूल कर उसे मुक्त किया। कुँवर पृथ्वीराज से तो वह प्रत्यक्ष मे कुछ नही कह सका, परन्तु धोखे से उसके साथ बदला लिया। अपने भाई के साथ विरोध होने मे भी कोई ऐसा रहस्य छिपा था जो जगमाल के पक्ष मे नही हो और इसी कारण हम्मीर के सहयोगियो की सख्या बढने लगी हो। उसके द्वारा आधा सिरोही ले लेना और उसके मारे जाने पर भी विरोध की आग का नही बुझना हम्मीर की लोकप्रियता की ओर सकेत करता है। जगमाल मे हम एक मध्यम श्रेणी के शासक का व्यक्तित्व पाते है जो अवसर से लाभ उठाकर उन्नति करना चाहता है।

(घ) हाडौती के चौहान (१२४१-१५०३ ई०)

प्राक्कथन—राजस्थान के दक्षिणी-पूर्वी कोने वाले भाग का नाम हाडौती है जिसमे बूंदी और कोटा के भाग शामिल हैं। बताया जाता है कि प्राचीनकाल से इस समूचे भाग पर मीणो का अधिकार था। जब यहाँ चौहानवशीय हाडा शाखा का अधिकार हुआ तो सम्पूर्ण क्षेत्र को हाडौती और बून्दा मीणा के नाम से बूंदी पुकारने लगे। कुम्भाकालीन राणपुर लेख मे बूंदी का नाम 'वृन्दावती' मिलता है जिसकी पुष्टि खजूरी गाँव के १५०६ ई० के लेख से होती है। बूदी के शासक लगभग ११ पीढी तक मेवाड के अधीन रहे और यह भाग मेवाड के राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र मे बना रहा।

देवसिंह—देवसिंह प्रारम्भ मे मेवाड स्थित बम्बावदे का सामन्त और हाडा शाखा का चौहान था। उसने बूंदी के मीणो से इस भाग को १२४१ ई० के लगभग छीनकर बन्दू घाटी मे बूंदी राज्य की स्थापना की। धीरे-धीरे उसने आसपास के भागो को भी अपने राज्य मे सम्मिलित किया। उसने गजमल गौड से खटकड, मनहरदास गोहिल से पाटन, अन्य गौडो से गैणोली तथा लाखेरी और जसकरण दहिया से करवर के परगने जीत लिये और अपने राज्य को विस्तारित किया। बताया जाता है कि उसने लाखेरी पर तुर्कों की सेना को भी परास्त किया था। शक्ति का उपासक होते हुए उसने गगेश्वरी देवी का मन्दिर और एक बावडी अमरथूण मे बनवायी। बम्बावदा से चम्बल के बायें तटवर्ती भूमि को अपने राज्य मे सम्मिलित कर उसने

---

[१] टॉड, एनाल्स, जि० २, पृ० ३४८

अपने पुत्र समरसिंह को १२४३ ई० मे अपने जीवन-काल मे हाडौती का शासक बनाया।[८३]

समरसिंह—देवसिंह का पुत्र समरसिंह अपने पिता के भाँति ही महत्वाकाक्षी था। उसने कोटिया शाखा के भीलो से सघर्ष किया और उनको स्थान-स्थान पर परास्त किया। उनके हाथ से अखेलगढ और मुकन्दरानाल के निकल जाने से भीलो की शक्ति कम हो गयी। उस प्रान्त पर पूरा ध्यान रखने के लिए उसने अपने लडके जैत्रसिंह को नवविजित भाग, जो कोटा का भाग था, दे दिया। १२७४ ई० मे इस तरह हाडौती मे कोटा एक राजधानी के रूप मे बना, परन्तु वह बूंदी राज्य के अन्तर्गत था। समरसिंह ने गौडो, पँवारो और मेड राजपूतो से टक्कर ली और कैथूनी, सीसवाल, बरोद, रेलावन, रामगढ, मऊ और सागोद को हस्तगत किया। इस प्रकार अपने शौर्य से समरसिंह ने बूंदी और कोटा राज्य को काफी परिवर्द्धित कर दिया।[८४]

ऐसा प्रतीत होता है कि समरसिंह तुर्को से भी लडा था। १२५२-५३ ई० मे उसने बूंदी और रणथम्भौर की रक्षा बलबन के विरुद्ध की थी, परन्तु जब अलाउद्दीन की फौजो ने बम्बावदा पर आक्रमण किया तो वह उस अवसर पर वीरगति को प्राप्त हुआ।[८५]

नापूजी और उसके उत्तराधिकारी—नापूजी समरसिंह की मृत्यु के पश्चात बूंदी की गद्दी पर बैठा। उसने महेशदास खीची और रैपाल सोलकी को हराकर पलायथा और टोडा का स्वामित्व प्राप्त किया। सोलकियो के साथ जब युद्ध हो रहा था, कोटा का जैत्रसिंह मारा गया, परन्तु इन विजयो से नापूजी का राज्य दक्षिण मे पाटन तक और उत्तर मे टोडा तक विस्तारित हो गया। सम्भवत अलाउद्दीन के साथ १३०४ ई० के युद्ध मे उसकी मृत्यु हो गयी।[८६]

नापूजी की मृत्यु के बाद उसका लडका हल्लू हाडौती का शासक बना। उसका राज्यकाल थोडा ही रहा, परन्तु इस थोडे काल मे उसने मीसवाला के सामन्त को

---

[८३] नैणसी री ख्यात, भा० १, पृ० १०६, टॉड, एनाल्स, भा० ३, पृ० १४६५-६६, वंशभास्कर, भा० २, पृ० १६२१-२७

[८४] वशभास्कर, भा० ३, पृ० १६७८-८१

[८५] टॉड, एनाल्स, भा० ३, पृ० १४७८-७९, मजूमदार, दि स्ट्रगल फॉर एम्पायर, पृ० १२१, एम० एल० शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ६२-६३, जी० एन० शर्मा, राजस्थान,-ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८३३

[८६] वशभास्कर, भा० ३, पृ० १७१४, १७२७, १७८७, एम० एल० शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ६३-६५, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८३४

दबाया, जो बूंदी से स्वतन्त्र होना चाहता था। नापूजी मे फिर विरक्ति के भाव उत्पन्न हो गये, तो उसने अपने लडके को अधिकार दे बनारस प्रस्थान कर दिया।[८७]

हल्लू का उत्तराधिकारी वीरसिंह वडा निकम्मा शासक सिद्ध हुआ। अभाग्यवश उसके समय मे सभी शक्तियाँ एक के बाद दूसरी बूंदी के विरुद्ध उठ खडी हुई, जिनका सामना वह सफलतापूर्वक न कर सका। उसके राज्य की अव्यवस्था से लाभ उठाने के लिए महाराणा लाखा ने (१३८२-१४२० ई०) बूंदी राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसके फलस्वरूप हाडौती की कुछ भूमि, वम्बावदा और माण्डलगढ उसके हाथ लगे। १४३२ ई० मे गुजरात के अहमदशाह ने भी बूंदी-कोटा से दण्ड वसूल किया। महमूद खलजी ने माँडू से आकर तीन बार (१४४६, १४५३ और १४५६ ई०) बूंदी पर आक्रमण किया। १४५६ ई० वाले अन्तिम आक्रमण मे वीरसिंह मारा गया और उसके दो लडके समरसिंह और अमरसिंह बन्दी बनाकर माण्डू ले जाये गये। इन लडको का धर्म-परिवर्तन किया गया और उनके नाम समरकन्दी और उमरकन्दी रखे गये। वीरसिंह के उत्तराधिकारियो की कुछ समय तक तो कोई हिम्मत न रही कि वे अपने पैतृक राज्य को बाहरी आक्रान्ताओ से बचा सकें और उसका पूर्व वैभव पुन स्थापित कर सकें। वून्दा ने कुछ समय प्रयत्न किया कि वह राज्य की अराजकता को दूर करे, परन्तु उसके स्वजनो ने ही उसे राज्य से निकाल दिया और उसे मतुण्डा के पहाडी भागो की शरण लेनी पडी, जहाँ १५०३ ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।[८८]

जैत्रसिंह की मृत्यु के बाद, जैसा कि हमने ऊपर पढा, कोटा के शासक सुजन और धीरदेह हुए। ये बूंदी के आश्रित शासक बने रहे। परन्तु कोई वीरोचित काय न कर सके जिससे देश की स्थिति मे सन्तुलन पैदा हो जाय। अलबत्ता इनके समय मे कोटा के आसपास बारह तालाबो का निर्माण कराया गया जिससे खेती और आबादी बढने की सम्भावना और सुविधा हो गयी।[८९]

---

[८७] बूंदी की तवारीख, जी० एन० शर्मा, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८३४

[८८] एम० एल० शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ६०, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८३४-३५, राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, बूंदी, पृ० ३६

[८९] टॉड, एनाल्स, भा० २, पृ० ५०६, वशभास्कर, भा० ३, पृ० १७०८, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८३४

अध्याय १४

गुहिलो तथा सीसोदियो की शक्ति का विस्तार और तुर्की विरोध

(१३वी से १५वी शताब्दी तक)

(अ) मेवाड मे नव-शक्ति का सचार और तुर्को से सघर्ष (१२१३-१३२६)

मेवाड के इतिहास मे तेरहवी शताब्दी के आरम्भ से एक नया मोड आता है जिसमे केन्द्रीय चौहानो की शक्ति का ह्रास होना और जैत्रसिह (१२१३-१२५० ई०) जैसे व्यक्ति का शासक होना बडे महत्त्व की घटनाएँ हैं। चीरवे के लेख से प्रमाणित होता है कि जैत्रसिह इतना शक्तिशाली शासक बन गया था कि मालवा, गुजरात, मारवाड, जागल तथा दिल्ली के शासक उसका कोई बिगाड न कर सके। इस प्रकार के कथन मे कुछ अतिशयोक्ति अवश्य हो सकती है, परन्तु इससे हमे यह सकेत मिलता है कि उसने अपने पूर्वजो की अपेक्षा मेवाड के पडोसी राज्यो को अवश्य दबा रखा था। उक्त लेख से यह भी स्पष्ट होता है कि १२४२-४३ ई० मे जैत्रसिह की गुजरात के शासक त्रिभुवनपाल के साथ लडाई हुई जिसमे वीरधवल के मन्त्रियो वस्तुपाल, तेजपाल—ने दोनो दलो मे सन्धि कराने का प्रयत्न किया, परन्तु राणा ने मेल करने से इन्कार कर दिया।[1]

जैत्रसिह के शासनकाल के पूर्व नाडौल के चौहानवशीय कीतू ने मेवाड पर अधिकार स्थापित किया था। इस वैर के बदले मे जैत्रसिह ने समकालीन चौहानवशीय शासक उदयसिह के विरुद्ध नाडौल पर चढाई कर दी। नाडौल को बचाने के लिए उदयसिह ने अपनी पौत्री रूपादेवी का विवाह जैत्रसिह के पुत्र तेजसिह के साथ कर मेवाड और नाडौल के वैर को समाप्त किया। उसके द्वारा मालवा के परमारो को भी युद्ध मे परास्त किये जाने का उल्लेख मिलता है।[2]

---

[1] चीरवा का लेख, पद्य ५-६, घाघसे का शिलालेख, पद्य ६, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १५६-५७

[2] चीरवा का लेख, पद्य १५-२८, आबू का लेख, पद्य ४२, इ० ए०, जि० १६, पृ० ३४६, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १५८-५६

तुर्कों के आक्रमण के पूर्व दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान की स्थिति

जिस समय जैत्रसिंह अपनी शक्ति का संगठन कर रहा था उस समय राजस्थान और गुजरात की राजनीतिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी। निर्धन शक्ति-सम्पन्न होकर उपद्रव कर रहे थे। गुजरात का सोलंकी राजा भीमदेव (द्वितीय) अल्पवयस्क था। अवसर पाकर गुजरात के सामन्त तथा मन्त्री स्वतन्त्र से हो गये थे। उनमें सोलंकियों की एक शाखा के बघेल वंशीय धोलका के सामन्त लवणप्रसाद के पुत्र वीरधवल ने गुजरात के राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली थी। दोनों पिता-पुत्र और उनके मन्त्री वस्तुपाल और तेजपाल ने इनकी शक्ति को अपनी नीति-निपुणता से सम्पन्न बना दिया था। उक्त मन्त्रियों ने यह चाहा था कि किसी प्रकार गुजरात और मेवाड के सम्बन्ध अच्छे हो जायें जिससे बढती हुई तुर्कों की ताकत इन राज्यों के लिए घातक सिद्ध न हो। परन्तु जैत्रसिंह ने इस प्रकार के सन्धि प्रस्ताव को अस्वीकार किया।[3]

तुर्कों से मेवाड की मुठभेड

ऐसी स्थिति से जब पश्चिमी भारतवर्ष गुजर रहा था तब इल्तुतमिश नामी एतद् कथित दास सुल्तान ने मेवाड पर अपने अधिकार स्थापित करने की योजना बनायी। इसके फलस्वरूप उसकी फौजें सुदूर नागदा तक पहुँच गयी। नागदा को नष्ट किया गया और आसपास के कस्बो और बस्तियो को हानि पहुँचायी गयी। परन्तु जैत्रसिंह द्वारा स्थान-स्थान पर सुल्तान की सेना का विरोध किया गया। चीरवा के शिलालेख[४] के अनुसार तलारक्ष योगराज का ज्येष्ठ पुत्र भूताला की लडाई मे सुल्तान की सेना से लडकर काम आया। जैत्रसिंह ने इस तरह, प्रतीत होता है कि तुर्की सेना को भागने के लिए विवश किया। चीरवा[५] तथा घाघसे के शिलालेख मे इस आक्रमण की उपलब्धियो के सम्बन्ध मे यह लिखा है कि म्लेच्छो का स्वामी भी जैत्रसिंह का मान-मर्दन न कर सका। इस उल्लेख की पुष्टि समरसिंह के आबू के शिलालेख[६] से होती है जिसमें यह वर्णन है कि जैत्रसिंह उस तुरुष्क रूपी समुद्र का पान करने के लिए अगस्त्य के समान था। इन समसामयिक लेखो से स्पष्ट है कि तुर्कों का यह मेवाड प्रवेश एक क्षणिक विजय की चिनगारी थी जो स्थायी रूप से मेवाड पर कोई प्रभाव स्थापित न कर सकी। अलबत्ता इस प्रारम्भिक प्रवेश का प्रभाव भावी तुर्कों की नीति पर पडा जिससे राजस्थान के कई सुदृढ शक्ति के केन्द्रो को हानि उठानी पडी।

इस युद्ध के सम्बन्ध में जयसिंह सूरि ने अपने 'हम्मीरमदमर्दन' काव्य मे कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन देते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि इल्तुतमिश की

---

3 ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १५८-५६

४ चीरवा का शिलालेख, पद्य १६

५ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ १६१

६ वही, पृ० १६१

फौजो को मेवाड से भगाने का श्रेय जैत्रसिंह को न होकर वीरधवल को है। इस सम्बन्ध मे लेखक लिखता है कि वीरधवल को जब यह मालूम हुआ कि तुर्की सेना मेवाड तक प्रवेश कर चुकी है और नागदा को नष्ट कर दिया गया है तो उसे यह आशका हुई कि कही शत्रुओ की विजयी सेनाएँ गुजरात तक न पहुँच जायँ। वस्तुत स्थिति का पता लगाने के लिए उसने अपने एक कमल नामक दूत को मुसलमान के भेष मे मेवाड भेजा। उसने वहाँ की प्रजा की दयनीय स्थिति को देखकर भागो-भागो चिल्लाना शुरु कर दिया और कहना आरम्भ किया कि वीरधवल आ रहा है। इसके नाम को सुनकर लोगो मे हिम्मत आ गयी और उन्होंने भागते हुए शत्रुओ का पीछा कर उन्हें धकेल दिया।[७]

जयसिंह द्वारा दिये गये वर्णन से तुर्की सेना का भागना तो स्पष्ट है परन्तु यह कपोल-कल्पित दीख पडता है कि शत्रु वीरधवल के नाम से भयभीत हो गये और मेवाडियो मे उसके नाम से हिम्मत आ गयी। लेखक वीरधवल को तुर्को के भगाने का श्रेय दिलाने के अभिप्राय से इस प्रकार की मिथ्या कल्पना करता है। वीरधवल की प्रशसा उक्त लेखक द्वारा किया जाना स्पष्ट है, क्योंकि जयसिंह सूरि भडौंच के मुनिसुव्रत के जैन मन्दिर का आचार्य था और इसी मन्दिर के २५ सुवर्ण दण्ड का चढावा तेजपाल द्वारा दिया गया था तथा इन दोनो भाइयो ने जैन मन्दिरो के निर्माण मे करोडो रुपये व्यय किये थे। ऐसे समृद्ध मन्त्रियो और उनके स्वामी वीरधवल की प्रशसा मे हम्मीर-मदमर्दन काव्य की रचना की जाय और वीरधवल के नाम के उच्चारण-मात्र से तुर्की सेना को भगाने का श्रेय अपने स्वामी को दिया जाय, यह स्वाभाविक लगता है। परन्तु यदि वस्तुत स्थिति को देखा जाय तो यह पूर्णतया असगत मालूम होता है कि वीरधवल की, जिसके साथ मैत्री-सम्बन्ध करने मे जैत्रसिंह अपनी मान-हानि समझता था और जिसका स्तर एक सामन्त के रूप मे था, दुहाई का मेवाड पर ऐसा प्रभाव पडे कि तुर्की सेना उसके नाम के भय से भाग खडी हो। वास्तविक घटना का स्वरूप चीरवा, घाघसा तथा आबू के शिलालेखो से स्पष्ट है। इसी को आधार मानकर डा० ओझा तथा डा० शर्मा की भी यही मान्यता है कि जैत्रसिंह ने मेवाड मे तुर्की सेना को भगाया था। यह सम्पूर्ण घटना १२२२ और १२२९ ई० के बीच मे होना सम्भावित है।[८]

कर्नल टॉड ने १२०१ ई० में इल्तुतमिश की सेना को नागौर के पास युद्ध में परास्त करना बताया है, जो अशुद्ध है। उक्त विद्वान ने यह भूल इस आधार से की है कि उसने राहप को रावल समरसिंह का पौत्र और करण का पुत्र मानकर चित्तौड

---

७ हम्मीरमदमर्दन, अक ३, पृ० २४-३३, हम्मीरमदमर्दन, अक ८, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६०-६३

८ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६२, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६५४

का शासक माना है। परन्तु न तो वह समरसिंह का पौत्र था [illegible] का पुत्र था न चित्तौड का शासक था, वह तो समरसिंह के बहुत पहले हो चुका था तथा चित्तौड का शासक न होकर केवल सीसोद का सामन्त था।[9]

इस युद्ध के सम्बन्ध मे फारसी तवारीखो मे उल्लेख ढूंढना व्यर्थ है, क्योंकि फारसी तवारीख के लेखको ने, जो विजय के इतिहास लिखने मे अधिक रुचि रखते थे, तुर्की सेना के पराभवो के उल्लेख की उपेक्षा की। परन्तु स्थानीय तथा आसपास के प्रदेशो के समसामयिक साहित्य के पयवेक्षण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इल्तुतमिशकालीन यह अभियान परीक्षणार्थ अपनाया गया था जिसमे तुर्की सेना को पग-पग मे आपत्ति का सामना करना पडा। अलवत्ता इस अभियान ने भावी अभियानो की योजनाओ को प्रोत्साहन दिया। साथ ही साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि इस अभियान से मेवाड को जन और धन की हानि उठानी पडी थी। इस हानि के सम्बन्ध मे हम्मीरमदमर्दन[10] मे उल्लिखित है कि सुल्तान की फौज ने मेवाड को जला दिया, उसकी राजधानी (नागदा) के निवासियो को तलवार के घाट उतारा, लोगो मे त्राहि-त्राहि मच गयी और मुसलमानो ने बच्चो को निदयता से मारा आदि। डा० दशरथ शर्मा[11] की भी यही मान्यता है कि जैत्रसिंह के शौर्य ने तुर्की सेना को तो पीछे हटाया, परन्तु मेवाड को तथा विशेष रूप से नागदा को, जो मेवाड की राजधानी थी, इस अभियान से हानि उठानी पडी।

जैत्रसिंह और सिन्ध की सेना से मुठभेड

इल्तुतमिश की भाँति शाहबुद्दीन गोरी की सल्तनत के एक भाग सिन्ध को उसके एक गुलाम नासिरुद्दीन ने हथिया लिया था। जलालुद्दीन ख्वारिज्म ने नासिरुद्दीन को उच्छ की लडाई मे हराया जिसके फलस्वरूप उसका ठठ्ठा नगर पर अधिकार हो गया। विजेता ने ठठ्ठा के आसपास मन्दिरो की तोड-फोड की और उनके स्थान पर मस्जिदो को बनवाया। अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए उसने १२२३ ई० मे अपने सेनानायक खवासखाँ की अध्यक्षता मे एक सेना अन्हिलवाडा मे भेजी। सम्भवत लूट के बाद यहाँ से लौटने वाली सेना पर या लूट के लिए जाने वाली सेना को जैत्रसिंह

---

९ टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ३०५, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १६४

१० हम्मीरमदमदन, अक ३, पृ० २५-३३, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १६१

११ डा० दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६५४
'It was Jaitrasimha's valour which was responsible for the repulse of a Muslim army moving towards Gujarat by way of Mewar Yet Mewar had certainly to suffer as a result of the invasion The prosperity of Nagda, which, till then had been the capital of Medapata, had a serious set back "

ने नष्ट किया हो, जैसा कि आबू शिलालेख के आधार पर डा० ओझा लिखते हैं। शिलालेख मे आये हुए 'सिंधुक' शब्द का अर्थ डा० ओझा ने 'सिंधवाले' किया है जिससे घटना का तारतम्य कुछ वैठ जाता है, परन्तु यदि 'सिन्धुक' शब्द का कोई व्यक्ति था तो डा० रायचौधरी वताते हैं कि जैत्रसिंह का समकालीन वह कौन व्यक्ति हो सकता है, यह सन्देहपूर्ण है।[१२]

नासिरुद्दीन महमूद और मेवाड

जैत्रसिंह के अन्तिम काल के लगभग १२४८ ई० मे दिल्ली के सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद ने मेवाड पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का कारण फरिश्ता के अनुसार यह था कि सुल्तान ने अपने भाई जलालुद्दीन को कन्नौज से दिल्ली बुलाया। दिल्ली जाने पर उसे प्राणो का भय था, अतएव वह अपने साथियो समेत चित्तौड की पहाडियो मे जाकर छिप गया। सुल्तान ने उसका पता लगाने के लिए पीछा किया, परन्तु आठ महीनो के बाद उसे फिर से दिल्ली लौट जाना पडा। फरिश्ता ने इसके आगे इस सम्वन्ध मे अन्य वर्णन नही दिया है जिससे सम्भव है कि जैत्रसिंह की, जो उस समय चित्तौड का शासक था, सुरक्षा पाकर जलालुद्दीन सुल्तान के हाथ न आ सका हो और उसकी सेना को राणा ने पूर्ववत ढकेल देने मे सफलता प्राप्त की हो।[१३]

जैत्रसिंह का व्यक्तित्व

डा० ओझा ने[१४] जैत्रसिंह की प्रशसा मे लिखा है कि "दिल्ली के गुलाम सुल्तानो के समय मे मेवाड के राजाओ मे सबसे प्रतापी और वलवान राजा जैत्रसिंह ही हुआ, जिसकी वीरता की प्रशसा उसके विपक्षियो ने भी की है।" डा० दशरथ शर्मा[१५] भी जैत्रसिंह के काल को मध्यकालीन मेवाड का सुवर्णकाल मानते है। सबसे वडी उपलब्धि जो जैत्रसिंह के सम्वन्ध मे दिखायी देती है वह यह है कि उसने मेवाड के प्रमुख केन्द्र आहड को चालुक्यो से मुक्त किया। इस कार्य से केन्द्रीय शक्ति को वल मिला और शत्रुओ को राणा से भय उत्पन्न हो गया। जहाँ तक राज्य-विस्तार का सम्वन्ध था उसने सम्पूर्ण मेवाड, वागड, कोटडा आदि भागो को अपने राज्य के अन्तर्गत

---

[१२] आबू लेख, पृ० ४३, ब्रिग्ज, तारीख-ए-फरिश्ता, भा० ४, पृ० ४१५-४२०, रेवर्टी, तवकात-ए-नासिरी, भा० १, पृ० २९४ की टिप्पणी, डफ, क्रानोलोजी ऑफ इण्डिया, पृ० १७९-८०, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६५, रायचौधरी, हिस्ट्री ऑफ मेवाड, पृ० ५५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६५६

[१३] ब्रिग्ज-फरिश्ता, जि० १, पृ० २३८, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६५-६६, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६५६

[१४] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६६

[१५] "On the whole Jaitrasimha's reign forms a glorious period in the annals of early medieval Mewar"

—*Rajasthan Through the Ages*, p 657

सम्मिलित किया। जैत्रसिंह ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने चित्तौड की उपयोगिता को खूब समझा और उसकी सुरक्षा के लिए प्राचीरो का निर्माण करवाया। इस कार्य से चित्तौड की सैनिक उपयोगिता बढ गयी। अब यह गढ आहड और नागदा की भाँति मेवाड राज्य का सुदृढ शक्ति का केन्द्र बन गया। जैत्रसिंह ने अपने व्यक्तिगत गुणो के कारण अपने चारो ओर सुयोग्य व्यक्तियो का मण्डल बना लिया था जो उसके राज्य-विस्तार तथा शासन-कार्य मे सहयोग देते थे। उसके समय के सैनिक अधिकारियो मे बालाक और मदन के नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने अपने बल और शौय मे मेवाड राज्य की सीमा सुदूर मत्स्य तथा मालवा राज्य की सीमा तक प्रसारित कर दी थी। वि० स० १२७९ के नादेशमा के लेख से हमे डूँगरसिंह का नाम मिलता है जो नागदा का प्रमुख कोषाध्यक्ष था। वि० स० १३०९ की आहड की एक 'पाक्षिक सूत्र वृत्ति' मे उसके श्रीकरणाधिकारी का नाम महतर (महता) तल्हण दिया है। इसी प्रकार 'ओघ नियुक्ति' नाम के जैन ग्रन्थ से उसके महामात्य का नाम जगतसिंह स्थिर होता है।[१६]

जैत्रसिंह के समय-निर्धारण सम्बन्धी विचार

डा० ओझा शिलालेखो और कुछ हस्तलिखित पुस्तको के आधार पर जैत्रसिंह के काल को १२१३ से १२५३ ई० निश्चित करते है। सबसे पहला जैत्रसिंह के काल का लेख वि० स० १२७० (१२१३ ई०) का एकलिंगजी के मन्दिर के चौक मे नदी के निकट वाली एक छोटी-सी स्मारक-शिला पर खुदा है। इसको प्रथम लेख मानकर वे उसका राज्यारोहण १२१३ ई० मे स्थिर करते है। इसी प्रकार वि० १३०९ (१२५३ ई०) की 'पाक्षिक वृत्ति' और वि० १३१७ (१२६१ ई०) की तेजसिंह के काल की 'श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि' को लेकर उनका मत है कि जैत्रसिंह की मृत्यु वि० १३०९ और १३१७ (१२५३ और १२६१ ई०) के बीच किसी वर्ष होना चाहिए। इसके विपरीत श्री अग्रवाल[१८] ने वि० १३०९ की प्रति मे 'राजाश्रितेजसिंघविजराज्ये' पक्ति को राजा श्री तेजसिंह विजय राज्य पढकर यह प्रतिपादन किया है कि वि० १३०९ की पाक्षिक वृत्ति की प्रति तेजसिंह के समय की है अतएव जैत्रसिंह का निधन काल वि० १३०९ (१२५३ ई०) के पूर्व स्थिर किया जाना चाहिए। हमारे विचार से डा० ओझा ने वि० १३०९ से वि० १३१७ तक के निधन काल के बीच की अवधि बडी लम्बी स्थिर की है जिसमे मृत्यु-काल को अनुमान से ही स्थिर किया जा सकता

---

[१६] भावनगर इन्सक्रिपशन्स, पृ० ९३, पिटर्सन रिपोर्ट, न० ३, पृ० ५२, १३०, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६६-६७, राजस्थान थ्रु दि एजेज, पृ० ६५७-५८, जिनविजयजी ने इस प्रति को जैत्रसिंहकालीन माना है और 'राज्याश्रिते' 'जयसिंहविजय के रूप मे पद भग किया है।

[१७] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६६-६७

[१८] इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९६१, पृ० ५२

ने नष्ट किया हो, जैसा कि आबू शिलालेख के आधार पर डा० ओझा लिखते हैं। शिलालेख मे आये हुए 'सिधुक' शब्द का अर्थ डा० ओझा ने 'सिंधवाले' किया है जिससे घटना का तारतम्य कुछ बैठ जाता है, परन्तु यदि 'सिन्धुक' शब्द का कोई व्यक्ति था तो डा० रायचौधरी बताते हैं कि जैत्रसिंह का समकालीन वह कौन व्यक्ति हो सकता है, यह सन्देहपूर्ण है।[१२]

नासिरुद्दीन महमूद और मेवाड

जैत्रसिंह के अन्तिम काल के लगभग १२४८ ई० मे दिल्ली के सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद ने मेवाड पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का कारण फरिश्ता के अनुसार यह था कि सुल्तान ने अपने भाई जलालुद्दीन को कन्नौज से दिल्ली बुलाया। दिल्ली जाने पर उसे प्राणो का भय था, अतएव वह अपने साथियो समेत चित्तौड की पहाडियो मे जाकर छिप गया। सुल्तान ने उसका पता लगाने के लिए पीछा किया, परन्तु आठ महीनो के बाद उसे फिर से दिल्ली लौट जाना पडा। फरिश्ता ने इसके आगे इस सम्बन्ध मे अन्य वर्णन नही दिया है जिससे सम्भव है कि जैत्रसिंह की, जो उस समय चित्तौड का शासक था, सुरक्षा पाकर जलालुद्दीन सुल्तान के हाथ न आ सका हो और उसकी सेना को राणा ने पूर्ववत ढकेल देने मे सफलता प्राप्त की हो।[१३]

जैत्रसिंह का व्यक्तित्व

डा० ओझा ने[१४] जैत्रसिंह की प्रशसा मे लिखा है कि "दिल्ली के गुलाम सुल्तानो के समय मे मेवाड के राजाओ मे सबसे प्रतापी और बलवान राजा जैत्रसिंह ही हुआ, जिसकी वीरता की प्रशसा उसके विपक्षियो ने भी की है।" डा० दशरथ शर्मा[१५] भी जैत्रसिंह के काल को मध्यकालीन मेवाड का सुवर्णकाल मानते है। सबसे बडी उपलब्धि जो जैत्रसिंह के सम्बन्ध मे दिखायी देती है वह यह है कि उसने मेवाड के प्रमुख केन्द्र आहड को चालुक्यो से मुक्त किया। इस कार्य से केन्द्रीय शक्ति को बल मिला और शत्रुओ को राणा से भय उत्पन्न हो गया। जहाँ तक राज्य-विस्तार का सम्बन्ध था उसने सम्पूर्ण मेवाड, वागड, कोटडा आदि भागो को अपने राज्य के अन्तर्गत

---

[१२] आबू लेख, पृ० ४३, ब्रिग्ज, तारीख-ए-फरिश्ता, भा० ४, पृ० ४१५-४२०, रेवर्टी, तबकात-ए-नासिरी, भा० १, पृ० २९४ की टिप्पणी, डफ, क्रानोलोजी ऑफ इण्डिया, पृ० १७९-८०, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६५, रायचौधरी, हिस्ट्री ऑफ मेवाड, पृ० ५५, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६५६

[१३] ब्रिग्ज-फरिश्ता, जि० १, पृ० २३८, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६५-६६, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६५६

[१४] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६६

[१५] "On the whole Jaitrasimha's reign forms a glorious period in the annals of early medieval Mewar"

—*Rajasthan Through the Ages*, p 657

सम्मिलित किया। जैत्रसिंह ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने चित्तौड की उपयोगिता को खूब समझा और उसकी सुरक्षा के लिए प्राचीरो का निर्माण करवाया। इस कार्य से चित्तौड की सैनिक उपयोगिता बढ गयी। अब यह गढ आहड और नागदा की भाँति मेवाड राज्य का सुदृढ शक्ति का केन्द्र बन गया। जैत्रसिंह ने अपने व्यक्तिगत गुणो के कारण अपने चारो ओर सुयोग्य व्यक्तियो का मण्डल बना लिया था जो उसके राज्य-विस्तार तथा शासन-कार्य मे सहयोग देते थे। उसके समय के सैनिक अधिकारियो में बालाक और मदन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अपने बल और शौर्य से मेवाड राज्य की सीमा सुदूर मत्स्य तथा मालवा राज्य की सीमा तक प्रसारित कर दी थी। वि० स० १२७६ के नादेशमा के लेख से हमे डूंगरसिंह का नाम मिलता है जो नागदा का प्रमुख कोषाध्यक्ष था। वि० स० १३०६ की आहड की एक 'पाक्षिक सूत्र वृत्ति' मे उसके श्रीकरणाधिकारी का नाम महतर (महता) तल्हण दिया है। इसी प्रकार 'ओध नियुक्ति' नाम के जैन ग्रन्थ से उसके महामात्य का नाम जगतसिंह स्थिर होता है।[16]

जैत्रसिंह के समय-निर्धारण सम्बन्धी विचार

डा० ओझा शिलालेखो और कुछ हस्तलिखित पुस्तको के आधार पर जैत्रसिंह के काल को १२१३ से १२५३ ई० निश्चित करते है। सबसे पहला जैत्रसिंह के काल का लेख वि० स० १२७० (१२१३ ई०) का एकलिंगजी के मन्दिर के चौक मे नदी के निकट वाली एक छोटी-सी स्मारक-शिला पर खुदा है। इसको प्रथम लेख मानकर वे उसका राज्यारोहण १२१३ ई० मे स्थिर करते है। इसी प्रकार वि० १३०६ (१२५३ ई०) की 'पाक्षिक वृत्ति' और वि० १३१७ (१२६१ ई०) की तेजसिंह के काल की 'श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि' को लेकर उनका मत है कि जैत्रसिंह की मृत्यु वि० १३०६ और १३१७ (१२५३ और १२६१ ई०) के बीच किसी वर्ष होना चाहिए। इसके विपरीत श्री अग्रवाल[18] ने वि० १३०६ की प्रति मे 'राजाश्रितेजसिंघविजराज्ये' पक्ति को राजा श्री तेजसिंह विजय राज्य पढकर यह प्रतिपादन किया है कि वि० १३०६ की पाक्षिक वृत्ति की प्रति तेजसिंह के समय की है अतएव जैत्रसिंह का निधन काल वि० १३०६ (१२५३ ई०) के पूर्व स्थिर किया जाना चाहिए। हमारे विचार से डा० ओझा ने वि० १३०६ से वि० १३१७ तक के निधन काल के बीच की अवधि बडी लम्बी स्थिर की है जिसमें मृत्यु-काल को अनुमान से ही स्थिर किया जा सकता

---

[16] भावनगर इन्सक्रिपशन्स, पृ० ९३, पिटर्सन रिपोर्ट, न० ३, पृ० ५२, १३०, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६६-६७, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६५७-५८, जिनविजयजी ने इस प्रति को जैत्रसिंहकालीन माना है और 'राज्याश्रिते' 'जयसिंहविजय के रूप मे पद भग किया है।

[17] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६६-६७

[18] इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९६१, पृ० ५२

है। श्री अग्रवाल ने राजा श्री तेजमिह् को शब्द भग के द्वारा तेजसिंह् पढकर जैत्रमिह का निधन काल वि० १३०९ (१२५३ ई०) के निकट अवश्य ला दिया है, परन्तु शब्द भग मे शिलालेख के अन्य अश भी दूमरी तरह् पढे जा सकते है। इस सम्बन्ध मे निर्णायिक तिथि की गवेषणा वाछनीय है। यदि निधनकालीन ममय के आसपाम के कुछ शिलालेख और मिल जायँ तो इसमे अन्तिम निर्णय लिया जा सके। ऐसी स्थिति मे १२५३ ई० से १२५० ई० के लगभग जैत्रमिह् की मृत्यु माननी होगी।

तेजसिंह (१२५२-१२६७-७३ ई०)

'पाक्षिक वृत्ति' का लिपि काल यदि जैत्रमिह् के पुत्र तेजसिंह का मान लें तो उमका राज्यारोहण १२५२ ई० के लगभग हुआ। यह भी अपने पिता की भाँति प्रतिभामम्पन्न था जैसा कि उसके विरुद 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज' और 'पर-मेश्वर' मे प्रमाणित होता है।[१९] अपने राज्यारोहण के पश्चात उसे धौलका के बघेल राणा वीरधवल से युद्ध करने का अवमर मिला। वीरधवल ने १२४३ ई० के लगभग त्रिभुवनपाल से गुजरात का राज्य छीन लिया और वह अपने प्रभाव क्षेत्र को विस्तारित करने के लिए मेवाड पर चढ आया। १२६० ई० को वीसलदेव के दान-पत्र[२०] मे वीसलदेव को 'मेदपाटक' देश रूपी कलुप राज्यलता की जड उखाडने के लिए कुदाल के समान वताया है। इससे अनुमान होता है कि उसके आक्रमण द्वारा मेवाड को हानि हुई हो। इस आक्रमण मे जैसा चीरवे के शिलालेख[२१] मे अकित है, चित्तौड के तलारक्ष क्षेम का पुत्र रत्न प्रधान भीमसिंह के महित चित्तौड की तलहटी मे लडता हुआ काम आया। परन्तु इस युद्ध से वीसलदेव को कोई वहुत वडा लाभ हुआ हो ऐसा नहीं दीख पडता। तेजसिंह पूर्ववत मेवाड का शामक बना रहा। वल्कि इस युद्ध मे उसकी राज-नीतिक प्रतिष्ठा वढ गयी और उसने चालुक्यो की भाँति अपना विरुद 'उभापतिवर-लब्धप्रौढप्रताप' धारण किया। इसी युद्ध की घटनाओ को डा० चौधरी ने वलवन के तथा तेजसिंह के वीच होने वाले युद्ध के समय को वताया है।[२२]

जैत्रसिंह की भाँति तेजसिंह को तुर्कों के विरुद्ध भी लडने का अवसर मिला। १२५३-५४ ई० मे जव वलवन इधर-उधर के भागो को जीतकर अपनी शक्ति को वढाना चाहता था तो उसने रणथम्भोर, वूंदी और चित्तौड पर आक्रमण कर दिया। परन्तु इसमे उसे सफलता न मिली। तेजसिंह की शक्ति ने उसे पीछे धकेल दिया।[२३]

---

१९ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहाम, भा० १, पृ० १

२० इण्डियन एण्टीक्वेरी, जि० ९, पृ० २१०

२१ चीरवे का लेख, पृ० २६, २९, ४८

२२ राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६६०, रायचौधरी, ... पृ० ५७-५८

२३ तवकात-ए-नासिरी, पृ० ८२७-२८, व्रिग्ज, तारीखे ... पृ० २४२, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६६०-६१

है। श्री अग्रवाल ने राजा श्री तेजसिंह को शब्द भग के द्वारा तेजसिंह पटकर जैत्रसिंह का निधन काल वि० १३०६ (१२५३ ई०) के निकट अवश्य ला दिया है, परन्तु शब्द भग में शिलालेख के अन्य अश भी दूसरी तरह पढे जा सकते हैं। इस सम्बन्ध मे निर्णायक तिथि की गवेषणा वाछनीय है। यदि निधनकालीन समय के आसपास के कुछ शिलालेख और मिल जायँ तो इसमे अन्तिम निर्णय लिया जा सके। ऐसी स्थिति मे १२५३ ई० से १२५० ई० के लगभग जैत्रसिंह की मृत्यु माननी होगी।

तेजसिंह (१२५२-१२६७-७३ ई०)

'पाक्षिक वृत्ति' का लिपि काल यदि जैत्रसिंह के पुत्र तेजसिंह का मान लें तो उसका राज्यारोहण १२५२ ई० के लगभग हुआ। यह भी अपने पिता की भाँति प्रतिभासम्पन्न था जैसा कि उसके विरुद 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज' और 'परमेश्वर' से प्रमाणित होता है।[19] अपने राज्यारोहण के पश्चात उसे धौलका के वघेल राणा वीरधवल से युद्ध करने का अवसर मिला। वीरधवल ने १२४३ ई० के लगभग त्रिभुवनपाल से गुजरात का राज्य छीन लिया और वह अपने प्रभाव क्षेत्र को विस्तारित करने के लिए मेवाड पर चढ आया। १२६० ई० को वीसलदेव के दान-पत्र[20] में वीसलदेव को 'मेदपाटक' देश रूपी कलुष राज्यलता की जड उखाडने के लिए कुदाल के समान बताया है। इससे अनुमान होता है कि उसके आक्रमण द्वारा मेवाड को हानि हुई हो। इस आक्रमण मे जैसा चीरवे के शिलालेख[21] मे अंकित है, चित्तौड के तलारक्ष क्षेम का पुत्र रत्न प्रधान भीमसिंह के सहित चित्तौड की तलहटी मे लडता हुआ काम आया। परन्तु इस युद्ध से वीसलदेव को कोई बहुत बडा लाभ हुआ हो ऐसा नहीं दीख पडता। तेजसिंह पूर्ववत मेवाड का शासक बना रहा। बल्कि इस युद्ध से उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा बढ गयी और उसने चालुक्यों की भाँति अपना विरुद 'उमापतिवरलब्धप्रौढप्रताप' धारण किया। इसी युद्ध की घटनाओं को डा० चौधरी ने बलबन के तथा तेजसिंह के बीच होने वाले युद्ध के समय को बताया है।[22]

जैत्रसिंह की भाँति तेजसिंह को तुर्कों के विरुद्ध भी लडने का अवसर मिला। १२५३-५४ ई० मे जब बलबन इधर-उधर के भागों को जीतकर अपनी शक्ति को बढाना चाहता था तो उसने रणथम्भौर, बूंदी और चित्तौड पर आक्रमण कर दिया। परन्तु इसमें उसे सफलता न मिली। तेजसिंह की शक्ति ने उसे पीछे धकेल दिया।[23]

---

[19] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६८

[20] इण्डियन एण्टीक्वेरी, जि० ६, पृ० २१०

[21] चीरवे का लेख, पृ० २६, २६, ८८

[22] राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६६०, रायचौधरी, हिस्ट्री ऑफ मेवाड, पृ० ५७-५८

[23] तबकात-ए-नासिरी, पृ० ८२७-२८, ब्रिग्ज, तारीखे फरिश्ता, भा० १, पृ० २४२, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६६०-६१

तेजसिंह के राज्यकाल मे उसकी रानी जयतल्लदेवी ने चित्तौड़ पर श्यामपार्श्व-नाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया। इसके समय के अधिकारीगणों में भीमसिंह (प्रधान), समुद्रधर (महामात्य), प्रसन्नधर (महामात्य) और तल्हण ([illegible]) आदि मुख्य थे जिससे शासन-व्यवस्था की स्थिति पूर्ववत् ही चलती रही। उसके समय में 'श्रावक प्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि' का आहड़ मे लिखा जाना उसके समय की [illegible] और साहित्यिक उन्नति का प्रमाण है।[२४]

तेजसिंह का अन्तिम शिलालेख वि० १३२४ का मिलता है और उसके पुत्र समरसिंह का वि० १३३० का मिलता है, अत तेजसिंह का देहान्त वि० १३२४ और वि० १३३० (१२६७ और १२७३ ई०) के बीच किसी वर्ष होना अनुमानित किया जा सकता है।

समरसिंह (१२६७-७३ से १३०२ ई०)

तेजसिंह की मृत्यु के पीछे उसका पुत्र समरसिंह मेवाड का शासक बना। कुम्भलगढ प्रशस्ति मे उसको शत्रुओ की शक्ति का अपहर्ता लिखा है जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वह अपने समय का शक्ति-सम्पन्न राजा था। आबू शिलालेख[२५] मे उसे तुर्कों से गुजरात का उद्धारक बताया है। वैसे तो मुसलमान इतिहासकारो ने समरसिंह के समय होने वाली किसी गुजरात की लडाई का वर्णन नही किया है परन्तु आबू लेख मे दिये गये अकन की सत्यता पर सन्देह भी नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि बलबन के किसी सेनाध्यक्ष और समरसिंह के बीच मे सम्भवत कोई लडाई हुई हो। जिनप्रभसूरि के 'तीर्थकल्प'[२६] से हमे ज्ञात होता है कि वि० १३५६ (१२९९ ई०) मे सुल्तान अलाउद्दीन के छोटे भाई उलुगखाँ कर्णदेव के मन्त्री माधव की प्रेरणा से दिल्ली से गुजरात को चला। समरसिंह की सीमा से निकलने के कारण मेवाड को इस सैनिक प्रस्थान से हानि की सम्भावना थी, अतएव उसने उससे दण्ड लेकर आगे बढने दिया। वैसे तो गुजरात का उसे एक स्थान पर उद्धारक माना जाना और दूसरे स्थान मे इसके द्वारा इस अवसर पर दण्ड लेने वाला बताया जाना हमे भ्रम मे डाल देता है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि समरसिंह ने समय पर अपनी शक्ति का प्रदर्शन भी किया और अवसर की आवश्यकता को समझकर मेल-जोल की नीति भी अपना ली।

---

२४ पिटरसन रिपोर्ट, पृ० २३, बगाल ए० सो० ज०, जि० ५५, भाग १, पृ० ४६-४७, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६९-७०, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६६१

२५ आबू का शिलालेख, पृ० ४६, इ० ए०, जि० १६, पृ० ३५०

२६ तीर्थकल्प, सत्यपुरकल्प, पृ० ९५, मिराते अहमदी, पृ० ३७, इलियट, जि० ३, पृ० ४२-४३, तारीख-ए-फरिश्ता, जि० १, पृ० ३२७, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १७२-७३

समरसिह के समय के प्रमुख रूप से ८ शिलालेख मिलते हैं। उनके अध्ययन से उसके समय की नीति पर काफी प्रकाश पडता है। ऐसा जान पडता है कि छोटे-मोटे राजाओ के सम्बन्ध मे उसने कठोर नीति वना रखी थी जिससे उसके राज्य का राजनीतिक प्रभाव वना रहे। चीरवे के लेख[२७] से इस कथन की पुष्टि होती है जहाँ उसे शत्रुओं का सहार करने मे सिंह के सदृश और अत्यन्त शूर कहा है। साथ ही इसी लेख मे उसे कीर्तिमान, प्रजा हितवर्द्धक और सधर्म मर्मज्ञ भी कहा है। इस प्रकार के वणन से समरसिह की सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार और प्रजा के हित की कामना की नीति का बोध होता है। अचलगच्छ की पट्टावली से पाया जाता है कि उक्तगच्छ के आचार्य अमितसिह सूरि के उपदेश से रावल समरसिह ने अपने राज्य मे जीव-हिसा रोक दी।[२८] चित्तौड के वि० १३३५ (१२७८ ई०) के पीछे लेख मे अकित है कि प्रद्युम्न सूरि के उपदेश से समरसिह ने श्यामापार्श्वनाथ के मन्दिर के मठ के लिए भूमि-दान और मन्दिर के लिए मण्डपिकाओ से द्रभ, घी, तेल आदि मिलने की व्यवस्था की।[२९] इसी प्रकार चीरवे के लेख मे शिव, विष्णु और देवी के मन्दिरो के निर्माण और उनके लिए अनुदान की व्यवस्था का अकन मिलता है।[३०] आबू के वि० स० १३४२ (१२८५ ई०) के शिलालेख[३१] मे समरसिह के द्वारा आबू पर अचलेश्वर के मठ का जीर्णोद्धार करवाना और मन्दिर पर सुवर्ण दण्ड चढाना तथा वहाँ के रहने वाले तपस्वियो के लिए भोजन की व्यवस्था करना उल्लिखित है। वि० स० १३४४ (१२८७ ई०) के चित्तौड के शिलालेख[३२] मे समरसिह द्वारा चित्राग तडाग पर वैद्यनाथ के मन्दिर के द्रम देने का उल्लेख है। वि० स० १३५६ के दरीवा के लेख से मन्दिर के लिए १६ द्रम भेंट किये जाने का उल्लेख है।[३३] इन उल्लेखो से समरसिह की धर्मनिष्ठा और धार्मिक सहिष्णुता प्रमाणित होती है।

ऐसा प्रतीत होता था कि राज्य के सचालन की व्यवस्था भी समरसिह के समय मे पूर्ववत थी। चीरवे के लेख मे क्षेम के पुत्र मदन का चित्तौड का तलारक्ष और नागदा मे भी टटिड जाति के तलारक्षो का होना पाया जाता है। दरीबा के लेख से समरसिह के समय मे निम्बा मुख्यमन्त्री था और करणा और सोहडा भी राज्य के प्रमुख कर्मचारी थे। समरसिह का काल विद्योन्नति के लिए भी प्रसिद्ध है जबकि उस

२७ चीरवे का शिलालेख, पृ० २७-३०

२८ विधिगच्छप्रतिक्रमणसूत्र, पृ० ५०४-१६, पिटर्सन रिपोर्ट, तीसरी व पाँचवी, पृ० १-२, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १७३

२९ वही, पृ० १७६

३० वियना ओरियण्टल जरनल, जि० २१, पृ० १५५-१६२

३१ इ० ए०, जि० १६, पृ० ३४७-५१

३२ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १७७

३३ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १७७

समय रत्नप्रभ सूरि, पार्श्वचन्द्र, भावशकर, वेदशर्मा, शुभचन्द्र आदि विद्वान प्रशस्तिकार और लेखक थे। पद्मसिंह, केलसिंह, शिल्पी केल्हण, शिल्पी कर्मसिंह आदि व्यक्ति भी उस समय के प्रसिद्ध शिल्पी और कलाकार थे। समरसिंह का लगभग २६ वर्ष का शासनकाल मेवाड के प्रतिभा-सम्पन्न कालो मे से एक था।

रत्नसिंह (१३०२-१३०३ ई०)

रत्नसिंह के सम्बन्ध मे पिछले लेखको का भ्रम—रावल समरसिंह की मृत्यु के पीछे उसका पुत्र रत्नसिंह १३०२ ई० के लगभग चित्तौड की गद्दी पर बैठा। मुहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात मे रत्नसिंह को एक स्थान पर समरसी[३४] का पुत्र और दूसरे स्थान पर अजैसी का पुत्र भडलखमसी का भाई बताया है। पहला कथन तो ठीक है पर दूसरी जगह जो रत्नसिंह के बारे मे उल्लेख किया गया है वह ठीक नही, क्योकि लखमसी अजैसी का पुत्र नही, किन्तु पिता था और सीसोद का सामन्त था। इस प्रकार रत्नसिंह लखमसी का भाई नही, किन्तु मेवाड का शासक और समरसिंह का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था। इस कथन की पुष्टि कुम्भलगढ के वि० १५१७ (१४६० ई०) के शिलालेख से तथा एकलिंगमाहात्म्य से होती है।[३५] मेवाड की कुछ ख्यातो तथा राजप्रशस्ति महाकाव्य मे रत्नसिंह का नाम नही मिलता। जब कर्नल टॉड[३६] ने राजस्थान का इतिहास लिखा तब सम्भवत ख्यातो मे रत्नसिंह का नाम न पाने से उसने समरसिंह का उत्तराधिकारी करणसिंह लिख दिया। वास्तव मे करणसिंह समरसिंह के पीछे नही, वरन् उससे ८ पीढी पहले हुआ था। कर्नल टॉड द्वारा भूल होने का एक कारण यह भी दिखायी देता है कि उक्त लेखक ने समरसिंह के जन्म और मृत्यु-काल के सम्बन्ध मे बडी भूल की। उसने पृथ्वीराजरासो के आधार पर यह मान्यता बना ली कि समरसिंह का जन्म ११४९ ई० में तथा उसका विवाह प्रसिद्ध चौहान पृथ्वीराज की बहन पृथा से हुआ था। उसने यह भी मान लिया कि ११९२ ई० के तराइन के युद्ध मे वह अपने साले पृथ्वीराज की सहायता मे सम्मिलित हुआ और वहाँ वह मारा गया। विद्वान लेखक ने पृथ्वीराज की मृत्यु के काल को समरसिंह का मृत्यु-काल मान लिया जो सर्वथा अमान्य है।[३७] डा० ओझा[३८] का मत है कि पृथ्वीराजरासो १६०० के लगभग लिखा गया था जिसमे आधार शून्य बातें लिख दी गयी हैं। कर्नल टॉड ने रासो को आधार मानकर समरसिंह का काल निर्धारित कर दिया जो सर्वथा अमान्य

---

[३४] नैणसी की ख्यात, पत्र ३, पृ० २, ओझा, उदयपुर राज्य का इ०, भा० १, पृ० १७९-८०

[३५] कुम्भलगढ का लेख, पृ० १७६, एकलिंगमाहात्म्य, राजवर्णन, श्लो० ७७-८०, ९०

[३६] टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ३०४

[३७] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १७९, टिप्पणी न० १

[३८] टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ३०७-११

है। इस भूल के कारण कर्नल टाड ने आगे की वशावली को स्थिर करने का प्रयत्न किया जिसमे करणसिह और उसके पीछे राहप और उसकी नवी पीढी मे लखमसी बताया। टॉड के अनुसार वि० स० १३३१ (१२७४ ई०) मे लखमसी चित्तौड का शासक बना। उसके अनुसार लखमसी अल्पवयस्क था इसलिए उसका चाचा भीमसी उसका रक्षक बना।[३६] इसी भीमसिह मे पद्मिनी और उसी के कारण अलाउद्दीन के चित्तौड आक्रमण की घटना जोड दी गयी। टॉड ने जो प्रारम्भ मे समरसिह के काल-निर्णय की भूल की थी उसे राहपादि शासको को बीच मे लाकर तथा उनको लखमसी से जोडकर ठीक करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न मे रत्नसिह को, जो चित्तौड का शासक था और जिसमे अलाउद्दीन के आक्रमण की घटना जुडी हुई है, उपेक्षा कर दी गयी।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि ख्यातो तथा काव्यो मे रत्नसिह कैसे उपेक्षित शासक रहा। इस प्रश्न के उत्तर का समाधान रावल शाखा के बाद राणा शाखा के प्रभुत्व मे है। अलाउद्दीन के आक्रमण के समय, जैसा कि हम आगे पढेंगे, रत्नसिह एक वर्ष के शासनकाल की अवधि मे मारा गया। उसके मारे जाने पर लक्ष्मणसिह, जो सीसोदे का जागीरदार था, चित्तौड की रक्षा मे तुर्कों से लडकर अपने सात पुत्रो सहित मारा गया। इस घटना के बाद सीसोदे की राणा शाखा के हम्मीर ने चित्तौड को फिर से अपने अधिकार मे लिया। यही से राणा शाखा मेवाड की शासक बनी। ख्यात लेखक राणा शाखा को प्रधानता देने के लिए लक्ष्मणसिह को चित्तौड के शाके का वीर मानने लगे और भविष्य मे राणा शाखा के हाथ मे आने वाली सत्ता को जो स्थिर रह चुकी थी, प्रधानता देने लगे। सम्भवत राणा शाखा के इतिहास को विशेष गौरव-पूर्ण बनाने के लिए रत्नसिह की उपेक्षा की और लक्ष्मणसिह के शौर्य की प्रशसा की। रावल शाखा ज्योही रत्नसिह के मरने के बाद समाप्त हुई और राणा शाखा का बोल-बाला हो चला तो स्वाभाविक था कि रत्नसिह की उपेक्षा हो और राणा शाखा का गुणगान हो। ये ही बदली हुई परिस्थिति तथा लेखको की प्रवृत्ति रत्नसिह की उपेक्षा का कारण हो सकती है।

अलाउद्दीन खलजी और रत्नसिह के विरोध के कारण

रत्नसिह के पिता समरसिह तुर्की अधिकारियो को गुजरात विजय करने का मार्ग देकर कुछ समय चित्तौड की शान्ति बनाये रखने मे सफल हुआ, परन्तु यह शान्ति क्षणिक शान्ति थी। अलाउद्दीन की महत्त्वाकाक्षा से चित्तौड अधिक समय नही बचाया जा सकता था। समरसिह की मेल-जोल की नीति मेवाड की स्वतन्त्रता के लिए थोडे समय के लिए ही लाभप्रद रही। ज्योही समरसिह की मृत्यु हुई रत्नसिह को, जिसे चित्तौड की गद्दी पर बैठे थोडे ही महीने हुए थे, अलाउद्दीन खलजी के आक्रमण

---

३६ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १८६

का सामना करना पडा। अलाउद्दीन महत्त्वाकाक्षी सुल्तान था। उसकी यह इच्छा थी कि वह सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अपना अधिकार स्थापित करे। इसी अभिप्राय से उसने भारत के सुदूर प्रान्तो मे अपनी सेनाओ को भेजा था जिनके अथक परिश्रम और अदम्य साहस से वगाल, सिन्ध, गुजरात, मालवा, पजाव, काश्मीर आदि भाग उसके राज्य के अग बना लिये गये। सुदूर-दक्षिण को भी वह अपने राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र मे रखना चाहता था। दक्षिण भारत की विजय तथा उत्तरी भारत पर उसके प्रभाव का स्थायित्व तभी सम्भव था जव वह चित्तौड जैसे अभेद्य दुर्ग को अपने अधिकार मे करे। यहाँ से होकर गुजरात, मालवा, मध्य प्रदेश, सयुक्त प्रान्त, सिन्ध आदि भागो मे व्यापारिक मार्ग जाते थे। व्यापारिक उपयोगिता मे कही अधिक चित्तौड की सैनिक उपयोगिता थी। राजनीतिक सत्तावादी नीति की सफलता ऐसे दुर्गो के अधिकार से अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती थी। आक्रमणो के कारणो मे ऊपर वर्णित कारण प्रमुख थे जिनसे प्रेरित होकर अलाउद्दीन ने १३०३ ई० मे चित्तौड पर आक्रमण कर दिया।[४०]

इस राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक शक्तिवर्द्धन की पिपासा के साथ सुल्तान मे एक पाशविक अभिलाषा भी थी जो आक्रमण का कारण वनी। वताया जाता है कि अलाउद्दीन खलजी ने राघव चेतन नामक व्यक्ति के द्वारा, जो राणा के दरवार से अपमानित कर निकाल दिया गया था, रत्नसिंह की रूपवती पत्नी पद्मिनी की सुन्दरता के वारे मे सुन रखा था। उसमे तभी से पद्मिनी जैसी सुन्दर रमणी को अपने अन्त पुर मे लाने की तीव्र अभिलाषा जाग्रत हो गयी और वह २८ जनवरी, ११०३ ई० को एक विशाल सेना को लेकर चित्तौड-विजय के लिए निकल पडा।

पद्मिनी की कथा

अलाउद्दीन के आक्रमण के राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक कारण के साथ पद्मिनी के प्राप्त करने की लालसा का जव व्यक्तिगत कारण भी वताया जाता है तो यह आवश्यक है कि हम पद्मिनी की कथा तथा उससे सम्बन्धित व्यक्ति रत्नसिंह, राघव चेतन, गोरा-वादल आदि व्यक्तियो की ऐतिहासिकता का भी विश्लेषण कर लें और देखें कि इन व्यक्तियो के अस्तित्व मे कोई सत्य है। इस कथा का प्रचलन मुख्य रूप से मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' नामक हिन्दी काव्य-ग्रन्थ से आरम्भ होना माना गया है। इस ग्रन्थ की रचना शेरशाह सूर के समय १५४० ई० मे की गयी थी। पद्मिनी की कथा का पूरा वर्णन जायसी के पद्मावत से हमे प्राप्त है जो इस प्रकार है। पद्मिनी सिंहलद्वीप के गन्धर्वसेन नामक राजा की पुत्री थी। उसके पास हीरामन नामक एक सुशिक्षित तोता था। एक दिन वह तोता पिंजरे से उड गया और एक व्याध के हाथ पडा। व्याध ने उसे व्राह्मण को और व्राह्मण ने उसे रत्नसिंह को वेचा। जव तोते ने रत्नसिंह को पद्मिनी की सुन्दरता का वर्णन किया तो वह उसके साथ विवाह करने के

---

४० डा० गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निवन्ध राजस्थान, पृ० ८३

लिए व्यग्र हो उठा। वह योगी बनकर पद्मिनी की खोज करता हुआ सिंहल पहुँचा और वहाँ पद्मिनी को देखकर मुग्ध हो गया। जब सिंहल के राजा को जोगी की असलियत का पता चला तो उसने अपनी पुत्री का विवाह रत्नसेन के साथ कर दिया। कई वर्षो के बाद रत्नसेन जब चित्तौड आया तब उसकी सेवा मे एक राघव चेतन नामक ब्राह्मण, जो जादू-टोने मे कुशल था, आ रहा। कुछ दिनो मे राघव चेतन का भेद खुल गया तो उसे चित्तौड से निकलने की आज्ञा दी गयी। चित्तौड से जाने की अवधि मे सयोग से उसने पद्मिनी को देखा और मूर्च्छित हो गया। चेतना आने पर वह वहाँ से दिल्ली पहुँचा। चित्तौड से निर्वासित राघव चेतन ने राणा का सर्वनाश करने की ठान ली। अवसर आने पर उसने पद्मिनी के सौन्दर्य का वर्णन सुल्तान को किया जिसे सुनकर उसे पद्मिनी को हथियाने और चित्तौड लेने की धुन सवार हो गयी। जब वह दुर्ग के आक्रमण के लिए पहुँचा तो चारो ओर आठ वर्ष घेरा डालने पर भी उसे न जीत सका तो उसने राणा से मेल बढाया। जब दोनो मे मेल हो गया तो दिल्ली लौटने से पूर्व उसने दुर्ग देखने की इच्छा प्रकट की। राणा ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और उसका दुर्ग मे बडा आतिथ्य किया। इस अवसर पर उसे पद्मिनी का प्रतिबिम्ब दर्पण मे दिखायी दिया। दुर्ग से लौटते समय उसको पद्मिनी को हथियाने की युक्ति सूझी। उसने विदाई देने के लिए आये हुए राणा को अपने खीमे मे रोक लिया। जब राजपूतो ने उसे लौटा देने को कहा तो सुल्तान ने उसके एवज मे पद्मिनी को माँगा। जब यह सवाद पद्मिनी के पास पहुँचा तो उसने अपने सामन्तो से मन्त्रणा की। उन्होंने राणा को छल से छुटाने का उपाय ढूँढ निकाला। १६०० डोलियो मे पद्मिनी की सहेलियो के भेष मे राजपूत सैनिक बिठाये गये और उन्हे सुल्तान के खीमे तक पहुँचाया गया। उनके पहुँचने पर अलाउद्दीन के पास यह सूचना भेजी कि पद्मिनी उसके खीमे मे आ गयी है। वह थोडे समय अपने पति से मिलकर सुल्तान की सेवा मे उपस्थित हो जायगी। सुल्तान ने इसकी स्वीकृति दे दी। तुरन्त राजपूत सैनिको ने रत्नसिंह को छुडाकर चित्तौड की ओर भेज दिया। जब सुल्तान को सम्पूर्ण छल का पता चला तो वह ससैन्य राजपूतो से लडा जिसमे रत्नसेन लडकर काम आया और पद्मिनी ने 'जौहर' कर आत्मोत्सर्ग किया। इस सम्पूर्ण कार्य मे गोरा-बादल का शौर्य बडा प्रशसनीय था। इस प्रकार चित्तौड बादशाह के हाथ आया पर वह पद्मिनी को न पा सका।[४१]

इस कथा के साथ अन्य भी कई कथाश मिले हुए है जिससे कथा की रोचकता बढ गयी है। पद्मावत बनने के लगभग ७० वर्ष के बाद मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने अपनी पुस्तक 'तारीखे-फरिश्ता'[४२] लिखी। पद्मावत की कथा जो लोगो में प्रचलित थी, उसने कुछ हेर-फेर के साथ अलाउद्दीन के चित्तौड आक्रमण के प्रसग मे जोड

---

४१ ऊपर दी गयी कथा का भाग पद्मावत तथा लोक-प्रचलित कथा का साराश है।
४२ ब्रिग्ज-फरिश्ता, जि० १, पृष्ठ ५६२-६३

दिया। उसने पद्मिनी को राणी न कहकर राणा की राजकुमारी बताया और उसे दिल्ली भेजने की बात लिख दी आदि।

हाजीउद्दबीर का पद्मिनी के वर्णन मे रत्नसिह और पद्मिनी का नाम नही है पर उसके बजाय एक गुणवती स्त्री का वर्णन है आदि।

इसी कथा को कुछ पाठान्तर से कर्नल टॉड ने भाटो की पुस्तको के आधार से लिखा। उसने रत्नसेन के स्थान पर भीमसिह का सम्बन्ध पद्मिनी से जोडा। उसने लक्ष्मणसेन का बालक होना और भीमसिह का रक्षक होना बताया है। उसने यह घटना लक्ष्मणसिह के समय की बतायी और भीमसिह को लक्ष्मणसिह का चाचा माना।[४३]

पद्मिनी की कथा का खण्डन—डा० ओझा ने[४४] इस सम्बन्ध मे लिखा है कि "इतिहास के अभाव मे लोगो ने 'पद्मावत' को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया, परन्तु वास्तव मे वह आजकल के ऐतिहासिक उपन्यासो की-सी कवितावद्ध कथा है, जिसका कलेवर इन ऐतिहासिक बातो पर रचा गया है कि रत्नसेन चित्तौड का राजा, पद्मिनी या पद्मावती उसकी राणी और अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान था, जिसने रत्नसिह से लडकर चित्तौड का किला छीना था। बहुधा अन्य सब बातें कथा को रोचक बनाने के लिए कल्पित खडी की गयी है, क्योकि रत्नसिह एक वर्ष भी राज्य करने नही पाया, ऐसी दशा मे योगी बनकर उसका सिहलद्वीप तक जाना और वहाँ की राजकुमारी को ब्याह लाना कैसे सम्भव हो सकता है? उसके समय सिहलद्वीप का राजा गधर्वसेन नही, किन्तु राजा कीर्तिनिशशकदेव पराक्रमबाहु (चौथा) या भुवनेक बाहु (तीसरा) होना चाहिए। सिहलद्वीप मे गधर्वसेन नाम का कोई राजा ही नही हुआ। अलाउद्दीन ८ वर्ष तक चित्तौड के लिए लडने के बाद निराश होकर दिल्ली को नही लौटा, किन्तु अनुमानत छह महीने लडकर उसने चित्तौड ले लिया। वह एक ही बार चित्तौड पर चढा था, इसलिए दूसरी बार आने की कथा कल्पित ही है।"

डा० ओझा[४५] फरिश्ता द्वारा दी गयी कथा को प्रामाणिक नही मानते। उनके विचार से "प्रथम तो पद्मिनी के दिल्ली जाने की बात ही निर्मूल है, दूसरी बात यह भी है कि अलाउद्दीन जैसे प्रबल सुल्तान की राजधानी की कैद से भागा हुआ रत्नसिह बच जाय तथा मुल्क को उजाडता रहे, और सुल्तान उसको सहन कर अपने पुत्र को चित्तौड खाली करने की आज्ञा दे दे, यह असम्भव प्रतीत होता है।"

कर्नल टॉड के द्वारा दी गयी पद्मिनी की कथा मे भी डा० ओझा[४६] सन्देह व्यक्त करते हैं। पद्मिनी का सम्बन्ध भीमसिह से मिलाना, उसे लखमसी के समय की

---

[४३] टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ३०७-११

[४४] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १८७-८८

[४५] वही, पृ० १८९

[४६] वही, पृ० १९१

घटना मान लेना, भीमसिंह का लखमसी का चाचा होना आदि बातें ठीक नही हैं, क्योंकि लखमसी मेवाड का राजा नही सीसोदा का सामन्त था और भीमसिंह लखमसी का चाचा नही, किन्तु दादा था।

डा० लाल भी इस कथा को काल्पनिक मानते हैं और लिखते हैं कि "मलिक मुहम्मद जायसी की इस कथा ने, जिसमे प्रेम-क्रीडा, साहस और विषाद सुन्दरता से सजोये गये हैं, शीघ्र ही जन-साधारण के मस्तिष्क मे स्थान बना लिया। फारसी वृतान्तकारो ने कल्पना और वास्तविकता के बीच कोई भेद करने की अधिक चिन्ता नही की और इसे सच्चा इतिहास मान लिया। फलत मलिक मुहम्मद जायसी के पश्चात पद्मिनी की घटना का उल्लेख अनेक ऐतिहासिक कृतियो मे फरिश्ता और हाजीउद्द्वीर की कृतियो मे भी किया गया है। जायसी के महाकाव्य मे अनेक हास्यप्रद और अशुद्ध बातें स्पष्टत प्रदर्शित करती हैं कि यह एक ऐतिहासिक सत्य नही है। प्रथमत रत्नसिह के लिए, जिसने अलाउद्दीन के चित्तौड-आक्रमण के समय तक केवल एक वर्ष तक राज्य किया था, लका जाना और वहाँ पद्मिनी की खोज मे बारह वर्ष तक ठहरना सम्भव नही था। फरिश्ता, जिसने मलिक मुहम्मद जायसी के सत्तर वर्ष पश्चात लिखा, का कथन भी असगतियो से भरा है। हाजीउद्द्वीर का पद्मिनी का वर्णन और भी भ्रमोत्पादक है। इस प्रकार फरिश्ता, हाजीउद्द्वीर और अन्य पाश्चात्कालीन फारसी इतिहासकार और राजपूताना के चारण कुछ एक गौण अन्तरो को छोडकर, एक-दूसरे से मेल खाते हैं और प्रतीत होता है कि उन्होने जायसी के 'पद्मावत' से सामग्री ली है। अपनी पुस्तक के अन्त मे वह कहता है, "इस कथा मे चित्तौड देह का, राजा रत्नसिह मस्तिष्क का, सिहलद्वीप हृदय का, पद्मिनी चातुर्य का और सुल्तान अलाउद्दीन माया का प्रतिरूप है।" जायसी की इस टीका से स्पष्ट है कि वह एक दृष्टान्त कथा लिख रहा था, कोई सत्य ऐतिहासिक घटना नही। कहानी के परम्परागत वर्णन को ताक पर रखने के पश्चात नग्न सत्य यह है कि सुल्तान अलाउद्दीन ने १३०३ ई० मे चित्तौड पर आक्रमण किया और आठ माह के विकट सघर्ष के पश्चात उसे अधिकृत कर लिया। वीर राजपूत योद्धा आक्रातो से युद्ध करते हुए खेत रहे और वीर राजपूत स्त्रियाँ जौहर की ज्वालाओ मे समाधिस्थ हो गयी। जो स्त्रियाँ समाधिस्थ हुई, उनमे सम्भवत रत्नसिह की एक रानी भी थी, जिसका नाम पद्मिनी था। इन तथ्यो के अतिरिक्त और सब कुछ एक साहित्यिक सरचना है, और उसके लिए ऐतिहासिक समर्थन नही है।"

---

४७ डा० लाल, खलजी वश का इतिहास, पृ० १०२-१०७ .-

"This story of Malik Muhammad Jaisi in which romance, adventure and tragedy are all beautifully intermixed, very soon gripped the popular mind and here, there and everywhere the story of

(Contd)

डा० कानूनगो[४७अ] ने भी पद्मिनी के सम्बन्ध मे अपने लेख मे पद्मिनी तथा उससे सम्बन्धित अधिकाश व्यक्तियो के अस्तित्व मे सन्देह प्रकट किया है और सम्पूर्ण वर्णन को एक कथानक-मात्र माना है।

इन्ही विचारो को मान्यता देते हुए डा० बनारसी प्रसाद लिखते है कि कोई इतिहासकार जो मूल ग्रन्थो को पढता है वह इनमे १३०३ ई० मे पद्मिनी कथानक का उल्लेख प्राप्त करने मे असमर्थता का अनुभव करता है।[४८]

जहाँ तक पद्मिनी का सम्बन्ध है, उसे काव्य-शैली के अनुसार पद्मिनी सज्ञा की स्त्री-मात्र मानना ठीक नही। डा० आशीर्वादीलाल[४९] का मत है कि किले मे सुल्तान का जाना और खुसरो का 'हुद-हुद', 'सुलेमान' और 'सेबा' का उल्लेख करना पद्मिनी की कथा से सम्बन्धित आख्यान का द्योतक है। इसके अतिरिक्त, हमारे विचार से, यह मानना कि पद्मिनी की कथा परम्परा जायसी के 'पद्मावत' से आरम्भ होती है वह सर्वथा भ्रम है। छिताईचरित मे, जो जायसी के कई वर्षो पूर्व लिखा गया था, पद्मिनी तथा अलाउद्दीन के चित्तौड आक्रमण का वर्णन है। हेमरतन के गोरा-बादल चौपाई मे, तथा लब्धोदय के पद्मिनी चरित्र मे इस कथा को स्वतन्त्र रूप से लिखा गया है। फरिश्ता और अबुल फजल ने जिस कथा को छानबीन के साथ लिखा है उसको निरा काल्पनिक नही ठहराया जा सकता। यह कथा एक राजपूत प्रणाली के अनुरूप विशुद्ध तथा स्वस्थ परम्परा के रूप मे चली आयी है, उसे सहज मे अस्वीकार करना ठीक नही। हो सकता है कि कई बातें पाठ भेद से तथा वर्णन शैली से विभिन्न रूप मे प्रचलित रही हो, किन्तु उनका आधार सत्य से हटकर नही ढूंढा जा सकता। स्थापत्य इस बात का साक्षी है कि चित्तौड मे पद्मिनी के महल हैं और पद्मिनी ताल है जो आज भी उस

Padmini told and retold The narrative of Ferishta, who wrote seventy years after Malik Muhammad Jaisi, is also full of discrepancies Hajiuddabir's account of Padmini is more confusing From the remark of Jaisi it becomes clear that he was writing an allegory and not narrating a true historical event Setting aside the traditional narratives of the story the bare facts are that Sultan Alauddin invaded Chittor in the years 1303 and after a hard fight of about eight months captured it The brave Rajputs warriors died fighting the invaders, the brave Rajput women perished in the flames of *Jauhar* Among those who perished was perhaps a queen of Ratan Singh whose name was Padmini Except these facts all else is a literary concoction and lacks historical support"

—Dr Lal, *History of the Kaljis*, pp 104-110

४७अ डा० कानूनगो, स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री, पृ० १-२०

४८ "A historian, who studies the originals, is unable to find any place for the Padmini legend in the year 1303"

—*A Comprehensive History of India*, Vol V, p 370

४९ ए० एल०, श्रीवास्तव, दि सुलतानेट ऑफ देहली, पृ० २३७

घटना मान लेना, भीमसिंह का लखमसी का चाचा होना आदि बातें ठीक नही हैं, क्योंकि लखमसी मेवाड का राजा नही सीसोदा का सामन्त था और भीमसिंह लखमसी का चाचा नही, किन्तु दादा था।

डा० लाल भी इस कथा को काल्पनिक मानते हैं और लिखते हैं कि "मलिक मुहम्मद जायसी की इस कथा ने, जिसमे प्रेम-क्रीडा, साहस और विषाद सुन्दरता से सजोये गये हैं, शीघ्र ही जन-साधारण के मस्तिष्क मे स्थान बना लिया। फारसी वृतान्तकारो ने कल्पना और वास्तविकता के बीच कोई भेद करने की अधिक चिन्ता नही की और इसे सच्चा इतिहास मान लिया। फलत मलिक मुहम्मद जायसी के पश्चात पद्मिनी की घटना का उल्लेख अनेक ऐतिहासिक कृतियो मे फरिश्ता और हाजीउद्दबीर की कृतियो मे भी किया गया है। जायसी के महाकाव्य मे अनेक हास्यप्रद और अशुद्ध बातें स्पष्टत प्रदर्शित करती है कि यह एक ऐतिहासिक सत्य नही है। प्रथमत रत्नसिंह के लिए, जिसने अलाउद्दीन के चित्तौड-आक्रमण के समय तक केवल एक वर्ष तक राज्य किया था, लका जाना और वहाँ पद्मिनी की खोज मे बारह वर्ष तक ठहरना सम्भव नही था। फरिश्ता, जिसने मलिक मुहम्मद जायसी के सत्तर वर्ष पश्चात लिखा, का कथन भी असगतियो से भरा है। हाजीउद्दबीर का पद्मिनी का वर्णन और भी भ्रमोत्पादक है। इस प्रकार फरिश्ता, हाजीउद्दबीर और अन्य पाश्चात्कालीन फारसी इतिहासकार और राजपूताना के चारण कुछ एक गौण अन्तरो को छोडकर, एक-दूसरे से मेल खाते हैं और प्रतीत होता है कि उन्होंने जायसी के 'पद्मावत' से सामग्री ली है। अपनी पुस्तक के अन्त मे वह कहता है, "इस कथा मे चित्तौड देह का, राजा रत्नसिंह मस्तिष्क का, सिंहलद्वीप हृदय का, पद्मिनी चातुर्य का और सुल्तान अलाउद्दीन माया का प्रतिरूप है।" जायसी की इस टीका से स्पष्ट है कि वह एक दृष्टान्त कथा लिख रहा था, कोई सत्य ऐतिहासिक घटना नही। कहानी के परम्परागत वर्णन को ताक पर रखने के पश्चात नग्न सत्य यह है कि सुल्तान अलाउद्दीन ने १३०३ ई० मे चित्तौड पर आक्रमण किया और आठ माह के विकट सघर्ष के पश्चात उसे अधिकृत कर लिया। वीर राजपूत योद्धा आक्रातो से युद्ध करते हुए खेत रहे और वीर राजपूत स्त्रियाँ जौहर की ज्वालाओ मे समाधिस्थ हो गयी। जो स्त्रियाँ समाधिस्थ हुई, उनमे सम्भवत रत्नसिंह की एक रानी भी थी, जिसका नाम पद्मिनी था। इन तथ्यो के अतिरिक्त और सब कुछ एक साहित्यिक सरचना है, और उसके लिए ऐतिहासिक समर्थन नही है।"

---

४७ डा० लाल, खलजी वश का इतिहास, पृ० १०२-१०७

"This story of Malik Muhammad Jaisi in which romance, adventure and tragedy are all beautifully intermixed, very soon gripped the popular mind and here, there and everywhere the story of (Contd)

डा० कानूनगो[४७अ] ने भी पद्मिनी के सम्बन्ध मे अपने लेख मे पद्मिनी तथा उससे सम्बन्धित अधिकाश व्यक्तियो के अस्तित्व मे सन्देह प्रकट किया है और सम्पूर्ण वर्णन को एक कथानक-मात्र माना है ।

इन्ही विचारो को मान्यता देते हुए डा० बनारसी प्रसाद लिखते हैं कि कोई इतिहासकार जो मूल ग्रन्थो को पढता है वह इनमे १३०३ ई० मे पद्मिनी कथानक का उल्लेख प्राप्त करने मे असमर्थता का अनुभव करता है ।[४८]

जहाँ तक पद्मिनी का सम्बन्ध है, उसे काव्य-शैली के अनुसार पद्मिनी सज्ञा की स्त्री-मात्र मानना ठीक नही । डा० आशीर्वादीलाल[४९] का मत है कि किले मे सुल्तान का जाना और खुसरो का 'हुद-हुद', 'सुलेमान' और 'सेवा' का उल्लेख करना पद्मिनी की कथा से सम्बन्धित आख्यान का द्योतक है । इसके अतिरिक्त, हमारे विचार से, यह मानना कि पद्मिनी की कथा परम्परा जायसी के 'पद्मावत' से आरम्भ होती है वह सर्वथा भ्रम है । छिताईचरित मे, जो जायसी के कई वर्षो पूर्व लिखा गया था, पद्मिनी तथा अलाउद्दीन के चित्तौड आक्रमण का वर्णन है । हेमरतन के गोरा-बादल चौपाई मे, तथा लब्धोदय के पद्मिनी चरित्र मे इस कथा को स्वतन्त्र रूप से लिखा गया है । फरिश्ता और अबुल फजल ने जिस कथा को छानबीन के साथ लिखा है उसको निरा काल्पनिक नही ठहराया जा सकता । यह कथा एक राजपूत प्रणाली के अनुरूप विशुद्ध तथा स्वस्थ परम्परा के रूप मे चली आयी है, उसे सहज मे अस्वीकार करना ठीक नही । हो सकता है कि कई बातें पाठ भेद से तथा वर्णन शैली से विभिन्न रूप मे प्रचलित रही हो, किन्तु उनका आधार सत्य से हटकर नही ढूढा जा सकता । स्थापत्य इस बात का साक्षी है कि चित्तौड मे पद्मिनी के महल है और पद्मिनी ताल है जो आज भी उस

Padmini told and retold The narrative of Ferishta, who wrote seventy years after Malik Muhammad Jaisi, is also full of discrepancies Hajiuddabir's account of Padmini is more confusing From the remark of Jaisi it becomes clear that he was writing an allegory and not narrating a true historical event Setting aside the traditional narratives of the story the bare facts are that Sultan Alauddin invaded Chittor in the years 1303 and after a hard fight of about eight months captured it The brave Rajputs warriors died fighting the invaders, the brave Rajput women perished in the flames of *Jauhar* Among those who perished was perhaps a queen of Ratan Singh whose name was Padmini Except these facts all else is a literary concoction and lacks historical support"

—Dr Lal, *History of the Kaljis*, pp 104-110

४७अ डा० कानूनगो, स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री, पृ० १-२०

४८ "A historian, who studies the originals, is unable to find any place for the Padmini legend in the year 1303"

—*A Comprehensive History of India*, Vol V, p 370

४९ ए० एल०, श्रीवास्तव, दि सुलतानेट ऑफ देहली, पृ० २३७

विस्मृत तथा विवादग्रस्त महिला की याद दिला रहे है। पद्मिनी के सम्बन्ध मे दी गयी सभी घटनाएँ सम्भवत सत्य की कसौटी पर ठीक नही उतरें, किन्तु पद्मिनी की विद्यमानता, आक्रमण के समय उसकी सूझबूझ, उसके द्वारा जौहर-व्रत का नेतृत्व आदि घटनाओ का एक स्वतन्त्र महत्त्व है।

इसी तरह रत्नसिह के सम्बन्ध मे यह बताया जाता है कि वह उस समय चित्तौड का शासक ही नही था। इस तर्क को लेकर डा० कानूनगो[५०] ने कई प्रश्न उठाये हैं। उनका प्रश्न है कि क्या रत्नसेन चित्रसेन का पुत्र था या वह समरसिंह का पुत्र ? क्या वह खेमा का पुत्र रत्ना या जो ढूढाड का स्वामी था या वह चौहान रत्नसिह था जिसे भडलरवमसी ने चित्तौड मे आश्रय दिया था ? सच पूछा जाय तो ये तर्क निराधार है। वास्तव मे रत्नसिह समरसिह का पुत्र था जो अलाउद्दीन के आक्रमण के समय मौजूद था। हम्मीर चौहान के वशज तो गुजरात प्रयाण कर चुके थे, अतएव रत्नसिह चौहान की चित्तौड रहने की कल्पना निरर्थक है। इसी प्रकार जिस रत्नसिह का सम्बन्ध चित्तौड से बताया जाता है वह तलारक्ष था, न कि राजपरिवार का व्यक्ति। रत्नसिह समरसिह के बाद मेवाड की गद्दी पर बैठा ऐसा वि० स० १३५६, माघ सुदी ५, बुधवार के दरीवे के लेख से स्पष्ट है। जैन ग्रन्थ नाभिनन्दन-जिनोद्धार-प्रबन्ध मे भी रत्नसिह का नाम शासक के रूप मे मिलता है। इसी तरह अमर-काव्य वशावली मे रत्नसिह शासक के रूप मे ही वर्णित है। इन सभी साधनो से रत्नसिह के अस्तित्व पर सन्देह कर अलाउद्दीन के आक्रमण का सम्बन्ध पद्मिनी से जोडने मे आपत्ति उठाना ठीक नही है।[५१]

जहाँ तक राघव चेतन का प्रश्न है वह भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। वि० स० १४२२ मे सम्यकत्वकौमुदी की निवृत्ति मे, जिसे गुणेश्वर सूरि के शिष्य तिलक सूरि ने लिखी थी, राघव चेतन का सुल्तान द्वारा सम्मानित किये जाने का उल्लेख हैं। इस घटना की पुष्टि कागडा के राजा ससारचन्द्र की एक प्रशस्ति से होती है। बुद्धिविलास आदि ग्रन्थो मे भी राघव चेतन का सन्दर्भ आता है। इन सभी आधारो से राघव चेतन का एक ऐतिहासिक व्यक्ति होना प्रमाणित होता है। इसका प्रारम्भ मे चित्तौड मे रहना और पीछे दिल्ली दरबार मे आश्रय पाना अनहोनी घटना नही दीखती।[५२]

इसी प्रकार गोरा-बादल की वीरता और सूझबूझ पर सन्देह करने की कम गुजायश रह जाती है जबकि हम उनके नाम से सम्बन्धित महल और छवियो को आज भी खण्डहर के रूप मे पाते हैं।

---

५० डा० कानूनगो, स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री, पृ० १२-१५

५१ राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० ६६४-६५, सोमानी, वीर भूमि चित्तौड, ३०-३५

५२ सोमानी, वीर भूमि चित्तौड, पृ० ३६-४०

इसमे कोई सन्देह नही कि चित्तौड आक्रमण के लिए अलाउद्दीन का प्रमुख आशय राजनीतिक था, परन्तु जव पद्मिनी की सुन्दरता का हाल उसे मालूम हुआ तो उसके लेने की उत्कठा उसमे अधिक तीव्र हो गयी। आक्रमण के कारणो मे राजनीतिक महत्त्वाकाक्षा के साथ पाशविक पिपासा का पुट लगा हो ऐसा आभास दिखायी देता है। कुछ भी हो जब अलाउद्दीन एक विशाल सेना से सज-धजकर चित्तौड को लेने चला तव उसके साथ प्रसिद्ध इतिहासकार कवि अमीर खुसरो भी था। उसकी विद्यमानता से हमे आक्रमण की घटना के कतिपय सूत्र उपलब्ध होते हैं। वह लिखता है कि सुल्तान ने गम्भीरी और वेडच नदी के मध्य अपने शिविर की स्थापना की। इसके पश्चात सेना के दायें और बायें पार्श्व से किले को दोनो ओर से घेर लिया। ऐसा करने मे तलहटी की वस्ती भी घिर गयी। स्वय सुल्तान ने अपना ध्वज चित्तौडी नामक एक छोटी पहाडी पर गाड दिया और वही वह अपना दरवार लगाता था तथा घेरे के सम्बन्ध मे दैनिक निर्देश देता था।[५३]

जब घेरे की व्यवस्था और तुर्की सेना का पडाव वड़ी लम्वी अवधि तक चलता रहा तो राजपूतो ने भी किले के फाटक वन्द कर लिये और परकोटो से मोर्चा वनाकर शत्रु-दल का मुकाबला करते रहे। सुल्तान की सेना ने मजनिको से किले की चट्टानो को तोडने का लगभग ८ महीने तक अथक प्रयत्न किया, पर उन्हे कोई सफलता न मिली।[५४] इस अवसर पर सीसोदे के सामन्त लक्ष्मणसिह ने किले की रक्षा मे अपने सात पुत्रो सहित प्राण गँवाये।[५५]

जब चारो ओर सर्वनाश के चिह्न दिखायी दे रहे थे, शत्रुओ से वचने का कोई उपाय नही दिखायी दे रहा था और किसी कीमत पर दुर्ग को नही बचाया जा सकता था और न स्त्रियाँ दुश्मनो से सुरक्षित रह सकती थी तो जौहर प्रणाली से राजपूत महिलाओ और बच्चो को धधकती हुई अग्नि मे अर्पण कर दिया गया। इस कार्य के वाद किले के फाटक खोल दिये गये और वचे हुए वीर शत्रु की सेना पर टूट पडे और वीरगति को प्राप्त हुए।

घमामान युद्ध के बाद, अमीर खुसरो[५६] लिखता है कि २५ अगस्त, १३०३ ई० को किला फतह हुआ और राय पहले भाग गया, परन्तु पीछे से स्वय शरण मे आया और तलवार की बिजली से वच गया। फतह के वाद राय का भागना और फिर शरण मे आना तथा तलवार की विजली से बचना आदि उल्लेख घटना-क्रम मे कुछ वातें छिपाकर लिखने-सा दीख पडता है। इसी सन्दर्भ मे वि० स० १३६३ के एक जैन

---

[५३] इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ३, पृ० ७६-७७

[५४] वही, पृ० ७६-७७

[५५] कुम्भलगढ का शिलालेख, श्लो० १८०

[५६] इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ७६-७७

ग्रन्थ 'नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रवन्ध'[५७] सुल्तान की विजय के साथ सूचना देता है कि चित्तौड का शासक वन्दी वनाया गया था और स्थान-स्थान पर घुमाया गया था। यदि इसमे सत्य का अश है तो अलाउद्दीन का चित्तौड के किले पर जाना और रत्नसिंह को छल से वन्दी वनाने की सम्पूर्ण कथा का तारतम्य वैठ जाता है। खुसरो द्वारा उल्लिखित सुल्तान की विजली से वचने का उल्लेख भी गोरा-वादल के प्रयत्न मे रत्नसिंह को शाही खेमे से छुडाने की ओर सकेत करता है।

चूँकि अलाउद्दीन के पास सैनिक-वल पर्याप्त था और लम्वे समय तक किले के घेरे रहने से तथा सम्भवत किले मे महामारी फैल जाने से चित्तौड पर सुल्तान का अधिकार हो गया। जव अलाउद्दीन ध्वसप्राय दुर्ग मे पहुँचा तो उसने पाया कि पद्मिनी १६०० स्त्रियो के साथ भस्म हो चुकी थी।[५८] उसके महल सूने पडे थे। किले के चारो ओर आग और राख के ढेर दिखायी दे रहे थे। कोई राजपूत वच्चा या किले का निवासी नही वचने पाया था जो उस दानव विजय का साक्षी हो, क्योकि सुल्तान ने ३०,००० हिन्दुओ को कत्ल करने की आज्ञा दी थी। फतह के वाद औपचारिक रूप से किला खिजरखाँ को सुपुर्द किया और उसका नाम खिजरावाद रखा गया।[५९] आसपास के भवनो को तुडवाकर किले पर पहुँचने के लिए गम्भीरी नदी पर, जो रास्ते मे पडती थी, एक पुल वनवाया गया और पुल मे शिलालेख भी चुनवा दिये गये जो मेवाड के इतिहास के लिए वडे प्रामाणिक है।[६०] चित्तौड की तलहटी के वाहर एक मकवरा भी वनवाया गया जिसमे लगे हुए १३१० ई० के फारसी के लेख मे वताया गया है कि अलाउद्दीन खलजी उस समय का सूर्य, ईश्वर की छाया और ससार का रक्षक था। उस लेख मे आशीर्वादात्मक इस प्रकार के भाव भी प्रकट किये गये है कि जव तक कावा दुनिया मे कायम रहे तव तक सिकन्दर सानी अर्थात अलाउद्दीन का भी राज्य मनुष्य मात्र पर कायम रहे।[६१]

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी अधिक समय चित्तौड को अपने अधीन न रख सके। यह विजय एक सैनिक विजय थी। खिजरखाँ से जव किला लेकर सोनगरा मालदेव को दे दिया गया था तो वह भी अपना स्थायी

---

५७ नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रवन्ध, श्लो० ३४

५८ प्रो० हवीव इस अवसर पर जौहर का होना नही मानते जो ठीक नही, कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ३६८

५९ इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० ३, पृ० ७६-७७, १८६, व्रिग्ज-फरिश्ता, जि० १, पृ० ३५३-५४, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १८१-८२

६० ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १९२

६१ वही, पृ० १९२-९३

अधिकार इस पर न जमा सका। किले के सिपाहियों और रक्षकों को, जैसा फरिश्ता[६२] लिखता है, स्थानीय लोगों ने मार भगाया और १३२६ ई० के लगभग किले की पुनर्व्यवस्था स्थापित करने का श्रेय हम्मीर को मिला। तदनन्तर चित्तौड़ फिर तरक्की करने लगा। यहाँ की आबादी फिर बढ़ने लगी और लगभग २०० वर्ष में यहाँ के राजपूत फिर अपने बलिदान के लिए सुसज्जित हो गये।

राजपूतों का यह बलिदान प्रथम शाके के नाम से प्रसिद्ध है जिसमे गोरा-बादल की वीरता और कूटनीति की कथा एक अमर कहानी बन गयी है। आज भी चित्तौड़ के खण्डहरों मे गोरा-बादल के महल उनके साहस और सूझ की कहानी सुना रहे हैं। इसकी शाके की कहानी के अन्तर्गत महारानी पद्मिनी का त्याग और जौहर-व्रत हमारी महिलाओं को एक नयी प्रेरणा देता है। आज गोरा-बादल या पद्मिनी नहीं है, परन्तु उनके आत्मबल और देश-सेवा के आदर्श जीवित है। जब तक देश-सेवा, वीरता, शौर्य और त्याग की चर्चा ससार मे होती रहेगी, इन वीरों का नाम जरूर लिया जायगा। अपने महत्त्वपूर्ण बलिदान से चित्तौड़ के प्रथम शाके के वीर पुरुषों और स्त्रियों ने राजस्थान के वीरतापूर्ण इतिहास मे चार-चाँद लगा दिये हैं। इन वीरों का ओजस्वी वृतान्त हमे यह सिखाता है कि जब देश पर आपत्ति आये तो प्रत्येक व्यक्ति को अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देश-रक्षा मे लग जाना चाहिए।[६३]

(ब) मेवाड़ का पुनर्संगठन का युग और विस्तार (१३२६-१४६८ ई०)

प्राक्कथन—रत्नसिंह के चित्तौड़ के घेरे के समय काम आ जाने से समूची रावल शाखा की भी समाप्ति हो गयी। इस अवसर पर सीसोदे के सरदार लक्ष्मणसिंह ने भी अपने पुत्रों सहित अपनी जान की बाजी लगा दी। एक प्रकार से यह मेवाड़ के सर्वनाश का काल था। शाके के समय असख्य अबलाएँ, बाल और बूढे राख के ढेरों मे विलीन हो गये थे। लम्बे घेरे के फलस्वरूप जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। मेवाड़ के जन और धन की इतनी हानि हुई थी कि जिसका अनुमान लगाना कठिन है। पहले तो तुर्कों का बोलबाला चित्तौड़ और आसपास के भागों पर आरम्भ हो गया और पीछे से मालदेव को चित्तौड़ की सत्ता मिलने पर चौहानों का प्राबल्य चारों ओर बढने लगा। गोडवाड का इलाका भी चौहानों के कब्जे मे आ गया। इस दयनीय स्थिति से उभारने का श्रेय हम्मीर को है जो सीसोदे का सरदार था और अरिसिंह का उत्तराधिकारी था। उसने मेवाड़ के उद्धारक का बीड़ा उठाया जिसमे उसे सफलता मिली। उसके द्वारा स्थापित परम्परा उसके उत्तराधिकारी चलाते रहे। इस परम्परा का विस्तृत रूप हम हम्मीर के चौथे वशज कुम्भा के समय मे पाते है जिसके समय मे मेवाड़ राज्य का विस्तार अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है। अब हम हम्मीर तथा

---

[६२] फरिश्ता, पृ० १२३, कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ३७१

[६३] डा० गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ० ८८

उसके उत्तराधिकारियो की उपलब्धियो को क्रमश पढेंगे और देखेंगे कि किस प्रकार यह परम्परा स्थापित हुई और आगे जाकर सवर्द्धित हुई।

हम्मीर (१३२६-१३६४ ई०)

हम्मीर अपने समय का एक वीर, साहसी और निर्भीक नवयुवक था। छोटी-सी सीसोदा की जागीर का स्वामी होते हुए भी उसमे अपने कुल गौरव का बडा ध्यान था। जब उसने देखा कि अलाउद्दीन के मरने के बाद दिल्ली सल्तनत की हालत शोचनीय हो चली है और मालदेव सोनगरा का पुत्र जैसा भी निर्बल है तो उसने १३२६ ई० के आसपास (मुहम्मद तुगलक के समय मे) चित्तौड को अपने अधिकार मे कर लिया और धीरे-धीरे सम्पूर्ण मेवाड पर उसका प्रभुत्व जम गया। उसके द्वारा सीसोदियो की स्थापित की गयी सत्ता स्वतन्त्र भारत की स्थापना तक चली आयी।[६४]

हम्मीर ने अपने पक्ष को प्रबल करने के लिए कई पडौसी राजाओ को परास्त किया या उनसे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया। चौहान मालदेव के सबसे छोटे लडके वणवीर को रतनपुर, खैराड, गोडवाड आदि इलाके देकर अपना सामन्त बनाया।[६५] शृगीऋषि[६६] (१४२८ ई०) के लेख से विदित होता है कि हम्मीर ने पहाडी भीलो के दल को युद्ध मे परास्त किया और एकलिगमाहात्म्य[६७] के अनुसार भीलवाडा के स्वामी राघव के अहकार को नष्ट किया और ईडर के राजा जैत्रकर्ण को युद्ध मे जीता। उसके द्वारा हाडा देवीसिंह को बूंदी का राज्य दिलाना भी प्रमाणित होता है।[६८] कर्नल टॉड[६९] ने हम्मीर को अपने समय का प्रबल हिन्दू राजा माना है जिसके अधीन मारवाड, जयपुर, बूंदी, ग्वालियर, चन्देरी, रायसीन, सीकर, कालपी, आबू के शासक थे। यह कथन अतिशयोक्तिरहित नही है, क्योकि बूंदी और ईडर के आगे बाहरी शासको पर उसका कितना अधिकार था यह सन्देहात्मक है। अलबत्ता उसने अपने शौर्य से एक शक्तिशाली शासक का स्थान अवश्य प्राप्त कर लिया था और मेवाड की सीमाओ को विस्तारित करने मे सफलता प्राप्त कर ली थी। उपरोक्त शासको ने उसके राजनीतिक प्रभाव को मान्यता दी हो तो कोई आश्चर्य नही।[७०]

---

[६४] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २३३-३४

[६५] ए० इ०, जि० ११, पृ० ६३-६४

[६६] शृगीऋषि का शिलालेख, श्लो० ४

[६७] एकलिगमाहात्म्य, राजवर्णन अध्याय, श्लो० ८८

[६८] नैणसी ख्यात, पत्र २३, पृ० १

[६९] टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ३१९-२०

[७०] "His influence and Leadership was recognized by the rulers of Marwar, Amber and others He left a name which is still honoured for gallantry and valour of a very high order' —*A Comprehensive History of India*, Vol V, G N Sharma, *Rajasthan*, p 786

क्षेत्रसिंह (१३६४-१३८२ ई०)

महाराणा हम्मीर का शौर्य उसके ज्येष्ठ पुत्र क्षेत्रसिंह मे अवतरित हुआ, जिसने अपने बल और पुरुषार्थ से अजमेर, जहाजपुर, माण्डल और छप्पन को अपने राज्य मे सम्मिलित कर लिया। उसने मालवा के दिलावरखाँ गोरी को परास्त कर भविष्य मे होने वाले मालवा-मेवाड के सघर्ष के सूत्र को आरम्भ किया। हाडौती के हाडाओ को दबाने का भी श्रेय क्षेत्रसिंह को है।[७१]

लक्षसिंह (लाखा) (१३८२-१४२१ ई०)

जब से महाराणा लाखा ने चित्तौड की गद्दी प्राप्त की थी तब से वह अपने पैतृक राज्य की सीमा को बढाने और अपने शत्रुओ के दवाने मे लगा रहा। उसने वदनौर प्रदेश को अपने अधीन कर लिया। उसके समय मे डोडिया राजपूतो को अपने यहाँ आश्रय देकर राजपूत शक्ति का सगठन किया तथा धवल नामी डोडिया को तरनगढ, नन्दराय और मसूदा आदि की जागीर देकर अपना उमराव बनाया। तुर्को के साथ भी उसकी छेडछाड होने के उल्लेख मिलते हैं। भाग्यवश उसके समय मे जावर की चाँदी की खान निकल आयी जिससे उसने कई किलो का निर्माण करवाया। जो मन्दिर अलाउद्दीन के आक्रमण के समय तोडे गये थे उनका उसने जीर्णोद्धार कराया। उसी के समय मे उदयपुर की पीछोला झील का बाँध बनवाया गया था। लाखा ये निर्माण-काय मेवाड की आर्थिक स्थिति तथा सम्पन्नता को बढाने में बडे उपयोगी सिद्ध हुए। उसके समय के झोटिंग भट्ट और धनेश्वर भट्ट की विद्यमानता सस्कृत साहित्य के उत्थान का प्रमाण है।[७२]

लाखा के समय के पिछले दिनो की एक घटना[७३] बडे महत्त्व की है। बताया जाता है कि जब महाराणा लाखा अपने दरबार मे बैठे हुए थे कि राठौड रणमल की बहन हसाबाई के सम्बन्ध के नारियल महाराणा के कुँवर चूंडा के लिए आये। उस समय चूंडा उपस्थित न थे। महाराणा ने हँसी मे कह दिया कि नारियल तो बूढो के लिए कौन लाये ? राव रणमल ने यह सुनकर कहलवा भेजा कि यदि हसाबाई से होने वाली पुत्र सन्तान का मेवाड की गद्दी पर अधिकार स्वीकार किया जाय तो उसका

---

[७१] कुम्भलगढ शिलालेख, श्लो० १९८-२०२, एकलिंगजी का शिलालेख, श्लो० ५१, शृगीऋषि का शिलालेख, श्लो० ७, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ११९, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, २४३-२५९

[७२] एकलिंगजी का शिलालेख, श्लो० ३५-३९, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ११९, चित्तौड का शिलालेख, श्लो० ३८, ए० इ०, भा० २, पृ० ४१५, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २५९-२७०, वीर विनोद, भा० १, पृ० ३०५-३०९

[७३] टॉड, राजस्थान, भा० १, पृ० २२४, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २६५-६६

विवाह लाखा से कर दिया जायगा। अव राणा वडे असमजस मे पडे। चूंडा के ज्येष्ठ पुत्र होते हुए ऐसा करना उचित न था। चूंडा ने जव यह स्थिति देखी तो उसने प्रत्युत्तर मे रणमल को कहलवा भेजा कि वह राज्य का अधिकार छोडने के लिए उद्यत है यदि राणा से हसाबाई का विवाह सम्पन्न हो जाय। नितान्त महाराणा ने हसावाई से विवाह किया जिससे मोकल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। चूंडा के त्याग से प्रसन्न होकर लाखा ने चूंडा को मोकल का रक्षक नियुक्त किया और यह नियम कर दिया कि भविष्य मे मेवाड के महाराणाओ के सभी पट्टो, परवानो और सनदो पर चूंडा और उसके वशजो के भाले का निशान अकित होता रहेगा। वैसे तो इस विवाह का सम्पादन शान्तिपूर्वक हो गया, परन्तु पीछे से हसावाई तथा राठौडो के षड्यन्त्र से मेवाड की आन्तरिक स्थिति शोचनीय हो गयी, जिसके फलस्वरूप अनेक उपद्रवो और दरबारी दलवन्दियो का जन्म हुआ।

मोकल (१४२१-१४३३ ई०)

महाराणा लाखा के देहान्त के समय मोकल लगभग १२ वर्ष का था जिसके राज्य का सभी कार्य वडी कुशलता से उसका चाचा चूंडा चलाता था। परन्तु मोकल की माँ हसावाई को धीरे-धीरे व्यर्थ मे ही चूंडा पर यह सन्देह होने लगा कि कही अवसर मिलने पर चूंडा राज्य पर अपना स्वतन्त्र अधिकार न स्थापित कर ले। जब इस मनोवृत्ति का आभास स्वाभिमानी चूंडा को हुआ तो वह माण्डू के दरवार मे पहुँच गया जहाँ उसको सम्मानपूर्वक रखा गया। रानी ने शीघ्र ही मारवाड से अपने भाई रणमल को वुला लिया और उसे राज्य का सभी भार सुपुर्द कर दिया। रणमल ने कई राठौडो को वुलाकर उच्च पदो पर स्थापित कर दिया जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मेवाड पर राठौड सत्ता स्थापित होने जा रही है।[७४]

भाग्यवश मारवाड का शासक चूंडा मर गया तो मेवाड की सेना की सहायता से रणमल के विरोधियो को परास्त किया गया जिससे रणमल को मण्डोर का स्वामित्व प्राप्त हो गया। इस कार्य से मोकल ने वडी युक्ति से राठौडो के प्रभाव को मेवाड से कम कर दिया। इसी अर्से मे मोकल ने अपनी शक्ति का सगठन करना आरम्भ कर दिया और एक के वाद दूसरे शत्रु पर विजय प्राप्त कर ली। १४२८ ई० के लगभग उसने नागौर के फिरोजखाँ को रामपुरा के युद्ध मे परास्त किया, जालौर और साँभर देश को रौंदा तथा गुजरात के अहमदशाह को पराजित किया। उसने जहाजपुर के किले के घेरे मे भी विजय प्राप्त की और हाडो के मानमर्दन मे सफलता प्राप्त की।[७५]

---

[७४] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २७१-७२

[७५] मोकल का शिलालेख, श्लो० ५१, शृगीऋषि का शिलालेख, श्लो० १४, कुम्भलगढ का शिलालेख, श्लो० २२१, दक्षिण द्वार शिलालेख, श्लो० ४३, वीर विनोद, भा०, १, पृ० ३१८-१५, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २७०-२७५

मोकल ने अपनी विजयो से ही मेवाड को एक शक्तिशाली राज्य नही बनाया वरन् अपने विद्या तथा कला प्रेम से भी उसे बौद्धिक तथा कलात्मक प्रवृत्तियो का केन्द्र स्थापित किया। उसने चित्तौड के समाधिश्वर के मन्दिर के जीर्णोद्धार द्वारा पूर्व मध्यकालीन तक्षण कला के नमूने को जीवित रखा। उसने कई विष्णु, शिव और शक्ति के मन्दिरो को अनुदान देकर तथा सोने और चांदी के तुलादान के आयोजनो द्वारा अपनी धार्मिक निष्ठा का परिचय दिया। उसने श्रीएकलिंगजी के मन्दिर के चारो ओर परकोटा बनवाकर उस मन्दिर की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की। उसके दरबार मे कई शिल्पी और विद्वान आश्रय पाते थे जिनमे मना, फना, विसल जैसे शिल्पियो के नाम तथा योगेश्वर और भट्टविष्णु जैसे प्रकाण्ड विद्वानो के नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने ब्राह्मणो के वेदाध्ययन के प्रवन्ध के लिए व्यवस्था की जो उसकी ब्राह्मण धर्म के परिवर्द्धन के प्रति रुचि को बताती है।[७६]

महाराणा की मृत्यु—ऐसे सुयोग्य शासक की मृत्यु आपसी वैमनस्य के कारण हो गयी, जो बडे दुख का विषय है। जब महाराणा जीलवाडा के भाग मे गुजरात के सुल्तान अहमदशाह के आक्रमण को रोकने के लिए डटा हुआ था कि महाराणा खेता की उपपत्नी के पुत्र चाचा व मेरा ने अवसर पाकर उसकी हत्या कर दी। इस हत्या के कराने के पक्ष मे महपा पँवार आदि कई सरदार भी सम्मिलित थे।[७७] वास्तव मे मोकल अपने समय का अच्छा शासक था जिसने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र मे उन्नति कर भावी शासक कुम्भा के मार्ग को प्रशस्त बना दिया।

महाराणा कुम्भा (१४३३-१४६८ ई०)

महाराणा कुम्भा महाराणा मोकल का ज्येष्ठ पुत्र था जो १४३३ ई० मे मेवाड का शासक बना। सम्पूर्ण गुहिलवंशीय शासको मे कुम्भा या कुम्भकर्ण ही एक ऐसा शासक था जो उसके अनेक गुणो और विशेषताओ के प्रतीक विरुदो से विख्यात था। उस समय के साहित्य ग्रन्थो[७८] और प्रशस्तियो[७९] मे महाराणा को महाराजाधिराज, रावराय, राणेराय, दानगुरू, राजगुरू, परमगुरु, चापगुरू, अभिनवभरताचार्य, हिन्दू सुरताण

---

[७६] शृंगीऋषि का शिलालेख, श्लो० १६, कुम्भलगढ की प्रशस्ति, श्लो० २२, २४, ३९, २२४, २२५ आदि, ए० इ०, भा० २, पृ० ४१०-४२१, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २७५-२७७

[७७] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २७७-२७८

[७८] गीतिगोविन्द टीका, पृ० १०४ (निर्णयसागर संस्करण)

[७९] कुम्भलगढ प्रशस्ति, श्लो० १४९, १७७, १९७, २३२ आदि, राणकपुर लेख, भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० ११४

आदि विरुदो से सम्बोधित किया गया है। उसके जीवन की सबसे बडी घटनाएँ सतत् युद्ध की सम्भावनाएँ थी जिनसे उसने दृढता से देश की रक्षा की और अपने राज्य को विस्तारित किया। इन गतिविधियो के साथ वह साहित्य और कला का पोषक बना रहा जो कम गौरव की बात न थी।

महाराणा की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ और उनका अन्त—जब महाराणा कुम्भा मेवाड का स्वामी बना तो उसने पाया कि उसके लिए अपने पिता तथा प्रपितामह के समय की कई समस्याओ को हल करना है। बिना उन समस्याओ के हल किये उसके लिए सम्भव नही था कि वह अपने राज्य का विस्तार कर सके या उसके राजत्व-काल मे ऐसी स्थिति पैदा कर सके जो साहित्य और कला की उन्नति मे सहयोगी हो। इसलिए उसने सबसे पहले ऐसे सामन्तो की समस्या को हाथ मे लिया जो देशद्रोही थे और जिन्होने अपने पद और प्रतिष्ठा का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया था। उसके प्रपितामह खेता की उप-पत्नी के पुत्र चाचा व मेरा तीन पीढियो से मेवाड के शासको के समय मे बडे शक्तिशाली बनते जा रहे थे। उन्होने महपा पँवार आदि कई सामन्तो को अपना सहयोगी बना लिया था। उनकी प्रभुता और प्रभाव को वश-परम्परा से सम्मानित सामन्त नही पसन्द करते थे। उन्होने उनकी अनुचित पद-वृद्धि का प्रकट मे तो विरोध नही किया परन्तु वे इनके व्यवहार और आचरण से मन ही मन अप्रसन्न रहते थे। चाचा और मेरा इतने शक्त्यान्ध हो गये कि एक समय जब मोकल ने इनसे जगल मे प्रसगवश किसी वृक्ष का नाम पूछ लिया तो वे इसे ताना समझ गये, क्योकि इनकी माता खातिन थी। इस अपमान का बदला लेने के लिए उन्होने मोकल को मार दिया। महाराणा कुम्भा ने देखा कि यदि इनसे बदला न लिया जायगा तो उनकी शक्ति अधिक बढती जायगी और मेवाड के सामन्त भी कई दलो मे विभाजित हो जायेंगे। इनका काम समाप्त करना इसलिए भी आवश्यक हो गया कि वे अपने दल-बल के साथ दक्षिण के पाई पहाडो की ओर छिप गये और गुप्त रीति से भीलो को अपनी ओर सगठित करने लगे। महाराणा ने दृढता से इस स्थिति का मुकाबला किया। उनके विरुद्ध सेनाओ को भेजा गया जिन्होंने बडी कठिनता से उनके छिपने के स्थान का पता लगाया। उनको चारो ओर से घेर लिया गया जिसके फलस्वरूप वे और उनके कई साथी मारे गये। इस प्रकार के विद्रोह का दमन कर महाराणा ने मेवाड मे बनने वाली दलबन्दी को समाप्त किया तथा भीलो को अपनी ओर मिलाकर भावी युद्धों की योजना को सफल बनाने के कार्य को सम्पादित किया। चाचा व मेरा की मृत्यु के बाद चाचा के पुत्र एक्का और महपा पँवार का साहस मेवाड मे रहने का न हो सका। उनके लिए एक ही मार्ग खुला हुआ था और वह था माडू के सुल्तान की शरण मे पहुँचना। यहाँ उन्हें कोई साथ देने को तैयार न था। ऐसी स्थिति मे वे माडू चले गये। भविष्य में ये माडू के शासक को उकसाने के साधन अवश्य बने, परन्तु इनके द्वारा तत्क्षण पैदा

होने वाला भय जाता रहा। इस प्रकार तीन पीढियो से वनी हुई समस्या को कुम्भा ने अपनी सूझबूझ से समाप्त कर दिया।[८०]

जिस प्रकार कुम्भा के प्रपितामह ने खातिन को उप-पत्नी वनाकर मेवाड के लिए भय उपस्थित कर दिया था उसी प्रकार उसके पितामह लाखा (लक्षसिंह) ने वृद्धावस्था मे राठौड रणमल की वहन हसावाई से विवाह[८१] कर मेवाड के लिए कई समस्याएँ पैदा कर दी। प्रथम तो इस विवाह के लिए रणमल ने अनुमति तभी दी जव लाखा के ज्येष्ठ पुत्र चूंडा ने यह वचन दे दिया कि हसावाई की सन्तान मेवाड की गद्दी पर बैठेगी और वह आजन्म मेवाड की सेवा करेगा। इस अपूर्व त्याग के उपलक्ष्य मे लाखा ने यह नियम वना दिया कि भविष्य मे चूंडा और उसके वशधर (सलूम्बर के रावत) सरकारी पट्टे, सनदें और परवाने पर भाले का चिह्न करेंगे। जब हसावाई का पुत्र मोकल मेवाड का स्वामी बना तो चूंडा ने उसकी सेवा वडी भक्ति और तत्परता के साथ करनी आरम्भ कर दी। परन्तु हसावाई को चूंडा पर सन्देह रहने लगा, क्योकि उसे भय था कि कही अवसर पाकर चूंडा सभी शक्ति अपने हाथ मे न ले ले। धीरे-धीरे उसने चूंडा से शक्ति हटाना आरम्भ किया और उसे तथा उसके भाई अज्जा को विवश किया कि मेवाड को छोडकर वे माडू चले जायँ। अपने हाथ मे शक्ति वनाये रखने के लिए उसने मारवाड से अपने विश्वस्त अधिकारियो को वुलाना आरम्भ किया और मेवाड की सभी शक्ति अपने भाई रणमल को दे दी। मोकल की मृत्यु के उपरान्त भी यह स्थिति वनी रही। इस परिस्थिति से स्थानीय सरदारो की शक्ति नाममात्र की रह गयी। रणमल ने भी स्थानीय सरदारो के प्रति उदार व्यवहार न रखा। उसने चूंडा के एक भाई राघवदेव को, जो स्थानीय सरदारो का एकमात्र नेता था, षड्यन्त्र से मरवा दिया। इस घटना से महाराणा कुम्भा को रणमल के प्रति सन्देह हो गया। जब सरदारो मे असन्तोष बढता ही गया तो एक्का और महपा भी माडू से लौट आये और क्षमायाचना कर महाराणा की सेवा करने लगे। उन्होंने सरदारो का सगठन किया और चूंडा को भी मेवाड मे बुला लिया। इन्ही दिनो रणमल की प्रेयसी भारमली को अपनी ओर मिलाकर मेवाड के सरदारो ने रणमल की

---

[८०] कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति, श्लो० १५०, वीरविनोद, भा० १, पृ० ३१६, प० रेऊ चाचा व मेरा को समाप्त करने का पूर्ण श्रेय रणमल को देते हैं जो ठीक नही। महाराणा और उसके साथी प्रारम्भ से ही मेवाड की समस्याओ के सम्बन्ध मे सतर्क और सक्रिय थे जैसा उनके आगे के कार्यो से स्पष्ट है।

[८१] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २६५-२६६। इस विवाह का नारियल प्रारम्भ मे चूंडा के लिए लाया गया था। उसकी अनुपस्थिति मे लाखा ने हँसी मे उसे अपने लिये चाहा।

हत्या १४३८ ई० मे कर दी।[८२] महाराणा ने रणमल का प्रकट रूप से तो कोई विरोध नही किया परन्तु सरदारो के द्वारा किये जाने वाली दलबन्दी का समय-समय पर समर्थन किया। बिना कुम्भा की आज्ञा के चूंडा और अज्जा का मेवाड मे लौटना सम्भव नही था। यह सभी कार्यवाही महाराणा की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप थी। दो पीढियो से राठौडो का प्राबल्य जो मेवाड राज्य मे बढता जा रहा था उसे समाप्त करने का श्रेय कुम्भा की कूटनीति को है। पाँच वर्ष की अवधि मे ही चाचा मेरा तथा रणमल के कारण पैदा किये जाने वाली समस्याओ को हल कर महाराणा ने अपने घरेलू बखेडो की इतिश्री कर दी और भविष्य मे लिये जाने वाली योजनाओ के लिए मार्ग सुगम बना दिया। कम से कम इन दोनो समस्याओ के निपटाने से महाराणा को अपने राज्य मे सगठित शक्ति बनाने का अवसर मिल गया।

राणा की प्रारम्भिक विजयें—महराणा इन पाँच वर्षो मे तथा इनके आगे के और दो वर्षो मे इन्ही दो समस्याओ के निपटाने मे लगा रहा हो ऐसा नही था। उसने अपने प्रारम्भिक सात वर्षो मे स्थानीय और पडौसी राज्यो की विजय के द्वारा अपनी शक्ति को बढाया और राजस्थान मे अपना एक नेतृत्व स्थापित किया। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक था कि उसे इन प्रारम्भिक विजयो के द्वारा अपने राज्य को विस्तारित करना था तथा भविष्य मे होने वाले आक्रमणो की सँभावना का मुकाबला करना था।

वह जानता था कि दिल्ली सल्तनत से उसे उतना भय नही हो सकता जितना मालवा और गुजरात की बढती हुई शक्ति से। इस स्थिति को ध्यान मे रखते हुए उसने अपनी विजयो की योजना बनायी। सबसे पहले दिल्ली की शक्ति की तुलना में अपने राज्य की उत्तरी सीमा को सुदृढ बनाने के लिए मेरो को काबू मे किया और हम्मीरगढ के राव को अधिक सतर्क कर दिया जिससे किसी भी अवस्था मे उत्तरी भाग से होने वाले किसी भी आक्रमण की सम्भावना का प्रतिरोध किया जा सके। परन्तु इससे भी अधिक आवश्यकता मालवा और गुजरात की बढती हुई शक्ति की तुलना मे मेवाड के विस्तार का मार्ग ढूंढना था। इस दिशा मे उसने सबसे प्रथम चित्तौड और कुम्भलगढ मे सैनिक-शक्ति का सगठन किया और इन केन्द्रो से अपने राज्य की सीमा को पूर्व और पश्चिम की ओर विस्तारित करने की योजना बनायी। राणकपुर के

---

८२ नैणसी की ख्यात, पत्र १४८-१५०, वीर विनोद, भा० १, पृ० ३२१-२७, हरविलास सारदा, महाराणा कुम्भा, पृ० २०-३५, टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ३२७। रणमल की मृत्यु के सम्बन्ध मे एक डोम के द्वारा गाया हुआ दोहा इस प्रकार है—

चूंडा अजमल आविया, माडू हूँ धक आग।
जोधा रणमल मारिया, भाग सके तो भाग॥

१४३९ ई० के शिलालेख[८३] से हमे इस दिशा मे सूत्र मिलता है। इस प्रशस्ति का लेखक लिखता है कि महाराणा कुम्भा ने सारगपुर, नागौर, गागरौन, नरायणा, अजयमेरु, मण्डोर, मडलकर, बूंदी, खाटू, चाटसू आदि के सुदृढ और विषम किलो को लीलामात्र से विजय किया। हो सकता है कि प्रशस्तिकार ने इन विजयो मे कुछ वे भी विजयें सम्मिलित कर ली हो जो उसकी विजय की योजना के अन्तर्गत थी या जिन पर उसने केवल मात्र राजनीतिक प्रभाव ही स्थापित किया था। परन्तु इन विजयो मे अधिकाश वे विजय सम्मिलित है जिनको उसने अपने राज्य का भाग बना लिया था। इन विजयो से उसे धन और जन की प्राप्ति हुई और उसकी शक्ति मे परिवर्धन हुआ। अनेक राजा और सामन्तो को परास्त कर उसने अपनी राजनीतिक प्रतिभा का सवर्धन किया और राजस्थान के सन्दर्भ मे सार्वभौम सत्ता की सस्थापना की। कुम्भलगढ की प्रशस्ति[८४] से भी मेवाड के पश्चिमी तथा पूर्वी पडोसी राज्यो के कुछ भागो का महाराणा के राज्य मे मिलाया जाना और कुछ भागो को खिराजगुजार बनाना प्रमाणित होता है। जिन भागो को उसने विजित किया था उनका वर्णन इस प्रकार है

पश्चिमी प्रदेशों की विजयें—महाराणा की पश्चिमी प्रदेशो की विजय मे आबू की विजय बडे महत्त्व की है। आबू, वसन्तगढ और सिरोही राज्य के पूर्वी भागो को अपने राज्य मे सम्मिलित करने का कारण यह बताया जाता है कि जब महाराणा मोकल की मृत्यु हो गयी तो सिरोही के स्वामी सैंसमल ने सिरोही की सीमा से मिले हुए मेवाड के कुछ गाँव दबा लिये थे।[८५] इन गाँवो को पुन अपने राज्य मे मिला लेना आवश्यक था। आबू पर आक्रमण हेतु महाराणा के लिए यह एक आवश्यक बहाना था, परन्तु वास्तविक कारण कुछ और ही था। महाराणा जानता था कि गुजरात की ओर से उसके राज्य पर यदि हमले हो सकते हैं तो राजस्थान के पश्चिमी भाग से ही हो सकते हैं। आबू के प्रान्त को राज्य का अग बना लेने से उस ओर के मार्ग पर अवरोध हो सकता था। इसके अतिरिक्त महाराणा की भविष्य की योजना जो नागौर और मारवाड विजय की थी उसमे भी आबू का प्रान्त सैनिक सरक्षण का काम कर सकता था। इन बातो को ध्यान मे रखकर महाराणा ने डोडिया नरसिंह की अध्यक्षता मे फौज भेजकर आबू और उसके निकटवर्ती सिरोही के भागो को अपने अधिकार मे कर लिया।

रणमल के १४३८ ई० मे मारे जाने पर राणा के लिए यह आवश्यक था कि वह रणमल के पुत्र जोधा का अधिकार मारवाड में कुछ समय न होने दे। ऐसा करने से राठौडो की सगठित शक्ति मेवाड के लिए हानिकारक नही हो सकती थी। इसी

---

[८३] राणकपुर लेख, एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ई० स० १९०७-०८, पृ० २१४-१५

[८४] कुम्भलगढ प्रशस्ति, वि० स० १५१७, श्लो० १५७, २६२-६४

[८५] ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० १९५

अभिप्राय से अपने भाइयो और साथियो सहित भागते हुए जोधा का पीछा किया गया और उसे बीकानेर से १० कोस दूर काहुनी गाँव मे जाकर रहना पडा।[८६] विजयी चूंडा ने मडोवर पर अधिकार स्थापित कर वहाँ का प्रबन्ध अपने पुत्रो—कुन्तल, माजा, सूवा तथा झाला विक्रमादित्य एव हिंगलू आहाडा के हाथ छोडा। जोधा ने मारवाड से दूर रहकर कई मर्तबा मण्डोर लेने का प्रयत्न किया परन्तु उसे हर बार विफलता ही मिली। विवश होकर उसने राणा के समर्थको को फोडना आरम्भ किया। इस अवधि मे उसे सेत्रावा के रावत लूणा और हरबू साखला से बडी सहायता मिली[८७], जिसके फलस्वरूप १४५३ ई० मे मण्डोर इसके अधिकार मे आ गया। इस अर्से मे राणा के कई आदमी—भाटी बणवीर, राणा बीसलदेव, रावल दूदा आदि मारे गये। इधर कुम्भा भी गुजरात तथा मालवा अभियान मे लगा हुआ था और चाहता था कि जोधपुर से मैत्री सम्बन्ध बना ले। उधर हसाबाई का भी आग्रह था कि जोधपुर पर अधिक समय अधिकार न रखा जाय। इन विविध कारणो को लेकर मेवाड-मारवाड मे सन्धि हो गयी। जोधा ने अपनी पुत्री शृङ्गार देवी का विवाह महाराणा कुम्भा के पुत्र रायमल के साथ कर वैर को समाप्त कर दिया। मेवाड के लिए लगभग १५ वर्ष का मारवाड पर अधिकार राजनीतिक प्रभाव के बढावे के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ।[८८]

पूर्वी प्रदेशो की विजयें—मेवाड के पश्चिमी भागो की विजय के उपरान्त कुम्भा ने मेवाड के पूर्वी हिस्से मे स्थित स्थानो को भी अधीन किया। वि० स० १४९६ के राणकपुर के लेख तथा वि० स० १५१७ की प्रशस्ति मे महाराणा की हाडौती विजय का उल्लेख है। बूंदी के शासक मेवाड के सामन्त थे। समय पाकर जब वे स्वतन्त्र हो गये तो कुम्भा ने अपनी सेना भेजकर गागरौन, बम्बावदा और माण्डलगढ जीत लिये और बूंदी के शासक को खिराजगुजार घोषित कर उसे अपने राज्य का स्वामी रहने दिया। मेवाड के सीमान्त भाग मे मित्र राज्य रखकर कुम्भा ने अपनी विचारशील नीति का परिचय दिया।[८९]

मेवाड-माण्डू सम्बन्ध—मेवाड के दोनो पार्श्वो की ओर अपनी शक्ति को सुदृढ करने का अभिप्राय केवल मात्र इन दिशाओ मे राज्य-विस्तार की भावना ही न थी, परन्तु मालवा और गुजरात के शासको की तुलना मे अपनी शक्ति को सम्पन्न बनाने और अवसर आने पर उनसे मुकाबला करने की थी। जैसा कि हमने ऊपर पढा, महाराणा कुम्भा ने पाई पहाडी भागो के भीलो को अपनी ओर मिला लिया तो उसमे

---

[८६] मारवाड की ख्यात, जि० १, पृ० ४१
[८७] वही, पृ० ४२-४३
[८८] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २९१-९३
[८९] कुम्भलगढ प्रशस्ति, श्लो० २६४, वंशभास्कर, पृ० ८६-९०

अब मालवा से टक्कर लेने की क्षमता पैदा हो गयी। दक्षिणी मेवाड और मालवा के बीच वाले भागो पर अर्द्ध-स्वतन्त्र जातियाँ और सामन्त रहते थे जो कभी मेवाड की ओर और कभी मालवा की ओर अपना झुकाव रखते थे। इस स्थिति को तभी समाप्त किया जा सकता था जब कुम्भा कुछ अपने आक्रमणो से मालवा मे मेवाड के प्रभाव का वातावरण बना सके। आक्रमण का बहाना भी राणा को मिल गया। चाचा मेरा का साथी महपा पँवार को, जो माण्डू के सुलतान के राज्य मे जाकर आश्रय पा रहा था, लौटाने के लिए महाराणा ने महमूद खलजी को पत्र लिखा। उत्तर मे उसने अपने शरणागत को भेजना स्वीकार नही किया। यह उत्तर प्राप्त कर महाराणा ने सुलतान पर एक बडी सेना से आक्रमण कर दिया। दोनो पक्षो का सारगपुर के पास १४३७ ई० मे मुकाबला हुआ, जिसमे महमूद को परास्त होकर भागना पडा। कुम्भलगढ प्रशस्ति के अनुसार सारगपुर मे महाराणा ने असख्य मुसलमान स्त्रियो को बन्दी बनाया और नगर को जलाया। भागती हुई शत्रु सेना का माण्डू तक पीछा किया गया जिसके फलस्वरूप मालवे का सुलतान बन्दी बनाया गया और उसे चित्तौड लाया गया। इस विजय के उपलक्ष मे महाराणा ने अपने आराध्यदेव विष्णु के निमित्त कीर्तिस्तम्भ को बनवाया। लगभग छह महीने तक कैद रखने के बाद महमूद को पारितोपिक से प्रसन्न कर अपने राज्य मे लौटने के लिए स्वतन्त्र कर दिया।[६०]

कुछ इतिहासकार महमूद को कैद कर छोडने की घटना पर सन्देह प्रकट करते हैं, क्योकि इसका उल्लेख न तो समसामयिक मुस्लिम इतिहासकारो ने किया है और न फरिश्ता ने ही। परन्तु इसी तर्क के आधार पर महमूद की हार पर या उसे मुक्त करने पर सन्देह करना ठीक नही। यह हमेशा आवश्यक नही कि मुस्लिम इतिहासकार जब किसी घटना को दें तभी उसकी मान्यता हो। अबुलफजल ने इस सम्पूर्ण घटना का उल्लेख अपनी पुस्तक मे किया है जिसकी पुष्टि नैणसी की ख्यात से होती है। नैणसी की ख्यात का वर्णन भी किसी न किसी परम्परागत मान्यता पर आधारित है।

कर्नल टॉड[६१] ने महाराणा द्वारा महमूद को छोड देना तथा उसके राज्य को लौटा देना राजनीतिक अदूरदर्शिता बताया है। इस प्रकार टॉड के विचारो का समर्थन डा० ओझा ने भी किया है।[६२] हरबिलास सारदा[६३] भी महाराणा की

---

[६०] नैणसी री ख्यात, पत्र १७८, पृ० २, वीरविनोद, भा० १, पृ० ३२०

[६१] टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ३३५, "A mixture of arrogance, political blindness, pride and generosity"
—Tod

[६२] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २८७

[६३] सारदा, महाराणा कुम्भा, पृ० ५३-५९, "Political blindness and misplaced generosity"
—Sarda

नीति की निन्दा करते हैं और बताते है कि भारतवर्ष मे पहले से की जाने वाली भूलो की भाँति यह भी एक वहुत वडी भूल थी जिसका कभी समर्थन नही किया जा सकता। इन विद्वानो ने शत्रु को छोड देने और उसके राज्य को लौटा देने की इसीलिए निन्दा की है कि उन्होने इसे दूसरे पक्ष से नही देखा है। प्रश्न यह उठता है कि क्या राणा मे यह क्षमता थी कि वह मालवा जैसे दूरस्थ राज्य को अपने अधिकार मे लम्वे समय तक रख सके ? क्या ऐसा करने से अन्य समस्याएँ नही उपस्थित हो जाती ? यदि मालवा मे गुजरात के शासक और मालवा की जनता महाराणा से सघर्ष करते तो उसके पैतृक राज्य की कैसे सुरक्षा होती ? इन सभी वातों को महाराणा ने वडी गहराई से सोचा था और इसीलिए महमूद को मुक्त कर कुछ समय के लिए वह मालवा की ओर से शान्ति का अनुभव करना चाहता था। थोडा भी समय जो इस नीति से महाराणा को मिल गया वह पुन उसके सैनिक वल के सगठन के लिए पर्याप्त था। वह अवश्य जानता था कि महमूद को छोड देने से 'मालवा-मेवाड' सघर्प समाप्त नही होता, परन्तु लम्वी लडाई में थोडे समय का युद्ध-विराम वडा महत्त्व रखता है। मेवाड जैसे छोटे राज्य के लिए अन्य पार्श्वों मे युद्ध जारी रखना और मालवा जैसी शक्ति पर अन्य वलवान पडोसी राज्यो की होड मे नियन्त्रण रखना अपनी शक्ति का अपव्यय करना था। ऐसी स्थिति मे महाराणा की यह नीति उसकी उदारता और स्वाभिमान तथा दूरदर्शिता की परिचायिका है। ऐसी समयोचित नीति को आत्मघाती नीति न कह कर आत्माभिमान की सवर्धक नीति ही कहा जायगा।[६४]

सुलतान महमूदशाह १४३७ ई० की पहली पराजय का वदला लेने के लिए लगभग ६ वर्प के वाद अर्थात १४४३ ई० मे वडी तैयारी के साथ मेवाड पर चढ आया। इस समय उसने महाराणा के सुदृढ गढ कुम्भलगढ को घेरने का प्रयत्न किया, जिसमे उसे असफलता मिली। राजपूतो ने कुम्भलगढ के दरवाजे के नीचे वाण माता के मन्दिर मे अपने प्रथम मोर्चे की व्यवस्था कर रखी थी, जिसका नेतृत्व दीपसिह कर रहा था। सुलतान ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग इस मोर्चे के विरुद्ध लगा दिया। फल यह हुआ कि सात दिन के सघर्प के अनन्तर दीपसिह और उसके साथियो के मारे जाने पर मन्दिर पर आक्रमणकारियो का कब्जा होने पाया। उसे इस मोर्चे को तोडने मे इतनी हानि उठानी पडी कि उसने मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और मूर्ति को तोडकर उसके टुकडो को कसाईयो को माँस तोलने के उपयोग मे लाने के लिए दे दिये। नन्दी की मूर्ति का चूना पकाकर राजपूतो को पान मे खिलवाया। यहाँ

---

६४ मेरे द्वारा लिखा गया राजस्थान पर अध्याय, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ७६१, "In fact, the Rana acted wisely as it was not possible for him to keep control over Malwa for a longer time"
—G N Sharma

से माण्डू की फौजें चित्तौड लेने को चली, परन्तु इसे लेने मे सफलता नही मिली। वर्षा ऋतु के आ जाने से मेवाड जैसे पहाडी भाग मे आक्रमण करना कठिन समझ महमूद माण्डू लौट गया। लौटती हुई फौज का महाराणा ने पीछा किया जिसमे दोनो पक्षो को हानि उठानी पडी।[६५]

तीन वर्ष के पश्चात सन् १४४६ मे सुलतान ने माण्डलगढ के किले को लेने के अभिप्राय से कूच किया। बनास नदी पार करने पर राणा और माण्डू की फौजो मे मुठभेड हुई परन्तु खलजी की फौजें माण्डलगढ के किले को न ले सकी। दोनो मे सन्धि हो गयी और सोना लेकर सुलतान अजमेर की ओर आगे बढ गया। लौटते हुए उसने फिर से चित्तौड लेने का प्रयत्न किया पर इसमें उसे निराशा हुई। १४५६ ई० मे फिर महमूद ने माण्डलगढ पर आक्रमण किया जिसे राणा ने दस लाख टक देकर टाल दिया। फरिश्ता के वर्णन से यह मालूम होता है कि महमूद ने लगभग पाँच वार मेवाड पर आक्रमण किये और प्रत्येक बार महाराणा ने सोना और टक देकर उसे लौटा दिया। डा० ओझा इन सभी आक्रमणो मे महमूद की पराजय वताते हैं और लिखते हैं कि ऐसे मुस्लिम पराजय के उल्लेख मे मुसलमान लेखक वहुधा इसी प्रकार की शैली का अवलम्बन किया करते है। परन्तु सम्पूर्ण वर्णन का यदि वारीकी से विश्लेपण किया जाय तो ऐसा मालूम होता है कि महमूद की, मेवाड आक्रमण मे, इस अर्थ मे पराजय थी कि वह कुम्भलगढ, चित्तौड और माण्डलगढ को लेने मे प्रत्येक बार असफल रहा। यदि उसे सफलता कहा जाय तो वह आसपास के भागो से लूट का माल वटोरने मात्र मे थी। महाराणा का युद्ध व्यवस्था मे किलो की सुरक्षा ही प्रमुख सैनिक साधन था, जिसे आक्रमणकारी न तोड सके। वाकी के खुले मैदानो मे या घाटियो मे महाराणा ने भीलो की सहायता से "लुका-छिपी" की लडाई लडी थी। लौटती हुई सेना पर छापा मारना और अपनी सीमा से सेना को भगा देना यह विधि ही महाराणा की सैन्य व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण अग थी। प्रत्येक बार सोना देकर सेना को लौटाने का वर्णन, जो फरिश्ता ने दिया है, अतिशयोक्तिपूर्ण है। सम्भव है लौटती हुई सेना को मेवाड से लूट का माल मिलता रहा हो। फरिश्ता का कहना है कि महमूद को प्रत्येक वार वर्षाऋतु के आ जाने से माण्डू लौटना पडा। ऐसी स्थिति मे यह मानना कि महाराणा की पराजय होती रही और महमूद विजयी होता रहा ठीक नही है। यह उल्लेख महमूद के आक्रमणो के अभिप्राय और महाराणा की युद्ध शैली पर प्रकाश डालता है। महमूद केवल मात्र इधर-उधर लूट-खसोटकर लौट जाता था और उसे मेवाड के सैनिक केन्द्रो को लेने मे सफलता नही मिलती थी। इन अभियानो मे मेवाड की एक इच भूमि की भी हानि नही हुई। यह महाराणा के सैन्य सगठन का प्रमाण है।

---

[६५] ब्रिग्ज, फरिश्ता, जि० ४, पृ० २०८-१०

नीति की निन्दा करते है और बताते है कि भारतवर्ष मे पहले से की जाने वाली भूलो की भाँति यह भी एक बहुत बडी भूल थी जिसका कभी समर्थन नही किया जा सकता। इन विद्वानो ने शत्रु को छोड देने और उसके राज्य को लौटा देने की इसीलिए निन्दा की है कि उन्होने इसे दूसरे पक्ष से नही देखा है। प्रश्न यह उठता है कि क्या राणा मे यह क्षमता थी कि वह मालवा जैसे दूरस्थ राज्य को अपने अधिकार मे लम्बे समय तक रख सके ? क्या ऐसा करने से अन्य समस्याएँ नही उपस्थित हो जाती ? यदि मालवा मे गुजरात के शासक और मालवा की जनता महाराणा से सघर्ष करते तो उसके पैतृक राज्य की कैसे सुरक्षा होती ? इन सभी बातो को महाराणा ने बडी गहराई से सोचा था और इसीलिए महमूद को मुक्त कर कुछ समय के लिए वह मालवा की ओर से शान्ति का अनुभव करना चाहता था। थोडा भी समय जो इस नीति से महाराणा को मिल गया वह पुन उसके सैनिक बल के सगठन के लिए पर्याप्त था। वह अवश्य जानता था कि महमूद को छोड देने से 'मालवा-मेवाड' सघर्ष समाप्त नही होता, परन्तु लम्बी लडाई मे थोडे समय का युद्ध-विराम बडा महत्त्व रखता है। मेवाड जैसे छोटे राज्य के लिए अन्य पार्श्वों मे युद्ध जारी रखना और मालवा जैसी शक्ति पर अन्य बलवान पडोसी राज्यो की होड मे नियन्त्रण रखना अपनी शक्ति का अपव्यय करना था। ऐसी स्थिति मे महाराणा की यह नीति उसकी उदारता और स्वाभिमान तथा दूरदर्शिता की परिचायिका है। ऐसी समयोचित नीति को आत्मघाती नीति न कह कर आत्माभिमान की सवर्धक नीति ही कहा जायगा।[६४]

सुलतान महमूदशाह १४३७ ई० की पहली पराजय का बदला लेने के लिए लगभग ६ वर्ष के बाद अर्थात १४४३ ई० मे बडी तैयारी के साथ मेवाड पर चढ आया। इस समय उसने महाराणा के सुदृढ गढ कुम्भलगढ को घेरने का प्रयत्न किया, जिसमे उसे असफलता मिली। राजपूतो ने कुम्भलगढ के दरवाजे के नीचे बाण माता के मन्दिर मे अपने प्रथम मोर्चे की व्यवस्था कर रखी थी, जिसका नेतृत्व दीपसिंह कर रहा था। सुलतान ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग इस मोर्चे के विरुद्ध लगा दिया। फल यह हुआ कि सात दिन के सघर्ष के अनन्तर दीपसिंह और उसके साथियो के मारे जाने पर मन्दिर पर आक्रमणकारियो का कब्जा होने पाया। उसे इस मोर्चे को तोडने मे इतनी हानि उठानी पडी कि उसने मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और मूर्ति को तोडकर उसके टुकडो को कसाईयो को माँस तोलने के उपयोग मे लाने के लिए दे दिये। नन्दी की मूर्ति का चूना पकाकर राजपूतो को पान मे खिलवाया। यहाँ

---

[६४] मेरे द्वारा लिखा गया राजस्थान पर अध्याय, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ७६१, "In fact, the Rana acted wisely as it was not possible for him to keep control over Malwa for a longer time"

—G N Sharma

से माण्डू की फौजें चित्तौड लेने को चली, परन्तु इसे लेने मे सफलता नही मिली। वर्षा ऋतु के आ जाने से मेवाड जैसे पहाडी भाग मे आक्रमण करना कठिन समझ महमूद माण्डू लौट गया। लौटती हुई फौज का महाराणा ने पीछा किया जिसमे दोनो पक्षो को हानि उठानी पडी।[६५]

तीन वर्ष के पश्चात सन् १४४६ मे सुलतान ने माण्डलगढ के किले को लेने के अभिप्राय से कूच किया। बनास नदी पार करने पर राणा और माण्डू की फौजो मे मुठभेड हुई परन्तु खलजी की फौजें माण्डलगढ के किले को न ले सकी। दोनो मे सन्धि हो गयी और सोना लेकर सुलतान अजमेर की ओर आगे बढ गया। लौटते हुए उसने फिर से चित्तौड लेने का प्रयत्न किया पर इसमें उसे निराशा हुई। १४५६ ई० मे फिर महमूद ने माण्डलगढ पर आक्रमण किया जिसे राणा ने दस लाख टक देकर टाल दिया। फरिश्ता के वर्णन से यह मालूम होता है कि महमूद ने लगभग पाँच बार मेवाड पर आक्रमण किये और प्रत्येक बार महाराणा ने सोना और टक देकर उसे लौटा दिया। डा० ओझा इन सभी आक्रमणो मे महमूद की पराजय बताते हैं और लिखते हैं कि ऐसे मुस्लिम पराजय के उल्लेख मे मुसलमान लेखक बहुधा इसी प्रकार की शैली का अवलम्बन किया करते हैं। परन्तु सम्पूर्ण वर्णन का यदि बारीकी से विश्लेषण किया जाय तो ऐसा मालूम होता है कि महमूद की, मेवाड आक्रमण मे, इस अर्थ मे पराजय थी कि वह कुम्भलगढ, चित्तौड और माण्डलगढ को लेने मे प्रत्येक बार असफल रहा। यदि उसे सफलता कहा जाय तो वह आसपास के भागो से लूट का माल बटोरने मात्र मे थी। महाराणा का युद्ध व्यवस्था मे किलो की सुरक्षा ही प्रमुख सैनिक साधन था, जिसे आक्रमणकारी न तोड सके। बाकी के खुले मैदानो मे या घाटियो मे महाराणा ने भीलो की सहायता से "लुका-छिपी" की लडाई लडी थी। लौटती हुई सेना पर छापा मारना और अपनी सीमा से सेना को भगा देना यह विधि ही महाराणा की सैन्य व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण अग थी। प्रत्येक बार सोना देकर सेना को लौटाने का वर्णन, जो फरिश्ता ने दिया है, अतिशयोक्तिपूर्ण है। सम्भव है लौटती हुई सेना को मेवाड से लूट का माल मिलता रहा हो। फरिश्ता का कहना है कि महमूद को प्रत्येक बार वर्षाऋतु के आ जाने से माण्डू लौटना पडा। ऐसी स्थिति मे यह मानना कि महाराणा की पराजय होती रही और महमूद विजयी होता रहा ठीक नहीं है। यह उल्लेख महमूद के आक्रमणो के अभिप्राय और महाराणा की युद्ध शैली पर प्रकाश डालता है। महमूद केवल मात्र इधर-उधर लूट-खसोटकर लौट जाता था और उसे मेवाड के सैनिक केन्द्रो को लेने मे सफलता नही मिलती थी। इन अभियानो मे मेवाड की एक इच भूमि की भी हानि नही हुई। यह महाराणा के सैन्य सगठन का प्रमाण है।

---

[६५] ब्रिग्ज, फरिश्ता, जि० ४, पृ० २०८-१०

मेवाड-गुजरात सम्बन्ध—जब माण्डू से मेवाड की लडाई इस प्रकार चल रही थी तब गुजरात से लडाई छिडने की भी सम्भावना बनती जा रही थी। एक तो गुजरात की अव्यवस्था समाप्त हो चली थी और वहाँ का शासक अपने प्रभाव क्षेत्र को विस्तारित करने के लिए उत्साही था। मेवाड और माण्डू की सतत् युद्ध स्थिति ने उसे इस ओर अधिक आकर्षित कर दिया। साथ ही साथ सिरोही और नागौर की राजनीतिक स्थिति ने गुजरात और मेवाड का सघर्ष आवश्यक बना दिया। १४५६ ई० मे नागौर के स्वामी फीरोजखाँ के मरने पर उसका पुत्र शम्सखाँ नागौर का स्वामी हुआ, परन्तु उसे हटाकर उसके छोटे भाई मुजाहिदखाँ ने नागौर पर अधिकार कर लिया। शम्सखाँ कुम्भा की मदद से फिर से नागौर का स्वामी बन गया। शासक बनते ही उसने राणा से सम्बन्ध विच्छेदित कर दिया और शर्त के प्रतिकूल नागौर के किले की मरम्मत कराने लगा। महाराणा ने नागौर पर चढाई कर दी। शम्सखाँ गुजरात के सुलतान की सहायता से महाराणा की सेना का मुकाबला करने लगा, परन्तु उसमे उसकी हार हुई और नागौर पर मेवाड का अधिकार स्थापित हो गया।[६६] कीर्ति स्तम्भ की प्रशस्ति[६७] के अनुसार राणा ने नागौर की मसजिद को जलाया, किले को तोडा, खाई को भर दिया, वहाँ से हाथी छीन लिये, यवनियो को कैद किया, यवनो को दण्ड दिया, उनसे गौओ को छुडाया, खजाने से विपुल रत्नो का सचय किया और नागौर को चरागाह मे बदल दिया। प्रशस्तिकार ने नागौर विजय के सम्बन्धित कई बातो को बढा-चढाकर लिखा हो, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि इस विजय से राणा को धन का लाभ हुआ और नगर के सुरक्षा के साधनो को समाप्त करने का अवसर मिल गया। मसजिद जलाना, यवनो को दण्ड देना और यवनियो को कैद करने के उल्लेखो मे आशिक सत्य हो सकता है, क्योकि युद्ध के अवसर पर मुसलिम आक्रमण-कारी ऐसा ही करते थे, सम्भवत राणा ने भी प्रतिशोध की भावना से ऐसा किया हो।

जब गुजरात के सुलतान कुतुबुद्दीन को अपनी सेना की हार की सूचना मिली तो वह स्वय चित्तौड की तरफ चला, परन्तु मार्ग मे सिरोही के देवडा शासक ने उससे महाराणा से आबू दिलाने की प्रार्थना की। इस पर सुलतान ने अपने सेनापति मलिक शहबान को आबू भेजा और स्वय चित्तौड जाने के बजाय कुम्भलगढ की ओर निकल गया। परन्तु उसके सेनापति की पराजय के समाचार पाकर वह गुजरात लौट गया। फरिश्ता लिखता है कि राणा से बहुत-से रुपये और रत्न मिलने पर सुलतान गुजरात लौटा था।[६८]

---

६६ ब्रिग्ज, फरिश्ता, जि० ४, पृ० ४०-४१, मिराते सिकन्दरी, बेले हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० १४८-४६

६७ कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति, कुम्भकर्ण वर्णनम्, श्लो० १८-२३

६८ ब्रिग्ज, फरिश्ता, जि० ४, पृ० ४१

जब गुजरात का शासक कुम्भलगढ से अहमदाबाद लौट रहा था तो माण्डू के शासक महमूद खलजी का राजदूत ताजखां उसके पास पहुँचा और उससे यह कहा कि माण्डू और गुजरात की सयुक्त शक्ति मिलकर मेवाड पर हमला करे और मेवाड का दक्षिणी भाग तो गुजरात मे रहे और मेवाड का खास भाग तथा अहीरवाडा माण्डू मे सम्मिलित कर लिया जाय। दोनो की सेनाएँ अलग-अलग दिशा से मेवाड मे घुसें और राणा की शक्ति को समाप्त कर दें। इस आशय की सन्धि पर दोनो पक्षो के प्रतिनिधियो ने चम्पानेर[९९] मे अहदनामे पर हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के अनुसार कुतुवशाह चित्तौड के लिए चला और मार्ग मे आबू पर अधिकार कर आगे बढा। महमूद मालवा की तरफ से राणा के राज्य मे घुसा। फरिश्ता के अनुसार दोनो सेनाओ से राणा को हारना पडा और उन्हे विपुल धनराशि देकर विदा करना पडा। कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति[१००] मे राणा द्वारा दोनो सुलतानो की सेनाओ का मथन किया जाना लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि पहले की भाँति लूट-खसोट कर सुलतानो की सेनाएँ लौट गयी। रसिकप्रिया मे भी सुलतानो को राणा द्वारा हराया जाना लिखा है। सम्भवत चम्पानेर के अहदनामे के अनुसार बटवारे मे एक दूसरे के प्रति सन्देह की सम्भावना होने से सुलतानो की सेनाएँ. बिना किसी विशेष युद्ध के लौट गयी हो। तारीखे अलफी मे यह लिखा है कि कुतुबुद्दीन ने राणा से अपनी शर्तें तय कर ली और महमूद को अपने तौर से राणा से सन्धि करने के लिए अकेला छोड दिया। विवश होकर १४५९ ई० मे महमूद को भी माण्डू लौटना पडा।[१०१]

युद्ध-नीति की समालोचना—इस सम्पूर्ण युद्ध की परिस्थिति मे हम महाराणा कुम्भा को सुरक्षा नीति का अनुयायी पाते हैं। सारगपुर के अभियान के अतिरिक्त मालवा और गुजरात के सम्बन्ध मे राणा ने कभी बढकर अपनी सीमा का अतिक्रमण नही किया। वह जानता था कि मेवाड जैसे राज्य के लिए सुदूर गुजरात और मालवा तक अपना राज्य विस्तारित करना उचित नही होगा, अतएव उसने कभी बढकर युद्ध करने की व्यवस्था न बनायी। मेवाड की प्राकृतिक स्थिति से लाभ उठाकर सैनिक केन्द्रो मे मोर्चे बन्दी करना, शत्रु को भीतरी भाग मे घुसने का अवसर देना और लौटती हुई फौज का पीछा कर खदेडना यही उस समय के लिए उपयुक्त नीति थी। इस अर्थ मे कुम्भा ने लम्बे समय तक इन शक्तिसम्पन्न राज्यो से टक्कर ली। जिस युद्ध का प्रारम्भ कुम्भा ने किया उसे लम्बा बनाये रखा और अपने समय मे भी निर्णायक युद्ध नही होने दिया। महाराणा सागा के लिए वह इस प्रणाली को विरासत रूप मे छोड गया जिससे सागा को दोनो सुलतानो को परास्त करने का

---

९९ ब्रिग्ज, फरिश्ता, जि० ४, पृ० ४१
१०० कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति, श्लो० १७१
१०१ सारदा, महाराणा कुम्भा, पृ० १०३, वेले, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० १५१

अवसर मिला। रहा प्रश्न आबू विजय का। यह एक आवश्यक विजय थी, क्योकि आबू ने लम्बे समय तक सैनिक सुरक्षा केन्द्र का काम मेवाड के लिए किया। मारवाड की विजय ने भी कम से कम राठौडो की शक्ति को मेवाड के विरुद्ध कुठित कर दी जो कुम्भा की नीति का एक प्रमुख पृष्ठ था। हाडौती विजय और माण्डलगढ पर अधिकार स्थापित करने की नीति मे भी सैनिक उपयोगिता प्रमुख थी। जहाँ तक विजित राज्यो का प्रश्न था कुम्भा ने उनसे कर वसूल करने की नीति अपनायी। वैसे तो उन्हे अपने राज्य मे स्वतन्त्र रखा जाता था परन्तु उन्हे उसको कर अवश्य देना होता था। सपादलक्ष, डीडवाना, हाडौती आदि स्थानो के सम्बन्ध मे राणा के द्वारा कर लेने के उल्लेख सगीतराज और एकलिगमहात्म्य मे हैं, जो उसकी नीति पर प्रकाश डालते हैं।

महाराणा और स्थापत्य—इतिहास मे महाराणा कुम्भा का जो स्थान एक विजेता के रूप मे है उससे भी महत्त्वपूर्ण स्थान उसका स्थापत्य और विद्योन्नति के सम्बन्ध मे है। उसने मेवाड मे प्राचीनकाल से स्थापत्य के विकास की परम्परा को पाया जिसमे मुख्य रूप से मन्दिर, किले, वापी, जलाशय आदि थे। बाडोली का शिव मन्दिर, कल्याणपुर के तक्षणकला के नमूने, सारणेश्वर का मन्दिर, नागदा के सास-बहू के मन्दिर, चित्तौड का सूर्य मन्दिर तथा अद्भुतजी का मन्दिर, चित्तौड और आबू के दुर्ग आदि अनेक स्थापत्य के अद्भुत और प्रशस्त प्रतीक थे जिन्होने कुम्भा को परवर्ती गुप्तकालीन कला से प्रभावित किया। इस दिशा मे अपना परिज्ञान और रुचि अत्यधिक होने से उसने न केवल उस परम्परा को निभाया वरन् उसे विशेष रूप से पल्लवित और विकसित किया। सामरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए नगर तथा दुर्ग निर्माण योजना मे उसने एक नवजीवन का सचार किया। मन्दिरो के निर्माण मे भी सुरक्षा और धार्मिक भावना का सामजस्य उपस्थित कर एक नूतन चेतना को जन्म दिया।[१०२]

जहाँ तक सामरिक स्थापत्य का प्रश्न था दुर्ग निर्माण का स्थान सर्वप्रथम है। मेवाड के सुरक्षा प्रबन्ध के लिए बताया जाता है कि उसने ३२ किलो को बनवाया। अपने राज्य के पश्चिमी सीमा और सिरोही के बीच मे कई तग रास्तो को सुरक्षित रखने के लिए नाकाबन्दी की और सिरोही के निकट बसन्ती का दुर्ग बनवाया। मेरो के प्रभाव को बढने से रोकने के लिए मचान के दुर्ग का निर्माण कराया गया। इसी सिलसिले मे कोलन और बदनौर के निकट बैराट के दुर्गों की स्थापना की गयी। भोमट के क्षेत्र मे भी अनेक दुर्ग बनाये गये जिससे भीलो की शक्ति पर राज्य का प्रभाव बना रहे। ये सभी दुर्ग निर्माण व्यवस्था राज्य की पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी सीमा की सुरक्षा के सम्बन्ध मे थी।[१०३]

---

[१०२] डी० आर० भण्डारकर, आर्कियोलोजिकल सर्वे, १९०५, पृ० ६१-६२

[१०३] टॉड, राजस्थान, भा० १, पृ० १८६

केन्द्रीय शक्ति को पश्चिमी क्षेत्र मे अधिक सशक्त बनाये रखने के लिए और सीमान्त भागो को सैनिक सहायता पहुँचाने के लिए आबू मे १५०६ वि० स० मे अचलगढ[104] का दुर्ग बनाया गया। ये दुर्ग परमारो के प्राचीन दुर्ग के अवशेषो पर इस तरह से पुनर्निमित किया गया था कि उस समय की सामरिक अवस्था के लिए उपयोगी प्रमाणित हो सके। इसमे स्वय अपने निवास के लिए तथा सेना के रहने के निवासस्थान बनाये और सैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए गोदाम और कृत्रिम पानी की टंकियाँ बनवायी। बुर्जों और द्वारो के निर्माण द्वारा उसे इस प्रकार सुरक्षित किया गया कि सीधी चढाई मे शत्रु उस पर सहसा आक्रमण न कर सके। यहाँ के ओखामण्डल, श्रावण-भादो, हनुमानपोल, चम्पापोल आदि स्थापत्य के प्रतीक आज भी उस वीर योद्धा की दुहाई दे रहे हैं जिसने दुर्ग निर्माण मे सामरिक और राजकीय आवश्यकता को प्राधान्यता दी थी।

इसी तरह अरावली की पश्चिमी शाखा के एक छोर मे महाराणा ने कुम्भलगढ[105] का दुर्ग बनवाया जो सैनिक उपयोगिता और निवास की आवश्यकता की पूर्ति करता था। यह दुर्ग उसके सामरिक योग्यता का ज्वलन्त उदाहरण है। इस किले को प्राचीन किले के ध्वसावशेषो पर १४४३ ई० से बनवाना आरम्भ किया था जिसकी समाप्ति १४५६ मे होने पायी थी। इसका प्रमुख शिल्पी मण्डन था। किले को कई पहाडियो और घाटियो को मिलाकर ऐसा बनाया गया था कि जिससे इसकी सुरक्षा स्वाभाविक रूप से हो जाती थी। बीच-बीच वाले ऊँचे स्थान, मन्दिर, मकान और राजप्रासाद के लिए रखे गये थे, समतल भूमि का उपयोग खेती के लिए और ढलान के भागो को जलाशयो के लिए निर्धारित किया गया। किले का सबसे ऊँचा भाग जो कटारगढ कहा जाता है अन्तस्थित दुर्ग के लिए काम मे लाया गया। इस सम्पूर्ण क्षेत्र को सुदृढ दीवारो और द्वारो से घेर लिया गया था जिससे दुर्ग मे प्रवेश आसानी से नही हो सकता था। बडे लम्बे समय तक घेरा चलने पर भी किला पानी और रसद की दृष्टि से स्वावलम्बी था। किले के प्राचीर ढलान वाले इस युक्ति से बनाये गये थे कि उन पर सीढी लगाकर बाहर से चढना कठिन था। ये प्राचीर भीतर से इतने चौडे थे कि इन पर कई सैनिक और घोडे एक साथ चल सकते थे और मोर्चों पर रहकर आसानी से शत्रु का मुकाबला कर सकते थे। बीच-बीच मे बुर्जो को बना देने से सैनिक सगठन और सुरक्षा का प्रबन्ध अच्छा हो सकता था। इसमे बनाये गये अनेक मन्दिर शान्ति या युद्ध की स्थिति मे धार्मिक प्रेरणा द्वारा

---

[104] कीर्तिस्तम्भ लेख, श्लो० १२-१३, टॉड, ट्रेवल्स इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ० ६४, कनिंघम, आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भा० २३

[105] कुम्भलगढ प्रशस्ति, श्लो० १८४-२४०, प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृ० १६०-२०६, सारदा, महाराणा कुम्भा, पृ० १२५-३७

सैनिक और नागरिको का वल वढाने मे वडे उपयोगी थे। कटारगढ मे वनाये गये कुम्भा के महल उसके सादगी के जीवन के अच्छे नमूने हैं। उसने देश की सुरक्षा के लिए सुदृढ दुर्ग को वनाने मे अतुल धनराशि को लगाया, परन्तु अपने निवासस्थान को साधारण ढग का ही वनाया। इस भाग मे भी पानी और अन्न इकट्ठा करने के कृत्रिम साधनो को काम मे लाया गया। गढ के ढलानो मे वाँधो को वनाकर जलाशय वनाये गये और इन जलाशयो का सम्वन्ध नालियो द्वारा जोडा गया। इसी गढ मे मामादेव का मन्दिर और पृथ्वीराज का स्मारक अपने ढगो के ऐतिहासिक नमूने हैं। यहाँ वेदी का स्थान, जो अव वडे परिवर्तन अनुभव कर चुका है, अपने ढग का उत्तम स्थापत्य का नमूना है, जिसको टॉड ने भूल से यूनानी शैली के अन्तर्गत माना है। वास्तव मे, यह शास्त्रोक्त प्रणाली से वना हुआ यज्ञस्थान है। पहाडी भाग की समान भूमि पर अनेक शैव और जैन मन्दिर हैं। केलवाडे के कस्वे से पश्चिम मे जाने वाले मार्ग से ऊँचाई पर आरेठपोल आती है जो पहाडो की नाकेवन्दी पर वनी हुई है। यहाँ से अनुमानत एक मील पर दूसरा द्वारा आता है जो हल्लापोल कहलाता है। गढ का प्रमुख प्रवेश द्वार हनुमानपोल है जहाँ महाराणा द्वारा स्थापित हनुमान की मूर्ति है। इसके आगे विजयपोल नामक द्वार आता है, जहाँ से पहाडी चोटी और राजप्रासाद का प्रवेश आरम्भ होता है। यह गढ राजपरिवार के लिए तथा आसपास की वस्ती के लिए सुरक्षा की व्यवस्था, महाराणा कुम्भा के वाद भी, सदियो तक करता रहा। सैनिक सुरक्षा के विचार से इस दुर्ग की उपयोगिता अत्यधिक थी और इस दृष्टि से यह अपने ढग का हमारे देश का एक ही दुर्ग है।[१०६]

कुम्भलगढ के अतिरिक्त चित्तौड[१०७] दुर्ग को महाराणा ने कुछ भिन्न ढग का वनवाया। वैसे तो ये गढ पहले ही चारो ओर से खुले मैदान वाले पहाडी पर वना हुआ था, परन्तु उसने इसे सात द्वारो से एक ओर से सुरक्षित कर कई बुर्जो से घेर कर वनवाया। सम्भवत कई स्थानो के प्राचीन प्राचीरो को नयी प्राचीरो से जोडा गया और ऊपर जाने वाले तग रास्ते को रथ मार्ग के लिए चौडा वनवाया। उसने वही सुप्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ वनवाया, जिसकी समाप्ति वि० स० १५०५ मे हुई। इसमे वने हुए प्राचीन महलो पर उसने अपने ढग के महल वनवाये जिसमे दोनो ओर कमरो से जोडने वाले खुले वरामदे थे, जो आज भी खण्डित हालत मे देखे जा सकते हैं। इन महलो के साथ रानियो और राजकुमारो के रहने के आवास भी वनाये गये और राजप्रासाद के अहाते मे शस्त्रागार, कोष्ठागार आदि भी निर्माण कराये

---

१०६ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ७१-७२

१०७ कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति, श्लो० ३४-४२, १२५-१८४ आदि, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३०८-१०, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ६९-७०

गये। किले मे सैनिक तथा जनसाधारण की वस्ती के उपयोग के लिए अनेक वावडियाँ, कुण्ड, तालाव भी वनवाये गये।

कुम्भाकालीन स्थापत्य मे मन्दिरो के स्थापत्य का भी वडा महत्त्व है। वैसे तो ये मन्दिर अपनी निर्माण शैली मे पहले की परम्परा से कोई भिन्न नही हैं, परन्तु विशालता और तक्षण कला की सूक्ष्मता के विचार से ये विलक्षण अवश्य हैं। ऐसे मन्दिरो मे कुम्भस्वामी तथा शृगारचौरी का मन्दिर (चित्तौड), मीरा मन्दिर (एकलिगजी), राणकपुर का मन्दिर अपने ढग के अनूठे हैं। इस काल की देव मूर्तियाँ आभूपणो तथा केश मे सर्वथा नवीन प्रसाधन से युक्त हैं। इसके अतिरिक्त इन मन्दिरो मे १५वी शताव्दी के जीवन की घटनाएँ और पौराणिक कथाएँ अद्भुत सफाई और शक्ति से उत्कीर्ण हैं। साधारणत कुम्भाकालीन कलाकारो की ये अनुपम कृतियाँ अपनी सजीवता, गति तथा कला की उत्तमत्ता के विशिष्ट उदाहरण हैं।

महाराणा का विद्यानुराग—महाराणा कुम्भा न केवल वीर, युद्धकुशल तथा कला प्रेमी था वरन् एक विद्वान तथा विद्यानुरागी भी था। उसके दरवार मे कई विद्वान आश्रय पाते थे और उसके द्वारा अनेक विद्वानो को सम्मानित भी किया जाता था। एकलिंगमहात्म्य से विदित होता है कि वह वेद, स्मृति, मीमासा, उपनिषद, व्याकरण, राजनीति और साहित्य मे वडा निपुण था। सगीतराज, सगीतमीमासा एव सूडप्रवन्ध इसके द्वारा रचित सगीत के ग्रन्थ थे। ऐसी मान्यता है कि कुम्भा ने चण्डीशतक की व्याख्या, गीतगोविन्द की रसिकप्रिया टीका और सगीतरत्नाकर की टीका लिखी थी। इसको महाराष्ट्री, कर्णाटी और मेवाडी भाषा लिखने का अच्छा अभ्यास था जो उसके द्वारा रचित चार नाटको से प्रमाणित है।[१०८]

कुम्भा, जैसा कि हमने देखा, केवल विद्वान ही न था परन्तु विद्वानो को आश्रय भी देता था। मण्डन नामी प्रसिद्ध शिल्पी उसका आश्रित था जिसने देवमूर्ति प्रकरण, प्रासाद मण्डन, राजवल्लभ, रूपमण्डन, वास्तु मण्डन, वास्तु-शास्त्र आदि पुस्तको की रचना की थी। मण्डन के भाई नाथा ने वास्तुमजरी और मण्डन के पुत्र गोविन्द ने उद्धारधोरणी, कलानिधि तथा द्वारदीपिका नामक ग्रन्थो की रचना की थी। कवि अत्रि और महेश कवि कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्ति के रचयिता थे। इनके अतिरिक्त कन्हव्यास एकलिंगमहात्म्य का प्रसिद्ध लेखक था। उस समय की जैन साहित्य की अभिसृष्टि से विदित होता है कि उस समय मे शिक्षा की उन्नति काफी अच्छी थी। सोमसुन्दर, मुनिसुन्दर, जयचन्द्रसूरि, सोमदेव, भुवनसुन्दरसूरि, सुन्दरसूरि, माणिक्य सुन्दरगणि आदि कुम्भाकालीन जैन विद्वान थे, जिन्होने धर्म और काव्यग्रन्थो की रचना द्वारा उस युग की शिक्षा के स्तर को उन्नत किया था।[१०९]

---

[१०८] जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २५३

[१०९] विशेप वर्णन के लिए द्रष्टव्य, सोमानी, महाराणा कुम्भा, पृ० २११-२५९

कुम्भाकालीन सास्कृतिक विकास के अध्ययन से सहज मे ही यह प्रश्न उठता है कि नितान्त इसी काल मे इस प्रकार की प्रगति कैसे सम्भव हो सकी ? ऐसा प्रतीत होता है कि इस बौद्धिक और कलात्मक अभिसृष्टि के प्रमुख कारणो मे मेवाड की प्राचीन परम्पराओ का गुजरात, मालवा और महाराष्ट्र की सभ्यताओ से सम्पर्क का होना था। इसमे सन्देह नही कि उस समय अनेक विद्वान महाराष्ट्र, गुजरात और मालवा से यहाँ आते रहे और यहाँ के विद्वान उन भागो मे जाते रहे, जिनमे मण्डन तथा अनेक जैनाचार्य और सोमपुरे शिल्पी विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त मेवाड-सीमा के गुजरात तथा मालवा तक पहुँचने से मेवाड का पश्चिमी तथा दक्षिणी प्रान्तो के साथ व्यापार तथा आदान-प्रदान प्रभूत मात्रा मे बढा जिससे एक-दूसरे के विचार, मेधा तथा समृद्धि पर स्वस्थ प्रतिक्रिया होती रही। साथ ही साथ इस सर्वतोन्मुखी उन्नति के लिए कुम्भा की उदार सास्कृतिक रुचि, कला सरक्षा की भावना तथा विद्यानुराग बहुत बडे कारण थे जिनके फलस्वरूप ओजस्वी सास्कृतिक परिणाम सम्भूत हो सके।

महाराणा की मृत्यु और व्यक्तित्व—ऐसे वीर, साहसी तथा विद्यानुरागी महाराणा कुम्भा के अन्तिम दिन अच्छे नही बीते। उसको पिछले दिनो मे उन्माद का रोग हो गया। वह अपना अधिक समय मामादेव के निकटवर्ती जलाशय पर विताया करता था। अवसर पाकर ऐसी अवस्था मे उसके पुत्र उदा ने १४६८ ई० मे उसकी हत्या कर दी। जहाँ तक विस्तार नीति का प्रश्न है वह महाराणा सागा की ख्याति का अग्रणी था। विद्योन्नति और कला की अभिवृद्धि मे विशेष अनुराग रखने के कारण उसने साहित्य, कला, नाट्यशास्त्र, भाषा, दर्शन आदि मे नवचेतना का सचार किया। इन विविध विद्याओ मे जो उन्नति राणा कुम्भा के काल मे की थी वह कई शताब्दियो मे न की जा सकी जो उसकी योग्यता का अनुपम उदाहरण है। गुजरात और मालवा के सुलतानो के साथ एक लम्बे समय तक युद्ध की स्थिति को बनाये रखने से उसने न केवल अपने समय के शौर्य और वीरोचित भावनाओ को प्रस्फुटित रखा, वरन् आगे आने वाली पीढियो को प्रेरणा देने मे सफलता दिखायी। उसके समय के स्थापत्य के प्रतीक उसकी उदारता और कला-प्रेम के साक्षी है और इस अनुमान के साधन हैं कि हमारा भारत उस समय अतुल सम्पत्ति, वैभव और कला की निधि था।[११०]

कुम्भा के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे कर्नल टॉड के ठीक ही कहा है कि उसमे महाराणा हम्मीर की शक्ति, लाखा का कला-प्रेम और वह प्रतिभा थी जिसने घघर के

---

११० द्रष्टव्य मेरी पुस्तक, ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ० २३३

तट पर फिर से मेवाड के झण्डे को स्थापित कर स्थायी प्रतिष्ठा अर्जित की थी।[१११] हरविलास सारदा [११२]ने भी महाराणा की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा करते हुए लिखा है कि कुम्भा एक महान शासक, महान सेनाध्यक्ष, महान निर्माता और वरिष्ठ विद्वान थे। उनके विचार से महाराणा राजस्थानी ही नही भारतीय शासको मे अग्रणी थे। डॉ० ओझा[११३] ने महाराणा के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "महाराणा कुम्भा जैसा वीर और युद्धकुशल था, वैसा ही पूर्ण विद्यानुरागी, स्वय वडा विद्वान और विद्वानो का सम्मान करने वाला था। वह मेवाड की सीसोदिया शाखा के राजाओ मे बडा प्रतापी हुआ। महाराणा सागा के साम्राज्य की नीव डालने वाला भी वही था। वह प्रजापालक और सव मतो को सम दृष्टि से देखता था। वह शरीर का हृष्ट-पुष्ट और राजनीति तथा युद्ध-विद्या मे बडा कुशल था। अपनी वीरता से उसने दिल्ली और गुजरात के सुलतानो का कितना एक प्रदेश अपने अधीन किया। उसने कई वार माण्डू और गुजरात के सुलतानो को हराया, नागौर को विजय किया, गुजरात और मालवे के सम्मिलित सैन्य को पराजित किया, और राजपूताने का अधिकाश एव माण्डू, गुजरात और दिल्ली के राज्यो के कुछ अश छीनकर मेवाड को महाराज्य वना दिया।"

हमारे विचार से कुम्भा केवल युद्ध-कला मे ही महान नही वरन् शान्ति की उपलब्धियो मे भी सर्वोपरि था। वह एक वरिष्ठ विद्वान था जिसने वेद, स्मृति, मीमासा, उपनिषद आदि विषयो मे निपुणता प्राप्त कर ली थी। स्वय एक अच्छा कवि होते हुए वह विद्वानो का आश्रयदाता भी था। उसने वास्तुकला मे रुचि प्रदर्शित कर एक अच्छे निर्माता के गुण अर्जित कर लिये थे। इस विशेप गुण के प्रतीक उसके द्वारा निर्मित दुर्ग है जो आज भी उसकी सैनिक योग्यता की दुहाई दे रहे हैं। वास्तव मे कुम्भा अपने पीछे अपना ऐसा नाम छोड गया कि आज भी इतिहास उसका सम्मान करता है और उसे हिन्दू नरेशो मे महान शासक के रूप मे मानता है।[११४]

---

[१११] "(Kumbha) who with Hamir's energy, Lakha's taste for the arts, and a genius comprehensive as either and more *fortunate*, succeeded in all his undertakings, and once more raised the '*crimson* banner' of Mewar upon the banks of Gaggar, the scene of Samarsi's defeat"
—Tod, *Annals*, pp 230-31

[११२] "Maharana Kumbha, was a great sovereign, a great military commander, a great builder and a great scholar Amongst the Rajput sovereign of Rajputana, Kumbha accupies a most prominent position His natural abilities and his achievements place him in the forefront among the great rulers not only of Mewar, but of the whole of India"
—Sarda, *Maharana Kumbha*, pp 192-93

[११३] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३१३, ३२३-२४

[११४] 'Kumbha was not only great in war, he was also great in the arts of peace He was an accomplished scholar, leamed in sacred
(*Contd*)

(स) वागड के गुहिलो का राज्य-विस्तार और सघर्ष (१२वी शताब्दी से १५वी शताब्दी तक)

डूंगरपुर और बाँसवाडा के समूचे भाग को 'वागड' कहते है। सस्कृत मे इस के लिए 'वाग्वर' और प्राकृत मे 'वग्गड' शब्दो का प्रयोग देखा गया है। प्राचीनकाल मे यहाँ भीलो की अधिक बस्ती थी, और पीछे से यहाँ चौहान, परमार और छप्पन के भागो मे राठौड आकर बस गये। बारहवी शताब्दी के प्रथम अर्द्ध काल मे मेवाड का सामन्तसिंह वागड देश मे आया और उसने अपना छोटा राज्य स्थापित किया। इस राज्य की राजधानी वडौदा थी। वह अधिक समय शासन नही करने पाया, क्योंकि भीमदेव द्वितीय ने उससे वागड छीनकर गुहिलवशीय विजयपाल या उसके पुत्र अमृतपाल को दे दिया। दन्तकथाओ के आधार पर यह माना जाता है कि वागड से निष्कासित सामन्तसिंह पृथ्वीराज के सहयोगी के रूप मे रहकर तराइन के युद्ध मे वीरगति को प्राप्त हुआ।[११५]

जयतसिंह से देवपाल

जब गुजरात का प्रभाव वागड मे शिथिल होने लगा तो जयतसिंह ने, जो सामन्तसिंह का उत्तराधिकारी था, वागड पर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया।[११६] जयतसिंह के पुत्र सीहडदेव ने अपना राज्य विस्तारित किया। उसके समय के कुछ शिलालेखो से प्रमाणित होता है कि राणा विल्हण उसका महासाधिविग्रहिक था और महाप्रधान वीहड था। उसका शक्ति का उपासक होना प्रतीत होता है, क्योंकि उसके समय मे जगत् की देवी के मन्दिर का पुनरुद्धार हुआ था और उक्त मन्दिर अपनी तक्षण कला की उत्कृष्टता का अनुपम उदाहरण है।[११७] विजयसिंह देव, जो अपने पिता के राज्य का स्वामी १२३४ और १२५० ई० के लगभग हुआ था, शक्ति का पुजारी था। उसने जगत् के मन्दिर के लिए सुवर्ण दण्ड भेंट कर अपने को कृतकृत्य समझा। उस समय के उत्कीर्ण लेखो से प्रमाणित होता है कि छप्पन उसके

---

lore, a poet of the highest order and a patron of learning He took great interest in architecture and was an enthusiastic builder His architectural capacity was also manifested in the construction of a line of gigantic forts, which are the highest achievements of his military and constructive genious he left behind a name which is honoured in history and is remembered to this day as one of the greatest rulers of Hindu India"
—G N Sharma, Rajasthan, vide *A Comprehensive History of India*, Vol V, pp 793-94

[११५] वीरेश्वर मन्दिर का शिलालेख, वि० स० १२३६, वीरपुर शिलालेख, वि० स० १२४२, ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४४-५३

[११६] सोमेश्वर, कीर्ति कौमुदी, सर्ग २, श्लो० ६१

[११७] जगत् शिलालेख, वि० स० १२७७, १३०६

राज्य का भाग था।[११८] उसके पुत्र देवपाल ने अपने राज्य की सीमा को अर्थूणा और गलियाकोट के परमारो को परास्त कर परिवर्द्धित किया।[११९]

रावल वीरसिंह और उसके उत्तराधिकारी

देवपाल का उत्तराधिकारी वीरसिंह (१२८६-१३०३) था जिसने डूंगरिया भील को परास्त कर अपना अधिकार क्षेत्र बढाया। वीरसिंह के बाद अर्थात १३०३ से १३८८ ई० के बीच मे भजुण्ड, डूंगरसिंह और कर्मसिंह वागड के शासक हुए जिन्होने डूगरपुर कस्बे के सम्बन्ध मे द्वार, तालाब, बस्तियाँ बसाने आदि का काम किया। डूंगरसिंह के समय मे बडौदा से डूंगरपुर राजधानी लायी गयी। ये सभी शासक आहड से सम्बन्ध होने के कारण अहेडिया कहलाते थे। इनके समय के शिलालेखो मे सधिविग्रहिक, महामन्त्री, पण्डित आदि पदो के उल्लेख से स्पप्ट है कि १४वी शताब्दी तक वागड राज्य एक व्यवस्थित राज्य हो चुका था। यहाँ के शासको ने नगर, कस्बे और वस्तियो को वसाकर अपनी व्यवस्थित स्थिति का परिचय दिया था।[१२०]

कर्मसिह के बाद कान्हडदेव (१३८८-९८ ई०) वागड राज्य का शासक वना। उसके सम्बन्ध मे जो उल्लेखनीय बात मिलती है वह यह है कि उसने राजधानी डूंगरपुर को वढाया और कान्हडपोल नामक द्वार को वनाकर उसे सुरक्षित किया।[१२१]

कान्हडदेव के पश्चात उसका पुत्र प्रतापसिंह, जो पाता रावल के नाम से प्रसिद्ध है, राज्य का स्वामी वना। उसने पातेला तालाव और पातेला द्वार बनवाकर तथा प्रतापपुर वसाकर अपने निर्माण कार्य मे रुचि प्रदर्शित की। अनुमानत उसकी मृत्यु १४२३ या १४२४ ई० के लगभग हुई।[१२२]

गोपीनाथ (१४२४-१४४७-४८ ई०)

महारावल प्रतापसिंह के अनन्तर उसका पुत्र गोपीनाथ, जिसको शिलालेखक गईप, गजपाल, गोप, गोपाल एव गोपीनाथ तथा ख्यात लेखक गेप लिखते है, वागड का स्वामी वना। इसके समय मे मार्च १४३३ मे सुलतान अहमदशाह गुजराती ने डूंगरपुर पर आक्रमण किया। तवकाते अकवरी का लेखक लिखता है कि जव सुल्तान डूगरपुर पहुँचा तो राव गणेश (गजपाल) भाग गया, परन्तु पछताकर सुल्तान के पास आकर उसका सामन्त वन गया। इस कथन के विरुद्ध आतरी के लेख मे उल्लेखित है कि

---

[११८] झाडोल का शिलालेख, वि० स० १३०८

[११९] ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० ५७-५८

[१२०] माल गाँव का लेख, वि० स० १३४३, वडौदा तालाव का लेख, वि० स० १३४६, डेसा गाँव का लेख, वि० स० १४५३, भूताला लेख, वि० स० १३४६, ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० ५८-६३, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८०३-८०४

[१२१] कान्हडदेव लेख, वि० स० १४५५

[१२२] ओझा. डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० ६४

वागड प्रदेश के स्वामी गोपीनाथ ने गुजरात के मदमत्त स्वामी की अपार सेना को नष्ट कर उसकी सम्पत्ति छीन ली। दोनो के वर्णन एक-दूसरे से भिन्न है। ऐसी स्थिति मे इस सम्बन्ध मे मत देना कठिन है। फिर भी इनसे ये ध्वनि अवश्य निकलती है कि सम्भवत महारावल ने कर देकर सुल्तान की कृपा प्राप्त कर ली हो। इस विचार का अनुमोदन कुम्भलगढ प्रशस्ति से होता है जिसमे वर्णित है कि महाराणा कुम्भा ने रावल को सुल्तान के प्रभाव से हटाने के लिए डूंगरपुर पर आक्रमण किया था।[123]

अपने आन्तरिक नीति मे गोपीनाथ ने ऐसे भीलो को दबाया जो कई वर्षो से स्वतन्त्र थे। वह कला-कौशल का भी आश्रयदाता था जो देव-सोमनाथ के मन्दिर के जीर्णोद्धार और डूंगरपुर मे गेपसागर के निर्माण और गेपपोल के बनाने से स्पष्ट है। उसकी मृत्यु १४४७ या १४४८ ई० के लगभग हुई।[124]

सोमदास (१४४७, ४८-८० ई०)

महारावल गोपीनाथ का उतराधिकारी सोमदास था। उसने चूंडावाडा के वारिया आदि भीलो को दण्ड देकर कटारा प्रदेश के पहाडी भाग को अपने अधिकार मे कर लिया। परन्तु जब मालवा के महमूद खलजी ने उस पर आक्रमण किया तो वह उसके सामने न टिक सका। अन्त मे दो लाख टक और २१ घोडे देकर उसने उससे अपना पिण्ड छुडाया। इसी प्रकार १४७४ ई० मे मालवा के गयासुद्दीन का आक्रमण भी उसके लिए विनाशकारी रहा, और अन्त मे १४८० ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।[125]

वह भी अपने पिता की भाँति कला-प्रेमी था। उसके समय मे कई जैन और वैष्णव मन्दिरो का निर्माण हुआ तथा पीतल की मूर्तियाँ बनाने की कला को प्रश्रय दिया गया। उसने कई ब्राह्मणो को जो विद्या-विलासी थे भूमिदान या दक्षिणा देकर सम्मानित किया।[126]

रावल गगदास (१४८०-९७ ई०)

महारावल गगदास, जिसको गाँगेव और गाँगा भी कहते थे, १४८० ई० मे डूंगरपुर का स्वामी हुआ। उसने अपने १७ वर्ष के राज्यकाल का उपयोग अपने पडोसी राज्यो से सीमा को सुरक्षित रखने मे किया। उसे भीलो के उपद्रवो को शमन करने मे भी सफलता मिली थी। डूंगरपुर के वनेश्वर के शिलालेख से प्रमाणित है

---

[123] बेले हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० १२०, कुम्भलगढ प्रशस्ति, वि० स० १५१७

[124] आतरी शिलालेख, वि० स० १५२३, ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० ६६-६७, जी० एन० शर्मा, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८०४-०५, अध्याय, राजस्थान

[125] आतरी लेख, वि० स० १५२५, ब्रिग्ज, फरिश्ता, जि० ४, पृ० २२५

[126] सोमनाथ मन्दिर का लेख, वि० स० १५२२, अचलगढ की पीतल की मूर्ति का लेख, वि० स० १५२९, चीतरी गाँव का लेख, वि० स० १५३६

कि जव उसका युद्ध ईडर के स्वामी भाण के साथ हुआ, जिसकी सैन्य सख्या १८,००० थी, उसमे उसे सफलता मिली। रावल ने भाण के सिर पर प्रहार किया और उसकी विशाल सेना को तितर-वितर कर दिया। उसने भी ब्राह्मणो को भूमि-दान देकर और पुराने मन्दिरो के जीर्णोद्धार करवाकर अपनी उदारता तथा धर्म सहिष्णु नीति का परिचय दिया था।[127]

(द) प्रतापगढ के गुहिलोत और उनका राज्य-विस्तार

प्राक्कथन—प्रतापगढ पहले मालवा के अन्तर्गत था इसलिए इसका चौदह्वी शताब्दी के पूव का स्वतन्त्र राज्य के रूप मे कोई इतिहास नही है। फिर भी इस भाग का एक प्रकार का प्राचीन इतिहास है। यहाँ के शिलालेखो, दान-पत्रो, सिक्को तथा भग्नावशेषो में अतीत का एक रोचक इतिहास छिपा पडा है। इस प्रकार की सामग्री के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि यहाँ मौर्य, मालवा, क्षत्रप, गुप्त, हूण आदि शासको का राज्य रहा हो। प्रतापगढ के घोंटार्सी नाम के गाँव के ९४६ ई० के लेख से यहाँ प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल का शासन था। प्रतिहारो के ह्रास के वाद यहाँ मालवा के प्रतिहारो का राज्य रहा। गुलाम शासक अल्तमश ने १२२६ ई० मे मालवा पर आक्रमण किया था। तदनन्तर नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह के समय उज्जैन, भेलसा आदि नगर मुस्लिम विजय के क्षेत्र बने, परन्तु स्थिर रूप से उनका मालवे पर अधिकार नही होने पाया। जलालुद्दीन फीरोज खलजी ने १२९१ ई० मे मालवा के कुछ प्रदेशो पर आक्रमण किया और १३०४ ई० मे अलाउद्दीन खलजी ने मालवा के पूर्वी भाग पर अपना अधिकार स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने १३४३ ई० मे मालवा का इलाका अजीज हिमार को सौंपा। दिलवरखाँ, जो महमूदशाह तुगलक के द्वारा मालवा का अधिकारी नियुक्त था, १४०१ ई० के लगभग मालवा का स्वतन्त्र स्वामी वन वैठा। उसके पीछे होशग और मुहम्मद गोरी मालवा के सुल्तान हुए। खलजी वश का महमूदशाह, जो मालवा का प्रभावशाली सुल्तान था, महाराणा कुम्भा का समकालीन था, जिसने मेवाड पर कई वार आक्रमण किये और जिसके सम्वन्ध मे हमने कुम्भा के सन्दभ में विस्तृत रूप से पढा है।

क्षेमसिंह

वैसे तो प्रतापगढ का एक प्राचीन और पूर्व मध्यकालीन काल का मालव प्रदेश और मालवा सूवा के रूप मे स्वतन्त्र इतिहास रहा है, परन्तु प्रतापगढ राज्य की नींव एक विलक्षण स्थिति मे पडी थी। प्रतापगढ के स्वामी गुहिलवशीय क्षत्रिय थे,

---

[127] तनवाडा शिलालेख, वि० स० १५३८, पारडा लेख, वि० म० १५४२, देव सोमनाथ लेख, वि० स० १५४८, कणवा गाँव का लेख, वि० स० १५५३, ओझा, डूगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० ७२-७३, जी० एन० शर्मा ए कोम्प्रि-हेन्मिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८०५, अध्याय, राजस्थान

जिनकी वश-परम्परा क्षेमसिंह से चलती है। क्षेमसिंह महाराणा मोकल का द्वितीय पुत्र था। वह वडा महत्त्वाकाक्षी था। वह चाहता था कि मोकल के वाद उसे राजगद्दी मिले, परन्तु ऐसा होना सम्भव नही था क्योकि मोकल का ज्येष्ठ पुत्र कुम्भा था। कुम्भा जैसे होनहार राजकुमार के होते हुए क्षेमसिंह मोकल का उत्तराधिकारी हो यह सम्भव नही था। इसलिए जव महाराणा मोकल की मृत्यु हो गयी तो उसे महाराणा कुम्भा द्वारा छोटी जागीर प्राप्त हुई। वह इससे असन्तुष्ट था। उसने अवसर पाकर सादडी को अपने अधिकार मे कर लिया। जव महाराणा अपने अन्य शत्रुओ को दवा कर निपटे तो उन्होने क्षेमसिंह से सादडी छीन ली। वह रुष्ट होकर महमूद खलजी (मालवा) के पास पहुँच गया और उसे उकसाकर कई वार मेवाड पर चढा लाया। महाराणा ने अपने अदम्य साहस से उसका मुकावला किया और उसकी दाल न गलने दी। परन्तु जव कुम्भा की मृत्यु हो गयी तो क्षेमसिंह ने उदा के राज्यत्व काल मे फिर से सादडी पर कब्जा कर लिया। १४७३ ई० की दाडियपुर की लडाई मे उसके मारे जाने से उसका प्रभाव सादडी से हट गया और महाराणा रायमल ने उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस परिस्थिति मे प्रतापगढ राज्य के निर्माण की धुँधली रूपरेखा वन गयी जिसका स्पष्ट रूप उसके उत्तराधिकारी सूरजमल के समय मे वनने पाया। अर्थात सादडी प्राप्त न होने से क्षेमसिंह के वशज मालवा के एक भाग को सुल्तान की अनुकम्पा से अपने लिये प्राप्त कर लिया, जो प्रतापगढ के नाम से विख्यात हुआ। इसका अगला वर्णन यथास्थान करेंगे। यहाँ इतना जानना ही पर्याप्त है कि प्रतापगढ राज्य की सम्पूर्ति क्षेमसिंह का महाराणा के प्रति रोष और मालवा के सुल्तान की अनुकम्पा के फलस्वरूप सम्भावित हुई।[१२८]

---

१२८ डा० गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८०७-८

अध्याय १५

राठौडो की बढती हुई शक्ति और तुर्की विरोध

(अ) मारवाड के राठौड (१२७३-१५१५ ई०)

राठौडों की प्रारम्भिक विजयें

जिस प्रकार मेवाड के गुहिलो और सीसोदियाओं ने तुर्की शक्ति का विरोध करते हुए अपनी शक्ति का सगठन किया उसी प्रकार राठौडो ने भी उत्तरोत्तर अपनी शक्ति मारवाड मे वढायी और अवसर आने पर तुर्को से टक्कर ली। मारवाड मे पाली का एक व्यापारिक केन्द्र होना इस सघर्प का मुख्य कारण बन गया। हमने ऊपर के एक अध्याय मे पढा था कि मुसलमानो के विरुद्ध पाली प्रदेश की रक्षा करते हुए ही सीहा १२७३ ई० मे वीरगति को प्राप्त हुआ था।[1] उसके पुत्र आसथान ने पाली से हटकर मूदोच नामक गाँव मे अपनी शक्ति का सगठन किया। उपयुक्त अवसर पाकर उसने डाभी राजपूतो को अपनी ओर मिलाया और खेड पर अपना अधिकार स्थापित किया। उसी प्रान्त के पास के भील सरदार को परास्त कर ईडर भी हथिया लिया और उसे अपने छोटे भाई सोनग को दे दिया। इस प्रकार राठौडो की शक्ति दक्षिण-पश्चिम मारवाड मे वलवती हो गयी। परन्तु पाली पर मुस्लिम अधिकारियो की आँखें लगी हुई थी। जव जलालुद्दीन खलजी की फौजो ने पाली पर आक्रमण किया तो आसथान ने उसकी रक्षा के लिए खेड से प्रस्थान किया। पाली पहुँचने पर उसकी शाही फौजो से मुठभेड हुई, जिसके फलस्वरूप १२९१ ई० मे वह अपने १४० साथियो के साथ वीरगति को प्राप्त हुआ।[2]

वैसे तो आसथान के बाद उसके उत्तराधिकारियो का समय-क्रम ठीक-ठीक नही वैठता, परन्तु इतना अवश्य है कि १३वी और १४वी शताब्दियो तक सतत् प्रयत्न के फलस्वरूप वे अपने मारवाड राज्य का विस्तार करते रहे। ऐसा करने मे उन्हे

---

[1] वीठू लेख, वि० स० १३३०, इ० ए०, भा० ४०, पृ० १४१, नैणसी री ख्यात, भा० २, पृ० २६६-७५, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १४६-५८

[2] नैणसी री ख्यात, भा० २, पृ० ५५-५७, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १५८-६५

निकटवर्ती पडोसी राज्यो से तथा तुर्को से मोर्चा लेना पडा था। राव आसथान के वडे लडके धूहड ने आसपास के शत्रुओ से १५० गाँवो को छीनकर अपने राज्य की वृद्धि की। कुछ समय के लिए वह मण्डोर पर भी, प्रतिहारो को परास्त कर, अधिकार स्थापित करने मे सफल हुआ था। अभाग्यवश प्रतिहारो के विरोध मे ही १३०९ ई० मे उसने प्राण गँवाये।[३] उसके वडे लडके रायपाल ने फिर से मण्डोर पर अधिकार स्थापित कर लिया, परन्तु थोडे समय के बाद मण्डोर उसके हाथ से निकल गया। अलवत्ता मलानी के भू-भाग पर अधिकार स्थापित कर तथा भाटियो को दवाकर उसने अपनी शक्ति अवश्य वढा ली थी। भाटी इस स्थिति से क्षुब्ध होकर तुर्को से जा मिले, जिसके फलस्वरूप जब राव कर्णपाल ने भाटियो को दण्ड देने का वीडा उठाया तो भाटियो तथा तुर्को की सयुक्त शक्ति ने उसे मौत के घाट उतार दिया।[४] उसके लडके भीम को भी, जिसने अपने राज्य की सीमा को काक नदी तक विस्तारित कर दी थी, अपने पिता की भाँति, भाटियो के विरुद्ध लडते हुए मौत की शरण लेनी पडी।[५]

राव जालणसी ने, जो राव कनकपाल का द्वितीय पुत्र था, उमरकोट के सोढे राजपूतो को परास्त कर, मुल्तान के यवनो को दण्डित कर और भीनमाल के सोलकियो को अपमानित कर ख्याति प्राप्त की। परन्तु, अपने पिता की भाँति उसे भाटी और तुर्को की सयुक्त शक्ति के सामने परास्त होना पडा और उनका मुकावला करते हुए लगभग १३२८ ई० मे वह वीरगति को प्राप्त हुआ।[६] राव जालणसी का वडा पुत्र छाडा वडा वीर था। उसने पुरानी शत्रुता से क्षुब्ध होकर अपने वश के शत्रुओ को परास्त करना आरम्भ किया। उसने उमरकोट के सोढो को हराकर उन्हें दण्ड के रूप मे घोडे देने के लिए विवश किया। जैसलमेर के राव को हराकर उसे अपनी कन्या अपने साथ व्याहने के लिए वाध्य किया। उसने जालौर तथा नागौर के तुर्की अधिकारियो को भी दवाये रखा। ख्यातो से यह प्रमाणित होता है कि राव छाडा ने पाली, सोजत, भीनमाल और जालौर पर चढाई कर उन प्रदेशो को लूटा। इस तरह जब चारो ओर उसके शत्रु दवाये जा चुके थे कि सोनगरे और देवडा चौहानो ने जालौर प्रान्त के रामा नामक गाँव मे उसे अचानक जा घेरा। इसी हमले मे शत्रुओ का मुकावला करते हुए १३४४ ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।[७] राव छाडा के ज्येष्ठ पुत्र तीडा ने पिता की मृत्यु का वदला सोनगरे चौहानो को परास्त कर लिया। वह भीनमाल पर अपना अधिकार

---

३ भण्डारकर, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, दिसम्बर १९११

४ बाँकीदास, ऐतिहासिक वार्ते, न० १६१४, १६७२, जरनल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी, वगाल, १९१६, वेनर्जी, मेडीवल स्टडीज, पृ० ४१

५ बाँकीदास, ऐतिहासिक वार्ते, न० ७८४, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, एकोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८०९-१०

६ बाँकीदास री वार्ताँ, न० ७८६

७ वही, न० ७८७, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ५१-५२

स्थापित करने मे सफल हुआ। इसी तरह उसने देवडो, भाटियो, वालेचा चौहानो और सोलकियो को भी खूब छकाया और उनको मुद्रा के रूप मे दण्ड देने के लिए बाध्य किया। परन्तु जब सिवाने को तुर्की फौजो ने घेर लिया तो वह उसकी रक्षा मे वहाँ पहुँचा। यहाँ तुर्की सेना से लडते हुए वह काम आया।[८] भाग्यवश उसके एक उत्तराधिकारी मल्लिनाथ के अदम्य साहस ने तुर्को से महेवा छीना और उस पर फिर से राठौडो का अधिकार स्थापित हो गया। उसने अपनी शक्ति इतनी बढा ली थी कि वह सिन्ध और मालवा के शासको के विरुद्ध अपने राज्य की सीमा को बनाये रखने मे सफल हुआ। अपने वैभव और शक्ति के आधार पर उसने रावल की पदवी को धारण कर अपने वश के गौरव को परिवर्द्धित किया।[६]

यदि हम प्रारम्भिक सिहा वशीय राठौडो की उपलब्धियो पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते है कि वे अपनी पडोसी शक्तियो—भाटी, सोलकी, चौहान, जोहिया आदि के विरुद्ध सघर्ष कर राठौड राज्य की स्थिति को बनाये रखने मे सफल हो सके। उन्होंने कई बार आत्मोत्सर्ग द्वारा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की। इस लम्बे सघर्ष के फल-स्वरूप वे महेवा, भीनमाल, अमरकोट आदि प्रान्तो को मारवाड का भाग बना सके। इन्होने भी सीसोदियो की भाँति मालवा, गुजरात, जालौर, नागौर आदि तुर्की शक्तियो से निरन्तर मुठभेड कर अपने साहस का परिचय दिया।[१०]

राव चूंडा—राव चूंडा वीरमदेव का द्वितीय पुत्र था। पिता की मृत्यु के समय उसकी अवस्था ६ वर्ष की थी, ऐसी स्थिति मे चूडा का राज्य पर अधिकार पूरी तरह से रह सकने मे सन्देह था। भाटी, साखला, जोहिया, परिहार, चौहान, तुर्क राज्य के शत्रु थे। राज्य का उत्तराधिकारी होने के नाते उसका जीवन खतरे से खाली न था। अतएव उसकी माँ के प्रयत्न से कुछ समय चूडा को कलाऊ के आल्हा चारण की सर-क्षता मे गुप्त रूप से रखा और थोडे समय के बाद उसे उसके चाचा मल्लिनाथ के पास पहुँचा दिया गया। यहाँ जाकर चूडा ने अपनी प्रतिभा से रावल मल्लिनाथ को प्रसन्न कर दिया। होनहार समझकर रावल ने उसे सालोडी गाँव की जागीर दे दी। यहाँ रहते हुए चूडा ने अपनी शक्ति का सगठन आरम्भ किया। भाग्यवश उसे उस समय इन्दा परिहार की सरक्षता भी मिल गयी जिससे वह धीरे-धीरे अपनी जागीर को आसपास के गाँवो की लूट-खसोट से बढाने लगा। एक बार मारवाड से गुजरने वाले अरब

---

८ बाँकीदास, ऐतिहासिक बाते, न० १६१६

६ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १८५-६१

१० बाकीदास, ऐतिहासिक बातें, न० १६७१, ८३ आदि, बेले, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० ८२, ८५, १२१ आदि

"In short the Siha branch of Rathors can be credited with deeds of valour and enterprise They were not only able to keep their (*Contd*)

व्यापारी के घोडे लूटकर चूंडा ने अपनी सैन्य-शक्ति वटा ली।[११] हमे चूंडा के उत्त-रोत्तर विकास मे शिवाजी के जीवन की घटनाएँ समावेशित होती दिखायी देती है। जव उसने अपना सैन्य-वल वढा लिया और उसे परिहारो की मैत्री का भी आश्वासन हो गया तो उसने अपनी शक्ति को अधिक परिवर्द्धित करने की योजना वनायी।

मण्डोर पर चूंडा का अधिकार—जिस समय चूंडा अपनी शक्ति का सगठन कर रहा था, मारवाड मे तुर्की शक्ति भी वडी वलवती होती जा रही थी। मारवाड का केन्द्रीय भाग मण्डोर मालवा के सूवेदार के अधीन था। जव तक इस केन्द्रीय स्थिति को प्राप्त करने का लाभ चूंडा को प्राप्त नही होता तव तक उसकी शक्ति नही वढ सकती। उसने सर्वप्रथम मण्डोर को हथियाने का मार्ग ढूंढ निकाला। एक वार जव मण्डोर के सूवेदार ने इदा परिहारो से घास को माँगा तो चूंडा तथा परिहारो ने मिलकर घास की गाडियाँ भरवायी और उसमे शस्त्रो तथा सैनिको को छिपा दिया। जव सभी घास की गाडियाँ मण्डोर दुर्ग मे पहुँच गयी तो उसमे से सैनिको ने निकलकर यवन सैनिको का सहार करना आरम्भ कर दिया। किले मे भगदड मच गयी। इस अवसर का लाभ उठाकर इदा परिहार किले मे जा घुसे और किले पर उनका अधिकार हो गया। यद्यपि परिहारो ने किले पर अधिकार तो कर लिया, परन्तु उन्हें भय था कि कही भागे हुए मुसलमान नागौर तथा अजमेर से सहायता प्राप्त कर फिर से किला उनसे न छीन लें। इस आशका से उन्होने चूंडा से साँठ-गाँठ की। उन्होने उससे मारवाड स्थिति अपने ८४ गाँवो मे हस्तक्षेप न करने का वचन ले लिया और इदा परिहारो के नेता ने अपनी पुत्री का व्याह चूंडा से कर दिया। इस अवसर पर इन्दो ने मण्डोर को दहेज मे देकर किले की सुरक्षा व्यवस्था मे मुक्ति प्राप्त की। मल्लिनाथ ने भी चूंडा के इस नव अधिकार को मान्यता दी।[१२]

मण्डोर पर इस प्रकार अधिकार स्थापित हो जाने से चूंडा को कई लाभ हुए। प्रथम तो तुर्को की केन्द्रीय स्थिति को निर्वल वनाकर चूंडा ने अपने अधिकार की

---

small kingdom intact but also successfully resisted the aggression of the Bhatis, Solankis, Chauhans, Johiyas and other neighbouring Chiefs They were gallant and active warriors and fought wars and met their heroic end in maintaining their independence They also added Maheva, Bhinmal, Amarkot, etc , to their kingdom Like the Sisodias of Mewar, they carried on an incessant struggle with the rulers of Malwa and Gujarat" —G N Sharma, *Rajasthan, A Comprehensive History of India*, Vol V, p 811

[११] रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ५८-५९

[१२] नैणसी री ख्यात, जि० १, पृ० ८, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २०१-२०२

सीमा मे वृद्धि कर दी। मल्लिनाथ के राठौडो के नेतृत्व के समय ही राठौडो की राजनीतिक धूरि मण्डोर की ओर आकर्षित हो गयी। यहाँ तक कि मल्लिनाथ ने स्वय अपने जीवन काल मे ही चूंडा की शक्ति के प्रभाव को स्वीकार किया। वह स्वय मण्डोर गया और उसके आतिथ्य से सन्तुष्ट होकर लौटा। अव सभी राठौड शक्तियाँ चूंडा को अपना सम्मानित नेता मानने लगे। इन्दो को अपने प्रभाव मे लाकर राठौड शक्ति के विकास के काँटे को हमेशा के लिए चूंडा ने निकाल दिया। अपने ८४ गाँवो[13] मे राठौडो द्वारा लूट-खसोट न होने का आश्वासन पाना एक प्रकार से राठौडो की सरक्षा प्राप्त करना था। इन्दा परिहार तब से चूंडा के सहयोगी हो गये। एक प्रकार से मारवाड राज्य मे सामन्त प्रथा के विकास के बीज चूंडा द्वारा वोये गये जो आगे जाकर जोधा के समय मे पल्लवित हुए। उसकी शक्ति मण्डोर मे इतनी पल्लवति हो गयी थी कि १३९६ ई० मे गुजरात के जफरखाँ द्वारा किये गये मण्डोर के आक्रमण का उसने सफलतापूर्वक मुकावला किया।[14]

चूंडा मण्डोर पाकर ही सन्तुष्ट नही था। जव उसने देखा कि परिहारो का सहयोग उसे प्राप्त हो गया है तो उसे अब पडोसी विरोधी शक्तियो को दबाने के प्रयत्न मे लग जाना चाहिए। इसी अभिप्राय से उसने सर्वप्रथम नागौर के सूबेदार जलालखाँ खोखर पर चढाई कर दी। इस आक्रमण मे खोखर मारा गया। चूंडा ने मण्डोर की देखरेख अपने पुत्र सदा के हाथ सौंपी और वह स्वय नागौर मे रहने लगा। नागौर मे रहने से उसको अन्य तुर्की थानो को नष्ट-भ्रष्ट करने का अवसर मिल गया। दिल्ली की केन्द्रीय शक्ति पिछले तुगलको के कारण निर्वल हो चली थी। चूंडा ने शीघ्र ही नागौर के पास चूंडासर बसाकर अपनी शक्ति का सगठन किया। इन दोनो केन्द्रो के वल पर उसने खाटू, डीडवाना, साँभर, अजमेर, नाडौल आदि स्थानो से शाही अधिकारियो को निकाल दिया। इस प्रकार चूंडा का राज्य वडा विस्तारित हो गया।[15] नाडौल के लेने से चौहान शक्ति भी दवा दी गयी।

जव चूंडा ने तुर्की अधिकारियो के विरुद्ध अभियान किया था तब उसके वशीय सहयोगियो ने उसका पूरा साथ दिया था। उसका भाई जयसिंह, जिसके अधिकार

---

[13] उस समय मण्डोर के राज्य में ३४२ गाँव थे। इनमे से ८४ पर इन्दा परिहारो का, ८४ पर वालेसो का, ८४ पर आसायचो का, ५५ पर मागलियो का और ३५ पर काटेचो का अधिकार था। रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ६०, पाद टिप्पणी, न० १

[14] मिराते मिकन्दरी, पृ० १३

[15] व्रेले, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० ८३, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ६३

मे फलोदी था, चुप बैठा रहा। इस असहयोग का आशय दूसरा था। वह भाटियो से मेल वढाकर चूंडा की शक्ति को कुचलना चाहता था। चूंडा ने १४११ ई० मे उसके विरुद्ध आक्रमण कर दिया और फलोदी मारवाड राज्य का भाग वना दिया गया।[१६] फलोदी पर चूंडा का अधिकार हो जाना उसके भावी राज्य-विस्तार की नीति के लिए उपयोगी था।

अपने पडोसी विरोधियो को तथा तुर्को को दवाने मे चूंडा की शक्ति क्षीण हो चली। उसके पास न तो समय था और न शक्ति जिससे वह अन्य शत्रुओ को दवा सके। फल यह हुआ कि पूंगल के भाटियो ने मुल्तान के सेनानायक सलीम की सहायता प्राप्त की और नागौर पर चढाई कर दी। जैसलमेर के भाटी तथा जाँगलू के साखला भी इनसे जा मिले। ऊपर से भाटियो ने चूंडा से मेल-जोल के लिए हाथ वढाया। चूंडा इस धोखे को नही समझने पाया। ज्योही वह नगर से वाहर उनसे मिलने के लिए आगे वढा कि सभी भूखे भेडियो की तरह उस पर टूट पडे। राव चूंडा और उसके साथियो ने इस अकस्मात घेरे का वडी वीरता से मुकावला किया। फिर भी शत्रुओ की सयुक्त शक्ति वलवती सिद्ध हुई और चूंडा रण मे खेत रहा। यह घटना १५ मार्च, १४२३ ई० को हुई।[१७]

चूंडा का व्यक्तित्व—वास्तव मे चूंडा ने अपने पराक्रम से मारवाड के प्रभाव को वढाया था।[१८] उसने मण्डोर पर अधिकार स्थापित कर तथा नागौर, डीडवाना आदि स्थानो से तुर्की शक्ति क्षीण कर मारवाड की विस्तार नीति की रूपरेखा वनायी थी। परिहारो, अपने वशीय राठौडो तथा चौहानो को अपना सहयोगी बनाकर तथा उनके अधिकार क्षेत्र की सीमा निर्धारित कर उसने सामन्त प्रथा के एक निश्चित स्वरूप का निर्माण किया। यह प्रथा आगे जाकर मारवाड की सुरक्षा का अच्छा साधन वन गयी। मोहिलो से मेल वढाकर तथा वैवाहिक सम्वन्ध स्थापित कर उसने राठौड शक्ति के हाथो को बलवान बनाना चाहा, परन्तु अपनी मोहिलाणी रानी को सर्वेसर्वा वनाकर उसने अन्य राजपूतो को अप्रसन्न भी कर दिया। यहाँ तक कि उसने मोहि-लाणी को प्रसन्न रखने के लिए उसके पुत्र कान्हा को राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त किया और अपने ज्येष्ठ पुत्र रणमल को अधिकार से वचित किया। ऐसी स्थिति में रणमल सोजत जाकर रहने लगा। मोहिलाणी के प्रेम से आवद्ध हो उसने आपसी द्वेष के वीज वो दिये। एक ओर तो वह जीवनपर्यन्त मारवाड के विस्तार के आयो-जनो के ताने-वाने वुनता रहा, तो दूसरी ओर प्रेम के जाल मे फँसकर औचित्य तथा

---

[१६] रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ६४

[१७] जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० २८-३२

[१८] "Nevertheless during Chunda's reign Marwar rose to a position of eminence"—G N Sharma, Rajasthan, *Comprehensive History of India* Vol V, p 811

अनौचित्य की सीमा को ठीक प्रकार से निर्धारित नही कर सका। उसकी नागौर विजय ही ओझाजी[19] संदिग्ध बताते है क्योकि वहाँ शम्सखाँ तथा फीरोजखाँ के शासन निरन्तर चलते रहे। हो सकता है कि नागौर पर पूर्णरूपेण चूंडा अधिकार नही रख सका हो, परन्तु जब सभी ख्याते नागौर के आक्रमण और उसकी विजय का उल्लेख करते है तो कुछ काल तक नागौर का उसके अधीन रहना ठीक प्रतीत होता है। कुछ भी हो, चूंडा ने कुछ भागो पर क्षणिक विजय को भी सस्थापित कर मारवाड के राजनीतिक प्रभाव मे एक नवीन प्रगति अवश्य उत्पन्न की थी और भावी मारवाड के शासको के कार्यक्रम का पथ-प्रदर्शन किया था।

चूडा की मृत्यु के बाद मारवाड की स्थिति सन्तोषजनक न रह सकी। रणमल असन्तुष्ट होकर मेवाड के महाराणा लाखा के पास जा रहा। उसने अपनी जडो को मजबूत करने के लिए अपनी बहन हसाबाई का विवाह भी लाखा के साथ कर दिया। इधर कान्हा मारवाड का शासक तो बना परन्तु उसे साँखला तथा भाटियो ने चैन से नही रहने दिया। सम्भवत इनसे सघर्ष की किसी घटना मे वह मारा गया। उसके बाद उसका उत्तराधिकारी सत्ता हुआ वह भी अधिक समय तक सत्ता को हाथ मे न रख सका। उसके भाई रणधीर और उसके लडके नरबद से अनबन रहने लगी। रणधीर ने मारवाड की स्थिति को असन्तोषजनक पाकर रणमल को मेवाड से बुलाया। उसने मोकल से सहायता लेकर मण्डोर पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के फलस्वरूप नरबद जख्मी हुआ और मण्डोर पर १४२७ ई० मे रणमल का अधिकार स्थापित हो गया।[20] चूंडा की मृत्यु और रणमल के पुन अधिकार प्राप्ति के बीच के लगभग चार वर्ष मारवाड के लिए अच्छे नही थे। तुर्को ने फिर से नागौर, जालौर आदि स्थानो पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था और कई राठौड वशीय तथा अन्य राजपूत वशीय सामन्त अपने-अपने अधिकार क्षेत्र मे स्वतन्त्र हो गये थे। रणमल के लिए ये सभी समस्याएँ थी जिनका निपटारा उसे करना था।

राव रणमल (१४२७-३८ ई०)—चूंडा का ज्येष्ठ पुत्र होते हुए भी रणमल को कान्हा के पक्ष मे अपना राज्याधिकार छोडना पडा था। परन्तु वह स्वभाव से महत्त्वाकाक्षी था। मारवाड मे धोजावर की जागीर से वह सन्तुष्ट न था। कुछ समय वहाँ रहकर वह मेवाड मे महाराणा लाखा की सेवा मे जा रहा। यहाँ उसे अपनी योग्यता की प्रतिभा का परिचय देने का अवसर मिल गया। मेवाड की सेना के साथ रहकर अजमेर और माण्डू के अधिकारियो को दबाने का अच्छा मौका मिला। उसकी सेवाओ से प्रसन्न होकर महाराणा ने उसे धणला के साथ अन्य कई गाँव जागीर मे दिये। कुछ समय बाद जब उसने अपनी बहन हसाबाई का विवाह लाखा के साथ कर

---

[19] ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २१०-१२

[20] जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ८३-८४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ० २१४-१६

दिया तो उसके मेवाड की राजनीति मे प्रभाव बढने के आसार बन गये। १४२१ ई० मे लाखा की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र मोकल मेवाड की गद्दी पर बैठा। उसके अल्पवयस्क होने से मेवाड के राज्य का सारा प्रबन्ध मोकल का ज्येष्ठ भ्राता चूंडा देखता था। परन्तु हसाबाई को चूंडा पर सन्देह होने लगा। जिससे चूंडा माण्डू के सुल्तान होशंग के पास चला गया। इस घटना के बाद मेवाड के सभी काम की देख-रेख रणमल ही करने लगा। उसने शीघ्र ही उच्च पदो पर अपने विश्वासपात्र राठौडो को रखना आरम्भ कर दिया।

रणमल के जीवन मे १४२६ से १४३८ ई० का काल बडे महत्त्व का है। अब वह मारवाड का ही स्वामी न था वरन् मेवाड का भी सर्वेसर्वा था। उस समय उसके अधिकार मे मण्डोर, पाली, सोजत, जैतारण और नाडौल थे। बिहारी पठानो को परास्त कर उसने जालौर पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इन्ही दिनो मेवाड की परिस्थिति मे भी एक नया मोड आया। १४३३ ई० मे जब मोकल की हत्या कर दी गयी तो रणमल को फिर से मेवाड के राजकाज मे अधिक रुचि से काम करने का अवसर मिल गया। महाराणा कुम्भा, जो मोकल का पुत्र था, अभी राज-कार्य से अपरिचित था। राठौड अधिकारी राज्य के उच्च पदो पर आसीन थे। रण-मल धीरे-धीरे स्थानीय सरदारो से सत्ता छीन रहा था और उनको अपमानित भी कर रहा था। परन्तु अधिकार के आवेश मे राघवदेव जैसे योग्य व्यक्ति की हत्या करवाकर रणमल ने अपने पराभव को निकट बुला लिया। राठौड-सीसोदिया वैम-नस्य की खाई गहरी होती गयी। स्थानीय सरदारो ने चूंडा को माण्डू से आमन्त्रित कर कुम्भा के सभी कामो मे सहायता आरम्भ कर दी। इसी समय में रणमल के विरुद्ध भी षड्यन्त्र रचा गया, जिसके फलस्वरूप १४३८ ई० मे उसकी हत्या कर दी गयी। जिस प्रकार राठौडो का प्रभाव कुछ समय मेवाड मे छा गया था उसी प्रकार कुम्भा ने भी मण्डोवर पर अपना अधिकार स्थापित कर राठौडो की करतूतो का प्रत्युत्तर दिया।[२१]

रणमल का व्यक्तित्व—रणमल मे जैसी त्याग की भावना थी उसी कोटि की उसमे महत्त्वाकाक्षा भी थी। इन दोनो प्रवृत्तियो का सामजस्य हम उसके चरित्र मे देखते हैं। उसकी जीवन-सम्बन्धी कई घटनाओ से भी इस स्थिति का विश्लेषण होता है। इधर तो वह पिता की आज्ञा का पालन करते हुए राज्य को त्याग देता है और उधर अपनी शक्ति के सगठन के प्रयोग मे मेवाड की राजनीति का कर्णधार बनता है। मेवाड मे अपनी सत्ता का प्रभाव बढाकर वह फिर अपने पैतृक राज्य की प्राप्ति भी कर लेता है। रेऊ रणमल के चरित्र मे केवल त्याग की भावनाओ को ही

---

[२१] नैणसी री ख्यात, भा० ३, पृ० ६५, १०२, १०४, १०५, ११७, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० ३७, बाँकीदास की ऐतिहासिक बातें, भा० १, न० ८१५, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २१६-२३४

देखकर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि उसने मेवाड को एक सकट के समय मे सहायता पहुँचाकर उभारा था। उनके विचार से मेवाड की लाखा, मोकल और पूर्व कुम्भा-कालीन जितनी भी विजयें थी वह रणमल के कारण ही थी। पर वे इस बात को भूल जाते है कि इन महाराणाओ ने रणमल को अपने यहाँ आश्रय देकर उसे फिर से मारवाड दिलाने मे सहयोग दिया था। मेवाड की उस समय मे एक शक्ति थी जिसका सहयोगी बनकर रणमल ने अपनी ख्याति अर्जित की थी। रणमल के जीवन मे एक भूलो का युग आता है जब वह सीसोदिया सरदारो के पराभव के प्रयत्न मे लगता है और अपनी महत्त्वाकाक्षा की पिपासा की पूर्ति के लिए राघवदेव जैसे यशस्वी वीर की हत्या करवाता है। यह उसकी कूटनीति की अति का समय था जिसके फलस्वरूप उसे वैसा ही उत्तर मिला। यदि वह अपनी शक्ति की सीमा को पहचान पाता तो सम्भवत वह राजस्थान के इतिहास मे एक ख्यातिमान वीर और राजनीतिज्ञ सिद्ध होता। हमारे विचार मे उसकी मेवाड की पिछली सेवाओ मे स्वार्थ और अभिमान की रेखा अवश्य दिखायी देती है, जो उपकार की भावना से परे है।

राव जोधा (१४३८-८९ ई०)—राव जोधा को बचपन से ही रण-क्षेत्र का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला था। उसे अपने पिता रणमल के साथ रहकर उन दिनो को देखने का अवसर मिला था जब उसने राव सता से मण्डोर छीना था या मोकल की हत्या के बाद मेवाड की राजनीति का नेतृत्व किया था। इन अवसरो से उसने रण और राजनीति की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। १४३८ ई० मे जब चित्तौड मे रणमल की हत्या हुई तो जोधा अपने साथियो के साथ मारवाड की ओर भागा। स्थान-स्थान मे मेवाडी वीरो से मुठभेड झेलता हुआ वह मारवाड के एक किनारे वाले गाँव काहुँनी मे जा पहुँचा। दूरस्थ जागलू मे पहुँच जाने के कारण मेवाड की सेनाएँ, जो चूंडा के नेतृत्व मे मारवाड मे घुस गयी थी, आगे न बढ सकी। इस स्थिति ने जोधा को कुछ विश्राम का अवसर दिया। धीरे-धीरे यहाँ रहते हुए उसने अपने सहयोगियो की सख्या बढा ली। वह अब उत्साह से मण्डोवर लेने के प्रयत्न मे लग गया। परन्तु कई बार मण्डोवर लेने मे उसे विफलता मिली, क्योकि एक तो चूंडा ने मण्डोवर के चारो ओर अपने थाने बिठा रखे थे और दूसरा जोधा का शक्ति-केन्द्र मण्डोवर से काफी दूर था। उसने बिना आसपास के प्रदेशो को लिये ही सीधे मण्डोवर पर आक्रमण किये थे जो ठीक नही था। स्थिति को समझकर उसने मण्डोवर के आसपास के भागो को जीतना आरम्भ किया और कुछ सामन्तो को, जिन्होने राणा का आश्रय पा रखा था, अपनी ओर मिला लिया। सेत्रावा के रावत लूणा के सहयोग मिल जाने से उसके घुडसवारो की सख्या बढ गयी। यहाँ से आगे बढकर उसने चौकडी के थाने पर हमला किया। क्रमश भाटी बणवीर, राणा वीसलदेव, रावल दूदा आदि राणा के सहयोगी भी पराजित होते गये और जोधा की शक्ति बढती गयी। इधर से उसने हसाबाई के प्रभाव मे राणा के वैमनस्य को भी कम करवाया। जब चारो ओर से वातावरण अनुकूल

दिया तो उसके मेवाड की राजनीति मे प्रभाव बढने के आसार बन गये। १४२१ ई० मे लाखा की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र मोकल मेवाड की गद्दी पर बैठा। उसके अल्पवयस्क होने से मेवाड के राज्य का सारा प्रवन्ध मोकल का ज्येष्ठ भ्राता चूडा देखता था। परन्तु हसावाई को चूंडा पर सन्देह होने लगा। जिससे चूंडा माण्डू के सुल्तान होशग के पास चला गया। इस घटना के बाद मेवाड के सभी काम की देख-रेख रणमल ही करने लगा। उसने शीघ्र ही उच्च पदो पर अपने विश्वासपात्र राठौडो को रखना आरम्भ कर दिया।

रणमल के जीवन मे १४२६ से १४३८ ई० का काल बडे महत्त्व का है। अब वह मारवाड का ही स्वामी न था वरन् मेवाड का भी सर्वेसर्वा था। उस समय उसके अधिकार मे मण्डोर, पाली, सोजत, जैतारण और नाडौल थे। विहारी पठानो को परास्त कर उसने जालौर पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इन्ही दिनो मेवाड की परिस्थिति मे भी एक नया मोड आया। १४३३ ई० मे जब मोकल की हत्या कर दी गयी तो रणमल को फिर मे मेवाड के राजकाज मे अधिक रुचि से काम करने का अवसर मिल गया। महाराणा कुम्भा, जो मोकल का पुत्र था, अभी राज-कार्य से अपरिचित था। राठौड अधिकारी राज्य के उच्च पदो पर आसीन थे। रण-मल धीरे-धीरे स्थानीय सरदारो से सत्ता छीन रहा था और उनको अपमानित भी कर रहा था। परन्तु अधिकार के आवेश मे राघवदेव जैसे योग्य व्यक्ति की हत्या करवाकर रणमल ने अपने पराभव को निकट बुला लिया। राठौड-सीसोदिया वैम-नस्य की खाई गहरी होती गयी। स्थानीय सरदारो ने चूंडा को माण्डू से आमन्त्रित कर कुम्भा के सभी कामो मे सहायता आरम्भ कर दी। इसी समय मे रणमल के विरुद्ध भी षड्यन्त्र रचा गया, जिसके फलस्वरूप १४३८ ई० मे उसकी हत्या कर दी गयी। जिस प्रकार राठौडो का प्रभाव कुछ समय मेवाड मे छा गया था उसी प्रकार कुम्भा ने भी मण्डोवर पर अपना अधिकार स्थापित कर राठौडो की करतूतो का प्रत्युत्तर दिया।[२१]

रणमल का व्यक्तित्व—रणमल मे जैसी त्याग की भावना थी उसी कोटि की उसमे महत्त्वाकाक्षा भी थी। इन दोनो प्रवृत्तियो का सामजस्य हम उसके चरित्र मे देखते हैं। उसकी जीवन-सम्बन्धी कई घटनाओ से भी इस स्थिति का विश्लेषण होता है। इधर तो वह पिता की आज्ञा का पालन करते हुए राज्य को त्याग देता है और उधर अपनी शक्ति के सगठन के प्रयोग मे मेवाड की राजनीति का कर्णधार बनता है। मेवाड मे अपनी सत्ता का प्रभाव बढाकर वह फिर अपने पैतृक राज्य की प्राप्ति भी कर लेता है। रेऊ रणमल के चरित्र मे केवल त्याग की भावनाओ को ही

---

[२१] नैणसी री ख्यात, भा० ३, पृ० ९५, १०२, १०४, १०५, ११७, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० ३७, बाँकीदास की ऐतिहासिक वार्ते, भा० १, न० ८१५, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २१९-२३४

देखकर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि उसने मेवाड को एक सकट के समय मे सहायता पहुँचाकर उभारा था। उनके विचार से मेवाड की लाखा, मोकल और पूर्व कुम्भा-कालीन जितनी भी विजयें थी वह रणमल के कारण ही थी। पर वे इस बात को भूल जाते है कि इन महाराणाओ ने रणमल को अपने यहाँ आश्रय देकर उसे फिर से मारवाड दिलाने मे सहयोग दिया था। मेवाड की उस समय मे एक शक्ति थी जिसका सहयोगी बनकर रणमल ने अपनी ख्याति अर्जित की थी। रणमल के जीवन मे एक भूलो का युग आता है जब वह सीसोदिया सरदारो के पराभव के प्रयत्न मे लगता है और अपनी महत्त्वाकाक्षा की पिपासा की पूर्ति के लिए राघवदेव जैसे यशस्वी वीर की हत्या करवाता है। यह उसकी कूटनीति की अति का समय था जिसके फलस्वरूप उसे वैसा ही उत्तर मिला। यदि वह अपनी शक्ति की सीमा को पहचान पाता तो सम्भवत वह राजस्थान के इतिहास मे एक ख्यातिमान वीर और राजनीतिज्ञ सिद्ध होता। हमारे विचार मे उसकी मेवाड की पिछली सेवाओ मे स्वार्थ और अभिमान की रेखा अवश्य दिखायी देती है, जो उपकार की भावना से परे है।

राव जोधा (१४३८-८९ ई०)—राव जोधा को बचपन से ही रण-क्षेत्र का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला था। उसे अपने पिता रणमल के साथ रहकर उन दिनो को देखने का अवसर मिला था जब उसने राव सता से मण्डोर छीना था या मोकल की हत्या के बाद मेवाड की राजनीति का नेतृत्व किया था। इन अवसरो से उसने रण और राजनीति की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। १४३८ ई० मे जब चित्तौड मे रणमल की हत्या हुई तो जोधा अपने साथियो के साथ मारवाड की ओर भागा। स्थान-स्थान मे मेवाडी वीरो से मुठभेड झेलता हुआ वह मारवाड के एक किनारे वाले गाँव काहुँनी मे जा पहुँचा। दूरस्थ जागलू मे पहुँच जाने के कारण मेवाड की सेनाएँ, जो चूंडा के नेतृत्व मे मारवाड मे घुस गयी थी, आगे न बढ सकी। इस स्थिति ने जोधा को कुछ विश्राम का अवसर दिया। धीरे-धीरे यहाँ रहते हुए उसने अपने सहयोगियो की सख्या बढा ली। वह अब उत्साह से मण्डोवर लेने के प्रयत्न मे लग गया। परन्तु कई बार मण्डोवर लेने मे उसे विफलता मिली, क्योकि एक तो चूंडा ने मण्डोवर के चारो ओर अपने थाने बिठा रखे थे और दूसरा जोधा का शक्ति-केन्द्र मण्डोवर से काफी दूर था। उसने बिना आसपास के प्रदेशो को लिये ही सीधे मण्डोवर पर आक्रमण किये थे जो ठीक नही था। स्थिति को समझकर उसने मण्डोवर के आसपास के भागो को जीतना आरम्भ किया और कुछ सामन्तो को, जिन्होने राणा का आश्रय पा रखा था, अपनी ओर मिला लिया। सेत्रावा के रावत लूणा के सहयोग मिल जाने से उसके घुडसवारो की सख्या बढ गयी। यहाँ से आगे बढकर उसने चौकडी के थाने पर हमला किया। क्रमश भाटी बणवीर, राणा वीसलदेव, रावल दूदा आदि राणा के सहयोगी भी पराजित होते गये और जोधा की शक्ति बढती गयी। इधर से उसने हसाबाई के प्रभाव से राणा के वैमनस्य को भी कम करवाया। जब चारो ओर से वातावरण अनुकूल

बन गया तो १४५३ ई० मे उसने मण्डोवर पर धावा बोल दिया जिसमे उसकी विजय हो गयी। उस बडी विजय के लिए उसे कुल १५ वर्ष लगे।[२२]

ख्यात लेखको[२३] ने कुम्भा द्वारा फिर मण्डोवर पर आक्रमण करने का उल्लेख किया है जिसमे कुम्भा की हार बतायी गयी है। उनमे यह भी लिखा गया है कि जोधा की फौजो ने बढकर चित्तौड के किवाड जला दिये। ये उल्लेख भ्रमोत्पादक है, जबकि हम जानते हैं कि कुम्भा कई बार माण्डू तथा गुजरात के सुल्तानो को परास्त करने वाला व्यक्ति था। भला उसे जोधा से इस प्रकार अपमानित होना पडे यह समझ मे नही आता। वास्तविकता तो यह प्रतीत होती है कि कुम्भा से मेल-जोल बनाये रखने के लिए जोधा ने अपनी पुत्री का विवाह कुम्भा के पुत्र रायमल के साथ कर दिया जो घोसुन्डी की बावडी की १५०४ ई० की प्रशस्ति से प्रमाणित होता है। महाराणा को भी इस प्रकार जोधा से सन्धि बनाये रखना लाभप्रद था, क्योंकि उसे गुजरात तथा मालवा के प्रबल शत्रुओ से अपनी सीमा बचाये रखनी थी। जोधा जैसे शासक का मित्र होना ऐसी स्थिति मे राणा के लिए हितदायक था। ऐसा प्रतीत होता है कि राणा और राव के बीच मे सन्धि हो गयी हो और सोजत को सीमा निर्धारण का बिन्दु बनाया हो।

मण्डोवर लेने के बाद जोधा ने आसपास के भागो को भी लेना शुरू कर दिया। मेडता, फलोदी, पोकरण, भाद्राजन, सोजत, जैतारण, शिव, सिवाना और गोडवाड का कुछ भाग तथा नागौर उसके राज्य के अग बन गये। इन विजयो से शक्ति-सम्पन्न होकर उसने उत्तर की ओर हिसार तक बढने का प्रयत्न किया, परन्तु उसके आगे के विकास को अफगानो ने रोक दिया। इतने बडे राज्य का सँभालना एक व्यक्ति के बस की बात न थी, अतएव उसने अपने स्वजनो मे राज्य की सीमा के कुछ भाग बाँट दिये। सोजत उसने अपने बडे भाई को सुपुर्द किया। मेडता मे उसने अपने पुत्र वीरसिंह को रखा। छप्पन द्रोणपुर बीदा के हाथ सौपा। उसने अपने अधिक उत्साही पुत्र बीका को, काधल और नापा के सहयोग से बीकानेर की ओर बढने के लिए प्रेरित किया। इस गतिविधि से जोधा अपने वृहत् राज्य की सीमा को सुरक्षित करने मे सफल हो सका।[२४]

अपनी राज्य की सम्पूर्ण शक्ति को सगठित रखने के लिए उसने अपने वृहत् राज्य की नयी राजधानी जोधपुर मे १४५९ ई० मे स्थापित की। नयी राजधानी को

---

२२ जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० ४०-४१, वीरविनोद, भा० १, पृ० ३२२

२३ जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० ४४-४५, दयालदास की ख्यात, जि० १, पृ० १०९

२४ जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० ४०-४५, नैणसी री ख्यात, भा० १, पृ० १९२-९६

सुरक्षित रखने के लिए चिड़ियाटूँक पहाडी पर नया दुर्ग भी बनाया गया।[२५] इन कामो से निश्चिन्त होने पर उसने काशी, गया और प्रयाग की भी यात्रा की।[२६]

इसमे कोई सन्देह नही कि इन सभी कार्यों से जोधा का राजनीतिक स्तर आस-पास के राजाओ की नजर मे ऊपर उठ गया। कुम्भा का जोधा से सन्धि करना इसी बात की पुष्टि करता है। कुम्भा के उत्तराधिकारी उदा ने तो अजमेर और साँभर देकर उसकी सहायता की अपेक्षा की थी। बहलोल लोदी के सारगखाँ नामी अधिकारी को परास्त कर उसने अपनी प्रतिष्ठा बढा ली थी। लगभग ५० वर्ष के लम्बे अनुभव के बाद जोधा की मृत्यु १४८६ ई० मे हुई।

जोधा का व्यक्तित्व—यदि हम जोधा के सम्पूर्ण जीवन का परिवेक्षण करते हैं तो हम उसमे अटूट साहस और शौर्य का प्राचुर्य पाते हैं। अपनी सम्पूर्ण आयु, जो ७३ वर्ष की थी, उसमे से २३ वर्ष तो वह पिता के साथ रहकर युद्धोचित कार्यों का अनुभव प्राप्त करता रहा। पिता की मृत्यु के बाद १५ वर्ष उसने कई प्रकार की आपत्तियो का सामना करते हुए मण्डोवर प्राप्त करने के सकल्प मे सफलता प्राप्त की। बाकी बचे हुए ३५ वर्ष उसने राज्य-विस्तार और उसकी व्यवस्था मे लगाये। दृढ-प्रतिज्ञ होते हुए वह एक सूझबूझ वाला व्यक्ति था। राज्य की सुरक्षा के लिए सीमान्त प्रान्तो मे अपने स्वजनो को रखकर उसने राव चूँडा द्वारा सस्थापित सामन्त प्रथा को एक नया बल दिया। उस समय उसके अधिकार की सीमा जैसलमेर, हिसार तथा अर्वली श्रेणी तक प्रसारित थी जिसके अन्तर्गत मण्डोर, जोधपुर, मेडता, फलोदी, पोकरन, महेवा, भाद्राजन, सोजत, गोडवाड का कुछ भाग, जैतारन, शिव, सिवाना, साँभर, अजमेर और नागौर प्रान्त के अधिकाश भाग थे। रणमल या चूँडा द्वारा सस्थापित राज्य-विस्तार की परम्परा को यदि एक व्यवस्थित रूप किसी ने दिया था तो वह जोधा था। इस विचार से डा० ओझा[२७] राव जोधा को ही जोधपुर का पहला प्रतापी राजा कहते हैं। हमारे[२८] विचार से भी जोधा के नेतृत्व ने राठौडो के राज-नीतिक सम्मान के स्तर को काफी उन्नत किया था। उसके व्यक्तित्व मे हम एक असामान्य सैनिक और राजनीतिज्ञ के गुणो का समुचित समन्वय पाते हैं, जिसने

---

[२५] नैणसी री ख्यात, जि० २, पृ० १३१, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ४६, दयालदास की ख्यात, जि० १, पृ० १०६, वीरविनोद, भा० २, पृ० ८०६, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २४१

[२६] ब्रोसुन्डी की बावडी का शिलालेख, श्लो० ५-६, जैतसी रो छन्द, ३१, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २४१-४२

[२७] ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २५६

[२८] "Under his leadership the political status of the Rathors was considerably raised " —G N Sharma, Rajasthan, *A Comprehensive History of India*, Vol V, pp 812-13

असाधारण धैर्य और साहस से मारवाड राज्य की वास्तविक नीव को डाला था। वह एक व्यक्ति था जिसने उस समय की राजनीतिक परिस्थिति को सही रूप मे समझा। जिस समय दिल्ली सल्तनत की निर्बलता से मालवा, गुजरात, जौनपुर आदि के अधिकारी स्वतन्त्र होने और आपस मे लडने मे लग रहे थे, जोधा ने भी समय का लाभ उठाकर अपने राज्य-विस्तार का बीडा उठाया।

जोधा के उत्तराधिकारी—जोधा के बाद इस काल मे उसके दो उत्तराधिकारी राव सातल (१४८६-९२ ई०) तथा राव सूजा (१४९२-१५१५ ई०) हुए, जिन्होंने अपने राठौड राज्य को विस्तारित करने का प्रयत्न किया।[२९] राव सातल ने अपने श्वसुर देवीदास (जैसलमेर) से कुन्दल का प्रान्त प्राप्त कर अपने राज्य को परिवर्द्धित किया। उसने अपने नाम से सातलमेर को बसाकर ख्याति अर्जित की। सातल के समय मे भाटियो का विरोध शिथिल हो गया था और राज्य मे शान्ति का वातावरण दिखायी दे रहा था। फिर भी मुस्लिम शक्ति मारवाड के लिए भय का कारण बनी हुई थी। १४९० ई० मे अजमेर के हाकिम मल्लूखाँ ने राव सातल के भाई वरसिंह को अजमेर आमन्त्रित किया और वहाँ छल से उसे बन्दी बना लिया। इसकी सूचना मिलने पर राव सातल ने दूदा और बीका को साथ लेकर अजमेर पर चढाई कर दी। अपने नगर को बचाने के लिए उस क्षण तो उसने वरसिंह को छोड दिया, परन्तु बडी तैयारी के साथ उसने मेडता पर चढाई कर दी और वहाँ लूटमार कर जोधपुर की ओर बढा। राव सातल ने शीघ्र ही शत्रु का मुकाबला पीपाड के पास जाकर किया। उपयुक्त समय पर राव दूदा की सहायता भी उसे उपलब्ध हो गयी। दोनो दलो मे डटकर युद्ध हुआ, जिसमे मल्लूखाँ को मैदान छोडकर भागना पडा। परन्तु इस युद्ध मे अत्यधिक जोश से लडने के कारण राव सातल बहुत घायल हो गया जिससे उसी रात १३ मार्च, १४९२ ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।[३०]

अपने ज्येष्ठ भाई की मृत्यु के उपरान्त राव सूजा मारवाड का स्वामी बना। अपने पैतृक राज्य मे उसने अपने पराक्रम से बाडमेर, कोटडा और जैतारण को राज्य मे सम्मिलित किया। परन्तु उसके राज्यकाल मे उसके कई सामन्त बलवान हो गये थे। इनमे वीरम ने मेडता को स्वतन्त्र बनाने मे सफलता प्राप्त की। इसी प्रकार पोकारन और बाडमेर के सामन्त भी उसका विरोध करते रहे। राव बीका ने भी उसके समय मे जोधपुर पर चढाई की थी। इस प्रकार की घटनाओ का होना स्वाभाविक था। जोधा ने जिस आशय से शक्ति के बल पर सामन्त प्रथा को बढावा दिया था उस सत्ता का अभाव राव सूजा के राज्यकाल मे दिखायी देता है। केन्द्रीय शक्ति

---

२९ जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० ४७-४८, बाँकीदास, ऐतिहासिक वार्ते, न० ७९५

३० रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० १०६-७

को निर्वल पाकर आश्रित सामन्त स्वतन्त्र होने के प्रयत्न करने लगे, जिससे मारवाड की केन्द्रीय शक्ति को बडा धक्का पहुँचा ।[३१]

(व) वीकानेर के राठौड (१४६५-१५२६ ई०)

वीका (१४६५-१५०४ ई०)—वीकानेर राजस्थान के उत्तरी भाग का एक वहुत वडा अग है जिसे वीका के नाम से वीकानेर कहते है । वहुतो की धारणा है कि इस भाग को वीका तथा जाट नेता जिसका नाम नरा था और जिससे वीका का समझौता हो गया था, दोनो के नाम पर वीकानेर रखा । कुछ भी कारण रहा हो, इतना स्पष्ट है कि इस भू-भाग पर वीका की पूरी विजय हुई थी और वीकानेर नगर की स्थापना वीका के द्वारा की गयी थी । वीका जोधा का पाँचवाँ लडका था । ऐसा प्रतीत होता है कि जव जोधा अपनी महती विजय के भागो को अपने लडको और वन्धुओ मे सुरक्षा के लिए वाँट रहा था तो वीका उसके हिस्से से सन्तुष्ट नही था । उसने काधल तथा वीदा से साँठगाँठ की और अपने पिता की अनुमति से जागल प्रदेश की ओर नये राज्य की तलाश मे निकल पडा । ये भाग कई कवीलो के नेताओ के अधिकार मे था । परन्तु जव इस अभियान मे कर्णीदेवी का वरदान उसे प्राप्त हो गया तो उसका काम सरल वन गया । इन विभिन्न कवीलो मे आपसी फूट भी थी । भाटी, जोहिया, कायमखानी, मोहिल, चौहान, चोयल और खीची एक-दूसरे से शत्रुता रखते थे । इस स्थिति का लाभ बीका ने उठाया । उसने एक जाति को दूसरे के विरुद्ध भडकाया और उनमे से कई व्यक्तियो को अपनी ओर मिला लिया । इसके फलस्वरूप ज्यो-ज्यो वह आगे वढता गया त्यो-त्यो उसको सफलता मिलती गयी । चन्देसर, कोडम-देसर और जागल तथा इन भागो के आसपास सैकडो गाँव उसके अधिकार मे आते गये । उसने पूँगल के शेखा से मैत्री-सम्वन्ध कर लिया जो उसकी लडकी के विवाह से अधिक सुदृढ हो गया । भाटी और जाट, जो उस भाग मे अधिक शक्तिशाली थे उनको उसने खूव छकाया । इस प्रकार २३ वर्ष के अथक परिश्रम से बीका ने जागल के रेतीले भाग मे अपनी धाक जमा दी । अपनी व्यवस्था को स्थायी रूप देने के लिए उसने १४८८ ई० मे वीकानेर नगर की भी सस्थापना कर दी जो द्वितीय राठौड सत्ता का प्रमुख केन्द्र वन गया ।[३२]

वीका की शक्ति की मान्यता इतनी वढ गयी थी कि उदा, जो रायमल के द्वारा मेवाड से निकाला गया था, उसकी शरण मे आकर कुछ समय तक रहा । उसने मारगखाँ को परास्त कर एक स्थायी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी । अपने पिता की मृत्यु के

---

[३१] जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० ५८-६८, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २६४-७०

[३२] नैंणसी री ख्यात, भा० १, पृ० २३९-४०, ओझा, वीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १००

बाद उसने जोधपुर पर भी आक्रमण कर अपनी महती आकाक्षा का परिचय दिया। उसने अपने समय मे ही नवनिर्मित राज्य की सीमा मे पूगल, सिरसा, लाडनूं, भटनेर, भटिंडा, सिधाना, रीनी, नोहर आदि भागो को सम्मिलित कर लिया। जब उसकी मृत्यु १५०४ ई० मे हुई तब उसका राज्य ४०,००० वर्गमील तक विस्तारित था, जिसमे ३,००० गाँव थे। उसका नाम आज भी उस राज्य के समाप्त हो जाने के बाद भी उस भू-भाग के साथ जुडा हुआ है जो उसकी प्रभुता का द्योतक है।[33]

बीका का व्यक्तित्व—बीका भी राजस्थान के वीरो मे अग्रणीय था। महत्वाकाक्षी होते हुए उसमे पितृ-भक्ति थी। पिता के विचारो को मान्यता देते हुए वह मारवाड से अपने अधिकार को छोडकर निकल पडा और अपने भुजबल पर अनजान देश मे, एक नये राज्य का निर्माण किया। पितृ-भक्ति के साथ उसके व्यक्तित्व मे भ्रातृ-प्रेम की भावना भी प्रचुर मात्रा मे थी। जब कभी उसके स्वजनो पर कष्ट आया तो उसने सहर्ष उनकी सहायता की। पूगल के राव शेखा को, जो लघो के द्वारा बन्दी बना लिया गया था, मुक्ति दिलाने मे उसका हाथ था। राव बीदा को, जिसके अधिकार से छापर द्रोणपुर निकल गया था, उसे पुन दिलाने मे उसने सामयिक सहायता की। मेडता के स्वामी वरसिंह को जब अजमेर के सूबेदार ने गिरफ्तार कर लिया था तब उसको छुडाने मे उसने सक्रिय रूप मे भाग लिया। उसमे धार्मिक भावना भी उच्चकोटि की थी। वह इतने बडे भू-भाग का स्वामी बनने का सभी श्रेय करणी माता को देता था। उसे निर्माण कार्यो मे भी रुचि थी जिसके फलस्वरूप उसने बीकानेर नगर को बसाया तथा उसकी सुरक्षा के लिए गढ को बनवाया। उसका अभूतपूर्व शौर्य और युद्ध-कौशल इससे ही प्रमाणित होता है कि उसने विद्रोही भाटियो, जाटो, जोहियो, खीचियो, पठानो, बाघोडो, बलूचियो और भूटो को समय-समय पर हराया और अपनी शक्ति का सवर्द्धन किया।

रावनरा और राव लूणकर्ण *(१५०४-२६ ई०)*—राव बीका की मृत्यु होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र नरा बीकानेर का स्वामी बना। उसने कुछ ही मास राज्य किया कि उसका देहान्त १३ जनवरी, १५०५ ई० को हो गया। उसके राज्यकाल की कोई ऐसी विशेष घटना नही है जो उल्लेखनीय हो।[34]

नरा नि सन्तान होने से उसका छोटा भाई लूणकर्ण बीकानेर का स्वामी हुआ। उसके पिता की मृत्यु के बाद ही कई इलाको के मालिक, जिन्हे उसके पिता ने दबा रखा था, बागी हो गये और अपने अधिकार को बढाने लगे। उन्होने लूटमार

---

३३ नैणसी री ख्यात, भा० २, पृ० १९८-९९, वीरविनोद, भा० १, पृ० ३८८, जी० एन० शर्मा, राजस्थान, ए कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ८१५-१६

३४ दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ७, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४८०, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ११

कर प्रजा मे भी अशान्ति पैदा कर दी। लूणकर्ण एक साहसी योद्धा था, जिसने शीघ्र ही अपने सामन्तो तथा स्वजनो की एक बडी सेना तैयार की और उनके दमन के लिए निकल पडा। सर्वप्रथम उसने १५०६ ई० मे बीकानेर के पूर्व स्थित रद्रेवा पर आक्रमण किया। वहाँ के स्वामी मानसिंह ने सात मास तक किले मे रहकर लूणकर्ण की सेना का सामना किया। परन्तु जब किले मे रसद कम हो गयी तो वह अपने साथियो सहित राज्य की सेना पर टूट पडा और वीरगति को प्राप्त हुआ। इस अभियान के फलस्वरूप सम्पूर्ण रूद्रेवा का परगना उसके हाथ आ गया।[३५]

उन दिनो फतहपुर पर कायमखानियो का अधिकार था। उनके नेता दौलतखाँ और रगखाँ मे अनबन रहती थी। इस स्थिति का लाभ उठाने के लिए उसने १५१२ ई० मे फतहपुर पर चढाई कर दी। कुछ समय तो कायमखानियो ने राजकीय सेना का सामना किया, परन्तु अन्त मे उन्हे भागना पडा। अपनी प्रभुता बनाये रखने के लिए कायमखानियो ने १२० गाँव लूणकर्ण को दिये और सन्धि कर ली। राव ने प्रमुख स्थानो पर थाने बिठा दिये, जिससे भविष्य मे वे शक्तिशाली न हो सकें।[३६]

उस समय हिसार और सिरसा के किनारे के भाग मे, जिसे चायलवाडा कहते थे, कुछ राजपूत सरदार बागी हो रहे थे। उन्हे दबाने के लिए उसने उस ओर प्रस्थान किया। राजकीय सेना के आने की सूचना पाते ही चायल स्वामी जिसका नाम पूना था, भटनेर की तरफ भाग गया। लूणकर्ण ने हिरेदसर, साहवा एव गडीणियाँ के बीच के चायलवाडो से ४४० गाँव अपने अधिकार मे कर लिये और कई स्थानो पर थाने स्थापित कर दिये।[३७]

१५१३ ई० मे नागौर के स्वामी मुहम्मदखाँ ने जब बीकानेर पर आक्रमण किया तो लूणकर्ण ने वीरता से उसका सामना किया जिसके फलस्वरूप मुहम्मदखाँ को घायल होकर भागना पडा। इस युद्ध मे विजयश्री राव के हाथ लगी।[३८]

इन शत्रुओ को दबाने के बाद राव ने जैसलमेर की ओर प्रस्थान किया। वहाँ के किले के आक्रमण के पूर्व उसने उस भाग के आसपास के इलाके को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और फिर किले पर धावा बोल दिया। चारो ओर लूटमार से राजकीय सेना ने अराजकता पैदा कर दी। वहाँ का राव जैतसी, स्थिति को काबू के बाहर पाकर,

---

[३५] दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ७-८, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४८, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १११-१२

[३६] दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ८, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४८१, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ११२

[३७] दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ८, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ११४

[३८] बीठू सूजा, जैतसी रो छन्द, सख्या ५७-६१, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ११४

किला छोडकर भाग निकला, परन्तु वह वन्दी वना लिया गया। वचे हुए भाटियो ने कुछ समय सामना किया और तदनन्तर सुलह की याचना की। इसके फलस्वरूप जैंतसी को मुक्त कर दिया गया, जिसने अपनी पुत्रियो का विवाह लूणकर्ण के पुत्रो से कर दिया।[३९] राव ने इसके पूर्व चित्तौड के महाराणा रायमल की पुत्री से भी विवाह कर अपनी प्रतिष्ठा वढायी थी।

जव चारो ओर राव लूणकर्ण को विजय ही विजय मिल रही थी तो उसको राजस्थान के उत्तरी भाग को भी अपने अधिकार मे करने का उत्साह हुआ। उसने शीघ्र ही कन्थालिया, डीडवाना, वागड, नरहद, सिघाना आदि स्थानो पर अपने थाने विठा दिये और नारनोल की ओर वढा। नारनोल का नवाव उन दिनो शेख अवीमीरा था। नवाव की स्थिति अकेले लूणकर्ण का मुकावला करने की न थी। परन्तु भाग्यवश उसके साथ अन्य कई राजपूत सरदार जा मिले जो राव की वढती हुई शक्ति से अप्रसन्न थे। विशेष रूप से भाटी और जोहियो ने प्रारम्भ मे तो राव के साथ रहने का झुकाव वताया, किन्तु गुप्त रीति से नवाव के साथ रहने का उन्होने निश्चय कर लिया था। जव ढोसी नामक स्थान के पास नवाव और राव की सेनाओ की मुठभेड हुई तो भाटी और जोहिये तटस्थ हो गये। राव की सेना को वहुसंख्यक विरोधी पक्ष का सामना अकेले करना पडा जिसके फलस्वरूप उसके पैर उखड गये। राव के साथ प्रतापसी, वैरसी, नेतसी आदि योद्धा अन्त तक लडते रहे और वे सभी युद्ध-स्थल मे मारे गये। यह घटना ३१ मार्च, १५२६ को हुई।[४०]

राव लूणकर्ण का व्यक्तित्व—राव लूणकर्ण अपने पिता की भाँति साहसी और वीर योद्धा था। उसकी राज्य-विस्तार की नीति उसके पिता के समान थी। उसकी शक्ति का लोहा खेवा, चायलवाडा आदि स्थानो के सरदार मानते थे जिनका उसने निजी भुजवल से दमन किया। इन विद्रोही सरदारो के दवाने से कई गाँव उसके हाथ लगे। अपनी सैन्य-शक्ति को वलवती वनाये रखने के लिए उसने इन स्थानो मे अपने थाने भी विठा दिये। नागौर के खान ने जव वीकानेर पर आक्रमण किया तो उसने साहस से उसका मुकावला किया जिससे उसकी असामान्य वीरता प्रकट होती है। वीर होने के साथ-साथ वह उदार भी था। जव जैसलमेर के राव ने उससे सन्धि की अभ्यर्थना की तो उसने उसका राज्य फिर से लौटा दिया और उससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये। उदयपुर के महाराणा से भी अच्छा सम्बन्ध वनाये रखने के लिए उसने रायमल की कन्या से विवाह किया था। इन वैवाहिक सम्बन्धो की एक राजनीतिक

---

३९ दयालदास की ख्यात, भा० १, पत्र ८-९, ओझा, वीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ११५-१६

४० राव, जैंतसी रो छन्द, ९१-९२, नैणसी री ख्यात, जि० २, पृ० २००, दयालदास की ख्यात, जि० २, पृ० ९, ओझा, वीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ११७-१८

उपयोगिता भी थी। जिस खान ने बीकानेर पर आक्रमण किया था और उसे उसने परास्त किया था उसको राव गागा के विरुद्ध सहायता देकर उसने राजनीतिक सन्तुलन स्थापित कर अपना पक्ष प्रवल वनाये रखा।

साहसी तथा उदार और कूटनीतिज्ञ होने के साथ उसमे एक अच्छे प्रजापालक और गुणग्राही शासक के गुण थे। वह कविजनो और पण्डितो की विद्वता का सम्मान करता था और उन्हें विपुल दान और दक्षिणा से सन्तुष्ट रखता था। 'कर्मचन्द्रवशोत्कीर्तनक काव्यम्'[४१] मे उसकी दानशीलता की तुलना कर्ण से की है। इसी प्रकार बीठू सूजा ने अपने 'जैंतसी रो छन्द'[४२] मे उसे कलियुग का कर्ण माना है। प्रजा को सुखी रखने के लिए वह सवदा प्रयत्नशील था। दुर्भिक्ष के अवसरो पर सत्रो की स्थापना और दान द्वारा वह प्रजा की सहायता करता था। यही कारण था कि उसके समय मे राज्य समृद्धशाली वना और प्रजा मे सुख और शान्ति वनी रही। ऐसे साहसी वीर और प्रजापालक शासक की मृत्यु कुछ भूल के कारण हुई। उसने विजयो के क्रम मे सफलता पाकर भाटियो और जोहियो के भय की शका न की और नारनोल की ओर बढ गया। इस अभियान मे उसने परिस्थिति को न पहचाना और अनावश्यक उतावली की, जिसके फलस्वरूप उसका अन्त हुआ। फिर भी युद्ध-स्थल मे सबल शत्रु के साथ धैर्य से लडकर मरना उसका वीरोचित काय था। समसामयिक लेखको के अनुसार वह अपने समय का दानी, धार्मिक, प्रजापालक और गुणीजनो का सम्मान करने वाला शासक था, इसमे कोई सन्देह नही।[४३]

---

४१ कर्मचन्द्रवशोत्कीर्तनक काव्यम्, पद्य १५३

४२ जैंतसी रो छन्द, सख्या ५४, ६२

४३ "According to Jayasam, Rao Lunakarana was a charitable and righteous ruler and a patron of art and literature The author of *Jaitsi-ro-chhanda* credits him with having satisfied poets and scholars by giving them liberal grants He was reputed to have taken proper measures to extend help to the famished population of his State"—G N Sharma, Rajasthan, *A Comprehensive History of India*, Vol V, pp 816-17

अध्याय १६

सीसोदिया और गुहिलवंशीय राजपूतो का स्वातन्त्र्य प्रेम और मुगल विरोध (१४६८-१५९७ ई०)

(अ) मेवाड के शासक और सघर्ष

उदा व रायमल (१४६८-१५०६ ई०)

मेवाड के वीरो ने निरन्तर तुर्की विरोध से एक परम्परा स्थापित कर दी थी जिसको महाराणा रायमल (१४७३-१५०६ ई०) ने पूरी तरह निभाया। ज्योही उसको सूचना मिली कि उसके भाई उदा ने महाराणा कुम्भा की हत्या कर दी है वह अपनी सुसराल ईडर से रवाना होकर मेवाड की ओर बढा। जावर मे पहुँचते-पहुँचते कई मेवाडी सरदार उसके साथ आ मिले। जावर के पास की लडाई मे उदा के सहयोगियो को हराकर उसने दाडिमपुर मे विजय प्राप्त की। उदा ने अपनी शक्ति बढाने के लिए आबू के प्रदेश को देवडो को तथा अन्य परगनो को आसपास के राजाओ को दे दिया था। परन्तु ऐसे समय मे उसे बाहरी सहायता की कोई सम्भावना न रही। जावी और पानगढ मे विजय करता हुआ रायमल चित्तौड आ धमका। अपनी स्थिति को नि सहाय पाकर उदा वहाँ से भागकर कुम्भलगढ गया। जब उसे वहाँ भी चैन से नही रहने दिया तो वह अपने पुत्रो सहित माण्डू पहुँचा, इस आशा से कि सुलतान गायसशाह उसकी सहायता करेगा। उसकी अपनी ओर रुचि बनाये रखने के लिए उदा ने अपनी पुत्री का विवाह भी सुलतान के साथ करने की बातचीत की, परन्तु अकस्मात बिजली के गिरने से पितृघाती उदा की वही मृत्यु हो गयी।[1]

रायमल के शौर्य कार्य—उदा की मृत्यु तो हो गयी परन्तु सुलतान ने मेवाड विजय के विचार को नही छोडा। उसने उदा के दोनो पुत्रो को राज्य दिलाने के बहाने से चित्तौड को आ घेरा। सुदृढ किले के शृगो मे राजपूतो ने शत्रु का सामना किया जिसके फलस्वरूप गयासशाह को माण्डू लौटने के लिए विवश होना पडा। दुबारा गयासशाह ने अपने सेनापति जफरखाँ को एक बडी सेना लेकर मेवाड पर आक्रमण के लिए भेजा। राणा ने अपने कुँवर पृथ्वीराज, जयमल, सग्रामसिंह, पत्ता और रायसिंह

---

[1] दक्षिण द्वार की प्रशस्ति, श्लो० ६३, ६४, ६५, ६६, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, पृ० १२१, वीरविनोद, भा० १, पृ० ३३८, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३२४-२७

तथा अन्य सरदारो को जिनमे सारगदेव, कल्याणमल, किशनसिंह आदि मुख्य थे, शत्रु का मुकाबल करने भेजा। इन्होने माडलगढ के पास पहुँचकर माण्डू की सेना को करारी हार दी और उसे दण्ड देने को वाध्य किया। इस पराजय का वदला लेने के लिए १५०३ ई० मे गयासशाह का पुत्र नासिरशाह चित्तौड आया। इस वार रायमल ने उसे धन देकर लौटा दिया। इस युद्ध मे राणा रायमल को अपने कुंवरो के आपसी वैमनस्य तथा उसके कुटुम्बियो के स्वार्थ से नीचा देखना पडा था।[२]

इस प्रकार घरेलू वखेडो से मेवाड की शक्ति क्षीण हो चली और चारो ओर अराजकता का दौर दिखायी देने लगा। रायमल के कुँवरो मे परस्पर विरोध होने से कुँवर सग्रामसिंह को अज्ञातवास भुगतना पडा। आगे चलकर कुँवर जयमल और कुँवर पृथ्वीराज की मृत्यु हो गयी। सारगदेव और सूरजमल जो राणा के निकट सम्वन्धी थे, इनमे भी आपस मे वैमनस्य की आग भडक उठी। अन्त मे सारगदेव की हत्या कर दी गयी और सूरजमल मेवाड छोडकर काठल मे जा वसा। ये सभी घटनाएँ एक के वाद दूसरी इस प्रकार होती रही कि जिससे मेवाड के सरदारो मे भी दलवन्दी आरम्भ हो गयी। इस विषम स्थिति ने राणा को उदासीन और अस्वस्थ कर दिया। १३०९ ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।[३]

महाराणा रायमल का व्यक्तित्व—महाराणा रायमल ने अपने शौर्य का परिचय उदा हत्यारे से राज्य को छीनकर दिया था। उसने आते ही पाँच वर्ष से फैली हुई अव्यस्था को ठीक किया और पुन मेवाडी सामन्तो को एकसूत्र मे वाँधा। इस स्थिति का प्रमाण रायमल की प्रारम्भिक विजयें है। इस महाराणा का प्रारम्भिक काल कई उपलब्धियो से भी भरा पडा है। एकलिंगजी के मन्दिर के उद्धार का श्रेय भी इसी को है। उसने राम, शकर और समया सकट नामी तीन तालावो का निर्माण करवाकर मेवाड मे खेती को प्रोत्साहन दिया। उसके समय का अर्जुन प्रमुख शिल्पी था और गोपाल भट और महेश अच्छे विद्वान थे। उसकी उदारता का सबसे अच्छा प्रमाण यही है कि उसने निष्पुत्रो की जायदाद को राज्य मे लेना ठीक नही समझा। वह धर्म-सहिष्णु भी था। उसके समय मे नारलाई मे देव कुलिकाओ का उद्धार कराया गया और मन्दिर मे आदिनाथ की मूर्ति स्थापित की गयी। उसकी राणी शृंगारदेवी ने भी घोसुडी की वावडी को वनाकर अपने पति के काल के निर्माण कार्य मे रुचि प्रदर्शित की। झाला और सोलकी सरदारो को मेवाड मे आश्रय देकर रायमल ने अपनी उदारता का परिचय दिया था।[४]

---

[२] दक्षिण द्वार प्रशस्ति, श्लो० ७७-७८, वीरविनोद, पृ० ३३९-४१

[३] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३३०-३४६

[४] दक्षिण द्वार प्रशस्ति, श्लो० ७६-८६, नारलाई लेख, वि० स० १५५७, घोसुडी वावडी लेख, वि० स० १५६१, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३३०-३४६

जहाँ हम रायमल की कुछ उपलब्धियो की प्रशसा करते है हम उसकी भूलो की भी उपेक्षा नही कर सकते। उसने अपने जीवन-काल मे दृढता से इस बात को कभी निश्चित नही किया कि उसका उत्तराधिकारी कौन होगा। ऐसी स्थिति मे उसके सभी महत्त्वाकाक्षी राजकुमार तथा उनके चचेरे भाई आपस मे वैमनस्य रखने लगे। प्रत्येक ने अपने-अपने सहयोगियो को साथ ले लिया। उन्होने महाराणा के जीवन-काल मे ही आपस मे एक-दूसरे से द्वेप रखना आरम्भ कर दिया। अन्त मे इसका परिणाम अच्छा न रहा। जैसा कि हमने ऊपर पढा, वे एक-दूसरे के पराभव की ताक मे लगे रहे और एक-एक कर नष्ट भी हो गये। केवल मात्र सग्रामसिह, जो सवसे अधिक चतुर था, अज्ञात रूप मे वना रहा। सूरजमल भी हताश होकर काठल मे जा रहा। यदि महाराणा प्रारम्भ से ही दृढता की नीति को अपनाता तो बहुत-से द्वेप के कारण वही शान्त हो जाते और राज्य मे अव्यवस्था न फैलती। उसके समय के कई ऐसे दान-पत्र मिले है जो जाली हैं और जो अव्यवस्था के अकाट्य प्रमाण है। रायमल के समय में ही मेवाड को अपनी सीमा सम्बन्धित क्षति उठानी पडती यदि दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता वलवती होती। परन्तु इस प्रकार की स्थिति ने अवश्य ही उसके राज्य की आन्तरिक स्थिति को गम्भीर वना दिया था।[५]

महाराणा सागा (१५०९-१५२८ ई०)

सागा की प्रारम्भिक परिस्थिति—महाराणा रायमल के तेरह कुंवर और दो पुत्रियाँ थी जिनमे पृथ्वीराज, जयमल, रायसिह तथा सग्रामसिह के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं। इन सभी राजकुमारो मे पृथ्वीराज वडा योग्य और युद्ध-विद्या मे निपुण था, तथा सग्रामसिह महत्त्वाकाक्षी और साहसी था। जैसा कि हमने ऊपर पढा, रायसिह ने अपने जीवन-काल मे उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे कोई निर्णय नही लिया था। अलवत्ता कुम्भलगढ के प्रान्त को पृथ्वीराज को शासन-व्यवस्था के लिए देकर अन्य राजकुमारो मे वैमनस्य की भावना पैदा कर दी थी। इस प्रान्त को पाकर पृथ्वीराज निश्चिन्त था फिर भी वह अपने अधिकार के लिए सतर्क अवश्य था। इधर सग्रामसिह के हृदय मे देश-रक्षा और मेवाड के गौरव को बढाने की लगन थी, परन्तु उसकी अभिलापा की पूर्ति होने के कोई चिह्न नही दिखायी दे रहे थे। सबसे पहले तो राज्य की प्राप्ति पृथ्वीराज के लिए सम्भव थी और उसके पश्चात जयमल तथा रायमल को राज्य का अधिकार मिल सकता था। इधर महाराणा रायमल का चाचा सारगदेव

---

५ "Though Raimal faced the hostility of the Muslim states with success, he was unable to find a solution for the family feuds and dissensions which seriously threatened the internal security of the state"—G N Sharma, Rajasthan, *A Comprehensive History of India*, Vol V, p 796

भी अपने को राज्य का अधिकारी मानता था। क्षेमकर्ण का पुत्र सूरजमल तो रायमल को ही मेवाड का शासक स्वीकार करना आपत्तिजनक समझता था। ऐसी स्थिति मे सागा के लिए राज्य प्राप्त करने की आशा दूर की वात थी।

कुँवरों मे परस्पर विरोध—ख्यात लेखको ने इन सभी राजकुमारो के वढते हुए विरोध को रोचक कथानक के रूप मे प्रस्तुत किया है। ऐसी प्रसिद्धि है कि एक दिन कुँवर पृथ्वीराज, जयमल और सग्रामसिह अपनी-अपनी जन्म-पत्रियाँ लेकर एक ज्योतिषी के यहाँ पहुँचे। तीनो राजकुमारो के ग्रहो की प्रशसा करते हुए ज्योतिषी ने वताया कि सग्रामसिह का राजयोग वडा वलिष्ठ है। पृथ्वीराज, जो एक महत्त्वाकाक्षी युवक था इस भविष्यवाणी को सहन न कर सका। तुरन्त उसमे एक रोष की भावना उत्पन्न हो गयी। आवेश मे आकर उसने तलवार निकाली जिससे सग्रामसिह वच तो गया परन्तु उसकी हूल से उसकी एक आँख जाती रही। इस पर विरोध और अधिक बढ जाता कि महाराणा रायमल का चाचा सारगदेव वहाँ आ पहुँचा। उसने दोनो को वुरा-भला कहकर समझाया-वुझाया। उसने सागा की आँख का इलाज भी कराया परन्तु इसका आशाजनक फल न निकला और न कुँवरो का पारस्परिक सम्वन्ध ही सुधरने पाया। फिर किसी अन्य अवसर पर सारगदेव ने कहा कि ज्योतिषी के कथन पर विश्वास कर आपस मे मन-मुटाव रखना अच्छा नही है। इससे तो अच्छा हो कि वे भीमलगाँव की चारण जाति की पुजारिन से, जो चमत्कारिक है, इस सम्वन्ध का निर्णय करा लें। अतएव सारगदेव तथा उसके साथियो के साथ तीनो राजकुमार भीमलगाँव की देवी के मन्दिर की पुजारिन के पास पहुँचे। पुजारिन उस समय नही थी। पृथ्वीराज ज्येष्ठ होने से ऊँचे आसन पर वैठ गया और उसके पास जयमल भी वैठा। सग्रामसिह एक सिह की खाल पर जा डटा और सारगदेव उस आसन के एक किनारे के सहारे जा बैठा। जव पुजारिन आयी तो सभी ने सम्मानपूर्वक उससे अपने भविष्य जानने की अच्छा प्रकट की। पुजारिन ने ज्योतिषी की भविष्यवाणी का समर्थन किया। इसको सुनते ही तीनो मे वही युद्ध आरम्भ हो गया। कुँवर पृथ्वीराज, जिसे अपने वल पर अधिक विश्वास था, पुजारिन की वात को असत्य करने के लिए सग्रामसिह पर टूट पडा। यदि सारगदेव उस समय वीच मे न आता तो सग्रामसिह का सर धड से अलग हो जाता। इस सम्वन्ध मे एक दोहा भी प्रसिद्ध है

> "पीयल खग हाथा पकड, वह सागा किय वार।
> सारग झेले सीस पर, उणवर साग उवार ॥"

इस प्रकार के आपसी युद्ध मे पृथ्वीराज, सारगदेव तथा सग्रामसिह घायल हो गये। वे एक-दूसरे से वचने के लिए इधर-उधर भागे। भागता हुआ सग्रामसिह और उसका पीछा करता हुआ जयमल सेवन्त्री गाँव पहुँचे। यहाँ राठौड वीदा ने सग्रामसिह को शरण दी और स्वय जयमल के साथ लडता हुआ मारा गया। सग्रामसिह गोडवाड

के मार्ग से वचकर अजमेर पहुँचा जहाँ कर्मचन्द पँवार ने उसे पनाह दी और वहाँ कुछ समय अज्ञातवास के रूप मे रहकर अपनी शक्ति का सगठन करता रहा।[६]

इस सम्पूर्ण कथानक की ऐतिहासिक सत्यता कितनी है यह कहना वडा कठिन है। परन्तु इससे कई महत्त्वपूर्ण सकेत हमे मिलते है। कुँवर सग्रामसिंह ने अपने पक्ष को वलवान वनाने के लिए सारगदेव को अपनी ओर मिला लिया था। सारगदेव और सूरजमल मे भी वैमनस्य था अतएव सारगदेव को भी किसी के सहयोग की आवश्यकता थी। पृथ्वीराज और जयमल जो निकटतम राज्य के अधिकारी थे उनका भी एक गठवन्धन होना स्वाभाविक था। सारगदेव का वीच-वचाव करने का प्रयत्न और अपने राजपूत साथियो के साथ भिमलगाँव मे आना भी एक षड्यन्त्र का सूचक है। इस सम्पूर्ण कथानक मे सग्रामसिंह की महत्त्वाकाक्षा तथा उसकी पूर्ति के लिए सतर्कता स्पष्ट है।

वदलती हुई परिस्थिति और साँगा का राज्यारोहण—वैसे तो सग्रामसिंह के लिए राज्य-प्राप्ति का अवसर सम्भव नही दिखायी दे रहा था, फिर भी परिस्थितियाँ उसके अनुकूल होती चली गयी। कुँवर पृथ्वीराज की मृत्यु धोखे से विष की गोलियाँ निगलने से हो गयी और कुँवर जयमल सोलकियो से युद्ध करता मारा गया। जगमाल वैसे ही निकम्मा था जिससे मेवाड के सामन्त अप्रसन्न थे। सारगदेव की हत्या पृथ्वीराज के द्वारा हो चुकी थी। वचा हुआ सूरजमल भी नये राज्य की स्थापना की तलाश मे काठल की ओर चल दिया। अव सग्रामसिंह के विरोधियो की सख्या समाप्त हो चुकी थी और रायमल के लिए सग्रामसिंह को उत्तराधिकारी घोषित करने के अतिरिक्त कोई मार्ग न था। सम्भवत जव रायमल मृत्यु-शय्या पर था कि सागा को अजमेर से आमन्त्रित कर मेवाड के राज्य का स्वामी वनाया गया। अपनी सूझवूझ, कर्तव्यनिष्ठा तथा घटना-चक्र के सहयोग ने सागा के मेवाड-नेतृत्व के स्वप्न को १५०९ ई० मे साकार सिद्ध किया।[७]

सागा की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—सागा वैसे तो मेवाड का शासक वन गया परन्तु उसने पाया कि उसका राज्य चारो ओर से शत्रुओ से घिरा हुआ है। दिल्ली मे लोदी-वश का सुल्तान सिकन्दर, गुजरात मे महमूदशाह वेगडा और मालवा मे नासिरुद्दीन राज्य करते थे। वैसे तो ये एकाकी रहने की स्थिति मे अधिक शक्तिशाली न थे, परन्तु इनका आपसी सहयोग मेवाड के लिए हानिकारक था। इन राज्यो से उत्तर-पूर्वी और दक्षिण तथा पश्चिमी मेवाड की सीमाओ पर आक्रमण का भय था। इनके द्वारा की जाने वाली छेडछाड से मेवाड के जनजीवन को वाधा पहुँचने की आशका

---

६ मेवन्त्री गाँव का लेख, वि० स० १५६१, वीरविनोद, भा० १, पृ० ३८५, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३३१-३२

७ वीरविनोद भा० १, पृ० ३४९-५०, सारदा, महाराणा सागा, पृ० ३१-३३, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १३-१४

थी। इस स्थिति को सन्तुलित करने के लिए महाराणा ने अपने हितैषी कर्मचन्द पँवार को रावत की पदवी देकर सम्मानित किया और अजमेर, परवतसर, माडल, फूलिया, वनेडा आदि पन्द्रह लाख की वार्षिक आय के परगने जागीर मे दिये।[८] इस तरह उत्तर-पूर्वी मेवाड के भू-भाग मे एक शक्तिशाली सामन्त स्थापित कर सागा ने अपनी सीमा की सुरक्षा कर ली और अपना नया विश्वस्त सहयोगी भी वना लिया। दक्षिण और पश्चिमी मेवाड की सुरक्षा के लिए उसने सिरोही तथा वागड के शासको को अपना मित्र वनाया तथा ईडर के राज्य-सिंहासन पर अपने प्रशसक रायमल को विठाया। मारवाड का शासक भी उसका सहयोगी वन गया।[९]

सागा और गुजरात का सम्बन्ध—अपने आसपास के निर्वल शासकों को सहायता पहुँचाकर या अपना मैत्री-भाव प्रदर्शित कर महाराणा ने अपना पक्ष अवश्य प्रवल कर लिया था, परन्तु इससे शीघ्र ही उसने गुजरात राज्य के वैमनस्य को वढावा दिया। गुजरात-मेवाड सघर्ष का अध्याय जो महाराणा कुम्भा के समय से आरम्भ हुआ था उसकी समाप्ति भी नही होने पायी थी कि राणा सागा ने उसे फिर से आरम्भ कर दिया। जिस वीरोचित परम्परा को महाराणा कुम्भा ने स्थापित किया था उम परम्परा को अधिक वल देना और कुम्भा द्वारा निर्धारित नीति को सफल वनाना महाराणा अपना उत्तरदायित्व समझता था। ईडर की आन्तरिक स्थिति मे हस्तक्षेप करना इस सम्पूर्ण नीति का प्रथम व्यावहारिक कदम था।

जव १५१४ ई० मे गुजरात के सुलतान मुजफ्फर ने यह सुना कि राणा सागा ने भारमल को ईडर से निकालकर वहाँ का राज्य रायमल को दिया है तो उसने अहमदनगर के जागीरदार निजामुल्मुल्क को रायमल को पदच्युत करने के लिए एक वडी मेना देकर भेजा। जव निजामुलमुल्क ने ईडर जा घेरा तो रायमल पहाडो मे चला गया, परन्तु फिर अपनी शक्ति के सगठन से गुजराती सेना पर टूट पडा। वेचारे निजामुलमुल्क को ईडर छोडकर भागना पडा और वहाँ फिर से रायमल का अधिकार हो गया। सुल्तान ने इस पराजय से क्षुब्ध होकर जहीरुलमुल्क को ईडर के विरुद्ध भेजा, परन्तु उसे सफलता न मिली। जव तीसरी वार मलिक हुसैन को भेजा गया तो उसे ईडर पर अधिकार करने मे सफलता मिली। इस स्थिति से १५२० ई० को स्वय महाराणा को एक वडी सेना लेकर उधर प्रस्थान करना पडा। राजपूतो की सेना से पराम्न होकर मलिक हुसैन भागकर अहमदनगर के किले मे जा रहा। महाराणा ने रायमल को ईडर की गद्दी पर विठाया और अहमदनगर को जा घेरा। यहाँ भी मुस्लिम सेना महाराणा का सामना न कर सकी और अहमदनगर से कई हाथी और

---

८ मुन्शी देवी प्रसाद, महाराणा सग्रामसिंह का जीवन चरित्र, पृ० २६-२७

९ व्रिग्ज, फरिश्ता, जि० ४, पृ० ८३, वेले, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० २५२, वीर-विनोद, भा० १, पृ० ३५४-५५, सारदा, महाराणा सागा, पृ० ५३-५४, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३४७-४८

असवाव महाराणा के हाथ लगे। विजयी सेना वडनगर को लूटती हुई चित्तौड लौट आयी। इस विजय से महाराणा ने गुजरात के सुलतान को अपनी शक्ति से भयभीत कर दिया।

महाराणा की इस विजय से गुजरात का सुलतान मुजफ्फर बडा लज्जित हुआ। उसने महाराणा के विरुद्ध अभियान छेडने की तैयारी की। सोरठ का हाकिम मलिक अयाज भी उसके साथ हो गया। दोनो की सम्मिलित सेना ने मेवाड पर आक्रमण करने को प्रस्थान किया। मार्ग मे डूँगरपुर, सागवाडा तथा वाँसवाडा को नष्ट करती हुई गुजरात की सेना मन्दर्मार पहुँची। राणा की सेना मे सलहदी तँवर आसपास के राजपूतो के साथ आ मिला। मलिक अयाज ने युद्ध मे पराजित होने की सम्भावना से राणा से सन्धि कर ली जिससे सुलतान को भी लौटने के लिए विवश होना पडा।[10]

राणा सागा और मालवा का सम्वन्ध—महमूद द्वितीय के समय मालवा की स्थिति अच्छी न थी। वहाँ के अमीर शक्ति का सगठन कर सुलतान को अपने दवाव मे रखना चाहते थे। सुलतान एक प्रवल राजपूत सरदार मेदिनीराय के हाथ मे था, जिसे मुसलमान अमीर नही चाहते थे। अन्त मे इन अमीरो ने गुजरात के सुलतान की सहायता से मेदिनीराय को माण्डू से भगा दिया और सुलतान को अपना तथा गुजरात का आश्रित वना दिया। मेदिनीराय राणा सागा की सहायता से मालवा पर चढ आया पर उपयुक्त अवसर न समझ राणा की फौजें चित्तौड लौट गयी। मेदिनीराय को गागरौन, चन्देरी आदि इलाके देकर राणा सागा ने उसे अपना सामन्त बना लिया। जव सुलतान महमूद ने मेदिनीराय को दण्ड देने के लिए गागरौन पर आक्रमण किया तो राणा ने महमूद को परास्त कर कैद कर लिया। थोडे समय अपना वन्दी रख राणा ने अच्छे व्यवहार रखने की प्रतिज्ञा पर उसे मुक्त कर दिया। इस अवसर पर सुलतान ने अपने एक शाहजादे को जामिन के तौर पर चित्तौड छोडा और महाराणा को रत्न-जटित मुकुट तथा सोने की कमरपेटी भेंट की।[11]

राणा का महमूद को छोड देने और सम्मानपूर्वक माण्डू लौटा देने की नीति की कुछ इतिहासकारो ने निन्दा की है। हमारे विचार से वास्तव मे राणा का ऐसा करना

---

[10] व्रिग्ज, फरिश्ता, जि० ४, पृ० ८४, ९०-९४, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० २५२, २५३, २६४, २६५, २६६, २७४, २७५, फार्ब्स, रासमाला, पृ० २९५, नैणसी री ख्यात, पत्र २९, सारदा, सागा, पृ० ५३-५४, ७८, ७९, ८४, ८७, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २४८-३५१, ३५६-३५८, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १५-१८

[11] वावरनामा, पृ० ६१२-१३, व्रिग्ज, फरिश्ता, जि० ४, पृ० २४७, २५५-२५६, वेले, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० २६३, सारदा, महाराणा सागा, पृ० ६८-६९, ७४, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३५३-३५६

बुद्धिमानी का द्योतक है। जब वह दूरस्थ माण्डू पर अपना अधिकार नही रख सकता था तो वह इस उदारता से क्यो न शत्रु को जीतता। कम से कम मालवा के सुलतान पर अपना प्रभाव स्थापित कर उसने गुजरात के सुलतान को भी निर्बल बना दिया। इस मैत्री-सम्बन्ध से गुजरात-मालवा के गुट की सम्भावना कम हो गयी। मेदिनीराय को अपना आश्रित बनाकर उसने एक सशक्त सरक्षण मेवाड की सीमा पर स्थापित कर दिया था। इस प्रकार की नीति महाराणा कुम्भा की नीति का अनुसरण-मात्र थी जो हर प्रकार से समयोचित थी। आगे से होने वाली घटनाएँ भी इस नीति का समर्थन करती हैं। भविष्य मे राणा सागा को गुजरात तथा मालवा से कोई भय नही रहा, क्योंकि उसने एक नवीन शक्ति-सन्तुलन पैदा कर अपने को नि शक बना दिया था।

दिल्ली सल्तनत और सागा—महाराणा सागा ने दिल्ली सल्तनत को निर्बल पाकर उसके अधीनस्थ वाले मेवाड के निकटवर्ती भागो को अपने राज्य मे मिलाना आरम्भ कर दिया, जिसका विरोध सिकन्दर तो न कर सका, परन्तु जब दिल्ली सल्तनत की बागडोर इब्राहीम के हाथ मे आयी तो उसने १५१७ ई० मे एक बडी सेना के साथ मेवाड पर चढाई कर दी। खातोली के मैदान मे दोनो दलो की मुठभेड हुई जिसमे सुलतान अपने साथियो के साथ पराजित होकर भाग गया। उसका एक शाहजादा राणा द्वारा बन्दी बनाया गया, जिससे कुछ दण्ड लेकर राणा ने उसे छोडने की आज्ञा दे दी।[१२]

दूसरे वर्ष सुल्तान ने मियाँ हुसैन तथा मियाँ माखन के साथ एक महती सेना को राणा के विरुद्ध पहली पराजय का बदला लेने भेजा। फारसी तवारीखो[१३] मे मियाँ हुसैन का इस अवसर पर राणा से मिल जाना और फिर मियाँ माखन के पत्र से सुल्तान की सेना का सहयोगी बनना आदि वर्णन लिखा है। इनमे इस युद्ध मे राणा की हार होना भी उल्लिखित है। परन्तु बाबर[१४] ने धौलपुर की लडाई मे राजपूतो की विजय होना लिखा है जो पिछली तवारीखो की तुलना मे विश्वसनीय है। वैसे तो स्थानीय साहित्य मे[१५] राणा द्वारा कई बार दिल्ली, माण्डू तथा गुजरात के सुलतानो को पराजित करने का वर्णन दिया है, परन्तु इसमे सन्देह नही कि महाराणा सागा ने इन सुलतानो को बारी-बारी से पराजित कर अपने साहस और शौर्य का परिचय दिया था। इन विजयो से उत्तरी भारत का नेतृत्व भी उसे प्राप्त हो गया। इब्राहीम की यह पराजय महाराणा की प्रतिष्ठा बढाने मे बडी सहायक बनी। वैसे तो दिल्ली सल्तनत

---

[१२] बाबरनामा, भा० २, पृ० ५६१, ५९३, मीराते एहमदी, भा० १, पृ० १०१-०३, अमर काव्य वशावली, पत्र ३०, सारदा, महाराणा सागा, पृ० ८२-८३

[१३] तारीखे सलातीने अफगाना, इलियट, जि० ५, पृ० १६-२०

[१४] बाबरनामा, पृ० ५९३

[१५] सीसोद-वशावली, पत्र १९, गीत सग्रह, पृ० ६२-६३, राजरत्नाकर, पत्र ५२

के शासक निर्बल हो गये थे फिर भी उनकी एक प्रतिष्ठा थी, वे देश के शासक माने जाते थे। दिल्ली के शासक को परास्त करने से राजनीतिक धुरी मेवाड की ओर घूम गयी और सभी शक्तियाँ, देशी और विदेशी, सागा की शक्ति को मान्यता देने लगी। मेवाड की शक्ति की यह चरमसीमा थी। हमारे शब्दो मे राणा इन विजयो से राजपूत सगठन का नेता स्वीकार कर लिया गया था और उसके व्यक्तित्व मे हिन्दू शौय की आभा देदीप्यमान हो चली थी।[१६]

वाबर और राणा सागा—वैसे तो राणा सागा ने भारतीय सुल्तानो को पराजित कर अपनी एक प्रकार की विशेष ख्याति अर्जित कर ली थी, परन्तु उसे अव भारत के एक छोर से आने वाले उसके तुल्य एक साहसी वीर का मुकावला करना था। वह था वावर। इस मुगल सेनानायक ने सागा की भाँति जीवन मे कई उथल-पुथलें देखे थे। केवल अपने धैर्य और वल से उसने अपने लिये कावुल राज्य मे नये राज्य की स्थापना की थी। छोटे-से कावुल राज्य से वह सन्तुष्ट नही था। वह लोदी सामन्तो से निमन्त्रण पाकर भारत आया और पानीपत के मैदान मे इब्राहीम को परास्त कर विजेता वना। परन्तु इस विजय के उपरान्त उसने देखा कि दिल्ली और आगरा की विजय उसे भारतीय राज्य का स्वामी नही वना सकती। उसे ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिए राणा सागा से मुठभेड लेनी होगी, जो उसकी भाँति महत्त्वाकाक्षी था और जिसके नेतृत्व का लोहा अफगान और भारतीय नरेश मानते थे। राजपूत राजा और रावो का तो उस पर ऐसा विश्वास था कि वह दिल्ली पर हिन्दू शासन स्थापित करने की क्षमता रखता है। राजनीतिक, वौद्धिक और भावुक मान्यता से सागा उस समय का एक ही व्यक्ति था जो वावर का विरोध करने की योग्यता रखता था।

वावर भी भलीभाँति सागा की मानसिक और भौतिक स्थिति को पहचानता था। इसीलिए उसने अफगानो की समस्या के वजाय राजपूत समस्या को पहले निपटाने का निश्चय किया। पर प्रश्न यह था कि किस वहाने सागा से युद्ध छेडा जाय। उसने शीघ्र ही एक वहाना ढूंढ निकाला। उसने सागा पर आरोप लगाया कि जैसा उसने वायदा किया था वह अपने सैन्य-वल से उसकी सहायता के लिए पानीपत के मैदान मे नही उपस्थित हुआ। साथ ही उसने यह भी वताया कि दिल्ली और आगरा लेने पर भी सागा के प्रस्थान का कोई नामो-निशान भी नही था।[१७] इस कथन से

---

[१६] "Thus by defeating several times the rulers of Delhi, Malwa and Gujarat he acquired the universal recognition of *'Kullus'* of the Rajput confederacy and exemplified in his person the spirit of Hindu Chivalry and leadership"

—G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, pp 17-18

[१७] ' While we were still in Kabul Rana Sanga had sent an envoy to testify to his good wishes and to propose this plan If the honoured Padshah will come to near Delhi from that side I from this

(Contd)

बाबर ने राणा पर आक्रमण करना न्यायोचित बताया। सभी इतिहासकार बाबर के इस कथन को सत्य मानकर सागा पर प्रतिज्ञा-भग का दोष लगाते है।[१८]

लेकिन राजपूत-स्रोत इसके विपरीत यह बताते है कि बाबर ने काबुल से राणा को कहलाया था कि वह इब्राहीम को परास्त करने मे उसकी सहायता करे। उसने यह आश्वासन भी दिया कि विजयी होने की हालत मे दिल्ली बाबर के राज्य मे रहेगा और आगरा तक राणा के राज्य की सीमा रहेगी। इस सम्बन्ध की बातचीत सिलहदी के द्वारा हुई और राणा ने भी इस प्रस्ताव की स्वीकृति भिजवा दी। इस प्रकार के पत्र-व्यवहार का ब्यौरा मेवाड राज्य के प्रमुख पुरोहित की डायरी से 'मेवाड के सक्षिप्त इतिहास' की पाण्डुलिपि मे उद्धृत मिला है। वैसे तो यह सूचना सीधे किसी सम-सामयिक पत्र मे नही मिलती, परन्तु पुरोहितजी की डायरी जो राणा की दैनिक कार्य को उल्लिखित करती थी, और जिससे ये अश उद्धृत हैं, असम्भव नही दीख पडते। तर्क की कसौटी पर कसने से भी यह सही प्रतीत होता है कि बाबर ही राणा की सहायता अनजान देश मे जाने के कारण माँग सकता है। सागा को किस प्रकार की सहायता अपेक्षित थी जबकि उसने इब्राहीम को तथा गुजरात और मालवा के सुल्तानो को परास्त कर दिया था ? एक राजपूत की मनोवृत्ति भी इस बात पर विश्वास पैदा करती है कि वह अपनी ओर से कभी किसी विषय मे आगे नही पडती। अतएव बाबर के द्वारा सागा की सहायता की याचना करना ही युक्तिसगत दिखायी देता है।

तो अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि अगर बाबर के प्रस्ताव पर यदि सागा ने स्वीकृति भेज दी थी तो फिर उसने इब्राहीम के विरुद्ध सहायता क्यो न की ? इसका कारण, जैसा कि 'मेवाड के सक्षिप्त इतिहास' मे उल्लिखित है कि जब राणा के सामन्तो को यह पता चला कि वह एक विदेशी को सहायता पहुँचाना चाहता है तो उन्होंने उसे ऐसा करने से रोका, यह कहते हुए कि 'साँप को दूध पिलाने से क्या लाभ'। राणा अपने सामन्तो की बात को भला कैसे टाल सकता था ? यहाँ से सागा ने अपनी शक्ति को सगठित करना आरम्भ कर दिया। उसने गागरौन से फौजें बुलाकर चित्तौड मे इकट्ठी की और खण्डार तथा रणथम्भौर पर सैनिक-व्यवस्था को सुदृढ किया। अपनी शक्ति अधिक बढाने के लिए उसने चित्तौड से प्रस्थान किया और वह बयाना दुर्ग की तरफ बढा और उसे ले लिया। मुहम्मद लोदी से भी उस समय बाबर को

---

will move on Agra But I beat Ibrahim, I took Delhi and Agra, and up to now that Pagan has given no sign so ever of moving"
—*Babarnama*, Vol II, p 529

[१८] रशब्रुक विलियम्स, एन एम्पायर बिल्डर ऑफ दि सिक्सटीन्थ सेन्चुरी, पृ० १२७, डी रोज, केम्ब्रिज हिस्ट्री, भा० ३, पृ० ५२९, एरिस्किन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० १, पृ० ४६२

यहाँ से भगाने के सम्बन्ध मे बातचीत की गयी। सागा ने अनेक स्थानो पर भी इस समय अधिकार स्थापित कर एक तरह से नव-स्थापित मुगल सत्ता को चुनौती दी।[१६]

बाबर भी इन सभी कार्यवाही को समझ रहा था। राजपूत-अफगान सगठन उसके लिए हानिकारक था, जबकि वह दृढता से यहाँ मुगल सत्ता स्थापित करना चाहता था। राणा के अधिकार मे आये हुए भागो से भागी हुई मुस्लिम जनता ने बाबर को अवश्य उकसा दिया हो जिससे उसने सागा के विरुद्ध कदम उठाना उचित समझा। इसीलिए उसने सागा की स्वीकृति का बहाना ढूँढकर उसे दोषी ठहराया और उसके विरुद्ध युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दी।[२०]

ऊपर दिये गये कारणो मे एक कारण स्पष्ट है कि दोनो शत्रु एक-दूसरे की शक्ति के परिवर्द्धन से भयभीत थे। दोनो का उत्तरी भारत मे एक साथ रहना वैसा ही था जैसे एक म्यान मे दो तलवारें। बाबर ने जब आते ही पजाब ले लिया और वहाँ शासन-व्यवस्था जमाने लगा तो सागा के लिए यह स्थिति असह्य थी। वह सम्भवत यह समझे बैठा था कि अन्य आक्रमणकारियो की भाँति बाबर आयेगा और लूट-खसोट के बाद चल देगा। परन्तु उसने वे प्रयत्न करने आरम्भ कर दिये जो सुदृढ राज्य-व्यवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक थे। बात तो यह थी कि उत्तरी भारत मे अपने अधिकार को बनाये रखने के लिए दोनो के बीच मे शत्रुता बढने के मौलिक कारण राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक थे। सागा और बाबर की इस देश मे वही स्थिति थी जो एक-दूसरे पर घात लगाये हुए शेरो की होती है।[२१]

खानवा का युद्ध—इधर सागा अपनी शक्ति का सगठन कर अपने राज्य-विस्तार की योजना मे व्यस्त था तो बाबर सागा का सामना करने के उपाय मे लग रहा था। उसने शीघ्र ही इधर-उधर गयी हुई सेना को एकत्र करना आरम्भ किया। अन्य स्थानों से तुर्की सरदारो को एव शाहजादे हुमायूँ को जौनपुर से बुला लिया। पाँच दिन आगरा मे ठहरकर सीकरी की ओर वह बढा जहाँ पानी और रसद के जुटाने की व्यवस्था की गयी। वह स्वय मोर्चाबन्दी करने लगा। अभाग्यवश इसी समय बयाने के युद्ध से लौटे हुए सिपाहियो ने राजपूतो के युद्ध-कौशल की प्रशसा करना शुरू की जिसके फलस्वरूप बाबर की सेना मे एक भय और आतक का वातावरण बन गया। इन्ही दिनो काबुल से आने वाले एक ज्योतिषी मुहम्मद शरीफ ने भी यह प्रचार

---

[१६] मेवाड का सक्षिप्त इतिहास, पत्र, १३५-३६, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० २०-२६

[२०] बाबरनामा, पृ० ५६२-६३ आदि

[२१] "Thus religious hatred added to the political and economic causes brought about a complete rupture between the two indomitable rivals Their was the case of two swords in a scabbard or of two lions at bay at each other"
—G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, p 26

करना आरम्भ कर दिया कि बाबर के यह उसके अनुकूल नही है। मुगल सेना मे पहले से ही भय और निराशा छा रही थी कि इस प्रकार की भविष्यवाणी ने सैनिको को और हतोत्साहित कर दिया।[२२]

स्थिति को काबू मे लाने के लिए बाबर को एक युक्ति सूझी। उसने धर्माज्ञा के विरुद्ध अपनाये गये आचरणो का प्रायश्चित्त करने का यह उपयुक्त अवसर समझ २५ फरवरी, १५२७ ई० को शराब न पीने की प्रतिज्ञा की। जितने भी सोने-चाँदी की सुराहियाँ और प्याले व अन्य इससे सम्बन्धी उपकरण थे उन्हे तुडवा दिये और गरीबो को बाँट दिये। जीवन-मरण की घटना को साधारण बताते हुए उसने एक भाषण भी अपने सैनिको के समक्ष दे डाला, जिससे उन्हे जीवन का सदुपयोग करने की प्रेरणा मिले।[२३] वास्तव मे इस युक्ति की अच्छी प्रतिक्रिया हुई। हताश सैनिको मे नये जोश का सचार हुआ और वे फिर लडने के लिए कटिबद्ध हो गये। उनमे नया बल पैदा करने के लिए उसने कुछ सिपाहियो को अँधेरे-अँधेरे काबुल के मार्ग से गुजरने के भी आदेश दिये, जिससे सैनिको को यह भय भी पैदा हो जाय कि बाबर के पास नयी सेना का जत्था आ पहुँचा है।

इस दृढ-प्रतिज्ञ सेना को लेकर बाबर खानवा के मैदान मे आ डटा। यहाँ खाइयाँ खोदी गयी, तोपो की गाडियो को जजीरो से बाँधा गया। गोलन्दाजो और बन्दूकचियो तथा घुडसवारो को लगभग उसी तरह जमाया गया जैसा पानीपत के मैदान मे उन्हे जमाया गया था। बाबर स्वय रिजर्व मे सभी व्यवस्था के निरक्षण के लिए रहा।[२४]

इधर राणा सागा जिसको सभी जगह सफलता ही सफलता मिल रही थी जातीय गौरव और शौर्य के भावावेश मे शनै-शनै शत्रु का सामना करने के लिए आगे बढा। १६ फरवरी, १५२७ की बयाना विजय के बाद टेढे-मेढे रास्ते से भुसावर होता हुआ सागा १३ मार्च, १५२७ को खानवा के निकट पहुँचा जहाँ उसकी अनावश्यक विलम्ब ने बाबर को सैन्य सगठन के लिए अच्छा अवसर दे दिया था। सागा के लिए अब सेना के जमाव को बहुत कम समय था और युद्ध-स्थल भी ऐसा बचा था जो सैन्य दृष्टि से अधिक उपयोगी न था। राणा की सेना मे महमूद लोदी, मारवाड के राव गागा की सेना, आम्बेर का राजा पृथ्वीराज, ईडर का राजा भारमल, वीरमदेव मेडतिया, वागड का उदयसिह, मेदिनीराय, बीकानेर का कुँवर कल्याणमल आदि योद्धा ससैन्य उपस्थित थे। इन्हे चार भागो मे विभाजित कर स्वय राणा ने हाथी पर बैठकर सेना-सचालन का काम सँभाला। इतनी बडी सेना की व्यवस्था भी ठीक नही

---

[२२] बाबरनामा, बैवरिज, पृ० ५५०-५६

[२३] वही, पृ० ५५०-५७

[२४] वही, पृ० ५६३-६८, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ३३-३५

जमने पायी थी कि १७ मार्च, १५२७ ई० को प्रात साढे नौ बजे के लगभग युद्ध आरम्भ हो गया। पहली मुठभेड मे राजपूत बाजी ले गये परन्तु क्रमश मुगल सेना बढती गयी, जिसके फलस्वरूप राणा के कई वीर खेत रहे। स्वय राणा के एक तीर लगने से वह मूर्च्छित हो गया, जिसे युक्ति से उसी अवस्था मे दूर ले जाया गया। बचे हुए राजपूत सैनिक लडकर काम आये और विजयश्री बाबर के हाथ लगी। उसने शत्रुओ की हताहतो की खोपडियो को बटोरकर मीनार खडी की और वह गाजित्व-प्राप्ति के श्रेय का भागी बना।[२५]

राणा की पराजय के कारण—राजपूत पक्ष के इतिहासकार[२६] राणा की पराजय का कारण सिलहदी तवर का शत्रुओ से मिलना बताते हैं। परन्तु इसको मुख्य रूप से कारण मानना ठीक नही, क्योकि सिलहदी ने राजपूत दल को राणा के युद्ध-स्थल से प्रयाण के बाद बदला था, जब राजपूत सैनिक अपना अन्तिम प्रयत्न कर रहे थे। इस समय तक पराजय हो चुकी थी। हार के कारणो मे प्रथम तो राणा की सेना मे विविध वशीय सैनिक थे जो अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार युद्ध मे सम्मिलित हुए थे, और जिनका सम्बन्ध जितना राणा से न था उतना अपने वशीय नेता से था। ऐसी स्थिति मे सम्पूर्ण सेना पर राणा का प्रभाव नाममात्र का ही था। इस प्रकार की सेना मे अनुशासन का एकसूत्र रहना सम्भव नही था। प्रत्येक दल अपने शौर्य के प्रदर्शन के लिए अपने ढग से लडता था, जिसका सम्पूर्ण समूह से कोई तारतम्य नही बैठता था। ऐसी सेना एक अव्यवस्थित भीड से किसी प्रकार कम नही थी। इसके विपरीत बाबर का सैन्य-बल एक नेतृत्व को स्वीकार करता हुआ अनुशासित रूप मे लड रहा था। अनजान देश मे होने से उनमे लडने की लगन राजपूतो की तुलना मे भी अधिक थी। यदि राजपूत हारते हैं तो उन्हे अपने देश मे जीवित रहने की बहुतेरी ठौर थी, परन्तु मुगल सैनिक के लिए यहाँ कोई स्थान न था। राजपूत अधिकाश मे पैदल दल के रूप मे थे जबकि मुगलो की सेना अधिकाश मे घुडसवारो की थी। द्रुत गति तथा पैतरो की चाल मे पैदल और घुडसवारो का कोई मुकाबला नही था। इसी तरह से बारूद के प्रयोग, तोपें और बन्दूको की तुलना मे तीर, कमान, भाले, तलवारें, बर्छियाँ आदि निम्न प्रकार के शस्त्र थे। इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि 'तीर गोली का जवाब नही दे सकते थे।'[२७] दोनो की युद्ध-पद्धति और मोर्चो की जमावट मे बहुत अन्तर था। मुगल रिजर्व तथा घुमाव पद्धति को प्राधान्यता देते थे और

---

२५ बाबरनामा, पृ० ५६८-७४, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ३६-४०

२६ टॉड, राजस्थान, भा० १, पृ० ३५६, सागा, पृ० १५४, वीरविनोद, भा० १, पृ० ३६६

२७ "Arrows could not answer bullets" —G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, p 41

वारी-वारी से इनका प्रयोग करते थे। साथ ही साथ इनमे तोपो व घुडसवारो की आक्रमण-विधि मे एक सन्तुलन था। राजपूत एक धक्के की विधि से शत्रु दल मे भगदड पैदा कर सकते थे, परन्तु उनके प्रत्याक्रमण का प्रत्युत्तर देने के लिए असमर्थ थे। जहाँ मुगल नेता 'रिजर्व' मे रहते हुए युद्ध सचालन करता था, वहाँ राजपूत नेता हाथी पर वैठकर स्वय सभी वारो का शीघ्र ही शिकार वन जाता था। सागा ने कभी नये सैनिक अनुभवो को अपनी सैन्य व्यवस्था मे स्थान नही दिया, क्योकि राजपूत सैनिक परम्परागत युद्ध की गति विधि से परिचित थे और उसी मे विश्वास रखते थे। मुगल-व्यवस्था एक परिष्कृत सैनिक व्यवस्था थी जिसमे अफगानो, उजवेगो, तुर्को, मगोलो, फारसी, भारतीय आदि की युद्ध प्रणालियो को समावेशित किया गया था। ऐसी स्थिति मे पुरातन और नवीन पद्धति की कोई तुलना न थी। सागा ने वयाना और खानवा की घटना के वीच लगभग एक मास का अवसर देकर शत्रु को सचेत कर अपना ही अनहित किया। विजय की मस्ती मे राणा आने वाली पराजय की आशकाओ को भूल गया। यह विस्मृति राजपूत प्रतिष्ठा के लिए अन्त मे घातक सिद्ध हुई।[२८]

एलफिन्स्टन[२९] ने लिखा है कि यदि राणा मुसलमानो की पहली घवराहट पर ही आगे वढ जाता, तो उसकी विजय निश्चित थी। डा० ओझा[३०] के अनुसार इस पराजय का मुख्य कारण महाराणा सागा का प्रथम विजय के वाद तुरन्त ही युद्ध न करके वावर को तैयारी करने का पूरा समय देना ही था। यदि वह वयाना की पहली लडाई के वाद ही आक्रमण करता, तो उसकी जीत निश्चित थी।

खानवा के युद्ध का महत्त्व—इस युद्ध के पराजय के कारण कुछ भी रहे हो, खानवा युद्ध के परिणाम वडे महत्त्वपूर्ण थे। इससे राजसत्ता राजपूतो के हाथो से निकल कर मुगलो के हाथ मे आ गयी जो लगभग २०० वर्ष से अधिक समय तक उनके पास वनी रही। यहाँ से उत्तरी भारत का राजनीतिक सम्वन्ध मध्य एशियाई देशो से पुन स्थापित हो गया और भारतीय उत्तरी-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा का नया अध्याय यहाँ से आरम्भ हुआ। युद्ध शैली मे भी एक नये सामजस्य का मार्ग खुल गया, जव परास्त राजपूतो ने देखा कि उनके प्राचीन शस्त्र गोला-वारूद के समक्ष नगण्य सिद्ध हुए। मुगलो के इस प्रथम राजपूत सम्पर्क ने इस ओर सकेत किया कि वे परास्त तो हो चुके थे परन्तु इनकी एक शक्ति थी जिसको किसी न किसी रूप मे मान्यता देना होगा। ये मानना कि खानवा की पराजय राजपूतो का सर्वनाश था, भूल है। उनमे फिर भी सगठन था। इस युद्ध मे राजपरिवार के कई प्रमुख व्यक्ति मारे गये थे फिर भी लगभग थोडे ही समय मे उनकी शक्ति अकवर के लिए एक समस्या वन गयी। वावर की

---

[२८] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ४१-४२

[२९] हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ४२३

[३०] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३७९

तो हिम्मत इनको आगे बढकर समाप्त करने की न रही । अलबत्ता सदियो से अर्जित प्रतिष्ठा को इस युद्ध से बडा धक्का पहुँचा जिसको समय की गति भी न भुला सकी ।[31]

सागा के अन्तिम दिन—मूर्च्छित अवस्था मे सागा पालकी मे बसवा ले जाया गया । ज्योही उसको होश आया वह पुन युद्ध-स्थल जाने के लिए उद्यत हुआ, परन्तु जब उसे वस्तु-स्थिति से परिचय कराया गया तब उसने बिना बाबर को परास्त किये चित्तौड लौटने से इन्कार कर दिया । जब तक वह अपने मतव्य की सिद्धि नही कर लेता उसने पगडी बाँधना तक बन्द कर दिया । केवल एक चीरा लपेटकर रहने लगा और दूसरे युद्ध की तैयारी मे लग गया । उसने फिर मे चारो ओर अपने सामन्तो को रण-स्थल मे उपस्थित होने के पत्र लिखे और स्वय ईरिच के मैदान मे बाबर से टक्कर लेने के लिए आ डटा । जब उसके साथियो ने देखा कि इस बार पराजय से मेवाड का सर्वनाश होगा तो उन्होने मिलकर उसे विष दे दिया, जिसके फलस्वरूप ३० जनवरी, १५२८ को उसकी मृत्यु हो गयी । उसका शव कालपी से माण्डलगढ ले जाया गया जहाँ उसका समाधि-स्थल आज भी उस महान योद्धा का स्मरण दिला रहा है ।[32]

सागा का व्यक्तित्व—डा० ओझा ने महाराणा सग्रामसिंह के जीवन का उचित मूल्याकन किया है जो उद्धृत करने योग्य है । वे लिखते है, "महाराणा सागा वीर, उदार, कृतज्ञ, बुद्धिमान और न्याय परायण शासक था । अपने शत्रु को कैद करके छोड देना और उसे पीछे राज्य दे देना सागा जैसे ही उदार और वीर पुरुष का कार्य था । वह एक सच्चा क्षत्रिय था, उसने कितने ही शाहजादो, राजाओ आदि को अपनी शरण मे आने पर अच्छी तरह रखा और आवश्यकता पडने पर उनके लिए युद्ध भी किया । प्रारम्भ से ही आपत्तियो मे पलने के कारण वह निडर, साहसी, वीर और एक अच्छा योद्धा बन गया था, जिससे वह मेवाड को एक साम्राज्य बना सका । मालवा के सुल्तान को परास्त कर और उससे रणथम्भौर, गागरोन, कालपी, भिलसा तथा चन्देरी

---

[31] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ४२

"So far as the expansion of Mughal power was concerned, the consequences of the battle of Khanua were immense, the victory shifted the sovereignty of the country from the Rajputs to the Mughals Though it weakened the power of the kingdom of Mewar and lowered its general prestige, it did not destroy the grip of the Sisodias over their own kingdom, nor did it affect the social and economic conditions of life in the state"
—G N Sharma, Rajasthan, *A Comprehensive History of India*, Vol V, p 802

[32] अकबरनामा (फारसी), भा १, पृ० १५६, अमर काव्य वशावली, पत्र ३१, रावल राणाजी की बात, पत्र ८१, मेवाड का सक्षिप्त इतिहास, पत्र १४५, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ४४

जीतकर उसने अपने राज्य को वहुत वढा दिया था। राजपूताने के वहुधा सभी तथा कई वाहरी राजा आदि भी उसको अधीनता या मेवाड के गौरव के कारण मित्र भाव से उसके झण्डे के नीचे लडने मे अपना गौरव समझते थे। सागा अन्तिम हिन्दू राजा था, जिसके सेनापतित्व मे सव राजपूत जातियाँ विदेशियो को भारत से निकालने के लिए सम्मिलित हुई। साँगा ने दिल्ली के सुल्तान को भी जीतकर आगरे के पास पीलिया खाल को अपने राज्य की उत्तरी सीमा निश्चित की। गुजरात, मालवा और दिल्ली के सुल्तानो को परास्त कर उसने महाराणा कुम्भा के आरम्भ किये हुए कार्य को आगे वढाया। वावर लिखता है कि उसका मुल्क १० करोड की आमदनी का था, उसकी सेना मे १०,०००० सवार थे। उसके साथ ७ राजा, ९ राव और १०४ छोटे सरदार रहा करते थे। उसके तीन उत्तराधिकारी भी यदि वैसे ही वीर और योग्य होते, तो मुगलो का राज्य भारतवर्ष मे जमने न पाता।"[33]

इतिहास मे महाराणा सागा का नाम भारतीय अन्तिम हिन्दू सम्राट के रूप मे अमर है, जिसने अपने नेतृत्व मे सव राजपूत जातियो को विदेशी आक्रमणो को रोकने और उनसे वीरता से मुकावला करने के लिए सगठित किया। महाराणा के सेनापतित्व मे १०८ से ऊपर राजा-महाराजा लडते थे। सागा का समय शान्ति का न था। वह समय लडाई, निरन्तर युद्ध और पराक्रमण से देश रक्षा का था। अवसर को पहचान कर महाराणा ने जातीय जीवन को स्थिर करने के लिए और देश के सम्मान को वढाने के लिए भरसक प्रयत्न किया। ऊँचे आदर्शो और देशाभिमान से प्रेरित होकर उस समय की जनता ने महाराणा का पूरा साथ दिया। यही कारण था कि महाराणा ने कई वार दिल्ली, माण्डू और गुजरात के शासको को हराया, वल्कि उन्हे बन्दी बनाकर छोड दिया। इस सम्वन्ध मे एक प्राचीन गीत भी प्रचलित है जिसमे महाराणा की वीरता और उदारता की प्रशसा की गयी है

"जण महैमद वन्दियों सुजड सेहैं सेन सागारं।
मुदाकर गलमाल अपद उभराव उतारं।"

वास्तव मे जव तक सागा जीवित रहा उसने गुजरात, मालवा और दिल्ली के सुल्तानो को अपने साहस और वल के आतक से अपनी सीमा की ओर न बढने दिया। इस सम्वन्ध मे एक कवि ने ठीक ही कहा है कि उसके लिए सुल्तान पकडना और छोड देना एक साधारण-सी वात है। इस आशय का गीत इस प्रकार है

सझवो सेल वाहियो असभर घूपटवो अवर नवर धरा।
साहा पकड छोडवो सागा ऐसा खेल हमीर हरा।
इब्राहीम पूरव दिसा न उलटै।
पछम मुदाकर न दै पयाण।
दपणी महमद साह न दौडै।
सागा दामण वहु सुरताण।

[33] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३८५-८६

सागा ने अपने देश के गौरव-रक्षा मे एक आँख, एक हाथ और एक टाँग तुडवा दी थी। इसके अतिरिक्त उसके शरीर के भिन्न-भिन्न भागो पर ८० तलवार के घाव लगे हुए थे। फिर भी वह अन्तिम समय तक युद्ध मे लडता रहा। उसका फौलादी शरीर मृत्यु समय तक भी लडने के लिए वज्र की भाँति मजबूत बना रहा। उसने अपने चरित्र वल से उस जमाने मे इस बात की पुष्टि कर दी थी कि उच्च पद और चतुराई की अपेक्षा स्वदेश रक्षा और मानव धर्म का पालन करने की क्षमता का अधिक महत्त्व है। उसने हिम्मत, मरदानगी और वीरता के आचरण को अपनाकर अपने आपको अमर वनाया। आज भी उसके जीवन के उद्देश्य और आचरण भारतीय जनता के लिए आदर्श बने हुए है।

फिर भी हम यह कहे बिना नही रह सकते कि सागा मे वैसे साहस और शौर्य की कोई कमी न थी परन्तु विदेशी शत्रु की चाल और युद्ध कौशल के अनुरूप अपनी युद्ध शैली को मोडने की सूझबूझ की उसमे कमी थी। सागा और बाबर का युद्ध तलवार और गोलो का युद्ध था। ऐसे युद्ध मे उसे युक्ति से काम लेना था, इस पर उसने कोई विचार नही किया। जिस समय बाबर के सिपाही राजपूतो की वीरता से भयभीत थे तो राणा सागा बयाना विजय के बाद कई दिनो के अनन्तर खानवा पर पहुँचा। यदि मुगली भगदड के समय ही वह शीघ्रातिशीघ्र उस स्थान पर पहुँच जाते तो सम्भवत भारतवर्ष का इतिहास ही कुछ और होता। अपने जीवन की सबसे बडी भूल उसने यह भी की कि वह राजपूतो के बहु-विवाह के दोष से बच नही सका। "अपने छोटे लडको को रणथम्भौर जैसी बडी जागीर देकर उसने भविष्य के लिए एक काँटा बो दिया।" यह उसकी एक राजनीतिक भूल थी। उसके बृहत् राज्य के टुकडे होने से मेवाड की शक्ति क्षीण हो गयी। ऐसी स्थिति मे बहादुरशाह जैसे प्रबल शत्रु से मेवाड रौदा गया।[३४]

सागा के उत्तराधिकारी (१५२८-१५३७)—सागा की मृत्यु के बाद मेवाड की राजनीतिक स्थिति बडी शोचनीय हो चली। दस वर्ष की अवधि मे मेवाड की राजगद्दी पर तीन शासक—रत्नसिह (१५२८-१५३१ ई०), विक्रमादित्य (१५३१-१५३६ ई०) और बणवीर (१५३६-१५३७ ई०) बैठे। इन तीनो के राजत्वकाल मे महाराणा कुम्भा और सागा की परम्पराओ को आपसी विद्वेष, स्वजनो की हत्याएँ या हत्या के प्रयत्न और पराजय की घटनाओ से काफी धक्का पहुँचा। इन अपमानजनक घटनाओ को जितना कम दोहराया जाय उतना ही श्रेयस्कर होगा। रत्नसिह के राजत्व काल मे राणा सागा की हाडी रानी कर्मवती ने बाबर को रणथम्भौर देना स्वीकार किया, यदि

---

३४ 'This act of political blunder ushered in again a period of inglorious civil war and sowed the seed of rivalry and class feuds which checked the political progress and marred the prestige of Sisodias"—G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, p 46

वह उसके लडके विक्रमादित्य के लिए चित्तौड की गद्दी दिलाने मे सहायता करे। ये कितनी घृणित चाल थी। भाग्यवश बावर की मृत्यु हो जाने से ऐसी सहायता उपलब्ध नही हो सकी। इसी समय रत्नसिह और सूरजमल हाडा मे भी घरेलू झगडो को लेकर वैमनस्य वढ गया, जिसके फलस्वरूप १५३१ ई० मे शिकार के अवसर पर दोनो की मृत्यु हो गयी। विक्रमादित्य जव मेवाड का शासक वना तो हाडी कमवती के व्यवहार से स्थानीय सामन्त बडे असन्तुष्ट रहने लगे। राणा पहलवानो और तमाशबीनो के सहवास मे रहकर राजकाज की उपेक्षा करता था। उसी के समय मे वहादुरशाह के दो आक्रमण हुए जिसमे मेवाड को धन और जन की हानि उठानी पडी। कुंवर पृथ्वीराज के अनौरस पुत्र वणवीर ने अवसर पाकर विक्रमादित्य की हत्या कर दी और स्वय मेवाड का स्वामी वन वैठा। वणवीर इससे ही सन्तुष्ट नही था। वह विक्रमादित्य के दूसरे भाई उदयसिह को भी मारकर निश्चिन्त राज्य भोगना चाहता था। परन्तु राजपूत सरदारो ने पन्ना धाय के सहयोग से किसी प्रकार उदयसिह को इस स्थिति से वचा लिया और वणवीर को राज्य छोडकर भागने के लिए विवश होना पडा।[३५]

महाराणा उदयसिह (१५३७-१५७२ ई०)

महाराणा उदयसिह का प्रारम्भिक जीवन अपने पिता की भाँति कष्टो से गुजरा था। वणवीर ने जव देखा कि विक्रमादित्य के मारने से उसका काम पूरा नही होता, तो उसने सागा के पाँचवें पुत्र उदयसिह को भी मारने का प्रयत्न किया, जो मेवाड का वास्तविक स्वामी हो सकता था। इस भय से वचाने के लिए पन्ना धाय कुछ सरदारो के सहयोग से उदयसिह को चित्तौड से निकालकर कुम्भलगढ ले गयी। अकुलीन होने से वणवीर से स्वाभिमानी मेवाडी सरदार घृणा करते थे। वे एक-एक कर कुम्भलगढ चले गये और उदयसिह के नेतृत्व मे शक्ति का सगठन करने लगे। कोठारिया, केलवा, बागोर आदि ठिकानो के जागीरदारो ने मिलकर उसे राजगद्दी पर भी बिठा दिया। सोनगरे अखेराज की पुत्री से विवाह होने पर उदयसिह के समर्थको की सख्या बढ गयी। कई राठौड सरदारो का भी उसे सहयोग मिल गया। अवसर पाकर उदयसिह ने वणवीर पर आक्रमण कर दिया, जिसमे वणवीर या तो मारा गया या भाग गया। इस प्रकार १५४० ई० मे उदयसिह अपनी योग्यता से पूरे पैतृक राज्य का स्वामी बना।[३६]

उदयसिह का पडोसी राज्यों से सम्बन्ध—अपने प्रारम्भिक काल मे ही, जैसा हमने देखा, उदयसिह के सम्वन्ध सोनगरे अखेराज से अच्छे हो गये थे। इस स्थिति से उसकी ख्याति राठौड सरदारो मे भी हो गयी और वे उसके समर्थक हो गये। परन्तु अभाग्यवश उसके सम्वन्ध मालदेव से अच्छे न रह सके। राव मालदेव ने बलात् खैरवे

---

[३५] ब्रि`ज, फरिश्ता, जि० ४, पृ० १२४-२६, वेले, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० ३७०-३८६, वीरविनोद, भा० २, पृ० २७-५५

[३६] वीरविनोद, भा० २, पृ० ६२-६३, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४०२-०३

के ठाकुर जैत्रसिंह की दूसरी पुत्री, जो अधिक सुन्दर थी, विवाह करना चाहा, जबकि उसने उसकी बड़ी लड़की स्वरूपदेवी से पहले ही विवाह कर लिया था। जैत्रसिंह को यह बात अच्छी नहीं लगी। उसने मालदेव की नाराजगी से बचने के लिए अपनी कन्या का विवाह उदयसिंह से कर दिया। इस घटना से अप्रसन्न होकर मालदेव ने कुम्भलगढ़ पर आक्रमण कर दिया, परन्तु उसमें उसे सफलता न मिली। इस विजय का एक राजनीतिक महत्त्व था। बूँदी में भी महाराणा ने अपने आश्रित सुर्जन हाडा को गद्दी पर बिठाकर अपना राजनीतिक प्रभाव परिवर्द्धित किया। निकट पडोसी सिरोही राज्य में भी उदयसिंह ने अपनी हस्तक्षेप नीति से प्रभाव स्थापित किया था।[३७] राजपूत सरदारों और छोटे राज्यों में मेल बढ़ाकर तथा शक्तिशाली राज्यों को दबाकर वह एक शक्ति-सन्तुलन बनाये रखना चाहता था।

उदयसिंह और अफगानी शक्ति—शेरशाह १५४३ ई० की मारवाड विजय के बाद चित्तौड की ओर बढ़ा। राणा उदयसिंह को अभी चित्तौड का काम हाथ में लिये केवल तीन ही वर्ष हुए थे, अतएव उसने इस भय में चित्तौड को मुक्ति करने की युक्ति सोच निकाली। राणा ने किले की कुंजियाँ शेरशाह के पास भेज दी जिससे सन्तुष्ट होकर आक्रमणकारी लौट गया। केवल उसने ख्वासखाँ को अपने राजनीतिक प्रभाव बनाये रखने के लिए चित्तौड रखा। उदयसिंह की वास्तव में यह एक अच्छी सूझ थी। वह शेरशाह की मनोवृत्ति को भलीभाँति समझ गया। मारवाड विजय में उसे बड़े कष्टों का सामना करना पडा था। वह इस तरह की घटना मेवाड के सम्बन्ध में नहीं दोहराना चाहता था। वह केवल अपने राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने में ही सन्तुष्ट था। उदयसिंह ने परिस्थिति को पहचानकर उसी के अनुकूल आचरण किया। इस प्रकार अपने राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षों में होने वाले अफगानी अभियान को तो राणा ने युक्ति से टाल दिया, परन्तु जब शेरशाह की मृत्यु हो गयी तो उसने नाममात्र के प्रभाव को भी चित्तौड में समाप्त करने के लिए वहाँ से अफगानी अधिकारी को निकाल दिया। आगे चलकर तो उसमें इतनी क्षमता पैदा हो गयी थी कि उसने १५५७ ई० में अजमेर के अफगानी हाकिम हाजीखाँ पठान को, जिसने राणा की शक्ति को चुनौती दी थी, परास्त किया। उदयसिंह की अफगानों के सम्बन्ध की नीति में एक व्यावहारिकता थी।[३८]

उदयसिंह की नयी सैनिक नीति—वैसे तो उदयसिंह ने शेरशाह की बढ़ती हुई शक्ति से मेवाड को बचा लिया और धीरे-धीरे नाममात्र के अफगानी प्रभाव को भी चित्तौड से समाप्त कर दिया, परन्तु इस स्थिति ने उसे अपनी नयी सैनिक नीति को

---

[३७] वीरविनोद, भा० २, पृ० ६३-७०, मारवाड की ख्यात, जि० १, पृ० १०८-०९, नैणसी री ख्यात, पत्र २७-३१

[३८] अब्बास, तारीखे शेरशाही, पत्र ६९-७०, कानूनगो, शेरशाह, पृ० ३२६, फरिश्ता (फारसी), पृ० २२८, जी०एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ६१-६३

के ठाकुर जैत्रसिंह की दूसरी पुत्री, जो अधिक सुन्दर थी, विवाह करना चाहा, जबकि उसने उसकी बडी लडकी स्वरूपदेवी से पहले ही विवाह कर लिया था। जैत्रसिंह को यह बात अच्छी नही लगी। उसने मालदेव की नाराजगी से बचने के लिए अपनी कन्या का विवाह उदयसिंह से कर दिया। इस घटना से अप्रसन्न होकर मालदेव ने कुम्भलगढ पर आक्रमण कर दिया, परन्तु उसमे उसे सफलता न मिली। इस विजय का एक राजनीतिक महत्त्व था। बूँदी मे भी महाराणा ने अपने आश्रित सुर्जन हाडा को गद्दी पर बिठाकर अपना राजनीतिक प्रभाव परिवर्द्धित किया। निकट पडोसी सिरोही राज्य मे भी उदयसिंह ने अपनी हस्तक्षेप नीति से प्रभाव स्थापित किया था।[३७] राजपूत सरदारो और छोटे राज्यों से मेल बढाकर तथा शक्तिशाली राज्यो को दबाकर वह एक शक्ति-सन्तुलन बनाये रखना चाहता था।

उदयसिंह और अफगानी शक्ति—शेरशाह १५४३ ई० की मारवाड विजय के बाद चित्तौड की ओर बढा। राणा उदयसिंह को अभी चित्तौड का काम हाथ मे लिये केवल तीन ही वर्ष हुए थे, अतएव उसने इस भय मे चित्तौड को मुक्ति करने की युक्ति सोच निकाली। राणा ने किले की कुंजियाँ शेरशाह के पास भेज दी जिससे सन्तुष्ट होकर आक्रमणकारी लौट गया। केवल उसने ख़वासखाँ को अपने राजनीतिक प्रभाव बनाये रखने के लिए चित्तौड रखा। उदयसिंह की वास्तव मे यह एक अच्छी सूझ थी। वह शेरशाह की मनोवृत्ति को भलीभाँति समझ गया। मारवाड विजय मे उसे बडे कष्टो का सामना करना पडा था। वह इस तरह की घटना मेवाड के सम्बन्ध मे नहीं दोहराना चाहता था। वह केवल अपने राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र को बढाने मे ही सन्तुष्ट था। उदयसिंह ने परिस्थिति को पहचानकर उसी के अनुकूल आचरण किया। इस प्रकार अपने राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षो मे होने वाले अफगानी अभियान को तो राणा ने युक्ति से टाल दिया, परन्तु जब शेरशाह की मृत्यु हो गयी तो उसने नाममात्र के प्रभाव को भी चित्तौड मे समाप्त करने के लिए वहाँ से अफगानी अधिकारी को निकाल दिया। आगे चलकर तो उसमे इतनी क्षमता पैदा हो गयी थी कि उसने १५५७ ई० मे अजमेर के अफगानी हाकिम हाजीखाँ पठान को, जिसने राणा की शक्ति को चुनौती दी थी, परास्त किया। उदयसिंह की अफगानो के सम्बन्ध की नीति मे एक व्यावहारिकता थी।[३८]

उदयसिंह की नयी सैनिक नीति—वैसे तो उदयसिंह ने शेरशाह की बढ़ती हुई शक्ति से मेवाड को बचा लिया और धीरे-धीरे नाममात्र के अफगानी प्रभाव को भी चित्तौड से समाप्त कर दिया, परन्तु इस स्थिति ने उसे अपनी नयी सैनिक नीति को

---

३७ वीरविनोद, भा० २, पृ० ६३-७०, मारवाड री ख्यात, जि० १, पृ० १०८-०६, नैणसी री ख्यात, पत्र २७-३१

३८ अब्बास, तारीखे शेरशाही, पत्र ६६-७०, कानूनगो, शेरशाह, पृ० ३२६, फरिश्ता (फारसी), पृ० २२८, जी०एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ६१-६३

अवलम्बित करने के लिए सजग कर दिया। वह समझ गया कि जब बारूद का प्रयोग मुगलो की युद्ध प्रणाली का मुख्य अग बन गया है तो प्राचीन सुरक्षा के साधन, जिनमे किले मुख्य थे, उसकी तुलना मे नगण्य हैं। इसीलिए उसने शीघ्र ही १५५९ ई० से दक्षिण-पश्चिमी मेवाड के भाग को, जो पहाडियो की कतारो से आच्छादित था और जिसमे उपजाऊ उपत्यकाएँ और घाटियाँ थी, आबाद करना आरम्भ कर दिया। उसने उसी भाग मे उदयपुर नगर की नीव डाली और उसके आसपास गिरवा मे जनता को लाकर बसाना शुरू किया। उदय सागर के तालाब के निर्माण द्वारा लम्बे-चौडे मैदानी भाग मे खेती की सुविधा पैदा कर दी। हर कौम के लोगो को, जिनमे दस्तकार, काश्तकार, व्यापारी आदि सम्मिलित थे, चित्तौड के आसपास से बुलाकर गिरवा के इलाके मे बसाये गये। इस प्रयोग से उसने सम्भावित चित्तौड के आक्रमण से प्रजा की रक्षा करली। ये नयी बसायी गयी भूमि प्राकृतिक रूप से ही पहाडी अवलियो से सुरक्षित थी, जहाँ भारी बारूद की तोपे और घुडसवारो के जत्थे आसानी से विध्वस कार्य के लिए उपयोगी नहीं हो सकते थे। इस प्रकार की जनोपयोगी नीति उदयसिह की सैनिक नीति का एक अग था जिसका परीक्षण उसने प्रथम बार कर एक नयी पद्धति को जन्म दिया। यह नीति परम्परा से चली आने वाली नीति से विभिन्न थी।[३९]

इस नवीन नीति से उदयसिह ने अपने राज्य की व्यवस्था मे तथा जनजीवन मे स्थिरता ला दी। इसी प्रयोग से दक्षिण-पश्चिमी मेवाड के भू-भाग को वह अपने सीधे अधिकार मे भी ला सका। इस भाग के अर्द्ध स्वतन्त्र सामन्तो को, जिनमे जूडा, ओगना, पानरवा आदि मुख्य थे, दबाकर उसने अपने राज्य को भी विस्तारित किया।[४०]

अकबर की विस्तार नीति और उदयसिह—अभाग्यवश इस सुख और शान्ति को, जो उदयसिह ने अपनी नवीन नीति से पैदा की थी, नष्ट करने का प्रयत्न अकबर ने किया। अपनी विस्तार नीति के लिए अकबर राजपूत राजाओ की स्वतन्त्रता और उनके दुर्गो की दुर्गमता को बाधाजनक मानता था। मालवा और गुजरात के सूबे मुगल अधीनता मे तभी रह सकते थे जब दिल्ली से मार्ग मे पडने वाले दुर्ग मुगलो के अधिकार मे आ जायँ। ऐसा तभी सम्भव था जब राजस्थान के राजा अकबर की अधीनता स्वीकार कर लें। श्रद्धा और शक्ति के विचार से अधिकाश राजस्थानी नरेश मेवाड का नेतृत्व स्वीकार करते थे। मुगल सम्राट ने देखा कि यदि चित्तौड के दुर्ग को जीत लिया जाय तो बचे हुए राजस्थानी राज्यो पर प्रभाव स्थापित करना सरल होगा। अब तक आमेर के कछवाहो ने (१५६२ ई०) मुगलो से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था, परन्तु इसका प्रभाव अधिकाश राजपूत राजाओ पर नही पडा, क्योकि चित्तौड अभी तक अपने प्राचीन गौरव की दुहाई दे रहा था। यहाँ का महाराणा न केवल अपनी ही स्वतन्त्रता को थामे हुआ था, बल्कि अन्य शासको को भी उसे बचाये रखने के लिए प्रेरित करता

---

[३९] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ६३-६५
[४०] सीसोद वशावली, पत्र २३

के ठाकुर जैत्रसिंह की दूसरी पुत्री, जो अधिक सुन्दर थी, विवाह करना चाहा, जबकि उसने उसकी वडी लडकी स्वरूपदेवी से पहले ही विवाह कर लिया था। जैत्रसिंह को यह बात अच्छी नही लगी। उसने मालदेव की नाराजगी से बचने के लिए अपनी कन्या का विवाह उदयसिंह से कर दिया। इस घटना से अप्रसन्न होकर मालदेव ने कुम्भलगढ पर आक्रमण कर दिया, परन्तु उसमे उसे सफलता न मिली। इस विजय का एक राजनीतिक महत्त्व था। बूंदी मे भी महाराणा ने अपने आश्रित सुर्जन हाडा को गद्दी पर विठाकर अपना राजनीतिक प्रभाव परिवर्द्धित किया। निकट पडोसी सिरोही राज्य मे भी उदयसिंह ने अपनी हस्तक्षेप नीति से प्रभाव स्थापित किया था।[३७] राजपूत सरदारो और छोटे राज्यो से मेल वढाकर तथा शक्तिशाली राज्यो को दवाकर वह एक शक्ति-सन्तुलन वनाये रखना चाहता था।

उदयसिंह और अफगानी शक्ति—शेरशाह १५४३ ई० की मारवाड विजय के वाद चित्तौड की ओर वढा। राणा उदयसिंह को अभी चित्तौड का काम हाथ मे लिये केवल तीन ही वर्ष हुए थे, अतएव उसने इस भय मे चित्तौड को मुक्ति करने की युक्ति मोच निकाली। राणा ने किले की कुजियाँ शेरशाह के पास भेज दी जिससे सन्तुष्ट होकर आक्रमणकारी लौट गया। केवल उसने खवासखाँ को अपने राजनीतिक प्रभाव वनाये रखने के लिए चित्तौड रखा। उदयसिंह की वास्तव मे यह एक अच्छी सूझ थी। वह शेरशाह की मनोवृत्ति को भलीभाँति समझ गया। मारवाड विजय मे उसे वडे कष्टो का सामना करना पडा था। वह इस तरह की घटना मेवाड के सम्वन्ध मे नही दोहराना चाहता था। वह केवल अपने राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र को वढाने मे ही सन्तुष्ट था। उदयसिंह ने परिस्थिति को पहचानकर उसी के अनुकूल आचरण किया। इस प्रकार अपने राज्यकाल के प्रारम्भिक वर्षो मे होने वाले अफगानी अभियान को तो राणा ने युक्ति से टाल दिया, परन्तु जब शेरशाह की मृत्यु हो गयी तो उसने नाममात्र के प्रभाव को भी चित्तौड मे समाप्त करने के लिए वहाँ से अफगानी अधिकारी को निकाल दिया। आगे चलकर तो उसमे इतनी क्षमता पैदा हो गयी थी कि उसने १५५७ ई० मे अजमेर के अफगानी हाकिम हाजीखाँ पठान को, जिसने राणा की शक्ति को चुनौती दी थी, परास्त किया। उदयसिंह की अफगानो के सम्वन्ध की नीति मे एक व्यावहारिकता थी।[३८]

उदयसिंह की नयी सैनिक नीति—वैसे तो उदयसिंह ने शेरशाह की वढती हुई शक्ति से मेवाड को वचा लिया और धीरे-धीरे नाममात्र के अफगानी प्रभाव को भी चित्तौड से समाप्त कर दिया, परन्तु इस स्थिति ने उसे अपनी नयी सैनिक नीति को

३७ वीरविनोद, भा० २, पृ० ६३-७०, मारवाड की ख्यात, जि० १, पृ० १०८-०९, नैणसी री ख्यात, पत्र २७-३१

३८ अब्वास, तारीखे शेरशाही, पत्र ६९-७०, कानूनगो, शेरशाह, पृ० ३२९, फरिश्ता (फारसी), पृ० २२८, जी०एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ६१-६३

अवलम्वित करने के लिए सजग कर दिया। वह समझ गया कि जव वारूद का प्रयोग मुगलो की युद्ध प्रणाली का मुख्य अग वन गया है तो प्राचीन सुरक्षा के माधन, जिनमे किले मुख्य थे, उसकी तुलना मे नगण्य हैं। इसीलिए उसने शीघ्र ही १५५६ ई० से दक्षिण-पश्चिमी मेवाड के भाग को, जो पहाडियो की कतारो से आच्छादित था और जिसमे उपजाऊ उपत्यकाएँ और घाटियाँ थी, आवाद करना आरम्भ कर दिया। उसने उसी भाग मे उदयपुर नगर की नीव डाली और उसके आसपास गिरवा मे जनता को लाकर वसाना शुरू किया। उदय सागर के तालाव के निर्माण द्वारा लम्वे-चौडे मैदानी भाग मे खेती की सुविधा पैदा कर दी। हर कौम के लोगो को, जिनमे दस्तकार, काश्तकार, व्यापारी आदि सम्मिलित थे, चित्तौड के आसपास से वुलाकर गिरवा के इलाके मे वसाये गये। इस प्रयाग से उसने सम्भावित चित्तौड के आक्रमण से प्रजा की रक्षा करली। ये नयी वसायी गयी भूमि प्राकृतिक रूप से ही पहाडी अवलियो से सुरक्षित थी, जहाँ भारी वारूद की तोपें और घुडसवारो के जत्थे आसानी से विध्वस कार्य के लिए उपयोगी नही हो सकते थे। इस प्रकार की जनोपयोगी नीति उदयसिह की सैनिक नीति का एक अग था जिसका परीक्षण उसने प्रथम वार कर एक नयी पद्धति को जन्म दिया। यह नीति परम्परा से चली आने वाली नीति से विभिन्न थी।[३६]

इस नवीन नीति से उदयसिंह ने अपने राज्य की व्यवस्था मे तथा जनजीवन मे स्थिरता ला दी। इसी प्रयोग से दक्षिण-पश्चिमी मेवाड के भू-भाग को वह अपने सीधे अधिकार मे भी ला सका। इस भाग के अर्द्ध स्वतन्त्र सामन्तो को, जिनमे जूडा, ओगना, पानरवा आदि मुख्य थे, दवाकर उसने अपने राज्य को भी विस्तारित किया।[४०]

अकबर की विस्तार नीति और उदयसिंह—अभाग्यवश इस सुख और शान्ति को, जो उदयसिंह ने अपनी नवीन नीति से पैदा की थी, नष्ट करने का प्रयत्न अकवर ने किया। अपनी विस्तार नीति के लिए अकवर राजपूत राजाओ की स्वतन्त्रता और उनके दुर्गो की दुर्गमता को वाधाजनक मानता था। मालवा और गुजरात के सूवे मुगल अधीनता मे तभी रह सकते थे जव दिल्ली से मार्ग मे पडने वाले दुर्ग मुगलो के अधिकार मे आ जायें। ऐसा तभी सम्भव था जव राजस्थान के राजा अकवर की अधीनता स्वीकार कर लें। श्रद्धा और शक्ति के विचार से अधिकाश राजस्थानी नरेश मेवाड का नेतृत्व स्वीकार करते थे। मुगल सम्राट ने देखा कि यदि चित्तौड के दुर्ग को जीत लिया जाय तो वचे हुए राजस्थानी राज्यो पर प्रभाव स्थापित करना सरल होगा। अव तक आमेर के कछवाहो ने (१५६२ ई०) मुगलो से मैत्री सम्वन्ध स्थापित किया था, परन्तु इसका प्रभाव अधिकाश राजपूत राजाओ पर नही पडा, क्योकि चित्तौड अभी तक अपने प्राचीन गौरव की दुहाई दे रहा था। यहाँ का महाराणा न केवल अपनी ही स्वतन्त्रता को थामे हुआ था, वल्कि अन्य शासको को भी उसे वचाये रखने के लिए प्रेरित करता

---

[३६] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परस, पृ० ६३-६५
[४०] नीमोद वशावली, पत्र २३

रहता था। बूंदी, सिरोही, डूंगरपुर आदि उसके निकटतम सहयोगी थे। मालवा के बाजबहादुर ने १५६२ ई० मे राणा की शरण ली थी। मेडता के जयमल को, जिसे शर्फउद्दीन हुसैन ने परास्त किया था राणा ने चित्तौड मे आश्रय दे रखा था। उदयसिह के ये ढग सीधे मुगल सत्ता को चुनौती दे रहे थे। इस परिस्थिति मे अकबर का चित्तौड पर आक्रमण करना आवश्यक हो गया।[४१]

आक्रमण करने का बहाना भी अकबर को मिल गया। एक दिन अकबर ने हंसी मे, धौलपुर के मुकाम पर, राणा के पुत्र शक्तिसिह को, जो राणा से अप्रसन्न होकर मुगल सेवा मे रहता था, सुनाकर यह कहा कि बडे-बडे जमीदार उसके अधीन हो गये है परन्तु राणा उदयसिह अब तक नही होने पाया है। इससे शक्तिसिह ने चित्तौड पर किये जाने वाले आक्रमण का सकेत प्राप्त कर लिया। वह बिना कहे ही मुगल खीमे से चल दिया और चित्तौड पहुँच अकबर के विचारो की सूचना महाराणा को दे दी। महाराणा ने सभी सरदारो को बुलाकर इस सम्बन्ध मे मन्त्रणा की। इसके द्वारा यह निश्चय किया गया कि जयमल पर तो चित्तौड की रक्षा का भार रखा जाये और स्वय राणा नव स्थापित राजधानी उदयपुर और उसके आसपास वाली गिरवा की बस्तियो की रक्षा करे। वैसे तो चित्तौड छोडना राणा को ठीक नही लगा, परन्तु सामन्तो की बैठक के निर्णय के अनुसार आचरण करने के लिए राणा को बाध्य होना पडा। अतएव राणा ने जयमल को चित्तौड सुपुर्द किया और उसे सभी स्थानीय सरदारो का नेता बनाया। दुर्ग मे खाने-पीने की तथा युद्ध-सम्बन्धी सामग्री जुटा दी गयी और कालपी से १००० बन्दूकचियो को बुलाकर किले की रक्षा के लिए रख दिया गया। आसपास की बस्तियाँ भी उजाड दी गयी जिसमे आक्रमणकारियो को आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध न हो सकें। मुगलो का मुकाबला करने के लिए ८ हजार व्यक्ति और रख दिये गये। इस प्रकार के प्रबन्ध के उपरान्त महाराणा उदयसिह ने रावत नेतसी आदि कुछ सरदारो सहित गिरवा की ओर प्रस्थान किया।[४२]

राणा द्वारा चित्तौड छोडने की घटना को लगभग सभी हमारे समय के लेखको[४३]

---

४१ अकबरनामा, भा० २, पृ० ३८०-८१, निजामुद्दीन, तबकात, भा० २, पृ० २६२-८३, बदायूंनी, मुन्तखब, भा० २, पृ० १०२, केम्ब्रिज, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ४, पृ० ८१-८२, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स पृ० ६५-६७

४२ अकबरनामा, भा० २, पृ० ३९५, ४४२-४३, निजामुद्दीन, तबकात (फारसी), पृ० २८३; इकबालनामा (फारसी), भा० २, पृ० २२५-२६, दवावेत, पत्र ३-७, अमरकाव्य वशावली, पत्र ३६, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ६७-६९

४३ वीरविनोद, भा० ३, पृ० ८६, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४२०, शर्मा, प्रताप, पृ० १०

ने राणा की कायरता बतायी है। कर्नल टॉड[४४] ने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि सागा और प्रताप के बीच मे उदयसिह न होता तो मेवाड के इतिहास के पन्ने अधिक उज्ज्वल होते। परन्तु इस प्रकार की धारणा का कोई आधार नही है, जबकि हम जानते हैं कि किसी समसामयिक मुस्लिम इतिहासकार ने भी राणा के इस कर्तव्य की आलोचना नही की है। उदयसिह को कायर या देशद्रोही कभी नही कहा जा सकता जिसने वणवीर, मालदेव, हाजीखाँ पठान आदि के विरुद्ध युद्ध लडकर अपने अदम्य साहस और शौर्य का परिचय दिया था। उस मध्ययुगीय काल मे सामन्तो के विचारानुकूल आचरण न करना अवेध्य माना जाता था। राणा ने अपने व्यक्तिगत निन्दा की कोई परवाह न कर मध्ययुगीय परम्परा की ओर सम्मान प्रदर्शित कर अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठा दिया। साथ ही सारी मन्त्रणा मे एक नयी सूझ थी। एक मोर्चा चित्तौड मे जयमल के नेतृत्व मे खोलकर और दूसरा मोर्चा उदयसिह के तत्त्वावधान मे आरम्भ कर मुगल आक्रमण को विफल बनाने की नयी गतिविधि अपनायी गयी थी जिसका अधिकाश श्रेय उदयसिह को दिया जा सकता है। चित्तौड छोडने के पीछे एक नीति थी और उसमे एक नयी चाल थी। इधर जयमल को अपनी पूर्व पराजय का बदला लेना आवश्यक था, जो उसके चित्तौड मे रहने से आसानी से लिया जा सकता था। उधर नयी बस्तियो की रक्षा करना और पहाडो मे रहकर मुगलो का मुकाबला करना केवल उदयसिह के बस की ही बात थी। यह क्षण ऐसा था जिसमे विचार से कदम रखना आवश्यक था। इस समय दृढता से तथा सामूहिक रूप से सोचने की जरूरत थी। अभाग्यवश हमारे युग के लोग सागा और प्रताप की उपलब्धियो से इतने प्रभावित हो गये हैं कि उन्होने उदयसिह की परिस्थिति पर निरपेक्ष भाव से नही सोचा। राणा का इन दोनो महान विभूतियो के बीच पैदा होना ही उसके व्यक्तित्व के उचित मूल्याकन मे बाधाजनक रहा। अन्यथा हमे इस अवसर पर अपनायी गयी नीति का सम्मान करना चाहिए। यह उदयसिह की नयी चाल आगे जाकर महाराणा प्रताप और राजसिह ने भी अपनायी थी, क्योंकि उसमे तर्क था और तथ्य भी।[४५]

---

[४४] टॉड, राजस्थान, मेवाड, पृ० २५५

"A coward succeeding a bastard to guide the destinies of the Sisodias"

[४५] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ६९-७०

'The moment was one of great gravity and required to be met with calmness, firmness, and complete unanimity In obeying the council he exhibited good sense and loyalty to the feudal order, and in leaving the fort he had shown a new line of military action We should rather praise his sense of action which, though greatly jeopardizing his personal reputation, was in the best interest of his country'

—G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, pp 68-70

चित्तौड के घेरे और पतन की घटनाएँ—अकवर माण्डलगढ के मार्ग से २३ अक्टूबर, १५६७ ई० को चित्तौड पहुँचा। किले मे कुछ दूर पाण्डोली, कावरा और नगरी गाँवो से घिरे हुए मैदानी भाग मे उसने शाही फौजो के पडाव डाले और एक दल को राणा का पता लगाने के लिए कुम्भलगढ की पहाडियो मे भेजा। हुसैन कुलीखाँ राणा का पीछा करने वाले दल का नेता था। वह चारो ओर घूमकर कोरे हाथ लौटा, क्योकि राणा ने अपने परिवार को तो गिरवा की पहाडियो मे सुरक्षित छोडा था और वह स्वय राजपीपला से लेकर वाहरी गिरवा मे सगठन के लिए घूमता फिरता था। अन्त मे हताश होकर अकवर ने चित्तौड दुर्ग के पर्यवेक्षण का प्रवन्ध करवाया और तीन मोर्चो पर सावात तथा सुरगे लगाने का आदेश दिया। लाखोटा वारी वाले मोर्चे पर स्वय अकवर रहा जिससे कि जयमल का यहाँ से सीधा मुकावला किया जा सके। किले के पूर्व की तरफ सूरजपोल के सामने शुजातखाँ, राजा टोडरमल और कासिमखाँ की अध्यक्षता मे तोपखाना लगाया गया। तीसरे मोर्चे पर, जो किले के दक्षिण मे चित्तौडी वुर्ज के सामने था, अब्दुल मजीद, आसफखाँ आदि रखे गये। तीनो ओर वाले सावातो को किले के निकट ले जाया जाता था, ज्यो-ज्यो सुरगें खोदने का काम सम्पादन होता था। दो सुरगो मे, एक मे १२० मन वारूद और दूसरे मे ८० मन वारूद भर कर उडायी गयी। मोर मगरी वाली सुरग भी चली। इन सुरगो ने दोनो ओर वुर्जो को वडी क्षति पहुँचायी और दोनो पक्षो के सैनिक भी हताहत हुए, परन्तु राजपूत शीघ्र ही इनको दुरुस्त करवा देते थे तथा तेल से भीगे कपडो को जलाकर या पत्थर के गोलो को लुढकाकर शत्रुओ को भीतर घुसने से रोकते थे। एक दिन रात को दीवार की मरम्मत कराते समय जयमल अकवर की सग्राम वन्दूक से मारा गया। इससे कुछ समय किले मे सन्नाटा छा गया। थोडी देर मे किले के भीतर चारो ओर आग की लपटें उठने लगी, जिससे निश्चित हो गया कि 'जौहर' के रस्म के वाद दूसरे दिन सभी योद्धा अपने प्राणो की आहुति लगा देंगे। प्रात होते-होते राजपूत वीर केसरिया वाना पहनकर शत्रुदल का मुकावला करने चल पडे। किले के फाटक खोल दिये गये। अकवर ने भी अपने हाथियो के दलो को सूँड मे खजर देकर नर-सहार करने भेजा और स्वय भी एक हाथी पर सवार हो इस भीषण दृश्य का निरीक्षण करने लगा। कई घायल राजपूत सैनिको ने हाथियो के दाँत उखाडकर अपनी अन्तिम घडी तक युद्ध किया। ईसरदास चौहान ने एक हाथ मे अकवर के हाथी का दाँत पकडा और दूसरे से सूँड पर खजर मारकर गुण ग्राहक वादशाह को अपना वीरोचित अभिवादन किया। सहस्रो की सख्या मे सैनिको तथा नागरिको ने शत्रुदल का सामना किया, पर शक्तिशाली मुगल सेना ने उन्हे नष्ट कर दिया या कुचल डाला। अकवर ने तीन दिन तक इस प्रकार मार-काट की गतिविधि से २५ फरवरी, १५६८ को किले पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर लिया। सम्राट जयमल और पत्ता की वीरता से इतना मुग्ध हुआ कि उसने आगरे के किले के द्वार पर इन दोनो वीरो की पाषाण मूर्तियाँ वनवा कर लगा दी। अकवर ने अपने जीवन मे नृशस सहार का दृश्य जैसा यहाँ पैदा किया

वैसा और किसी जगह नही किया, जिससे आज भी उसका नाम कलकित है । यह कार्य वास्तव मे उस महान सम्राट के लिए शोभनीय नही था, क्योकि यह मानवजाति के नियमो तथा न्याय का उलघन था ।[४६]

चित्तौड पतन के कारण—इस ऐतिहासिक दुर्ग के पतन मे राजपूतो के कुछ आधारभूत दोप थे । इनके पास अच्छे हथियारो का अभाव था । साधनो की कमियाँ, सैनिको की सख्या मे कमी आदि भी राजपूतो की हार के कारण बने । लम्बे समय तक किले का घेरा बना रहना एक ऐसा कारण था जिसने किले मे रसद के आने का मार्ग अवरुद्ध कर राजपूतो का सवनाश अवश्यम्भावी कर दिया । जयमल की मृत्यु ने तो राजपूत योद्धाओ के साहस को तोड दिया । साथ ही साथ हम अकवर का उत्कृष्ट सैनिक नेतृत्व और सुरगो की व्यवस्था का 'सावात' से सामजस्य को नही भूल सकते, जिन्होने मुगलो को विजयी वनाने मे वडा योग दिया था ।[४७]

महाराणा का देहान्त—चित्तौड पतन की घटना के वाद महाराणा अधिक समय जीवित नही रह सका । सम्भवत उसे अपने हाथ से चित्तौड निकल जाने तथा जन और धन की हानि का बडा दुख हुआ हो । जब वह कुम्भलगढ से, जहाँ वह बहुधा रहता था, गोगुन्दा आया तो दशहरे के वाद वह बीमार पडा और वही २८ फरवरी, १५७२ ई० मे उसका देहान्त हो गया । यहाँ उसकी छतरी बनी हुई है ।

उदयसिंह का व्यक्तित्व—डा० ओझा[४८] ने महाराणा उदयसिंह को एक साधारण राजा के रूप मे माना है और उसको साहस शून्य तथा विलासी बताया है । यदि उसके चरित्र और नीति का सही मूल्याकन किया जाय तो उसमे साहस, धैर्य, अग्रबुद्धि आदि वीरोचित गुणो की कोई कमी नहीं दिखायी देती । उसने अपने जीवन काल मे लडे जाने वाले युद्धो मे अधिकाश मे विजय ही प्राप्त की थी, जैसा कि हमने ऊपर देखा । वह निर्वल राजाओ और सामन्तो को ऊपर उठाने का प्रयत्न करता था और अपने समकक्ष राजाओ को अपनी शक्ति से प्रभावित रखता था । ये शक्ति-सन्तुलन की नीति उसकी कूटनीतिज्ञता की पुष्टि करती है । अफ्गानो को समय-समय पर दवाना और परिस्थिति के अनुकूल उनको प्रसन्न रखने की जो उसने नीति अपनायी थी उसका एक व्यावहारिक पक्ष था । अकवर जैसे महान शत्रु को भी उसने दूर-दूर दो मोर्चे खोलकर खूब छकाया । चित्तौड लेने के वाद मुगल उदयसिंह का पहाडी

---

[४६] अकवरनामा, भा० २, पृ० ४००-५९८, तवकात-ए-अकवरी, पृ० २८५, अमरकाव्य वशावली, पत्र ५७, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ७४-८०

The triumph of the Great Mughal was indeed sullied by this act of disgraceful cruelty, which was a grave violation of the law as of humanity and justice"

[४७] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ८१

[४८] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४२२

स्थानो मे कुछ विगाड न कर सके। इम नवीन सैनिक नीति का एक स्वतन्त्र महत्व था। मुगल भी अव समझ चुके थे कि मीसोदियो के हाथ से चित्तौड जैसे अभेद्य दुर्ग के निकल जाने पर उनकी शक्ति पूर्णरूप से क्षीण नही की जा सकती। उसके उत्तराधिकारियो के लिए तो उदयसिंह ने अपनी नव सैनिक नीति को एक विरासत के रूप मे छोडा जो उसकी महान देन थी। उसने उदयसागर के तालाव, मोतीमगरी के महल एव गिरवा के गाँवो को वसाकर निर्माण कार्य मे अपनी रुचि प्रकट की।

इन सभी विशेषताओ के होते हुए भी उदयसिंह उस युग के प्रचलित सामाजिक दोषो मे ऊपर नही उठ सका। हाजीखाँ से रगराय पातर के लिए झगडा मोल लेकर उसने विलाम-प्रिय होने का परिचय दिया। राणा सागा की भाँति उसने भी महाराणी भट्टियाणी के दवाव से जगमाल को, जो राज्य का अधिकारी न था, अपना उत्तराधिकारी वनाने का प्रयत्न किया, जो उसकी अदूरदर्शिता व्यक्त करता है।

महाराणा प्रताप (१५७२-१५९७ ई०)

प्रताप का अनुभव और राज्य प्राप्ति—प्रताप का जन्म ९ मई, १५४० मे हुआ था। जव उसके पिता की मृत्यु हुई उसकी अवस्था ३२ वर्ष की थी। उसने अपने पिता के माथ जगलो, घाटियो और पहाडो मे रहकर कठोर जीवन विताया था। उसने उमके साथ रहकर गिरवा मे नयी वस्तियो को वसाने तथा अन्य निर्माण कार्य मे योग दिया था। वह इम पहाडी भाग मे 'कीका' नाम से सम्वोधित किया जाता था जो स्थानीय भाषा मे 'छोटे वच्चे' का सूचक है। आज भी दक्षिण-पश्चिमी मेवाड मे पुत्र को 'कीका' या 'कूका' कहते हैं। इस विशेष प्रकार के नाम से प्रताप की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। अभाग्यवश इन मभी आवश्यक गुणो के होते हुए भी उसके पिता ने भट्टियाणी रानी पर विशेष अनुराग होने से उसके पुत्र जगमाल को अपना युवराज वनाया था, जवकि अधिकार प्रताप का था। शक्तिसिंह अपने पिता के समय से मुगलो की सेवा मे जा रहा था और सम्भवत चित्तौड के आक्रमण के समय काम आ गया। न्याय दृष्टि से प्रताप की ही वारी राजगद्दी पर वैठने की थी, परन्तु राणी के आग्रह से तथा कुछ सरदारो के सहयोग से, जव सभी लोग महाराणा के दाह-सस्कार मे लगे हुए थे, जगमाल का राज्यतिलक कर दिया गया। श्मशान भूमि मे जगमाल को उपस्थित न पाकर ग्वालियर के राजा रामसिंह और जालौर के अखैराज सोनगरे ने वहीं उत्तराधिकारी सम्वन्धी प्रश्न को उठाया, और ज्योंही वे गोगुन्दे लौटे प्रताप को महाराणा घोषित कर दिया। इस पर जगमाल अप्रसन्न होकर अकवर के पास पहुँचा, जिसने उसे पहले जहाजपुर और पीछे आधी सिरोही की जागीर दे दी। सिरोही में ही १५८३ ई० मे दनाणी के युद्ध मे उसकी मृत्यु हो गयी।[४९]

---

४९ वीरविनोद, भा० २, पृ० १४९, ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० १२८-३१, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४२३-४२६, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ८२५-८५

प्रताप और उसके लिए समस्याएँ—मेवाड गज्य की गद्दी तो प्रताप को मिल गयी, परन्तु उस समय की सकटकालीन स्थिति मे राज्य का भार सँभालना कोई सरल विषय नही था। मुगल आक्रमण के फलस्वरूप राज्य की व्यवस्था सन्तोपजनक नही थी। सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से भी मेवाड मे स्थिरता नही आने पायी थी। चित्तौड, वदनौर, शाहपुरा, रायला आदि मेवाड के सीमान्त भाग मुगलो के हाथ मे चले गये थे, जिससे राज्य की आय और प्रतिष्ठा घट चुकी थी। इन भागो मे मुगली प्रभाव वढ रहा था। इन समस्याओ को हल करने के लिए प्रताप के लिए दो ही मार्ग खुले हुए थे। या तो वह अकबर के सम्मुख अपना आत्म-समर्पण कर दे और मुगल व्यवस्था का अग वन जाय। ऐसी स्थिति मे वह खोये हुए भाग पुन प्राप्त कर सकता था और शीघ्र ही राज्य मे सुव्यवस्था स्थापित हो सकती थी। यदि वह एक मुगल जागीरदार के रूप मे रहकर रहना चाहता था तो सभी सुविधाएँ उसके लिए उपलब्ध थी। दूसरा यह था कि वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और अपने देश के गौरव की प्रतिष्ठा वनाये रखे। यह मार्ग सरल नही था। दूसरे विकल्प को अपनाने के लिए उसे लम्वे तथा घातक युद्ध मे उतरना पडेगा। फिर भी अपने सस्कारो और विचारो से उसने दूसरे विकल्प, अर्थात मुगलो से सघर्प, को ही चुना।

इस सघर्ष की तैयारी मे उसने सबसे पहले मेवाड को सगठित करने का वीडा उठाया। अपने कर्तव्य और विचारो से उसने सामन्तो और भीलो का एक गुट वनाया जो हर समय देश की रक्षा के लिए उद्यत रहे। उसे अपने पिता के समय मे भीलो से मिलने-जुलने तथा साथ रहने का अवसर मिला था। इसी समय से उसने उनसे निकटतम सम्वन्ध स्थापित कर रखा था। उसने प्रथम बार इन्हें अपनी सैन्य-व्यवस्था मे उच्च पद देकर उनके सम्मान को वढाया। मुगलो से अधिक दूर रहकर युद्ध का प्रवन्ध करने के लिए उसने गोगुन्दे से अपना निवास-स्थान कुम्भलगढ को वदल लिया। जन-सम्पर्क के द्वारा भी उसने देश मे एक व्यापक जागरण को जन्म दिया। इन प्रारम्भिक कार्यो से उसने मेवाड मे एक सूत्रता ला दी जिससे लम्वे युद्ध मे सम्पूर्ण राज्य से उसे सहयोग मिल सके।

वैसे तो अकवर अपनी विस्तार नीति मे इस प्रकार के सगठन को नही पनपने देना चाहता था, परन्तु ज्यो-ज्यो उसे अनुभव होने लगा उसका दृष्टिकोण वदला। वह राजपूतो के सगठन का प्रयोग सम्पूर्ण भारत के राज्य की दृढता के लिए करना चाहता था। वह यह समझ चुका था कि,यदि उसके नेतृत्व मे सगठित मुगल राज्य की स्थापना करना है तो राजपूतो का सहयोग वाछनीय होगा। फिर भी जिस राज्य की कल्पना अकवर कर रहा था उसमे प्रताप अपना स्थान सम्मानित नही मानता था। वह अपने वश गौरव और व्यक्तिगत विशुद्ध स्थिति को अधिक महत्त्व देता था। वह अपने राज्य को एक इकाई के रूप मे रखकर अपने राज्यत्व की प्रतिष्ठा को उच्च वनाये रखने मे श्रेय समझता था, वजाय इसके कि वह एक मुगल राज्य का आश्रित

सामन्त हो जो अपने अधिकारो की मान्यता दिल्ली से प्राप्त करे।[५०] अकवर मे वैवाहिक सम्वन्ध स्थापित करने के लिए वाध्य होने की सम्भावना से भी प्रताप मे एक स्वाभाविक अरुचि थी। वह नही चाहता था कि मेवाड की परम्परा तोडने का कलक उसके मिर मढा जाय।

अकवर को चित्तौड विजय के वाद कई राजस्थान के शासको से मैत्री सम्वन्ध या वैवाहिक सम्वन्ध स्थापित करने मे सफलता मिल चुकी थी। परन्तु मेवाड का इस सम्वन्ध मे सहयोग नही देना उसे चुभ रहा था। फिर भी वह यह नही चाहता था कि वलात् ऐसा किया जाय। जव मानसिंह गुजरात से लौट रहा था तो उसे आदेश दिया गया कि वह उदयपुर जाकर राणा प्रताप को समझाये कि वह अकवर की सर्वोपरि शक्ति को मान्यता दे और शाही दरवार मे उपस्थित हो। उसने विशेष रूप से उसे यह भी कहा था कि वैवाहिक सम्वन्ध के विपय पर वल न दिया जाय और राणा को आश्वासन दिया जाय कि आन्तरिक मामलो मे वह स्वतन्त्र रहेगा। १५७३ ई० मे जव मानसिंह ने राणा को इस सम्वन्ध मे टटोला तो उसने अकवर की अधीनता मानने मे आनाकानी की। मानसिंह अन्त मे असफल होकर लौट गया। इसके वाद इसी आशय के दो और पैगाम महाराणा के पाम भगवानदास तथा टोडरमल के नेतृत्व मे भेजे गये, परन्तु पहले की भाँति वे भी विफल रहे, अलवत्ता व्यवहार और वार्तालाप मे राणा शिष्टता की सीमा मे रहा।[५१]

इस सम्वन्ध मे कर्नल टॉड ने मानसिंह और राणा के सम्मेलन, वार्तालाप और व्यवहार के सम्वन्ध की घटना उदयसागर पर होना वताया है। वताया जाता है कि यहाँ एक भोज का आयोजन राणा की तरफ से आतिथ्य के रूप मे किया गया था, जिसमे राणा ने स्वय उपस्थित न होकर अपने कुँवर अमरसिंह को भेजा। जव यह पूछा गया कि राणा इसमे सम्मिलित क्यो नही हुए तो यह वता दिया गया कि वे कुछ अस्वस्थ है। मानसिंह ताड गया कि राणा उससे परहेज करते है, क्योकि कछवाहो ने अकवर से वैवाहिक सम्वन्ध स्थापित कर लिया है। कुँवर विना भोजन किये वहाँ से चल दिया और ठीक इस घटना के वाद अपमान का वदला लेने के लिए मुगल सेना को लेकर मेवाड मे आ धमका।[५२]

---

[५०] "He valued his state more in a small, compact, racially and culturally linked unit preserving the sovereign authority as against humbling himself by sending a representative to the Mughal Court, receiving instruction from Delhi and getting confirmation of hereditary rights from the emperor "—G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, p 87

[५१] अकवरनामा, भा० ३, पृ० ८७, इकवालनामा, भा० २, पृ० २६२, २७२, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ८८-९०

[५२] रावल राणाजी की वात, पत्र १०३-१०, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ४२६-२७

इस कथा को लगभग सभी लेखको ने मान्यता दी है। परन्तु हमारे अनुसन्धान से प्रमाणित होता है कि इस कथा का किसी समसामयिक स्रोत मे जिक्र नही है, चाहे वह स्थानीय हो या मुगली। यदि मानसिंह का इस प्रकार अपमान होता तो वदायूनी अवश्य उसका उल्लेख अपने 'मुन्तखव' मे करता। मानसिंह के और प्रताप के मिलने का स्थान अवुल फजल ने गोगुन्दा दिया है न कि उदयसागर, जो अधिक ठीक मालूम पडता है। ये सारी कथा टॉड ने ख्यातो से ली है, जो पिछली होने से विश्वसनीय नही हो सकती। राज रत्नाकर तथा अमरकाव्य मे मानसिंह की तथा प्रताप की भेंट अच्छे ढग से होने का उल्लेख है। यदि इस प्रकार के अशिष्ट आचरण की सम्भावना रहती तो इस घटना के कुछ ही वर्षो पीछे लिखी गयी जगन्नाथराय प्रशस्ति मे इसका जिक्र होना चाहिए था। परन्तु हल्दीघाटी के युद्ध की घटना देने के साथ इस घटना का इसमे कोई उल्लेख नही है। ऐसी स्थिति मे इस कथा का कोई ऐतिहासिक आधार नही दीखता। इसका कुछ सकेत नैणसी ने प्रथम वार दिया है, जिसको ऐसा प्रतीत होता है कि आधार मानकर पिछले चारणो और भाटो ने अपनी-अपनी मान्यता और भावुकता के आधार पर इस कथा को कुछ हेर-फेर के साथ लिख डाला।[५३]

हल्दीघाटी का युद्ध—कई लेखको ने मानसिंह के अपमान की कथा के साथ अकवर का वैमनस्य सीधा जोड दिया है और उसी को हल्दीघाटी के युद्ध का कारण वताया है। परन्तु मानसिंह के गोगुन्दा जाने (१५७३) और हल्दीघाटी के युद्ध के होने मे (१५७६ ई०) तीन वर्ष का अन्तर है, अतएव उसको युद्ध का कारण नही माना जाना चाहिए। युद्ध का सीधा कारण यही था कि अकवर मेवाड की स्वतन्त्रता समाप्त करने पर तुला हुआ था और प्रताप उसकी रक्षा के लिए। दोनो की मनोवृत्ति और भावनाओ का मेल न होना इस युद्ध का प्रमुख कारण था। इसके साथ मुगलो के राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थ भी जुडे हुए थे जिन्होने युद्ध की सम्भावना को निश्चित कर दिया। जव अकवर के द्वारा किये गये शान्ति समझौते के प्रयत्न निष्फल हो गये तो उसे निश्चय हो गया कि मेवाड की समस्या का निर्णय विना युद्ध के नही हो सकता। प्रताप ने भी जव अकवर की एक भी वात न मानी तो वह भी ताड गया कि इसकी प्रतिक्रिया उसके राज्य के लिए भयकर परिणाम ला सकती है। यह समझते हुए उसने पुजा नामी नेता को अपने भील सहयोगियो के साथ वुलाकर मेवाड की सुरक्षा प्रबन्ध मे लगाया। दूरस्थ सामन्तो को भी अपनी-अपनी सीमा मे सतर्क रहने और आवश्यकता पडने पर युद्ध के लिए तैयार हो जाने के लिए सजग कर दिया। हल्दीघाटी के नाके

---

५३ जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ८९-९०
"This story has no tinge of truth about it The simple fact of an interview and Rana's objection of going to the court has been coloured by the bardic imagination"
—G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, p 89

पर भी घुडसवारो के दल को नियुक्त कर दिया जो उस भाग से कुम्भलगढ के मार्ग की रक्षा करते रहे। मेवाड के मैदानी भाग के रहने वालो के लिए पहाडी घाटियो मे बसने की व्यवस्था कर दी और यह आदेश निकाल दिया कि मैदानी खेतो मे किसी प्रकार का अन्नोत्पादन नही किया जाय, जिससे भीतर घुसने वाली शत्रु सेना को किसी प्रकार की रसद न मिल सके। यदि ऐसा कोई करेगा तो वह प्राणदण्ड का भागी होगा। यह प्रयोग उदयसिंह की नीति के अनुरूप था, जिसने चित्तौड के आसपास के प्रान्तो से गिरवा मे बस्ती को बसाया था।[५४]

अकबर ने भी युद्ध को टालने की कोई सूरत न पाकर अजमेर से मानसिंह को धन और जन देकर मेवाड की ओर भेजा। ३ अप्रैल, १५७६ ई० को वह अजमेर से रवाना होकर, माण्डलगढ, मोही आदि मुकामो से गुजरता हुआ खमनोर के पास मोलेला गाँव के पास जा टिका। प्रताप ने भी लोशिंग मे अपने डेरे डाले। दोनो सेनाएँ एक-दूसरे से बलाबल का अनुमान लगाती रही और अन्त मे २१ जून, १५७६ ई० प्रात युद्ध भेरी बजी। प्रारम्भ मे तो कुछ मुगल सैनिको के अग्रदल ने घाटी पर टिके हुए राजपूत सैनिको पर वार किया, जिसके फलस्वरूप उनमे से कई मुगल सैनिक मारे गये। इस सफलता से उत्साही राजपूत घाटी के नाके से नीचे उतर आये और शत्रुदल पर टूट पडे। यह पहला वार इतना जोशीला था कि मुगल सैनिक चारो ओर जान बचाकर भाग गये। बदायूँनी, जो मुगल दल मे था, और जिसने इस युद्ध का आँखो-देखा हाल लिखा है, स्वय भाग खडा हुआ। अपने पहले मोर्चे मे सफल होने से राजपूत बनास नदी के काँठे वाले मैदान मे, जिसे रक्त ताल कहते हैं, आ जमे। मुगल भी फिर यहाँ इकट्ठे हो गये और युद्ध जारी हुआ। यहाँ दोनो दलो के पाश्व-वर्ती सैनिक, केन्द्रीय जत्थे तथा हाथियो के दल बारी-बारी से भिड गये। दोपहर का समय हो गया था। युद्ध की गरमागरमी को, जैसे बदायूँनी लिखता है, सूर्य ने अपनी तीक्ष्ण किरणो से अधिक उत्तेजित कर दिया, जिससे खोपडी का खून उबलने लगा। सभी ओर से योद्धाओ की हलचल से भीड ऐसी मिल गयी कि शत्रु सेना के राजपूत और मुगल सेना के राजपूतो को पहचानना कठिन हो गया। इस समय बदायूनी ने आसफखाँ से पूछा कि ऐसी अवस्था मे हम अपने और शत्रु के राजपूतो की पहचान कैसे करें? उसने उत्तर दिया कि तुम तो अपना वार करते जाओ, चाहे जिस पक्ष का भी राजपूत मारा जाये, इस्लाम को हर दशा मे लाभ होगा।[५५]

राणा कीका अपने साथी लूणकर्ण, रामशाह, ताराचन्द, पुजा, हकीम सूर आदि के साथ शत्रु दल को चीरता हुआ मानसिंह के हाथी के पास पहुँच गया। उसने फौरन

---

५४ ढोल, अनुदान, न० २१४, उदयपुर अभिलेखागार, सूर्यवश, पत्र १६, वशावली राणाजीनी, पत्र ६८, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ६१

५५ अकबरनामा, भा० ३, पृ० १५३, बदायूँनी, भा० २, पृ० २३३

अपने चेतक घोडे को एक ऐसी एड मारी कि उसने अपने अगले पांवो को हाथी के दाँतो पर टिका दिया। शीघ्र ही राणा ने मानसिंह का काम तमाम करने के लिए भाले का वार उस पर किया। पर यह वार निष्फल गया, क्योकि मानसिंह अपने हौदे मे दुबक गया और वार को महावत ने झेल लिया। इस चलाचली मे घोडे की एक टाँग हाथी की सूंड के खजरे से कट गयी। अब तो राणा को मुगल सैनिको ने चारो ओर से घेर लिया। उसी क्षण राजपूत वीरो ने उस भीड-भाड से राणा को किसी तरह निकालकर बचा लिया। टूटी टाँग के घोडे से राणा अधिक दूर नही पहुँचा था कि मार्ग मे ही घाटी के दूसरे नाके के पास चेतक की मृत्यु हो गयी। राणा ने उसके अन्तिम सस्कार द्वारा अपने प्यारे घोडे को श्रद्धाजलि अर्पित की।[५६]

इस घटना के साथ बताया जाता है कि शक्तिसिह भी, जो मुगल दल के साथ उपस्थित था, किसी तरह बचकर जाते हुए राणा के पीछे चल दिया और अपने घोडे को उसे देकर अपने कर्तव्य का पालन किया। वास्तव मे यह कथा प्रमाणो के आधार पर प्रतिपादित नही की जा सकती। शक्तिसिह पहले ही चित्तौड के आक्रमण के समय काम आ चुका था। सम्भवत' दोनो भाइयो को मिलाने की कथा भाटो ने गढ ली है। यदि शक्तिसिह मुगलो के साथ होता तो बदायूंनी की सूची मे उसका नाम अवश्य होता।[५७]

राणा तो वैसे इस तुमुल युद्ध से अपने डेरे की ओर लौट गया, परन्तु युद्ध-स्थल मे लडाई ने बडा भयकर रूप धारण किया। राजपूतो ने अपने जीवन की बाजी लगाना आरम्भ कर दिया, जिसमे एक के बाद दूसरा धराशायी होता गया। ऐसे वीरो मे नेतसी, रामशाह अपने पुत्रो के साथ, राठौड शकरदास, झाला मानसिह आदि मुख्य थे। मुगल सेना भी उस दिन अपने डेरे को लौटी, परन्तु भीलो ने रात भर लूट-खसोट, घात-प्रत्याघात की विधि से उन्हे चैन न लेने दिया। नितान्त दूसरे दिन मानसिह अपने सैनिको के साथ गोगुन्दे की ओर रवाना हो गया, जहाँ चारो ओर खाइयाँ खुदवाकर और दीवारें बनवाकर वह किसी तरह रहने लगा।[५८]

महाराणा भी अपने डेरे पर पहुँचकर घायल सिपाहियो की देखभाल करता रहा और साथ ही साथ इस प्रयत्न मे लगा रहा कि गोगुन्दे मे टिकी हुई मुगल सेना को बाहर से कोई सहायता न पहुँचे। किसी तरह अपना समय गुजारती हुई गोगुन्दे मे टिकी हुई सेना के आदमी एक-एक कर लौट गये। मानसिह भी जब शाही दरबार मे पहुँचा तो अकबर ने थोडे समय उसकी 'ड्योढी बन्द' कर दी, क्योकि वह राणा को मारने या बन्दी बनाने मे असफल हुआ था।[५९]

---

५६ जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १०३

५७ वही, पृ० १०३

५८ बदायूंनी, भा० २, पृ० २३३, राजरत्नाकर, सर्ग ७, श्लो० ४१-४२

५९ वही, पृ० २३५, निजामुद्दीन, तबकात, पृ० ३३५

इस युद्ध मे दोनो पक्षो ने अपनी-अपनी विजय को माना है। यदि हम इसको अधिक गहराई से देखें तो पाते है कि पार्थिव विजय तो मुगलो को मिली, परन्तु वह विजय पराजय से कोई कम नही थी। राणा ने तो मुगलो को इस बार ऐसा छकाया कि वे अपना पिण्ड छुडाकर मेवाड मे भाग निकले। यह राजपूत शैली का एक नया युद्ध था और लम्बे युद्ध का श्रीगणेश था। यदि ऐसी स्थिति मे हम हल्दीघाटी के युद्ध को लम्बे युद्ध का आरम्भ कह दे या स्थगित युद्ध कह दें तो इस युद्ध के परिणाम ठीक समझ मे आ सकते हैं। आगे की घटना बताती है कि भविष्य मे भी अकबर ने राणा को मारने या बन्दी बनाने के प्रयत्नो को जारी रखा। एक के बाद दूसरे मुगल सेनापति आते रहे। १३ अक्टूबर, १५७६ ई० मे अकबर स्वय भी गोगुन्दे आया, परन्तु राणा इधर-उधर छिपकर मुगलो के प्रयत्नो को विफल बनाता रहा। अन्त मे अकबर को सीमान्त भागो के उपद्रव मे व्यस्त होने के कारण मेवाड की ओर के अभियानो मे शिथिलता लानी पडी। राणा ने भी इस समय को उपयुक्त समझ अपनी नयी व्यवस्था स्थापित की, जिसका वर्णन आगे करेंगे।[६०]

हल्दीघाटी के युद्ध मे राणा को खेत क्यो छोडना पडा—राणा को रण-स्थल से जाने के लिए जो विवश होना पडा उसके कई कारण थे। इस युद्ध के प्रारम्भ मे द६ अग्रगामी दल को नष्ट करने के बाद राणा हल्दीघाटी के नाके को छोडकर मैदान मे चला आया, वह एक बडी भूल थी। नीचे उतर जाने पर जो परम्परागत युद्ध-शैली को अपनाया गया था वह भी ठीक नही था। इसमे कोई सन्देह नही कि मैदानी लडाई मे मुगल अधिक कुशल थे। ऐसी स्थिति मे राजपूतो के लिए 'रक्तताल' मे लडी गयी लडाई राजपूतो के लिए अधिक उपयोगी न हो सकी। वहाँ मुगलो की सैनिक सख्या तथा उत्तम शस्त्रो ने राजपूतो को अधिक समय तक जमने नहीं दिया। अलबत्ता हम राणा की इस बात मे प्रशसा करेंगे कि जब युद्ध पूरे जोश से चल रहा था उसने धैर्य से काम लिया और युद्ध-स्थल छोड पहाडियो मे चला गया। अपने पिता की नीति का अवलम्बन कर वह बचाव प्रणाली के प्रयोग से युद्ध की गति को चलाता रहा जिसमे अकबर को लम्बे युद्ध मे परेशानी का सामना करना पडा।

प्रताप सम्बन्धी भ्रान्तियो का निराकरण—हल्दीघाटी के युद्ध के बाद कई लेखको और प्रताप के प्रशसको की यह धारणा रही है कि उसे जगह-जगह जगलो मे भटकना पडा और खाने-पीने की आवश्यकता की पूर्ति मे कठिनता का अनुभव करना पडा। इस स्थिति का स्वरूप एक कथानक के द्वारा इस प्रकार बताया जाता है कि जब उसकी लडकी के हाथ से बिल्ली रोटी का टुकडा छीनकर ले गयी और उसकी पुत्री रोने लगी तो राणा इस स्थिति को देखकर बडे दुखी हुए आदि। प्रथम तो राणा के कोई पुत्री ही नही थी इसलिए उसका रोना अप्रासगिक है। दूसरा जिस पहाडी भाग मे राणा घूमते फिरे थे वह भाग इतना उपजाऊ था कि उन्हें खाने-पीने मे

---

६० जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १०३-१०५

कठिनता का सामना करना पडा यह समझ मे नही आता। मेवाड की प्रजा इतनी उदार थी कि उसने हर प्रकार से राणा की सहायता की और वह उसके कष्ट के दिनो मे उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अपना सहयोग देती रही। पिछले स्रोतो मे भी इस कथा का कोई उल्लेख नही मिलता और न डा० ओझा ही इसमे विश्वास करते हैं। ये तो कर्नल टॉड के मस्तिष्क की उपज-मात्र है।[६१]

इसी प्रकार एक और जनश्रुति प्रसिद्ध है कि एक दिन सम्राट अकवर ने कुँवर पृथ्वीराज (वीकानेर) को, जो मुगल दरवारी था, कहा कि प्रताप ने हमारी अधीनता स्वीकार कर हमे वादशाह कहना आरम्भ कर दिया है। पृथ्वीराज ने इस स्थिति को स्वीकार न कर राणा को नीचे लिखे दोहे लिखकर भेजे '

पातल जो पातसाह, बोले मुख हूँता वयण।
मिहर पछम दिस माँह, ऊगे कासप राव उत॥

पटकूँ मूँछा पाण, के पटकूँ निज तन करद।
दीजै लिख दीवाण, इण दो महली बात इक॥

इसका आशय यह था कि यदि प्रताप अपने मुख से अकवर को वादशाह कहे तो सूर्य पश्चिम मे उग जाये। अर्थात जैसे सूर्य का पश्चिम मे उगना असम्भव है वैसे प्रताप के मुख से भी अकवर के लिए वादशाह निकलना सम्भव नही।

हे दीवाण (महाराणा), अव मुझे एक सकेत यह दीजिए कि मैं मूँछो पर ताव दूं या अपनी तलवार का अपने शरीर पर वार करूँ।

महाराणा ने भी इसका उपयुक्त उत्तर इस प्रकार दिया

तुरक कहासी मुख पतो, इण तन सूं इकलिंग।
ऊगै जांही ऊगसी, प्राची बीच पतग॥
खुसी हूंत पीथल कमध, पटको मूँछा पाण।
पछटण है जैते पतो, कलमाँ सिर केवाण॥

इसका आशय यह था कि इस मुख से वादशाह को तुर्क ही कहा जायगा और सूय जहाँ उगेगा वही उगता रहेगा। हे पृथ्वीराज! तुम प्रसन्नता से मूँछो को ताव देते रहो, क्योकि प्रताप की तलवार तुर्को के सिर पर पडती ही रहेगी।[६२]

यह कहना तो वडा कठिन है कि इस तरह का पत्र-व्यवहार वास्तव मे दोनो व्यक्तियो मे हुआ था या इसका सम्वन्ध किसी परम्परा से चलने वाली जनश्रुति से है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि पृथ्वीराज अपने समय मे अच्छी कविता बनाता

---

[६१] टॉड, राजस्थान, भा० १, पृ० ५६८, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४५५-५७, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ११३-१४

[६२] भूरसिह शेखावत, महाराणा यश प्रकाश, पृ० ८८, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४५१-५२

था। साथ ही साथ यह भी सन्देहात्मक है कि महाराणा ने बादशाह से मेल-जोल बढाने का कोई इरादा भी किया हो। यदि ऐसा उसका विचार होता तो इसका उल्लेख फारसी तवारीखो मे अवश्य होता।[६३]

इसी विपत्ति काल के सम्बन्ध मे एक जनश्रुति और प्रसिद्ध है। बताया जाता है कि जब महाराणा के पास सम्पत्ति का अभाव हो गया तो उसने देश छोडकर रेगिस्तानी भाग मे जाकर रहने का निर्णय किया। परन्तु उसी समय उसके मन्त्री भामाशाह ने अपनी निजी सम्पत्ति लाकर समर्पित कर दी जिससे २५ हजार सेना का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सके। इस घटना को लेकर भामाशाह को मेवाड का उद्धारक तथा दानवीर कहकर पुकारा जाता है। यह तो सही है कि भामाशाह के पूर्वज तथा स्वय वे भी मेवाड की व्यवस्था का काम करते आये थे। परन्तु यह मानना कि भामाशाह ने निजी सम्पत्ति देकर राणा को सहायता दी थी, ठीक नही। भामाशाह राजकीय खजाने को रखता था और युद्ध के दिनो मे उसे छिपाकर रखने का रिवाज था। जहाँ द्रव्य रखा जाता था, उसका सकेत मन्त्री स्वय अपनी वही मे रखता था। सम्भव है कि राजकीय द्रव्य, जो छिपाकर रखा हुआ था, लाकर समय पर भामाशाह ने दिया हो या चूलिया गाँव मे मालवा से लूटा हुआ धन भामाशाह ने समर्पित किया हो। डा० ओझा भी इस कथा को कल्पित ही मानते हैं।[६४]

कुछ भी हो, महाराणा ने अकबर के द्वारा आयोजित एक के बाद दूसरे आक्रमणो का धैर्य से मुकाबला किया और ज्यो-ज्यो मुगलो का ध्यान मेवाड की ओर से अन्य प्रान्तो मे लगता जाता था महाराणा ने मेवाड की बहुत-सी खोयी हुई भूमि को पुन प्राप्त कर लिया। केवल चित्तौड और माडलगढ राणा के अधिकार मे नही आ सके। लगभग १५८५ ई० से १५९७ ई० तक का लम्बा समय राणा को मिला जिसमे उसने दक्षिणी पर्वतीय भाग मे चावण्ड नामक कस्बे मे नयी राजधानी बनायी, जहाँ मुगलो की लम्बी सेना सरलता से नही पहुँचने पाये। इस शान्ति काल मे अथक परिश्रम से उसने राज्य मे सुव्यवस्था भी स्थापित कर ली। अन्त मे पाँव मे किसी असावधानी से कमान से लग जाने से वह अस्वस्थ हो गया, जिससे १९ जनवरी, १५९७ ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी। प्रताप का चावण्ड के पास अनुमानत डेढ मील की दूरी पर, बण्डोली गाँव के निकट बहने वाले नाले के तट पर अग्नि-सस्कार हुआ, जहाँ उसके स्मारक के रूप मे एक छोटी-सी छतरी बना दी गयी। कर्नल टॉड द्वारा पीछोले की पाल के महलो मे राणा की मृत्यु का वर्णन निराधार है।[६५]

जब प्रताप की मृत्यु के समाचार अकबर के कानो तक पहुँचे तो उसे भी बडा क्षोभ हुआ। इस स्थिति का वर्णन दुरसा आढा ने किया है, जो अकबर के दरबार मे

---

६३ जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ११४-१५

६४ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४६३-६६

६५ अमरसार, प्रताप वर्णन, पृ० ७९, टॉड, राजस्थान, भा० १, पृ० ४०५-४०६

उपस्थित था। उसने छप्पय मे कहा "अस लेगो अणदाग, पाग लेगो अणनामी

गहलोत राण जीती गयो, दसण मूँद रसणा डसी। नीसास मूक भरिया नयण, तो मृत शाह प्रतापसी।" आशय यह था कि राणा प्रताप तेरी मृत्यु पर बादशाह ने दाँत मे जीभ दबायी और नि श्वास से आँसू टपकाये, क्योकि तूने अपने घोडे को नही दगवाया और अपनी पगडी को किसी के सामने नही झुकाया। वास्तव मे तू सब तरह से जीत गया।[६६]

प्रताप का व्यक्तित्व—प्रताप के सम्बन्ध मे कर्नल टॉड का कथन है कि 'अकबर की उच्च महत्त्वाकाक्षा, शासन-निपुणता और असीम साधन ये सब बातें दृढ-चित्त महाराणा प्रताप की अदम्य वीरता, कीर्ति को उज्ज्वल रखने वाला दृढ साहस और अध्यवसाय को दबाने मे पर्याप्त न थी। आल्प्स पर्वत के समान अरावली मे कोई भी ऐसी घाटी नही, जो प्रताप के किसी न किसी वीर कार्य, उज्ज्वल विजय या उससे अधिक कीर्तियुक्त पराजय से पवित्र न हुई हो। हल्दीघाटी मेवाड की थर्मोपिली और दिवेर मेवाड का मेरेथान है।[६७]

डा० ओझा[६८] ने भी महाराणा के व्यक्तित्व के विषय मे लिखा है कि 'प्रात स्मरणीय हिन्दूपति वीर शिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह का नाम राजपूताने के इतिहास मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवास्पद है। वह स्वदेशाभिमानी, स्वतन्त्रता का पुजारी, रण-कुशल, स्वार्थत्यागी, नीतिज्ञ, दृढ-प्रतिज्ञ, सच्चा वीर और उदार क्षत्रिय तथा कवि था। उसका आदश था कि बापा रावल का वशज किसी के आगे सिर नही झुकायेगा। स्वदेश-प्रेम, स्वतन्त्रता और स्वदेशाभिमान उसके मूल-मन्त्र थे। इन्ही गुणो के कारण वह अकबर को, जो उस समय ससार का सबसे अधिक शक्तिशाली तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न सम्राट था, अपने छोटे-से राज्य के बल पर वर्षों तक हैरान करता रहा और फिर भी अधीन न हुआ। वह केवल वीर और रण-कुशल ही नही, किन्तु धर्म को समझने वाला सच्चा क्षत्रिय था। केवल शिकार के लिए कुछ सिपाहियो के साथ आते हुए मानसिंह पर धोखा व छल से हमला न कर और अमरसिंह द्वारा पकडी गयी बेगमो को सम्मानपूर्वक लौटाकर उसने अपनी विशाल हृदयता का परिचय

---

[६६] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४६७-६८

[६७] "Undaunated heroism, inflexible fortitude, perseverance were the materials opposed to a soaring ambition, commanding talents, unlimited means and the fervour of religious Zeal, all, however insufficient to contend with one unconquerable mind There is not a pass in the alpine Aravalli that is not sanctified by some deeds of Pratap, some brilliant victory or, oftner, more glorious defeat Haldighati is the Thermopylae of Mewar, the field of Deweir her Marathan"

—Tod, *Annals*, p 278

[६८] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४७२-४७४

दिया। प्रलोभन देकर राजपूत राजाओ और सरदारो को सेवक बनाने वाली अकबर की कूटनीति का यदि कोई उत्तर देने वाला था तो वह महाराणा प्रताप ही था।"

"आज भी प्रताप के वीर कार्यो की कथाएँ और गीत प्रत्येक वीर राजपूत के हृदय मे उत्तेजना पैदा करते हैं। महाराणा का नाम न केवल राजपूताने मे किन्तु सम्पूर्ण भारतवर्ष मे अत्यन्त आदर और श्रद्धा से लिया जाता है। जब तक महाराणा का उज्ज्वल और अमर नाम लोगो को सुनायी पडता रहेगा तब तक वह स्वतन्त्रता और देशाभिमान का पाठ पढाता रहेगा।"

श्री सतीशचन्द्र मित्रा प्रताप के व्यक्तित्व मे एक देशभक्ति का आदर्श, साहस और शौर्य का प्रतीक देखते है। उनके मूल्याकन मे वह भारतीय गगन का एक देदीप्यमान नक्षत्र था जिसके चरित्र मे बहादुरी से भी उदारता विशेष महत्त्वपूर्ण थी। देशभक्ति उसके चरित्र की धुरी थी। वह स्वर्ग से भी स्वदेश को अधिक महत्त्व देता था। उनके विचार से प्रताप जैसे महान व्यक्ति से भारत ही क्या कोई भी देश स्वाभिमान का अनुभव कर सकता है।"[६८]

श्रीराम शर्मा भी प्रताप मे एक महान सेनानायक, साहसी सैनिक, सफल व्यवस्थापक, नरो मे उत्तम और उदार शत्रु के गुण पाते है और कहते हैं कि जहाँ कहीं इन गुणो का सम्मान होगा प्रताप का नाम श्रद्धा की दृष्टि से देखा जायगा।

हमने भी अपनी पुस्तक मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स मे लिखा है कि प्रताप ने लगभग २५ वर्ष तक भारतीय राजनीतिक मच पर एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया और अपनी अधिकाश प्रजा के मन का नेतृत्व किया। उसने अपने शौर्य, उदारता और अच्छे गुणो से जन-समुदाय का सौहार्द्र और श्रद्धा अर्जित कर ली थी। उसने अपनी कर्तव्य-परायणता से तथा सफलता से अपने सैनिको को कर्तव्यारूढ, प्रजा को आशावादी और शत्रु को भयातुर बनाया। एक सेनाध्यक्ष और जन नेता के रूप मे वह अपने जमाने के लिए उपयुक्त था। उसकी मृत्यु ने एक प्रकार मे एक युग की समाप्ति कर दी थी। इन विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुए प्रताप के सम्बन्ध मे हमारा ध्यान इस ओर भी आता है कि जब अकबर सम्पूर्ण भारत को एक-सूत्र मे बाँधने जा रहा था वहाँ प्रताप का उसके साथ न रहना कहाँ तक उपयुक्त था। जो सन्धि की शर्तें अकबर ने प्रताप के लिए रखी थी और जिन्हे कुछ वर्षो के बाद अमरसिंह को मानना पडा था, क्योकि वे मेवाड के सम्मान के विपरीत न थी, यदि इन्हें पहले ही मान लिया जाता तो मेवाड को धन और जन की हानि न होती और सुख-समृद्धि के दिन मेवाड

---

६८ "Thus ended the career of Rana Pratap—the ideal of patriotism, courage and chivalry Magnanimity more than heroism was the main element in Pratap s character Patriotism was the pivat of his character Not only Mewar or Rajputana or even India, but any country in any age and in any part of the world might feel proud of heroes like Pratap" —S C Mitra, pp 186-192

मे पहले ही उदय हो सकते थे। फिर भी यह तो मानना ही पडेगा कि प्रताप का नाम हमारे देश मे स्वाभिमान और देश गौरव के रक्षक के रूप मे अमर है। एक स्वतन्त्रता का महान स्तम्भ होने के नाते, सद्कार्यो के समर्थक होने और नैतिक आचरण का वीर होने के कारण आज भी प्रताप का नाम असख्य भारतवासियो के लिए आशा का बादल है और ज्योति का स्तम्भ है।[७०]

---

७० "As regards Pratap it must be said that for twenty five years he had played an important part upon the political stage, and represented with remarkable fidelity the views of the great majority of his subjects He was a great ruler by virtue of his being a good man with homely virtue, simple life, dauntless courage, untiring industry, generosity, and kindness which won him general affection and respect Pratap s death did more than close an epoch As a general and a leader of man in war Pratap was a person suited to the need of his own time As a great warrior of liberty a devoted lover of noble cause and a hero of moral character, his name is to millions of men even today, a cloud of hope by day and a pillar of fire by night"

—G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, pp 119-121

परिशिष्ट १

महाराणा प्रताप की राजधानी—चावण्ड

स्वर्गीय महाराणा प्रताप की राजधानी के विषय मे कई भ्रान्तियाँ प्रचलित है। कुछ लोगो की मान्यता है कि वर्तमान उदयपुर, जो उदयपुर डिवीजन का केन्द्रीय स्थान है, महाराणा प्रताप द्वारा अपने पिता उदयसिंह की स्मृति मे बसाया गया था। इसी आधार को लेकर यह भी बताया जाता है कि उदयपुर के निकट मोती-मगरी[1] के महलो को उक्त राणा ने ही बनवाया था। वास्तव मे इन विचारो का कोई ऐतिहासिक आधार नही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि उदयपुर की सस्थापना प्रताप के स्वर्गीय पिता उदयसिंह ने कर दी थी।[2] प्रताप को उदयपुर या मोती-मगरी के महलो मे महाराणा की हैसियत से रहने का प्रचुर अवसर भी प्राप्त नही हुआ था।

प्रात स्मरणीय प्रताप के पिछले जीवन-काल से सम्बन्ध रखने वाली राजधानी, सहाडा और प्रसाद के बीच पहाडियो की घाटियो मे थी, जिसको चावण्ड कहते हैं। हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात महाराणा ने कुम्भलगढ से लगाकर ऋषभदेव के पहाडो मे रहकर मुगलो का सफल मुकाबला किया। इसी अर्से मे उनका ध्यान मेवाड के पश्चिम-दक्षिणी भाग पर पडा जो 'छप्पन' के नाम से प्रसिद्ध था। इस भाग पर राठौडो का निर्बल शासन था। समय पाकर महाराणा ने इस भाग पर आक्रमण कर दिया और लगभग १५८५ ई० मे लूणा चावण्डिया को परास्त कर चावण्ड तथा समस्त छप्पन प्रान्त को अपने अधीनस्थ कर लिया।[3] यही से चावण्ड को प्रताप की राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके जीवन तक ही नही वरन् उनके सुपुत्र अमरसिंह के जीवन मे भी १६१५ ई०[4] तक चावण्ड मेवाड की राजधानी बना रहा।

---

१ मोती-मगरी के महलो के सम्बन्ध मे मैंने अपना पूरा मत अन्यत्र प्रस्तुत किया है।

२ सूर्यवश, पृष्ठ ५२ (मूल ग्रन्थ, सरस्वती-भवन पुस्तकालय), उदयपुर, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० २५, फुट नोट न० १, डा० जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ६३

३ सूरखण्ड प्रशस्ति, जागीर मिसल न० १७२२, डिपोजिट रेकार्डर्स, उदयपुर, वीरविनोद, भाग २, पृ० १५८, डा० जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ११५

४ तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० १३४ (फारसी-मूल), अमल-ए-सालेह, भाग १, पृ० ६०-६१ (फारसी-मूल), नैणसी री ख्यात, पृ० ८ (मूल ग्रन्थ)

वैसे तो चावण्ड अब निरा गाँव-सा रह गया है और उसकी प्रतिभा जो उस समय के ग्रन्थ अमरसार[५] से स्पष्ट है, विलीनप्राय हो चुकी है, तथापि चावण्ड के कुछ खण्डहर आज भी उस स्थान की ऐतिहासिकता बढा रहे हैं।

इन खण्डहरो मे चावण्ड के महलो के भग्नावशेष प्रताप के पिछले दिनो के वैभव की याद दिलाते है और बताते हैं कि कर्नल टॉड द्वारा लिखे गये कतिपय कथानक[६] जिनमे प्रताप के कष्टो को अतिरजित रूप से दिखाया गया है, निर्मूल है। महाराणा को १५८५ से १५९७ ई० तक एक ऐसा लम्बा काल मिला और उनके पास इस प्रकार की वैभवशाली भूमि थी कि उनको अपने देश की स्थिति सँभालने का पर्याप्त समय और साधन मिल गये। उधर से मुगलो के हमलो के दौर भी कम हो चले थे। देश के हित-चिन्तन के साथ-साथ उन्होंने राजप्रासादो के निर्माण द्वारा अपनी नयी राजधानी को सुन्दर बनाया।

ये महल अपने ढग से मजबूती के विचार से विलक्षण हैं। इनकी निर्माण शैली मे उदयसिह तथा कुम्भकर्ण के काल की निर्माण शैली की झलक है। यहाँ के भग्नावशेषो की चौपालो तथा कमरो की बनावट ठीक चित्तौड के कँदर पदो के महलो-सी है, परन्तु आकार तथा प्रकार की कुछ विशेषताएँ पूर्व की शैली से भिन्न है। इसी शैली का सुन्दर रूप बडे पैमाने पर राजसिह काल मे देखा जाता है। इन महलो का सबसे बडा चमत्कार यह है कि स्थापत्य कला ने युद्ध-काल की भीषणता को बनाये रखा है। हर स्थान पर बचाव, रक्षा, सुदृढता आदि बातो को ध्यान मे रखा गया है। परन्तु राजसिह काल की सजावट का लवलेश मात्र इनमे नही दिखायी देता। सम्पूर्ण राजप्रासाद के स्वरूप मे हम अनायास प्रताप के कठोर जीवन की झाँकी देख सकते है, मानो कि बनाने वाले ने प्रताप के जीवन का ठीक नमूना महलो के रूप मे रख दिया हो। ये महल युद्धकालीन स्थापत्य कला के अनूठे उदाहरण हैं।

इन महलो के पास सामन्तो के बने हुए मकानो के आकार भग्नावस्था मे दिखायी देते है। कुछ एक दीवारो के निशान से हम अनुमान लगा सकते हैं कि सामन्तो की बस्ती के मकानो मे कुछ एक छोटे कमरे, चबूतरे व खुली घुडसाल होती थी और मकानो को बाँस और केलु से ढका जाता था। दीवारो के ढेरो मे कई बाँस के टुकडे और लम्बे आकार के मजबूत 'केलू' अब भी देखने को मिलते हैं। इस बस्ती से कुछ दूर कच्चे मकानो के ढेर भी हैं जो जनसाधारण की बस्ती के है। इन अवशेषो से वतमान गाँव की बस्ती मिल-सी गयी है। मकानो की बनावट सादी है, जिनमे मुख्य द्वार के पीछे आँगन और आँगन के आगे चौपाल और एक-दो बडे कमरो के सिवाय

---

५ अमरसार (मूल-ग्रन्थ), प्रताप यश वर्णनम्

६ इन कथानको मे, 'बिल्ली द्वारा रोटी ले जाना', 'अमरसिंह की पगडी बाँसो मे उलझना', 'घास की रोटी खाना', 'प्रताप के प्राण कष्ट से निकलना' आदि भ्रमोत्पादक हैं।

कुछ नही दिखायी देता । रास्ते ऊँची-नीची भूमि पर है और उनका कोई निश्चित क्रम नही है । अलबत्ता, राजप्रासाद और सामन्तो की वस्ती के मार्ग सीधे है और अधिक चौडे है । उस युग मे साधारण वस्ती की बनावट और विशेष अधिकारी वर्ग की वस्ती की बनावट मे कुछ भेद अवश्य होता था, जैसा चावण्ड की पुरानी वस्ती के आधारो के अध्ययन से स्पष्ट है ।

ठीक इन खण्डहरो के पास चामुण्डा-देवी का मन्दिर है, जो बनावट के विचार से अधिक प्राचीन नही माना जा सकता । सम्भव है पुराने मन्दिर का जीर्णोद्धार समय-समय पर होता रहा हो । महलो के पास देवी के मन्दिर का होना भी यह वताता है कि युद्ध के लिए प्रेरणा लेने के लिए शक्ति की उपासना उस समय अधिक प्रचलित थी ।

यहाँ से अनुमानत डेढ मील के अन्तर पर वण्डोली गाँव के पास बहने वाले छोटे-से नाले के तट पर महाराणा प्रताप के अग्नि-सस्कार का होना बताया जाता है । उसी स्थान पर प्रताप का स्मारक भी बना हुआ है । कुछ लोगो का कहना है यह स्मारक, जिसे प्रताप का स्मारक बताया जाता है, किसी अन्य राजपरिवार के व्यक्ति का स्मारक है । इस कथन की पुष्टि मे बताया जाता है कि प्रताप के स्मारक मे एक प्रशस्ति मिली थी जिस पर उनकी बूआ का नाम अकित था । परन्तु इस आधार के विपक्ष मे यह भी कहा जा सकता है कि उक्त प्रशस्ति को किसी दूसरे स्थान से लाकर भी वहाँ लगाया गया हो । इसमे तो कोई सन्देह नही कि जहाँ स्मारक बना हुआ है वह शमशान है । इस प्रकार के अन्य स्मारको के खण्डहर जो वहाँ हैं, इस कल्पना की पुष्टि करते है । ऐसी स्थिति मे यदि माने गये प्रताप के स्मारक को परम्परा के आधार पर वास्तविक स्मारक मान लें तो कोई अधिक आपत्ति नही दिखायी देती ।

चावण्ड की प्रतिभा इन खण्डहरो से अमिट है इसमे कोई सन्देह नही । इसके साथ-साथ यहाँ ललित-कला, वाणिज्य-व्यापार और विद्योन्नति भी होती रही है । महाराणा प्रताप और अमरसिंह के समय मे यहाँ सस्कृत भाषा को बड़ा प्रोत्साहन मिला, जैसा कि उस समय मे लिखे गये कतिपय हस्तलिखित ग्रन्थो मे स्पष्ट है । चित्र-कला के सम्बन्ध मे यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मेवाडी चित्रकला के प्रारम्भिक उत्कृष्ट नमूनो का प्रादुर्भाव यही मे हुआ है । मेरे मित्र श्री गोपीकृष्ण कानोडिया के पास चित्रित भागवत् का एक पत्र है जिसको एक यवन कलाकार ने चावण्ड मे बनाया था । चित्र मे मेवाडी शैली का सादा व सुन्दर समन्वय है, जिसमे मानसिक भाव के प्रदर्शन के साथ प्राकृतिक वस्तुओ को ठीक अकित किया गया है । रग मे सादगी और गहराई है । हर प्रकार से चित्र की शैली इसी बात को स्पष्ट करती है कि मेवाडी चित्रकला का एक प्रारम्भिक क्षेत्र चावण्ड भी रहा है ।[१]

---

१ जी० एन० शर्मा, मेवाडी चित्रकला, इण्डियन हिस्ट्री काग्रेस का अक, १९५८

चावण्ड से राजधानी उठ जाने पर भी वहाँ के साहित्य-सर्जन एव प्रगति मे न्यूनता नही हुई जैसा कि १७वी व १८वी शताब्दी के कतिपय ग्रन्थो[८] से जो यहाँ लिखे गये, स्पष्ट है। इन बातो से अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रताप-काल मे लेकर १८वी शताब्दी तक चावण्ड मे कला तथा साहित्य की उन्नति होती रही। इसका मूल कारण यह था कि महाराणा प्रताप और उसके सुयोग्य पुत्र अमरसिह द्वारा एतद् सम्बन्धी परम्पराओ को इस प्रकार सस्थापित किया गया था कि चिरकाल तक वे परम्पराएँ चावण्ड के जीवन मे कला और विद्या का सचार करती रही।

८ इन ग्रन्थो मे जो मुझे देखने को मिले हैं, वे ये है—सिंहासनबत्तीसी, ज्योतिष-सार, श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध, बृजभाषा मे आदि।

परिशिष्ट २

महाराणा प्रताप और उनका पर्वतीय जीवन

हल्दीघाटी से सम्वन्धित प्रताप की गाथाएँ वडी महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु उनसे भी अधिक गौरवपूर्ण वे गाथाएँ है जो उनके पर्वतीय जीवन पर प्रकाश डालती है। प्रताप के देशाभिमान, स्वार्थत्याग, दूरदर्शिता और रण-कौशल के अध्ययन के लिए हमे उन घटनाओ को समझना चाहिए जिनका सम्वन्ध उनकी पहाडी स्थिति से है। कर्नल टॉड[1] ने इस स्थिति से सम्वन्धित घटनाओ को जैसे महारानियो का चट्टानो पर सोना, उनकी पुत्री की रोटी का विलाव द्वारा छीना जाना और उसका चीख पडना आदि, वढा-चढाकर लिखा है। हम जानते हैं कि प्रताप की हल्दीघाटी की पराजय और उसके देहावसान के वीच का समय अधिकाश पहाडो मे गुजरा था। इसकी कहानी प्रताप के जीवन की सच्ची कहानी है। इसी कहानी से हमे उनके देश-प्रेम, रण-कौशल, वीरता, सहिष्णुता और नीतिमत्ता के वास्तविक स्वरूप का वोध होता है। यदि हम प्रताप को समझना चाहते हैं तो हमे उन पहाडो मे जाना होगा जहाँ वर्षो रहकर प्रताप ने मुगलो का मुकावला किया और अपने देश की सुव्यवस्था की। ये पहाड आज भी प्रताप के सच्चे स्वरूप को हमारे सामने उपस्थित करते हैं।

हल्दीघाटी की पराजय को महाराणा ने कभी पराजय नही माना, वरन् इस पराजय के वाद उन्होने पर्वतीय जीवन और युद्ध-नीति का नया पृष्ठ प्रारम्भ किया। लडाई के मैदान से वे सीधे उन पहाडो मे गये जहाँ पानी, अन्न और औषधि उपलव्ध थी। इन पहाडो मे कोल्यारी नाम का गाँव था। वहाँ पहुँचकर उन्होने अपने घायल सैनिको का उपचार करवाया। इन्ही मे उन्हे अपने देश की सुरक्षा की आशा थी। यह स्थान निर्जन वन मे था, जहाँ मुगल सेना का पहुँचना कठिन था। यहाँ पहले से ही प्रताप ने रसद और अन्य सुविधाओ को जुटाकर रखा था। कुछ समय तक यहाँ रहकर उन्होने घायल सिपाहियो की देखभाल की और उन्हे स्वस्थ वनाया।[2]

इसके पश्चात भीतरी गिरवा के पहाडी नाको पर इन सिपाहियो को लगाया जिन्होंने गोगुन्दे मे टिकी हुई शाही सेना की रसद को वन्द कर दिया। विजयी

१ टॉड, राजस्थान, जिल्द १, पृ० ३६८

२ वीरविनोद, भाग २, पृ० १५३

मुगल एक प्रकार से यहाँ कैदियो की भाँति जीवन बिताने लगे। अपने घोडो को और ऊँटो को मारकर वे खाने लगे या वहाँ पैदा होने वाले खट्टे आम उनके जीवन का आधार बने। विवश होकर मुगल सैनिक छिप-छिपकर भागने लगे और इस प्रकार से उनकी विजय पराजय के रूप मे बदल गयी। मानसिंह तथा बदायूँनी जब अजमेर पहुँचे तो अकबर ने उनकी उपेक्षा की। यह इस बात का प्रमाण है कि प्रताप की पर्वतीय नीति ने मुगलो की नीति को विफल बना दिया था।[3]

मुगलो को गोगुन्दे से निकालने से ही महाराणा सन्तुष्ट न थे। उन्होने महाराणा कुम्भा की नीति पर अधिक बल दिया। उन्होने कुम्भलगढ से लगाकर सहाडा तक के तथा गोडवाड से लेकर आसींद और भैंसरोडगढ के पर्वतीय नाको पर भीलो की विश्वस्त पालो को बसा दिया जो दिन-रात मेवाड की चौकसी करते थे, और देखते थे कि शत्रु किसी भी भाग से भीतर न घुसे। इन भीलो के जत्थो के साथ अन्य सैनिक भी थे जो मुगलो को मेवाड मे घुसने से रोकते थे। इस सम्पूर्ण व्यवस्था को सफल बनाने के लिए महाराणा को राजप्रासाद के जीवन से तिलाजली देनी पडी। वे पहाडी कन्दराओ और जगलो मे अपने परिवार के साथ घूमने लगे। जीवन की असुविधाओ और कठिनाइयो को उन्होने अपने जीवन का अग बना लिया। कभी वे एक पहाडी पर थे तो कभी दूसरी पर। यह मुगलो से छिपने की विधि न थी वरन् एक नयी युद्ध-पद्धति थी जिसने भविष्य मे होने वाले मुगल हमलो को विफल बना दिया। इस पद्धति मे जमकर लडाई करने को कोई महत्त्व नही दिया जाता था। फल यह हुआ कि मुगल, जो मैदानी लडाई मे अभ्यस्त थे, इस प्रणाली के साथ अपना कदम न मिला सके। यही कारण था कि कुतुबुद्दीनखाँ, भगवानदास, मिर्जाखाँ, हाशिमखाँ, शाहबाजखाँ आदि मुगल सेनाध्यक्ष, जो उत्तरोत्तर मेवाड की ओर भेजे गये, मेवाड विजय मे सफल न हो सके। यहाँ तक कि अकबर स्वय गोगुन्दे आया और इधर-उधर राणा की तलाश मे लगा रहा, परन्तु अपने प्रयत्नो मे विफल होकर गुजरात की ओर निकल गया।[४]

महाराणा की सफलता केवल नाकेबन्दी के कारण ही न थी, उन्होने अपने पर्वतीय जीवन-काल मे स्थानीय जन-समुदाय से अच्छा सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। महाराणा के कठिन व्रत से और कष्टपूर्ण जीवन बिताने से लोगो को बडी प्रेरणा मिली। वे महाराणा के आत्मीय बन गये और हर प्रकार से उनका सहयोग देने लगे। एक ताम्रपत्र के आधार से प्रमाणित होता है कि इस पर्वतीय जीवनकाल मे महाराणा सकुटुम्ब कई दिन एक लुहार के घर मे रहे थे। उसके सौजन्य और आतिथ्य

---

३ बदायूँनी, मुन्तखब, भाग २, पृ० २६५, निजामुद्दीन, तबकात, पृ० ३३५, अकबरनामा, भाग ३, पृ० १६०-६१

४ बदायूनी, मुन्तखब, भाग २, पृष्ठ २४१, २४२, निजामुद्दीन, तबकात, पृ० ३३६, अकबरनामा, भाग ३, पृ० १६९-७०, १७५

के सम्मान मे उन्होंने उसे खेती के लिए भूमि भी दी थी, जो उसके वशजो के अधिकार मे अब तक थी।[५]

इसी पर्वतीय जीवन के काल मे महाराणा ने वे स्थान, जो उनके आदेश से खाली कर दिये गये थे या जहाँ शत्रुओ के द्वारा बडी हानि पहुँची थी या जिन्हे अग्नि का ग्रास बना दिया गया था, उन्हे फिर से आबाद किया गया। उदाहरणार्थ, पीपली, ढोलान, टीकड आदि गाँव जो उजड गये थे उन्हे फिर से बसाया गया। लोगो को नयी जमीन दी गयी, जमीन के नये पट्टे बना दिये गये और पुराने पट्टे, जो जल गये थे या लुप्त हो गये थे, उनको पुन मान्यता दी गयी। इस नीति व प्रयत्नो को सफल बनाने के लिए प्रताप पहाडी इलाको मे ही रहते थे। उदयपुर को राजधानी बनाकर या मोती-मगरी के राजप्रासादो मे प्रताप नही रहे। उन्होने जनता के आराम के लिए अपने आराम की परवाह न की। उन्हे तो पर्वतीय जीवन से एक प्रकार से मोह हो गया था। इस व्यवस्था से मेवाड का जनजीवन, व्यापार, वाणिज्य आदि साधारण स्थिति पर पहुँच गये। मुगलो के हमलो की प्रगति भी क्रमश शिथिल होती गयी।[६]

इस प्रकार जब मेवाड की हालत सुधरती चली गयी तो प्रताप ने सहाडा के जिले मे एक पर्वतीय भाग जिसमे राठौड रहते थे और जिसे छप्पन का इलाका कहते है, लूणा चावण्डिया को परास्त कर अपने अधिकार मे किया। यह भाग चारो ओर ऊँची पर्वतमाला से घिरा हुआ था जिसमे घने जगल तथा पर्वतीय घाटियो और नाको का बाहुल्य था। सन् १५८५ ई० मे महाराणा ने इस भाग मे स्थित चावण्ड नामक एक पहाडी कस्बे को अपनी राजधानी बनाया। उनके जीवनकाल तक ही नही वरन् उनके सुपुत्र अमरसिंह के राज्यकाल मे १६१५ ई० तक चावण्ड मेवाड की राजधानी बना रहा। यहाँ प्रताप ने अपने महलो का निर्माण करवाया तथा उसके आसपास सामन्तो की भी हवेलियाँ बनवायी। महलो के खण्डहर आज भी बताते हैं कि उनमे विलासिता या वैभव का कोई दिखावा नही रखा गया था। उसकी बनावट मे सरल जीवन तथा सुरक्षा के साधनो को प्रधानता दी गयी थी। जगह-जगह मोर्चों की सुविधाएँ, निकलकर भागने की व्यवस्था और सादगी पर अधिक बल दिया गया था। जो आसपास के मकानो के भग्नावशेष दिखायी देते हैं उनमे मिट्टी, पत्थर, बाँस आदि का प्रयोग स्पष्ट है। खुले चबूतरे, घुडसाल, आँगन आदि इन मकानो के मुख्य भाग थे। इन्हे ऊँची-नीची भूमि पर अनिश्चित क्रम से बना दिया गया था। राजप्रासाद तथा हवेलियो के खण्डहरो को देखने से प्रतीत होता है कि शासक तथा

५ स्वर्गीय नाथूलालजी की प्रतिलिपि।

६ ताम्र शासन, मि० न० १२६-१३३, जागीर न० ६४, वि० स० १६३३, १६४५, १६६८, उदयपुर पुरालेख सग्रह

अधिकारी वर्ग के मकानो मे कोई विशेष अन्तर नही था। यदि कोई अन्तर था तो वह उनके आकार मात्र मे था।[७]

प्रताप का अन्तिम जीवन भी इसी पर्वतीय भाग मे समाप्त हुआ। चावण्ड से डेढ मील के अन्तर पर बण्डोली गाँव के पास बहने वाले एक छोटे नाले के तट पर महाराणा का दाह-संस्कार हुआ जहाँ पर एक स्मारक बनवाया गया है। आज यह स्मारक एक बाँध के गर्भ मे है। बडे प्रयत्नो के बाद यह स्मारक पानी से ऊपर उठाया गया है, जो उस निर्भीक स्वतन्त्रता के पुजारी की हमे याद दिलाता है जिसने पर्वतीय जीवन बिताकर तथा कठोरता का हँसकर सामना कर अपने देश के मान और मर्यादा की रक्षा की।

---

[७] अमरसार, प्रताप-वर्णन, श्लोक स० ६०-७१, सुरह, वि० स० १६४२, मिसल जागीर न० १७२७, उदयपुर पुरालेख सग्रह, शोध पत्रिका मे मेरा एक लेख, महाराणा प्रताप की उजडी हुई राजधानी, उनकी मृत्यु के सम्बन्ध मे मेरी पुस्तक मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ११७-१९ द्रष्टव्य

परिशिष्ट ३

महाराणा प्रताप—एक व्यवस्थापक के रूप मे

सागा की मृत्यु मेवाड के इतिहास मे एक विघटन के युग का प्रारम्भ करती है, जिसके फलस्वरूप मेवाड मे अनेक राजनीतिक उथल-पुथल तथा विभिन्न आन्तरिक और वाह्य समस्याओ का प्रारम्भ होता है। १५२८ से १५३७ ई० की थोडी अवधि मे ही मेवाड पर तीन शासको का राज्य हो चला था, जिसमे सिवाय पारस्परिक द्वेष और स्वार्थ सम्पादन के प्रयत्नो के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण घटना उल्लेखनीय नही है। रत्नसिंह और सूरजमल के वैमनस्य ने मेवाड और हाडौती के सम्बन्ध मे कटुता पैदा कर दोनो राज्यो को निर्बल बना दिया। दोनो का पारस्परिक द्वेष इतना वढ गया कि वे एक-दूसरे को जीवित नही देख सकते थे। अन्त मे दोनो के शासक शिकार के वहाने लडकर मृत्यु की गोद मे जा बैठे।[1] जव रत्नसिंह के छोटे भाई विक्रमादित्य मेवाड के शासक वने तो वहाँ की दशा अत्यन्त शोचनीय हो चली। उन्हे अपने पद और उत्तरदायित्व का कोई भान नही था। शासन-कार्य मे उन्हे कोई रुचि न थी। चाटुकारो और पहलवानो की सगत मे रहकर उन्होने अपने पद और अधिकार का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया। उनके व्यवहार से असन्तुष्ट होकर स्वाभिमानी सरदारो ने दरवार मे जाना वन्द कर दिया और वे अपने-अपने ठिकानो मे जाकर रहने लगे।[2] जव इस अवस्था मे वहादुरशाह ने मेवाड पर आक्रमण कर दिया तो महाराणा के लिए सिवाय शत्रु से अपमानजनित सन्धि करने के और कोई चारा न रह गया। इस पराभव ने भी राणा की आँखो को न खोला और वे अपने रहन-सहन तथा व्यवहार मे पूर्ववत वने रहे।[3] फल यह हुआ कि कुँवर पृथ्वीराज के अनौरस पुत्र वणवीर ने अवसर पाकर १५३६ ई० मे राणा की हत्या कर दी और वह स्वय मेवाड का शासक वन वैठा। जव अराजकता और निन्दनीय कार्यो का दौर वढता ही जा रहा था कि कई सरदारो ने मिलकर उदयसिंह को अपना नेता

---

[1] वीरविनोद, भा० २, पृ० ४, ख्यात पत्र, २६-२७

[2] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३६४, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ३, पृ० १३०, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ४७

[3] वैले, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० ३६१-६२, मीरात, पृ० ३६०-६३ (पाण्डुलिपि)

स्वीकार किया और वणवीर को परास्त कर उसे (उदयसिंह) मेवाड का शासक घोषित किया।[४]

महाराणा उदयसिंह मे एक नयी सूझबूझ थी। उन्हे अपने कर्तव्याकर्तव्य का परिज्ञान था। वे भली प्रकार जानते थे कि बिगडी हुई देश की हालत कैसे सुधारी जा सकती है। शीघ्र ही उन्होने सरदारो से मेल-जोल वढाया जिससे राज्य की आन्तरिक स्थिति मे एक नया मोड आया। उन्होने आसपास के राज्यो से युद्ध या सन्धि कर मेवाड की राजनीतिक स्थिति मे वल पैदा किया। जब शेरशाह ने मेवाड पर आक्रमण की योजना बनायी तो सन्धि प्रस्ताव द्वारा उसकी विध्वसकारी योजना को समाप्त कर दिया। इसी क्षण से राणा ने मेवाड की सुरक्षा करने की ओर प्रयत्नशीलता दिखायी। जब उन्होने देखा कि अफगानो से भी अधिक वलवान, मुगलो का सीधे रूप से मुकाबला नही किया जा सकता तो उन्होने चित्तौड के आसपास की वस्तियो को पहाडी भागो मे हटाया और चित्तौड की सुरक्षा का भार जयमल को देकर, जिसे मुगलो के प्रति प्रतिकार की भावना थी, स्वय नयी बस्तियो के बसाने और सुरक्षित करने के काम मे लग गये। इसी अवधि मे उन्होने पर्वतीय भाग मे उदयपुर नामक नगर की स्थापना की और उसे मेवाड की राजधानी वनाया। इसी दूरदर्शिता की नीति के फलस्वरूप चित्तौड पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने पर भी अकवर उदयसिंह को अपने पर्वतीय सुरक्षा स्थलो से वचित न कर सका।[५]

जब महाराणा प्रताप १५७२ ई० मे मेवाड राज्य के स्वामी वने तो उन्होने पाया कि उनके सामने दो प्रमुख समस्याएँ थी—एक तो यह कि अपने पिता के द्वारा स्थापित नयी राजधानी और उसके आसपास की नयी बस्तियो की समुचित व्यवस्था करना और दूसरी यह कि अकबर की बढती हुई शक्ति तथा उसकी सत्तावादी नीति का मुकावला करना। प्रथम समस्या के सम्बन्ध मे उन्होने पहाडी भागो मे रहने वाले भीलो पर अपना प्रभाव स्थापित किया, जिससे वे अपने भागो मे अर्द्ध-स्वतन्त्र रहते हुए भी महाराणा के सहयोगी बने रहे और उस सम्पूर्ण भाग की रक्षा करते रहें। इस प्रकार की सेवा के उपलक्ष में उनको कई प्रकार की रियायतें भी दे दी गयी। स्थान-स्थान पर उनकी चौकियाँ बिठा दी गयी और पहाडी नाको पर सेना की टुकडियाँ रख दी गयी। इस प्रकार कुम्भलगढ से लगाकर देपुरा के पूरे पहाडी इलाके पर प्रताप का पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया। इसी रक्षा-व्यवस्था को अधिक प्रभावशाली बनाने

---

४ कुम्भलगढ दानपत्र, वि० स० १५९४, अमर काव्य वशावली, पृ० ३२, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ५९-६०

५ तारीख-ए-शेरशाही, पृ० ६९ (पाण्डुलिपि), अकवरनामा, भा० २, पृ० ५६, नैणसी की ख्यात, पृ० १७, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ५९-८१

परिशिष्ट ३

महाराणा प्रताप—एक व्यवस्थापक के रूप मे

सागा की मृत्यु मेवाड के इतिहास मे एक विघटन के युग का प्रारम्भ करती है, जिसके फलस्वरूप मेवाड मे अनेक राजनीतिक उथल-पुथल तथा विभिन्न आन्तरिक और वाह्य समस्याओ का प्रारम्भ होता है। १५२८ से १५३७ ई० की थोडी अवधि मे ही मेवाड पर तीन शासको का राज्य हो चला था, जिसमे सिवाय पारस्परिक द्वेष और स्वार्थ सम्पादन के प्रयत्नो के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण घटना उल्लेखनीय नही है। रत्नसिंह और सूरजमल के वैमनस्य ने मेवाड और हाडौती के सम्बन्ध मे कटुता पैदा कर दोनो राज्यो को निर्बल बना दिया। दोनो का पारस्परिक द्वेष इतना बढ गया कि वे एक-दूसरे को जीवित नही देख सकते थे। अन्त मे दोनो के शासक शिकार के बहाने लडकर मृत्यु की गोद मे जा बैठे।[1] जब रत्नसिंह के छोटे भाई विक्रमादित्य मेवाड के शासक बने तो वहाँ की दशा अत्यन्त शोचनीय हो चली। उन्हे अपने पद और उत्तरदायित्व का कोई भान नही था। शासन-कार्य मे उन्हे कोई रुचि न थी। चाटुकारो और पहलवानो की सगत मे रहकर उन्होने अपने पद और अधिकार का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया। उनके व्यवहार से असन्तुष्ट होकर स्वाभिमानी सरदारो ने दरबार मे जाना बन्द कर दिया और वे अपने-अपने ठिकानो मे जाकर रहने लगे।[2] जब इस अवस्था मे बहादुरशाह ने मेवाड पर आक्रमण कर दिया तो महाराणा के लिए सिवाय शत्रु से अपमानजनित सन्धि करने के और कोई चारा न रह गया। इस पराभव ने भी राणा की आँखो को न खोला और वे अपने रहन-सहन तथा व्यवहार मे पूर्ववत बने रहे।[3] फल यह हुआ कि कुँवर पृथ्वीराज के अनौरस पुत्र वणवीर ने अवसर पाकर १५३६ ई० मे राणा की हत्या कर दी और वह स्वय मेवाड का शासक बन बैठा। जब अराजकता और निन्दनीय कार्यो का दौर बढता ही जा रहा था कि कई सरदारो ने मिलकर उदयसिंह को *अपना नेता*

---

[1] वीरविनोद, भा० २, पृ० ४, ख्यात पत्र, २६-२७

[2] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३९४, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ३, पृ० १३०, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ४७

[3] बेले, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० ३६१-६२, मीरात, पृ० २६०-६३ (पाण्डुलिपि)

स्वीकार किया और वणवीर को परास्त कर उसे (उदयसिंह) मेवाड का शासक घोषित किया।[४]

महाराणा उदयसिंह मे एक नयी सूझबूझ थी। उन्हे अपने कर्तव्याकर्तव्य का परिज्ञान था। वे भली प्रकार जानते थे कि बिगडी हुई देश की हालत कैसे सुधारी जा सकती है। शीघ्र ही उन्होने सरदारो से मेल-जोल वढाया जिससे राज्य की आन्तरिक स्थिति मे एक नया मोड आया। उन्होने आसपास के राज्यो से युद्ध या सन्धि कर मेवाड की राजनीतिक स्थिति मे वल पैदा किया। जब शेरशाह ने मेवाड पर आक्रमण की योजना वनायी तो सन्धि प्रस्ताव द्वारा उसकी विध्वसकारी योजना को समाप्त कर दिया। इसी क्षण से राणा ने मेवाड की सुरक्षा करने की ओर प्रयत्नशीलता दिखायी। जब उन्होने देखा कि अफगानो से भी अधिक वलवान, मुगलो का सीधे रूप से मुकाबला नही किया जा सकता तो उन्होने चित्तौड के आसपास की वस्तियो को पहाडी भागो मे हटाया और चित्तौड की सुरक्षा का भार जयमल को देकर, जिसे मुगलो के प्रति प्रतिकार की भावना थी, स्वय नयी वस्तियो के वसाने और सुरक्षित करने के काम मे लग गये। इसी अवधि मे उन्होने पर्वतीय भाग मे उदयपुर नामक नगर की स्थापना की और उसे मेवाड की राजधानी वनाया। इसी दूरदर्शिता की नीति के फलस्वरूप चित्तौड पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने पर भी अकबर उदयसिंह को अपने पर्वतीय सुरक्षा स्थलो से वचित न कर सका।[५]

जव महाराणा प्रताप १५७२ ई० मे मेवाड राज्य के स्वामी वने तो उन्होने पाया कि उनके सामने दो प्रमुख समस्याएँ थी—एक तो यह कि अपने पिता के द्वारा स्थापित नयी राजधानी और उसके आसपास की नयी वस्तियो की समुचित व्यवस्था करना और दूसरी यह कि अकबर की वढती हुई शक्ति तथा उसकी सत्तावादी नीति का मुकावला करना। प्रथम समस्या के सम्वन्ध मे उन्होने पहाडी भागो मे रहने वाले भीलो पर अपना प्रभाव स्थापित किया, जिससे वे अपने भागो मे अर्द्ध-स्वतन्त्र रहते हुए भी महाराणा के सहयोगी वने रहे और उस सम्पूर्ण भाग की रक्षा करते रहे। इस प्रकार की सेवा के उपलक्ष मे उनको कई प्रकार की रियायतें भी दे दी गयी। स्थान-स्थान पर उनकी चौकियाँ विठा दी गयी और पहाडी नाको पर सेना की टुकडियाँ रख दी गयी। इस प्रकार कुम्भलगढ से लगाकर देपुरा के पूरे पहाडी इलाके पर प्रताप का पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया। इसी रक्षा-व्यवस्था को अधिक प्रभावशाली वनाने

---

४ कुम्भलगढ दानपत्र, वि० स० १५९४, अमर काव्य वशावली, पृ० ३२, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ५९-६०

५ तारीख-ए-शेरशाही, पृ० ६९ (पाण्डुलिपि), अकवरनामा, भा० २, पृ० ५६, नैणसी की ख्यात, पृ० १७, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ५९-८१

के लिए प्रताप ने मेवाड की पूर्वी मैदान की भूमि को उजाड करवा दिया जिसमे न कोई खेती कर सकता था और न रह ही सकता था। विशेष आज्ञा से ये प्रदेश जन-विहीन कर दिया गया। यदि कोई इसकी अवहेलना करता था तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। इस योजना से, जो मेवाड के लिए एक नयी योजना थी, थोडे-से भू-भाग को, जो पहाडी भाग मे था और जिसमे सारी मेवाड की जनता को वसा दिया गया था, सुरक्षित रखने मे सुविधा हो गयी। जगह-जगह पहाडी उपत्यकाओ मे खेती की व्यवस्था से जनता के लिए काम भी खोज निकाला गया और उस भू-भाग को आवाद करने मे भी सहायता मिल गयी। इस नयी व्यवस्था से आक्रमणकारियो को वडी हानि हुई। एक तो उनके लिए विध्वसकारी कार्यो के लिए कुछ भी अवशेष न वचा और दूसरा शत्रुओ के लिए रसद प्राप्त करने की सम्भावना समाप्त हो गयी थी।[६]

जब इस व्यवस्था से सुरक्षा प्रवन्ध समुचित रूप से सम्पादित हो चुका तो प्रताप ने अपने सामन्तो तथा आश्रितो का भी सहयोग प्राप्त करने मे प्रयत्नशीलता दिखायी। इस कार्य मे उन्हे अपने व्यक्तित्व, आदर्शवादिता तथा क्रियाशीलता से वडी सफलता मिली। सीसोदिया सरदार, स्थानीय सरदार तथा अन्य वाहरी राजपूत वशो ने प्रताप को अपना नेता स्वीकार किया और सभी मेवाड की सुरक्षा के लिए उसके सहयोगी बन गये। कई चौहान, सीसोदिया, तवर, राठौड, सोलकी आदि राजपूत वशो ने मेवाड के लिए वलिदान चढाने को अपना-अपना सैन्य-बल प्रताप को सुपुर्द कर दिया और सभी देश की रक्षा के कार्य मे लग गये। इन राजपूत वशो के अतिरिक्त ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र तथा भीलो के जत्थे भी महाराणा के साथ देश-रक्षा के पुनीत कार्य के लिए कमर बाँध कर तैयार हो गये। हल्दीघाटी के युद्ध मे इन सभी जातियो का, जिनमे मुसलमान भी सम्मिलित थे, सहयोग था। राज्य के तथा राज्येतर सामन्तो तथा सम्पूर्ण जनता का सहर्ष सहयोग प्राप्त करना और आसपास के राज्यो से मैत्री सयोग बढाना प्रताप की सहिष्णु तथा विचारशील नीति का परिचायक है। इस नीति को समयोचित और चतुर नीति कहा जा सकता है।[७]

सुरक्षा नीति की भाँति प्रताप ने सैन्य-व्यवस्था तथा युद्ध-प्रणाली को भी नया मोड दिया। हल्दीघाटी के युद्ध के पहले प्रताप ने जगह-जगह चौकियाँ बिठा दी तथा गुप्तचरो को भी लगा दिया था जिससे शत्रुओ की चाल से वे अवगत हो सकें। युद्ध के लिए उन्होने सम्पूर्ण सेना को नही लगाया था, वरन् सेना के कुछ अग को

---

६ वदायूँनी, मुन्तखव, भा० २, पृ० २२८, वीरविनोद, भा० २, पृ० १४६, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ८६-८७

७ वदायूँनी, मुन्तखव, भा० २, पृ० २३१, अकवरनामा, पृ० ९९, १५२, तवकात, पृ० ३३२, सूर्यवश, पृ० १९, वशावली राणाजीनी, पृ० ६८, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ९१-९६

कोल्यारी मे सुदूर छोडा था जो मुगलो की विथकित सेना को परेशान कर सके और स्थानीय सेना के इलाज आदि की आवश्यकता मे सहायता पहुँचा सके। पुरानी राजपूत प्रणाली की भाँति युद्ध मे लडकर मर-मिटने पर प्रताप विश्वास नही करते थे। यही कारण था कि उन्होने किसी युद्ध मे मोर्चो पर डटकर मुगलो से मुठभेड न की। शत्रु को अपनी छावनी मे घेर लेना, उसकी रसद को रोक लेना, भागती हुई सेना का पीछा करना, शत्रु के डेरे को लूटना आदि नयी प्रथाएँ थी जिन पर प्रताप ने बल दिया, जिसके फलस्वरूप अकबर की महान शक्ति प्रताप को परास्त न कर सकी। एक ही बार युद्ध मे लडकर युद्ध को समाप्त करना वह सही नही समझते थे। युद्ध को लम्बा बढाकर शत्रु की शक्ति का नाश करना वे अधिक उपयोगी मानते थे। इस नयी गति-विधि से प्रताप अपने समय मे (चित्तौड और माण्डलगढ को छोडकर) पुन मेवाड को अपने अधीन करने मे सफल हुए।[८]

जन-जागरण तथा जन-सगठन की क्षमता भी प्रताप मे खूब थी। सम्पूर्ण पहाडी भागो मे घूम-घूमकर तथा कष्ट साध्य जीवन बिताकर उन्होने जनता के नैतिक स्तर को बनाये रखा। प्रताप ने उनके जीवन की समस्या को अपने जीवन की समस्या बनाया। वे कई दिन ग्रामीण जनता के बीच मे विचरण करते रहे और जन-आन्दोलन द्वारा देश को सजग बनाये रहे। मुगलो के लिए ऐसे नये सगठन का मुकाबला करना बडा कठिन था।[९]

जब मुगलो का भय कम हो गया और देश भी एक सूत्र मे सगठित हो चला तो प्रताप ने जन-जीवन को सुव्यवस्थित करने का बीडा उठाया। उन्होने नयी बस्तियो को एक रूप देने के लिए चावण्ड मे नयी राजधानी को स्थापित किया। समुचित शासन-व्यवस्था के लिए वे शासन के प्रमुख कर्णधार बने, परन्तु उन्होने कई विभागो की देखरेख के लिए विभागीय अध्यक्षो की नियुक्तियाँ की। पुराने अधिकारी या तो मर चुके थे या नयी प्रणाली के लिए उपयुक्त नही थे। महाराणा ने नयी शासन-व्यवस्था के लिए नये दल को तैयार किया। रामा नामक मुख्य प्रधान को हटाकर भामाशाह की उसके स्थान पर नियुक्ति करना इसी दिशा मे एक नया कदम था।[१०] इस प्रकार की शासन-व्यवस्था मे परम्परा और नयी परिस्थिति के अनुकूल आचरण का सामजस्य था।

---

८ नैणसी की ख्यात, पृ० ११-१२, वीरविनोद, पृ० १५, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ९९-१०७

९ अकबरनामा, भा० ३, पृ० १९९, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ११०

१० 'भामो परधानो करे, रामो कियो रदद', प्राचीन पद्य उद्धृत, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४३१

जिस विभागीय वर्गीकरण की शासन-पद्धति का प्रारम्भ प्रताप ने किया था उसी का सशोधित रूप हम महाराणा अमरसिंह प्रथम के समय मे पाते हैं।[11]

समसामयिक ग्रन्थो व अन्य साधनो के अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रताप की राजधानी मे न्याय का समुचित प्रबन्ध था। अपराधियो की सख्या उचित दण्ड देकर कम कर दी गयी थी जिससे चोरी, डकैती तथा अनैतिक आचरण का राज्य मे कोई भय नही रह गया था। अमरसार का लेखक अलकृत भाषा मे लिखता है कि प्रताप के राज्य मे पाश की विद्यमानता स्त्रियो की अलकाओ मे ही थी, चोरो के पकडने के लिए पाश का उपयोग नही होता था। इसका आशय यह है कि सभी मे नैतिक आचरण था, अतएव दण्ड मे कठोरता का प्रयोग करने की आवश्यकता न थी।[12]

प्रताप की नयी राजधानी की स्थिति भी व्यापार तथा वाणिज्य की अभिवृद्धि के लिए अत्यन्त उपयोगी थी। चावण्ड के चारो ओर फल-फूल तथा धान्य की पैदावार के लिए भूमि उपयोगी थी। ऐसे समृद्ध स्थान को राज्य का केन्द्र बनाकर प्रताप ने केवल मात्र सुरक्षा के विचार से ही प्रजा का हित सम्पादन नही किया, वरन् गुजरात तथा मालवा से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने मे भी सफलता प्राप्त की।[13]

एक अच्छे शासक की भाँति प्रताप ने कलात्मक प्रवृत्तियो को भी प्रोत्साहन दिया। इन प्रवृत्तियो मे चित्रकला की प्रवृत्ति बडे महत्त्व की थी जो 'चावण्ड चित्रशैली'[14] के नाम से विख्यात है। 'मेवाड चित्रशैली' को इस शैली ने समृद्ध बनाने मे बडा योग दिया था। इस शैली मे विषय के प्रतिपादन मे तथा रगो के प्रयोग मे सादगी तथा भाव प्रदर्शन मे गाम्भीर्य प्रमुख हैं। इस शैली के बने हुए चित्र *श्री गोपीकृष्ण कानोडिया, श्री मोतीचन्द्र खजानची तथा श्री कार्ल खण्डालवाला* के सग्रहो मे सुरक्षित हैं। एक रागमाला का चित्र, जो प्रताप के समय के ठीक बाद वि० स० १६६२ मे बना था, इस बात को प्रमाणित करता है कि रागमाला का चित्रण प्रताप के समय के निकट से आरम्भ हो गया था तथा इस माला का आधार स्थानीय चित्रकला की अभिव्यक्ति था। इससे यह भी प्रतीत होता है कि रागमाला का चित्रकार निसारदी (निसारुद्दीन या निसार) आदि ऐसे अनेक चित्रकार थे जो एक चित्र को मिलकर मुगल पद्धति के अनुकूल बनाते थे। निसार या निसारुद्दीन का नाम यह भी सिद्ध करता है कि प्रताप के राज्य की नीति धर्म सहिष्णु थी जिसमे जाति, धर्म आदि का भेद न था। शासकीय नियमो मे उदारता थी, अन्यथा निसारदी या नासिरुद्दीन नामक व्यक्ति के लिए राज्याश्रय सम्भव न था। यदि हम चित्रशैली को अधिक बारीकी से देखते हैं तो स्पष्ट होता है कि पृष्ठभूमि के चित्रण मे तथा

---

[11] अमरसार, प्रताप वर्णन, सर्ग १, श्लो० २५५-२५६
[12] वही, श्लो० ६०-७५
[13] वही, श्लो० ६५-७५
[14] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ११७-१८

पुरुष और स्त्रियो की आकृति मे दक्षिण तथा पश्चिम-तटीय भागो और मालवा के प्रभाव की भी छाप है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रताप के समय मे मेवाड का सास्कृतिक सम्बन्ध इन विभिन्न भागो से परिपक्व अवस्था मे पहुँच चुका था।[१५]

चित्रकला की भाँति प्रताप ने स्थापत्य कला मे भी रुचि ली। उनके समय के स्थापत्य मे सैनिक तथा साधारण जन-जीवन के स्थापत्य का सम्मिश्रण था। उस समय के बने हुए महलो की दीवारो, सुरक्षा के प्रबन्धो और बुर्जों के अवशेष, जो कमोल, उमयेश्वर, कमलनाथ, चावण्ड आदि स्थानो मे पाये जाते है, इन विशेषताओ को स्पष्ट बताते है। इन सभी महलो को पहाडी नाको तथा घने जगलो मे बनाया गया था। चावण्ड के महलो मे तो दबी हुई नालियाँ भी दिखायी देती है जो पास वाले जलाशय से पानी लाने और उसे इकट्ठा करने की योजना बताती है। इन महलो से गुप्त मार्ग से निकलने के साधन भी सैनिक स्थापत्य पर प्रकाश डालते है।[१६]

प्रताप की व्यवस्था मे साहित्यिक उन्नति का भी प्रधान स्थान था। पद्मिनी-चरित्र की रचना तथा दुरसा आढा की कविताएँ प्रताप के युग को आज भी अमर बनाये हुए है। चावण्ड मे यह परम्परा पिछले समय तक भी चलती रही, जो वहाँ से मिलने वाले कई ग्रन्थो से प्रमाणित होता है।

अतएव, प्रताप मे एक अच्छे सेनानायक के ही गुण न थे, वरन् उसमे एक अच्छे व्यवस्थापक की विशेषताएँ भी थी। उनका ओजस्वी स्वरूप उन प्रतीको मे है जो शासन, कला तथा सामाजिक सगठनो से सम्बन्धित है।

---

[१५] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ११७-१८

[१६] शोध पत्रिका मे मेरा लेख, 'महाराणा प्रताप की उजडी हुई राजधानी', मेरा लेख, 'महाराणा प्रताप और उसका पर्वतीय जीवन', महाराणा प्रताप स्मारिका, उदयपुर, पृ० ४४

अध्याय १७

राठौडो की चरम शक्ति और मुगल व अफगान विरोध

(१५१५-१५६२ ई०)

(अ) मारवाड के राठौड

राव गागा (१५१५-१५३१ ई०)

राव सूजा की मृत्यु के बाद उसका पौत्र गागा मारवाड का स्वामी बना, क्योकि सूजा का पुत्र वाघा सोजत की चढाई के समय १५१० ई० मे मारा गया था। जिस समय राव गागा गद्दी पर बैठा उस समय मारवाड के राज्य मे जोधपुर, फलोदी, पोकरन, सोजत और जैतारन के परगने ही सम्मिलित थे। इन भागो मे भी विरोधी तत्त्वो से उपद्रव की आशका थी। ऐसी स्थिति मे राव गागा ने, उस समय की राजस्थान की सबसे बडी शक्ति से, जो महाराणा सागा के व्यक्तित्व मे निहित थी, मेल कर लिया। ईडर के उत्तराधिकार के युद्ध मे सागा ने रायमल को गद्दी दिलाने का प्रयत्न किया। राव गागा ने भी अपने ७,००० सैनिको से सागा के साथ रहकर इस कार्य में बडी सहायता की। इसी प्रकार बाबर वाले खानवा के युद्ध मे उसने अपनी ४,००० सैनिको से सागा की मदद की थी। इस प्रकार सागा जैसे शक्ति-सम्पन्न शासक के साथ रहकर राव गागा ने अपने राज्य का राजनीतिक स्तर ऊपर उठा दिया।[1]

उस समय मारवाड मे जालौर पर मुस्लिम सत्ता का अधिकार था। सिकन्दर खाँ और गजनीखाँ के बीच मे उत्तराधिकार का झगडा खडा हो गया। गागा के लिए दोनो पर अपना दबाव डालने का अच्छा अवसर था। ज्योही गागा की फौजें जालौर पहुँची सिकन्दरखाँ ने सैनिक व्यय देकर राजपूतो की फौजो को लौटा दिया। मारवाड मे दूसरी मुस्लिम शक्ति का केन्द्र नागौर था। यहाँ के शासक खानजादा दौलतखाँ से राव के चाचा शेखा ने सहायता प्राप्त कर जोधपुर पर १५२९ ई० मे चढाई कर दी। राव गागा ने बीकानेर नरेश राव जैतसी की सहायता मे शेखा और दौलतखाँ को

---

[1] नैणसी की ख्यात, जि० २, पृ० १४४-४५, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ६६, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २७१-७४, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० १११-१२

सम्मिलित सेना को सेवकी गाँव के युद्ध मे परास्त किया, जिसके फलस्वरूप दौलतखाँ तो मैदान छोडकर नागौर भाग गया और शेखा युद्ध-स्थल मे मारा गया। अपने शक्तिशाली सामन्त और दोनो मुस्लिम शक्तियो को एक साथ दबाकर राव गागा ने मारवाड को शक्ति-सन्तुलन स्थापित करने वाली धुरी वना दिया।[2]

शेखा की मृत्यु के वाद राव गागा ने मेडते के जागीरदार वीरमदेव के प्रश्न को हाथ मे लिया। वीरम वहुधा राव गागा की आज्ञा की अवहेलना करता रहता था। जब शेखा के विरुद्ध युद्ध के समय गागा ने वीरम को बुलाया तो वह सम्मिलित नही हुआ। इसके उपरान्त उसने दौलतखाँ के परास्त होने पर भागते समय जो उसका हाथी मेडता पहुँचा था उसे राव के माँगने पर नही दिया। कुछ समय बाद जब मालदेव मेडते की ओर गया तो वीरम ने उसका आतिथ्य करना चाहा, परन्तु कुँवर मालदेव ने हाथी लेने के वाद आतिथ्य स्वीकार करने पर वल दिया। जब राव गागा और कुँवर मालदेव जोधपुर लौट आये तो वीरम ने पीछे हाथी को भेजा परन्तु मार्ग मे ही उसकी मृत्यु हो गयी। इस घटना से मारवाड और मेडता की शत्रुता बढती गयी।[3]

इसी प्रकार सोजत के जागीरदार वीरम के और राव गागा के भी झगडे चलते थे। उसे शक्तिहीन वनाने के लिए उसकी जागीर के कई गाँव छीन लिये गये और वहाँ मारवाड राज की चौकियाँ विठा दी गयी। मौका पाकर वीरम ने चौकीदारो को मार भगाया और फिर शक्तिशाली वन गया। राव गागा ने उसे दण्ड देने के लिए सोजत पर चढाई कर दी, जिसमे वीरम का कर्मचारी मूता रायमल मारा गया और सोजत पर रावजी का अधिकार हो गया। केवल वीरम के निर्वाह के लिए कुछ गाँव जागीर के रूप मे उसको दे दिये।[4]

राव गागा की मृत्यु—राव गागा की मृत्यु के सम्वन्ध मे अलग-अलग वातें दी गयी हैं। रेऊजी का कहना है कि १५३१ के एक दिन राव गागा अफीम की पिनक मे झपकी लेने के कारण अपने महलो की एक खिडकी से गिर कर मर गया। डा० ओझा इसके विपरीत लिखते हैं कि कुँवर मालदेव वडा महत्त्वाकाक्षी था। उसने अफीम की पिनक मे वैठे हुए राव गागा को ऊपर खिडकी से नीचे गिरा दिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। सम्भवत रेऊजी मालदेव के कलक को टालने के लिए उसका अकस्मात गिरकर मरना लिखते है। कुछ ख्यातो में इसका धक्के से गिरना भी उल्लेखित है। परन्तु विश्वसनीय यही प्रतीत होता है कि इस घटना मे मालदेव का हाथ था, क्योकि

---

२ नैणसी की ख्यात, जि० २, पृ० १४५-५०, दयालदास ख्यात, जि० २, पत्र १३, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ६४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २७४-८०, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ११२

३ नैणसी की ख्यात, जि० २, पृ० १५०-५२, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ६४, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ११३

४ रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ११४

मुण्डियार ख्यात मे दिये गये एक दोहे से स्पष्ट है कि उस समय मालदेव ने भाँण और पुरोहित मूला पर वार किया जो राव गागा के अगरक्षक थे। ऐसी स्थिति मे इस घटना मे कुँवर का हाथ होना आश्चर्यजनक नही है। जोधपुर राज्य की ख्यात से भी गागा का झरोके से मालदेव के द्वारा गिराना स्पष्ट है।[५]

गागा का व्यक्तित्व—राव गागा वैसे तो अपने राज्य का अधिक विस्तार नही कर सका, परन्तु जोधा तथा चूँडा द्वारा स्थापित राज्य की सामन्त प्रथा से पैदा होने वाली अव्यवस्था को अवश्य उसने ठीक करने का प्रयत्न किया। मेडता और सोजत के जागीरदार उसके निकट सम्बन्धी थे इसलिए वे अपने को राव से किसी प्रकार कम नही समझते थे। राव गागा ने इनकी इस प्रवृत्ति को आगे बढने से रोका। उसके आतक से मेडता के वीरम को रोके हुए हाथी को, जैसा कि हमने ऊपर पढा, उसे लौटाना पडा। सोजत के वीरम की भी जागीर छीनकर उसने अपनी दृढ नीति का परिचय दिया। मारवाड की सीमा मे दो मुस्लिम राज्यो को, जो नागौर और जालौर मे थे, उसने दबाये रखा। इस नीति मे राव गागा ने मारवाड राज की राजनीतिक स्थिति को सुदृढ बना दिया। एक अर्थ मे मालदेव के समय की सामन्तो तथा पडोसी राज्यो को दबाने के सम्बन्ध की नीति की प्रारम्भ करने का श्रेय राव गागा को दिया जाना चाहिए। उसे निर्माण कार्य की ओर भी रुचि थी जो उसके जोधपुर शहर के गागेलाव तालाब और गागा की बावडी के निर्माण से सिद्ध है। राव धर्मनिष्ठ शासक भी था। उसके समय मे सिरोही से लायी हुई श्यामजी की मूर्ति उसके नाम से गगश्याम के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसने अपने राज्य के पुरोहितो, व्यासो, चारणो और ब्राह्मणो को भूमिदान देकर एक अच्छे दानी होने का परिचय दिया। इस पुण्य कार्य से जोधपुर के आसपास बस्तियाँ बस गयी और बहुत-सी फालतू भूमि उपजाऊ भी हो सकी।

मालदेव (१५३१-१५७२ ई०)

मालदेव और उसकी प्रारम्भिक स्थिति—राव मालदेव गागा का ज्येष्ठ पुत्र था। जिस समय उसने मारवाड के राज्य की बागडोर अपने हाथ मे ली उस समय उसका अधिकार सोजत और जोधपुर के परगनो पर ही था। जोधपुर राज्य का केन्द्र होने से षड्यन्त्रो का केन्द्र बना हुआ था तथा मालदेव के द्वारा पिता की हत्या भी सम्भवत वहाँ चर्चा का विषय बना हुआ हो। इस विरोध को टालने के लिए ही मालदेव के राज्यारोहण का काम सोजत मे सम्पादन किया गया हो। धीरे-धीरे वातावरण के अनुकूल होने पर मालदेव ने जोधपुर मे भी आना-जाना तथा रहना आरम्भ कर दिया।

---

५ जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० ३३, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १८०-८१, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ११५, मुण्डियार ख्यात मे यह दोहा उल्लेखित है -

"भाँण पेला भरडियो, पड्यो मूले पर हाथ
गोखा गाग गुडावियो, भाज गयो सुखनाथ"

वैसे तो गागा ने अपने ढग से निकट पडोसियो और प्रमुख सरदारो को दवाकर एक नवनीति का निर्धारण किया था, परन्तु इस समस्या को दृढता से सुलझाने का बीडा मालदेव ने उठाया। इस कार्य को सम्पादन करने मे उसने लगभग १० वर्ष लगा दिये। साथ ही साथ आसपास के पडोसी राज्यो से भी अच्छे सम्बन्ध वनाकर उसने अपने सहयोगियो की सख्या वढा ली। सवसे पहले जव १५३२ ई० मे गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने मेवाड पर चढाई की, उस समय मालदेव ने अपनी सेना भेजकर विक्रमादित्य की सहायता की थी। ख्यातो के अनुसार मालदेव ने कुम्भलगढ मे आकर टिके हुए उदयसिंह को राणा घोपित करने तथा वणवीर के विरुद्ध लडने मे अपना योग दिया था। जोधपुर राज्य की ख्यात मे लिखा है कि १५३३ ई० मे राव मालदेव ने राठौड, जैता, कूँपा आदि सरदारो को मेवाड के उदयसिंह की सहायतार्थ भेजा, जिसके फलस्वरूप वणवीर को निकाला गया और उदयसिंह को चित्तौड के सिंहासन पर विठाया। इसके वदले मे महाराणा ने वसन्तराय नाम का हाथी और चार लाख फीरोजे पेशकशी के मालदेव के पास भेजे। डा० ओझा का इस सम्वन्ध मे मत है कि जोधपुर राज्य की ख्यात का ऊपर दिया गया सारा कथन आत्मश्लाधा से पूर्ण है और कल्पित है। प्रथम तो १५३३ ई० मे विक्रमादित्य जीवित था, ऐसी स्थिति मे वणवीर के विरुद्ध सेना भेजने का कोई प्रश्न नही उठता। हाथी भेजने की बात भी अन्य किसी ख्यात मे उल्लेखित नही है। नैणसी ने इस सम्वन्ध मे ठीक लिखा है कि उदयसिंह ने अपने श्वसुर से सहायता वणवीर के विरुद्ध चाही थी। उसने तथा कूँपा ने उसके निकट सम्वन्धी होने से अवश्य सहायता दी हो। यह घटना १५३३ की न होकर १५४० ई० की है। यदि मालदेव ने सक्रिय रूप से सहायता न दी हो तो भी अखैराज तथा कूँपा महाराजोत द्वारा जयसिंह की सहायता किया जाना मालदेव के सहयोग को अवश्य वताता है।[६]

भाद्राजूण पर अधिकार करना—जैसा कि हमने ऊपर देखा, मालदेव महत्त्वाकाक्षी था तथा अपने राज्य-विस्तार नीति मे विश्वास करता था। अपने राज्यारोहण काल से ही उसने इस काम को हाथ मे लिया था। सर्वप्रथम उसने भाद्राजूण के सोधल स्वामी वीरा पर चढाई कर दी। इस समय मेडते के स्वामी वीरमदेव ने भी उसकी सेना के साथ आकर इसमे योग दिया। कई दिनो के युद्ध के वाद वीरा मारा गया और वहाँ मालदेव का अधिकार हो गया। इस विजय से मालदेव की सेना के हौसले वढ गये। उसने रायपुर के सीधलो पर भी चढाई कर दी। यहाँ का शासक भी मारा गया और रायपुर पर मालदेव का अधिकार हो गया। भाद्राजूण और राय-

---

६ जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० ६८, मुहणोत नैणसी की ख्यात, जि० १, पृ० ५६, मुशी देवीप्रसाद, महाराणा उदयसिंहजी का जीवन-चरित्र, पृ० ८४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २८४, २८६, २९०, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ११६, १२४

पुर अपने हाथ मे लेकर मालदेव ने अपनी शक्ति बढा ली। भाद्राजूण की जागीर फिर उसने अपने पुत्र रत्नसिह के नाम कर दी। अब वह निश्चिन्त होकर दूसरी दिशा मे अभियान कर सकता था, क्योकि सीधलो की ओर से उसे विरोध की कोई आशका न रही।[७]

मालदेव का नागौर लेना—नागौर के शासक दौलतखाँ ने जब मेडता लेने का प्रयत्न किया तब मालदेव ने खान पर चढाई कर दी। हीरावाडी मे राव ने अपने डेरे डाले और खान को परास्त किया और नागौर पर अधिकार कर लिया। खान ने पुन नागौर लेने की चेष्टा की पर उसमे उसे सफलता न मिल सकी। राव ने वीरम माग-लियोत को वहाँ का हाकिम नियुक्त कर दिया।[८]

मालदेव का मेडता तथा अजमेर पर अधिकार—हमने ऊपर पढा था, मालदेव जब राजकुमार था तभी से उसके सम्बन्ध मेडता के राव वीरम से, हाथी न देने के मामले मे, बिगड चुके थे। इस सम्बन्ध को वीरम ने अजमेर लेकर और खराब कर दिया। जब मालदेव ने उससे अजमेर माँगा तो उसने देने से इन्कार कर दिया। मालदेव ने एक सेना भेजकर वीरम को मेडते से निकाल दिया। वीरम यहाँ से अजमेर पहुँचा और वहाँ से मेडता लेने का प्रयत्न करने लगा। अजमेर रहते हुए उसने रीआ भी लेने की कोशिश की, पर जेता और कूंपा के विरोध के कारण वह रीआ लेने मे असफल रहा और अजमेर से भी निकाला गया। वहाँ से भागकर वह कछवाहा रायमल शेखावत के पास गया। एक वर्ष तक उसके पास रहकर वह आगे बढा और बोली, चाटसू, बणहटा और बरवाडा उसके अधिकार मे आ गये। फिर मेडता लेने के लिए वह प्रयत्न करने लगा। जब उसमे उसे कोई सफलता न मिली तो वह मलारणे के मुसलमान थानेदार से मिला और उसकी सहायता से रणथम्भौर के हाकिम के पास गया, जो उसे शेरशाह सूर के पास ले गया।[९]

सीवाना और जालौर पर मालदेव का अधिकार—सिवाना के ठाकुर को मालदेव ने नागौर के झगडे के समय सहायतार्थ बुलाया था, परन्तु उसने उसकी कोई परवाह न की। १५३८ ई० मे राव ने सिवाना के अधिकार के लिए सेना भेजी, जो उस पर कब्जा करने मे असफल हुई। तब मालदेव स्वय वहाँ पहुँचा और किले को घेर

---

७ जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ६८, वीरविनोद, भा० २, पृ० ८०८, बाँकीदास की बातें, स० ८२०, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० ११७, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा १, पृ० २८५

८ जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ६८, टॉड, एनल्स, जि० २, पृ० ९५१, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २८७

९ जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ६८-६९, बाँकीदास की बातें, म० १९१०, मुहणोत नैणसी की ख्यात, जि० २, पृ० १५७, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २८६-८७

लिया। वहाँ का राना डूंगरसी रसद की कमी से किला छोडकर भाग गया और सिवाना मालदेव के अधिकार मे आ गया।

इसी तरह जालौर के सिकन्दरखाँ को मालदेव ने बिलोचियो के विरुद्ध सहायता दी थी, परन्तु वह मालदेव को मारने का प्रयत्न करने लगा। इस पर राठौड की सेना ने उसे वहाँ से निकाल दिया और कैद कर लिया। कैद मे रहते हुए ही उसकी मृत्यु हो गयी।[१०]

मालदेव और जेसलमेर मे विवाह और वैमनस्य—१५३६ ई० मे मालदेव का विवाह जेसलमेर के रावल लूणकरण की कन्या से हुआ। किसी कारणवश रावल ने मालदेव को मारने का इरादा किया जो लूणकरण की रानी को मालूम हो गया। रानी ने इसकी सूचना मालदेव को पुरोहित राघवदेव के द्वारा भिजवा दी। सम्भवत इसी से अप्रसन्न होकर मालदेव रावल की पुत्री उमादे से अप्रसन्न हो गये और वह भी राव मालदेव से रूठ गयी। तभी से वह राव से नाराज ही रही। वजाय जोधपुर रखन के उमादे को, जिसे रूठी रानी कहते हैं, अजमेर के गढ मे रखा गया। जव शेरशाह का आक्रमण अजमेर पर होने की आशका हुई तो रानी को जोधपुर बुलाने का प्रयत्न किया गया। वह पहले तो आपत्ति काल मे वहाँ से हटना अपने कर्तव्य के विरुद्ध समझती थी, परन्तु जव ईश्वरदास ने उसे समझाया-बुझाया तो वह जोधपुर जाने को राजी हो गयी। पर अन्य रानियो ने देखा कि कही उमादे मालदेव की कृपा पात्र न वन जाय उन्होने आसा नामक वारठ को उसके जोधपुर आने मे वाधा उपस्थित करने को भेजा। आसा ने रानी को सुनाकर एक दोहा पढा

"मान रखे तो पीव तज, पीव रखे तज मान
दोय गयद न बन्ध ही, एकण खम्भे ठाँण।"

इस दोहे को सुनते ही मानवती उमादे ने जोधपुर जाने से इन्कार कर दिया। उसने उस गढ के पास के स्थान कोसाने मे अपना पढाव डाला। वताते हैं कि शेरशाह की फौजे जव कोसाने पहुँची तो वह आगे न वढ सकी। फिर यहाँ से रानी गूंदोज चली गयी और अपने दतक पुत्र राम के साथ रहने लगी। जब मालदेव का देहान्त हुआ तव वह सती हुई।[११]

मालदेव और महाराणा उदयसिह का वैमनस्य—वैसे तो प्रारम्भ मे मालदेव और मेवाड के सम्वन्ध अच्छे थे, परन्तु कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ लेकर मालदेव ने मेवाड मे शत्रुता वढा ली। झाला सज्जा का पुत्र जैतसिह उदयपुर की जागीर को छोडकर मारवाड मे चला गया, जहाँ मालदेव ने उसे खैरवा का पट्टा दिया। जैतसिह ने भी अपनी पुत्री स्वरूपदेवी का विवाह मालदेव के साथ कर दिया। एक दिन कभी राव

---

[१०] तारीख पालनपुर, पृ० ११३-१४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २८८

[११] रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० १२०-२१

जब खैरवे गया जो उसने स्वरूपदेवी की छोटी बहन को देखा। उसने अपने श्वसुर से उसके साथ भी विवाह करने की इच्छा प्रकट की। जैतसिंह को यह ठीक न लगा। उसने अपनी पुत्री का विवाह महाराणा उदयसिंह मे कर दिया। मालदेव ने इस घटना से नाराज होकर कुम्भलगढ पर आक्रमण कर दिया, पर उसको सफलता न मिली। वास्तव मे राणा से वैमनस्य बढाकर मालदेव एक शक्तिशाली राज्य के सहयोग को खो बैठा।[१२]

मालदेव और बीकानेर से वै —मालदेव ने १५४२ ई० के आसपास राज्यविस्तार की इच्छा से कूँपा की अध्यक्षता मे एक बडी सेना बीकानेर की तरफ भेजी। राव जैतसी ने कल्याण सहित राजपरिवार को सिरसा नगर मे सुरक्षा के लिए भेज दिया और वह स्वय उसका मुकाबला करने के लिए साहेवा के मैदान मे पहुँचा। मालदेव की शक्तिशाली सेना के सामने वह न टिक सका और वह अनेक योद्धाओ के साथ खेत रहा। मालदेव ने जागल देश पर अधिकार स्थापित कर लिया। इस आक्रमण से बचने के लिए जैतसी ने शेरशाह की सहायता माँगी जो समय पर न मिल सकी। बीकानेर की इस विजय का अधिकाश श्रेय राठौड कूँपा को था। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर मालदेव ने डीडवाना तथा झुंझनूं की जागीर के साथ बीकानेर के प्रवन्ध का काम उसे सुपुर्द किया।[१३]

मालदेव की विजय-नीति पर एक दृष्टि—इसमे कोई सन्देह नही कि मालदेव ने अपने पैतृक राज्य को अपने सहज साहस और वीरता से परिवर्द्धित किया था। उसके पिता जिन शत्रुओ को और अपने निजी बन्धुओ को, जो बडे शक्तिशाली हो गये थे, पूरी तरह नही दबा सका था उनको उसने जड से उखाड दिया। वह दृढ तथा कठोर नीति से आचरण करने के पक्ष मे था। मेडता के वीरम के साथ जो उसने व्यवहार किया वह एक निश्चित नीति का स्वरूप था। इसी विजय-नीति के अन्तर्गत उसने मारवाड के सुदृढ किलो को अपने अधिकार मे करने का प्रयत्न किया। ऐसे किलो मे मेडता, अजमेर, सिवाना, जालौर, नागौर, भाद्राजूण आदि थे। इन किलो के सिलसिले को प्राप्त कर उसने अपनी विजय-नीति को सफल बनाया। जहाँ तक विस्तार-नीति का सम्बन्ध था या जहाँ तक उसके लिए अपनाये गये तरीको का प्रश्न था उसने एक योजना से काम किया। इस नीति मे सामन्तो की शक्ति को कम करने की भी चेष्टा छिपी हुई थी। यदि मारवाड मे वह एकछत्र शासन चाहता था तो इस

---

१२ जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० १०६, वीरविनोद, भा० २, पृ० ६८, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १९०-९१

१३ जयसोम, कर्मचन्द्रवशोत्कीर्तनक काव्यम्, श्लो० २०५-१८, बाँकीदास, ऐतिहासिक बातें, सख्या ८२१, दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र १५-१६, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ६६, मुशी देवीप्रसाद, राव जैतसीजी का जीवन-चरित्र, पृ० ८५, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २९२-९३

प्रकार की दमन नीति की आवश्यकता थी। जोधा के सामन्त मारवाड के शासक मे अपने को किसी कदर कम नही मानते थे, ऐसी स्थिति मे उसकी कठोर दमन नीति मे एक न्याय-सगत पहलू था।

मालदेव ने इन विजयो से फूलकर कुछ गलत काम भी करने शुरू कर दिये। जैसलमेर, मेवाड और बीकानेर से शत्रुता बढाकर उसने अपने सहयोगियो की सख्या कम कर दी। यदि कुछ विचारपूर्वक काम किया जाता तो इन्ही राज्यो से वह अच्छा सम्बन्ध बनाये रख सकता था, जिससे शेरशाह जैसे प्रबल शत्रु का वह सफलता से मुकाबला कर सकता। इसी तरह कई सामन्तो को पूरी तौर से नष्ट या अपमानित कर उसने उनमे एक प्रतिकार की भावना पैदा कर दी। वीरम तथा जैतसी का पुत्र कल्याण मेडता और बीकानेर को क्रमश अपने हाथ से निकलना न सहन कर सके। वे किसी प्रकार शेरशाह के दरबार मे पहुँच गये और उसकी सहायता से अपने पैतृक राज्य को पुन अपने अधिकार मे करने के लिए प्रयत्नशील हो गये। अपने ही बन्धु के विरुद्ध उन्होने एक विदेशी सत्ता की सहायता की अपेक्षा की जो काम घृणित माना जाना चाहिए। वैसे मालदेव के कार्य मे, जिसके द्वारा उसने इन राज्यो को अपने अधिकार मे किया था, हम कोई अधिक औचित्य नही पाते, फिर भी वीरम और कल्याणमल के रुख को, जिसमे विदेशी सत्ता का प्रश्रय था, भी उचित नही ठहरा सकते। अन्त मे जाकर शेरशाह के लिए इनकी आपसी फूट ने मारवाड की राजनीति तथा जनजीवन मे विक्षेप उत्पन्न करने का अवसर प्रदान किया।

राव मालदेव और हुमायूँ—जिस समय मालदेव अपने राज्य-प्रसार की योजना के ताने-बाने बुन रहा था उस समय भारतीय स्थिति मे एक उथल-पुथल मच रही थी। शेरखाँ नामी एक अफगान सरदार ने बाबर के पुत्र हुमायूँ को १७ मई, १५४० को कन्नौज के युद्ध मे हराकर उसे बिना घरबार का व्यक्ति बना दिया और स्वय मुगल राज्य का स्वामी हो गया। विजयी अफ़गान की सेनाएँ हुमायूँ का तेजी से पीछा करने मे लग गयी। विवश होकर हुमायूँ सिन्ध की ओर भागा और १५४१ ई० के प्रारम्भ मे भक्कर पहुँचा। वह लगभग सितम्बर तक वहाँ रहा।[१४] इसी समय शेरशाह ने भी अपने नये राज्य की व्यवस्था करने के लिए सिन्ध, पजाब, बिहार, बगाल, मालवा आदि भागो मे सेनाओ के जत्थे भेज दिये। इसी बीच शेरशाह को अपनी फौज के साथ बगाल के हाकिम के विरुद्ध जाना पडा था।

मालदेव इस नवीन परिस्थिति से भलीभाँति अवगत था। वह यह भी जानता था कि शेरशाह की फौजें चारो ओर बिखरी हुई थी और जगह-जगह ऐसी स्थिति थी कि वे वहाँ से आसानी से आ नही सकती थी। स्वय शेरशाह दिल्ली से सुदूर गौर मे लगभग एक हजार मील की दूरी पर पहुँच गया था। मालदेव के लिए अपने प्रभाव क्षेत्र को बढाने का यदि कोई उपयुक्त समय था तो वही था। उसने इसी

---

[१४] अकबरनामा, बिवरिज, जि० १, पृ० ३६२-६६

समय हुमायूँ के पास यह सम्वाद भेजा कि वह उसे शेरशाह के विरुद्ध सहायता देने के लिए उद्यत है। इस सन्देश मे सूझबूझ थी, क्योकि शेरशाह की अनुपस्थिति मे मालदेव सीधा दिल्ली और आगरे की ओर प्रयाण कर सकता था और हुमायूँ के नाम से अपने समर्थको की सख्या बढा सकता था। शेरशाह से पुन युद्ध करने के लिए यह उपयुक्त समय था। मालदेव भी इस युक्ति से अपना राज्य विस्तारित कर सकता था और हुमायूँ के भी दिन बदल सकते थे। परन्तु हुमायूँ ने इस सुझाव पर कोई ध्यान नही दिया, क्योकि उसे थट्टा के शासक शाह हुसैन की सहायता से गुजरात विजय की आशा थी। वह यह सोचता था कि गुजरात मे शेरशाह से दूर रहकर शक्ति सगठन का उसे अच्छा अवसर मिल जायगा। जब उस दिशा मे उसे कोई सहयोग की आशा न रही तो वह सात मास तक शेवाने के घेरे मे अपनी शक्ति का अपव्यय करता रहा। इस प्रयत्न मे भी उसे कोई लाभ न मिला अतएव वह फिर भक्कर की ओर लौटा। यहाँ पहुँचने पर उसने पाया कि भक्कर के द्वार उसके लिए बन्द थे और शाह हुसैन तथा यादगार मिर्जा उसके विरोधी बन चुके थे।[१५]

इस निराशा के वातावरण से क्षुब्ध होकर हुमायूँ ने लगभग एक वर्ष के बाद मारवाड की ओर जाने का विचार किया। ७ मई, १५४२ को हुमायूँ ने रोहरी से प्रस्थान कर अरू, देरावर, फलोदी, देईझर होता हुआ, अगस्त के प्रारम्भ के लगभग जोगीतीर्थ पहुँचा। मार्ग मे जैसा कि जौहर लिखता है, बादशाह के दल को पानी और रसद सम्बन्धी कठिनाइयो का सामना करना पडा। कही-कही उन्हे मार्ग मे भटकना भी पडा। जैसलमेर की सीमा के आसपास उन्हे 'सार्थ' को लूटकर अपनी रसद इकट्ठी करनी पडी। जोगीतीर्थ पहुँचने पर मालदेव द्वारा भेजी गयी अशर्फियो तथा रसद से हुमायूँ का स्वागत किया गया। उसी समय यह भी सम्वाद उसके पास भेजा गया कि मालदेव हर प्रकार से बादशाह की सहायता के लिए उद्यत है और उसे बीकानेर का परगना सुपुर्द करने को तैयार है।[१६]

इतना सभी होते हुए भी बादशाह के साथी मालदेव से शकित थे। मालदेव का हुमायूँ की अगवानी के लिए नही आना भी एक सन्देह का कारण बन गया। इस सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए मीर समन्दर, रायमल सोनी, अतकाखाँ आदि व्यक्तियो को मालदेव के पास बारी-बारी से भेजा गया। सभी का लगभग यही मत था कि मालदेव ऊपर मे मीठी-मीठी बातें करता है, परन्तु उसका हृदय साफ नही है। निजामुद्दीन और अबुल फजल के वर्णन से भी यही प्रकट होता है कि मालदेव का इरादा बदल चुका था और वह शेरशाह के द्वारा भेजे गये एक

---

१५ इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जि० ५, पृ० २०७, कानूनगो, शेरशाह, पृ० ६६०

१६ जौहर (पाण्डुलिपि), पृ० ७६, गुलबदन, हुमायूँनामा, पृ० १५४, ईश्वरी प्रसाद, हुमायूँ, पृ० २१०-११, कानूनगो, शेरशाह, पृ० ३६६

व्यक्ति से मन्त्रणा कर वादशाह को गिरफ्तार कर शेरशाह के हवाले करना चाहता था। वादशाह के एक पुराने पुस्तकाध्यक्ष मुल्ला सुर्ख ने, जो मालदेव के पास आकर रह गया था, यह सूचना भेजी कि हुमायूँ को शीघ्रातिशीघ्र मालदेव के राज्य से चले जाना चाहिए। अतकाखाँ ने भी इसी का समर्थन किया। इस पर हुमायूँ ने तुरन्त अमरकोट की ओर प्रस्थान किया। लौटते हुए वादशाही दल का मालदेव की थोडी सी सेना ने पीछा किया जिससे भयभीत हो हुमायूँ मारवाड से निकल भागा। इस यात्रा मे भी उसे वडा कष्ट उठाना पडा था।[१७]

अब यह प्रश्न रह जाता है कि हुमायूँ को आमन्त्रित कर मालदेव ने उसके साथ ऐसा व्यवहार क्यो किया? इस प्रश्न का उत्तर लगभग सभी मुगल इतिहास-कार तो यही देते हैं कि मालदेव ने वादशाह को धोखा दिया। परन्तु यह विचार तथ्यहीन है। जिस परिस्थिति मे मालदेव ने हुमायूँ को आमन्त्रित किया था उसके देखते हुए तो यह सही प्रतीत होता है कि मालदेव उस समय हुमायूँ को साथ लेकर शेरशाह की शक्ति को चुनौती देना चाहता था। यह तो हुमायूँ का दोष था कि वह समय की आवश्यकता को न पहचान सका और निमन्त्रण मिलने के एक वर्ष के वाद आया। वह दूसरे प्रकार की योजना बना रहा था, जिसका वर्णन ऊपर कर दिया गया है, जिससे स्पष्ट है कि यह तो हुमायूँ की उपेक्षा थी जिसने उसे ऐसी परिस्थिति मे डाला। हुमायूँ के साथी शेरशाह के दूत की सूचना पाकर और मालदेव के उपेक्षाजन्य आचरण के पहले से ही राजा के प्रति शकित हो गये थे जिससे प्रत्येक घटना को मालदेव के धोखे से जोडते थे। मालदेव ने इस समय न तो हुमायूँ को कोई सहायता दी और न उसका इरादा भविष्य मे ही उसे सहायता पहुँचाने का था, यह स्पष्ट है। इसका कारण भी साफ है। मालदेव उस समय न तो शेरशाह को अप्रसन्न करने के लिए तैयार था और न उस स्थिति मे था कि वह शेरशाह से लडे। ऐसी दशा मे उसके लिए यही उचित था कि वह किसी न किसी तरह हुमायूँ को मारवाड से वाहर भेज दे जिससे उसे शेरशाह का कोप-भाजन न वनना पडे। यदि उसका वास्तव मे इरादा हुमायू को धोखा देने का था तो वह शेरशाह के सुझाव को क्यो नही मान लेता। उसके लिए फलोदी अथवा 'कूल-ए जोगी' तक आये हुए हुमायू को गिरफ्तार कर शेरशाह के हवाले करना कोई कठिन कार्य नही था। इसी तरह हुमायूँ के मुट्ठी-भर आदमियो को समाप्त कर देना मालदेव की एक वडी सेना के लिए लीलामात्र था। परन्तु उसने एक अच्छे राजपूत की भाँति ऐसे समय मे ऐसा आचरण किया जिससे हुमायूँ को कुछ सैनिक भय वताकर किसी तरह शेरशाह से

---

[१७] अकवरनामा, भाग १, पृ० ३७१-७३, तवकात-ए-अकवरी, इलियट, भाग ५, पृ० २११-१२, जौहर, पृ० ३६-३८, गुलवदन, हुमायूँनामा, पृ० १५४, ईश्वरी प्रसाद, पृ० २१०-११, कानूनगो, पृ० ३६८-७०

दूर भेज दिया। डा० ओझा[१८] का भी यह मत है कि वास्तविक बात तो यह प्रतीत होती है कि मालदेव का उद्देश्य हुमायूँ को गिरफ्तार करके शेरशाह के हवाले करने का कभी न था। वह तो शेरशाह के कोप से बचने के लिए हुमायूँ को केवल अपने राज्य की सीमा से बाहर निकाल देना चाहता था। सम्भव है कि शेरशाह को दिखाने के लिए ही उसने अपने कुछ सैनिक हुमायूँ के अमरकोट की ओर प्रस्थान करने पर उसके पीछे भेजे हो। वह यदि चाहता तो हुमायूँ का अपने राज्य से निकलना बहुत कठिन कर सकता था। हुमायूँ के पास सेना के न होने से शेरशाह की बढती हुई शक्ति के कारण ही मालदेव ने समयानुकूल अपनी नीति मे परिवर्तन अवश्य किया था, परन्तु यह कहना कि उसने आरम्भ से लेकर अन्त तक कपट से काम किया, कभी ठीक नही माना जा सकता। डा० ईश्वरीप्रसाद[१९] भी इस सम्पूर्ण विषय की छानबीन करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मालदेव का कोई इरादा धोखा देने का न था वरन् जो व्यवहार उसने किया वह न्यायसगत था। डा० कानूनगो[२०] भी मालदेव के आचरण का समर्थन करते हैं और बताते हैं कि हुमायूँ निरर्थक मालदेव के प्रति सदिग्ध था और उसके साथी उसकी दयनीय दशा को देख मालदेव के प्रति व्यर्थ ही सन्देह करने लगे। इस वातावरण मे दिया हुआ उनका वर्णन अतिरजित ही दिखायी देता है। बल्कि विद्वान लेखक लिखते हैं कि यदि मालदेव ने इस समय हुमायूँ के साथ रहने की भूल की होती तो दोनो का ही नही वरन् सहस्रो मारवाड के निवासियो का अनर्थ होता। इस घटना मे वे मालदेव को धोखे का दोषी न ठहराकर नैतिक निर्बलता का दोषी मानते हैं।

शेरशाह और मालदेव—जब शेरशाह ने हुमायूँ को हटाकर राज्य की बागडोर अपने हाथ मे ले ली तो मालदेव को स्पष्ट रूप से मालूम था कि एक न एक दिन उसे शेरशाह से लोहा लेना पडेगा। यही कारण था कि हुमायूँ के सम्बन्ध मे उसने बडी सावधानी से काम लिया। शेरशाह के दूत को भी इसीलिए उसने सम्मान से अपने दरबार मे रखा। परन्तु जहाँ वह इस प्रकार की सावधानी रख रहा था वहाँ वह अपने राज्य की रक्षा के प्रति भी सतर्क था। वह यह भी जानता था कि बीकानेर के मन्त्री

---

१८ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २९९

१९ "Maldeo did not mean treachery for he did not capture the Emperor, although it was quite easy for a man of his resources to do so As a Rajput who had sent offers of help, he must have considered it highly unchivalrous to seize the Emperor and to surrender him to his mortal enemy"—Dr Ishwari Prasad, *The Life and Times of Humayun*, pp 214-15

२० "The charge of positive treachery with which they brand the conduct of Maldev is definitely unfair and an unproved aspersion His action may be at best open to a charge of moral cowardice, but not of treachery"—Dr K, Qanungo, *Sher Shah and His Times*, p 369

नगराज ने मालदेव के विरुद्ध शेरशाह को सहायता देने के लिए चलने की प्रार्थना की है। इसी तरह मेडता के स्वामी वीरम ने भी शेरशाह से सहायता चाही थी। इस स्थिति से दोनो प्रवल शक्तियो मे युद्ध अवश्यम्भावी था। शेरशाह मालदेव के विरुद्ध आक्रमण की योजना तो वना रहा था, परन्तु साथ ही साथ इस प्रकार से अपने व्यवहार का प्रदर्शन कर रहा था कि यह अनुमान न लगाया जा सके कि वह कव या किस मार्ग से मारवाड पर आक्रमण करने जा रहा है। एक सम्भावना यह भी हो सकती थी कि कल्याणमल को वह बीकानेर पहले दिला दे ताकि उस मार्ग से मारवाड पर आक्रमण किया जा सके। दूसरी सम्भावना यह भी हो सकती थी कि वह अजमेर से पहुँचकर वीरम को मेडता दिला दे और वहाँ अपनी शक्ति सगठन द्वारा मारवाड पर टूट पडे। परन्तु इस प्रकार के आक्रमण के आधार को बनाने मे शेरशाह को बडी कठिनाई का सामना करना पडता। वह जानता था कि अजमेर से या रणथम्भौर और नागौर के मार्ग से जाने मे सुदृढ किलो को लेना होगा जिसमे मारवाड जाने के पहले ही उसकी वहुत-सी शक्ति क्षीण हो जायगी। इसी तरह बीकानेर के मार्ग से उसे वडा रेगिस्तानी हिस्सा पार करना होगा। इन आपत्तियो को देखते हुए वह शत्रु को मुगालता देने के लिए दिल्ली और आगरा के बीच शिकार के बहाने घूमता रहा, जैसे उसका मालदेव पर चढाई करने का कोई इरादा ही नही है। परन्तु वास्तव मे इस धोखाधडी मे वह अचानक मालदेव पर आक्रमण करना चाहता था। अब्वास तथा मकजाम के लेखक लिखते है कि उसने फतेहपुर सीकरी मे मालदेव पर आक्रमण करने का अड्डा वनाया। वैसे सीकरी आगरा से वडा निकट है ऐसी स्थिति मे डा० कानूनगो युद्ध के मोर्चे की तैयारी का स्थान फतेहपुर झुंझनू मानते है जो मारवाड के निकट है। यह स्थान सीकर भी हो सकता है जहाँ से मारवाड पर आक्रमण किया जा सकता है। इस स्थान से आगे प्रस्थान करने मे एक युक्ति भी थी, और वह यह कि शेरशाह ने सुदृढ किलो को एक ओर रखकर मध्यवर्ती ऐसा मार्ग अपनाया जो अफगानी सेना के लिए सुगम था और मालदेव की कल्पना से वाहर था। सिरसा से चलकर वीकानेर का राव कल्याणमल भी मार्ग मे उसकी सेना के साथ हो लिया।[२१]

मालदेव ने जव देखा कि शेरशाह की फौजें फतेहपुर-झुंझनू तक आ पहुँची है तो उसे यह आशका हुई कि वह वहाँ से अजमेर पर या जोधपुर पर आक्रमण कर सकता है। फिर भी ऐसे समय मे उसने विचार से काम लिया। उसने मेडता, नागोर आदि स्थानो से फौजें वुला ली और अपनी सेना का सगठन जेतारण तथा पीपाड मे किया। ये दोनो स्थान मारवाड के किसी भाग मे आक्रमण की स्थिति मे फौजो की हलचल मे सुविधाजनक सिद्ध हो सकते थे। अव तो यह स्पष्ट था कि दोनो दलो मे मुठभेड किसी समय हो सकती है। शेरशाह ने अपने पक्ष को मजबूत वनाने के लिए

---

[२१] अब्बासखाँ, तारीख-ए-शेरशाही, इलियट, जि० ४, पृ० ४०४, दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र १६, कानूनगो, शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स, पृ० ३६३-६६

सामेल या सुमेल मे जाकर डेरे डाले जहाँ चारो ओर खाइयाँ बनाने तथा पानी मिलने की सुविधा थी। एक ओर जगली झाडियो से भी उसकी सेना को सुरक्षित किया गया था। जहाँ-जहाँ कुछ खुला भाग था और खाइयाँ बनाना सम्भव नही था वहाँ रेत के बोरो की आड कर ली गयी। मालदेव ने भी अपनी सेना की छावनी गिर्री के गाँव मे डाल दी। इसी समय शेरशाह ने कुछ फौजो को आगरा से और कुछ को रणथम्भौर के पास से भी बुला लिया और उन्हे आदेश भेजा कि वे अजमेर पर आक्रमण का दिखावा करें। सम्भवत शेरशाह यह समझता था कि इस चाल से या तो मालदेव अजमेर की ओर बढेगा या उसका सीधा मुकाबला करेगा। परन्तु मालदेव वैसे ही अपनी छावनी म डटा रहा। इस प्रकार लगभग एक मास तक दोनो सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पडी रही।[२२]

इस अवस्था मे मालदेव को अधिक आपत्ति नही थी, क्योकि मालदेव अपने राज्य की सीमा मे निश्चिन्त था। उसे रसद तथा सैनिक आवश्यकता पडने पर निकट से ही तथा थोडे समय मे प्राप्त हो सकते थे। परन्तु शेरशाह की स्थिति शोचनीय थी। उसे अनजान शत्रु की सीमा मे टिककर रसद तथा सेना के लाने आदि की व्यवस्था देखनी थी। दिल्ली से वह कई मील दूर पडाव डालकर पडा था। यहाँ से हटना तथा दूसरे सुरक्षा-स्थल को ढूँढना उसके लिए एक समस्या थी। इसी प्रकार यहाँ से पीछे हटना या आगे बढना भी खतरे से खाली नही था। सबसे बडी समस्या शेरशाह के लिए यह थी कि उसकी आधारभूत शक्ति घुडसवारो मे थी। इस दृष्टि से मालदेव और शेरशाह की सैनिक शक्ति मे कोई बडा अन्तर नही था। ऐसी दशा मे विजय शेरशाह की ही होगी, यह आवश्यक न था।

जब युद्ध-स्थल से लौटना या आगे बढना कठिन दिखायी दे रहा था और अपने तथा शत्रुदल के बलाबल मे अधिक अन्तर नही था तो शेरशाह ने एक चाल चली। नैणसी लिखता है कि मेडता के वीरम ने २० हजार रुपये मालदेव के सेनानायक कूँपा के पास भिजवाकर कहलवाया कि वह उसके लिए कम्बल खरीद ले। इसी तरह उसने जेता नामक उसी के सहयोगी के पास भी २० हजार रुपये भेजकर यह कहलवाया कि वह उसके लिए सिरोही की तलवारे खरीदें। इसी के साथ-साथ उसने मालदेव को यह सूचना भिजवायी कि उसके सेनानायको ने शत्रु से घूंस लेकर उसके साथ मिल जाने का निश्चय कर लिया है। जब इसकी जाँच करवायी गयी तो जेता और कूँपा के डेरे मे रुपये मिले। इस घटना से मालदेव को धोखे का निश्चय हो गया और वह युद्ध-स्थल को छोड सुरक्षा के प्रबन्ध मे लग गया।[२३]

---

२२ तारीख-ए-शेरशाही, इलियट, जि० ४, पृ० ४०५, ब्रिग्ज, फरिश्ता, जि० २, पृ० १२१, तबकात-ए-अकबरी, फारसी, पृ० २३२, कानूनगो, शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स, पृ० ३९५-९८

२३ नैणसी की ख्यात, भा० २, पृ० १५७-५८

रेऊ के अनुसार वीरम ने शेरशाह के जाली फरमानो को ढालो मे सी कर गुप्तचरो के द्वारा मालदेव के सरदारो को बिकवा दिया। उसने मालदेव को भी यह सूचना भिजवायी कि युद्ध के समय उसके सरदार धोखा देंगे। यदि इसमे उसको कोई सन्देह हो तो इनकी ढालो मे छिपे हुए फरमानो को देखा जाये। जब इसकी जाँच की गयी तो फरमान ढालो मे पाये गये। इससे मालदेव को अपने सरदारो पर से विश्वास उठ गया।[२४]

मुस्लिम इतिहासकार इस घटना को थोडे हेर-फेर के साथ देते हैं। मखजामका वर्णन कुछ भ्रमोत्पादक है तो खाफीखाँ शेरशाह द्वारा मालदेव से तिरस्कृत किसी सामन्त के द्वारा हिन्दी मे पत्रो का लिखना बताता है। इस सम्बन्ध मे डा० कानूनगो का लिखना है कि वैसे तो ऊपर लिखी गयी घटना एक दिल बहलाव की कहानियो की भाँति हैं, परन्तु पत्र लिखने मे वीरम का बीच मे लेना ठीक नही दीखता। शेरशाह स्वय हिन्दी मे लिख सकता था तो उसे इस बडे काय को किसी के द्वारा सम्पादन करवाने की आवश्यकता ही नही थी। दुर्गादास के विरुद्ध पत्र लिखवाकर भिजवाने का काम स्वय औरगजेब ने ही किया था। कोई आश्चर्य नही है कि ये सब कार्यवाही शेरशाह ने की हो। जो कुछ भी हो, इस सम्बन्ध मे स्वीकार करना पडेगा कि शेरशाह का यह काम जघन्य था और मालदेव का भी अपने स्वामिभक्त सेनानायको पर विश्वास न करना निन्दनीय तथा अशोभनीय था।[२५]

किसी तरह जब यह पत्र मालदेव को मिला तो उसने युद्ध करना निरर्थक समझा। ऐसा प्रतीत होता है कि राजपूतो के दल में उस समय दो विचारधाराएँ बन गयी। युद्ध-समिति ने यह निर्णय लिया कि सवेरा होते ही शत्रुओ पर टूट पडा जाय, परन्तु मालदेव, जिसके हृदय मे शका घर कर गयी थी, जोधपुर की ओर लौट जाने के पक्ष मे था। जेता और कूँपा अपने पर लगाये गये आरोप को युद्ध मे लडकर धोना चाहते थे। इस मतभेद मे मालदेव ने लगभग आधे सैनिको को अपने साथ ले लिया और लगभग आधी सेना जेता और कूँपा के साथ रहकर शेरशाह का युद्ध मे मुकाबला करने को डटी रही। इधर से शेरशाह ने अपने गुप्तचरो के साथ राजपूतो के डेरे मे होने वाली स्थिति का पता लगा लिया। उसने रात ही मे खीमे उठवा दिये और सेना को ७ मील पीछे हटा लिया। प्रात होते ही राजपूतो और अफगानो मे जनवरी १५४४ मे मुठभेड हो गयी। उसमे कई अफगानी तथा राजपूत सैनिक मारे गये। इसी समय जलालखाँ जलवानी महायक सेना के साथ पहुँच गया। राठौडो की सैनिक शक्ति का विभाजन हो गया था, ऐसी दशा मे वे अधिक समय न टिक सके।

---

२४ रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० १३६

२५ डा० कानूनगो, शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स, पृ० ४००-४०४

"So it is correct to surmise that the strategem employed by Sher Shah was his own"

—Dr Qanungo

फिर भी शेरशाह को इस लडाई मे जीतने की बहुत कम आशा थी। जब युद्ध चल रहा था वह नमाज पढने लगा और खुदा की दुआ मे लग गया जिससे उसको तथा उसके साथियो को नैतिक बल मिले सके। इस युद्ध मे जेता और कूँपा मारे गये और विजय अफगानो की ही रही। युद्ध की समाप्ति पर शेरशाह ने कहा, "एक मुट्ठी भर बाजरा के लिए वह हिन्दुस्तान की बादशाहत खो देता।"[२६]

इस विजय के बाद शेरशाह ने अपनी सेना के दो भाग कर दिये। एक भाग तो खवासखाँ और ईसाखाँ के नेतृत्व मे जोधपुर की ओर गया और वह दूसरे भाग को लेकर स्वय अजमेर पहुँचा। उसने अजमेर को आसानी से अपने अधिकार मे कर लिया। इसके अनन्तर वह जोधपुर की ओर बढा। मालदेव ने जब देखा कि शत्रुओ ने जोधपुर को चारो ओर से घेर लिया है तो वह सिवाना के पर्वतीय भाग मे चला गया। थोडी लडाई के बाद जोधपुर शत्रुओ के हाथ मे आ गया। शेरशाह ने अन्य स्थानो मे—फलौदी, पोकरन, सोजत, पाली, जालौर, नागोर आदि मे अपने थाने बिठा दिये। वीरम को मेडता और कल्याणमल को बीकानेर सौंपकर वह फिर अपनी राजधानी लौट गया।[२७]

जब शेरशाह की मृत्यु हो गयी तो सिवाना के पहाडी भाग से मालदेव ने अपने आक्रमण अफगानो के विरुद्ध करने आरम्भ कर दिये। उसे एक के बाद दूसरे अफगान थानो को उठाने मे सफलता मिली। अन्त मे १५४५ ई० मे जोधपुर, पोकरण, फलौदी (१५५०), बाडमेर, कोटडा, जालौर, मेडता और आसपास के अन्य भागो पर उसका पुन अधिकार हो गया।

सामेल की लडाई का महत्त्व—प्रो० कानूनगो[२८] के शब्दो मे सामेल का युद्ध मारवाड के भाग्य के लिए एक निर्णायक युद्ध था। मालदेव के लिए यह लडाई महँगी उतरी, क्योकि जेता व कूँपा जैसे साहसी वीरो को खोकर उसकी शक्ति कम हो गयी। इस युद्ध की घटनाओ मे राज्य-विस्तार की योजना मे लगे हुए शासको के लिए कुछ शिक्षाएँ थी। इतने बडे पराजित मरुस्थल वाले देश से कोई आर्थिक लाभ की सम्भावना नही हो सकती। बल्कि राजस्थान एक केन्द्रीय सरकार पर बोझ-सा बन सकता है। कानूनगो का कहना है कि राजस्व का जहाँ लाभ नही था वहाँ 'खातिर-जमा' अर्थात आत्म-सन्तोष मात्र था। सामेल के युद्ध के बाद राजपूतो के वैभव और स्वतन्त्रता का अध्याय

---

[२६] अब्बास, तारीख-ए-शेरशाह, इलियट, जि० ४, पृ० ४०५, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ७१-७२, ब्रिग्ज, फरिश्ता, जि० २, पृ० १२१-२३, कानूनगो, शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स, पृ० ४०५-४०८

[२७] जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ७२-७३, दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र १६२०, बाँकीदास, ऐतिहासिक बातें, स० ८२७-२८

[२८] "The battle of Samel proved decisive for the fate of Marwar"
—Qanungo, *Sher Shah and His Times*, p 408

समाप्त हो जाता है जिसके पात्र पृथ्वीराज चौहान, हम्मीर चौहान, महाराणा कुम्भा, महाराणा सागा और मालदेव थे। यहाँ से एक आश्रितो के इतिहास का आरम्भ होता है, जिसके पात्र वीरम, कल्याणमल, मानसिंह, मिर्जा राजा जयसिंह, अजीतसिंह आदि थे।[२६]

मालदेव के अन्तिम वर्ष—मालदेव ने अपने राज्यत्व-काल से अन्त तक अपना जीवन युद्धमय रखा जिससे उसकी फौलादी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती गयी। उन्ही दिनो मुगल राज्य का शासक अकबर बना। उसने एक के बाद दूसरे राजस्थानी नरेश को दबाकर अपने एकछत्र शासन की स्थापना के प्रयत्न किये। मारवाड मे मेडता और जैतारण पर मुगलो का अधिकार हो गया, जिसने छाया रूप से प्रमाणित कर दिया कि भविष्य मे राजस्थान मे मुगलो के अधिकार का क्षेत्र विस्तारित होगा और यहाँ के देशी नरेश अपनी स्वतन्त्रता खो बैठेंगे। १५६२ ई० मे उसकी मृत्यु से ये क्रम राजस्थान मे बडी तेजी से बढा।

राव मालदेव का व्यक्तित्त्व—राव मालदेव अपने समय का वीर, प्रतापी और शक्तिसम्पन्न शासक था। उसे अपने पैतृक राज्य के रूप मे केवल जोधपुर और सोजत प्रान्त ही मिले थे जिनको उसने एक बडे मारवाड राज्य मे विस्तारित किया। इसके अन्तर्गत ५८ परगने सम्मिलित थे। उसके समय मे मारवाड की सीमा हिण्डौन, बयाना, फतेहपुर सीकरी और मेवात तक प्रसारित हो चुकी थी। इस प्रकार के राज्य-विस्तार मे उसे अनेक लडाइयाँ लडनी पडी। एक युद्ध को छोडकर लगभग वह सभी युद्धो मे विजयी हुआ था जो एक योद्धा के लिए कम गौरव की बात नही है। उसका सामेल मे हारना इतना निन्दास्पद नही है जितना इस युद्ध के बाद खोये हुए अपने राज्य के भागो पर पुन अधिकार करना महत्त्वपूर्ण है। हुमायूँ तथा शेरशाह जैसे शासको ने प्रारम्भ मे मालदेव की सहायता की अपेक्षा की, वह उसके शक्तिशाली होने का प्रमाण है। शक्ति-सन्तुलन की दृष्टि से उसने कभी महाराणा से गठबन्धन किया तो कभी हाजीखाँ पठान से और कभी भाटियो से युद्ध लडे और कभी उनसे मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। मारवाड के पठानो के साथ भी उसने शक्ति-सन्तुलन की नीति को अपनाया। इनसे यह सिद्ध है कि मालदेव मे कूटनीति से काम करने की क्षमता थी और उसमे वह बडा निपुण था।

इन्ही विशेषताओ को लेकर फारसी तवारीखो मे भी उसके प्रभाव, पराक्रम और ऐश्वर्य की प्रशसा मिलती है। अबुल फजल ने उसको भारत के शक्तिशाली राजाओ

---

२६ 'With the battle of Samel ended the most eventful chapter of Rajput glory and independence–the chapter of the heroic fights of Prithiviraj and Hammir Chauhan of Ranthambhor and Maharana Kumbha of Mewar, of Maharana Sanga and Maldev of Marwar– There opened now a new chapter of imperial peace over Rajasthan and of splendid vassalage for the Rajputs" —Dr Qanungo, *Sher Shah and His Times*, pp 417-18

मे से एक बताया है। निजामुद्दीन ने उसकी प्रशसा मे लिखा है कि "वह हिन्दुस्तान के मौतबिर जमीदारो मे से था और उस जमाने मे हिन्दू-रईसो मे ताकत और फौज मे उसकी तुलना का कोई नही था।" जहाँगीर ने भी तुजुक-ए-जहाँगीरी मे मालदेव की हिन्दुस्तान के बडे जमीदारो मे गणना की है।

जिस प्रकार वह एक विजयी था उसी प्रकार उसमे एक अच्छे निर्माणकर्ता के भी गुण थे। उसने कई नगरो मे गढो और प्राचीरो को बनाकर अपने राज्य को सुदृढ बनाने मे प्रयत्नशीलता दिखायी। जोधपुर के गढ के कोट के साथ उसने राणीसर कोट और शहरपनाह बनाया। नागौर गढ का भी जीर्णोद्धार उसके समय मे हुआ था। सातलमेर, पोकारण, मालकोट, सोजत, रायपुर, गूंदोच, भाद्राजूण, रीयाँ, सीवाना, पीपाड, नाडोल, कुण्डल, फलोदी, दुनाडा आदि कस्बो के चारो ओर कोट बनाकर उन्हे उसने सुदृढ किया। उसने अजमेर के तारागढ के पास के नूरचश्मे की तरफ के बुर्ज और कोट को बनवाया तथा पैर से चलने वाले रहट से पानी ऊपर चढाने की व्यवस्था की। इसने तारागढ के दुर्ग मे पानी की कमी को दूर किया। ये सभी निर्माण-कार्य नगरो, कस्बो, दुर्गो आदि की रक्षा तथा आवश्यकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे।

जहाँ हम राव मालदेव के गुणो की प्रशसा करते है वहाँ हम उसके दुर्गुणो की भी आलोचना किये बिना नही रहते। वह एक सैनिक होने के कारण वीरोचित कार्यो से क्या हानि-लाभ होने को है, वह नही सोचता था। इस कमी से वह लोकप्रिय नही बन सका। सहसा वह त्वरा मे कई ऐसे काम कर बैठा था जिसका दुख उसे जीवन भर उठाना पडा। उसने न जाने कैसे अपने श्वसुर (जैसलमेर) को अप्रसन्न कर हमेशा के लिए उमादे को नाराज कर लिया। इसी तरह खैरवे के ठाकुर को नाराज कर उसने महाराणा उदयसिंह से वैर मोल लिया। अपनी शकित प्रकृति के कारण उसने अपने विश्वस्त सेनानायक जेता और कूँपा को अपने हाथ से खोया। वह अपने से शक्तिशाली शत्रु को आसानी से नही समझ पाता था। वैसे तो सागा की भाँति वह राजपूतो मे प्रतापी राजा था, परन्तु उसने भी राणा सागा की तरह अपनी दूसरी रानी के प्रभाव मे आकर अपने सुयोग्य लडके राम के बजाय चन्द्रसेन को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इस प्रश्न को लेकर उसके लडको मे विरोध बढा। यह अकबर के लिए उपयुक्त समय था। मालदेव की अदूरदर्शिता ने मारवाड के भावी शासको को मुगलो के अधीन होने के लिए विवश किया। इसी प्रकार मालदेव ने अपने पिता को मारकर भी एक कलक का टीका अपने भाल मे लगाया, जो इतिहास-जगत नही भूल सकता।

राव चन्द्रसेन (१५६२-१५८३ ई०)

चन्द्रसेन का विरोध—राव मालदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम से अप्रसन्न होकर इसे राज्य मे निर्वासित कर दिया, जिस पर वह केलवा (मेवाड) मे जाकर रहने लगा। उसके छोटे भाई से भी उसकी पटरानी नाराज हो गयी जिससे उसे राज्याधिकार से

वचित रखा गया और उसे जागीर देकर फलोदी भेज दिया। अतएव पिता की मृत्यु पर १५६२ ई० मे चन्द्रसेन, जो तीसरा पुत्र था, मारवाड का शासक वना। वास्तव मे चन्द्रसेन को गद्दी मिलना कई सरदारो और उसके अ य भाइयो को अच्छा नही लगा। वे किसी अवसर की ताक मे थे जिसको लेकर चन्द्रसेन का विरोध करें। वताया जाता है कि चन्द्रसेन ने आवेश मे आकर एक चाकर को मरवा डाला। इस घटना से राठौड पृथ्वीराज तथा अन्य सरदार वडे विगडे। उन्होने इस अन्यायपूर्ण कार्य के लिए चन्द्रसेन को दण्ड देने के लिए गठवन्धन किया और राम, उदयसिंह तथा रायमल को आमन्त्रित किया कि वे चन्द्रसेन का विरोध करें। राव के तीनो भाई जो पहले से ही अप्रसन्न थे, इस सूचना को पाते ही च द्रसेन का विरोध करने के लिए तैयार हो गये।[३०]

सबसे वडे भाई राम ने केलवा से आकर सोजत मे विगाड करना आरम्भ किया। रायमल दुनाडे मे उपद्रव करने लगा और उदयसिंह गागाणी के पास लाग‍ड गाँव मे लूटमार मचाने लगा। ये तीनो भाई वैसे अकेले ही न थे। इनके साथ कई मारवाड के सरदार भी सम्मिलित थे। राव चन्द्रसेन ने अपनी एक सेना इन उपद्रवो को शान्त करने को भेजी जिससे राम और रायमल तो अपनी-अपनी जागीर के गाँवो की ओर भाग गये, पर तु उदयसिंह ने चन्द्रसेन का लोहावट मे मुकावला किया। वहाँ चन्द्रसेन की वरछी का वार उदयसिंह पर हुआ जिसके फलस्वरूप वह घोडे से गिर गया। उसके साथी उसे किसी तरह घटनास्थल से वचाकर ले गये। इस लडाई मे उदयसिंह के कई प्रमुख सहयोगी सरदार मारे गये और विजय चन्द्रसेन की रही।[३१]

उदयसिंह इस पराजय से दवा नही। वह फलोदी मे जाकर फिर युद्ध की तैयारी करने लगा। राव चन्द्रसेन फिर उसको दण्डित करने के लिए अपनी सेना लेकर फलोदी के निकट पहुँच गया। कुछ चतुर सरदारो ने देखा कि इस गृह-कलह से दोनो पक्षो की हानि होगी, राव को समझा-बुझाकर पीछे लौटा दिया।[३२]

अकबर के अधिकार मे जोधपुर का जाना—वैसे तो इन चारो भाइयो का गृह-कलह किसी तरह शान्त हो गया, परन्तु चन्द्रसेन के विरुद्ध सरदारो और तीन अन्य राजकुमारो का गठवन्धन वना रहा। लगभग १५६४ ई० मे राम अकबर के दरवार मे पहुँचा और शाही सहायता की प्राथना की। अकबर अवसर की ताक मे था ही, उसने राजस्थान विजय की योजना वना रखी थी। वह यहाँ के प्रमुख राजाओ

---

३० जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ८५, ११४-१५, वाँकीदास ऐतिहासिक वातें, सख्या ३६४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३३२-३३, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० १४८-४९

३१ जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ८५-८६

३२ वही, पृ० ८६, वाँकीदास की वातें, स० ४२९, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३३४

को अपने अधीन करना चाहता था। मारवाड राज्य की आपसी फूट का लाभ उठाकर वह जोधपुर जैसे सुदृढ किले को लेना चाहता था। उसने शीघ्र ही हुसैन कुलीखाँ की अध्यक्षता मे एक फौज भेज दी जिसने जोधपुर पर अपना कब्जा कर लिया। विवश होकर चन्द्रसेन भाद्राजूण के किले की तरफ चल दिया। इस घटना को, जो अबुल फजल ने दी है, जोधपुर राज्य की ख्यात मे वढा-चढाकर दिया है और वताया है कि शाही सेना ने तीन वार जोधपुर के किले का घेरा डाला और तीसरी वार दस माह के वाद किले पर मुगलो का अधिकार हो सका। हो सकता है कि कुछ प्रारम्भिक घेरे के प्रयत्नो को अलग-अलग घेरे वताकर ख्यातो मे घटना को अतिरजित कर उल्लिखित किया गया हो। परन्तु चन्द्रसेन से किला छूटना फारसी और स्थानीय ख्यातो से प्रमाणित होता है।[३३]

अकबर का स्वय नागौर पहुँचना—जोधपुर छूटने के वाद राव चन्द्रसेन की आर्थिक स्थिति विगडने लगी। चारो ओर अराजकता होने से राजस्व से आय होने की कोई सम्भावना न रही। मुगलो के प्रवेश से स्थिति और भी विगडने लगी। किसी प्रकार काम चलाने और मुगलो का विरोध करने के लिए राव अपने पूर्वजो के द्वारा सचित रत्नो को वेचकर अपना तथा अपने साथी सरदारो का व्यय चलाने लगा। वताया जाता है कि इसी के दौरान राव मालदेव का एक लाल उसने महाराणा उदयसिंह को वेचा, जिसकी कीमत साठ हजार रुपये आँकी गयी थी।[३४]

अकवर के पास इन स्थितियो की खवरें पहुँचती रहती थी। वह १५७० ई० मे अजमेर यात्रार्थ आया हुआ था कि उसने मारवाड के इलाको मे दुष्काल की खवर सुनी। वह ३ नवम्वर, १५७० ई० मे नागौर पहुँचा और वहाँ उसने कुछ समय रहने का निश्चय किया। दुष्काल से राहत दिलाने के लिए उसने अपने सैनिको से एक तालाव खुदवाना आरम्भ किया जिसका नाम 'शुक्र तालाव'[३५] रखा। इस कार्य से अकवर के दो काम सध गये। एक तो दुष्काल निवारण की योजना का आरम्भ करना और दूसरा लम्वे समय तक नागौर मे ठहरकर राजनीतिक परिस्थिति का अध्ययन करना। वास्तव मे अकवर का वहाँ रहना एक प्रकार से मुगल-हित मे रहा। अकवर ने उधर मेवाड के विरुद्ध कार्यवाही करने की योजना वना ली थी। वह चाहता था कि किसी प्रकार राजपूत राजाओ मे फूट हो जाय तो एक-एक से अलग-अलग निपटना आसान होगा। इसी उद्देश्य से वह नागौर मे विश्राम करता रहा। यहाँ कई नरेश, जिनमे वीकानेर और जैसलमेर के नरेश मुख्य थे, अकवर से मिलने को पहुँचे।

---

[३३] अकवरनामा (वैवरिज), जि० २, पृ० ३०५, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ८५-८७, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३३४-३३७

[३४] तुजुक-ए-जहाँगीरी, जि० १, पृ० २८५-८६, वीरविनोद, भा० २, पृ० २३८, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३३७

[३५] अकवरनामा, जि० २, पृ० ५१८, मुन्तखव-उत-तवारीख, जि० २, पृ० १३७

आमेर द्वारा जो वैवाहिक सम्वन्ध का सिलसिला आरम्भ हो गया था उसके पद-चिह्नो पर चलकर बीकानेर तथा जैसलमेर के शासको ने अकवर से वैवाहिक सम्वन्ध जोडे। राव चन्द्रसेन, उदयसिंह, राम आदि भी अपनी स्थिति सुधारने के लिए वहाँ उपस्थित हुए।[३६] चन्द्रसेन ने देखा कि अकवर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध खडा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, वह अकवर के दरवार से चल दिया। अकवर ने यहाँ अन्य किसी मालदेव के पुत्र को मारवाड का शासक नहीं माना, परन्तु प्रत्येक को इस प्रकार का आश्वासन दिया कि वे अकवर को अपना सहायक मानकर मुगल गतिविधि के पोषक बन गये। इनकी जागीरो मे वृद्धि कर दी गयी और इन्हे अपनी-अपनी सीमा मे सुरक्षा रखने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। मारवाड की परतन्त्रता की कडी मे 'नागौर दरबार' एक बहुत बडी कडी है। यहाँ किये गये निर्णय अकवर की भावी नीति के आधार बने। उसने अब चन्द्रसेन को गारत करने का सकल्प कर लिया और अन्य भाइयो को प्रलोभन देकर अपना अनुयायी वना लिया। यहाँ तक कि बीकानेर के रायसिह की प्राधान्यता बढाकर उसके तत्त्वावधान मे जोधपुर की हुकूमत कायम की। इस प्रकार आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करने से राजस्थान की गतिविधि अकवर के हाथो मे आ गयी। जो नरेश नागौर आये थे वे एक प्रकार से आश्रित और समथको की सज्ञा मे गिने जाने लगे। जो नरेश यहाँ के दरवार मे उपस्थित नहीं हुए थे उनकी मनोवृत्ति का भी समुचित रूप से परीक्षण हो गया। आमेर से जो वैवाहिक सम्वन्ध हुआ था उससे भी अधिक महत्त्व 'नागौर दरबार' का था। यहाँ से राजपूत नरेशो का स्पप्ट वर्गीकरण—विरोधी और मित्र राज्य के रूप मे हो गया।

चन्द्रसेन का विरोध और मुगल—मारवाड की राजनीतिक स्थिति 'नागौर दरवार' के वाद स्पप्ट थी। अकबर ने बीकानेर के रायसिह को जोधपुर का अधिकारी नियुक्त कर महाराणा कीका को मारवाड से सहायता मिलने या इस मार्ग से गुजरात मे हानि पहुँचाने की सम्भावना समाप्त कर दी। उदयसिह को समावली पर अधिकार करने की आज्ञा देकर अकबर ने उसे अपनी ओर मिला लिया तथा उधर से होने वाले गूजरो के उपद्रवो को कम करने का उपाय ढूँढ निकाला। राम को, जो वास्तव मे मा॰वाड का हकदार था, अपने पैतृक राज्य से अलग रखने के लिए शाही सेना के साथ कर दिया गया, जो सेना मिर्जा वन्धुओ को दवाने के लिए नियुक्त थी। इस प्रकार अकवर ने अलग-अलग अधिकारियो के स्वार्थ निश्चित कर जोधपुर पर शाही अधिकार स्थापित कर दिया।[३७]

---

३६ अकवरनामा, जि॰ २, पृ॰ ५१८, मुन्तखव-उत-तवारीख, जि॰ २, पृ॰ १३७, मआसिर-उल-उमरा (हिन्दी) पृ॰ ४५२, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा॰ १, पृ॰ ३३८

३७ तवकात-ए-अकवरी, इलियट, जि॰ ५, पृ॰ ३४१, अकवरनामा, जि॰ ३, पृ॰ ८, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि॰ १, पृ॰ ८८, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा॰ १, पृ॰ ३३८-४१

१५६५ ई० मे जोधपुर के परित्याग के बाद चन्द्रसेन ने कुछ समय तो भाद्राजूण मे रहकर मुगलो की फौजो का मुकाबला किया, परन्तु जब मुगल अधिकारियो के जत्थो ने उसे चारो ओर से घेर लिया तो वहाँ से हटकर उसने सिवाना मे अपना मोर्चा बनाया। सिवाना का गढ और पहाडी भाग दुर्गम थे। यहाँ जब चन्द्रसेन का पता न लगा तो मुगल अधिकारियो ने उसके समर्थको को समाप्त करने का प्रयत्न किया। ऐसे समर्थको मे सोजत का कल्ला था। कल्ला के पीछे मुगल सेनाएँ लग गयी और उसे गोरम के पहाडो मे छिपने को विवश किया। रावल सुखराज, मूजा तथा देवीदास भी चन्द्रसेन के साथी थे। मुगल सेनाओ ने इन्हे भी जगह-जगह खूब खदेडा। तदनन्तर चन्द्रसेन के विरुद्ध सिवाना मे सभी मुगल शक्ति लगा दी गयी जिससे तग आकर वह रामपुरा के पहाडो मे जा रहा। यह जानकर कि मुगलो की छोटी सेना के लिए इतने विस्तृत पहाडी प्रदेश को घेरना कठिन था, बादशाह ने सेना मे वृद्धि कर दी। फिर भी चन्द्रसेन हाथ न आ सका। इसी बीच कल्ला, देवीदास प्रभृति, चन्द्रसेन के सहयोगी देवकुन, दुनाडा आदि स्थानो मे सुरक्षा पाकर उपद्रव करने लगे। इनको सैयद बरहा, शाहकुलीखाँ, रायसिह आदि दमन करने मे असफल रहे। सिवाना से निकलकर चन्द्रसेन पीपलोद और वहाँ से काणूजा के पहाडो मे चला गया और आसपास लूट-खसोट आरम्भ कर दी। यहाँ रहते हुए उसने आसरलाई और जोधपुर के महाजनो को दबाकर धन लेना आरम्भ कर दिया। इस नीति से मारवाड मे लोग उससे अप्रसन्न हो गये। ऐसी स्थिति मे उसने मारवाड छोडकर भण्डार और फिर सिरोही और तदनन्तर डूंगरपुर और बाँसवाडा की शरण ली। फिर भी मुगल सेना ने उसका पीछा न छोडा। इन स्थानो मे रहते हुए उसने सुदूर अजमेर तक छापे मारे। १५७९ ई० मे तो उसने सरवाड के थाने के सैनिको को मार भगाया और सोजत भी उसके अधिकार मे आ गया। सम्राट ने पाइन्दा मुहम्मदखाँ, सैयद हाशिम, सैयद कासिम आदि शाही जागीरदारो को चन्द्रसेन के विरुद्ध कार्यवाही करने को सतर्क कर दिया। जब इन्होने चन्द्रसेन का पीछा किया तो वह सारण के पहाडो मे जा रहा और वहाँ से सिचियाई के पहाडो की ओर निकल गया, जहाँ तारीख ११ जनवरी, १५८१ को उसका देहान्त हो गया।[३८]

राव चन्द्रसेन का व्यक्तित्व—राव चन्द्रसेन का अधिकाश जीवन पहाडो मे रहकर मुगल विरोध मे बीता। वह मनस्वी और स्वतन्त्र प्रकृति का वीर होने से मुगल अधीनता स्वीकार करने के लिए राजी नही हुआ। अकबर की नीति मुगल सत्ता को राजस्थान मे स्थापित करने की थी तो चन्द्रसेन अपने राज्य को स्वतन्त्र रखना चाहता था। ऐसी स्थिति मे दोनो का विरोध बना रहना स्वाभाविक

[३८] अकबरनामा, जि० ३, पृ० १५-५१, ११३-१४, २३७-३८, ४६६, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ८६, ९०, ११८-१२०, १२१, बाँकीदास की ख्यात, स० ३६४, १५४६, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३४५-५०, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० १५०-५८

था। ये मुगल-राठौड सघर्ष विचार और मान्यताओ के भेद का फल था। अकबर की सत्तावादी मान्यता चन्द्रसेन की स्वतन्त्रता से मेल नही खा सकी। परन्तु जहाँ तक शक्ति का प्रश्न था दोनो दलो मे बडा अन्तर था। अकबर के पास धन और जन की कमी नही थी, परन्तु चन्द्रसेन के पास धन और जन का अभाव बना रहा। उसने अपने परिवार के रत्नो को बेच तथा भाटियो को पोकारण बेचकर किसी प्रकार अपने सकटापन्न दिनो को बिताया।

जहाँ हम चन्द्रसेन के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं तो हमे इसी प्रकार के ओजस्वी वीर प्रताप का, जो उसका समकालीन था, स्मरण हो आता है। प० रेऊ ने प्रताप और चन्द्रसेन का एक तुलनात्मक अध्ययन दिया है जिसमे उन्होने बताया है कि जिस प्रकार प्रताप को अपने बन्धु-बान्धवो का विरोध झेलना पडा था और वे जिस प्रकार मुगल दरबार के सदस्य बन गये थे उसी प्रकार चन्द्रसेन के भी बान्धवो की स्थिति थी। मेवाड के जगमाल और सगर की मारवाड के राम और उदयसिह से तुलना की गयी है। इसी प्रकार प्रताप ने जैसे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मुगल अधीनता स्वीकार न की उसी प्रकार चन्द्रसेन भी आजन्म अकबर से टक्कर लेता रहा। प्रताप की भाँति चन्द्रसेन के पास भी मारवाड के कई भाग अधिकार मे नही थे। मेवाड के माण्डलगढ और चितौड जहाँ मुगलो के अधिकार मे थे उसी प्रकार मेडता, नागौर, अजमेर आदि स्थान भी मुगलो के अधीन थे। दोनो को थोडी-सी भूमि के बल पर सघर्ष करना पडा था। जैसे प्रताप ने चित्तौड, माण्डलगढ आदि स्थानो को अन्त तक लेने में सफलता प्राप्त नही की उसी प्रकार चन्द्रसेन भी जोधपुर का दुर्ग न ले सका। चन्द्रसेन को भी बाँसवाडा आदि स्थानो की शरण लेनी पडी थी जैसे प्रताप को छप्पन मे जाकर रहना पडा था।

वैसे तो इन दोनो वीरो की तुलना करने मे कोई आपत्ति नही है, फिर भी हम देखते हैं कि दोनो की गतिविधि मे बडा अन्तर है। कई बातो मे साम्यता होते हुए प्रताप की जीवन-चर्या और नीति मे व्यावहारिकता का पक्ष प्रबल दिखायी देता है। राव चन्द्रसेन ने मारवाड के एक पहाडी भाग से दूसरे पहाडी भाग मे रहकर मुगलो को अवश्य छकाया था, परन्तु वह कही खुलकर उनसे युद्ध नही कर सका। हल्दीघाटी के युद्ध से सुरक्षित रूप से निकलकर मुगल-मेवाड सघर्ष को नया रूप देने मे प्रताप ने एक युद्ध-कौशल का परिचय दिया था। पहाडो मे विचरण करने के साथ-साथ प्रताप ने जन-जागरण द्वारा मेवाड मे नवजीवन को सचारित किया और इसके फलस्वरूप वह छप्पन मे चाँवड की नयी राजधानी स्थापित कर सका। यहा रहकर मेवाड के शासन और सास्कृतिक जीवन को नया मोड देने मे उसे सफलता मिली। यह स्थिति चन्द्रसेन पैदा न कर सका। बल्कि चन्द्रसेन ने जोधपुर, आसरलाई आदि के महाजनो को लूटकर अपने ही राज्य मे जन-समुदाय को अप्रसन्न कर दिया। वह तो पहाडो मे रहते हुए मारवाड मे ही लूट-खसोट करता था। उसके सहयोगी कल्ला, देवीदास आदि भी इस नीति का अनुसरण करते थे। इसी सकुचित नीति के कारण चन्द्रसेन को

स्वदेश छोडकर सिरोही, मेवाड, डूँगरपुर, बाँसवाडा आदि स्थानों की शरण लेनी पडी। इसके विपरीत प्रताप की नीति राज्य को सुरक्षित रखने की थी। उसके सहयोगी मालवा, गुजरात आदि भागो मे जाकर धन सगृहित करते थे जो मुगलो को हानि पहुँचाते थे और मेवाड को लाभ। चन्द्रसेन को धन और जन की कमी प्रारम्भ से अन्त तक बनी रही, ऐसी स्थिति कभी प्रताप को नही रही, क्योकि उसकी गतिविधि मे एक सृजनात्मक भावना थी और उसकी नीति मे व्यावहारिकता थी। फिर भी चन्द्रसेन के सघर्ष का अपना एक पहलू था। उसने स्वय नागौर के दरबार मे जाकर अकबर के दृष्टिकोण तथा वहाँ के वातावरण को समझने का प्रयत्न किया। जब उसमे उसे अनुकूल स्थिति नही दिखायी पडी तो उसने सघर्ष छेड दिया। उसके मुगल-विरोध मे परीक्षण के बाद सघर्ष का आरम्भ है तो प्रताप के सघर्ष मे प्रारम्भ से ही एक सुदृढ योजना। जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है चन्द्रसेन का मुगल-विरोध उसके साथ समाप्त हो जाता है, परन्तु प्रताप के बाद उसका उत्तराधिकारी अमरसिंह एक लम्बे काल तक जहाँगीर का विरोध करता रहता है। इसी परम्परा के फलस्वरूप महाराणा राजसिंह औरगजेब से टक्कर लेकर अपने वश-गौरव को परिवर्द्धित करता है। अगर मारवाड मे दुर्गादास इस परम्परा को निभाता है तो उसमे महाराणा राजसिंह का अधिक योगदान है।

(ब) बीकानेर के राठौड और मुगल सघर्ष

राव जैतसी और कामरान

मुगलो का भारत मे आना और उनका उत्तरी भारत मे राज्य स्थापित करना मध्ययुगीन इतिहास की एक नवीन घटना है। बीठू-सूजा रचित 'राव जैतसी रो छन्द' से प्रमाणित होता है कि बाबर ने इब्राहीम को परास्त करने के पूर्व बीकानेर की सीमा के आसपास के कई गाँवो और कस्बो पर अधिकार कर लिया था जिनमे भाखर, अरोड, मुलतान, खेड, सातलमेर, उच्च, मुम्मण-वाहण, मारोठ,[३९] देरावर, भरेहा, बगा, भभेरी, मागलोर, सिरमौर, लाहौर, दिपालपुर आदि मुख्य है। बाबर-नामा से भी इन कई कस्बो पर बाबर द्वारा अधिकार स्थापित होना सिद्ध होता है। अलबत्ता इनमे कई ऐसे स्थान है जिनमे मुगल आक्रमण का सीधा प्रभाव न पडा हो, परन्तु निकटवर्ती भागो की सैनिक विजय ने अवश्य ही वहाँ आतक का वातावरण बना दिया होगा।[४०] बीठू के वर्णन से हमे यह भी सूचना मिलती है कि मुगलो की बढती हुई शक्ति का जानू, खोखर, बरिहा, यादव, तँवर एव चौहान जातियो ने मुकाबला करने का असफल प्रयत्न भी किया।[४१]

---

[३९] बीठू, राव जैतसी रो छन्द, पत्र, ५-७

[४०] बाबरनामा, इलियट, भा० ४, पृ० २३०-२५०

[४१] बीठू, राव जैतसी रो छन्द, पत्र ७-८

वावर इन स्थानो से आगे वढा और उसे इब्राहीम और मागा को परास्त करने मे सफलता मिली। इसका फल यह हुआ कि सम्पूर्ण पजाव और पूर्वी भागो पर मुगलो का अधिकार स्थापित होने से राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी भाग की सीमाएँ मुगल राज्य की सीमा के निकट आ गयी। वावर की मृत्यु होने पर, जव उसका राज्य उसके लडको मे विभाजित हुआ तो कामरान को लाहौर और उसके आस-पास के भाग मिले। अव धीरे-धीरे कामरान अपने राज्य को विस्तारित करने की चेष्टा करने लगा। उसके विस्तार की सीमा मारवाड तक बढ सकती थी, अतएव उसने बीकानेर के सुदृढ किले भटनेर (हनुमानगढ) को लेने की योजना वनायी।

जिस समय कामरान बीकानेर के सैनिक भागो पर आँख लगाये हुए था उस समय वहाँ का शासक राव जैतसी (१५२६-१५४२ ई०) था और भटनेर पर काधल के पौत्र खेतसी का अधिकार था।

कामरान ने भटनेर लेने की योजना, जैसा कि ऊपर बताया गया है, इसीलिए वनायी थी कि वह अपना राज्य कावुल से लेकर मारवाड तक विस्तारित करना चाहता था। भटनेर के सुदृढ किले को ले लेने से उसके मन्तव्य की पूर्ति हो सकती थी। वीठू के ग्रन्थ के वर्णन से, जो निकट समसामयिक है, आक्रमण का यही कारण दिखायी देता है। परन्तु पिछले ख्यात लेखको ने, कामरान द्वारा किये गये भटनेर आक्रमण के विभिन्न कारण वताये हैं। मुहणोत नैणसी[४२] ने अपनी ख्यात मे लिखा है कि पहले भटनेर के किले मे हुमायूँ का थाना रहता था। वहाँ के किसी एक कानूनगो को हटाकर हुमायूँ के व्यवस्थापको ने वहाँ दूसरा कानूनगो नियत कर दिया। पदच्युत कानूनगो ने खेतसी से अपने पुन पद प्राप्त करने के लिए सहायता की प्रार्थना की और उसके वदले खेतसी को गढ दिलाने का वचन दिया। खेतसी भी अपने वाबा पूरणमल काधलोत और अन्य राजपूत साथियो की मदद से कानूनगो के साथ गढ पर अधिकार करने चल दिया। कानूनगो किसी प्रकार गढ मे घुस गया और रस्से की सहायता से उसने खेतसी और उसके सहयोगियो को भी ऊपर चढा लिया। इस अचानक प्रवेश से मुगल सेना गढ से भाग निकली और खेतसी का इस प्रकार गढ पर कब्जा हो गया। नैणसी के वर्णन से कामरान के भटनेर आक्रमण मे मुगलो का इस गढ पर पहले अधिकार होना ध्वनित होता है और वही उसके आक्रमण का आधार दिखायी देता है।

इस आक्रमण के सन्दर्भ मे नैणसी यह भी लिखता है कि राव जैतसी ने वड-गच्छ के एक यती से, जो वीकानेर मे रहता था, कोई अच्छी चीज माँगी। जव यती ने उसे देने से इन्कार किया तो राव ने उसे मारकर वह चीज ले ली। उस यती के एक चेले ने जाकर कामरान को राव के विरुद्ध भडकाया और उसे भटनेर चढा लाया।[४३]

---

[४२] नैणसी, जि० २, पृ० १९२

[४३] वही, पृ० १९२-९३

दयालदास ने[४४] नैणसी द्वारा खेतसी का भटनेर का किला कानूनगो की सहायता से लेना न बताकर यह लिखा है कि जैतसी की आज्ञा से पूरणमल काधलोत ने यह किला सहू चायल से छीना था और तभी से काधलोतो का उस पर अधिकार था। इसी तरह दयालदास कामरान के आक्रमण का कारण बताते हुए लिखता है कि भावदेव सूरि नामक एक जैन पण्डित, जो राठौडो से किसी कारण से नाराज था, दिल्ली गया और भटनेर के गढ की प्रशसा की। कामरान इस प्रशसा से प्रभावित हो भटनेर पर चढ आया।

इन कथानको मे सत्य का अश कम है, क्योकि नैणसी और दयालदास से जैन यती की कथाओ को पाठान्तर से दिया है। यती का दिल्ली जाना और कामरान को वहाँ मे लिवा लेने का वर्णन भी दयालदास ने ठीक नही दिया है, क्योकि कामरान अपने पिता के राज्यकाल के समय दिल्ली मे था और यह घटना बाबर की मृत्यु के बाद घटी थी। अन्य प्रमाणो से कामरान का लाहौर मे होना सिद्ध है। यदि यती के रुष्ट होने या जैतसी के द्वारा उसके मारे जाने की कोई घटना होती तो बीठू इसको किसी न किसी ढग से अवश्य लिखता। कामरान का काबुल से लाहौर तक राज्य होना ही यह प्रमाणित करता है कि हुमायूँ के राज्य की तुलना मे अपने राज्य को विस्तारित करने की अभिलाषा से ही कामरान ने भटनेर को लेने की योजना बनायी हो। यती द्वारा कामरान को उकसाये जाने की कथा पीछे से लेखको ने दी है, जो निराधार प्रतीत होती है।

अपने अधिकार-क्षेत्र मे वृद्धि करने के अभिप्राय से कामरान ने अपनी फौजो को सतलज के पार करवाया और भटनेर के किले के पास पहुँचाने के लिए भटिण्डा और अबोहर के बीच का मार्ग पकडा। इसी मार्ग से १५३४ ई० के आसपास कामरान भटनेर के पास आ पहुँचा। उसने शीघ्र ही किले को चारो ओर से घेर लिया। किले के भीतर से खेतसी और उसके साथी लडते रहे परन्तु जब मुगलो ने तीरो और तोपो के गोलो की वर्षा से किले की सुरक्षा के साधनो का सफाया कर दिया तो दीवारो पर चढे हुए राजपूत वीर नीचे उतर आये और खेतसी के साथ द्वार खोलकर दुश्मनो का मुकाबला कर काम आये। मुगल सैनिक गढ की दीवारो से तथा द्वार से भीतर घुस पडे जिसके फलस्वरूप भटनेर मुगलो के अधीन हो गया।[४५]

कामरान भटनेर को अधिकार मे करने से ही सन्तुष्ट नही था। उसने अपनी फौजो को आगे बढाया और बीकानेर पर आक्रमण करने के पूर्व जैतसी से कहलवाया कि वह मुगलो की अधीनता स्वीकार कर ले। परन्तु जैतसी के रक्त मे उसके वीर पूर्वजो का रक्त बह रहा था, वह भला इस प्रकार अपमानजनित अधीनता बिना

---

४४ दयालदास की ख्यात, भा० २, पत्र १४

४५ बीठू, राव जैतसी रो छन्द, छन्द १४५-१८६

युद्ध के कैसे स्वीकार कर सकता था। उसने कामरान के दूत को वापस लौटा दिया और उसे युद्ध मे निपटने के लिए आमन्त्रित किया। ज्योही मुगलो की फौजें बीकानेर के पुराने गढ को लेने के लिए आगे वढी तो भोजराज रूपावत के नेतृत्व मे कुछ भाटियो को कामरान का मुकाबला करने के लिए छोडकर जैतसी बीकानेर से दूर जाकर अपनी शक्ति का सगठन करने लगा। कामरान ने अपनी बची हुई सभी शक्ति बीकानेर के लेने मे लगा दी और अपने आपको निश्चिन्त समझ जैतसी का पीछा करने की चेष्टा न की। वह अपनी बीकानेर की विजय को अन्तिम विजय समझकर शत्रु की शक्ति का अनुमान न लगा सका।

जैतसी अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक था। उसने बीकानेर के आसपास से एक बहुत बडी सेना एकत्रित कर ली। उसने २६ अक्टूबर, १५३४ ई० की रात्रि को कुछ चुने हुए वीरो को लेकर शत्रु पर हमला बोल दिया। इस प्रवल हमले का सामना मुगल न कर सके। उन्हें गढ छोडकर भाग जाना पडा।[४६] इस सम्पूर्ण वर्णन मे अतिशयोक्ति हो सकती है, पर यह अवश्य निश्चित है कि जैतसी ने इस युद्ध मे सूझबूझ से काम लिया था। शत्रु को रेगिस्तान के भीतरी भाग मे आने का प्रलोभन देकर जैतसी ने युद्ध को लम्वा वना दिया। अनजाने भाग मे पहुँचकर मुगल सेना अपनी सुरक्षा की व्यवस्था उचित रीति से नही कर पायी। इस निर्बलता का लाभ जैतसी ने उठाया। भय से प्रभावित स्थानो को छोडकर जैतसी ने भावी विजय की सम्भावना मे वल उत्पन्न कर दिया। लगभग एक शताब्दी पूर्व महाराणा कुम्भा ने भी अपने शत्रुओ के साथ वडे पैमाने मे इसी गतिविधि का प्रयोग किया था। इस युद्ध-नीति को अपनाकर उसने अपने अद्भुत युद्ध-चातुर्य का परिचय दिया था। गढ को खाली छोडकर या थोडी सेना को वहाँ रखकर उसने शत्रु को फँसा लिया और ज्योही अवसर मिला उसने उसे बुरी तरह परास्त किया। कही तो राजपूत लडकर मर जाना उत्तम समझते थे और कही वे अब युद्ध-स्थल से हटकर छापा मारने के ढग से जीवित रहकर विजयी होना ठीक समझते थे। जैतसी की मुगलो पर यह विजय राठौडो के इतिहास मे चिरकाल तक स्मरणीय रहेगी।

कामरान और जैतसी के युद्ध का वणन मुस्लिम इतिहासकारो ने पूरे रूप से सम्भवत इसीलिए नही दिया है कि इस आक्रमण मे कामरान की पराजय हुई थी। भाग्यवश इस सम्पूर्ण घटना का चित्रण बीठू-सूजा नामक कवि ने अपनी पुस्तक राव जैतसी रो छन्द मे किया है। वैसे तो यह रचना-काव्य है परन्तु वास्तविक घटना पर आधारित होने से इसकी गणना ऐतिहासिक प्रवन्ध काव्य मे की जा सकती है। इस काव्य की रचना घटना के समय मे लगभग ३० वर्ष बाद, सवत १६२९ मे की गयी थी और उसमे मुख्य रूप से पाघडी छन्दो का प्रयोग किया गया था। इसमे गाहा,

---

[४६] नैणसी की ख्यात, जि० २, पृ० १९३, जरनल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ वगाल, १९१७, पृ० २४२-४३

दोहा और कलस भी वर्णन के लिए काम मे लाये गये हैं। सब मिलाकर इसमे ४०१ छन्द है।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रवन्ध का महत्त्व इसलिए बढ जाता है कि इसका उपयोग राजस्थान के राजनीतिक जीवन से ही सम्वन्धित नही है, अपितु इसके द्वारा भारतीय परिस्थिति का भी हमे समुचित ज्ञान होता है। इस काव्य मे १६वी शताब्दी के जनजीवन, मारवाड की समृद्धि और उस समय की भाषा पर अच्छा प्रकाश पडता है। कवि ने एक ओर मुगलो की विजय-पिपासा का और दूसरी ओर राजपूतो के स्वाभिमान, देश-प्रेम की भावना और त्याग का वर्णन वडे सुन्दर ढग से किया है। घटना-क्रम के स्पष्टीकरण के विचार से तो इसे हम एक प्रतिनिधि रचना भी कह दें तो कोई अत्युक्ति नही होगी।

इस काव्य मे कवि ने स्पष्ट रूप से दो भाग कर दिये हैं। पहले तो उसने राव चूंडा से लेकर लूणकरण का वर्णन दिया है और फिर मुगलो के साथ राव जैतसी का युद्ध-वर्णन वडे रोचक रूप से दिया है।

इस काव्य की ऐतिहासिकता मे सन्देह की गुजाइश कम रह जाती है, क्योकि इस युद्ध की घटना का वर्णन हमे अन्य काव्य-ग्रन्थो मे भी मिलता है। 'जैतसी रो पाधडी छन्द', 'जैतसी रासो', 'साख के गीतो' आदि के रचयिताओ ने भी कामरान के वीकानेर पर आक्रमण और जैतसी द्वारा उसकी पराजय पर प्रकाश डाला है। इसी तरह इस युद्ध की पुष्टि वीकानेर के चिन्तामणि श्री चौवीसटाजी के जैन मन्दिर के मूलनायक की प्रतिमा के शिलालेख से भी होता है। इसी युद्ध का वर्णन पिछले ख्यात लेखको ने, जिनमे नैणसी और दयालदास मुख्य हैं, कुछ हेर-फेर के साथ इसी प्रकार किया है।[४७]

---

४७ टेसीटोरी, डिस्क्रिप्टिव केटलॉग, सेक्शन २, भा० १, पृ० ४३, राजस्थान भारती, भा० १, अक २–३, जुलाई-अक्टूवर, १९४६, डा० हीरालाल माहेश्वरी, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ९७–१०१, इस सम्वन्ध मे द्रष्टव्य मेरी पुस्तक ऐतिहासिक निवन्ध राजस्थान, पृ० २०८-२१२

अध्याय १८

युद्ध और सन्धि का युग (१५९७-१६८० ई०)

(अ) मेवाड के सीसोदिया शासक

महाराणा अमरसिह (१५९७-१६२० ई०)

अमरसिह और प्रारम्भिक समस्याएँ—राणा प्रताप ने, जितना सम्भव था, शासकीय तथा जनजीवन के सम्बन्ध मे व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया, तथापि कुछ ऐसे पहलू बचे थे जिनके ऊपर ध्यान देना आवश्यक था। इसी प्रकार उदयसिह के समय से चलने वाले अकबर के मेवाड को दबाने के प्रयत्न समाप्त नही हुए थे। प्रताप की मृत्यु के बाद जब राणा अमरसिह मेवाड का शासक बना तो वह इन सभी बातो के लिए सजग था। उसे अपने पिता के साथ रहकर युद्ध तथा राज्य की समस्या का अच्छा अनुभव था। पहाडियो की लडाइयो में भाग लेकर उसे लुका-छिपी के युद्ध की प्रणाली से भी अच्छा परिचय था। वह यह भलीभाँति जानता था कि मुगलो से सघर्ष टाला नही जा सकता। इससे मुकाबला करने के लिए उसे राज्य की आर्थिक व्यवस्था को भी सुधारना होगा। जनजीवन मे, विशेष रूप से केन्द्रीय तथा पश्चिमी मेवाड के भाग मे, सुव्यवस्था स्थापित कर उपज, व्यापार, आदान-प्रदान की सुविधा को बढाना आवश्यक था। उस समय सामन्तो मे भी एक प्रकार की नेतृत्व की होड चल रही थी, जिनमे चूँडावत तथा शक्तावत मुख्य थे। इनमे बढते हुए वैमनस्य को कम करने के लिए अमरसिह ने जागीरदारों के पद और अधिकारो के विधि-विधान बना दिये। उनकी जागीरो के पट्टे, परवाने कार्यकुशलता के अनुसार बदल दिये जाते थे। राणा ने इनकी जागीरो को भी बदलकर इनकी अच्छी और कुशल सेवाओ के महत्त्व को बढा दिया।[1]

जनजीवन मे स्थिरता लाने के लिए तथा राजकीय आय के साधनो को बढाने के लिए अमरसिह ने उजडी हुई बस्तियो को फिर से आबाद करना आरम्भ किया। कुम्भलगढ के निकट सायरा गाँव और आसपास के खेडो को बसाकर उसने अपनी

---

[1] सूर्यवश, पत्र ५६, टॉड, राजस्थान, भा० १, पृ ४०६, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४९१-५०६, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १२२-२३

योग्यता का परिचय कुंवर रहते हुए दिया था। शासक बनते ही उसने इस प्रयोग पर बल दिया। केलवा, मुरोली, रामपुरा, सहाडा आदि भागो मे कई कुटुम्बो को बसाया गया जो वेघरबार के थे। कई लोगो को मुआफी की जमीन देकर उसने जनता की आर्थिक सहायता की।[२]

सैन्य व्यवस्था मे भी अमरसिंह ने नवजीवन का सचार किया। केन्द्रीय सेना मे मुस्तकिल भर्ती पर अधिक बल दिया जाने लगा। शस्त्रो के जमा करने और बनाने की भी व्यवस्था की गयी और राज्य की रक्षा के लिए किलो का निर्माण करवाया गया या उनकी मरम्मत करवायी गयी। हरिदास झाला को सम्पूर्ण सैन्य सचालन का काम देकर सैन्य शासन का एक अलग विभाग बना दिया।[३]

मुगल आक्रमणो का पुन आरम्भ—अमरसिंह को अपने राज्य की व्यवस्था मे लगे लगभग दो वर्ष ही हुए थे कि अकबर के आदेश से १५९९ ई० मे मेवाड पर सलीम ने आक्रमण कर दिया। इस वार सलीम इस सम्बन्ध मे अधिक उत्साही नही था, अत. वह थोडे समय उदयपुर तक जाकर लौट गया। अब राणा ने एक-एक कर मुगल थानो पर आक्रमण करने आरम्भ किये। बागोर के मुगल थाने के अधिकारी सुल्तानखाँ गोरी, ऊँटाले के कयूमखाँ तथा अन्य कई स्थानो के थानेदारो को राजपूतो ने मौत के घाट उतार दिया और उन पर राणा का अधिकार स्थापित कर दिया। इस छेडछाड मे राजपूतो के भी कई वीर मारे गये। जब अकबर ने इस प्रकार मुगलो की क्षति के समाचार सुने तो सलीम को १६०३ ई० मे दुबारा मेवाड की ओर जाने को कहा, परन्तु सलीम ने इस बार कोई ध्यान नही दिया, क्योकि वह राज्याधिकार की प्राप्ति के षड्यन्त्र मे व्यस्त था। परन्तु जब वह १६०५ ई० मे स्वय सम्राट बन गया तो उसने अपने पिता की नीति के अनुसरण के आधार पर परवेज, आसिफखाँ, जफर बेग और सगर के साथ २२,००० घुडसवारो को मेवाड अभियान के लिए भेजा। राजपूतो ने भी देसुरी, वदनौर, माण्डलगढ और माण्डल के मोर्चे से मुगलो का डटकर मुकाबला किया। तुजुक-ए-जहाँगीरी के वर्णन से मालूम होता है कि इस बार सम्राट को कोई आशाजनक सफलता नही मिली। १६०८ ई० मे उसने महावतखाँ के नेतृत्व मे मेवाड की ओर सेना भेजी। मुगल सेनानायक गिर्वा की पहाडी तक पहुँचने मे तथा कई राजपूतो को वन्दी बनाने मे तो सफल हुआ, परन्तु बाघसिंह और मेघसिंह ने रात्रि के छापों से मुगल सेना मे अव्यवस्था पैदा कर दी। महावतखाँ तग आकर, सगर को चित्तौड तथा जगन्नाथ कछवाह को माण्डल मे छोडकर लौट गया। १६०९ तथा १६१२ ई० मे अब्दुल्ला और राजा वासू क्रमश मेवाड के विरुद्ध भेजे गये। इनके प्रयत्न से राणा को

---

२ जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १२३-२४

३ अमरसार, सर्ग १, श्लो० २२३, २५५, २५६, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १२३-२४

चावण्ड और मेरपुर को तो छोडना पडा, परन्तु मालवा, गुजरात, अजमेर और गोडवाड तक छापे मारकर उन्होने मुगलो की हालत शोचनीय बना दी ।[४]

खुर्रम और मुगल —इन सभी आक्रमणो से जब मेवाड को अधीन बनाने के प्रयत्न निष्फल गये तो स्वय जहाँगीर ने मेवाड आक्रमण का काम अपने हाथ मे लिया । वह १६१३ ई० मे अजमेर पहुँचा और खुर्रम को मेवाड अभियान का सर्वे-सर्वा बनाया । खुर्रम अपने कार्यो, सूझबूझ तथा योग्यता से उपयुक्त व्यक्ति था जिसने सम्पूर्ण मेवाड को शनै-शनै अधिकार मे करने की योजना बनायी । उसने अपने दल को कई भागो मे बाँटा । एक दल अग्रगामी दल था जो आगे किये जाने वाले आक्रमण की स्थिति का परीक्षण करता था । दूसरा दल आगे बढकर मार-काट, तोड-फोड, घेराव आदि कार्यों को सम्पादन करता था । तीसरा दल विजित भागो पर कब्जा जमाता था । सेना के कुछ दल रसद पहुँचाना, सूचना भिजवाना और सभी दलो से सम्पर्क बनाये रखने का काम करते थे । साथ ही साथ शाहजादे ने केन्द्रीय शक्ति से भी अपना सम्बन्ध बनाये रखा था जिससे धन और जन की आवश्यकता की पूर्ति शीघ्र ही कर दी जाय । इस व्यवस्था के अन्तगत दो वष की अवधि मे खुर्रम ने राणा को चावण्ड के पहाडो मे जा घेरा और जितने मुगल थाने उनके हाथ से निकल गये थे उन पर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया । उसने कई नये थाने बिठाने मे भी अपने अभि-यान मे सफलता प्राप्त की थी । राजपूतो ने भी बडे साहस से इस स्थिति का मुकाबला किया, परन्तु वे अधिक समय मुगलो की प्रगति को न रोक सके ।[५]

इस लम्बे युद्ध से मेवाड की स्थिति मुगलो की सैनिक व्यवस्था और कूटनीति से शोचनीय हो चली । इसमे खेत के खेत नष्ट हो गये । खडी फसल तो समाप्त हो गयी, परन्तु अगली फसल बोने की कोई आशा न रही । गाँव के गाँव उजाड हो गये, बस्तियो मे आग लगा दी गयी और पशु-धन नष्ट हो गया । सबसे बडी अपमानजनक बात यह थी कि विजेताओ ने स्त्रियो व बच्चो को गुलाम बनाकर बेचना शुरू कर दिया । मन्दिर और सार्वजनिक स्थान ढाह दिये गये । दस्तकार और कृषक बिना काम के हाथ पर हाथ रखकर बैठ गये । इनमे से कई बेघरबार हो गये । सारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चली । राज्य की हालत दुष्काल से भी अधिक भयकर बन गयी । अनुभवी राजपूत योद्धाओ के मारे जाने से सेना मे एक भारी कमी का

---

४ तुजुक-ए-जहाँगीरी, भा० १, पृ० ७, ३३, ४६, ७५, १२४(फारसी), इकबालनामा, भा० २, पृ० ४६८, ५११-५१५, ५२१-५२२, नैणसी की ख्यात, पत्र ७, काम्बू, अमल-ए-सलीह, पृ० ४८, सीसोद वशावली, पत्र २६, वीरविनोद, भा० २, पृ० २२३-२५, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १२४-१३१

५ तुजुक-ए-जहाँगीरी (फारसी) भा० १, पृ० १२५-१२७, इकबालनामा (फारसी), भा० ३, पृ० ५३४-५५५, काम्बू, अमल-ए-सलीह, ४६-५५, सीसोद वशावली, पत्र २६, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १३१-१३४

अनुभव होने लगा। सामन्तो के परिवार के परिवार नष्ट हो गये, जिनमे किसी मे अल्पवयस्क बच्चा या बेवाओ का समुदाय भार रूप बचा रहा।[६]

इतना होते हुए भी राणा अमरसिंह मे जोश था और वह विषम परिस्थिति मे भी धैर्य से काम ले रहा था। उसे अपने वश-परम्परा की श्रद्धा ने दृढ-प्रतिज्ञ बना रखा था। वह मर-मिटने की स्थिति को विशेष महत्त्वपूर्ण मानता था बनिस्वत इसके कि कुल-मर्यादा के विरुद्ध युद्ध को स्थगित कर अपमानजनक स्थिति का आश्रय ले। परन्तु उसके सामन्तो ने विगडी हुई देश की व्यवस्था को सुधारने के लिए मुगलो से सन्धि करना देश के लिए श्रेयस्कर माना। उन्होने पहले आपस मे मन्त्रणा की और निश्चय किया कि खुर्रम के पास सन्धि का प्रस्ताव भेज दिया जाय। इस निश्चय की सूचना सामन्तो की ओर से सामूहिक रूप मे राणा के पास रखी गयी तो उसने अपने व्यक्तिगत विचारो के विरुद्ध सम्मिलित निर्णय का अनुमोदन किया। खुर्रम के पास हरिदास झाला और शुभकर्ण गोगुन्दे भेजे गये। शाहजादे ने भी मुल्ला शुकरुल्ला शीराजी और सुन्दरदास को सम्राट के पास यह सन्धि-प्रस्ताव लेकर भेज दिया। जहाँगीर ने इस प्रस्ताव से वडी निश्चिन्तता अनुभव की और सन्धि की प्रस्तावित शर्तो की स्वीकृति अपने पजे के चिह्न के साथ भेज दी। ज्योही इसकी स्वीकृति आ गयी तो खुर्रम ने शुकरुल्ला और सुन्दरदास को फरमान देकर राणा के पास सूचनार्थ भेजा। सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थी

(१) स्वय राणा खुर्रम के समक्ष आयेगा और कुँवर कर्ण को मुगल दरवार मे भेजेगा।

(२) राणा को अन्य राजाओ की भाँति मुगल दरवार की सेवा की श्रेणी मे प्रवेश प्राप्त करना होगा, परन्तु राणा को दरवार मे जाकर उपस्थित होना आवश्यक न होगा।

(३) राणा १००० घुडसवारो से मुगल सेवा के लिए उद्यत रहेगा।

(४) चित्तौड उसे लौटा दिया जायगा परन्तु उसकी मरम्मत वह नही करा सकेगा।

इन शर्तों के अनुसार राणा ने खुर्रम से ५ फरवरी, १६१५ ई० को सम्मानपूर्वक भेंट की। शाहजादे ने राणा को विशेष पोशाक, जडाऊ तलवार, जाडऊ जीन वाला घोडा, चाँदी के होदे सहित हाथी, ५० घोडे, १२ जडाऊ वछियाँ और १०० पोशाक देकर सम्मानित किया। राणा ने भी कुछ मिठाई, पोशाक, सोना, जवाहरात, सात हाथी तथा एक बहुमूल्य लाल शाहजादे को भेंट किये। इसके पश्चात कुँवर कर्ण

---

६ इक्वालनामा (फारसी), भाग ३, पृ० ५५५, मआसिर-ए-जहाँगीरी, जरनल ऑफ इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टरली, भा० ८, पृ० १८१, मुन्तखव-उल-लुवाव (फारसी), भा० १, पृ० २७८-७९, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० २३४

भी खुर्रम के पास हाजिर हुआ, जहाँ उसे घोड़ा, हाथी तथा शस्त्र, साज, पोशाक आदि से सम्मानित किया गया। वहाँ से खुर्रम उसे जहाँगीर के दरबार मे ले गया वहाँ भी उसे कई भेंटें दी गयी। फिर कर्ण का राजकुमार जगतसिंह भी शाही दरबार मे पहुँचा, जिसे उपहारो से प्रसन्न रखा गया।[७]

सन्धि की आलोचना—कुछ लेखको ने सन्धि को अपमान सूचक बताया है, क्योकि चित्तौड का लौटाना शर्त से आबद्धित था, जो मेवाड की सुरक्षा के हित मे नहीं कहा जा सकता। मेवाड की प्रजा की दृष्टि मे राजकुमार का मुगल दरबार मे जाना अपमान सूचक था। महाराणा ने भी इस सन्धि को अपने गौरव के लिए ठीक नही माना। उसे इससे इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसने इस सन्धि के बाद राज्य-कार्य अपने पुत्र कर्ण को सौंप एकान्तवास किया।

परन्तु यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो इस सन्धि के विरुद्ध धारणा बनाना भावुकता मात्र है। यह ठीक है कि सन्धि की स्वीकृति मे मुगल सत्ता को मान्यता देना है, पर युद्ध से होने वाली क्षति की तुलना मे मुगल सता की स्वीकृति इतनी हानिकारक नही है। इस सन्धि मे राज्य के आन्तरिक शासन मे सम्राट द्वारा हस्तक्षेप करना या राणा का मुगल दरबार मे हाजिर होना अपेक्षित नही था। न उसे मुगलो के लिए 'डोला' भेजने की आवश्यकता थी। यदि समय पर सन्धि न की गयी होती तो मुगल बल से छोटी-सी मेवाड की रियासत समाप्त हो जाती। बल्कि कहना चाहिए कि इस सन्धि ने कुछ शान्ति का अवसर दे मेवाड के वीरो मे फिर से युद्ध लडने की क्षमता पैदा कर दी। यदि भावुकता को पृथक कर दिया जाय तो यह सन्धि मेवाड के लिए हितकर सिद्ध हुई। इसने युगीय युद्ध की सतत् स्थिति को समाप्त कर मेवाड की जनता को सुख और शान्ति से रहने का अवसर प्रदान किया। यहाँ फिर से व्यापार, जनजीवन, व्यवसाय आदि मे स्थिरता आ गयी। मेवाड के लिए सन्धि मे जो शर्तें थी वह अन्य राजाओ की शर्तो की तुलना मे प्रतिष्ठाजनक और उदार थी। इस सन्धि से जहाँगीर और खुर्रम की उदारता और कूटनीति भी स्पष्ट होती है। यह जहाँगीर के काल की राजनीतिक विजय थी और खुर्रम की व्यक्तिगत विजय थी।[८]

---

[७] तुजुक-ए-जहाँगीर, भा० १, पृ० १३४-१४४, इक्बालनामा, भा० ३, पृ० ५३५-५५३, बादशाहनामा, लाहौरी (फारसी), भा० १, पृ० १७३, नैणसी, पत्र ८, अमरकाव्य, वशावली, पत्र ४८-४९

[८] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १३८-१४०
'According to some casual observers the restoration of Chittor was hedged with conditions, and, therefore worse than useless The sending of a Rajput contingent at the Mughal Court from Mewar was a humiliation to the people of the state and betokened subservience" "The above criticism is based on sentiment and ignores the

(Contd)

अनुभव होने लगा। सामन्तो के परिवार के परिवार नष्ट हो गये, जिनमे किसी मे अल्पवयस्क बच्चा या बेवाओ का समुदाय भार रूप बचा रहा।[६]

इतना होते हुए भी राणा अमरसिंह मे जोश था और वह विषम परिस्थिति मे भी धैर्य से काम ले रहा था। उसे अपने वश-परम्परा की श्रद्धा ने दृढ-प्रतिज्ञ बना रखा था। वह मर-मिटने की स्थिति को विशेष महत्त्वपूर्ण मानता था बनिस्बत इसके कि कुल-मर्यादा के विरुद्ध युद्ध को स्थगित कर अपमानजनक स्थिति का आश्रय ले। परन्तु उसके सामन्तो ने बिगडी हुई देश की व्यवस्था को सुधारने के लिए मुगलो से सन्धि करना देश के लिए श्रेयस्कर माना। उन्होने पहले आपस मे मन्त्रणा की और निश्चय किया कि खुर्रम के पास सन्धि का प्रस्ताव भेज दिया जाय। इस निश्चय की सूचना सामन्तो की ओर से सामूहिक रूप मे राणा के पास रखी गयी तो उसने अपने व्यक्तिगत विचारो के विरुद्ध सम्मिलित निर्णय का अनुमोदन किया। खुर्रम के पास हरिदास झाला और शुभकर्ण गोगुन्दे भेजे गये। शाहजादे ने भी मुल्ला शुकरुल्ला शीराजी और सुन्दरदास को सम्राट के पास यह सन्धि-प्रस्ताव लेकर भेज दिया। जहाँगीर ने इस प्रस्ताव से बडी निश्चिन्तता अनुभव की और सन्धि की प्रस्तावित्त शर्तों की स्वीकृति अपने पजे के चिह्न के साथ भेज दी। ज्योही इसकी स्वीकृति आ गयी तो खुर्रम ने शुकरुल्ला और सुन्दरदास को फरमान देकर राणा के पास सूचनार्थ भेजा। सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थी

(१) स्वय राणा खुर्रम के समक्ष आयेगा और कुँवर कर्ण को मुगल दरबार मे भेजेगा।

(२) राणा को अन्य राजाओ की भाँति मुगल दरबार की सेवा की श्रेणी मे प्रवेश प्राप्त करना होगा, परन्तु राणा को दरबार मे जाकर उपस्थित होना आवश्यक न होगा।

(३) राणा १००० घुडसवारो से मुगल सेवा के लिए उद्यत रहेगा।

(४) चित्तौड उसे लौटा दिया जायगा परन्तु उसकी मरम्मत वह नही करा सकेगा।

इन शर्तों के अनुसार राणा ने खुर्रम से ५ फरवरी, १६१५ ई० को सम्मानपूर्वक भेंट की। शाहजादे ने राणा को विशेष पोशाक, जडाऊ तलवार, जाडऊ जीन वाला घोडा, चाँदी के होदे सहित हाथी, ५० घोडे, १२ जडाऊ बर्छियाँ और १०० पोशाक देकर सम्मानित किया। राणा ने भी कुछ मिठाई, पोशाक, सोना, जवाहरात, सात हाथी तथा एक बहुमूल्य लाल शाहजादे को भेंट किये। इसके पश्चात कुँवर कर्ण

---

६ इकबालनामा (फारसी), भाग ३, पृ० ५५५, मआसिर-ए-जहाँगीरी, जरनल ऑफ इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टरली, भा० ८, पृ० १८१, मुन्तखब-उल-लुबाब (फारसी), भा० १, पृ० २७८-७९, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० २३४

भी खुर्रम के पास हाजिर हुआ, जहाँ उसे घोडा, हाथी तथा शस्त्र, साज, पोशाक आदि से सम्मानित किया गया। वहाँ से खुर्रम उसे जहाँगीर के दरबार मे ले गया वहाँ भी उसे कई भेंटें दी गयी। फिर कर्ण का राजकुमार जगतसिंह भी शाही दरबार मे पहुँचा, जिसे उपहारो से प्रसन्न रखा गया।[७]

सन्धि की आलोचना—कुछ लेखको ने सन्धि को अपमान सूचक बताया है, क्योकि चित्तौड का लौटाना शर्त से आबद्धित था, जो मेवाड की सुरक्षा के हित मे नही कहा जा सकता। मेवाड की प्रजा की दृष्टि मे राजकुमार का मुगल दरबार मे जाना अपमान सूचक था। महाराणा ने भी इस सन्धि को अपने गौरव के लिए ठीक नही माना। उसे इससे इतना पश्चात्ताप हुआ कि उसने इस सन्धि के बाद राज्य-कार्य अपने पुत्र कर्ण को सौप एकान्तवास किया।

परन्तु यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो इस सन्धि के विरुद्ध धारणा बनाना भावुकता मात्र है। यह ठीक है कि सन्धि की स्वीकृति मे मुगल सत्ता को मान्यता देना है, पर युद्ध से होने वाली क्षति की तुलना मे मुगल सता की स्वीकृति इतनी हानिकारक नही है। इस सन्धि मे राज्य के आन्तरिक शासन मे सम्राट द्वारा हस्तक्षेप करना या राणा का मुगल दरबार मे हाजिर होना अपेक्षित नही था। न उसे मुगलो के लिए 'डोला' भेजने की आवश्यकता थी। यदि समय पर सन्धि न की गयी होती तो मुगल बल से छोटी-सी मेवाड की रियासत समाप्त हो जाती। बल्कि कहना चाहिए कि इस सन्धि ने कुछ शान्ति का अवसर दे मेवाड के वीरो मे फिर से युद्ध लडने की क्षमता पैदा कर दी। यदि भावुकता को पृथक कर दिया जाय तो यह सन्धि मेवाड के लिए हितकर सिद्ध हुई। इसने युगीय युद्ध की सतत् स्थिति को समाप्त कर मेवाड की जनता को सुख और शान्ति से रहने का अवसर प्रदान किया। यहाँ फिर से व्यापार, जनजीवन, व्यवसाय आदि मे स्थिरता आ गयी। मेवाड के लिए सन्धि मे जो शर्तें थी वह अन्य राजाओ की शर्तो की तुलना मे प्रतिष्ठाजनक और उदार थी। इस सन्धि से जहाँगीर और खुर्रम की उदारता और कूटनीति भी स्पष्ट होती है। यह जहाँगीर के काल की राजनीतिक विजय थी और खुर्रम की व्यक्तिगत विजय थी।[८]

---

[७] तुजुक-ए-जहाँगीर, भा० १, पृ० १३४-१४४, इक्बालनामा, भा० ३, पृ० ५३५-५५३, बादशाहनामा, लाहौरी (फारसी), भा० १, पृ० १७३, नैणसी, पत्र ८, अमरकाव्य, वशावली, पत्र ४८-४९

[८] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १३८-१४०

'According to some casual observers the restoration of Chittor was hedged with conditions, and, therefore worse than useless The sending of a Rajput contingent at the Mughal Court from Mewar was a humiliation to the people of the state and betokened subservience " "The above criticism is based on sentiment and ignores the

(Contd)

इस सन्धि के वाद मेवाड मे एक व्यवस्था, सुधार और सृजन की प्रवृत्ति का युग आरम्भ होता है। भूमि का नाप, दरवार के अनुशासन के नियम, उदयपुर के महलो का निर्माण, गुणीजनो को प्रश्रय आदि कार्य इस सन्धि के वाद मेवाड मे आरम्भ हुए। एक लम्बे समय तक शान्ति के वातावरण ने मेवाड मे सुवर्णकाल का आह्वान किया। मेवाड के लिए यह निर्माण काल था। कलाकृतियो का सृजन, व्यापार और वाणिज्य की सुव्यवस्था सन्धिजनित फल थे। इस प्रकार के एक नये जीवन के प्रसार के वाद २६ जनवरी, १६२० ई० मे अमरसिंह का देहावसान उदयपुर के निकट आहड मे हुआ जहाँ उसका प्रथम स्मारक वना हुआ है।

अमरसिंह का व्यक्तित्व—डा० ओझा लिखते है कि "महाराणा अमरसिंह वीर पिता का वीर पुत्र था। वह अपने पिता के समय से ही मुसलमानो से लडाइयाँ लडता रहा और उसके पीछे भी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अनेक लडाइयाँ लडा। वह वीर होने के अतिरिक्त नीतिज्ञ, दयालु, अपने सद्‌गुणो से अपने सरदारो की प्रीति सम्पादन करने वाला, न्यायी, सुकवि और विद्वानो का आश्रयदाता था।" कर्नल टॉड ने अमरसिंह के सम्बन्ध मे लिखा है कि "वह प्रताप और अपने कुल का सुयोग्य वशधर था। वह वीर पुरुष के समस्त शारीरिक और मानसिक गुणो से सम्पन्न तथा मेवाड के राजाओ मे सवसे अधिक ऊँचा और वलिष्ठ था। वह उदारता और पराक्रम आदि सद्‌गुणो के कारण सरदारो को और न्याय तथा दयालुता के कारण अपनी प्रजा को प्रिय था।"

यदि हम महाराणा के गुण तथा न्यून पक्ष की सन्तुलित समीक्षा करें तो पायेंगे कि उसमे एक प्रतिभा-सम्पन्न शासक के सभी गुण मौजूद थे। यदि उसमे आत्मबल की कमी होती तो वह अपने पिता से भी अधिक युद्धो को लडने की क्षमता न रखता। वह इतना वैधानिक था कि जव उसके सामन्तो ने मुगलो से सन्धि करने का प्रस्ताव रखा तो उसने उसकी स्वीकृति दे दी और इसके सम्पादन के उपरान्त उसने सच्चे त्यागी की भाँति राज्यकार्य से हाथ भी खीच लिया। उसने अपने व्यक्तिगत अपमान को स्वीकार किया पर राज्य के हित को प्राथमिकता दी। इसमे उसकी दूरदर्शिता भी थी। कुछ भी हो हम अमरसिंह को शासन की योजना, आर्थिक सुधार, सामन्तो के पद की व्यवस्था तथा शिक्षा और साहित्य की उन्नति के श्रेय से वचित नही रख सकते।[६]

---

sufferings to which Mewar had been subjected by the prolonged warfare Hence barring sentimental satisfaction the treaty proved to be beneficial for Mewar It must be regarded as a political triumph for Jahangir and a personal triumph for Khurram "
—*G N Sharma*

६ "We cannot deny the credit which was due to him for his administrative schemes, economic reforms, institution of the ranks of the nobility, of zeal for education and literature"—*G N Sharma, Mewar and the Mughal Emperors*, p 141

महाराणा कर्णसिंह (१६२०-१६२८ ई०)

अमरसिंह की मृत्यु के वाद कर्णसिंह शासक बना जिसके राज्याभिषेक के उत्सव पर जहाँगीर ने राणा की पदवी का फरमान, खिलअत आदि भेजे। अमरसिंह के समय मे होने वाली सन्धि के फलस्वरूप जो सुधार मेवाड मे किये गये और शान्ति स्थापना से लाभ हुए उसमे कर्णसिंह का भी अपना एक योगदान था। उसने मुगल ढांचे पर राज्य को परगनो मे बाँटा और उनके अन्तर्गत कई गाँव सम्मिलित किये। इन इकाइयो के अधिकारी पटेल, पटवारी और चौधरी नियुक्त किये गये। इसने कई नयी बस्तियो को भी वसाया और बेघरबार के व्यक्तियो की आर्थिक सहायता भी की। इन सुधारो से स्थायित्व की भावनाओ को बल मिला और व्यापार तथा वाणिज्य की सुव्यवस्था हो गयी। जिन श्रमिको के लिए काम नही था उनके लिए शहरपनाह तथा राजप्रासाद, हस्तिशाला आदि के निर्माण-काय को आरम्भ कर उनके लिए श्रम और पारिश्रमिक की व्यवस्था की। वैसे तो राणा और मुगल परिवार के सम्वन्ध अच्छे हो जाने से राज्य में सुख और शान्ति स्थापित हो गयी थी, फिर भी जब खुर्रम ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया (१६२३ ई०) तव उसे पीछोला झील के महलो मे पनाह देकर और यहाँ से शान्तिपूर्वक माण्डू के मार्ग से दक्षिण भेजकर अपने सम्बन्धो को खुर्रम से और अच्छा कर लिया। उसका भाई भीम भी खुर्रम के साथ राज्याधिकार युद्ध मे सहयोगी वना रहा। जब खुर्रम जहाँगीर की मृत्यु होने पर सम्राट बनने आगरा जा रहा था तव कर्ण ने उसका गोगुन्दे में स्वागत किया और उसकी यात्रा के लिए सुरक्षा का प्रबन्ध अपनी सीमा मे कर दिया।[१०]

कर्णसिंह इस घटना के वाद अस्वस्थ हुआ और उसकी १६२८ ई० मे मृत्यु हो गयी। यह एक दुर्भाग्य की वात थी कि महाराणा कर्णसिंह शाहजहाँ के समय मे अधिक जीवित नही रहा। यदि वह कुछ समय और विद्यमान रहता तो उसके राज्य को मुगल सम्राट की कृपा से कई प्रकार के लाभ होते। उसको खुर्रम के साथ तथा खुर्रम को मेवाड मे उसके साथ रहने का अवसर मिला था। इस सम्वन्ध से खुरम के सम्राट वनने पर मेवाड को लाभान्वित होने की सम्भावना थी। महाराणा ने फिर भी मुगल सम्पक के कारण अपनी शासन-व्यवस्था को नया रूप दिया। उसने निर्माण-कार्य मे भी, विशेप रूप से कर्ण विलास, दिलखुश महल, वडा दरीखाना आदि मे, मुगल स्थापत्य की विशेषताओ को स्थान देकर सामजस्य की भावना को स्वीकार किया। मुगल-मेवाड सम्वन्ध मे कर्णसिंह ने वडी कूटनीति से काम लिया। खुर्रम को कुछ समय अपने यहाँ रखकर उसे अपना आभारी भी बना दिया और अपने यहाँ से विदा कर वह मुगल मम्राट का कोपभाजन भी नही वना। इस प्रकार मुगलो के

---

[१०] इकवालनामा, भा० ३, पृ० ५४५-५६४, तुजुक-ए-जहाँगीरी, भा० २, पृ० २५८-२६०, राजप्रकाश, जिशानी, २५-२७

आन्तरिक मामलो मे मेवाड ने पहली बार रुचि ली थी जिससे इन दोनो जातियो मे व्यक्तिगत तथा औपचारिक मैत्री सम्बन्ध बने रहे।[११]

महाराणा जगतसिंह (१६२८-१६५२ ई०)

महाराणा जगतसिंह के काल मे दो प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से दिखायी देती हैं जो उसकी नीति का अग है। एक तो यह है कि महाराणा ने जब शाहजहाँ को अपने राज्य-काल के प्रारम्भ मे झुँझारसिंह बुन्देला की समस्या मे उलझा हुआ पाया तो परिस्थिति का लाभ उठाकर उसने अपने निकटवर्ती राज्यो पर अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करना आरम्भ कर दिया। जब देवलिया-प्रतापगढ के शासक जसवन्तसिंह ने मेवाड के प्रभाव को अपने राज्य से हटाने का प्रयत्न किया तो राणा ने जसवन्त तथा उसके लडके महासिंह को उदयपुर बुलाकर किसी गुप्त रीति से मरवा दिया। जब जसवन्त के लडके हरिसिंह ने इस सम्बन्ध की शिकायत शाहजहाँ के पास भेज दी तो प्रतापगढ मेवाड से अलग कर दिया गया। फिर भी जगतसिंह ने प्रतापगढ लूटकर अपने प्रभाव से उसे भयभीत रखा। उसके समय मे डूँगरपुर और बाँसवाडा पर भी धावा बोला गया जिसमे राणा का पलडा भारी उतरा। सिरोही पर भी अपनी सेना भेजकर वहाँ से उसको लूट का बहुत सामान हाथ लगा।[१२]

परन्तु जब इन सभी कार्यों की सूचना शाहजहाँ के पास पहुँची तो वह बडा नाराज हुआ। जगतसिंह ने १६३३ ई० मे झाला कल्याणमल के साथ उपहार भेजकर नाराजगी को कम करवा लिया। दक्षिण विजय पर बधाई भेजकर भी राणा ने सम्राट के क्रोध को शान्त किया। राणा की, वास्तव मे, एक नीति का यह दूसरा पहलू था। उसने शाहजहाँ से खुल्लमखुल्ला झगडा मोल न लेकर अपनी स्थिति को सँभाले रखा। उसके कवि ने उसकी दोनो प्रवृत्तियो का विश्लेषण ठीक ही दिया है कि महाराणा कमजोर शत्रु को दबाता था और प्रबल शत्रु से दबता था और उससे युक्ति से काम निकाल लेता था।

जगतसिंह के निर्माण-कार्य तथा अन्य प्रवृत्तियाँ—जगतसिंह की इस दो पहलू वाली नीति ने उसके राज्य को कई सम्भावित सकटो से बचाया। साथ ही साथ आस-पास के राज्यो पर आक्रमण कर या उन्हे भय की स्थिति मे डालकर उसने धन भी सगृहीत किया और अपना नेतृत्व भी स्थापित कर लिया। समय-समय पर उपहारो के

---

[११] "Thus for the first time of its history Mewar took a keen interest in the internal affairs of the Mughal Court During this period Mewar and the Mughal were on terms of exceptional cordiality, and the personal friendship of the rulers of these powers contributed to the maintenance of good understanding between the two races"
—G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, p 147

[१२] बादशाहनामा (फारसी), भा० २, पृ० ८, ३७०-३७१, जगतसिंह काव्य, सर्ग ३, श्लो० ५, सर्ग ७, श्लो० ४८

आदान-प्रदान से उसने मुगलो से भी सम्बन्ध नही बिगाडा। इस गतिविधि से उसे कला की अभिवृद्धि तथा जनहित सम्पादन के लिए पर्याप्त समय मिल गया। उसने चित्तौड की मरम्मत करवाकर अपने वश गौरव के प्रतीक को बचाये रखने की ख्याति अर्जित कर ली और अपनी सुरक्षा व्यवस्था के साधन को भी बढा लिया। जगन्नाथराय प्रशस्ति से मालूम होते है कि महाराणा अनेक हाथी, घोडे, चाँदी-सोने आदि का दान देकर एक धार्मिक शासक के रूप मे प्रख्यात हो गया। उसके द्वारा दिये हुए बडे दानो मे कल्पवृक्ष, सप्तसागर, रत्नधेनु और विश्वचक्र बडे प्रसिद्ध है। उसने भूमि-दान देकर भी ब्राह्मणो को सन्तुष्ट किया। काशी में ब्राह्मणो के लिए सोना भेजना और कृष्णभट्ट को भैसडा गाँव देना उसकी दानशीलता के प्रमाण हैं। उसने महाकाल और ओंकारनाथ की यात्रा कर अपने जीवन को सफल बनाया। उसकी माता जाबूवती ने भी द्वारिका की यात्रा की थी। जगन्नाथराय का उदयपुर मे मन्दिर बनाकर तथा अनेक अन्य मन्दिरो को बनवाकर तथा जगमन्दिर और उदयसागर के महलो को बनवाकर राणा ने निर्माण-कार्य के लिए अपनी रुचि का परिचय दिया। वह विद्वानो का भी उचित आदर करता था। महाराणा का स्वर्गवास १० अप्रैल, १६५२ को हुआ।[१३]

महाराणा राजसिंह (१६५२-१६८० ई०)

अपने पिता की मृत्यु के बाद राजसिंह मेवाड का स्वामी बना। सम्राट शाहजहाँ ने गद्दीनशीनी के समय उसके लिए राणा का खिताब, पाँच हजारी जात और पांच हजार सवारो का मनसब देकर जडाऊ जमधर हाथी, घोडे आदि भेजे। ज्योही राजसिंह ने राज्य कार्य सँभाला उसने मेवाड के सम्मान और गौरव को और अधिक बढाने का बीडा उठाया। अपने पिता के द्वारा आरम्भ किये गये चित्तौड की मरम्मत के कार्य को उसने सबसे पहले समाप्त करवाने का प्रयत्न किया। जगतसिंह के समय तो बादशाह ने उसे किसी तरह गवारा किया था, परन्तु ज्योही इस काम मे तीव्रता लायी गयी, मुगल सरकार उसको सहन न कर सकी। उसने ३०,००० सेना के साथ सादुल्लाखाँ को चित्तौड की दीवारो को ढाने के लिए भेजा। मुगल सेना से उस समय सघर्ष करना उचित न समझ राजपूत सैनिको को चित्तौड से हटा लिया। सादुल्लाखाँ ने तुरन्त किले के कँगुरे तथा बुर्जो को गिरा दिया और १५ दिन वहाँ रह कर वह बादशाह के पास लौट गया। इसी समय मुशी चन्द्रभान को मेवाड के साथ समझौते के लिए भेजा जिसने राणा को दक्षिण मे, सन्धि के अनुसार, सेना भेजने और

---

[१३] लाहोरी, बादशाहनामा, भा० ३, पृ० ३७०-७१, जगतसिंह काव्य, सर्ग ७, जगन्नाथराय प्रशस्ति, प्रथम पट्टिका, श्लो० ६५-८४, द्वितीय पट्टिका, श्लो० ५४ आदि, जगतसिंह काव्य, सर्ग ३, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १४२-५२, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ५२०-३०

कुंवर को शाही दरवार मे भेजने को समझाया। इसके अनुसार राणा ने कुंवर को शाहजहाँ के दरवार मे भेजा, जहाँ उसको उपहारो से सम्मानित किया गया।[१४]

राणा के प्रारम्भिक अभियान—परन्तु राणा को चित्तौड से अपनी फौजो को हटाने और मुगल सेनानायक द्वारा दुग की वुर्जो को तोडना मन ही मन चुभ रहा था। वह ऐसे अवसर की ताक मे था जिसको लेकर वह अपने अपमान का वदला ले सके। अवसर भी भाग्यवश मिल गया। सितम्वर १६५७ मे जव शाहजहाँ के वीमार होने की खवर चारो ओर फैल गयी तो राजनीतिक वातावरण क्षुव्ध हो गया। विशेप रूप से सम्राट के पुत्रो मे राजसिंहासन प्राप्त करने के प्रयत्नो मे तेजी आ गयी। दारा का केन्द्र मे होना अन्य राजकुमारो के लिए वडे सन्देह का विपय वन गया। इन सभी मे औरगजेव वडा धूर्त था। उसने उत्तर की ओर वढने तथा मुराद को अपनी ओर मिलाने के प्रयत्न जारी कर दिये। उसने देखा कि दारा को जयपुर और जोधपुर का सहयोग प्राप्त है तो उसका ध्यान राजसिंह पर गया। उसने शीघ्र ही उसे पत्र लिखने आरम्भ किये जिनके द्वारा उसने उसको दक्षिण मे अपनी सैनिक सहायता भेजने की अभ्यर्थना की। वह प्रत्येक पत्र मे इस वात को भी दर्शाता रहा कि राजसिंह मुगलो का वडा समर्थक है, अतएव उसी की सहायता से औरगजेव को वडी-वडी आशाएँ है। वह इन पत्रो मे अपनी दक्षिण से उत्तर की ओर वढने की भी प्रगति का विवरण देता था, जिससे उसकी उत्तरोत्तर सफलता का अन्दाज राजसिंह को लग सके। महाराणा ने वैसे तो कोई सैनिक सहायता दक्षिण मे नही भेजी, परन्तु वह भी इन पत्रो का समय-समय पर उत्तर भेजता रहा। उसने किसी भी पत्र मे सक्रिय योग का आश्वासन तो नही दिया, किन्तु वह उनके माध्यम से औरगजेव को भी प्रसन्न रखने की चेप्टा करता रहा। सम्भवत राजसिंह को यह आसार नजर आ रहे थे कि सभी भाइयो मे औरगजेव वडा प्रगतिशील और कूटनीतिज्ञ है।[१५]

राणा ने इस अव्यवस्था का लाभ उठाने का निश्चय किया। वह जानता था कि अभी केन्द्रीय शक्ति का पूरा ध्यान राजकुमारो की हलचल के प्रतिकार मे लगा हुआ है और राजकुमार अपने स्वार्थ की सिद्धि मे लगे हुए हैं, ऐसे समय मे उसके मन्तव्य सिद्धि पर सक्रिय रुकावट मुगल शक्ति की ओर से नही हो सकेगी। 'टीका दौड' के उत्सव का वहाना वनाकर, जिसमे मुहूर्त से वर्ष की पहली शिकार का आयोजन राज्य की सीमा के वाहर किया जाता था, राणा ने २ मई, १६५८ ई० से अपने

---

१४ इनायतखाँ शाहजहाँनामा, इलियट, भा० ७, पृ० १०३-१०४, राज प्रशस्ति, सर्ग ६, श्लो० ११-२१, इन्शा-ए-चन्द्रभान, पत्र ३-१६, राजरत्नाकर, सर्ग १०, श्लो० १०, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १५३-५५

१५ कान्फिडेन्शियल ऑफिस के पत्र, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४१६-४२५, राजरत्नाकर सर्ग १०, श्लो० १३-१४, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १५६-५७

राज्य के तथा बाहरी मुगल थानो पर हमले करना आरम्भ कर दिये। उसने एक-एक कर इनको लूटना आरम्भ किया जिनमे दरीबा, माण्डल, बनेडा, शाहपुरा, खरवड, जहाजपुर, सावर, फूलिया आदि मुख्य थे। इस प्रकार जब वह खारी नदी के तट पर पहुँचा कि उसे दारा का पत्र मिला जिसमे उसने उसकी सहायता प्राप्त करने की प्रार्थना की। राजसिंह जानता था कि औरगजेब को फतहबाद मे विजय मिल चुकी है, उसने प्रत्युत्तर मे यह लिखकर उसे टाल दिया कि उसके लिए सभी राजकुमार बराबर है। इसके बाद वह टोडा, मालपुरा, टोक, चाटसू, लालसोट की ओर बढा जिन्हे खूब लूटा गया। इस प्रयाण के बाद वह जून तक अपनी राजधानी को लौट गया। इस 'टीका दौड' अभियान मे राणा को लाखो रुपये की सम्पत्ति मिली और वह अपने खोये हुए भागो को अपने राज्य मे सम्मिलित कर सका। औरगजेब ने भी शासक बनते ही राणा के पद को छ हजार 'जात' और ६ हजार 'सवार' बढा दिया और गयासपुरा, डूंगरपुर, बाँसवाडा के परगने उसके अधिकार क्षेत्र मे कर दिये।[१६]

औरगजेब द्वारा प्राप्त फरमान से राणा ने १६५६ ई० मे डूंगरपुर, बाँसवाडा और देवलिया पर धावा बोल दिया। इससे भयभीत होकर वहाँ के शासको ने राणा के अधिकार को मान्यता दी। दूसरे वर्ष किशनगढ की राजकुमारी चारूमति ने, जिसे औरगजेब से विवाहित किये जाने का प्रस्ताव था, राणा राजसिंह को वरण किया और चाहा कि उसे मुस्लिम हाथो से उभारा जाय। राणा ने शीघ्र ही उसकी सहायता की और उससे विवाह किया। औरगजेब पर इसकी क्या प्रक्रिया हुई इस सम्बन्ध मे कहना तो बडा कठिन है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट अप्रसन्नता को सम्भवत पी गया और राणा तथा मुगल राज्य के सम्बन्ध पूर्ववत बने रहे।[१७]

राजसिंह के जनोपयोगी कार्य—इस तरह से मुगलो के साथ अच्छे सम्बन्ध कुछ समय बने रहने मे राजसिंह अपनी शक्ति को जनोपयोगी कार्यों मे लगा सका। जिनको कुछ सहायता की अपेक्षा थी उन्हें भूमिदान दिये गये, विशेष रूप से मेवाड के सीमान्त प्रान्तो मे, जिससे सीमा की स्थिति भी सुधर सके और राणा के समर्थको की सख्या बढ सके। ऐसे व्यक्तियो मे कई लोग मीणे थे और उनका सरदार पीथा था जिन्हे भूमि दी गयी थी। केसरीसिंह और रत्नसिंह को भी पारसोली और सलुम्बर की

---

[१६] आलमगीरनामा, पृ० १९४, औरगजेब का फरमान, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४२५-४५२, राजप्रकाश, पद्य, २५-११०, राजप्रशस्ति, सर्ग ७, श्लो० २९-३६, सर्ग ८ श्लो० १-३, राजरत्नाकर, सर्ग १०, श्लो० ४९-५५, नैणसी की ख्यात, पृ० ७६-७७, देवारी लेख, श्लो० २४, वेडवास शिलालेख, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १५७-५९

[१७] औरगजेब फरमान, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४४०-४४२, राजप्रशस्ति, सर्ग ८, श्लो० २२-३०, देवारी शिलालेख, श्लो० २१-२६, राजविलास, सर्ग, ७, पद्य ३१, सीसोद वशावली, पत्र ३१-३२, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १५९-१६०

कुंवर को शाही दरवार मे भेजने को समझाया। इसके अनुसार राणा ने कुंवर को शाहजहाँ के दरवार में भेजा, जहाँ उसको उपहारो से सम्मानित किया गया।[१४]

राणा के प्रारम्भिक अभियान—परन्तु राणा को चित्तौड से अपनी फौजो को हटाने और मुगल सेनानायक द्वारा दुर्ग की बुर्जो को तोडना मन ही मन चुभ रहा था। वह ऐसे अवसर की ताक मे था जिसको लेकर वह अपने अपमान का वदला ले सके। अवसर भी भाग्यवश मिल गया। सितम्बर १६५७ मे जव शाहजहाँ के वीमार होने की खबर चारो ओर फैल गयी तो राजनीतिक वातावरण क्षुब्ध हो गया। विशेप रूप से सम्राट के पुत्रो मे राजसिंहासन प्राप्त करने के प्रयत्नो मे तेजी आ गयी। दारा का केन्द्र मे होना अन्य राजकुमारो के लिए वडे सन्देह का विपय वन गया। इन सभी मे औरगजेव वडा धूर्त था। उसने उत्तर की ओर वढने तथा मुराद को अपनी ओर मिलाने के प्रयत्न जारी कर दिये। उसने देखा कि दारा को जयपुर और जोधपुर का सहयोग प्राप्त है तो उसका ध्यान राजसिह पर गया। उसने शीघ्र ही उसे पत्र लिखने आरम्भ किये जिनके द्वारा उसने उसको दक्षिण मे अपनी सैनिक सहायता भेजने की अभ्यर्थना की। वह प्रत्येक पत्र मे इस वात को भी दर्शाता रहा कि राजसिंह मुगलो का वडा समर्थक है, अतएव उसी की सहायता से औरगजेव को वडी-वडी आशाएँ हैं। वह इन पत्रो मे अपनी दक्षिण से उत्तर की ओर वढने की भी प्रगति का विवरण देता था, जिससे उसकी उत्तरोत्तर सफलता का अन्दाज राजसिंह को लग सके। महाराणा ने वैसे तो कोई सैनिक सहायता दक्षिण मे नही भेजी, परन्तु वह भी इन पत्रो का समय-समय पर उत्तर भेजता रहा। उसने किसी भी पत्र मे सक्रिय योग का आश्वासन तो नही दिया, किन्तु वह उनके माध्यम से औरगजेव को भी प्रसन्न रखने की चेप्टा करता रहा। सम्भवत राजसिंह को यह आसार नजर आ रहे थे कि सभी भाइयो मे औरगजेव वडा प्रगतिशील और कूटनीतिज्ञ है।[१५]

राणा ने इस अव्यवस्था का लाभ उठाने का निश्चय किया। वह जानता था कि अभी केन्द्रीय शक्ति का पूरा ध्यान राजकुमारो की हलचल के प्रतिकार मे लगा हुआ है और राजकुमार अपने स्वार्थ की सिद्धि मे लगे हुए हैं, ऐसे समय मे उसके मन्तव्य सिद्धि पर सक्रिय रुकावट मुगल शक्ति की ओर से नही हो सकेगी। 'टीका दौड' के उत्सव का वहाना वनाकर, जिसमे मुहूर्त से वर्ष की पहली शिकार का आयोजन राज्य की सीमा के वाहर किया जाता था, राणा ने २ मई, १६५८ ई० से अपने

---

[१४] इनायतखाँ शाहजहाँनामा, इलियट, भा० ७, पृ० १०३-१०४, राज प्रशस्ति, सर्ग ६, श्लो० ११-२१, इन्शा-ए-चन्द्रभान, पत्र ३-१६, राजरत्नाकर, सर्ग १०, श्लो० १०, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १५३-५५

[१५] कान्फिडेन्शियल ऑफिस के पत्र, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४१६-४२५, राजरत्नाकर सर्ग १०, श्लो० १३-१४, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १५६-५७

राज्य के तथा बाहरी मुगल थानो पर हमले करना आरम्भ कर दिये। उसने एक-एक कर इनको लूटना आरम्भ किया जिनमे दरीबा, माण्डल, बनेडा, शाहपुरा, खरवड, जहाजपुर, सावर, फूलिया आदि मुख्य थे। इस प्रकार जब वह खारी नदी के तट पर पहुँचा कि उसे दारा का पत्र मिला जिसमे उसने उसकी सहायता प्राप्त करने की प्रार्थना की। राजसिंह जानता था कि औरंगजेब को फतहबाद मे विजय मिल चुकी है, उसने प्रत्युत्तर मे यह लिखकर उसे टाल दिया कि उसके लिए सभी राजकुमार बराबर है। इसके बाद वह टोडा, मालपुरा, टोक, चाटसू, लालसोट की ओर बढा जिन्हे खूब लूटा गया। इस प्रयाण के बाद वह जून तक अपनी राजधानी को लौट गया। इस 'टीका दौड' अभियान मे राणा को लाखो रुपये की सम्पत्ति मिली और वह अपने खोये हुए भागो को अपने राज्य मे सम्मिलित कर सका। औरंगजेब ने भी शासक बनते ही राणा के पद को छ हजार 'जात' और ६ हजार 'सवार' बढा दिया और गयासपुरा, डूँगरपुर, बाँसवाडा के परगने उसके अधिकार क्षेत्र मे कर दिये।[१६]

औरंगजेब द्वारा प्राप्त फरमान से राणा ने १६५६ ई० मे डूँगरपुर, बाँसवाडा और देवलिया पर धावा बोल दिया। इससे भयभीत होकर वहाँ के शासको ने राणा के अधिकार को मान्यता दी। दूसरे वर्ष किशनगढ की राजकुमारी चारुमति ने, जिसे औरंगजेब से विवाहित किये जाने का प्रस्ताव था, राणा राजसिंह को वरण किया और चाहा कि उसे मुस्लिम हाथो से उभारा जाय। राणा ने शीघ्र ही उसकी सहायता की और उससे विवाह किया। औरंगजेब पर इसकी क्या प्रक्रिया हुई इस सम्बन्ध मे कहना तो बडा कठिन है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट अप्रसन्नता को सम्भवत पी गया और राणा तथा मुगल राज्य के सम्बन्ध पूर्ववत बने रहे।[१७]

राजसिंह के जनोपयोगी कार्य—इस तरह से मुगलो के साथ अच्छे सम्बन्ध कुछ समय बने रहने मे राजसिंह अपनी शक्ति को जनोपयोगी कार्यों मे लगा सका। जिनको कुछ सहायता की अपेक्षा थी उन्हें भूमिदान दिये गये, विशेष रूप से मेवाड के सीमान्त प्रान्तों मे, जिससे सीमा की स्थिति भी सुधर सके और राणा के समर्थको की सख्या बढ सके। ऐसे व्यक्तियो मे कई लोग मीणे थे और उनका सरदार पीथा था जिन्हे भूमि दी गयी थी। केसरीसिंह और रत्नसिंह को भी पारसोली और सलुम्बर की

---

[१६] आलमगीरनामा, पृ० १६४, औरंगजेब का फरमान, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४२५-४५२, राजप्रकाश, पद्य, २५-११०, राजप्रशस्ति, सर्ग ७, श्लो० २६-३६, सर्ग ८ श्लो० १-३, राजरत्नाकर, सर्ग १०, श्लो० ४६-५५, नैणसी की ख्यात, पृ० ७६-७७, देवारी लेख, श्लो० २४, वेडवास शिलालेख, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १५७-५६

[१७] औरंगजेब फरमान, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४४०-४४२, राजप्रशस्ति, सर्ग ८ श्लो० २२-३०, देवारी शिलालेख, श्लो० २१-२६, राजविलास, सर्ग, ७, ३१, मीमाद वशावली, पत्र ३१-३२, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि एम्परर्स, पृ० १५६-१६०

जागीर दी गयी, जिन्होने उसके प्रारम्भिक अभियान मे सहयोग दिया था। दुष्काल से पीडितो को सहायता पहुँचाने के लिए तथा कलात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने के लिए राणा ने राजसमुद्र की झील का निर्माण करवाया और उसके महोत्सव के उपलक्ष मे जयपुर, बीकानेर, जोधपुर, जैसलमेर, डूँगरपुर, रीवाँ आदि राज्यो मे हाथी और घोडे भेजकर अपनी प्रतिष्ठा को बढाया। इस उत्सव के अवसर पर ४६,००० व्यक्ति एकत्रित हुए थे और सम्पूर्ण आयोजन मे डेढ करोड रुपया खर्च हुआ था। राणा ने सर्वऋतु विलास तथा जनासागर के निर्माण द्वारा शिल्प-कला को प्रोत्साहन दिया। इन कार्यो मे जनहित की भावना के साथ-साथ सुरक्षा की व्यवस्था के प्रयत्न भी छिपे हुए थे।[१८]

औरगजेब की प्रतिि ि नीति और राजसिंह का दृष्टिकोण—औरगजेब जो धर्म तथा विचारो से कट्टर मुसलमान था, शनै-शनै ऐसे प्रयोगो को कार्यान्वित करता रहा जिससे वह इस्लाम के तत्त्वो का पोषण और उसका प्रचार अपने राज्य मे कर सके। इस नीति को क्रमिक रूप से कार्यान्वित किया गया। अपने राज्यारोहण के पश्चात सर्वप्रथम उसने इस्लामी नियमो को जनजीवन के अनुशासन की सारिका बनाया। अपने राज्यकाल के ११वें वर्ष (१६६८ ई०) मे उसने दरबार मे नाच-गान बन्द कर दिया। १६६९ ई० मे मन्दिरो को तोडने और हिन्दुओ की पाठशालाओ और मूर्तियो को नष्ट करने की आज्ञा निकाल दी। डा० ओझा ने लिखा है कि इन नियमो के प्रचलन से राजसिंह ने औरगजेब का विरोध करना आरम्भ किया। परन्तु विद्वान लेखक का ऐसा लिखना ठीक नही है, क्योकि हम जानते है कि १६७६ ई० मे कुँवर अरिसिंह गया श्राद्ध के लिए मुगल राज्य मे नि शक यात्रार्थ गया, जिससे प्रमाणित है कि अब तक मेवाड-मुगल सम्बन्ध मधुर थे। यदि दोनो मे वैमनस्य हुआ तो इस घटना के दस वर्ष के पीछे हुआ था और उसके कारण विभिन्न थे।[१९]

अपनी प्रतिक्रियावादी नीति की लडी मे औरगजेब ने २ अप्रैल, १६७९ ई० मे हिन्दुओ पर जजिया कर लगाया। इस कर से साधारण से साधारण स्तर के हिन्दू नागरिक की आर्थिक स्थिति पर बडा असर पडा। दिल्ली के नागरिको ने इसका विरोध भी किया, परन्तु सम्राट ने उसकी कोई परवाह न की। इस नियम के प्रचलन के बाद भी मेवाड-मुगल सम्बन्ध ठीक बने रहे। हम जानते है कि इस नियम के

[१८] राजप्रशस्ति, सर्ग ८, श्लो० ३१-३३, सर्ग ९, श्लो० २१-३०, सर्ग १२, श्लो० ६,५,३६, सर्ग १४, श्लो० २२-२७, ३७, सर्ग १८, श्लो० १-१५, सर्ग १९, श्लो० २७, सर्ग २०, श्लो० ४८-४९, सर्ग २१, श्लो० २२, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १६१-६२

[१९] आलमगीरनामा, पृ० ६६१-७६७, सरकार, औरगजेब, भा० ३, पृ० २६५-६६, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ५४७, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १६२-६३

प्रचलन के बाद राजसिंह ने कुँवर जयसिंह, इन्द्रसिंह झाला और गरीबदास (मुख्य पुरोहित) को औरगजेब के दरबार मे भेजा था और सम्राट ने पोशाक, इनाम और राणा के नाम फरमान देकर ३० अप्रैल, १६७९ ई० को उन्हे विदा किया था। २६ मई को वृन्दावन, मथुरा आदि स्थानो मे यात्रार्थ पर्यटन करता हुआ यह सम्पूर्ण दल उदयपुर लौटा। अतएव जजिया को लेकर मुगल-मेवाड सम्बन्ध बिगडे हो ऐसा नही प्रमाणित होता। राजसिंह एक कूटनीतिज्ञ था, वह इस बात को लेकर अपने सम्बन्ध सम्राट से बिगाडे ऐसा सोचना ठीक नही। इसके लिए मेवाड राज्य की हानि से सम्बन्ध रखने वाले कारणो का होना आवश्यक था।[२०]

राजसिंह और जजिया—जजिया के सम्बन्ध मे ऐसी मान्यता है कि जब औरगजेब ने इस कर को हिन्दुओ पर लगाया तो महाराणा राजसिंह ने एक पत्र के द्वारा उसका विरोध किया। परन्तु जब जजिया-विरोध सम्बन्धी पत्र की तीन प्रतियाँ प्रसिद्धि मे आयी तो यह विवादास्पद विषय बन गया कि क्या राजसिंह ने वास्तव मे औरगजेब को ऐसा कोई पत्र लिखा था। इस पत्र की एक प्रति महाराणा के निजी दफ्तर उदयपुर मे, दूसरी बगाल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता के सग्रह मे और तीसरी एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन मे सुरक्षित है। इन तीनो मे से उदयपुर वाली प्रति सबसे सक्षिप्त है जिसको डब्लू० बी० रोज ने अनूदित किया था और जिसे कर्नल टॉड ने अपनी पुस्तक 'एनाल्स' मे उद्धृत किया। इसके सम्बन्ध मे ओर्मे का विचार है कि यह पत्र जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह ने लिखा था, परन्तु यह स्वीकार करने योग्य नही है क्योकि जजिया (२ अप्रैल, १६७९ ई०) जसवन्तसिंह की मृत्यु (२८ नवम्बर, १६७८ ई०) के चार मास बाद लगाया गया था। कलकत्ते वाली प्रति का लेखक शम्भाजी बताया जाता है जो सम्भव नही, क्योकि उस समय शिवाजी राजा थे। ऐसी स्थिति मे शम्भाजी द्वारा पत्र लिखने का प्रश्न नही हो सकता। शिवाजी के बाद शम्भाजी द्वारा ऐसे पत्र लिखे जाने की कल्पना करना भी व्यर्थ है, क्योकि वह निर्बल शासक था। डा० ओझा का कहना है कि शिवाजी के द्वारा पत्र लिखना भी सम्भव इसलिए नही हो सकता कि बुरहानपुर मे शिवाजी की मृत्यु के बाद जजिया लगाया गया था। लन्दन वाली प्रति मे सम्भवत शिवाजी का नाम पीछे से लगा दिया गया हो। इन सम्भावनाओ को समाप्त करने के बाद डा० ओझा का कहना है कि यदि कोई जजिया के विरोध मे पत्र लिख सकता था तो वह राजसिंह ही हो सकता है न कि शिवाजी, क्योकि लन्दन वाले पत्र मे शिवाजी को औरगजेब का शुभचिन्तक लिखा है। हम जानते हैं कि शिवाजी कभी सम्राट का शुभचिन्तक नही

---

[२०] मआसीर-ए-आलमगीरी (फारसी मूल), पृ० १७४-७५, मुन्तखब-उल-लुबाब, (फारसी मूल), भा० २, पृ० २५५, औरगजेब फरमान, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४५७-५९, राजप्रशस्ति, सर्ग २२, श्लो० १-९, मीराते अहमदी (फारसी मूल), भा० १, पृ० ४६६, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १६३

रहा। यदि कोई था तो वह राजसिंह था, जिसका औरगजेव से मधुर सम्बन्ध था। इन दलीलो के आधार पर ओझाजी ने लिखा है कि "इन सब बातो पर विचार करते हुए यही मानना पडता है कि वह पत्र महाराणा राजसिंह ने ही लिखा होगा और जब उसकी नकलें भिन्न-भिन्न स्थानो मे पहुँची होगी तब उसमे किसी ने अपनी ओर से कुछ और बढाकर शिवाजी का और किसी ने शम्भाजी का नाम दर्ज कर दिया होगा।" ओझाजी ने इस प्रकार कर्नल टॉड और कविराज श्यामलदास के ऐसे विचारो का समर्थन किया है।[२१]

परन्तु सर जदुनाथ सरकार ने पत्र के सन्दर्भो तथा उसकी ध्वनि के आधार पर यही निर्णय निकाला है कि लन्दन वाले पत्र मे जो शिवाजी का नाम है वह ठीक है, क्योकि शिवाजी ही ऐसा पत्र लिखने की क्षमता रखता था। हमारे विचार से उदयपुर वाला पत्र, जो राजसिंह का बताया जाता है, अन्य दो पत्रो की तुलना मे सक्षेप मे है। सक्षिप्त प्रति मूल पत्र से ही बनायी जाती है, अतएव शिवाजी के मूल पत्र का साराश उदयपुर की प्रति होनी चाहिए। यदि राजसिंह ने ऐसा कोई पत्र लिखा होता तो उस समय के स्थानीय लेखक—मान कवि, सदाशिव, रणछोड भट्ट आदि उसका अवश्य उल्लेख करते। साथ ही साथ उदयपुर वाली प्रति मे मेवाड से भेजे गये अन्य पत्रो जैसी शैली नही है। लिखावट के विचार से यह पत्र महाराणा का न होकर शिवाजी का ही दीख पडता है। इसमे तो लेखक का नाम या तिथि आदि, जो मेवाड के अन्य पत्रो की पद्धति रही है, नही मिलते। शिवाजी को ही जो औरगजेब से शिकायतें थी और प्रारम्भ मे जिस तरह उसे आरम्भ किया गया है और जिन घटनाओ की ओर सकेत किया गया है उससे पत्र शिवाजी द्वारा लिखा जाना अधिक सगत मालूम होता है। एक जगह शिवाजी पत्र मे लिखते है कि 'मैं बिना आज्ञा के दरबार से चला आया', यह शिवाजी का आगरा से चले आने के सन्दर्भ मे है। राजसिंह कभी सम्राट के दरबार मे नही गये। इसी पत्र मे एक जगह 'मेरे से कर लेने के पहले राजसिंह से कर लिया जाय' का उल्लेख भी लिखने वाला राजसिंह के अतिरिक्त दूसरा व्यक्ति मालूम होता है और वह शिवाजी ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लन्दन वाले पत्र की प्रति तथा कलकत्ता वाली प्रति, जो आपस मे अधिक मेल खाती हैं, मूल की प्रतिलिपियाँ हो और उदयपुर वाली प्रति के रूपान्तर पाठ हो।[२२]

---

[२१] ओर्मे, फ्रेग्मेण्ट्स, पृ० २५२, टॉड, राजस्थान, भा० १, पृ० ४४२, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४६२, ओझा, उदयपुर का इतिहास, भा० १, पृ० ५४९-५५४

[२२] सरकार का लेख, माडर्न रिव्यू, जनवरी १९०८, पृ० २१-२५, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १६३-१६५

"I feel inclined to take this letter as an abriged copy of that of Shivaji to Aurangzeb, who (Shivaji) had every reason to protest and who mentioned the event of his escape in the opening line"
—G N Sharma

राजसिंह की युद्ध के लिए तैयारियाँ—वैसे तो राजसिंह का, जजिया के कर के लगाने की अवधि तक मुगलो से कोई विगाड नही हुआ था, परन्तु वह सजग अवश्य था कि अन्ततोगत्वा औरगजेब से उसे सघर्ष मोल लेना पडे। सम्राट की हिन्दू-विरोधी नीति तथा जाट, सतनामी, सिक्ख, मराठा आदि की प्रतिक्रियाओ से वह अवश्य परिचित रहा होगा, जिससे उसमे भी भीतर ही भीतर सम्राट के रवैये से सतर्कता उत्पन्न हो गयी होगी। फिर भी एक सावधान कूटनीतिज्ञ की भाँति उसने अपनी ओर से कोई विरोधी विचारो या कार्यो के माध्यम से कोई शत्रुता का प्रदर्शन नही किया। परन्तु उसने अपने राज्य मे ऐसे साधनो को जुटाने का अवश्य प्रयत्न जारी रखा जो भविष्य मे होने वाले युद्ध की आशका के समय सहायक हो सकें। उसने राणा उदयसिंह और प्रताप की भाँति अपना ध्यान 'गिर्वा' मे सुरक्षा की व्यवस्था की ओर लगाया। १६७४ ई० मे गिर्वा के फाटक पर, जिसे देवबारी कहते है, सुदृढ किवाड लगवाये और उसके चारो ओर की पर्वतमाला को ऊँची दीवारो, बुर्जो आदि से अभेद्य बनाया। गिर्वा की रक्षा के लिए उसने कई व्यक्तियो को भूमिदान देकर उन्हे अपने-अपने भागो की हिफाजत की जिम्मेदारी सुपर्द कर दी। उसने अपने साथियो तथा प्रजा मे सैनिक-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए 'विजय कटकातु' की उपाधि धारण की।[२३]

मुगल-सीसोदिया-राठौड युद्ध—इस प्रकार के प्रबन्ध के साथ-साथ कुछ घटनाएँ ऐसी घटी कि युद्ध होना अवश्यम्भावी हो गया। १६७८ ई० मे जब महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु जमरूद मे हो गयी तो औरगजेब ने मारवाड पर अधिकार स्थापित करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये, जिसके फलस्वरूप १६७९ ई० तक उसका पूर्ण अधिकार मारवाड पर स्थापित हो गया। यहाँ तक कि जसवन्तसिंह के अल्पवयस्क लडके को राजधानी मे ही रखकर सम्राट ने उसको इस्लामी ढग की शिक्षा देने का निश्चय किया। इस मन्तव्य को दुर्गादास जैसे वीर योद्धाओ ने साकार बनाने मे सम्राट को सफल नही होने दिया। वीर राठौडो ने अजीतसिंह को मेवाड मे जाकर सुरक्षा दिलायी और वे मेवाड की शक्ति से मिलकर सम्राट की शक्ति को चुनौती देने लगे। राणा इस गतिविधि के पोपक इसलिए भी बने कि मुगलो का मारवाड मे आना मेवाड की सीमा के लिए हानिकारक था। अजीतसिंह की माँ भी राणा की निकट सम्बन्धी थी। इस परिस्थिति ने मेवाड और मारवाड को एक बनाया। वास्तव मे यह एक प्रमुख कारण था कि सीसोदिया और राठौड एक होकर मुगल शक्ति का विरोध करने लगे।

सीसोदिया-राठौड गुट के बन जाने से सम्राट बडा चिन्तित हुआ। उसने अपने राज्य की शक्ति इन राजपूतो को नष्ट करने मे लगा दी। चित्तौड, देसुरी आदि भागो

---

२३ राजप्रशस्ति, सर्ग ८, श्लो० २६-२८, देवारी लेख, वि० स० १७३१, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परस, पृ० १६५-६६

पर अपना अधिकार स्थापित कर उसने आसपास के भागो को लेना आरम्भ किया। इस नीति से जन-जागरण हो उठा और चारो ओर मुगल थानो और अधिकारियो को नीचा देखना पडा। मारवाड के अधिकाश भागो मे उसे सामन्तो और जनसाधारण के प्रत्याक्रमण का सामना करना पडा। अब युद्ध ने मुगल शक्ति और जन-सगठन के मुठभेड का स्वरूप ले लिया। मेवाड के कई कस्बे मुगलो के हाथ लग गये, जहाँ उनके थाने बिठा दिये गये। इधर से राजकुमार अकबर को, जो विलासी और शिथिल था, राजसिंह ने भुलावे मे डाल दिया, यह आश्वासन देकर कि उसे मुगल सम्राट घोषित करने मे राजपूत शक्ति उसका साथ देगी। जब औरगजेब को इस नयी प्रवृत्ति का पता चला तो सम्राट ने अकबर को अजमेर बुलाकर राजपूतो मे फूट डलवा दी। राजसिंह की, जो सम्पूर्ण युद्ध की आत्मा था, १६८० ई० मे मृत्यु हो गयी। इधर से औरगजेब को भी दक्षिण की ओर जाना पडा क्योकि यदि अकबर, जो दक्षिण मे पहुँच गया था, मराठो को अपनी ओर मिला लेगा तो उसका सर्वनाश हो जाता। राजपूत भी लम्बे युद्ध से थक गये थे, अतएव सन्धि के प्रस्ताव के अनुसार युद्ध स्थगित कर दिया गया।[२४]

नये राणा जयसिंह और मुगलो की शक्ति के बीच सन्धि-वार्ता हुई, जिसके अन्तर्गत मेवाड के लिए पुर, माण्डल और बदनौर को जजिया के एवज देना निश्चित हुआ। ऐसा करने पर मुगल अपनी सेना मेवाड से हटा लेंगे। राणा को अपने पैतृक राज्य का स्वामी माना जायगा और उसे पाँच हजारी मनसब दिया जायगा। २४ जून को यह सभी शर्तें राजसमुद्र झील के बाध पर निश्चित की गयी, जिसके फलस्वरूप एक लम्बे समय तक मुगल-मेवाड सम्बन्ध फिर से कुछ सुधर गये।[२५]

युद्ध के फल पर एक दृष्टि—सरकार का कहना ठीक है कि इस युद्ध से मेवाड और मारवाड मे धन और जन की बडी हानि हुई, फिर भी यह निर्णायक युद्ध न हो सका। यद्यपि मुगल-मेवाड युद्ध स्थगित कर दिया गया, पर इससे आन्तरिक वैमनस्य की इतिश्री नही हुई। एक प्रकार से अब तक राठौडो से तो युद्ध चलता ही रहा। जयसिंह ने मेवाड के लिए सन्धि कर मारवाड को अकेले युद्ध मे उलझाये रखा यह उचित नही था। यदि इस समय सन्धि की शर्तों के साथ मारवाड का भी बिन्दु रखा जाता तो सम्भवत राजस्थान मे मुगलो से युद्ध की सम्भावना टल जाती। फिर भी यह मानना पडेगा कि भविष्य मे राजपूत अपनी ओर से दक्षिण अभियान मे

---

२४ मआसीर-ए-आलमगीरी (फारसी मूल), पृ० १७६-१९८, मुन्तखब-उल-लुबाब (फारसी मूल), पृ० १७८-२६३, राजविलास, पत्र १३०-१४७, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १६६-१८०

२५ मआसीर-ए-आलमगीरी (फारसी मूल), पृ० २०७-२०८, तारीखे सलातीन-ए-चगताई, भा० २, पत्र १२८, मुन्तखब, पृ० ६०६, राजप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग २३, श्लो० ३४-५८

मुगलो के सहयोगी न रहे। वे तटस्थ दर्शक के रूप मे औरगजेब की उलझनो को देखते रहे। यदि मुगल राज्य का पतन हुआ तो उसके बनाने वालो का भी उत्तर-दायित्व है कि उन्होने इस ओर उपेक्षा वृत्ति धारण कर ली।[२६]

राजसिंह का व्यक्तित्व—महाराणा राजसिंह रणकुशल, साहसी, वीर तथा निर्भीक शासक था। उसे कला के प्रति रुचि थी जिसके फलस्वरूप उसने राजसमुद्र के बाध को कलाकृतियो से अलकृत किया। वह स्वय अच्छा कवि था और विद्वानो का प्रशसक तथा पोषक था। जितना सस्कृत तथा हिन्दी और डिंगल भाषा को प्रश्रय राजसिंह के समय में मिला उतना मेवाड के किसी शासक के समय मे, कुम्भा को छोडकर, नही मिला। उसके समय मे अनेक मन्दिरो का निर्माण हुआ जो उसकी धर्मनिष्ठा के प्रमाण हैं। औरगजेब जैसे शक्तिशाली मुगल शासक से मैत्री सम्बन्ध बनाये रखना तथा आवश्यकता आने पर शत्रुता बढा लेना उसकी समयोचित नीति का फल है। उसमे भावावेश से अनैतिक काम भी हो जाते थे वह उसकी निर्बलता थी। क्रोध के आवेश मे आकर उसने राजकुमार, रानी, पुरोहित और चारण की हत्या कर दी थी जो उसकी आवेशवृत्ति का उदाहरण है।

(ब) अन्य गुहिल वशीय शासक (१४९८-१७०७ ई०)

(१) डूंगरपुर

उदयसिंह (१४९८-१५२६)—उदयसिंह अपने समय का योग्य शासक था जिसने गुजरात और मालवा के सुल्तानो मे सघर्ष कर अपने शौर्य की स्थापना की थी। जब बाबर ने सागा के विरुद्ध खानवा का युद्ध लडा, इस अवसर पर महारावल उदयसिंह भी अपने छोटे पुत्र जगमाल को साथ लेकर बारह हजार सवारो के साथ महाराणा की सहायता के लिए पहुँचा था। इस युद्ध मे जगमाल ने घायल होकर और महारावल ने अपने प्राण देकर ख्याति प्राप्त की थी। उदयसिंह समय की गति को भली प्रकार समझता था। उसने अपने जीवनकाल मे ही बागड को दो भागो मे विभाजित कर दिया। उसने पश्चिमी भाग को ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीराज को और पूर्वी भाग जगमाल को सौंपा।[२७]

आसकरण (१५४९-१५८० ई०)—उदयसिंह का पोता आसकरण वैसे बडा योग्य था, परन्तु जब अकबर के प्रभाव से कई राजस्थानी नरेश मुगलो की अधीनता स्वीकार कर रहे थे, उसे भी मुगल शक्ति से विवश होकर अधीनता स्वीकार करनी पडी थी। उसमे फिर भी अपना एक स्वाभिमान था, वह बादशाही सेवा में रहकर कही लडने नही गया।[२८]

---

[२६] सरकार, औरगजेब, भा० ३, पृ० ३६६, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १८२

[२७] ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० ७७-८२

[२८] वही, पृ० ९७-९९

परन्तु आगे यह स्थिति न रह सकी। महारावल पूंजा १६२६ ई० मे शाही सेना के साथ दक्षिण गया। परन्तु जब औरगजेब ने अपनी प्रतिक्रियात्मक नीति को अपनाया तो महारावल जसवन्तसिंह ने महाराणा राजसिंह को युद्ध-विषयक मन्त्रणा दी और सम्भवत वह मुगलो के विरुद्ध युद्ध लडा।[२९]

डूंगरपुर के शासक कभी सुल्तानो से और कभी मुगलो से लडते रहे, परन्तु अवसर पडने पर उन्होने मेवाड के साथ मैत्री या शत्रुता भी रखी। इसी अर्से मे उन्होंने लोकोपकारी कार्य भी किये। उदाहरण के लिए, महारावल पूंजा ने पुजपुर गाँव वसाया तथा पुंजेला तालाव वनवाया। उसके समय मे डूंगरपुर मे नौलखा बाग और गोवर्धन नाथ के विशाल मन्दिर का निर्माण कराया गया। इसी वश का आसकरण वडा विद्यारसिक और नीति-निपुण नरेश था। उसके समय के कई तुलादान उसकी धर्मनिष्ठा के प्रमाण हैं।[३०]

(२) बांसवाडा

डूंगरपुर की भाँति वाँसवाडा के शासक भी परिस्थिति के अनुसार अपना सम्वन्ध गुजरात, मालवा, मेवाड और मुगलो से वनाते रहे। महाराणा रायमल तथा सागा के समय महारावल उदयसिह मेवाड के साथ था, परन्तु जब अकवर ने मेवाड पर अपने थाने विठा दिये तव वाँसवाडा ने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली। अमरसिंह के समय की गयी जहाँगीर की सन्धि के द्वारा वाँसवाडा को मेवाड के अन्तर्गत माना गया। परन्तु महारावल समरसिंह ने वादशाह जहाँगीर के पास माण्डू मे उपस्थित हो वाँसवाडा को मेवाड से स्वतन्त्र करवा लिया। औरगजेब के अपने राजत्व-काल के प्रारम्भिक समय के फरमान से राजसिंह का फिर वाँसवाडा पर अधिकार मान लिया गया था। परन्तु ज्व मेवाड मे मुगलो का युद्ध छिड गया तो औरगजेब ने कुशलसिंह के नाम फरमान देकर पुन वाँसवाडा मेवाड से पृथक कर दिया और उसे गुजरात के सूवे के साथ जोड दिया।[३१]

(३) देवलिया ढ

इस सघर्षकालीन युग मे प्रतापगढ के शासक वहुधा मेवाड के साथ वने रहे। कभी-कभी यहाँ के इतिहास मे ऐसे भी अवसर आते रहे कि उन्हे मालवा के साथ अपना गठवन्धन करना पडा। उदाहरणार्थ, सूरजमल (१४७३-१५३० ई०) मालवा की सेना के साथ मेवाड के शासक से लडने आया और अन्त मे मेवाड छोडकर चल दिया। परन्तु उसका पुत्र वाघसिंह वहादुरशाह की चित्तौड पर चढाई के समय मेवाड की सुरक्षा के लिए मर मिटा। इस वश के विक्रमसिंह ने वाँसवाडा के शासक

---

२९ ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० १०९-११७

३० वही, पृ० ९८, १०१, ११०

३१ ओझा, वांसवाडा राज्य का इतिहास, पृ० ७०, ७५, ८०, १००, १०५ आदि

प्रतापसिंह का पक्ष लेकर डूँगरपुर के महारावल आसकरण के साथ युद्ध किया। रावत विक्रमसिंह एक वीर तथा स्वाभिमानी शासक था जिसने अपने बाहुबल से मीणो को परास्त कर काँठल मे स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की। उसने अपने ह्ाकिमो के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखा। महारावल सिंहा ने मुगल सेनापति महावतखाँ को अपने यहाँ सुरक्षा देकर अपनी स्वतन्त्रवृत्ति का प्रमाण दिया। मेवाड के राज्य का इस पर बहुत समय प्रभाव बना रहा था, परन्तु जब महाराणा जगतसिंह के षड्यन्त्रो से प्रतापगढ का शासक जसवन्तसिंह और कुँवर महासिंह मारे गये तो हरिसिंह ने शाहजहाँ से सहायता लेकर देवलिया पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। सम्राट ने उसे खिलअत, हाथी, घोडा, सरपेच, हीरे की पहुँचियाँ, मोतियो का कण्ठा, आमली, कलगी आदि प्रदान कर उसका सम्मान बढाया। १६५३ ई० मे उसकी नियुक्ति शाहजादे मुराद के साथ की गयी। महाराणा राजसिंह के समय मे फिर से औरगजेब के फरमान से देवलिया मेवाड का भाग बना लिया गया, परन्तु आगे चलकर पुन हरिसिंह को स्वतन्त्र शासक बना दिया।[३२]

---

[३२] ओझा, प्रतापगढ राज्य का इतिहास, पृ० ५५-१७१

अध्याय १६

कछवाहो की शक्ति का विस्तार और मुगलो से सम्बन्ध व सेवाएँ (१५२७-१७४३ ई०)

प्राक्कथन—अन्य राजपूत वशो की भाँति कछवाह भी राजस्थान के इतिहास के मच पर, बारहवी शताब्दी से, महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करते हैं। इनके प्रारम्भिक अधिवासन के युग मे इन्हे मीणो और बडगूजरो से टक्कर लेनी पडी, जिसके फलस्वरूप ढूँढाड प्रदेश मे वे अपना राज्य स्थापित करने मे सफल हुए। धीरे-धीरे दौसा, रामगढ, खोह, झोटवाडा, गेटोर, आमेर आदि कछवाहो के राज्य के भाग बन गये। चूँकि उन दिनो उत्तर राजस्थान मे, चौहान शक्तिशाली बनते जा रहे थे, कछवाहो को कुछ समय उनके सामन्त के रूप मे रहना पडा हो। इसी वश का पचवनदेव बडा शक्तिशाली शासक था।[1] उसकी मृत्यु के बाद ढूँढाड पर, ख्यातो के अनुसार क्रमश मालसी, जिलदेव, रामदेव, किल्हण, कुन्तल, जणसी, उदयकरण, नरसिंह, उदरण व चन्द्रसेन शासक बने। चन्द्रसेन का पुत्र पृथ्वीराज महाराणा सागा के सामन्त होने के नाते खानवा के युद्ध मे बाबर के विरुद्ध लडा था।

ढूँढाड की राजनीतिक स्थिति (१५२७-१५४८ ई०)—पृथ्वीराज की मृत्यु (१५२७ ई०) के बाद उसका छोटा लडका पूर्णमल आमेर का शासक बना। ऐसा कराने मे उसकी माता बालाबाई का, जो बीकानेर के राव लूणकरण की पुत्री थी, हाथ था। इस घटना से पृथ्वीराज का ज्येष्ठ पुत्र भीमदेव बडा रुष्ट हुआ और उसने पूर्णमल को हटाकर १५३३ ई० मे इसकी राजगद्दी प्राप्त कर ली। यही से आमेर के राज्य मे गृह-कलह का सूत्रपात हुआ। यही कारण है कि क्रमश अफगान और मुगलों का प्रभाव आमेर मे बढता चला गया। भीमदेव की १५३६ ई० में मृत्यु हो जाने पर उसका लडका रत्नसिंह आमेर का शासक बना। वह ऐयाश होने से राजकाज मे रुचि

[1] भ्रम से पचवनदेव को पृथ्वीराज चौहान का समकालीन सामन्त माना है, जो पृथ्वीराज का महोबा युद्ध मे सहयोगी था और तराइन के युद्ध में लडकर वीरगति को प्राप्त हुआ। स्थानीय वशावलियो के आधार पर पचवनदेव का समय १०७० से १०९४ ई० तक निर्धारित होता है, जिससे उसका पृथ्वीराज का समकालीन होना प्रमाणित नही होता।

नही लेता था और राज्य का सभी काम तेजसी रायमलोत देखता था। शेरशाह की बढती हुई शक्ति के सामने वह न टिक सका और इसे उसकी अधीनता स्वीकार करनी पडी। उसी के समय मे उसके चाचा सागा ने राव जेतसी की सहायता से आमेर के निकट मोजमाबाद तथा उसके आसपास की भूमि पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और अपने नाम से सागानेर बसाया। इस समय भी रत्नसिह और सागा मे आमेर लेने के लिए खीचतान चलती रही पर सागा आमेर पर कब्जा करने मे असफल रहा। सागा की मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई भारमल ने रत्नसिह से वैमनस्य रखना आरम्भ किया। उसने कई सामन्तो और रत्नसिह के छोटे भाई आसकरण को अपने पक्ष मे कर लिया, यह कहकर कि रत्नसिह तो शराबी और निकम्मा शासक है। उसने आसकरण को शासक घोषित करने के लिए सगठन कर लिया। इस प्रकार के प्रयत्न मे भारमल का स्वार्थ निहित था, जिसको सामन्तगण तथा आसकरण नही समझ सके। भारमल के बहकाने मे आकर आसकरण ने रत्नसिह को जहर देकर मरवा डाला और स्वय शासक बन गया। परन्तु थोडे ही समय मे भारमल ने सामन्तो को अपनी ओर मिलाकर आसकरण को पदच्युत कर दिया और जून १५४७ मे वह स्वय आमेर का शासक बन बैठा।[२]

भारमल की नीति और अकबर से सम्बन्ध (१५४७ से १५७३ ई०)—वैसे तो भारमल अपनी चालो से राज्य का स्वामी बन गया, परन्तु इससे कछवाहा परिवार मे फूट पड गयी। वह स्वतन्त्र रूप से आमेर मे अपनी शक्ति को बनाये रखने मे असमर्थ था। उसके लिए आवश्यक था कि वह आसकरण और उसके साथियो से सतर्क रहे। भारमल कूटनीतिज्ञ था। उसमे समय की गति को पहचानने की क्षमता थी। जब उसने देखा कि आसकरण शेरशाह के पुत्र सलीमशाह की शरण मे पहुँच गया है और उसे आमेर पर चढा लाया है, तो उसने सलीमशाह के सरदार हाजीखाँ पठान को धन देकर अपनी ओर मिला लिया और आसकरण को भी सन्तुष्ट करने के लिए उसे नरवर का राज्य दिला दिया। इस प्रकार हाजीखाँ भारमल का मित्र बन गया। जब हुमायू के सरदार मजनूखाँ को हाजीखाँ ने नारनोल से निकालने के लिए घेर लिया तो भारमल ने समझा-बुझाकर हाजीखाँ को घेरा उठाने के लिए राजी कर लिया। इस सामयिक सहायता से मजनूखाँ ने भारमल को, दिसम्बर १५५६ ई० मे, दिल्ली बुलाकर अकबर से परिचय बढाने का अवसर दिया। जबकि बादशाह का हाथी जिस पर वह सवार था, बिगड गया और सभी लोग इधर-उधर भागने लगे, तो भारमल अपने राजपूत सरदारो सहित वही खडा रहा और मस्त हाथी को काबू मे लाने मे सफल हुआ। यही से बादशाह उसके साहस और धैर्य से बडा प्रभावित हुआ।[३]

---

२ मुहिणोत नैणसी की ख्यात, जि० २, पृ० ६, बीकानेर अभिलेखागार का वशवृक्ष, वीरविनोद, भा० २, पृ० १२७५

३ अकबरनामा, जिल्द २, पृ० १८-२०, ७०, नैणसी की ख्यात, भा० २, पृ० १३

भारमल और अकवर मे घनिष्ठता—भारमल इन युक्तियो से अपनी वाह्य स्थिति तो सन्तोषजनक वना सका, परन्तु फिर भी उसके राज्य की आन्तरिक स्थिति सुधर न सकी। स्थानीय मीना, जो आमेर के आसपास रहते थे, अपनी पुन शक्ति-सगठन मे लगे हुए थे। आये दिन उनके उपद्रव होते रहते थे जिन्हें दवाना एक कठिन काम था। इधर से पूर्णमल का एक पुत्र सूजा अपने आपको राज्य का वास्तविक हकदार मानता था और इसलिए उसने मेवात के सूवेदार सर्फुद्दीन से मिलकर १५५८ ई० मे आमेर पर आक्रमण कर दिया। मुगल सेना के दवाव से भारमल को स्वय पहाडो मे जाकर छिपना पडा और जव १५६१ ई० मे स्वय सर्फुद्दीन आमेर आया तो उसे एक वडी धन-राशि देने के लिए विवश होना पडा। विजयी सूवेदार ने उसके पुत्र जगन्नाथ आसकरण के पुत्र राजसिंह और जोवनेर के जगमाल के पुत्र खगार को, जो आमेर के राज्य की रक्षा मे लगे हुए थे, धरोहर के तौर पर अपने पास रख लिया।[४]

भारमल अव यह समझ गया कि यदि मिर्जा की कारगुजारी को अकवर द्वारा समर्थन मिल जायगा तो उसको आमेर से हाथ धोने पडेंगे और राज्य पर सूजा का अधिकार हो जायगा। अकवर के लिए भी आमेर मे हस्तक्षेप करने का इससे कोई अन्य उपयुक्त अवसर नही हो सकता था। भारमल मे दूरदर्शिता थी। उसने सोचा कि मिर्जा की सिफारिश के पूर्व यदि वह अकवर से स्वय मिलकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ले तो उसका पक्ष प्रवल हो सकेगा और सूजा की राज्य पर अधिकार करने की सम्भावना धुँधली हो जायगी। इसीलिए जव २० जनवरी, १५६२ ई० को वादशाह अजमेर की तीर्थयात्रा को ढूँढाड के मार्ग से निकला तो उसने सागानेर मे, उसके समर्थक चकताइखाँ की सहायता से, अकवर से भेंट की और मुगल अधीनता स्वीकार कर ली। साथ ही उसने अपने सम्वन्धियो और सरदारो को मिर्जा सर्फुद्दीन के धरोहर से छुडवाने की भी प्रार्थना की। इस युक्ति से भारमल ने वादशाह के दिल मे अपने लिए एक स्थान प्राप्त कर लिया। जव वादशाह अजमेर से लौटा तो भारमल के परिवार को, जो मिर्जा के पास धरोहर के रूप मे था, राजा को सुपुर्द करने का आदेश दिया और स्वय उसने ६ फरवरी, १५६२ को भारमल की ज्येष्ठ राजकुमारी से, साँभर मे, विवाह कर लिया। महाराजा ने इस अवसर पर वादशाह को वहुत अच्छा दहेज दिया। सम्राट की यह वेगम मरियम-उज्जमानी[५] नाम से विख्यात हुई और उनका दाम्पत्य जीवन वडे सुख मे वीता।[६]

विवाह सम्वन्धी आलोचना—अकवर और भारमल की कन्या के विवाह की

---

४ ए० एल० श्रीवास्तव, अकवर महान्, भा० १, पृ० ६२

५ सम्भवत राजकुमारी का पहले का नाम मानमति था

६ अकवरनामा, भा० २, पृ० १५४-१५८, मुन्तखव, भा० २, पृ० ४६-५०, तवकात-ए-अकवरी, भा० २, पृ० १५५, नासिर-ए-रहीमी, भा० १, पृ० ६६४-६५, डा० श्रीवास्तव, अकवर महान्, भा० १, पृ० ६२-६३

कई विद्वानो ने कटु आलोचना की है, यह बताते हुए कि यह कार्य धर्म-विरुद्ध और निन्दनीय था। इसके द्वारा, उनकी दृष्टि मे, हिन्दू जाति के आदेशो की अवहेलना की गयी थी। उनकी यह भी मान्यता है कि जब आमेर के शासक ने अपनी कन्या का विवाह सम्राट के साथ कर दिया तो अन्य राजपूत नरेशो को भी ऐसा करने के लिए बाध्य होना पडा। इसमे कोई सन्देह नही कि वास्तव मे सैद्धान्तिक दृष्टि से इस कार्य का कोई समथन नही ढूंढा जा सकता। पीछे के कवियो ने और ख्यात लेखको ने भी इस घटना की किसी न किसी रूप से निन्दा ही की है। कुछ लोगो का यह भी विश्वास है कि भारमल ने अपनी किसी दासी-पुत्री का अकबर के साथ विवाह कर अपने स्वार्थ की सिद्धि की थी। परन्तु विवाह को न्यायसगत बनाने के लिए इस प्रकार तोड-मरोड करना सच्चाई पर परदा डालना है। यह तो सच है कि जहाँ महाराणा प्रताप ने अपने वश-परम्परा की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए मुगल वैभव की परवाह न की, भारमल ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए राजपूत मर्यादा का उल्लघन किया। परन्तु इस सम्पूर्ण घटना-चक्र मे हम भारमल के कार्यो का समर्थन भी पाते हैं। एक तो यह है कि उसका राज्य आन्तरिक और आभ्यन्तरिक समस्याओ से आक्रान्त था और दूसरा यह कि सूजा शक्तिशाली हो रहा था। अपनी तथा अपने परिवार और राज्य की विषम स्थिति को सँभालने के लिए अकबर से निजी सम्बन्ध स्थापित करना ही उसके लिए समयोचित था। हम जानते हैं कि सूजा का पक्ष मेवात के सूबेदार ने पहले ही ले लिया था और उसने एक प्रकार से मुगल अधीनता स्वीकार ही कर ली थी। यदि इस प्रकार की अधीनता की शर्त से ऊपर बढकर भारमल द्वारा कोई अन्य असाधारण सम्बन्ध स्थापित करने की युक्ति न अपनायी जाती तो सम्भवत अकबर अपने अधिकारी के द्वारा उठाये कदम का समर्थन करता। इन सभी परिस्थितियो को सामने रखकर भारमल ने अपनी कन्या का विवाह अकबर के साथ करना निश्चय कर विवेक-बुद्धि का परिचय दिया। ऐसा करना समयोचित था। इसके अतिरिक्त वह प्रथम व्यक्ति नही था जिसने मुसलमानो से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया हो। आगे भी ऐसे सम्बन्ध हो चुके थे जो बलात् सम्पादित हुए थे। इसमे विशेषता यह थी कि यह आमेर-मुगल वैवाहिक सम्बन्ध सौहार्द्र और विश्वास के वातावरण मे स्वेच्छा से सम्पादित हुआ था। इसमे कोई सन्देह नहीं कि भारमल बढती हुई मुगल सत्ता के साथ रहकर ही आमेर राज्य का विकास कर सकता था। ऐसा सोचने मे उसकी दूरदर्शिता थी। अतएव इस वैवाहिक सम्बन्ध को राजनीतिक दूरदर्शिता ही कहना चाहिए। डा० त्रिपाठी[७] ने भी इस वैवाहिक सम्बन्ध का समर्थन किया है।

अब यदि हम इस वैवाहिक सम्बन्ध के लाभो की ओर दृष्टिपात करते है तो पाते हैं कि उसके कारण आमेर के शासक मुगल राज्य-व्यवस्था के अग बन गये। बाद मे भारमल को ५००० सवार और जात का मनसब प्रदान किया गया। उसके

---

७ डा० त्रिपाठी, मुगल साम्राज्य का उत्थान व पतन, पृ० १४६

पुत्र व पौत्र राजकीय सेना मे प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त किये गये। स्वय भारमल 'अमीर-उल-उमरा' तथा 'राजा' की उपाधियो से सम्मानित किया गया। वह अकवर का इतना कृपापात्र वन गया कि जव कभी लम्वे समय के लिए सम्राट राजधानी से वाहर जाता था तो उसकी रक्षा का सम्पूर्ण भार भारमल पर छोडा जाता था। ऐसे अवसर पर उसने वगाल से आये हुए अफगान आक्रमणकारियो को पीछे धकेलकर अपने उत्तरदायित्व को समुचित रूप से निभाया था। इस सम्पर्क ने मीणाओ के उपद्रव को आमेर राज्य मे दवाने तथा शान्ति स्थापित करने मे वडी सहायता पहुँचायी। इस वैवाहिक सम्वन्ध से प्रेरित होकर अन्य राजस्थानी शासको ने भी अपनी राजकुमारियो का विवाह अकवर और उसके राजकुमारो से करना आरम्भ कर दिया। जो राजकुमारियाँ मुगल अन्त पुर मे प्रवेश प्राप्त करती थी उन्हे अपने धर्म को पालन करने की स्वतन्त्रता थी। अवुल फजल ने लिखा है कि फतहपुर सीकरी के महलो मे हिन्दू रानियो के द्वारा प्रतिदिन होम के आयोजन होते रहते थे। इन विवाहो के कारण अकबर की धार्मिक नीति मे सहिष्णुता का दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण स्थान वनाने पाया। इन विवाहो के कारण सामाजिक क्षेत्र मे हिन्दू-मुगल जातियो के रस्म-रिवाजो मे आदान-प्रदान की व्यवस्था हो सकी। मुगलो मे तुलादान, अश्व-पूजन, दशहरा, दीपावली के उत्सवो के मनाने की प्रथा आदि वैवाहिक सम्वन्ध के वाद जड पकड गयी। सैनिक क्षेत्र मे कछवाह, राठौड आदि राजपूतो का सहयोग मुगल सल्तनत के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। राजस्थान के विभिन्न भागो मे मुगल-प्रभाव स्थापित करने मे कछवाह वश का वडा हाथ था। इस वश के राजाओ और राजकुमारो की भारतीय तथा सीमान्त प्रान्तो मे सेवाएँ वडी उपादेय सिद्ध हुई। इन प्रान्तो की विजयो मे मानसिंह, जगन्नाथ, मिर्जा राजा जयसिंह तथा सवाई जयसिंह की श्लाघनीय देन थी। डा० वेनीप्रसाद ने इस प्रकार के सम्वन्ध की प्रशसा करते हुए लिखा है कि राजपूत न केवल एक पीढी तक वरन् चार पीढी तक मुगल राज्य के स्तम्भ वने रहे। वे उनके विचार से, सास्कृतिक सामजस्य के सच्चे प्रतीक थे। इनका मुगल दरवार मे सम्मिलित होना विविध दलो मे सन्तुलन रखने के लिए एक अच्छा साधन वन गया। राजपूतो के द्वारा हिन्दू जनता के सौहार्द्र को अर्जित करने मे अकवर को वडी सहायता मिली। मुगल सैनिक विभाग मे तो अच्छे साहसी वीरो की कोई कमी राजपूतो ने न पैदा होने दी।[८]

भारमल का व्यक्तित्व—भारमल एक महत्त्वाकाक्षी शासक था जिसने अपने लिए कूटनीति से राज्य-प्राप्ति का मार्ग ढूंढ निकाला। उसमे समय को पहचानने की विलक्षण क्षमता थी। उसने प्राचीन मान्यताओ से ऊपर उठकर मुगल-कछवाह सम्वन्ध की

८　तवकात, भा० २, पृ० २३६, अकवरनामा, जि० २, पृ० २७२-७३, जि० ३, पृ० ६१, देवीप्रसाद, आमेर के राजा, पृ० ३८-३९, ईश्वरीप्रसाद, दि हिस्ट्री ऑफ मुस्लिम रूल, पृ० ३६६-६७

कडियो को सुदृढ बनाया। अपने राज्य को सकटमय स्थिति मे उसने सूझबूझ से काम लिया, जिसके फलस्वरूप आमेर राज्य की व्यवस्था सुदृढ और स्थायी बन गयी। अपनी योग्यता और सेवा-तत्परता से वह अकबर जैसे महान सम्राट का विश्वासपात्र बन गया। अपनी दूरदर्शी नीति से उसने अपने वश के राजनीतिक महत्त्व को बढाया। भारमल की मृत्यु जनवरी १५७३ ई० मे हो गयी।

राजा मानसिंह और आमेर का उत्कर्ष

मानसिंह का वश-क्रम मे स्थान—भारमल के दस पुत्र थे—भगवन्तदास, भोपत, जगन्नाथ, परशुराम, सादूल, सलहदी, सुन्दरदास, पृथ्वीदास, रामचन्द्र और विट्ठलदास। इसकी मृत्यु पर इसका ज्येष्ठ पुत्र राजा भगवन्तदास १५७३ ई० मे आमेर की राजगद्दी पर बैठा। वह अपने पिता की भाँति अच्छा शासक और योग्य सेनानायक था। उसने सरनल के युद्ध मे अपनी वीरता का परिचय दिया था और सात वर्ष (१५८२-८९) तक पजाब का सूबेदार रहा। वह पाँच हजारी मनसब से सम्मानित किया गया था और उसकी मृत्यु लाहौर मे १५८९ ई० मे हुई थी।[९]

भगवन्तदास की मृत्यु पर उसका लडका मानसिंह (१५८९-१६१४) आमेर का शासक हुआ। मानसिंह के पिता के सम्बन्ध मे फारसी तवारीखो मे भगवन्तदास और भगवानदास दोनो नाम मिलते हैं। निजामुद्दीन[१०], बदायूँनी[११] और फरिश्ता[१२] मानसिंह के पिता का नाम भगवानदास लिखते है, परन्तु अबुल फजल[१३] उसका नाम भगवन्तदास बताते हैं। जहाँगीर भगवानदास को मानसिंह का चाचा और भक्कूदास को उनका पिता लिखता है। इसके विपरीत नैणसी[१४] ने भारमल के बाद भगवानदास और उसके बाद मानसिंह को आमेर का शासक माना है। बाँकीदास की ख्यात[१५] मे मानसिंह को भगवन्तदास का पुत्र लिखा है। श्रीकृष्णराय ने अपनी कछवाह वशावली[१६] मे भगवन्तदास को आमेर का शासक और भगवानदास को लवाना का स्वामी बताते हुए मानसिंह को भगवन्तदास का पुत्र लिखा है। कविभूषण[१७] और

---

९ अकबरनामा, भा० ३, पृ० ८६३, मआसिर-उल-उमरा, भा० १, पृ० ४०५, बीकानेर पुरालेख का वश-क्रम।

१० तबकात, ईलियट-डाउसन, भा० ५, पृ० २७३,३४६,३६१,३६३ आदि।

११ मुन्तखब (लोइ), भा० २, पृ० १४४, २३३

१२ फरिश्ता (ब्रिग्ज), भा० २, पृ० २३६, ३७, ५२, ५३, ५८ आदि

१३ अकबरनामा, भा० २, पृ० २४२ (बैवरिज)

१४ नैणसी की ख्यात, भा० २, पृ० १३

१५ बाँकीदास री ख्यात (नरोत्तमदास), न० १४१३,१४१६, पृ० १२४

१६ कछवाह वशावली, पत्र ३४-३५

१७ भूषण भारती, पृ० २५१

सूरजमल मिश्रण[१८] भी भगवन्तदास को मानसिंह का पिता बताते है। इनके अनुसार भारमल के पश्चात भगवन्तदास और उसके वाद मानसिंह आमेर का शासक हुआ।

इन मतो के विरुद्ध कर्नल टॉड[१९] का मत है कि मानसिंह भगवानदास के गोद गया था और भगवानदास भारमल के पीछे आमेर की गद्दी पर बैठा था। स्मिथ[२०] भी इसी मत को स्वीकार करते है। डा० ओझा[२१] लिखते है कि मानसिंह भगवन्तदास का दूसरा पुत्र था और उसे आमेर के शासक भगवानदास ने गोद लिया था।

परन्तु आमेर के वि० स० १६६६ के शिलालेख से स्पष्ट हो जाता है कि भारमल के वाद उसका लडका भगवन्तदास और उसके पीछे उसका लडका मानसिंह आमेर का शासक हुआ। इसी मत की पुष्टि वृन्दावन के गोविन्ददेव के मन्दिर के लेख से तथा समकालीन पण्डित पुण्डरीक से होती है, जो रागमजरी[२२] का लेखक है। ऐसा प्रतीत होता है कि कई लेखको ने भगवन्तदास और भगवानदास के नामो मे कोई विशेष अन्तर न मान लोम-विलोम नाम-क्रम दे दिये और कुछ लेखको ने दोनो व्यक्तियो को एक ही मान लिया। वास्तव मे भारमल के वाद उसका पुत्र भगवन्तदास और उसके वाद उसका लडका मानसिंह आमेर का शासक हुआ, जैसा कि स्थानीय समसामयिक-साधन उल्लेख करते है।

कुंवर मानसिंह और मुगल सेवाएँ

प्रारम्भिक सेवाएँ—कुंवर मानसिंह अपनी बारह वर्ष की अवस्था से ही, अर्थात १५६२ ई० से, मुगल सेवा मे प्रविष्ट हो गया था।[२३] उसने अकवर के साथ रहकर अपना सैनिक शिक्षण परिपक्व वना लिया। रणथम्भौर के १५६६ ई० के आक्रमण के समय मानसिंह और उसके पिता भगवन्तदास अकवर के साथ थे। सुर्जन हाडा से सन्धिवार्ता मे सम्राट को जो सफलता मिली थी उसमे इन दोनो पिता-पुत्रो का वहुत योगदान था।[२४] १५७२ ई० मे मानसिंह ने गुजरात से ईडर की ओर जाने वाले शेरखाँ फौलादी के लडको का अकवर के आदेश से पीछा किया और उनका असवाव लूट लिया।[२५] इसी गुजरात अभियान के समय उसने कई स्थानो मे सेना के

१८ वशभास्कर, ७, पृ० २२३४
१९ रागमजरी (पूना), पृ० १, टॉड, एनाल्स, भा० २, पृ० ३५३
२० स्मिथ, अकवर, पृ० २४२
२१ ओझा, राजपूताने का इतिहास, भा० ३, पृ० ७३८
२२ रागमजरी (पूना), पृ० १
२३ अकवरनामा (बैवरिज), भा० २, पृ० २४४
२४ वही, पृ० ४५४, ४६४ आदि
२५ त्वकात, भा० २, पृ० ३७३

अग्रभाग मे रहकर युद्ध मे वीरता से भाग लिया था। सरनाल के युद्ध मे उसने विशेष ख्याति अर्जित की थी।[२६]

गुजरात विजय से लौटते समय अकबर ने मानसिंह को आदेश दिया कि वह कुछ सेना के साथ वागड के मार्ग से होता हुआ पुन राजधानी पहुँचे और मार्ग मे जो स्थानीय राजा उससे मिलें उनको उचित सम्मान दे। परन्तु जो राजा उसका विरोध करे उनको दण्ड दे।[२७] सम्भवत यह मानसिंह के लिए एक परीक्षण काल था जिससे उसके स्वतन्त्र आचरण का अनुमान लगाया जा सके। अप्रैल १५७३ के लगभग मानसिंह और उसके अन्य साथियो ने डूँगरपुर के शासक आसकरण को, जिसने उनका विरोध किया था, परास्त किया और राज्य मे लूट-खसोट की। इस अवसर पर रावल के दो भतीजे वाघा और दुर्गा वीरगति को प्राप्त हुए।[२८] यहाँ से कुँवर उदयपुर गया और राणा प्रताप से उसकी भेंट हुई। राणा ने उसका समुचित आदर किया परन्तु मुगल खिलअत को स्वीकार करने से आनाकानी की।[२९] कुँवर को १५७३ ई० मे पुन गुजरात जाने का आदेश मिला, परन्तु गुजरात विजय पहले ही सम्पादित हो गयी थी, अतएव उसे मार्ग से ही फतहपुर सीकरी बुला लिया गया। बिहार मे दाउदखाँ के विद्रोह की सूचना मिली तो सम्राट ने उसको दबाने के लिए उस ओर प्रस्थान किया। इस अवसर पर मानसिंह भी उसके साथ था। विद्रोह दबाने के अनन्तर १५७५ ई० के आरम्भ मे वह फिर सम्राट के साथ फतहपुर सीकरी लौट आया।[३०] इन सभी अभियानो के वर्णनो से प्रतीत होता है कि मानसिंह की योग्यता और वीरता से अकबर काफी प्रभावित हुआ था। यही कारण था कि उसने लगभग सभी अवसरो पर उसे अपने साथ रखा।

मानसिंह और मेवाड—मानसिंह के जीवन की मेवाड अभियान एक बडी महत्त्व की घटना थी। गुजरात से लौटते हुए तो १५७३ ई० मे वह एक मर्तबा मेवाड जा चुका था। १५७६ मे अकबर ने उसे दुबारा ५००० सैनिको को देकर मेवाड भेजा। इस समय वह स्वतन्त्र अधिकारी के रूप मे भेजा गया था जिससे उसका उत्तरदायित्व अधिक था। जैसा कि हम ऊपर पढ चुके थे मानसिंह राणा को हल्दीघाटी के युद्ध मे पराजित तो कर सका, परन्तु अकबर की इच्छा के अनुसार उसे

---

२६ अकबरनामा, भा० ३, पृ० १९-२०, तबकात, भा० २, पृ० ३७८

२७ वही, भा० ३, पृ० ४८

२८ डूगरपुर प्रशस्ति, १५८६ ई०

२९ अकबरनामा (फारसी), भा० ३, पृ० १४, बैवरिज, भा० ३, पृ० ८७, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ८८-८९, मानसिंह और प्रताप की भेंट की चर्चा विस्तार मे प्रताप के सन्दर्भ मे यथास्थान की गयी है।

३० अकबरनामा (बैवरीज), भा० ३, पृ० ६१, ६२, ८८, ९३-९५, १२३, १४१, १४७

वन्दी वनाने मे या उसे ममाप्त करने मे सफल न हो सका। इस युद्ध के वाद गोगुन्दे मे मुगल सेना राजपूतो के माथ घिरी हुई पटी रही। अन्त मे एक-एक कर वे सभी मेवाड मे निकल गये। अकवर को इस प्रकार की आंशिक विजय से उतनी प्रसन्नता न थी। इसीलिए वह कुछ समय मानसिंह मे रुष्ट भी रहा। अतएव उसे तथा आसफखाँ को उसने मेवाड मे वापस बुला लिया।[३१] मानसिंह ने जो ख्याति अकवर के साथ रहकर प्राप्त की थी उसको इस अभियान मे कुछ ठेस अवश्य पहुँची, परन्तु कछवाह परिवार की आगे भी मेवा की अपेक्षा मुगल राज्य को थी और अकवर यह समझ गया था कि मेवाड को पूर्णरूपेण अधिकार मे लाना कठिन कार्य है तो उसने मानसिंह को क्षमा कर दिया और उसे भविष्य के अभियानो मे फिर मे भेजना या साथ रखना आरम्भ कर दिया। खीचीवाडे के विद्रोह को दवाकर और मालवा मे सुशासन व्यवस्था स्थापित कर मानसिंह ने पुन सम्राट को उसका प्रशसक वना लिया।[३२]

मानसिंह और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त भाग (१५८०-१५८७ ई०)—इन सेवाओ मे अकवर समझ गया था कि कुंवर मानसिंह का उपयोग राज्य के लिए वडा उपादेय है। उन्ही दिनो उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की स्थिति सन्तोषजनक नही थी। अफगानो, रोशनियाओ तथा मिर्जा हाकिम आदि विद्रोहियो का जोर उस भाग मे वढता जा रहा था। इस स्थिति को सुधारने के लिए अकवर ने कुछ अधिकारियो को पजाव मे भेजा जहाँ मे वे युसुफखाँ आदि अधिकारियो के नेतृत्व मे रहकर उपद्रवियो का मुकावला करें। राजा भगवन्तदास और कुँवर मानसिंह को भी इसी आशय से पजाव भेजा गया। अधीन अधिकारी के रूप मे रहते हुए कुँवर मानसिंह ने कश्मीर, वदख्शा आदि स्थानो मे उपद्रवो को दमन करने मे सफलता दिखायी। उसकी सेवाओ से सन्तुष्ट होकर अकवर ने युसुफखाँ के स्थान पर १५८० ई० मे मानसिंह को उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त भागो तथा सिन्ध प्रदेश की सुव्यवस्था के लिए नियुक्त किया। ज्योही मानसिंह को स्वतन्त्र अधिकारी का स्थान मिला, उसने अफगानो को मुगल सीमा के वाहर खदेडना आरम्भ किया। शदमन अफगानी का, जो मिर्जा हकीम का सेनानायक था और जिसने नीलव के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया था, पीछा किया गया। इस अवसर पर अफगानो की हार हुई। शदमन सूरजसिंह कछवाह द्वारा घायल हुआ और अन्त मे उसकी मृत्यु हो गयी।[३३]

अपने सेनानायक की पराजय का वदला लेने के लिए मिर्जा हाकिम ने, जो कुछ एक विद्रोही मुगल सरदारो तथा फरीदुन द्वारा उकसाया गया था, १५८१ ई० मे पजाव पर आक्रमण कर दिया और कुँवर मानसिंह और उसके साथियो को लाहौर के किले मे घेर लिया, परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रही। मान्सरेट, अवुल फजल

---

[३१] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ९३-११०

[३२] जयपुर वशावली, वीकानेर अभिलेखागार, पृ० ३९-४०

[३३] अकवरनामा, भा० ३, पृ० ४९३-९४, इकवालनामा-ए-जहाँगीरी, भा० २, पृ० ३९२

तथा अन्य लेखको के वर्णन से स्पष्ट है कि मिर्जा ने यह सोचकर कि अकवर जो उस ओर आ रहा है, अधिक शक्तिशाली है और इतनी दूर काबुल से लाहौर तक सहायता प्राप्त करना उसके लिए कठिन है, घेरे को उठाकर लौट गया। लौटती हुई सेना का मानसिंह ने सिन्धु नदी तक पीछा किया और वह पुन लाहौर चला आया। जब अकबर को इस विजय की सूचना मिली तो उसने कुंवर के मनसब मे ५००० की वृद्धि कर उसे सम्मानित किया।[३४]

कुंवर मानसिंह काबुल मे (१५८१ से १५८७ ई०)—जब शाहजादा मुराद को मिर्जा हाकिम को दबाने के लिए जुलाई १५८१ मे काबुल की ओर भेजा, कुंवर मानसिंह भी उसके साथ था। सम्राट अकवर भी इनकी गतिविधि देखने के लिए पीछे से उस ओर बढ रहा था। मुराद और मानसिंह ने मिर्जा को उत्तरी काबुल तक धकेल दिया और शाही सेना फिर से पजाब लौट आयी। सम्राट ने मानसिंह की सेवा से प्रसन्न होकर उसे सिन्ध प्रदेश का प्रमुख अधिकारी बना दिया और जब ३० जुलाई, १५८५ ई० मे मिर्जा की मृत्यु हो गयी और उसके पुत्रो के अल्पवयस्क होने से स्थानीय सामन्तो ने काबुल पर अधिकार कर लिया, तो इस स्थिति से लाभ उठाने के लिए कुंवर मानसिंह को ससैन्य काबुल जाने का आदेश मिला। आपसी फूट का लाभ उठाकर मानसिंह ने काबुल पर मुगल शक्ति का अधिकार स्थापित करने मे सफलता दिखायी। उसने जिन राजपरिवार के व्यक्तियो ने उसके साथ अच्छा व्यवहार किया था या जो उसकी दृष्टि मे कृपा पात्र थे उन्हे अकबर द्वारा सम्मानित करवाया और फरीदूनखाँ को, जो शाही शासन का विरोधी था, दण्डित करवाया। रोशनिया अफगानी भी कुंवर के द्वारा दवाये गये। काबुल जैसे सुदूर भाग पर मुगलो के अधिकार को स्थापित कर उसने अकवर के दिल मे अपने लिये स्थान बना लिया। इन सेवाओ के उपलक्ष मे सम्राट ने कुंवर मानसिंह को काबुल का सूबेदार नियुक्त कर दिया। इस पद पर रहते हुए उसने काबुल की व्यवस्था अच्छे ढग से की और समय-समय पर युसुफियो को भी दवाया।[३५]

जब काबुल मे मुगल सत्ता सफलतापूर्वक स्थापित हो गयी तो अकवर ने कुंवर मानसिंह का मार्च १५८७ ई० मे वहाँ से स्थानान्तर कर दिया। अबुल फजल ने उसके स्थानान्तर के कारण की ओर सकेत करते हुये लिखा है कि कुंवर ने कुछ लोगो के प्रति कठोरता का व्यवहार किया था। सम्भवत ये वही सामन्त हो सकते है जिन्हें मानसिंह न अपने अधिकारो से वचित किया था। इसी को लेकर इन्होने मानसिंह

---

[३४] अकवरनामा, भा० ३, पृ० ५०८, मान्सरेट-कोमेण्टेरी, पृ० १६०

[३५] तवकात-ए-अकवरी, भा० २, पृ० ५८२, ५८७, ५९७, ६०२, ६०५, ६०७, ६१५, ६२२ आदि, अकवरनामा भा० ३, पृ० ५३६, ५४०, ७१४, ७३४, ७४५, ७८०, ७८४, आदि, मआसिर-उल-उमरा, भा० २, पृ० ४६, मुन्तखब-उत-तवारीख, भा० २, पृ० ३५०, ३५८, ३५६, ३६०, ३६२, ३६६, ३७०, ३७५ आदि।

को वदनाम किया हो। इसके अतिरिक्त लम्बे समय तक कावुल जैसे सुदूर प्रान्त मे रहकर राजपूत सैनिक ऊब गये हो और जिन्हे वादशाह ने उस प्रान्त से उत्तरी भारत मे वुलाना उचित समझा हो। ऐसा भी अनुमान लगाया जा सकता है कि मुगल पद्धति के अनुसार सूवेदार अधिक समय एक सूवे मे नही रखे जाते थे। मानसिंह को सिन्ध प्रान्त और कावुल मे रहते हुए लगभग छ वर्ष हो गये थे। ऐसी स्थिति मे उसका स्थानान्तर अपेक्षाजन्य था। इन कारणो मे से कोई भी कारण रहे हो, परन्तु इतना अवश्य था कि कुँवर मानसिंह कावुल मे जनप्रिय हो गया था और उसने वहाँ सुव्यवस्था स्थापित कर अपने उत्तरदायित्व को ठीक तरह से निभाया था। यदि शासन मे उसने कठोर नीति को अपनाया तो ऐसे उपद्रवी प्रान्त मे, विशेषकर जवकि वह प्रान्त नये रूप से ही मुगल राज्य का भाग वनाया गया था, इस प्रकार की नीति समयानुकूल थी।

मानसिंह विहार का सूवेदार (१५८७-१५९४ ई०)—कावुल से मानसिंह का स्थानान्तर विहार कर दिया गया, क्योकि वहाँ स्थानीय जमीदारो के उपद्रव हो रहे थे और कई छोटे-मोटे राजा मुगल सत्ता की अवहेलना कर मनमानी करते थे। कई अफगान तथा पठान सामन्त भी आये दिन विद्रोह के आचरण द्वारा अधिकारियो की आज्ञाओ की अवहेलना करते थे। इस परिस्थिति मे कुँवर के लिए वहाँ सुव्यवस्था स्थापित करना कठिन काम था। पर उसमे सूझवूझ थी और विद्रोहियो को दमन करने का अनुभव था। वहाँ पहुँचकर उसने शक्तिशाली राजाओ तथा उपद्रवियो का दमन करने तथा वहाँ मुगल सत्ता स्थापित करने की योजना बनायी। परन्तु थोडा ही समय उसे विहार मे आये हुआ था कि १५८९ ई० मे उसके पिता भगवन्तदास की मृत्यु हो गयी। वह आमेर पहुँचा और वहाँ औपचारिक रूप से उसकी गद्दीनशीनी हुई। अकवर ने भी उसके लिए टीका भेजकर और उसके ५००० के मनसव को पक्का कर सम्मानित किया। आमेर से लौटने के अनन्तर उसने विद्रोही राजाओ, सामन्तो और अफगानो को दवाना आरम्भ किया। सवसे पहले उसने गिधोर के राजा पूर्णमल को परास्त कर उसे मुगल अधीनता स्वीकार करने को वाध्य किया। उसने वादशाह के लिए कई हाथी और वहुमूल्य वस्तुएँ भेंट की और अपनी लडकी का विवाह मानसिंह के भाई चन्द्रभान के साथ कर दिया। १५९० ई० मे खडगपुर के सग्रामसिंह के हारने की वारी आयी। इसी तरह शम्भूपुरी के सैयदो और हाजीपुर के राजा गनपत का भी दमन किया गया। हाजीपुर मुगल राज्य मे सम्मिलित कर लिया गया। जव वगाल के सुल्तान कलामक ने पूर्वी विहार के भागो पर, जिनमे पूर्णिया, ताजपुर, दरभगा आदि मुख्य थे, आक्रमण कर दिया तो मानसिंह ने अपने पुत्र जगतसिंह की सहायता से इन्हें मार भगाया।[३६]

---

[३६] अकवरनामा, भा० ३, पृ० ८०१, ८६३, ८६५, १२११, १२५१, तवकात, भा० २, पृ० ६२२, ६३७, प्रसाद, राजा मानसिंह, पृ० ७६-८१

उडीसा की विजय—बिहार का सूबेदार रहते हुए मानसिंह ने कतलूखाँ और तदनन्तर उसके लडके नासीरखाँ पर हमला बोल दिया जिसमे उसे वडी सफलता मिली। नासीर ने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली और १५० हाथी तथा अनेक वस्तुएँ उपहार स्वरूप दी। मानसिंह ने १५६० से १५६२ तक लगातार जगह-जगह अफगानो का पीछा किया। उनके अधीन कई भागो पर आक्रमण किये गये जिनमे जलेसर मुख्य था। अन्त मे अफगानो ने आत्मसमर्पण कर दिया, जिससे मुगलो का उडीसा पर भी कब्जा हो गया।[३७]

राजा मानसिंह और बगाल की सूबेदारी—मानसिंह की सेवाओ से प्रसन्न होकर १५६४ ई० मे सम्राट ने उसे बगाल का सूबेदार बनाया। जब उसने इस सूबे का कार्यभार सँभाला तो उसने पाया कि वहाँ अफगानी विद्रोही वडे शक्तिशाली हो रहे थे। बिहार और उडीसा से खदेडे गये विद्रोही भी इनसे मिल गये थे और मुगल सल्तनत के लिए समस्या बनते जा रहे थे। उन्होने पूर्वी तथा दक्षिणी बगाल मे अपनी शक्ति का सगठन कर रखा था। सवसे पहले उसने सूबे की राजधानी टण्डा से वदल कर अकमहल कर दी, जिसकी सैनिक स्थिति तथा जलवायु सन्तोषजनक थी। नयी राजधानी को राजप्रासाद के निर्माण द्वारा सुखप्रद और प्राचीर तथा बुर्जो से सुरक्षित किया गया। इसके अनन्तर उसने पूर्वी वगाल के विद्रोहियो को, जिनमे ईसाखाँ, सुलेमान और केदार राय मुख्य थे, दवाया। परन्तु अफगानो का दमन उनकी शक्ति को समाप्त करने के लिए पर्याप्त नही था, अतएव मानसिंह ने उनकी बस्तियो को उजाडना तथा दुर्गो को तोडना आरम्भ किया। इस गतिविधि ने अफगानो को जगल मे भागकर छिपने के लिए विवश किया। इसी तरह १५६६ ई० मे उसने कूचविहार के राजा लक्ष्मीनारायण के राज्य को मुगल सत्ता के प्रभाव क्षेत्र मे सम्मिलित किया। उसने सन्धि कर उसकी बहन अवलादेवी से विवाह किया। इस प्रकार कूच-विहार के सम्बन्ध से मानसिंह को वगाल के अन्य भागो पर अधिकार स्थापित करने मे सहायता मिली।[३८]

वगाल मे उपद्रवियो के दमन से मानसिंह की यह धारणा थी कि उसने वहाँ पूर्ण शान्ति स्थापित कर दी है। परन्तु यह उसकी भूल थी। ज्योही मानसिंह एक स्थान से दूसरे स्थान पर उपद्रवियो को दवाने के लिए पहुँचता था कि उसे अन्य उपद्रव को दवाने के लिए प्रयाण करना पडता था। यही रहते हुए उसके दो पुत्र दुर्जनसिंह और हिम्मतसिंह मर चुके थे, जिससे उसको यहाँ रहना अधिक ठीक नही लगा। वगाल की जलवायु भी उसके स्वास्थ्य के लिए ठीक नही थी। वह स्वय १५६६ ई० मे बीमार हो गया था, अत उसने अजमेर रहकर वगाल सूबे की व्यवस्था देखते रहने का निश्चय किया।

---

[३७] अकबरनामा, भा० ३, पृ० ६६७-६८

[३८] अकबरनामा, भा० ३, पृ० १००१, १०४२, १०४३, ११४०, प्रसाद, राजा मानसिंह, पृ० ६०-६४

एक बहुत बडा कारण बगाल के बजाय अजमेर रहने का यह भी हो सकता है कि वहाँ से आमेर निकट था और वहाँ से उसकी व्यवस्था की देखरेख की जा सकती थी। साथ ही साथ सलीम की गतिविधि का भी ध्यान अजमेर मे रहते हुए सुचारु रूप से रखा जा सकता था। सलीम, जिसने अकबर के विरुद्ध विद्रोह कर अकबर को उसके प्रति अप्रसन्न कर दिया था, मानसिंह का अजमेर मे रहना राजनीतिक दृष्टि से आवश्यक भी हो गया। वह खुसरो के, जो उसका एक प्रकार से भानजा था, हित की रक्षा अजमेर रहते हुए अधिक कर सकता था। इन विविध कारणो को ध्यान मे रखते हुए मानसिंह ने बगाल की देखरेख के लिए अपने पुत्र जगतसिंह को नियुक्त करवाया। परन्तु अभाग्यवश १५९९ ई० मे उसकी आकस्मिक मृत्यु हो गयी और इस वेदना से मानसिंह को और अधिक धक्का लगा। जब अकबर की मृत्यु हो गयी तो मानसिंह का महत्त्व जहाँगीर के समय मे उतना न रह सका। उसे वह कभी बगाल और कभी दक्षिण भेजता रहता था। अन्त मे १६१४ ई० मे उसकी इलीचपुर मे मृत्यु हो गयी।[३९]

मानसिंह का व्यक्तित्व—आमेर के कछवाह शासको मे मानसिंह का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उसने लगभग २४ वर्ष राज्य का उपभोग किया और १३ वर्ष की आयु से लेकर मृत्युपर्यन्त लगभग ५५ वर्ष तक मुगल राज्य की सेवा करता रहा। अकबर का उस पर पूर्ण विश्वास था, अतएव उसे उत्तर-पश्चिमी भारत, बिहार और बगाल की सूबेदारी पर नियुक्त किया। सम्राट के समय मे ७००० मनसब तथा 'फर्जन्द' का पद प्राप्त करना एक गौरव की बात थी, जो उसने अपनी योग्यता से अर्जित किये थे। जहाँगीर ने वैसे उस पर इतनी कृपा दृष्टि नही रखी, फिर भी जब-जब आवश्यकता समझी गयी, उसे बगाल और दक्षिण मे भेजा गया और उसके अनुभव का लाभ उठाया गया। मुगल सेवा के उपलक्ष मे जो प्रशसा उसकी की जाती है उसका प्रधान कारण यह था कि उसमे सैनिक क्षमता और राजनीतिज्ञता का अच्छा सामजस्य था। उत्तर-पश्चिमी सीमान्त के, बिहार तथा बगाल के अफगान विद्रोहियो को दबाकर उसने मुगल राज्य को इनसे भयरहित करने मे कोई कसर नही रखी थी। हर सूबे की शासन-व्यवस्था को भी वह स्वय देखता था। उसमे अपने पद को सँभाले रखने की इतनी लगन थी कि बहुत कम समय अपने पैतृक राज्य के लिए दे पाया था। यह एक सौभाग्य की बात थी कि उसकी अनुपस्थिति में भी आमेर की शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही। वह समय-समय पर यहाँ की व्यवस्था को सँभाल लेता था या आमेर मे सम्पर्क बनाये रखता था, जिससे कोई ऐसी स्थिति नही बनने पायी जो उसके राज्य के लिए हानिप्रद हो।

---

[३९] अकबरनामा, भा० ३, पृ० १०९५, ११४१, ११५१, ११५६, ११७४, १२००-१२५० आदि, जहाँगीरनामा, पृ० २१ (प्राइस), वाकियात आसद बेग, इलियट, भा० ६, पृ० १६९-७३

जैसा ऊपर बताया गया है, मानसिंह एक अच्छा शासक भी था। वैसे तो उसकी शासन-प्रणाली का विशेष विवरण नही मिलता, परन्तु यत्र-तत्र इसका जहाँ सकेत मिलता है उससे प्रमाणित है कि उसने अकबर के द्वारा प्रचलित शासन के ढाँचे का प्रयोग अपने सूबो मे किया। बगाल के शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए उसने अकबर नगर की, जो पीछे से राजमहल कहलाया, स्थापना की। वही सूबे की राजधानी बना, जहाँ से वह सूबे का प्रबन्ध सुचारु रूप से सचालित करता था। मुकन्दराम[४०] ने, जो समसामयिक कवि था, अपनी कविता मे बगाल सूबे की भूमि-नाप व्यवस्था, कठोर शासन और अधिकारियो के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश डाला है। वह लिखता है कि मानसिंह के सहयोगियो मे मुहम्मद शरीफ व रायजादा प्रमुख व्यक्ति थे जो खेती को रस्सो से नापते थे और लगान वसूल करते थे। व्यापारियो, बनियो, ब्राह्मणो और वैष्णवो को राजकीय अनुशासन के अनुसार रहना पडता था। ये लोग राज्य मे विशेष अधिकार का उपभोग नही कर सकते थे। पोतदार भी मालगुजारी के सम्बन्ध मे कठोरता से व्यवहार करते थे। खोजा और देहदार भी भूमि सम्बन्धी कामों के अधिकारी होते थे जिन्हें नाराज करना किसानो के लिए बडा हानिकारक होता था। मालगुजारी सम्बन्धी जो कठोर व्यवहार का चित्रण कवि ने किया है वह एक प्रकार से टोडरमल तथा अन्य अकबर के अधिकारियो के द्वारा लागू किये जाने वाले मालगुजारी के प्रबन्ध से सम्बन्धित है। मानसिंह ने एक सूबेदार होते हुए राजकीय आज्ञा के अनुकूल उनका प्रचलन किया था। इसमे मानसिंह को दोषी नही ठहराया जा सकता। नये नियम जब भी लागू किये जाते हैं उन्हें प्रारम्भ मे प्रजा इसी रूप मे लेती है। अभ्यस्त हो जाने पर ये ही नियम उन्ही व्यक्तियो को, जो इसकी निन्दा करते थे, अच्छे प्रतीत होने लगते हैं। यदि कुछ व्यक्तियो को शासन-व्यवस्था मे हानि हो और जनसाधारण को लाभ पहुँचे तो ऐसे शासन को अच्छा शासन ही मानना चाहिए। पेरी-डी-जेरिक के वर्णन से तो स्पष्ट है बगाल का सूबा मानसिंह की सूबेदारी मे आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न अवस्था मे था। चावल, शक्कर आदि खाद्य सामग्री की बगाल के सूबे मे कमी न थी। जिन प्रान्तो मे इन वस्तुओ की कमी होती थी उन भागो मे ये वस्तुएँ यहाँ से प्रचुर मात्रा मे ले जायी जाती थी। यह रुई उत्पादन में भी बडा समृद्ध सूबा था। वहाँ के बने बढिया कपडे देश और विदेश भेजे जाते थे। आमेर राज्य भी आर्थिक दृष्टि से उसके काल मे सम्पन्न था। वहाँ गेहूँ एक रुपये के सवा दो मन, चना डेढ मन, जौ डेढ मन, ज्वार पौने तीन मन, घी दस सेर, तेल पन्द्रह सेर, चीनी दस सेर, खाँड बीस सेर और चावल पच्चीस से पैंतीस सेर मिलते थे, जैसा कि १७वीं शताब्दी के 'अडसट्वो' से स्पष्ट है। वैसे तो ये आर्थिक सम्पन्नता उस समय भारतवर्ष मे व्यापक थी, परन्तु इस प्रकार की बगाल और आमेर की सम्पन्न अवस्था मानसिंह के शासन की सफलता और सुव्यवस्था पर भी प्रकाश डालती है।

---

[४०] प्रसाद, राजा मानसिंह, पृ० १३९-८१

मानसिंह और कौटुम्बिक जीवन—मानसिंह को अपने दादा और पिता का वात्सल्य प्रेम प्राप्त करने का खूब अवसर मिला। उसके दादा के द्वारा मानसिंह का प्रवेश अकबर के दरबार मे हुआ। इसी तरह इसके पिता और मानसिंह मुगल सेवा मे बहुधा साथ रहे। इस सहज सहवास ने उसे एक सुयोग्य पुत्र बनाया। उसने भी अपनी स्त्रियो और पुत्रो को अपना पति-प्रेम तथा वात्सल्य-प्रेम क्रमश दिया। जहाँगीर[४१] तथा ब्लोचमेन[४२] ने उसकी रानियो की सख्या १५०० और प्रत्येक से दो या तीन बच्चे होने का उल्लेख किया है। जिनमे से ६० स्त्रियो का सती होना तथा सभी पुत्रो की, सिवाय भाऊसिह, मृत्यु होना भी लिखा है। सम्भवत ये सख्या उसकी निजी स्त्रियो और पुत्रो की नही है। ये सख्या राजलोक की सभी स्त्रियो और उनके पुत्रो की हो सकती है। न आमेर मे या जहाँ भी मानसिंह ने अपने रहने के महल बनाये वहाँ इतनी स्त्रियो के रहने की व्यवस्था थी। आमेर मे २४ और रोहतास मे १५ रानियो के अलग-अलग निवास-गृह देखे जाते हैं। इन एक-एक मे ४-५ स्त्रियो को भी एक साथ रखा जाय, जैसे राजपूतो में प्रथा थी, तो भी १५०० की सख्या का मेल नही बैठता। आमेर की पुरानी वशावलियो[४३] मे, जो वैसे पीछे की है, लगभग दो दर्जन स्त्रियो और एक दर्जन के लगभग बच्चो का उल्लेख मिलता है, जो ठीक प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु के उपरान्त भाऊसिह और कल्याणसिह नामक दो पुत्र जीवित थे। उसका अपने पुत्रो पर बडा प्रेम था जो उनके मरने पर उसका बगाल से ऊब जाना प्रमाणित करता है। उसके रनिवास मे विभिन्न प्रान्तो से आयी हुई रानियाँ भी रहती थी जो उसके दाम्पत्य जीवन का मध्ययुगीय पहलू है।

मानसिंह का धर्म—मानसिंह अपने वश की परम्परा के अनुसार हिन्दू धर्म मे विश्वास रखता था। उस धर्म मे उसे इतनी श्रद्धा थी कि उसने अकबर के आग्रह पर दीनइलाही की सदस्यता स्वीकार न की। इसी तरह से मुगेर के शाह दौलत नामी सन्त के कहने से भी इस्लाम धर्म स्वीकार नही किया। भक्तमाल के लेखक ने मानसिंह और उसकी स्त्री की गणना परम भक्तो मे की है। उसने अपने समय मे अनेक शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु आदि देवी-देवताओ के मन्दिर बनवाये या उनकी मूर्तियो की मन्दिरो मे स्थापना की। बैकटपुर मे, जो पटना जिले मे है, मानसिंह ने एक भवानी-शकर का मन्दिर बनवाया और उसमे विष्णु, गणेश तथा मातृदेवी की मूर्तियो की स्थापना की। मन्दिर के भोग राग की भी अच्छी व्यवस्था उसके द्वारा की गयी थी। गया मे उसने महादेव का मन्दिर और आमेर मे शीलादेवी का मन्दिर बनवाया था। बगाल के वैष्णव धर्म का भी उस पर प्रभाव था जो वृन्दावन के गोविन्दजी के मन्दिर

---

४१ तुजुक-ए-जहाँगीरी, पृ० २६ (प्राइस)

४२ आइन-ए-अकबरी, भा० १, पृ० ३४१

४३ कछवाह वशावली, पृ० ५१, आमेर वशवृक्ष, बीकानेर अभिलेखागार आदि

के निर्माण से स्पष्ट है। आमेर के जगत शिरोमणि के मन्दिर मे स्थापित कृष्ण-राधा की मूर्तियाँ भी इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं।[४४]

जहाँ मानसिंह को हम अपने धर्म पर दृढ पाते है वहाँ हम उसे धर्म सहिष्णु भी देखते है। रोहतास गढ पर लगाये गये शिलालेख मे कुरान शरीफ की पक्तियो के साथ उसने धर्म मे वलात्कार की निन्दा के शब्द खुदवाये थे। उसको मामूभज की दरगाह सम्बन्धी फरमान भी उसकी मस्जिदो के प्रति श्रद्धा प्रकट करता है। हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उसने अन्य धर्मो के प्रति अवहेलना का दृष्टिकोण नही अपनाया। इस अर्थ मे वह सच्चा विकासवादी और उदार था।

मानसिंह और विद्या के प्रति अनुराग—मानसिंह की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। वह न केवल युद्ध-नीति, रण-कौशल तथा शासन कार्य मे ही कुशल था वरन् सस्कृत भाषा मे उसकी रुचि थी। आमेर का स्तम्भ-लेख, रोहतास गढ का शिलालेख और वृन्दावन का अभिलेख उसके सस्कृत भाषा के प्रति प्रेम के द्योतक हैं। मानसिंह स्वय कवि था। इसके बनाये हुए कुछ फुटकर छन्द मिलते हैं। 'मानचरित्र' तथा 'महाराज-कोष' नामी ग्रन्थ उसके शासनकाल मे रचे गये थे। इसके समय मे राय मुरारीदास ने 'मान प्रकाश' तथा जगन्नाथ ने 'मानसिंह कीर्ति मुक्तावली' की रचना की थी। मानसिंह के भाई माधोसिंह के आश्रय मे पुण्डरीक ने 'रागचन्द्रोदय', 'रागमन्जरी', 'नर्तन निर्णय' तथा 'दूती प्रकाश' और दलपतराज ने 'पत्रप्रशस्ति' तथा 'पवन पश्चिम' की रचना की थी। इसके समय मे दादूदयाल ने 'वाणी' की रचना की थी। उसके कई फरमान, जो फारसी और हिन्दुस्तानी मे जारी किये गये थे, भाषा की नयी दिशा की प्रगति के प्रमाण है। वह स्वय सुसस्कृत था और ऐसे विद्वानो से सतत सम्पर्क विशेष चाहता था। वह उस युग मे पैदा हुआ था जबकि विद्या की तथा भाषा की उन्नति चारो ओर हो रही थी। उसका सौभाग्य था कि उसे अकबर के कई दरबारी कवियो से, जिनमे दुरसा, होलराय, ब्रह्मभट्ट, गग आदि प्रमुख थे, सम्पर्क स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। बताया जाता है कि एक समय एक भिखारी कवि गग के पास कुछ धन की याचना के लिए आया। कवि ने उस पर तरस खाकर मानसिंह के नाम एक हजार रुपये पत्रवाहक को देने के लिए लिख दिया। पत्र पढते ही मानसिंह ने उसे वह रकम दे दी। परन्तु उसने कवि गग को लिखा कि तुम्हें इतनी थोडी राशि के माँगने के लिए सकोच नही हुआ? मानसिंह का आशय यह था कि उसे भिखारी को और अधिक धन की सिफारिश करनी थी। उसने हरनाथ कवि को भी लाखो रुपये दिये थे जिसने उसकी प्रशसा मे कविताओ की रचना की थी। उसका प्रमुख कवि हापा बारहट स्वय इतना समृद्ध था कि उसके अधीन कई अनुचर और एक सौ हाथी रहते

---

४४ मुन्तखब, भा० २, पृ० ३७०, मआसिर-उल-उमरा, भा० २, पृ० ५६, प्रसाद, राजा मानसिंह पृ० १३२-३८

थे। मानसिंह के पास इस प्रकार के कई कवि, पण्डित, कलावन्त आदि आश्रय पाते थे।[४५]

मानसिंह और स्थापत्य—मानसिंह के शासन मे वास्तु-शिल्प को बहुत प्रोत्साहन मिला। धार्मिक प्रवृत्ति के फलस्वरूप उसके समय मे मन्दिरो का निर्माण हुआ जिससे धार्मिक अभिव्यक्ति ही नही वरन् कलात्मक प्रवृत्ति समृद्ध बन सकी। आमेर के जगतशिरोमणजी के मन्दिर तथा तोरणद्वार की तक्षणकला अपने ढग के अनूठे हैं। बताया जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण रानी ककावतीजी ने अपने प्रिय पुत्र जगतसिंह की स्मृति मे करवाया था। वृन्दावन का गोविन्दजी का मन्दिर भी फर्गुसन के द्वारा निर्माण शैली मे अपूर्व निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार आमेर के राज-प्रासाद राजपूत शैली के अच्छे नमूने हैं जिसमे सादगी और सहूलियत को प्राधान्यता दी गयी है। रहने के कमरो को दो-दो कमरो व एक-एक बरामदे के साथ बनाये गये थे। जनाने महल मे भी यही पद्धति अपनायी गयी थी। इसके विपरीत दीवाने-आम के बनाने की शैली मे मुगल प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु खम्भो, छज्जो तथा 'पानो' की बनावट स्थानीय है। बिहार का सूबेदार रहते हुए मानसिंह ने रोहतासगढ मे महलो तथा आवास-गृहो को बनवाया जिनमे हिन्दू-शैली की छाप है। बारादरियो के निर्माण मे मुगलपन अवश्य है। इसमे शीशमहल जनाना महलो के भाग हैं जो देखने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त उसने अपने समय मे अकबरनगर (बगाल मे) और मानपुर (बिहार मे) के नगरो की स्थापना की जिनका सम्पूर्ण ढाँचा १७वी सदी की नगर निर्माण शैली पर आधारित था। नगरो तथा महलो मे बगीचो और जलाशयो के निर्माण द्वारा उनकी शोभा को परिवर्द्धित किया गया था।[४६]

मिर्जा राजा जयसिंह (१६२१-१६६७ ई०)

प्रारम्भिक जीवन—मानसिंह की मृत्यु के बाद भावसिंह (१६१४-१६२१ ई०) आमेर की गद्दी पर बैठा। उसके कोई पुत्र न था, इसलिए महासिंह के ज्येष्ठ पुत्र जयसिंह का गद्दी पर हक था। परन्तु जब जयसिंह लगभग दो वर्ष का ही था कि उसकी माता रानी दमयन्ती, जो उदयसिंह की पोती थी, अपने अल्पवयस्क पुत्र को लेकर दोसा रहने लगी। उसे भय था कि आमेर का भावी शासक होने के नाते कहीं भावसिंह उसे न मरवा दे। ऐसा प्रतीत होता है कि रानी ने प्रारम्भ से ही जयसिंह की शिक्षा-दीक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया था। उसको फारसी, तुर्की, उर्दू, हिन्दी और संस्कृत का साधारण ज्ञान पहले ही करा दिया गया था जिसको उसने आगे

---

[४५] गग कवि के छन्द, सख्या, १३८, १५७, वीरविनोद, भा० २, पृ० १२८३, अग्रवाल, अकबर के दरबार के कवि, पृ० २३, ३४, ३५, ११६, प्रसाद, राजा मानसिंह, पृ० १४१-४४, गहलोत, जयपुर व अलवर राज्यो का इतिहास, पृ० ७९

[४६] फर्ग्यूसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, भा० २, पृ० १५६; प्रसाद, राजा मानसिंह, पृ० १४६-७०

चलकर समृद्ध किया। जीजाबाई की भाँति रानी दमयन्ती ने अपने पुत्र को बचपन से ही धार्मिक और व्यावहारिक शिक्षा देकर इन विपयो मे अधिक जानकारी प्राप्त करने की क्षमता पैदा कर दी हो तो कोई आश्चर्य नही। क्योकि आगे चलकर वह एक कुशल कूटनीतिज्ञ प्रमाणित हुआ। राज-परिवार के कुँवर की भाँति सैनिक प्रशिक्षण की साधारण बातो से भी परिचय उसे अपने जीवन के प्रारम्भिक काल मे करा दिया गया था। जब भावसिंह की मृत्यु हुई तो वह दोसा से आमेर लाया गया और राज्य का स्वामी घोपित किया गया। इस समय इसकी आयु ११ वर्ष की थी। सयोगवश इसने एक लम्बे समय तक राज्य का भार उठाया जिस अवधि मे उसे तीन मुगल सम्राट—जहाँगीर, शाहजहाँ और औरगजेब, की सेवा मे रहने का अवसर प्राप्त हुआ। ये उसकी दूरदर्शिता, वीरता और योग्यता का परिणाम था कि आमेर राज्य एक उच्च राज्यो की श्रेणी मे आ गया।

मिर्जा राजा जयसिंह और जहाँगीर—आमेर की गद्दी पर बैठते ही मुगल सम्राट जहाँगीर ने जयसिंह को ३ हजार जात व १५०० सवारो का मनसबदार बनाकर सम्मानित किया। सर्वप्रथम उसकी नियुक्ति १६२३ ई० मे मलिक अम्बर के विरुद्ध, जो अहमदनगर के राज्य की रक्षा मुगलो के विरुद्ध कर रहा था, की गयी जिसमे उसने अपने अदम्य साहस और रण-कौशल का परिचय दिया। तदनन्तर १६२५ ई० मे उसे दलेलखाँ पठान के विरुद्ध भी भेजा गया, जहाँ शत्रु को परास्त कर उसने एक अपूर्व ख्याति प्राप्त की। उसे समय-समय पर सम्राट के द्वारा सम्मान मिलता रहा।[४७]

मिर्जा राजा जयसिंह और शाहजहाँ—शाहजहाँ के काल मे भी मिर्जा राजा जयसिंह ने बडी वीरता से मुगल-सेवाएँ की। प्रारम्भ मे सम्राट ने उसे ४००० का मनसबदार बनाकर सम्मानित किया और इसे महावन के जाटो को दबाने के लिए भेजा। जाटो के उपद्रव को दबाने मे उसे लगभग छ हफ्ते लगे, परन्तु इसमे उसे पूर्ण सफलता मिली। बरहानपुर मे रहते हुए उसने दो वर्ष तक शत्रुओ की सेनाओ को दबाये रखा, परन्तु जब खानेजहाँ विद्रोही हुआ तो वह उसका साथ छोडकर सम्राट के पास अजमेर चला आया। यहाँ जब १६२६ ई० मे उजबेगो के उपद्रवो की सूचना मिली तब जयसिंह को उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त मे भेजा गया। यहाँ उपद्रवियो को भगा देने मे उसको सफलता मिली। इस सफलता से उसे ख्यातिमान सैनिक नेता स्वीकार कर लिया गया। शीघ्र ही १६३० मे उसके पद मे वृद्धि भी की गयी और उसे खानेजहा लोदी के विरुद्ध एक बडी सेना के साथ सयुक्त-सेनाधिकारी के रूप मे भेजा गया। दक्षिण के इन अभियान मे कई कछवाह सैनिक मारे गये परन्तु जयसिंह के युद्ध-कौशल की धाक मुगल सैन्य-व्यवस्था मे जम गयी। १६३१ ई० मे जयसिंह ने फिर

---

४७ जहाँगीरनामा (हिन्दी अनुवाद), पृ० ५५, ४४६, ४५२, ४६६, ७७४ आदि

हरावल मे रहते हुए खानेजहाँ का मुकावला किया जिसमे उसे भागते ही वना। भागते हुए शत्रु का पीछा करने मे जयसिंह ने कोई कसर न रखी।[४८]

जव १६३४ ई० मे परेण्डा के घेरे का अध्यक्षत्व शुजा को सुपुर्द हुआ तव प्रमुख मोर्चे पर जयसिंह भी था। उसने मुगल सेना के लिए आगे वढने की व्यवस्था वनाये रखने मे अपने प्राणो की वाजी लगा दी। इस अवसर पर रात्रि के हमले मे शत्रु दल को छकाने मे उसने अपने अपूर्व युद्ध-कौशल का परिचय दिया। परन्तु इन विकट घाटियो मे मुगलो के लिए रसद भेजना कठिन हो गया जिससे घेरे को उठाना पडा।[४९]

इसके अनन्तर शाहजी भौंसले ने दौतावाद के थाने को घेरकर मुगल सेना को अस्त-व्यस्त करना आरम्भ किया। जयसिंह ने पहले की भाँति मराठो का डटकर मुकावला किया। शाहजी ने लुका-छिपी की पद्धति से मुगल सेना को परेशान करना आरम्भ किया, परन्तु जयसिंह ने हिम्मत न हारी। उसने भी इसी पद्धति से मराठा रसद को रोकने मे सफलता प्राप्त की, जिसमे तीन हजार सैनिक और ८०० वैल मय रसद के जयसिंह के हाथ लगे। सम्राट राजा के इन साहसी कार्यों से बहुत प्रभावित हुआ और उसके मनसव को ५००० कर दिया।[५०]

जव १६३६ ई० मे स्वय शाहजहाँ वीजापुर और गोलकुण्डा की विजय के लिए दक्षिण की ओर चला तो जयसिंह भी शाही सेना के अग्रभाग का मुखिया था। इन राज्यो के सुल्तानो ने मलिक अम्वर को शत्रु का मुकावला करने के लिए अपने साथ मिला लिया था। शाहजहाँ ने देखा कि जहाँ मुगलो का आगे वढने का प्रयत्न बीजापुर की सेनाएँ सफल नही होने दे रही थी वहाँ जयसिंह दृढता से उनके प्रयत्नो को विफल करने मे दत्तचित था। इसी तरह जहाँ गौड देश के अभियान मे मुगल विजय के चिह्न अनिश्चित थे वहाँ जयसिंह की सूझवूझ ने मुगलो की विजय को सम्पन्न कराया। इन सेवाओ से सन्तुष्ट होकर सम्राट ने जयसिंह की पद-वृद्धि की, वहुमूल्य पारितोपको द्वारा सम्मानित किया तथा चाटसू और अजमेर उसके राज्य के हिस्से वना दिये गये।[५१]

दूसरे वर्ष जयसिंह को शुजा के साथ कन्धार भेजा गया। इस अवसर पर उसे कई उपहार दिये और मिर्जा राजा की पदवी से विभूपित किया। इसी प्रकार राजा वासू के पुत्र जगतसिंह के विरुद्ध मऊ के घेरे मे भी इसकी सेवाओ मे मुगलो के हित की रक्षा हुई। १६४७ ई० मे शाहजहाँ के मध्य एशियाई अभियान मे सैन्य सचालन के काम मे तथा शत्रुओ के पाँव उखाडने मे जयसिंह ने अपने अपूर्व साहस और दक्षता का

४८ लाहौरी वादशाहनामा, भा० १, पृ० ७२, २७६-८०

४९ काजविनी, पत्र २१४, लाहौरी, भा० १, पृ० ३५७-५८

५० काजविनी, पत्र २७९-९६-९९, लाहौरी, भा० १, पृ० ४९६-५३१, ५९२

५१ काजविनी, पत्र ३००-३०३

परिचय दिया। जब १६४६ ई० मे कन्धार के घेरो का प्रारम्भ किया गया तो जयसिंह की उपस्थिति वडी उपयोगी सिद्ध हुई। जहाँ-जहाँ अफगान शत्रुदल मुगल रसद को रोकने और मुगल थानो को नष्ट करने का प्रयत्न करते थे, जयसिंह अपने साहस और शौर्य से उन्हे पीछे ढकेल देता था। वह लगातार दस वर्ष तक कागडा, कन्धार, पेशावर आदि लडाइयो मे लडा। कावुल तथा दूनी के मुकामो पर राजा ने मुगल प्रतिष्ठा को बनाने मे अपनी पूरी शक्ति लगा दी। इन अवसरो पर की गयी उसकी व्यक्तिगत सेवाएँ सराहनीय मानी गयी। शाहजहाँ ने इन सेवाओ से प्रसन्न होकर मिर्जा राजा को पारितोषको से सम्मानित किया और १६५० ई० मे उसके पुत्र कीरतसिंह की पद-वृद्धि की। उसकी जागीर मे कामा, खोह तथा पहाडी के परगने सम्मिलित किये गये और उसे मेवात का फौजदार नियुक्त किया गया।[५२]

१६५१ ई० मे जयसिंह की नियुक्ति सादुल्लाखाँ के साथ कन्धार के युद्ध के लिए की गयी जहाँ उसने मुगल सेना का सचालन अग्रभाग मे रहकर किया। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर सम्राट ने उसे दारा के पुत्र सुलेमान-शिकोह के साथ रहकर कावुल की सूवेदारी करने की अनुज्ञा दी जिसका अनुपालन वह १६५३ ई० तक करता रहा। जब १६५६ ई० मे सम्राट के पुत्रो मे गृह-युद्ध छिड गया तो जयसिंह ने शुजा की सेना को वनारस के पास बहादुरपुर मे घेर लिया। इस अवसर पर मुगलो के हाथ लगभग २ करोड रुपया लगा। वादशाह ने इस सेवा के उपलक्ष मे उसका मनसब ६ हजारी जात और ६ हजार सवार कर दिया। जव अन्त मे इस युद्ध मे औरगजेब की विजय हुई तो २५ जून, १६५८ ई० मे मथुरा मे उसने शाहजादे से भेंट की और उसे अपने सहयोग का विश्वास दिलाया।[५३]

मिर्जा राजा जयसिंह और औरगजेब—जयसिंह का ऐसे अवसर पर औरगजेब से मिलना, जबकि उसे अच्छे सहयोगियो की आवश्यकता थी, वडा लाभप्रद सिद्ध हुआ। इस युक्ति ने उसे सम्राट का कृपापात्र वना लिया। धीरे-धीरे उसका दरवार मे महत्त्व वढता ही गया जो उसके राज्य के प्रभाव को वढाने मे सहायक सिद्ध हुआ। जव दारा सामूगढ के युद्ध के वाद परास्त होकर आगरा, लाहौर, मुल्तान आदि स्थानो मे होता हुआ जोधपुर पहुँचा तो उसने महाराजा जसवन्तसिंह से सहायता की अभ्यर्थना की। महाराजा भी उसको सहायता देने के लिए तैयार हो गये। मिर्जा राजा जयसिंह परिस्थिति को भलीभाँति समझता था। उसने जसवन्तसिंह को ऐसा करने से इन्कार किया। महाराज इस वात को समझ गया और उसने दारा को सहायता नही दी। औरगजेव ने दारा का मुकावला मार्च १६५८ ई० देवराय मे किया जिसमे जयसिंह ने मुगल सेना के अग्रभाग का नेतृत्व किया था। तीन दिन तक दोनो पक्षो के तोपखानो ने एक-दूसरे पर वार किया और अन्त मे चौथे दिन दारा के पाँव उखड गये और

---

[५२] लाहौरी, भा० २, पृ० ५५, २६१, वारिस, पृ० ४६८-७३

[५३] शाहजहाँनामा, इलियट, भा० ७, पृ० १०४, आलमगीरनामा पृ० २७-२८

हरावल मे रहते हुए खानेजहाँ का मुकावला किया जिसमे उसे भागते ही वना। भागते हुए शत्रु का पीछा करने मे जयसिंह ने कोई कसर न रखी।[४८]

जव १६३४ ई० मे परेण्डा के घेरे का अध्यक्षत्व शुजा को सुपुर्द हुआ तव प्रमुख मोर्चे पर जयसिंह भी था। उसने मुगल सेना के लिए आगे वढने की व्यवस्था वनाये रखने मे अपने प्राणो की वाजी लगा दी। इस अवसर पर रात्रि के हमले मे शत्रु दल को छकाने मे उसने अपने अपूर्व युद्ध-कौशल का परिचय दिया। परन्तु इन विकट घाटियो मे मुगलो के लिए रसद भेजना कठिन हो गया जिससे घेरे को उठाना पडा।[४६]

इसके अनन्तर शाहजी भौंसले ने दौतावाद के थाने को घेरकर मुगल सेना को अस्त-व्यस्त करना आरम्भ किया। जयसिंह ने पहले की भाँति मराठो का डटकर मुकावला किया। शाहजी ने लुका-छिपी की पद्धति से मुगल सेना को परेशान करना आरम्भ किया, परन्तु जयसिंह ने हिम्मत न हारी। उसने भी इसी पद्धति से मराठा रसद को रोकने मे सफलता प्राप्त की, जिसमे तीन हजार सैनिक और ८०० वैल मय रसद के जयसिंह के हाथ लगे। सम्राट राजा के इन साहसी कार्यो से वहुत प्रभावित हुआ और उसके मनसव को ५००० कर दिया।[५०]

जव १६३६ ई० मे स्वय शाहजहाँ वीजापुर और गोलकुण्डा की विजय के लिए दक्षिण की ओर चला तो जयसिंह भी शाही सेना के अग्रभाग का मुखिया था। इन राज्यो के सुल्तानो ने मलिक अम्वर को शत्रु का मुकावला करने के लिए अपने साथ मिला लिया था। शाहजहाँ ने देखा कि जहाँ मुगलो का आगे वढने का प्रयत्न वीजापुर की सेनाएँ सफल नही होने दे रही थी वहाँ जयसिंह दृढता से उनके प्रयत्नो को विफल करने मे दत्तचित था। इसी तरह जहाँ गौड देश के अभियान मे मुगल विजय के चिह्न अनिश्चित थे वहाँ जयसिंह की सूझवूझ ने मुगलो की विजय को सम्पन्न कराया। इन सेवाओ से सन्तुष्ट होकर सम्राट ने जयसिंह की पद-वृद्धि की, वहुमूल्य पारितोषको द्वारा सम्मानित किया तथा चाटसू और अजमेर उसके राज्य के हिस्से वना दिये गये।[५१]

दूसरे वर्ष जयसिंह को शुजा के साथ कन्धार भेजा गया। इस अवसर पर उसे कई उपहार दिये और मिर्जा राजा की पदवी से विभूषित किया। इसी प्रकार राजा वासू के पुत्र जगतसिंह के विरुद्ध मऊ के घेरे मे भी इसकी सेवाओ से मुगलो के हित की रक्षा हुई। १६४७ ई० मे शाहजहाँ के मध्य एशियाई अभियान मे सैन्य सचालन के काम मे तथा शत्रुओ के पाँव उखाडने मे जयसिंह ने अपने अपूर्व साहस और दक्षता का

---

४८ लाहौरी वादशाहनामा, भा० १, पृ० ७२, २७६-८०

४६ काजविनी, पत्र २१४, लाहौरी, भा० १, पृ० ३५७-५८

५० काजविनी, पत्र २७६-६६-६६, लाहौरी, भा० १, पृ० ४६६-५३१, ५६२

५१ काजविनी, पत्र ३००-३०३

परिचय दिया। जब १६४९ ई० में कन्धार के घेरो का प्रारम्भ किया गया तो जयसिंह की उपस्थिति बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। जहाँ-जहाँ अफगान शत्रुदल मुगल रसद को रोकने और मुगल थानो को नष्ट करने का प्रयत्न करते थे, जयसिंह अपने साहस और शौय से उन्हे पीछे ढकेल देता था। वह लगातार दस वर्ष तक कागडा, कन्धार, पेशावर आदि लडाइयो मे लडा। काबुल तथा दूनी के मुकामो पर राजा ने मुगल प्रतिष्ठा को बनाने मे अपनी पूरी शक्ति लगा दी। इन अवसरो पर की गयी उसकी व्यक्तिगत सेवाएँ सराहनीय मानी गयी। शाहजहाँ ने इन सेवाओ से प्रसन्न होकर मिर्जा राजा को पारितोषको से सम्मानित किया और १६५० ई० मे उसके पुत्र कीरतसिंह की पद-वृद्धि की। उसकी जागीर मे कामा, खोह तथा पहाडी के परगने सम्मिलित किये गये और उसे मेवात का फौजदार नियुक्त किया गया।[५२]

१६५१ ई० मे जयसिंह की नियुक्ति सादुल्लाखाँ के साथ कन्धार के युद्ध के लिए की गयी जहाँ उसने मुगल सेना का सचालन अग्रभाग मे रहकर किया। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर सम्राट ने उसे दारा के पुत्र सुलेमान-शिकोह के साथ रहकर काबुल की सूबेदारी करने की अनुज्ञा दी जिसका अनुपालन वह १६५३ ई० तक करता रहा। जब १६५६ ई० मे सम्राट के पुत्रो मे गृह-युद्ध छिड गया तो जयसिंह ने शुजा की सेना को बनारस के पास बहादुरपुर मे घेर लिया। इस अवसर पर मुगलो के हाथ लगभग २ करोड रुपया लगा। बादशाह ने इस सेवा के उपलक्ष मे उसका मनसब ६ हजारी जात और ६ हजार सवार कर दिया। जब अन्त मे इस युद्ध मे औरगजेब की विजय हुई तो २५ जून, १६५८ ई० मे मथुरा में उसने शाहजादे से भेंट की और उसे अपने सहयोग का विश्वास दिलाया।[५३]

मिर्जा राजा जयसिंह और औरगजेब—जयसिंह का ऐसे अवसर पर औरगजेब से मिलना, जबकि उसे अच्छे सहयोगियो की आवश्यकता थी, बडा लाभप्रद सिद्ध हुआ। इस युक्ति ने उसे सम्राट का कृपापात्र बना लिया। धीरे-धीरे उसका दरबार मे महत्त्व बढता ही गया जो उसके राज्य के प्रभाव को बढाने मे सहायक सिद्ध हुआ। जब दारा सामूगढ के युद्ध के बाद परास्त होकर आगरा, लाहौर, मुल्तान आदि स्थानो मे होता हुआ जोधपुर पहुँचा तो उसने महाराजा जसवन्तसिंह से सहायता की अभ्यर्थना की। महाराजा भी उसको सहायता देने के लिए तैयार हो गये। मिर्जा राजा जयसिंह परिस्थिति को भलीभाँति समझता था। उसने जसवन्तसिंह को ऐसा करने से इन्कार किया। महाराज इस बात को समझ गया और उसने दारा को सहायता नही दी। औरगजेब ने दारा का मुकाबला मार्च १६५८ ई० देवराय मे किया जिसमे जयसिंह ने मुगल सेना के अग्रभाग का नेतृत्व किया था। तीन दिन तक दोनो पक्षो के तोपखानो ने एक-दूसरे पर वार किया और अन्त मे चौथे दिन दारा के पाँव उखड गये और

---

[५२] लाहौरी, भा० ७, पृ० ५५, २६१, वारिस, पृ० ४६८-७३

[५३] शाहजहानामा, इलियट, भा० ७, पृ० १०४, आलमगीरनामा पृ० २७-२८

वह जान बचाकर गुजरात भागा। जयसिंह ने भागते हुए राजकुमार का पीछा किया और उसे सिन्धु नदी की सीमा तक खदेड दिया।

पीछा करने और उसे हिन्दुस्तान की एक सीमा तक ढकेलने मे उसने अपनी सैनिक क्षमता का अच्छा परिचय दिया था। मेडता से जालौर, सिरोही, सिद्धपुर, अहमदाबाद और कच्छ के मार्ग को अपनाकर जयसिंह ने दारा को पश्चिमी भारतीय भागो के अधिकार से वचित कर दिया। कच्छ के रन मे भोजन और पानी का अभाव होते हुए भी जयसिंह अपने सैनिको के साथ बढता गया जिससे उसके शत्रु को साँस लेने का समय न मिला। इस दौड मे उसके सैंकडो घोडे और सैनिक नष्ट हो गये, परन्तु जिस अभिप्राय से उसने दारा का पीछा किया था उसमे उसे पूर्ण सफलता मिली। दारा का पुत्र सुलेमान, जो श्रीनगर की ओर भागा था, जयसिंह के पुत्र रामसिंह के द्वारा पकडा गया। स्वय दारा भी वन्दी वनाया गया और प्राणदण्ड का भागी वना। सम्राट जयसिंह की तथा उसके पुत्र की सेवाओ से वहुत प्रसन्न हुआ। उसने जयसिंह की इन सेवाओ को एक करोड दाम की आय की जागीर और एक लाख नकद के द्वारा पुरस्कृत किया। रामसिंह को भी ढाई लाख आय की जागीर पृथक रूप से इनायत हुई।[५४]

जयसिंह और दक्षिण—इस प्रकार दारा से मुक्ति पाकर औरगजेब का ध्यान दक्षिण की ओर गया जहाँ मराठे शिवाजी के नेतृत्व मे शक्तिशाली हो रहे थे। ऐसा सम्भव था कि यदि शिवाजी अधिक शक्तिशाली हो जायेंगे तो दक्षिण के प्रान्तीय सुलतान भी, जो मुगल राज्य के शत्रु थे, शिवाजी का नेतृत्व स्वीकार कर लेंगे और रही सही दक्षिण की मुगल आभा विलीनप्राय हो जायगी। शिवाजी ने मुगल थानो को कई वार लूटकर दक्षिण मे मुगलो की स्थिति को वैसे ही निर्वल बना दिया था। सूरत की लूट ने तथा शाइस्ताखाँ और उसके परिवार की क्षति ने तो मुगल प्रतिष्ठा को धूल मे मिला दिया। इन कार्यवाहियो से शिवाजी का साहस उत्तरोत्तर वढता जा रहा था और वह शाही परगनो को तथा कारखानो को लूटता जा रहा था। शाहजादा मोअज्जम तथा जसवन्तसिंह, जिन्हे दक्षिण का अधिकारी बना रखा था, स्थिति को काबू मे लाने मे असमर्थ प्रमाणित हुए। तब औरगजेब ने मिर्जा राजा जयसिंह की नियुक्ति दक्षिण मे की। मिर्जा राजा ने दारा को दवाने और उसे स्थान-स्थान से खदेडने मे अपनी सैनिक योग्यता का परिचय दिया था। जसवन्तसिंह को भी सम्राट का सहयोगी वनाने मे उसी का हाथ था। सम्भव है कि औरगजेब ने उसकी सैनिक योग्यता और कूटनीति की क्षमता से प्रभावित होकर ही उसे इस कठिन काम को सम्पादित करने के लिए

---

५४ आलमगीरनामा, पृ० ३१४, ३२५, ३२९, ३३०, ३३२, ४०९, ४१०, ४१५, ४१९ आदि, खाफीखाँ, भा० २, पृ० ६८-७३, वर्नियर, ८८-९६, सरकार, औरगजेब, भा० १-२, पृ० ४९७-५५०

३१ मार्च को चलकर ससवाड पहुँचा जहाँ से पुरन्दर के किले को लेने की योजना थी। यह किला पूना नगर से २४ मील दक्षिण मे समतल भूमि से २५०० फुट ऊँची पहाडी पर स्थित है। इससे ३०० फुट नीचे एक ओर किला है जो माची कहलाता है। यहाँ मराठो का शस्त्रागार और सैनिक चौकी थी। इसी किले के अन्तर्गत एक मील लम्बे पहाड पर वज्रगढ का किला है जो पुरन्दर का प्रमुख सैनिक मोर्चा था। १४ अप्रैल इसी किले को लेने के लिए जयसिंह ने मोर्चाबन्दी की जिसमे उसे सफलता मिली। इस मोर्चेबन्दी से घबराकर कई मराठो ने आत्मसमर्पण कर दिया। इसी अवसर पर जयसिंह ने दाऊदखाँ की अध्यक्षता मे ६००० सैनिको को आसपास की खेती, पशु और बस्ती को नष्ट करने को भेज दिया जिससे शिवाजी को आसपास के भाग से किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता न मिल सके और उसके आत्मविश्वास पर एक आघात पहुँचे। इस कार्य के साथ ही साथ माची पर भी गोलाबारी की गयी और वहाँ की नाकेबन्दी तोडी गयी। यहाँ दिलेरखाँ और मुरारबाजी काफी निकट आकर लडे। इस मराठा सैनिक ने अपनी भुजा और ढाल खोकर भी युद्ध की गति को बनाये रखा। परन्तु मुठ्ठी भर मराठे अपार मुगल सैन्य का कहाँ तक मुकाबला कर सकते थे। अन्त मे वह वीर इस युद्ध मे मारा गया। शीघ्र ही उसके साथियो ने किसी तरह उसका धड शत्रुओ के हाथो से बचाकर शिवाजी के पास भिजवा दिया जिससे कि उसकी अन्त्येष्टि समुचित रूप से हो सके।[५८] इस अवसर के बलिदान की प्रशसा करते हुए सरकार लिखते हैं कि "इस दुर्ग के रक्षको में थेसीडॉस की माता (एक स्पार्टन महिला) का साहस था। अपने नायक की वीरगति के बाद भी ये लोग विचलित नही हुए और कहते रहे, "एक मुरारजी बाजी मर गये तो क्या हुआ ? हम लोग भी उनके समान वीर हैं और उसी साहस से लडते रहेंगे।"[५९]

शिवाजी ने जब देखा कि लगभग दो माह तक सतत् युद्ध करते रहने से उसके वीर सैनिक विथकित हो गये हैं और आसपास की खेती और बस्तियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गयी हैं तो उसने सोचा कि अधिक सघर्ष करना आत्महत्या के तुल्य होगा और मराठा-राज्य का सर्वनाश होगा। इस विचार से उसने अपने आदमियो को जयसिंह के पास भेजा और स्वय उससे मिलने का प्रस्ताव भी किया। इस सम्बन्ध मे जयसिंह और शिवाजी मे सवाद चलता रहा, परन्तु जयसिंह उससे तब तक नहीं मिलना चाहता था जब तक वह आत्मसमर्पण न करे और अपने अधिकृत किलो को राजा के सुपुर्द करने को उद्यत न हो जाय। परन्तु जब उसके विश्वस्त ब्राह्मणो ने जाकर राजा से शपथ-पूर्वक कहा कि शिवाजी किले के बाहर आ गये हैं और मुगल अधीनता स्वीकार करना चाहते हैं तब उसने उसे शिवाजी के प्राण और सम्मान की रक्षा का वचन दिया।

---

५८ सरदेसाई, न्यू हिस्ट्री ऑफ मराठाज

५९ सभासद, ४३,४४ टी० एस०, सेना, १३५, एम० आर० शर्मा, भारत मे मुगल साम्राज्य, पृ० ५२१

उसने यह भी कहला भेजा कि यदि वह सम्राट की अधीनता स्वीकार कर लेगा तो वह उसे मुगल व्यवस्था मे उचित सम्मान दिलावेगा।

जयसिंह और शिवाजी की मुलाकात और पुरन्दर की सन्धि—जब ये सवाद शिवाजी के पास पहुँचा तो वह ११ जून, १६६५ को ६ ब्राह्मण सलाहकारो के साथ पालकी मे बैठकर जयसिंह के खीमे मे मिलने आया। इन दोनो के मिलने का वर्णन हमे तीन आधारो से प्राप्त है—एक जयसिंह की रिपोट जो औरगजेब को भेजी गयी, दूसरा मनूची का वर्णन जैसा उसने आँखो देखा और तीसरा समसामयिक वर्णन जो फारसी कविता मे किसी बुद्धिमान व्यक्ति ने तैयार किया था। इन आधारो से स्पष्ट है कि जब शिवाजी अन्दर आया तो जयसिंह ने उसे अपनी छाती से लगाया और अपने पास बिठाया। शिवाजी ने अपनी भूलो की क्षमा याचना की और भविष्य मे सद्व्यवहार रखने का वचन दिया। उसने कुछ दुर्ग अपने लिये रखने और कुछ मुगलो को लौटा देना स्वीकार किया। राजा ने उसे दिलेरखाँ के पास भेज दिया जिससे सम्राट को सन्देह होने का अवसर न रहे। दिलेरखाँ ने भी शिवाजी को धीरज दिलाया और उसकी कमर मे तलवार बाँधकर सम्मानित कर उसे जयसिंह के पास भेज दिया। रात की वातचीत के दौरान शिवाजी और जयसिंह के बीच सन्धि हुई जिसे पुरन्दर की सन्धि कहते हैं। इस सन्धि के अनुसार यह निश्चय हुआ कि—

(१) ३५ किलो मे से २३ किले मुगलो को सुपुर्द कर दिये जायँ। इस तरह ४० लाख की आमदनी का भाग शिवाजी से ले लिया जाय।

(२) १२ छोटे दुर्ग शिवाजी के लिए रखे जायँ।

(३) शिवाजी के पुत्र शम्भाजी को ५ हजार का मनमवदार वनाया जाय और शिवाजी को दरवारी सेवा से मुक्त समझा जाय।

(४) परन्तु जब कभी शिवाजी को मुगल सेवा के लिए निमन्त्रित किया जाय तो वह उपस्थित हो।

(५) उपरोक्त शर्तो के अतिरिक्त शिवाजी ने यह भी सुझाव दिया कि यदि कोकण मे ४ लाख हूण वार्षिक का प्रदेश और बालाघाट मे ५ लाख हूण का शुल्क बादशाह उसे देने को स्वीकार कर ले और मुगलो की भावी बीजापुर विजय के वाद भी ये प्रदेश उसके अधिकार मे रहने दिये जायँ तो वह बादशाह को ४० लाख हूण १३ वार्षिक किस्तो मे देगा।

(६) इसके अलावा शिवाजी ने मुगल अधीनता स्वीकार की।

इन शर्तों के अनुसार १२ जून, १६६५ को शिवाजी ने पुरन्दर का किला मुगलो के अधीन दे दिया और सभी मोर्चो पर युद्ध स्थगित कर दिया गया। राजा जयसिंह ने सम्राट को शिवाजी को क्षमा प्रदान करने, सन्धि की शर्तों को स्वीकार

करने और उसे खिलअत देने के सम्बन्ध मे सिफारिश की। सम्राट ने इन सिफारिशो को स्वीकार कर अपने अधिकारी के साथ एक फरमान और खिलअत भेजी।[६०]

शिवाजी १४ जून तक जयसिंह के साथ रहे। यही उसका मनूची के साथ यूरोप की भूमि, समुद्र, युद्धशैली आदि विषयो पर वार्तालाप हुआ। फारसी कविता के अनुसार, इन तीन दिनो के सहवास मे, शिवाजी ने जयसिंह के समक्ष हिन्दू एकता रखने के सम्बन्ध मे बल दिया और ऐसे उसके साथ रहने की प्रार्थना की। अपनी गुप्त मन्त्रणा मे उसने मुगलो की धार्मिक नीति और मन्दिरो को तोडने के कामो की निन्दा की। इस प्रकार के सवाद मे सच्चाई भी हो सकती है, क्योंकि प्रथम तो शिवाजी निर्भीक थे जिन्हे जयसिंह को अपने विचारो को साफ-साफ बताने मे कोई भय नही था और द्वितीय औरगजेब का पीछे से जयसिंह के प्रति सन्देह होना भी इस प्रकार की बातो की पुष्टि करता है।

पुरन्दर की सन्धि का महत्त्व—इसमे कोई सन्देह नही कि पुरन्दर की सन्धि जयसिंह की राजनीतिक दूरदर्शिता का एक सफल परिणाम था। "उसने शिवाजी और बीजापुर के मध्य मे सदा के लिए विरोध का बीज बो दिया था।" कोकण और बालाघाट वाले प्रस्ताव को स्वीकार कराने मे उसने मुगलो के लिए स्पष्ट रूप से ४० लाख हूण अर्थात २ करोड रुपये का लाभ आँका था। इसी तरह इन प्रान्तो मे शिवाजी और बीजापुर के स्वार्थो के टकराने से इन दोनो पडोसियो मे सघर्ष की स्थिति बनी जो इनको कभी नही मिलने देगी। ऐसी अवस्थाओ मे इस सन्धि द्वारा सहज ही मुगलो के लाभ की सम्भावना हो गयी। कोकण और बालाघाट के प्रदेश इतने विकट थे कि बीजापुर या शिवाजी के विरुद्ध मुगल फौजें अधिक सफलता प्राप्त करने की आशा नही रख सकती थी। परन्तु ये काम शिवाजी के लिए सहज था। इन विभिन्न पहलुओ को देखने से स्पष्ट है कि जयसिंह एक उच्चकोटि का कूटनीतिज्ञ था। जिस व्यक्ति ने अफजलखाँ तथा शाइस्ताखाँ जैसे शक्ति-सम्पन्न तथा चालबाज सेना-नायको की अपने सामने दाल न गलने दी वही जयसिंह के सामने विनम्र बना रहा और सन्धि के लिए उद्यत हो गया, यह एक आश्चर्य का विषय है। अवश्य ही जयसिंह मे एक सूझबूझ थी और उसमे समय और परिस्थिति को समझने की क्षमता थी। इस सन्धि से जयसिंह ने मुगलो के हित का ध्यान रखते हुए अपने कार्य-कौशल का अच्छा परिचय दिया था। सन्धि मे मराठो के सद्य लाभो की ओर सकेत कर शिवाजी को जयसिंह ने अपनी कूटनीति के जाल मे फँसा लिया था। अन्यथा शिवाजी को इस सन्धि से महाराष्ट्र की बहुत-सी भूमि और शक्ति का साधन खोना पडा था। सम्भवत शिवाजी का आगरा से फिर से लौट आना इस सन्धि द्वारा क्षति का सस्मरण था। ऐसी सन्धि आगे जाकर शिवाजी ने फिर अपने जीवन मे कभी नही की। यदि

---

६० ई० डा०, भा० ७, पृ० २७१-७५, सरकार, औरगजेब, भा० ४, पृ० ८४-८७. सरदेसाई, न्यू हिस्ट्री ऑफ दि मराठाज, भा० १, पृ० १५७-६०

इस सन्धि से जयसिंह की व्यक्तिगत विजय थी तो इसमे शिवाजी का व्यक्तिगत तथा राज्य का पराभव भी छिपा था। इस अर्थ मे इस सन्धि मे कृत्रिमता थी जिसमे सन्धि की शर्तें अधिक समय तक नहीं निभायी जा सकी। जयसिंह की क्षणिक महत्ता औरगजेब के सशय मे बदल गयी और शिवाजी की आगे की सभी योजनाएँ इस सन्धि को समाप्त करने पर तुल गयी।

शिवाजी का आगरा जाना—मिर्जा राजा ने पुरन्दर की सन्धि से शिवाजी को बीजापुर के विरुद्ध तो कर दिया, परन्तु वह बीजापुर की शक्ति को कम न कर सका। अपनी स्थिति को पूर्ववत् बनाये रखने के लिए आदिलशाही और कुतुबशाही राज्य मुगलो का अनिष्ट करने के लिए परस्पर मिल गये। इनके मिलने से, सम्भवत, मिर्जा राजा को यह भय हुआ हो कि कही इनकी सयुक्त शक्ति से प्रभावित हो शिवाजी भी इनका साथी न बन जाय और तीनो मिलकर मुगलो का अनहित न कर दें। इस सम्भावना को रोकने के लिए उसने शिवाजी से सद्व्यवहार रखना आरम्भ किया और अन्त मे यही उपयुक्त समझा कि उसे समझा-बुझाकर उत्तर भारत मे भेज दिया जाय। इस सम्बन्ध मे जयसिंह का यह भी इरादा रहा हो कि शिवाजी का औरगजेब के दरबार मे जाने से उसे मुगलो के नेतृत्व मे दक्षिण में सक्रिय रहकर काम करने की प्रेरणा मिलेगी और वह जयसिंह के लिए अधिक उपयोगी होगा। "सक्षेप मे लम्बी कूटनीतिक बातचीत के बाद और जयसिंह के उसके जीवन एव सम्मान की पूर्ण रक्षा के सम्बन्ध मे गम्भीरतापूर्वक आश्वासन देने पर शिवाजी शाही दरबार मे हाजिर होने के निमित्त रवाना हुए।" राजा जयसिंह ने, शिवाजी का मुगल दरबार मे उदारतापूर्ण स्वागत का आश्वासन तो दे दिया, पर इस सम्बन्ध में वह बड़ा चिन्तित था। इसलिए उसने अपने पुत्र रामसिंह के नाम या औरगजेब की सेवा मे जो पत्र समय-समय पर भेजे थे उनमे शिवाजी के साथ सम्मान-पूर्वक व्यवहार किये जाने के लिए बल दिया था। परन्तु अभाग्यवश शिवाजी का स्वागत शाही दरबार में उतना अच्छा नही हुआ जैसी आशा थी। उसे पूरी निराशा हुई। सम्राट ने शिवाजी के व्यवहार से असन्तोष प्रकट करते हुए उसे रामसिंह की हवेली मे प्रहरियो की देखरेख मे रखने का आदेश दिया। इस घटना से जयसिंह की चिन्ता और अधिक बढ गयी। उसे यह भय था कि कही शिवाजी की हत्या न करवादी जाय। इन आशकाओं को उसने रामसिंह को भेजे गये पत्रो मे व्यक्त किया और सम्राट का भी ध्यान इस ओर दिलाया कि शिवाजी के सम्बन्ध मे कोई ऐसा कदम न उठाया जाय जो मुगल हित के लिए घातक हो। शिवाजी इन आशकाओ का निपटारा करने मे चतुर था। उसने आगरा से भाग निकलने की युक्ति सोच निकाली और वह पुन दक्षिण लौट गया। वास्तव मे जयसिंह ने युक्ति से शिवाजी को आगरा तो भेज दिया था परन्तु उसने उसे क्या-क्या आशाएँ दिलायी थी उनका सविस्तार वर्णन औरगजेब को लिखकर नही भेजा था। वह जानता था कि सम्राट शिवाजी से अप्रसन्न है, इसलिए शिवाजी को दिये गये आश्वासनो का सविस्तार वर्णन उसे भेजना लाभप्रद

सिद्ध न होगा। उसने केवल मात्र मोटी-मोटी बातो की ओर सम्राट का ध्यान आकर्षित कर दिया था। यही कारण था कि वह शिवाजी के प्रयाण काल से ही उसके सम्बन्ध मे चिन्तित था। उसमे एक सच्चे राजपूत की भाँति अपने वचनो को निभाने की क्षमता थी और साथ ही वह अपनी कूटनीति की चालो को भी सफल देखना चाहता था।

जयसिंह और बीजापुर (१६६५-६६ ई०)—औरगजेब ने जयसिंह को दक्षिण की सूबेदारी पर इस आशा से नियुक्त किया था कि वह वहाँ की दो समस्याओ को सुलझाने का प्रयत्न करेगा। इनमे से वह एक समस्या तो शिवाजी की सुलझा चुका था जिससे शिवाजी मुगल-अधीनता स्वीकार कर चुके थे। दूसरी समस्या बीजापुर की थी। अतएव जयसिंह ने बीजापुर को दबाने की तैयारी आरम्भ कर दी। वैसे तो शिवाजी के विरुद्ध आयोजित युद्ध मे बीजापुर सुलतान ने खवासखाँ के नेतृत्व मे अपनी फौज को मुगलो की सहायता के लिए भेजा था, परन्तु जयसिंह की मान्यता थी कि न तो यह फौज विश्वास की पात्र थी और न बीजापुर के सैनिक मन लगाकर मुगलो के पक्ष मे लडे ही थे। स्वय आदिलशाह ने गोलकुण्डा के सुलतान को शिवाजी की सहायता करने के लिए उकसाया था। जयसिंह के पत्रो मे, जो इस समय औरगजेब को लिखे गये थे, स्पष्ट है कि वह बीजापुर की विजय सम्पूर्ण दक्षिण और कर्नाटक की विजय का प्रारम्भिक कदम मानता था। उसकी दृष्टि मे दक्षिण मे स्थित मुगल फौज को निष्क्रिय रखने के बदले बीजापुर के विरुद्ध लगाये रखना उपादेय था।[६१]

बीजापुर पर आक्रमण करने के पूर्व जयसिंह ने कई कूटनीति की चालो को भी काम मे लिया था। सर्वप्रथम तो उसने शिवाजी को बीजापुर से पृथक कर अपना पक्ष प्रबल बना लिया। धन और पद का लोभ देकर उसने बीजापुर के सरदारो और अधिकारियो को अपनी ओर फोड लेने का प्रयत्न किया, और कुछ हद तक उसे इसमे सफलता भी मिली थी। आदिलशाह का उमराव, मुल्ला अहमद रिश्वत लेकर अपने स्वामी से अलग हो गया था। जजीरा के एबिसीनियनो को भी उसने इसी आशय के पत्र लिखे थे जिनमे प्रभावित होकर वे बीजापुर का विरोध करें। उसने स्वय आदिलशाह को भी आक्रमण के निकटवर्ती समय तक यह बताते हुए धोखे मे रखा कि वह अपनी सेना को आक्रमणार्थ नही लाया है वरन् वह पूव-निश्चित खराज की वसूली करना चाहता है।[६२] जयसिंह ने आक्रमण के लिए ४०,००० शाही सेना तैयार कर ली थी और शिवाजी से, सन्धि के अनुसार, २,००० मराठा सवार और ७,००० पैदल प्राप्त कर लिये थे। मराठा सैनिको के दल का नेतृत्व नेताजी पालकर जैसा व्यक्ति कर रहा था, जो दक्षिण मे द्वितीय शिवाजी कहलाता था। शाही सेना

---

[६१] औरगजेबनामा, पृ० ६१०-१३, ३६७

[६२] हफ्त अन्जुमन, पत्र ७४,७७,७६, औरगजेबनामा, पृ० ६१३, सरकार, औरगजेब, पृ० ११८-२३

के हरावल का, जिसमे ७,५०० सैनिक थे, नेतृत्व दिलेरखाँ को सुपुर्द किया गया। जयसिंह के पास केन्द्र मे लडने वाले १२,००० सैनिक थे। दक्षिण और वाम भाग का सचालन दाऊदखाँ और रायसिंह सीसोदिया के हाथ था। इस प्रकार की व्यवस्था के साथ २० नवम्वर, १६६५ को शाही सेना जयसिंह की अध्यक्षता मे बीजापुर के आक्रमण के लिए निकल पडी। माग मे पुरन्दर से मगलवेड तक बिना किसी रुकावट के शाही फौज मार्ग के कई किलो को अधिकार मे करती चली गयी। परन्तु ज्योही बीजापुर के निकट सेना पहुँची तो उसे विरोध का सामना करना पडा। आदिलशाह ने आसपास ६ मील के घेरे मे परगना बिलकुल नष्ट कर दिया था जिससे शत्रु सेना को खाने-पीने की कोई सामग्री न मिले। उसने बीजापुर की रक्षा के लिए सभी सेनाओ को एक स्थान पर इकट्ठा कर लिया था और इसके अलावा ३०,००० कर्नाटकी सिपाहियो को और भर्ती कर लिया था।[६३]

बीजापुर की फौजें जो अलग-अलग जत्थो मे विभाजित थी, शाही फौज से छेड-छाड करती रही। मार्ग मे बारूद से और गुब्बारो के प्रयोग से आग लगाकर मुगलो को अलग किया जाता था और छोटी शाही सेना की टुकडियो को खदेडा जाता था। बीजापुर से शाही सेना जब १२ मील दूर रह गयी तो उसके लिए आगे बढना एक समस्या था। अतएव सात दिन रुककर जयसिंह को ५ जनवरी, १६६६ को लौटना पडा। लौटती हुई सेना को जगह-जगह बडी क्षति उठानी पडी जिसमे कई अच्छे सेनानायक और सैनिक काल के ग्रास हुए। बीजापुर की यह चढाई पूर्णतया निष्फल सिद्ध हुई।[६४]

बीजापुर अभियान की आलोचना—जयसिंह का बीजापुर का यह अभियान सैनिक दृष्टि से पूर्णरूपेण असफल रहा। "न एक इच भूमि मिली, न किसी किले का एक पत्थर हाथ आया और न युद्ध-क्षति के रूप मे एक पैसा मिला। आर्थिक दृष्टि से इसमे घोर सकट हुआ। शाही कोष का ३० लाख रुपया खर्च करने के अतिरिक्त जयसिंह ने अपने पास से एक करोड रुपया खच किया था। जयसिंह को बादशाह से बहुत रुपया मिला परन्तु अपनी तरफ से जो उसने खर्च किया वह इससे भी अधिक था।"[६५] यदि इस अभियान मे इतना खर्च करते हुए सफलता मिल जाती तो आर्थिक हानि का कोई समर्थन भी था। जयसिंह ने जो पत्र[६६] औरगजेब को आर्थिक सहायता माँगने के पक्ष मे लिखे थे उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने बिना किसी विवेक के सोना लुटाने की आयोज्ना पर इस अभियान को आधारित किया

---

६३ हफ्त अन्जुमन, पत्र ६४, ७४, ८२, ८५
६४ खाफीखाँ, भा० २, १९७, सरकार, औरगजेब, भा० ४, पृ० १२६-४०
६५ मन्का", औरगजेब, भा० ४०, पृ० १४६-४७, एस० आर० शर्मा, भारत मे मुगल साम्राज्य, पृ० ५०१
६६ हफ्त अन्जुमन, ७४, ९०, ९१, दिलखुश, ५६, ६१

था। उसकी मान्यता थी कि ज्योही शाही सेना दक्षिण मे पहुँचेगी और उन्हे धन दिया जायगा तो अफगान, एविसीनियन, महदवी, मराठा, वीजापुरी आदि वडी सख्या मे मुगलो के सहयोगी वनेंगे। उसने विना विवेक के धन वाँटा परन्तु जिस आशा से उसने ऐसा किया था उस अनुपात मे मुगल सेना की वृद्धि नही हुई, क्योकि वीजापुर राज्य ने भी अनेक वैतनिक सैनिक भर्ती किये थे। इसके अतिरिक्त जिन सैनिको ने धन के लालच से मुगलो का साथ दिया, धन प्राप्ति के वाद वे फिर वदल गये और लौटती हुई शाही सेना को उनसे भी मुकावला करना पडा। इसी प्रकार जिन्हे पद और जागीर देने का वचन जयसिह ने दिया उसकी स्वीकृति औरगजेव ने पूरे-पूरे रूप से न दी जिससे कई वीजापुरी सरदार फिर से अपने मालिक के साथ हो गये। जागीर देकर शत्रुपक्ष के अधिकारियो को खरीदने की नीति का भी उचित समर्थन नही किया जा सकता। एक विश्वासघाती, जो अपने पुराने स्वामी को धोका दे सकता था, वह नये स्वामी के साथ धोखा न देगा ऐसा सोचना कहाँ तक युक्ति सगत था। उसने ऐसे सैंकडो धोखेवाजो को इकट्ठा कर अपना ही अनहित किया। वास्तव मे जयसिह ने इस अभियान को रचाने मे जल्दी की थी। उसे इसको आयोजित करने मे कुछ और साधनो को भी ठीक तरह जुटाना था। सम्भवत शिवाजी के सम्वन्ध मे जो सफलता मिली उससे उसमे उत्साह की मात्रा सीमा लाँघ गयी और वह वस्तु-स्थिति का समुचित अध्ययन न कर सका। इसी तरह जव उसे अभियान में असफलता के चिह्न दिखायी देने लगे, और उसे यह भी मालूम होने लगा कि सम्राट उससे असन्तुष्ट होने लगा है, तो वह अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए एक भूल के वाद दूसरी भूल करता रहा। उसे जब ज्ञात हो गया कि वातावरण अनुकूल नही है तो उसे कुछ रुक जाना था।

इसमे कोई सन्देह नही कि जिस उत्साह से वह वीजापुर के आक्रमण की तैयारी कर रहा था उस उत्साह से उसे केन्द्र से सहायता नही मिल रही थी। स्वय औरगजेव को सन्देह था कि वलख-वदख्शा की भाँति यह अभियान भी असफल होगा। इसलिए वह वडे सकोच से तथा शीथिलता से जयसिह के सुझावो का समर्थन कर रहा था। धन की सहायता भी पूरी उसके पास समय पर नही पहुँची थी। यहाँ तक कि जव वह अभियान के लिए रवाना हो गया था, उसके पास पूरा तोपखाना व रसद नही पहुँचने पायी थी। इस निर्वल स्थिति के साथ-साथ वीजापुर की स्थिति सन्तोषजनक थी। आदिलशाह ने अपनी सैनिक शक्ति को एक स्थान पर इकट्ठा कर शाही शक्ति को कुण्ठित कर दिया।

जयसिह की वापसी और मृत्यु—इस अभियान के वाद जो भी प्रयत्न जयसिह के द्वारा किये गये वे सन्देह की दृष्टि से देखे जाने लगे। उसके विरोध मे सम्राट के पास खबरें भेजी जाती थी और जयसिह के सुझावो का खण्डन किया जाता था। अक्टूबर १६६६ को उसे औरगावाद आने का आदेश मिला और अगली मार्च को पुन उसे दरवार मे वुलाया गया। जव मई १६६७ को शाहजादा मुअज्जम और जसवन्तसिह

को दक्षिण की सेना का सचालन का भार सुपुर्द कर वह उत्तर की ओर लौट रहा था कि २ जुलाई, १६६७ को बुरहानपुर के पास उसका देहावसान हो गया।[६७]

मिर्जा राजा जयसिह का व्यक्तित्व

एक सैनिक के रूप मे—मिर्जा राजा जयसिह के चरित्र मे उस युग के दो महान कछवाह वशीय नरेशो के गुणो का सामजस्य था। उसने अपने पिता मानसिह की सैनिक योग्यता और अपने दादा भगवन्तदास की राजनीतिक चालो को अपने व्यक्तित्व मे ढाला था। इन गुणो के कारण वह मध्यकालीन इतिहास की एक अद्वितीय विभूति था। अपने पिता की भाँति वह युद्ध-विद्या मे निपुण और युद्ध-काल मे निडर था। उसे पश्चिम मे अफगानिस्तान और कन्धार से लेकर पूर्व मे मुगेर और उत्तर मे आक्सू नदी के किनारे से दक्षिण मे बीजापुर तक सभी स्थानो मे मुगल फौजो का आशिक या पूर्ण-नेतृत्व करने का अवसर मिला था। उसने कई अवसरो मे सेना के हरावल मे रहते हुए अपने शौर्य का परिचय दिया था। सभी मुगल सम्राट जहाँगीर से लगाकर औरगजेब तक, उसके युद्ध-कौशल से प्रभावित थे और इन सभी सम्राटो ने उसका सैनिक महत्त्व उसके पद और प्रतिष्ठा बढाने के द्वारा स्वीकार किया था। अफगानो, उजबेगो, मुगलो, राजपूतो और मराठो को साथ लेकर लडने मे वह आदर्श नायक था। अपने लम्बे अनुभव के कारण इन विभिन्न युद्धप्रिय जातियो का वह मुकाबला भी कर सकता था।

एक कूटनीतिज्ञ—जहाँ तक उसकी राजनीतिक योग्यता का प्रश्न था, वह अपने प्रतिद्वन्दी को भली प्रकार समझता था और उसकी मनोवृत्ति का समुचित समाधान भी करना चाहता था। शिवाजी के साथ की गयी सन्धि मे जयसिह ने एक नवीन सूझबूझ से काम लिया, अन्यथा शिवाजी जैसे अटपटे व्यक्ति से मेल बढाना कोई साधारण बात नही थी। शिवाजी मे विश्वास की भावना पैदा कर तथा स्वय ने उसमे विश्वास कर उसने अपने आत्मबल का परिचय दिया था। कूटनीति की चालो मे और शत्रुओ के बीच रहते हुए अपना काम निकालने की युक्ति उसमे उच्च श्रेणी की थी। "कूटनीति मे उसने ऐसी सफलता प्राप्त की थी जो रणभूमि की अनेक विजयो से बढकर थी" इसी क्षमता को पहचानकर औरगजेब उसे कठिन से कठिन काम सौंपता था।

जयसिह और कला एव साहित्य—जयसिह केवल मात्र एक सैनिक की भाँति ही मुगल सेवा मे न रहा, परन्तु उसने अपनी कलात्मक प्रवृत्तियो में भी रुचि ली। जयसिह के बनवाये हुए आमेर के महल तथा जयगढ और औरगाबाद मे जयसिहपुरा उसकी वास्तु-कला के प्रति रुचि को प्रदर्शित करते हैं। उसके समय के महल और गढ उत्तर मुगलकालीन राजपूत-मुगल शैली के अच्छे प्रतीक हैं। इसी प्रकार मिर्जा राजा

---

[६७] हफ्त अन्जुमन, पत्र ८६-६३

अनेक भाषाओ को जानता था, स्वय विद्वान था और विद्वानो का सम्मान भी करता था। इसके दरबार मे हिन्दी का प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल था जिसने बिहारी सतसई की रचना द्वारा हिन्दी भाषा की अनुपम सेवा की है। जयसिंह ने उसकी कविता का इतना सम्मान किया कि उसके एक-एक दोहे पर उसने एक-एक स्वर्ण-मुद्रा प्रदान की और जागीर देकर उसकी प्रतिष्ठा बढायी। इसी कवि का भानजा कुलपति मिश्र था जिसने लगभग ५२ ग्रन्थो की रचना द्वारा प्रसिद्धि पायी थी। इसी कवि ने मिर्जा राजा के साथ दक्षिण मे रहते हुए शिवाजी के विषय मे लिखा है जो इतिहास के लिए बडा उपादेय है। इसी का एक दरबारी कवि रायकवि था जिसका ग्रन्थ 'जयसिंह-चरित्र' बडा प्रसिद्ध है। इसके राज्यकाल मे और भी अनेक काव्य और भक्ति के ग्रन्थो की रचना हुई जिनमे धर्म प्रदीप, भक्ति रत्नावली, भक्ति निर्णय, भक्ति निवृत्ति, हरनकर रत्नावली आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

एक सुयोग्य शासक—वह एक अच्छा शासक भी था। उसने अपने राज्य से बाहर रहते हुए भी आमेर राज्य की देखभाल का अच्छा प्रबन्ध रखा। उस समय के 'अडसट्टो' के अध्ययन तथा 'अखबारात' के अवलोकन से स्पष्ट है कि जयसिंह ने मुगल शैली पर शासन-व्यवस्था मे कई सुधार किये थे। कई पदाधिकारियो के नामो और करो के देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन राजस्थानी शासन-व्यवस्था के साथ-साथ मुगल शासन को भी उसने अपने राज्य मे प्राधान्यता दी थी। उसके समय मे दक्षिण से उत्तर और उत्तर से दक्षिण जाने के मार्गो की व्यवस्था का अधिकाश भार आमेर राज्य पर था। इस केन्द्रीय स्थिति ने आमेर राज्य की समृद्धि मे बढौती कर दी थी जिसका अधिकाश श्रेय मिर्जा राजा जयसिंह को है।

उसकी भूलें और समर्थन—ऐसे वीर, साहसी तथा मुगल सेवा मे निष्ठावान व्यक्ति के पिछले दिन अच्छे नही बीते। जिस योद्धा ने सैकडो युद्धो मे विजयश्री प्राप्त की थी और उसके द्वारा उसके सम्मान का एक स्तर बनने पाया था, वह एक बीजापुर की पराजय से धूल मे मिल गया। इसमे औरगजेब का अधिक उत्तर-दायित्व है। यदि जिस विजय मे औरगजेब को आगे चलकर कई वर्ष लगे उस विजय मे प्रथम प्रयाण मे असफलता रही तो उसका इस निष्ठुर ढग से सम्राट द्वारा अपमान नही किया जाना चाहिए था, जैसा उसके साथ किया गया। वास्तव मे औरगजेब और इसके अन्य अधिकारियो का भी इस पराजय मे उत्तरदायित्व है जिन्होने उसे समयोचित सहायता न दी। उसकी तो उदारता थी कि जयसिंह ने ३० लाख राजकीय सहायता की तुलना मे अपना एक करोड रुपया मुगल प्रतिष्ठा के लिए खर्च कर दिया। इस रकम का चुकारा अपमान द्वारा किया गया। वह स्वाभिमानी राजा इसको सहन न कर सका। इस मान-हानि का बदला उसने आत्मोत्सर्ग के द्वारा लिया। हो सकता है कि उसने इस अभियान मे शीघ्रता की और कुछ भूले भी की। हो सकता है कि इस सम्बन्ध मे इसकी महत्त्वाकाक्षाएँ सीमा को लाँघने का प्रयत्न कर रही थी, परन्तु यह भी सच है कि इन भूलो मे उसकी सद्भावनाएँ

निहित थी और लक्ष्य मुगल-हित था। यदि ऐसे अवसर पर उसने आत्मसम्मान को महत्त्व दिया था तो वह एक मुगल अधिकारी के रूप मे। यदि उसकी मृत्यु, जैसा कि बताया जाता है[६८], उसके ही कृपापात्र उदयराज या कुँवर कीर्तिसिंह के षड्यन्त्रो द्वारा हुई हो तो यह कहना पडेगा कि औरगजेब से भी अधिक निष्ठुर विधाता था। सरकार के शब्दो मे जयसिंह की मृत्यु एलिजाबेथ के दरबार के सदस्य वॉलसिंघम की भाँति हुई जिसने अपना बलिदान ऐसे स्वामी के लिए किया जो काम लेने मे कठोर और काम के मूल्याकन मे कृतघ्न था।[६९]

जयसिंह द्वितीय (१७००-१७४३ ई०)

प्रारम्भिक जीवन—जयसिंह का जन्म ३ दिसम्बर, १६८८ को हुआ था। यह बिशनसिंह का ज्येष्ठ पुत्र था। प्रारम्भ मे इसका नाम विजयसिंह व उसके छोटे भाई का नाम जयसिंह था। सम्भवत सम्राट ने इसमे प्रथम जयसिंह की तुलना मे वीरता और वाक्पटुता को विशेष मात्रा मे पाकर इसका नाम सवाई जयसिंह रख दिया क्योंकि वह जयसिंह प्रथम से बढकर (सवाया) था। इसके विपरीत इसके छोटे भाई का नाम विजयसिंह रख दिया। इसी समय से जयपुर के सभी राजा अपने नाम के पहले 'सवाई' पद का प्रयोग करने लगे। आमेर एक सास्कृतिक केन्द्र बन गया था जिसका प्रभाव जयसिंह पर पडा। अपने बाल्यकाल से ही उसमे पढने की बडी रुचि थी और उसके पिता ने एतद् सम्बन्धी समुचित प्रबन्ध भी किया था। जयपुर मे उस समय अनेक विषयो के विद्वान रहते थे जिनका बालक जयसिंह पर अपेक्षित प्रभाव पडा। सैनिक प्रशिक्षण भी इसे पर्याप्त रूप से मिला था। यही कारण था कि औरगजेब ने बिशनसिंह से जयसिंह की सेवाओ की माँग उसकी अल्पावस्था होते हुए भी की थी। बिशनसिंह इस प्रकार के आदेश से प्रारम्भ मे तो घबराया, क्योंकि १६८२ ई० मे कुँवर किशनसिंह की मृत्यु दक्षिण मे हो गयी थी, परन्तु अन्त मे वह सम्राट की आज्ञा टाल नही सका। १६९८ ई० मे विवश होकर बिशनसिंह ने राजकुमार जयसिंह को दक्षिण भेजा। वह कुछ महीनो दक्षिण मे रहा और फिर आमेर लौट आया।[७०]

जयसिंह, उसका राज्यारोहण, उसके प्रारम्भिक सुधार और दक्षिण के लिए प्रस्थान—दक्षिण मे लौटने के कुछ समय बाद बिशनसिंह की मृत्यु हो गयी। अतएव १७०० ई० मे जयसिंह द्वितीय को राज्य का भार सँभालना पडा। जब वह राजगद्दी पर बैठा तो उसने पाया कि राज्य की आन्तरिक स्थिति सन्तोषजनक नही थी।

---

[६८] दिलकुशा, पत्र ६३-६४

[६९] सरकार, औरगजेब, भा० ४ पृ० १४८
'Like Walsingham of Elizabeth's Court, he died a bankrupt after serving too faithfully an exacting but thankless master"

[७०] मआसिर-उल-उमरा, पृ० १६४, वीरविनोद, भा० २, पृ० १२९८

अनेक भाषाओ को जानता था, स्वय विद्वान था और विद्वानो का सम्मान भी करता था। इसके दरबार मे हिन्दी का प्रसिद्ध कवि बिहारीलाल था जिसने बिहारी सतसई की रचना द्वारा हिन्दी भाषा की अनुपम सेवा की है। जयसिंह ने उसकी कविता का इतना सम्मान किया कि उसके एक-एक दोहे पर उसने एक-एक स्वर्ण-मुद्रा प्रदान की और जागीर देकर उसकी प्रतिष्ठा बढायी। इसी कवि का भानजा कुलपति मिश्र था जिसने लगभग ५२ ग्रन्थो की रचना द्वारा प्रसिद्धि पायी थी। इसी कवि ने मिर्जा राजा के साथ दक्षिण मे रहते हुए शिवाजी के विषय मे लिखा है जो इतिहास के लिए बडा उपादेय है। इसी का एक दरबारी कवि रायकवि था जिसका ग्रन्थ 'जयसिंह-चरित्र' बडा प्रसिद्ध है। इसके राज्यकाल मे और भी अनेक काव्य और भक्ति के ग्रन्थो की रचना हुई जिनमे धर्म प्रदीप, भक्ति रत्नावली, भक्ति निर्णय, भक्ति निवृत्ति, हरनकर रत्नावली आदि विशेष उल्लेखनीय है।

एक सुयोग्य शासक—वह एक अच्छा शासक भी था। उसने अपने राज्य से बाहर रहते हुए भी आमेर राज्य की देखभाल का अच्छा प्रबन्ध रखा। उस समय के 'अडसट्टो' के अध्ययन तथा 'अखबारात' के अवलोकन से स्पष्ट है कि जयसिंह ने मुगल शैली पर शासन-व्यवस्था मे कई सुधार किये थे। कई पदाधिकारियो के नामो और करो के देखने से प्रतीत होता है कि प्राचीन राजस्थानी शासन-व्यवस्था के साथ-साथ मुगल शासन को भी उसने अपने राज्य मे प्राधान्यता दी थी। उसके समय मे दक्षिण से उत्तर और उत्तर से दक्षिण जाने के मार्गों की व्यवस्था का अधिकाश भार आमेर राज्य पर था। इस केन्द्रीय स्थिति ने आमेर राज्य की समृद्धि मे बढोती कर दी थी जिसका अधिकाश श्रेय मिर्जा राजा जयसिंह को है।

उसकी भूलें और समर्थन—ऐसे वीर, साहसी तथा मुगल सेवा मे निष्ठावान व्यक्ति के पिछले दिन अच्छे नही बीते। जिस योद्धा ने सैकडो युद्धो मे विजयश्री प्राप्त की थी और उसके द्वारा उसके सम्मान का एक स्तर बनने पाया था, वह एक बीजापुर की पराजय से धूल मे मिल गया। इसमे औरगजेब का अधिक उत्तर-दायित्व है। यदि जिस विजय मे औरगजेब को आगे चलकर कई वर्ष लगे उस विजय मे प्रथम प्रयाण मे असफलता रही तो उसका इस निष्ठुर ढग से सम्राट द्वारा अपमान नही किया जाना चाहिए था, जैसा उसके साथ किया गया। वास्तव मे औरगजेब और इसके अन्य अधिकारियो का भी इस पराजय मे उत्तरदायित्व है जिन्होंने उसे समयोचित सहायता न दी। उसकी तो उदारता थी कि जयसिंह ने ३० लाख राजकीय सहायता की तुलना मे अपना एक करोड रुपया मुगल प्रतिष्ठा के लिए खर्च कर दिया। इस रकम का चुकारा अपमान द्वारा किया गया। वह स्वाभिमानी राजा इसको सहन न कर सका। इस मान-हानि का बदला उसने आत्मोत्सर्ग के द्वारा लिया। हो सकता है कि उसने इस अभियान मे शीघ्रता की और कुछ भूलें भी की। हो सकता है कि इस सम्बन्ध मे इसकी महत्त्वाकाक्षाएँ सीमा को लाँघने का प्रयत्न कर रही थी, परन्तु यह भी सच है कि इन भूलो मे उसकी सद्भावनाएँ

निहित थी और लक्ष्य मुगल-हित था। यदि ऐसे अवसर पर उसने आत्मसम्मान को महत्त्व दिया था तो वह एक मुगल अधिकारी के रूप मे। यदि उसकी मृत्यु, जैसा कि बताया जाता है[६८], उसके ही कृपापात्र उदयराज या कुँवर कीर्तिसिह के षड्यन्त्रो द्वारा हुई हो तो यह कहना पडेगा कि औरगजेब से भी अधिक निष्ठुर विधाता था। सरकार के शब्दो मे जयसिह की मृत्यु एलिजावेथ के दरवार के सदस्य वॉलसिघम की भाँति हुई जिसने अपना बलिदान ऐसे स्वामी के लिए किया जो काम लेने मे कठोर और काम के मूल्याकन मे कृतघ्न था।[६९]

जयसिह द्वितीय (१७००-१७४३ ई०)

प्रारम्भिक जीवन—जयसिह का जन्म ३ दिसम्बर, १६८८ को हुआ था। यह विशनसिह का ज्येष्ठ पुत्र था। प्रारम्भ मे इसका नाम विजयसिह व उसके छोटे भाई का नाम जयसिह था। सम्भवत सम्राट ने इसमे प्रथम जयसिह की तुलना मे वीरता और वाक्पटुता को विशेष मात्रा मे पाकर इसका नाम सवाई जयसिह रख दिया क्योकि वह जयसिह प्रथम से बढकर (सवाया) था। इसके विपरीत इसके छोटे भाई का नाम विजयसिह रख दिया। इसी समय से जयपुर के सभी राजा अपने नाम के पहले 'सवाई' पद का प्रयोग करने लगे। आमेर एक सास्कृतिक केन्द्र बन गया था जिसका प्रभाव जयसिह पर पडा। अपने बाल्यकाल से ही उसमे पढने की बडी रुचि थी और उसके पिता ने एतद् सम्बन्धी समुचित प्रबन्ध भी किया था। जयपुर मे उस समय अनेक विषयो के विद्वान रहते थे जिनका वालक जयसिह पर अपेक्षित प्रभाव पडा। सैनिक प्रशिक्षण भी इसे पर्याप्त रूप से मिला था। यही कारण था कि औरगजेब ने विशनसिह से जयसिह की सेवाओ की माँग उसकी अल्पावस्था होते हुए भी की थी। बिशनसिह इस प्रकार के आदेश से प्रारम्भ मे तो घबराया, क्योकि १६८२ ई० मे कुँवर किशनसिह की मृत्यु दक्षिण मे हो गयी थी, परन्तु अन्त मे वह सम्राट की आज्ञा टाल नही सका। १६९८ ई० मे विवश होकर बिशनसिह ने राजकुमार जयसिह को दक्षिण भेजा। वह कुछ महीनो दक्षिण में रहा और फिर आमेर लौट आया।[७०]

जयसिह, उसका राज्यारोहण, उसके प्रारम्भिक सुधार और दक्षिण के लिए प्रस्थान—दक्षिण से लौटने के कुछ समय बाद विशनसिह की मृत्यु हो गयी। अतएव १७०० ई० में जयसिह द्वितीय को राज्य का भार सँभालना पडा। जब वह राजगद्दी पर बैठा तो उसने पाया कि राज्य की आन्तरिक स्थिति सन्तोषजनक नही थी।

---

६८ दिलखुश, पत्र ६३-६४

६९ सरकार, औरगजेब, भा० ४, पृ० १४८
'Like Walsingham of Elizabeth's Court, he died a bankrupt after serving too faithfully an exacting but thankless master "

७० मआसिर-उल-उमरा, पृ० १६४, वीरविनोद, भा० २, पृ० १२९८

इसका कारण स्पष्ट था। मुगलो के साथ सम्बन्ध हो जाने से आमेर के शासक बहुधा राज्य के बाहर रहते थे जिससे स्थानीय सामन्त बडे शक्तिशाली होते जा रहे थे। सैनिक तथा शासन-व्यवस्था भी सुचारु रूप से नही चल रही थी। नरूका सामन्त राज्य मे अशान्ति पैदा कर रहे थे जिनको दवाना नितान्त आवश्यक था। वैसे तो औरगजेव उसे दक्षिण बुला रहा था परन्तु जयसिंह ने लगभग डेढ वर्ष तक आमेर न छोडा और आन्तरिक व्यवस्था को ठीक करने मे लगा रहा। इसी अर्से मे उसने अपना विवाह भी कर लिया। राज्य की सैनिक व्यवस्था मे भी सुधार किये गये। इन प्रारम्भिक कार्यो से छुट्टी पाकर नवम्वर १७०१ ई० को आमेर से प्रस्थान कर वह औरगजेव की सहायता के लिए अक्टूवर मे बुरहानपुर पहुँचा।

खेलना का घेरा और जयसिंह—दक्षिण मे पहुँचने पर सर्वप्रथम जयसिंह को वेदारवख्त के साथ, जो पनिहाल के दुर्ग की रक्षा कर रहा था, सैनिक जीवन आरम्भ करने का अवसर मिला। फिर इन्हें खेलना के दुर्ग पर बुला लिया गया जहाँ स्वय औरगजेव घेरा डाले हुए था। यह दुर्ग मराठो के अधिकार मे था। कडी चट्टानो और मराठो के साहस का मुकावला करने मे मुगलो ने पाँच महीने लगा दिये, परन्तु किला अडिग वना रहा। जव जयसिंह को कोकणी फाटक के सामने वाले मोर्चो पर लगाया गया तो उसने अपने कछावाहा सैनिको के सहयोग से शत्रुओ को खूव छकाया और इस मोर्चे को तोडने मे सफलता दिखायी। इस अवसर पर जयसिंह का दीवान और अनेक कछवाहा सैनिक काम आये। सम्राट ने राजा के वीरता और साहसिक कार्यो से प्रभावित होकर उसके मनसव को २००० जात और २००० सवार कर दिया। मनसव के खर्चे के उपलक्ष मे उसका वेतन १,२५,००० रुपये हो गये।[७१]

इस अभियान के वाद जयसिंह की नियुक्ति मालवा मे नायव सूवेदार के पद पर हुई। वेदारवख्त, जो मालवा का सूवेदार वनाया गया था, दक्षिण के युद्धो में लगा रहने के कारण मालवा के शासन मे अधिक समय नही लगा पाया था। जयसिंह नायव पद पर होते हुए भी मालवा का सभी काम वडी निपुणता से सँभालता रहा। औरगजेव को इस समय की सेवाओ का भी उचित पुरस्कार उसे देना चाहिए था। परन्तु वृद्धावस्था के तथा दक्षिण के पराभव मे हतोत्साह हो जाने से उसमे विवेक की न्यूनता हो चली थी। वेदारवख्त की कई सिफारिशो के किये जाने पर भी सम्राट ने जयसिंह की पदोन्नति न की। परन्तु औरगजेव के काल मे जयसिंह का दक्षिण में रहना उसके लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ। उसने सैनिक अभियानो तथा मालवा के शासन कार्यो में भाग लेकर थोडे ही समय मे अपनी प्रतिभा का परिचय दे दिया, जिसमे मुगल व्यवस्था मे उसका एक स्थान वन गया। इसी तरह इस अवधि मे उसे मराठो को पराजित करने और उनसे सम्पर्क वढाने का भी अवसर मिला। कई अवसरो मे

---

[७१] मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० ४४८-५७, मनूची, भा० ३, पृ० ४१६, सरकार, औरगजेव, भा० ५, पृ० १४७-५१

उसने मुगल-मराठा सम्बन्धी समस्याओ मे मध्यस्थता भी की। इन कारणो से उसकी शाहूजी व कई मराठा सरदारो से मैत्री भी हो गयी। इस मित्रता का उपयोग वह उस समय उठा सका जब दक्षिण और उत्तरी राजनीति मे पेशवाओं का प्रभाव बढने लगा और मुगल शक्ति क्षीण होने लगी। इसके साथ-साथ जयसिंह का दक्षिण मे रहना मुगल व्यवस्था की जानकारी के लिए उपादेय रहा। वह मुगलो की निर्बलता का भी, इसी काल मे, अध्ययन कर सका। यह अनुभव उसके लिए भावी उत्थान के कार्यक्रम का पथ-प्रदर्शक बना।[७२]

औरगजेब की मृत्यु, गृह-युद्ध और जयसिंह द्वितीय—१७०७ ई० मे औरगजेब की मृत्यु पर उसके पुत्रो मे राजगद्दी के लिए युद्ध छिड गया। इन पुत्रो मे से एक कामबख्श दक्षिण मे ही ठहर गया, इस अभिप्राय से कि वह अपने लिये स्वतन्त्र राज्य बना ले। उत्तर मे आजम और मुअज्जम दोनो के बीच अधिकार के लिए युद्ध छिड गया। जयसिंह उस समय आजम के अधीन दक्षिण मे था, अतएव उसने आजम का साथ दिया। विजयसिंह भी आमेर का शासक बनना चाहता था इसलिए उसने मुअज्जम का पक्ष लेना अपने लिए हितकारी समझा। दोनो पक्षो का ८ जून, १७०७ मे जाजऊ के मैदान मे, जो आगरा से लगभग २० मील दूर था, युद्ध हुआ। इस युद्ध मे आजम मारा गया और मुअज्जम की विजय होने लगी। जयसिंह तुरन्त मुअज्जम के दल की ओर जा मिला। विजयी राजकुमार बहादुरशाह के नाम से राजगद्दी का अधिकारी बना।[७३]

जयसिंह और आमेर के अधिकार का प्रश्न—बहादुरशाह जयसिंह से प्रसन्न न था क्योंकि उसने प्रारम्भ मे आजम का साथ दिया था। जाजऊ के मैदान से निपटकर उसने जयसिंह को दण्ड देने का निश्चय किया। इस अभिप्राय से उसने आमेर की ओर प्रस्थान कर दिया। वहाँ पहुँचकर उसने विजयसिंह को आमेर का शासक घोषित कर पुरस्कृत किया। इस परिवर्तन से जयसिंह एक मुगल मनसबदार की स्थिति मे ही रह गया। आमेर का नाम इस्लामाबाद रखा गया और उसका फौजदार सैयद हुसैनखाँ बनाया गया। आमेर का राज्य पुन प्राप्त करने के लिए जयसिंह मुगल सम्राट के साथ हो लिया जो दक्षिण मे कामबख्श के विरुद्ध जा रहा था। उसने जोधपुर के शासक अजीतसिंह को भी अपनी ओर मिला लिया। मेडता के मुकाम पर वे दोनो सम्राट से मिले और उससे आमेर पुन प्राप्त करने के लिए प्रार्थी हुए। परन्तु सम्राट ने विजयसिंह के नाम आमेर का फरमान दे दिया था इसलिए उसने उसकी कोई बात नही सुनी। मण्डलेश्वर तक तो अजीतसिंह तथा जयसिंह शाही सेना के साथ रहे, परन्तु वहाँ से वे उदयपुर की ओर महाराणा अमरसिंह द्वितीय से मिलने के लिए चल दिये। वहाँ पहुँचने की सूचना जब सम्राट को मिली तो उसने अमरसिंह को लिखा कि यदि

---

[७२] मआसिर-उल-उमरा, पृ० १६८

[७३] इबरतनामा, पृ० २७, नक्शा-ए-दिलखुश, पृ० १६५-६६

आमेर और जोधपुर के शासक क्षमा याचना कर लेंगे तो उनके राज्य फिर से उन्हें लौटा दिये जायेंगे। परन्तु सम्राट ने ऐसा करने पर भी उन्हे कोई उत्तर न दिया। मेवाड-मारवाड और आमेर के शासको ने मुगल शक्ति के विरुद्ध लडने की योजना बनायी और महाराणा ने जयसिंह से अपनी पुत्री चन्द्र कुँवरी का विवाह भी कर दिया। तीनो राज्यो की सेनाएँ पहले जोधपुर पहुँची जिस पर अजीतसिंह का अधिकार जुलाई १७०८ को स्थापित किया गया। जयसिंह ने अजीतसिंह की पुत्री सुरजकुँवर से सम्बन्ध भी कर लिया। यहाँ से जब सेनाएँ आमेर की ओर चली तो पाया कि कछवाहा सरदारो तथा दीवान रामचन्द्र ने अपने प्रयत्नो से मुगल फौजदार और विजयसिंह को परास्त कर दिया था और जयसिंह के राज्य की दुहाई घोपित कर दी थी। वैसे तो जयसिंह ने इस अवसर पर मेवाड से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपना पक्ष प्रवल कर लिया था जिससे उसे अपने पैतृक राज्य को पुन प्राप्त करने मे सहायता मिली थी, परन्तु इसी विवाह से यह शर्त मानकर कि चन्द्रकुँवरी से पैदा होने वाला पुत्र आमेर के राज्य का अधिकारी होगा उसने आमेर राज्य के गृह-कलह के वीज वो दिये। इस बखेडे से राजपूताने पर मराठो का प्रभाव वढता गया।[७४]

जयसिंह ने आमेर तो प्राप्त कर लिया परन्तु उसे कुछ समय मुगल शक्ति से लडना पडा। मेवात के फौजदार सैयद हुसैन ने आमेर के आसपास लूट-खसोट करनी आरम्भ कर दी। आमेर की सेना ने धीरे-धीरे मुगल सैनिको को भगाकर शान्ति स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की। उधर वहादुरशाह कामवख्श की मृत्यु हो जाने से दक्षिण से फारिक हो चुका था। उसका ध्यान सिक्खो को दवाने की ओर लगा। उसने अव यह महसूस किया कि विना राजपूतो की सहायता के इन शक्तियो को नही दवाया जा सकता। इसलिए जयसिंह की सेवाएँ उपलव्ध करने के लिए सम्राट ने ११ जून, १७१० को उसके पद को स्वीकार किया और उसे शाही खिलअत से सम्मानित किया। जयसिंह इससे सन्तुष्ट नही था। वह चाहता था कि उसके पद मे अत्यधिक वृद्धि की जाय और उसे मालवा की सूवेदारी दी जाय। वहादुरशाह उसे कावुल की सूवेदारी देना चाहता था। अपना असन्तोप प्रकट करने के लिए कुछ दिन जयसिंह ने शाही दरवार मे जाना वन्द कर दिया। सम्राट ने उसे प्रसन्न रखने के लिए चित्रकूट का सूवेदार नियुक्त किया। इसको जयसिंह सम्मानजनक पद नही मानता था, अतएव वह कुछ समय के लिए आमेर लौट गया और तव तक १७१२ मे वहादुरशाह की लाहौर मे मृत्यु हो गयी।

जयसिंह और मालवा की सूवेदारी—वहादुरशाह की मृत्यु के उपरान्त जहाँदारशाह ने तथा उसके मरने पर फर्रुखसियर ने जयसिंह को प्रसन्न रखने की नीति को अपनाया। जहाँदारशाह ने हिन्दू शासको को सन्तुष्ट रखने के लिए जजिया कर

---

७४ मुन्तखव-उल-लुवाव, पृ० ६०६, वहादुरशाहनामा, पृ० ६२-६४, वंशभास्कर पृ० ३०११-३०१८, इर्विन लेटर मुगल्स, जि० १, पृ० ४६, ६७

हटा लिया। जब फर्रुखसियर शासक बना तो उसने पाया कि मालवा विद्रोह का केन्द्र बनता जा रहा है। वहाँ शान्ति स्थापित करने के लिए उसने जयसिंह के मनसब को सात हजार कर दिया और उसे १७१३ ई० मे मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। उसने नया पद सँभालते ही छत्रसाल बुन्देला और बुद्धसिंह हाडा के सहयोग से मालवा के विद्रोहियो को दबाना आरम्भ किया। उसने एक-एक कर अफगानी विद्रोहियो को, जिनमे इनायतखाँ और दिलेरखाँ प्रमुख थे, स्थान-स्थान पर हराया। इन अफगानो की सहायता से कुछ स्थानीय सामन्त जो विद्रोह का नेतृत्व कर रहे थे, उन्हें भी परास्त किया गया। इसी तरह मालवा के मार्ग से मराठे भी उत्तरी भारत की ओर बढने का प्रयत्न कर रहे थे और सूबे मे लूट-खसोट करते थे। जयसिंह ने उनके मार्गों को रोका और उनके नेता कान्होजी भोसले और खाण्डेराव धाबाडे आदि को नर्बदा के पार खदेड दिया। इस प्रकार जब तक जयसिंह मालवा का सूबेदार रहा उसने अफगानी विद्रोहियो तथा मराठो को दबाये रखा।

जयसिंह और जाटो का दमन—सम्राट ने जब देखा कि मालवा की स्थिति कुछ सुधर चुकी थी तो उसने जयसिंह को उत्तर की ओर बुला लिया जिसमे उसकी सहायता से जाटो का दमन किया जा सके और सैयद बन्धुओ की शक्ति को उसकी सहायता से निर्बल बनाया जा सके। जाट जयपुर के निकटवर्ती प्रदेशो मे शक्तिशाली हो रहे थे। जयसिंह भी आमेर राज्य को सुरक्षित रखने के लिए जाटो का दमन चाहता था। उसने रूपराम धायभाई को मालवा का नायब सूबेदार बनाया और स्वय उत्तर की ओर आ गया। परन्तु वह यह नही चाहता था कि वह निरर्थक सम्राट और सैयद बन्धुओ के षड्यन्त्रो का सहयोगी बने। उसने दिल्ली में रहना इसी कारण से पसन्द नही किया। अन्त मे जब सम्राट समझ गया कि वह केन्द्रीय हलचल मे सहायक होना नही चाहता तो उसका उपयोग जाटो के विरुद्ध किया जाय। इस कार्य के लिए वह उपयुक्त व्यक्ति था। ज्योही उसको चूडामन जाट के विरुद्ध प्रयाण का आदेश मिला उसने अपनी व केन्द्रीय शक्ति की सहायता से जाट नेता का जगह-जगह पीछा किया। थून के किले को कई दिनो तक घेरे रखा और चूडामन को सन्धि के लिए विवश किया। जब मोहम्मदशाह मुगल सम्राट बना तो १७२२ ई० मे फिर जाटो को दबाने का काम जयसिंह को मिला। चूडामन के मर जाने पर उसके लडके मोकम और रूमा मुगल शक्ति का विरोध करते रहे। परन्तु जयसिंह ने चूडामन के भतीजे बदनसिंह को अपनी ओर मिला लिया। उसकी सहायता से जाट फिर खदेडे गये और अन्त मे मोकम जोधपुर चला गया। इस विजय से प्रसन्न होकर मोहम्मदशाह ने जयसिंह को 'राजराजेश्वर, श्री राजाधिराज महाराज सवाई' की उपाधि प्रदान कर सम्मानित किया। बदनसिंह को, जिसने सवाई जयसिंह की जाटो को दबाने मे सहायता की थी, जाटो का नेता स्वीकार किया और उसे राजा की पदवी दी गयी। वह सवाई जयसिंह का इतना आभार अनुभव करता था कि जीवनपर्यन्त वह अपने को जयपुर का ठाकुर मानता

रहा। जाटो के दमन के पश्चात सवाई जयसिंह फिर आमेर मे रहने लगा जिससे वह मुगलो के केन्द्रीय षड्यन्त्रो से अपने आपको दूर रख सके।[७५]

जयसिंह की दूसरी और तीसरी मालवा की सूबेदारी—जब से जयसिंह जाटो के दमन मे लगा रहा या आमेर मे अपने राज्य की व्यवस्था करता रहा मालवा की हालत बिगडती चली गयी। उसकी प्रथम सूबेदारी के बाद अब तक लगभग १२ वर्ष हो चुके थे। इस अवधि मे मालवा मे मराठो का आतक बढ चुका था। १७२८ ई० की शिवगाँव की सन्धि से निजाम ने मराठो को बरार और खानदेश से उत्तर की ओर जाने की स्वीकृति दे दी थी। मराठो ने भी मालवा के दक्षिण मे अपनी छावनियाँ जमा दी थी जहाँ से वे मालवा मे घुसकर लूट-खसोट करते थे। छत्रसाल भी मुगलो का विरोधी हो चुका था जिससे मालवा और बुन्देलखण्ड खतरे के बिन्दु बन गये थे। इस स्थिति को सँभालने के लिए १७३० ई० मे मोहम्मदशाह ने सवाई जयसिंह की नियुक्ति दूसरी बार मालवा की सूबेदारी पर की। जयसिंह मालवा की विषम परिस्थिति से परिचित था। उसके विचार से मालवा मे मुगलो की प्रतिष्ठा बनाये रखने का एक साधन यह था कि राजा शाहू से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किये जायें और उसके पुत्र कुशालसिंह को मालवा के दक्षिण मे दस लाख वार्षिक आय की जागीर दी जाय। इस उपाय से, उसकी मान्यता थी कि शाहू मराठो को मालवा को लूटने से रोक सकेगा और उनका उत्तर की ओर प्रयाण अवरुद्ध हो जायगा। इस विचार के विरुद्ध कुछ दरबारियो की मान्यता थी कि इसी खर्चे मे मराठो के विरुद्ध सेना भेजी जा सकती थी। इन्होने सम्राट को जयसिंह के सुझाव को मानने से विमुख कर दिया। विवश होकर सात महीनो की सूबेदारी के बाद ही जयसिंह आमेर लौट गया। परन्तु जब सूबे की हालत और बिगडने लगी तो मोहम्मदशाह ने तीसरी बार १७३२ ई० मे उसे मालवा का सूबेदार बनाया। उसका मुकाबला करने के लिए मल्हारराव होल्कर, राणोजी सिन्धिया, आनन्दराव पँवार, विट्ठोजी बुले आदि मराठा सरदार एकत्रित हो गये। इस समय तक दक्षिणी मालवा पर मराठो का पूर्ण आधिपत्य हो गया था। वे उत्तर की ओर बढते चले जा रहे थे। इनको रोकने के लिए जयसिंह ने मन्दसौर मे इनकी सयुक्त शक्ति का मुकाबला किया। परन्तु इस बार उसकी पराजय हुई और उसे उन्हे छ लाख नकद और चौथ के एवज २८ परगने देने को राजी होना पडा।[७६]

जयसिंह का राजस्थान मे अपना नेतृत्व स्थापित करने का प्रयत्न—महाराजा जयसिंह ने जब मालवा मे अपनी शक्ति को निर्बल पाया और देखा कि वहाँ मराठे अधिक बल पकड रहे हैं तो उसने राजपूताना आदि के राजाओ को एकत्र कर उनकी सम्मिलित शक्ति से मराठो का मुकाबला करने की योजना बनायी। जयपुर राज्य को

---

[७५] मुन्तखब-उल-लुबाब, जि० २, पृ० ६८५

[७६] सेलेक्शन्स ऑफ पेशवा दफ्तर, जि० १४, पृ० २, जिल्द १५, पृ० ६, वीरविनोद भा० २, पृ० १२१८-१२२१

परिवर्द्धित करने के लिए उसकी अभिलाषा मालवा और रामपुरा को उससे मिलाने की थी। महाराजा अभयसिंह भी गुजरात को मारवाड से मिलाकर जोधपुर की सीमा बढाना चाहता था। महाराजा जगतसिंह (द्वितीय) भी अपने पडोस मे मराठो को शक्तिशाली देखना नही चाहता था। राजपूताने के अन्य शासक भी अपनी शक्ति को बढाने के उद्योग मे थे। मराठो की शक्ति को कम करने मे सभी शासक उत्सुक थे, क्योंकि बिना इससे न तो उनके राज्य की सीमाएँ बढ सकती थी और न वे सुरक्षित ही अनुभव करते थे। इस परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, कोटा, किशनगढ, नागौर, बीकानेर आदि के शासक हुर्डा (मेवाड) मे एकत्रित हुए। उन्होने १७ जुलाई, १७३९ को एक अहमदनामा लिखा जिसके अनुसार उन्होने एक-दूसरे को सहायता देने, दुख-सुख मे साथ रहने तथा एक-दूसरे के मान सम्मान रखने की शपथ खायी। उन्होने एक-दूसरे के शत्रु को शरण न देने को भी स्वीकार किया। इसके अनुसार वर्षाऋतु के बाद रामपुरा मे मिलकर किसी सैनिक-कार्य को आरम्भ करने का उन्होने निर्णय लिया।[७७]

उपर्युक्त सन्धि का जो परिणाम होना चाहिए था वह नही हुआ, क्योंकि राजस्थान के शासको के स्वार्थ भिन्न-भिन्न थे। कोई भी राजपूत राजा किसी अन्य राजपूत राजा को अपना सर्वोपरि मानने के लिए तैयार नही था। फिर भी इन शासको ने मुगल सम्राट से प्रार्थना की कि वह एक बडी सेना मराठो को दबाने के लिए भेजे जिसकी वे सहायता करेंगे। इस सहयोग के आश्वासन पर और पहले की पराजय का बदला लेने के अभिप्राय से मोहम्मदशाह ने मीरबख्शीखाँ दुर्रानी को बडी सेना देकर मराठो को मालवा से धकेल देने के लिए भेजा। जब यह सेना राजस्थान से होकर गुजरी तो महाराजा जयसिंह भी इसके साथ हो लिया। अन्य राजपूत शासको ने भी अपनी-अपनी सेना इनके साथ कर दी। इस प्रकार से मुगल सेना, जिसका समूह अब बहुत बडा हो गया था, मुकन्दरा घाटी से गुजरकर होल्कर के इलाके रामपुरा पहुँची। शीघ्र ही होल्कर और सिन्धिया की सेनाओ ने इस बडे समूह को इस तरह घेर लिया कि उसका इधर-उधर निकलना या रसद प्राप्त करना कठिन हो गया। मुगल सेना को वही घेरे हुए रखा गया और होल्कर ने बडी तीव्र गति से कोटा, बूँदी, जयपुर आदि राज्यो मे छापे मारे और साँभर के फौजदार को लूट लिया। विवश होकर जयसिंह और दुर्रानी ने होल्कर से २२ लाख रुपये देने का वायदा कर अपना पिण्ड छुडाया।[७८]

---

[७७] वंशभास्कर, भा० ४, पृ० ३२२७-२८, टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ४८२-८३, वीरविनोद, भा० २, पृ० १२१८-१२२१, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ६२८-३०

[७८] सेलेक्शन्स ऑफ पेशवा दफ्तर, जि० १४, पृ० २१, २५, २६, सैयद, भा० २, पृ० ८३, रुस्तम अली, इलियट, भा० ८, पृ० ५१

सवाई जयसिंह और बूंदी—जब जयसिंह ने देखा कि राजपूत नरेशो की संयुक्त शक्ति का उपयोग उसके प्रभाव को बढाने मे अधिक लाभप्रद सिद्ध नही हो रहा है तो उसने इन नरेशो के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। इस नीति से यह आशा की गयी कि जयपुर की सीमा का भी विस्तार होगा और ढूंढाड का नेतृत्व भी राजस्थान मे स्थापित हो जायगा। वैसे बूंदी का नरेश बुद्धसिंह जयसिंह के साथ कई मुगल अभियानो मे रह चुका था। अतएव उसका स्वाभवत उस पर अच्छा प्रभाव था। जब उसकी आयु ढलने लगी तो जयसिंह की सम्मति से बुद्धसिंह ने दलेलसिंह को, जो करवार के जागीरदार सालिमसिंह हाडा का पुत्र था, अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। इस नियुक्ति को मोहम्मदशाह से भी स्वीकृत करा लिया गया। परन्तु १७२९ ई० मे बुद्धसिंह के उम्मेदसिंह नामक एक लडका पैदा हो गया। इन्ही दिनो बुद्धसिंह और उसकी स्त्री अमर कुँवरी मे, जो सवाई जयसिंह की बहन थी, अनबन हो गयी। बुद्धसिंह यह चाहता था कि उम्मेदसिंह ही उसका उत्तराधिकारी हो। अपनी बहन अमर कुँवरी को सहायता देने के बहाने सवाई जयसिंह ने दलेलसिंह को बूंदी का शासक मानकर वह स्वय वहाँ का सर्वेसर्वा बन बैठा। जब उसकी बहन को अपने भाई की कुटिल चाल का भान हुआ तो उसने मल्हारराव होल्कर को अपना राखी बन्द भाई बनाया और उसे धन देने का लालच दिया। उसने और सिन्धिया ने बूंदी पर आक्रमण कर दिया जिसके फलस्वरूप दलेलसिंह बूंदी की गद्दी से हटाया गया और उसके पिता सालिमसिंह को गिरफ्तार कर लिया गया। बुद्धसिंह फिर बूंदी का शासक बनाया गया। परन्तु ज्योही मराठो की फौजें बूंदी से चली गयी त्योही जयपुर की सेना की सहायता से दलेलसिंह बूंदी की राजगद्दी पर बैठ गया। सालिमसिंह को भी २ लाख रुपया देकर मराठो से छुडवा लिया। बूंदी पर अपना प्रभाव स्थायी रखने के लिए जयसिंह ने अपनी लडकी का विवाह भी १७३० ई० मे दलेलसिंह के साथ कर दिया।[७९]

इसी प्रकार जब बीकानेर और जोधपुर के नरेशो मे सीमा सम्बन्धी बखेडा खडा हो गया तो सवाई जयसिंह ने जोधपुर के शासक अभयसिंह के विरुद्ध बीकानेर के शासक गजसिंह को सहायता की। मेवाड के राणा जगतसिंह द्वितीय ने भी सेना द्वारा गजसिंह को सहायता पहुँचायी। विवश होकर अभयसिंह को सन्धि करनी पडी जिसके फलस्वरूप अभयसिंह को बीकानेर से छीने गये सीमान्त भागो को लौटाना पडा। इसमे जयसिंह को मारवाड से २० लाख रुपया मिला और उसका राजनीतिक प्रभाव अभयसिंह ने स्वीकार किया। इस सन्धि से मराठो और मुगलो के साथ भी सम्बन्ध बनाने मे मारवाड को जयपुर की मध्यस्थता स्वीकार करनी पडी। इस सन्धि से लज्जित होकर अभयसिंह ने अपने भाई बख्तसिंह से मिलकर गगवाना मे १७४१ ई० मे जयपुर

---

७९ वंशभास्कर, पृ० ३१४७, ३२८५, ३५८२, सरकार, फाल ऑफ मुगल एम्पायर, भा० १, पृ० १३९

की सेना से मुठभेड की। इस अवसर पर पहले तो जयसिंह के सैकडो सैनिक मारे गये और उसे पीछे हटना पडा, परन्तु मुगल सहायता पहुँचने पर उसने वरतसिंह को युद्ध-स्थल से भागने के लिए विवश किया। वाद मे १७४१ ई० मे मारवाड और जयपुर के वीच मे सन्धि हो गयी। इस विजय से जयसिंह का प्रभाव मारवाड मे भी वढ गया।[८०]

जयसिंह द्वारा मराठों के प्रभाव की वढौती—सवाई जयसिंह के प्रभाव को मुगल दरवार मे वढने से रोका जाता था। मालवा सम्वन्धी जो भी सलाह जयसिंह देता था उसका दरवारी सामन्त विरोध करते थे। उसकी मान्यता थी कि वढते हुए मराठो के आतक को मालवा से तभी रोका जा सकता है जव उनसे मैत्री सम्वन्ध स्थापित कर लिये जायँ। मोहम्मदशाह ने इस प्रकार की सलाह की हमेशा अवहेलना की। जयसिंह भी इस स्थिति से ऊव गया। उसने सोचा कि ऐसे समय वाजीराव जैसे कूटनीतिज्ञ से सम्वन्ध वढाना जयपुर राज्य के हित मे है। उसने वाजीराव से वातचीत की और उसे आश्वासन दिया कि यदि वह दिल्ली आकर मुगलो से मैत्री सम्बन्ध वढा लेगा तो वह उसे मालवा की चौथ का भाग दिलवाने मे सहायता करेगा। उसने उसे दैनिक ५००० रुपये देने के वायदे से जयपुर भी वुलाया। ऐसा करने में उसका यह स्वार्थ था कि मुगल दरबार में एव राजस्थान मे उसका प्रभाव वढेगा। जव वाजीराव राजस्थान मे आया और उसकी भेंट जयसिंह से भामोला मे, जो अजमेर से ३० मील पूर्व की ओर है, हुई तो दोनो की वातचीत के दौरान यह तय हुआ कि उस समय तो पेशवा दक्षिण लौट जाय परन्तु पीछे मालवा की चौथ की व्यवस्था पेशवा के लिए करवा ली जायगी। परन्तु यह भेंट इतनी सुखद नही हुई क्योकि पेशवा ने आगे चलकर मालवा की नायबी पाकर भी सन्तोष नही किया। उसने दिल्ली के आसपास हमले किये और निजामुलमुल्क को भोपाल के निकट हराया और मालवा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने की सन्धि की। उसकी १७४० ई० मे मृत्यु के वाद उसके उत्तराधिकारी वालाजीराव ने भी जयसिंह से धौलपुर मे भेंट कर मुगलो से मालवा और गुजरात को हथिया लिया। वालाजीराव ने मुगल सम्राट से सन्धि द्वारा यह विश्वास दिलाया कि नर्वदा के पार कोई मराठा सैनिक आगे वढकर मुगल राज्य को हानि नही पहुँचायेंगे। उसने यह भी लिख दिया कि जो भी धन-राशि उसे दे दी गयी है उससे अधिक की माँग वह नही करेगा। ५०० मराठा घुडसवार सम्राट की सेवा मे इस सन्धि के द्वारा रहेंगे और आवश्यकता पडने पर ४००० मराठा सैनिको की सेवा उपलब्ध की जा सकेगी जो वैतनिक होगी। सम्राट ने भी फरमान द्वारा उक्त सन्धि को स्वीकृत कर लिया। वास्तव मे सवाई जयसिंह ने अपनी कूटनीति से मराठो को सन्तुष्ट कराया और मुगलो की प्रतिष्ठा को भी वचाये

---

[८०] जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० २, पृ० १४६-५२, दयालदास की ख्यात, जि० २, पृ० ६४-६७, १५४ आदि

रखा। दोनो दलो के लिए बीच-बचाव के कार्य मे भाग लेकर उसने अपने सम्मान और प्रभाव को भी परिवर्द्धित करने का प्रयत्न किया।

सवाई जयसिंह का राज्य-विस्तार और शासन—वैसे तो प्रारम्भ मे सवाई जयसिंह को मुगलो से आमेर लेने मे विरोध का सामना करना पडा था, परन्तु धीरे-धीरे उसने आमेर राज्य का विस्तार अपने शौर्य और कूटनीति से इतना कर दिया जो पहले नही होने पाया था। १७१४ ई० मे भानगढ, १७१६-१७१७ ई० मे मलरना और अमरसर और तदनन्तर झाले, उनियारा, वरवड और नरायणा ढूँढाड राज्य मे सम्मिलित कर लिये गये। कायमखानियो के शेखावाटी के ५१ परगने भी २५ लाख के इजारे मे लेकर उसने अपना राज्य विस्तारित कर लिया। उदयपुर से १७२९ ई० मे रामपुर का परगना माधोसिंह के नाम से उसे प्राप्त हुआ था।

इतने विस्तारित राज्य का प्रवन्ध भी सन्तोपजनक था। उसकी सेना लगभग ३०,००० के लगभग आँकी जा सकती है, क्योंकि आगरा, जयपुर, अजमेर तथा अन्य छोटे-मोटे गढो की सुरक्षा के लिए सैनिक एव घुडसवार की उचित व्यवस्था के उल्लेख मिलते हैं। केप्टिन जे० पिलेट ने तो ७५,००० घुडसवारो की सख्या उसके समय मे होना वताया है जो अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम होती है। उसके सैनिक वन्दूको का अत्यधिक उपयोग करने लग गये थे जैसा कि जमा-खर्च की वहियो से स्पष्ट है।[८१]

जयसिंह और विद्यानुराग—जयसिंह न केवल वीर और कूटनीतिज्ञ वरन् विद्वान तथा विद्वानो को आश्रय देने वाला शासक था। सस्कृत और फारसी का विद्वान होने के साथ वह गणित और ज्योतिष का भी असाधारण पण्डित था। उसने कई विद्वानो को देश-विदेश भेजकर गणित और ज्योतिष विषयो के सम्बन्धी ग्रन्थो तथा साधनो को सगृहीत करवाया जिससे वह इन विषयो के सही आँकडो, ग्रह, गणित तथा यन्त्रो को तैयार करवा सके। ई० स० १७२५ मे उसने नक्षत्रो की शुद्ध सारणी वनवायी और उसका नाम तत्कालीन सम्राट के नाम से 'जीज मुहम्मद शाही' रखा। उसने 'जयसिंह कारिका' नामक ज्योतिप ग्रन्थ की रचना की। उसने अपने आश्रित विद्वान जगन्नाथ से युक्लिड की रेखागणित का सस्कृत मे अनुवाद किया। इसी प्रकार उसने 'सिद्धान्त कौस्तुम' तथा 'सम्राट सिद्धान्त' नामक ग्रन्थो की रचना की। केवलराम ज्योतिपी ने लागोरिथम का फ्रेंच से सस्कृत मे अनुवाद किया जिसको "विभाग सारणी" कहा जाता है। इसी विपय के अन्य ग्रन्थो की रचना भी उसके समय मे हुई जिनमे "मिथ्या जीवछाया सारणी", "दुकपक्ष सारणी", "दुकपक्ष ग्रन्थ" "तारा सारणी", "जयविनोद सारणी" आदि मुख्य है। नयन मुखोपाध्याय द्वारा अरवी ग्रन्थ 'ऊकर' का सस्कृत में अनुवाद जयसिंह के काल मे हुआ था। पुण्डरीक

---

[८१] सेलेक्शन पेशवा दफ्तर, भा० १४, पृ० ५७, ५६, ५८, ६२, भा० १२, पृ० ३३१-३३, ३४१, भा० २१, पृ० २, वशभास्कर, पृ० ३२३८, वहार-गुल-जार, पत्र २७६-७८, सरकार, फाल ऑफ मुगल एम्पायर, भा० १, पृ० १४७-५५

रत्नाकर ने 'जयसिंह कल्पद्रुम' नामक पुस्तक को लिखकर उस समय के समाज और राजनीतिक घटना का अच्छा चित्रण किया है।

जयसिंह ने, जैसा हमने ऊपर पढा, गणित और ज्योतिष ग्रन्थो का सकलन, सग्रह तथा स्वतन्त्र लेखन करवाया। इस कार्य को बडे पैमाने पर सम्पादन करने का उसका मूल ध्येय यह भी था कि वह अपने अध्ययन और प्रयोग के द्वारा चन्द्र तथा नक्षत्रो की गति का सूक्ष्म से सूक्ष्म परिज्ञान करवा सके। उसकी मान्यता थी कि अब तक यूरोप अथवा एशियाई देशो मे बारीकी से इस विषय पर अध्ययन नही होने पाया था। इसी अभिलाषा से उसने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, बनारस और मथुरा मे बडी-बडी वेधशालाओ को बनवाया और बडे-बडे यन्त्रो को बनवाकर नक्षत्रादि की गति को सही तौर से जानने के साधन उपलब्ध किये। उसने राजा एमानुएल के दरबार मे पुर्तगाली पादरियो के साथ अपने आदमी को भेज, वहाँ से ग्रन्थो को मँगवाया। उसने पाया कि उनमे कुछ हद तक अशुद्ध गणना आती थी, क्योकि उनके पास सूक्ष्म परिज्ञान के उपकरणो की कमी थी। उसने यूनानी ग्रन्थो के अनुवाद से त्रिकोणमिति तथा लघुगणको के व्यवहार पर अध्ययन किया और अपने द्वारा निर्मित यन्त्रो मे लघुतम गणना के सिद्धान्तो को इस तरह स्थापित किया कि इन नव-निर्मित वेधशाला मे नक्षत्रादि की गति की जानकारी शुद्ध रूप मे जानी जा सकती थी। वास्तव मे मध्यकालीन युग में इस प्रकार के प्रयोग इतने सफलतापूर्वक किसी देश मे नही होने पाये थे जिनको जयसिंह ने अपने अध्ययन और परीक्षण से व्यवस्थित किया। इस दिशा मे उसका कार्य श्लाघनीय माना जाता है। यदि ऐसे परीक्षितशील व्यक्ति को अच्छा अवसर और उपयुक्त वातावरण मिलता तो वह भारतीय विज्ञान के अन्य पहलुओ को भी हमारे सामने ला सकता था। उसका समय एक दृष्टि से वैज्ञानिक परिज्ञान का महत्वपूर्ण समय था। यदि सामन्तवादी और राजनीतिक उथल-पुथल से उसका समय अवरुद्ध न होता तो सवाई जयसिंह की मेधा अधिक प्रस्फुटित होती। वह उस युग का, एक प्रकार से, वैज्ञानिक जिज्ञासा का परिष्कृत प्रतीक था जिसने न केवल अपने तौर से उस दिशा मे काम किया वरन् उन विषयो मे रुचि रखने एव जानने वालो का दल अपने आसपास बना लिया।

स्थापत्य—जिस प्रकार सवाई जयसिंह मे विद्या की उन्नति मे दिलचस्पी थी उसी प्रकार उसमे स्थापत्य के प्रति भी रुचि थी। उसने थोडे बहुत प्रासाद आमेर मे बनवाये। परन्तु जब उसने देखा कि आमेर मे भविष्य के विस्तार की सम्भावना नहीं है तो उसने १७२५ ई० मे जयनिवास के महल आमेर से दक्षिणी भाग के चौरस मैदान में बनवाये। इसी के आसपास १७२७ ई० से जयनगर की बस्ती को भी बसाना आरम्भ किया। इसके पूर्व उसने देश-विदेश से अनेक नगरो के नक्शे मँगवाकर नये नगर के बनाने का ढाँचा सोच लिया था। भाग्यवश उसे विद्याधर नामक बगाली ब्राह्मण की, जो भारतीय शिल्पशास्त्र का अच्छा ज्ञाता था, सेवाएँ उपलब्ध हो गयी। उसकी सहायता से उसने चौरस आकार की सीधी सडकें और गलियों वाली बस्ती बसाना

आरम्भ किया जो जयपुर के नाम से विख्यात है। नगर निर्माण शैली के विचार से यह नगर भारत तथा यूरोप मे अपने ढग का अनूठा है, जिसकी समकालीन और वर्तमान कालीन विदेशी यात्रियो ने मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। इस नगर का गुलावी रग आज भी जयपुर को 'गुलाबी नगर' के नाम से ख्याति दिला रहा है।

धार्मिक रुचि—जयसिंह मे हिन्दू शासको की भाँति धर्म तथा सस्कृति के प्रति भी अच्छी श्रद्धा थी। उसने बादशाह से जजिया कर हिन्दुओ पर से उठवाकर हिन्दू समाज की वडी सेवा की थी। धर्मरक्षक होने के नाते उसने वाजपेय, राजसूय पुरुष मेघ आदि यज्ञो के आयोजन किये। वह अन्तिम हिन्दू नरेश था जिसने भारतीय परम्परा के अनुकूल अश्वमेघ यज्ञ किया। इस यज्ञ का घोडा जयपुर नगर मे छोडा गया जिसको सुवर्ण पट्टिका बाँधकर चारो ओर घुमाया गया। बताया जाता है कि कुभाणी राजपूतो ने इस घोडे को रोककर अपने वश-गौरव का परिचय दिया। प्रचलित प्रथा के अनुसार जयपुर सेना ने उनसे युद्ध कर घोडे को छुडाया। इस यज्ञ मे हवन सामग्री मे एक लाख एव दान-दक्षिणा मे दो लाख के लगभग रुपये खर्च हुए थे। इस अवसर पर ब्राह्मणो को भी दान-दक्षिणा तथा भूमि-दान से सन्तुष्ट किया गया था। यज्ञ की चिर-स्मृति के लिए एक पहाडी पर यूप स्तम्भ की भी प्रतिष्ठा करवायी गयी। सम्पूर्ण यज्ञ की प्रधानता पुण्डरीक रत्नाकर ने की थी।

समाज सुधारक—जयसिंह उस समय की प्रचलित कुप्रथाओ से भी परिचित था। अपने व्यस्त कार्यक्रम मे लगे रहने के उपरान्त उसने अपने राज्य मे समाज सुधार तथा समाज कल्याण के कार्यो की ओर भी ध्यान दिया। यज्ञो के अवसरो पर उसने सभी ब्राह्मणो को एक साथ भोजन करने के लिए राजी कर लिया, जिससे कम से कम ब्राह्मणो मे भेदभाव की कमी हो सके। ऐसे ब्राह्मण जो साथ बैठकर भोजन करने को उद्यत हो गये उनको 'छ न्यात' कहा जाने लगा। मथुरा के आसपास कुछ साधुओ को गृहस्थी के रूप मे बसाकर उनमे व्यभिचार के दोष का निवारण किया। उसने विवाह के अवसर पर अधिक खर्च करने और विशेष रूप से राजपूतो मे विवाह के समय अप-व्यय करने की प्रथा पर रोक लगवायी। जन-हित कल्याणकारी सस्थाओ को बनाकर जिनमे कुएँ, धर्मशालाएँ, अनाथालय, सदाव्रत आदि मुख्य थे, उसने समाज के हित की रक्षा की। जयपुर नगर मे पानी की प्रचुरता के लिए हरमाडे मे नहर की व्यवस्था की। एक अर्थ मे सवाई जयसिंह उन सुधारो का अग्रणीय कहा जा सकता है जिनकी अपेक्षा वर्तमान युग मे की जाती है। वैसे तो इनमे से कई समाज सुधार के अग जमाने के पिछडे होने से पूरी तौर मे पल्लवित नही हो सके, परन्तु इनके प्रचलन मे जयसिंह की विशुद्ध सुधारवादी भावना की आत्मा छिपी है जो उसके व्यक्तित्व को ऊपर उठाती है।

जयसिंह और उसके अन्तिम दिन—खेद है कि ऐसा नरेश जो अपने शौर्य, वल और कूटनीति के कारण अपने समय का ख्याति-प्राप्त हो गया था, युग के प्रचलित दोषो मे ऊपर न उठ सका। ज्यो-ज्यो उसकी अवस्था वढने लगी उसमे शराब पीने

और विलासिता की पिपासा भी तीव्र होने लगी। अपनी इस पाशविक लालसा की तृप्ति के लिए वह उत्तेजक औषधियो का प्रयोग करने लगा जिसके फलस्वरूप रक्त-विकार के रोग से ग्रस्त हो गया और अन्त मे १ सितम्बर, १७४३ मे उसकी मृत्यु हो गयी। इतना वरिष्ठ कूटनीतिज्ञ होते हुए भी उसने जीवन मे भूलें भी की। सर्वप्रथम उदयपुर की राजकुमारी से विवाह करने के अवसर पर महाराणा को वचन दिया कि उससे पैदा होने वाला पुत्र उसके राज्य का स्वामी होगा। इधर १७२२ ई० मे खीची राणी सूरज कुंवर से ईश्वरीसिंह उत्पन्न हो चुका था। जब १७२७ ई० मे उदयपुरी रानी से माधोसिंह का जन्म हो गया तो राज्य मे भावी गृह-युद्ध की आशका स्पष्ट हो गयी। इस आशका का निवारण वह नही कर सका। दूसरी बहुत बडी भूल उसने राजस्थान मे मराठो के प्रदेश सम्बन्धी की। बूंदी के झगडे मे हस्तक्षेप कर जयसिंह ने मराठो का आह्वान किया। मुगल सम्राट पर भी अपना प्रभाव बनाये रखने के लिए पेशवा को जयपुर मे निमन्त्रित किया। इस अवसर पर पेशवा के आचरण ने जयसिंह की आँखे खोल दी। पेशवा ने राजस्थान मे अपना नेतृत्व स्थापित होने का आभास प्रकट किया जो आगे चलकर उसके राज्य और समूचे राजस्थान के लिए हानिकारक बना। परन्तु मराठो के सम्बन्ध मे हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि जयसिंह यह जानता था कि पतनोन्मुख मुगल शक्ति हर प्रकार से मराठो के प्रभाव को नही रोक सकती तो फिर पेशवा से मेल-जोल बढाकर ही जयसिंह अपनी स्थिति का सन्तुलन रख सकता था। इसी प्रकार मुगल दरबार मे उसके विरोधी दल को दबाये रखने के लिए मराठो के साथ उसका गठबन्धन एक महत्त्व रखता था। इन न्यून पक्षो की तुलना मे सवाई जयसिंह की विद्या, धर्म और सास्कृतिक सम्बन्धी देन का एक स्वतन्त्र स्थान है। यह तो उसकी नि सन्देह ओजस्वी प्रतिभा है जिसने जयपुर राज्य का नेतृत्व राजस्थान मे स्थापित किया और यह प्रयत्न किया कि राजपूतो की शक्ति उत्तरी भारत मे एक सत्ता के रूप मे बने। वह सम्पूर्ण राजस्थान को मराठा या मुगल शक्ति के विरुद्ध एक सयुक्त-शक्ति के रूप मे नही बना सका परन्तु वह अपनी सूझबूझ से अपने पडोसी नरेशो पर, जिनमे बूंदी और अलवर प्रमुख थे, राजनीतिक प्रभाव स्थापित कर सका। मारवाड को परास्त कर, बीकानेर को सहायता देकर और मेवाड से सम्बन्ध स्थापित कर उसने अपनी शक्ति अवश्य बलवती बना ली थी। हो सकता है कि यह शक्ति अधिक समय न बनी रह सकी। इसका दोष जयसिंह को नही दिया जा सकता। उस समय का सामाजिक ढांचा ही ऐसा था जो किसी शक्ति को चिरकाल तक टिकाऊ नही बना सकता था। इसके गुणो की प्रशसा सरकार[८२] ने भी की है जो सभी क्षेत्रो मे माननीय थे और जो उसके दोषो को अगण्य बना देते हैं।

---

[८२] "His greatness sprang from the extra-ordinary intellectual keenness and versality, political wisdom, taste for culture, and ideas of refrom far in advance of his society"—Sarkar, *Fall of the Mughal Empire*, Vol I, p 134

अध्याय २०

बीकानेर के शासक और मुगल साम्राज्य की सेवाएँ (१५४१-१७८७ ई०)

आपसी फूट और अफगानी सहायता—ऊपर हमने पढा कि राव जैतसी ने (१५२६-१५४२ ई०) कामरान की बीकानेर पर चढाई होने के समय अद्‍भुत युद्ध-चातुर्य का परिचय दिया था। उसने मुगल सेना को बुरी तरह हराकर अपने पूर्वजो की उपार्जित कीर्ति को उज्जवल बनाया। इसी प्रकार हमने देखा कि जोधपुर के शासक मालदेव ने अपने पैतृक राज्य को परिवर्द्धित कर राजस्थान मे अपना नेतृत्व स्थापित किया। यदि जैतसी और मालदेव अपनी सयुक्त-शक्ति का प्रयोग उस समय के उदीयमान शेरशाह की शक्ति के ह्रास के लिए करते तो भारतवर्ष का इतिहास कुछ दूसरा होता। परन्तु अभाग्यवश इन दोनो राठौड शक्तियो मे आपसी फूट थी। मालदेव की महत्त्वाकाक्षाएँ अपने वश की दूसरी राठौड शक्ति को पल्लवित होते नही देख सकती थी। उसने नागौर, सिवाणा आदि स्थानो पर अधिकार करने के अनन्तर १५४१ ई० मे बीकानेर पर अधिकार करने के लिए कूँपा महराजोत एव पचायण करमसिंघोत की अध्यक्षता मे एक बडी सेना भेजी। जैतसी, जिसने हाल ही मे मुगल सेना से टक्कर ली थी, इस स्थिति मे नही था कि जोधपुर राज्य का विरोध करे। नितान्त उसने अपने मन्त्री नगराज को शेरशाह से सहायता प्राप्त करने के लिए भेजा। शत्रुओ मे अपने परिवार को सुरक्षित रखने के लिए उसे सिरसा भेज दिया और स्वय अपने राज्य की रक्षा मे लग गया। बताया जाता है कि जब मालदेव भी बीकानेर पर चढ आया तो उसने साँखला महेशदास और रूपावत भोजराज को गढ तथा नगर की रक्षा के लिए नियुक्त किया और वह ससैन्य गाव साहेवा मे मालदेव का मुकाबला करने को आ डटा। दोनो सेनाओ मे युद्ध हुआ जिसमे राव जैतसी अपने साथियो के साथ काम आया। नगर को विजय कर विजयी सेनाएँ आगे बढी। तीन दिन तक गढ के भीतर रहकर भोजराज ने शत्रुओ का मुकाबला किया, परन्तु चौथे दिन वह वीरतापूर्वक लडकर काम आया। मालदेव ने गढ, नगर और जागल देश पर अपना अधिकार स्थापित किया और कूँपा तथा पचायण को वहाँ का प्रबन्धक बनाकर जोधपुर लौट गया।[1]

---

[1] कर्मचन्द वशोत्कीर्तनककाव्यम्, श्लो० २०५-१८, दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र १५-१६, वीरविनोद, भा० २, पृ० ४८३, मुशी देवीप्रसाद, राव जैतसी का जीवन-चरित्र, पृ० ८०, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १२०-३५

जैतसी का पुत्र कल्याणमल सिरसा मे रहते हुए अपने पैतृक राज्य को प्राप्त करने का उद्योग करता रहा। उसके सामन्त रावत किशनसिंह ने बीकानेर में मालदेव द्वारा स्थापित थानो को लूटना आरम्भ किया जिससे जोधपुर की फौजें वहाँ स्थिरता से नही रहने पायी। इधर ज्योंही शेरशाह मालदेव पर आक्रमण की तैयारी मे लगा हुआ था कि मन्त्री नगराज[२] शेरशाह की सेवा मे उपस्थित हुआ और उसने उससे अपने स्वामी की सहायता के लिए चलने की प्रार्थना की। जब १५४४ ई० मे उसने मालदेव के विरुद्ध प्रस्थान किया तो कल्याणमल भी उसकी सेना के साथ मिल गया। मन्त्री नगराज ने शेरशाह से ही कल्याणमल को टीका दिलवाकर बीकानेर भिजवा दिया जिसको (बीकानेर) मालदेव की फौजें छोडकर चली गयी थी और जिस पर रावत किशनसिंह ने अधिकार कर कल्याणमल की दुहाई फेर दी थी। फिर किसी समय शेरशाह से विदा लेकर नगराज अपने देश लौट रहा था कि मार्ग मे अजमेर मे उसका देहान्त हो गया।[3]

कल्याणमल और

बीकानेर प्राप्त करने पर कल्याणमल ने अपनी शक्ति का सगठन करना आरम्भ किया। भटनेर का किला जो चायलो के अधिकार मे था, कल्याणमल के भाई ठाकुरसी के अधिकार मे आ जाने से बीकानेर की शक्ति का साधन बढ गया था। कल्याणमल ने हाजीखाँ पठान और मेडते के वीरमदेव के पुत्र जयमल को सहायता पहुँचाकर राजस्थान में अपने राजनीतिक प्रभाव को बढा लिया था। उसने धीरे-धीरे मालदेव से सघर्ष लेने की क्षमता पैदा कर ली। परन्तु ज्योंही अकबर ने मुगल राज्य की बागडोर अपने हाथ मे ली तो परिस्थिति बदलने लगी। अकबर सम्भवत यह अनुभव करने लगा कि कल्याणमल की शक्ति मुगल प्रभाव को बढाने मे बाधक हो सकती है। उसका प्रतिकार करना आवश्यक समझ उसने भटनेर के किले को लेने के लिए हिसार के सूबेदार निजामुलमुल्क को भेज दिया। ठाकुरसी ने आक्रमणकारियो का मुकाबला किया और वह वीरतापूर्वक लडता हुआ मारा गया। फलत निजामुलमुल्क का किले पर अधिकार हो गया और वहाँ मुगल थाने की स्थापना कर दी गयी। फिर कुछ समय के बाद बादशाह ने भटनेर के किले को ठाकुरसी के पुत्र बाघा को, जो मुगल

---

२ डा० कानूनगो (शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स, पृ० ३६०) ने भीम का शेरशाह के दरबार में जाना लिखा है जो ठीक नही है क्योकि जयसोम ने कर्मचन्द्र वशोत्कीर्तनककाव्यम्, श्लो० २१३-२१६, मे नगराज का शेरशाह के दरबार मे जाना लिखा है और भीम (मन्त्री) का जैतसी के साथ मारा जाना बताया है। (वही, श्लो० २०५-२१८)

३ कर्मचन्द्र वशोत्कीर्तनककाव्यम्, श्लो० २१३-२२५, दयालदास री ख्यात, जि० २, पत्र १६, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ७०-७१, कानूनगो, शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स, पृ० ३५६, ३६०, ३६१

दरबार मे रहता था, सुपुर्द कर दिया। कल्याणमल अब समझ गया कि अकबर धीरे-धीरे अपना प्रभाव बीकानेर मे बढाना चाहता है। भटनेर जैसे किले पर मुगल आश्रित सरदार का अधिकार होना कल्याणमल के हित मे नही था। वह जानता था कि उसकी शक्ति अकबर का मुकाबला करने मे अपर्याप्त थी। जब १५७० ई० मे अकबर नागौर आया और वहाँ कई राजपूत राजा उसकी सेवा मे उपस्थित हुए तो कल्याणमल भी अपने पुत्र रायसिंह के साथ उसकी सेवा मे उपस्थित हो गया। तभी से मुगल सम्राट और बीकानेर राज्य का मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसका छोटा पुत्र पृथ्वीराज, जो बडा वीर, विष्णु का परमभक्त और उच्चकोटि का कवि था, अकबर के दरबारियो मे सम्मानित राजकुमार था। मुहिणोत नैणसी की ख्यात से पाया जाता है कि बादशाह ने उसे गागरौन का किला जागीर मे दिया था। वह मिर्जा हकीम के साथ १५८१ ई० की काकुब की और १५९६ ई० की अहमदनगर की लडाई मे शाही सेना मे सम्मिलित था।[४]

मुगल-मैत्री के सम्बन्ध मे प्रकाश डालते हुए डा० ओझा ने राव कल्याणमल की दूरदर्शिता की प्रशसा की है। वह[५] लिखते है कि "जिन मुसलमानो की सहायता से वह अपना गया हुआ राज्य पीछे पा सका था, उनकी शक्ति को वह खूब अच्छी तरह से समझ गया था। वह समय मुगलो के उत्कर्ष का था, जिनका प्रबल प्रवाह बरसाती नदी के समान अपने आगे सबको बहाता हुआ बहुधा भारत मे बडे वेग से फैल रहा था। बडे-बडे राज्य तक उनकी अधीनता स्वीकार करते जा रहे थे और जिन्होने ऐसा नही किया था वे भी उनकी बढती हुई शक्ति से भय खाते थे। राजपूताने के विभिन्न राज्यो की दशा भी बडी कमजोर हो रही थी। परस्पर ऐक्य का सर्वथा अभाव था। ऐसी परिस्थिति मे दूरदर्शी कल्याणमल ने मुगलो की बढती हुई शक्ति से मेल कर लेने मे ही भलाई समझी और बादशाह अकबर के नागौर मे रहते समय वह अपने पुत्र रायसिंह के साथ उसकी सेवा मे उपस्थित हो गया। वास्तव मे राव कल्याणमल का यह कार्य बहुत बुद्धिमानी का हुआ, जिससे अकबर और जहाँगीर के समय शाही दरबार मे जयपुर के बाद बीकानेर का ही बडा सम्मान रहा।" परिस्थिति के अध्ययन के आधार पर डा० ओझा का लिखना ठीक प्रतीत होता है कि राव कल्याणमल ने अकबर से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया। जब उसने देखा कि १५६७ ई० मे चित्तौड जैसे सुदृढ दुर्ग का पतन हो चला है और चित्तौड तथा उसके आसपास के भाग मुगल सरकार के भाग बनाये जा चुके हैं तो बीकानेर पर अधिकार करना अकबर के लिए कठिन न होगा।

४ अकबरनामा, जि० २, पृ० १५६, ११६-१९, आइने अकबरी, जि० १, पृ० ३१६, मुन्तखब-उत-तवारीख, जि० २, पृ० १३७, तबकात-ए-अकबरी, इलियट, जि० ५, पृ० २६५, अकबरनामा, जि० ३, पृ० ७१८, दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र २२-२३

५ ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६१-६२

उसने यह भी भलीभाँति देख लिया कि मारवाड के राठौडो मे फूट थी और चन्द्रसेन को जोधपुर से हटने के लिए विवश किया गया था। ऐसी स्थिति मे जोधपुर के पडोसी राज्य बीकानेर का स्वतन्त्र बने रहना कठिन था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि भटिण्डा के बीकानेर के अधिकार से निकल जाने से राव कल्याणमल की सैनिक स्थिति निर्बल हो चली थी और उसकी भी मनोवृत्ति आश्रित रहने मे राज्य का हित समझती थी। इसीलिए पहले उसने पठानो का और तदनन्तर मुगलो का आश्रय ढूंढना अपने तथा अपने राज्य के लिए श्रेयस्कर समझा।

महाराजा रायसिह (१५७४-१६१२ ई०) और अकबर

अपने पिता के साथ, जैसा कि ऊपर बताया गया है, कुँवर रायसिह नागौर के शाही मुकाम के अवसर पर बादशाह की सेवा मे उपस्थित हो गया था। उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हो अकबर ने उसकी नियुक्ति जोधपुर की देखरेख के लिए कर दी। ऐसा करने का कारण यही हो सकता है कि उन दिनो गुजरात मे बडी अव्यवस्था फैल रही थी। उधर मेवाड मे प्रताप का आतक बढ रहा था। सिरोही के देवडे उपद्रव कर रहे थे। मालवा मे मिर्जा-बन्धुओ ने उपद्रव का झण्डा उठा रखा था। ऐसी स्थिति मे अकबर ने रायसिह पर जोधपुर राज्य पर अधिकार रखने का उत्तर-दायित्व दिया। राठौड होने के नाते और जोधपुर के प्रति वैमनस्य रखने के कारण रायसिह की इस प्रकार की नियुक्ति उचित थी। यह कार्य अकबर की भेद नीति का परिष्कृत रूप था। बादशाह द्वारा रायसिह को १५७२ ई० मे जोधपुर दिये जाने का उल्लेख फारसी तवारीखो मे मिलता है, परन्तु वहाँ रायसिह का अधिकार कब तक रहा, इसकी स्पष्टता फारसी तवारीखो से नही होती। अलबत्ता दयालदास की ख्यात से मालूम होता है कि उसका वहाँ तीन वर्ष तक अधिकार रहा हो। इस अवधि मे उसने ब्राह्मणो, चारणो, भाटो आदि को बहुत-से गाँव दान मे दिये थे। ख्यातो मे दिये गये सवतो से यह तो नही कहा जा सकता है कि उनमे दिया हुआ जोधपुर के अधिकार का समय ठीक है, परन्तु कुछ १५८८ ई० के दानपत्रो से यह अवश्य अनुमानित होता है कि नागौर और उसके आसपास तो रायसिह का अधिकार बहुत वर्षो तक रहा था। इस पद पर उसकी नियुक्ति कुँवर की हैसियत से हुई और राजा बनने पर भी इस पद का वह उपभोग करता रहा।[६]

रायसिह द्वारा मिर्जा बन्धुओं का पीछा करना—रायसिह जब जोधपुर की व्यवस्था का भार सँभाले हुआ था तो विद्रोही इब्राहीम मिर्जा मुगल सेना के आतक से बचने के लिए नागौर आ पहुँचा। रायसिह ने ऐसे अवसर पर मुगल सेना की सहायता की और कठौली नामक गाँव मे उसको घेर लिया। जब वह यहाँ से भी

---

६ अकबरनामा, जि० २, पृ० ३०५, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ८५-८८, दयालदास की ख्यात, जि० १, पत्र ३०

दरवार मे रहता था, सुपुर्द कर दिया। कल्याणमल अव समझ गया कि अकवर धीरे-धीरे अपना प्रभाव वीकानेर मे वढाना चाहता है। भटनेर जैसे किले पर मुगल आश्रित सरदार का अधिकार होना कल्याणमल के हित मे नही था। वह जानता था कि उसकी शक्ति अकवर का मुकावला करने मे अपर्याप्त थी। जब १५७० ई० मे अकवर नागौर आया और वहाँ कई राजपूत राजा उसकी सेवा मे उपस्थित हुए तो कल्याणमल भी अपने पुत्र रायसिंह के साथ उसकी सेवा मे उपस्थित हो गया। तभी से मुगल सम्राट और वीकानेर राज्य का मैत्री-सम्वन्ध स्थापित हो गया। इसका छोटा पुत्र पृथ्वीराज, जो वडा वीर, विष्णु का परमभक्त और उच्चकोटि का कवि था, अकवर के दरवारियो मे सम्मानित राजकुमार था। मुहिणोत नैणसी की ख्यात से पाया जाता है कि वादशाह ने उसे गागरौन का किला जागीर मे दिया था। वह मिर्जा हकीम के साथ १५८१ ई० की काकुव की और १५९६ ई० की अहमदनगर की लडाई मे शाही सेना मे सम्मिलित था।[४]

मुगल-मैत्री के सम्वन्ध मे प्रकाश डालते हुए डा० ओझा ने राव कल्याणमल की दूरदर्शिता की प्रशसा की है। वह[५] लिखते है कि "जिन मुसलमानो की सहायता से वह अपना गया हुआ राज्य पीछे पा सका था, उनकी शक्ति को वह खूव अच्छी तरह से समझ गया था। वह समय मुगलो के उत्कर्ष का था, जिनका प्रवल प्रवाह वरसाती नदी के समान अपने आगे सवको वहाता हुआ वहुधा भारत मे वडे वेग से फैल रहा था। वडे-वडे राज्य तक उनकी अधीनता स्वीकार करते जा रहे थे और जिन्होंने ऐसा नही किया था वे भी उनकी वढती हुई शक्ति से भय खाते थे। राजपूताने के विभिन्न राज्यों की दशा भी वडी कमजोर हो रही थी। परस्पर ऐक्य का सर्वथा अभाव था। ऐसी परिस्थिति मे दूरदर्शी कल्याणमल ने मुगलो की वढती हुई शक्ति से मेल कर लेने मे ही भलाई समझी और वादशाह अकवर के नागौर मे रहते समय वह अपने पुत्र रायसिंह के साथ उसकी सेवा मे उपस्थित हो गया। वास्तव मे राव कल्याणमल का यह कार्य वहुत वुद्धिमानी का हुआ, जिससे अकवर और जहाँगीर के समय शाही दरवार मे जयपुर के वाद वीकानेर का ही वडा सम्मान रहा।" परिस्थिति के अध्ययन के आधार पर डा० ओझा का लिखना ठीक प्रतीत होता है कि राव कल्याणमल ने अकवर से मैत्री सम्वन्ध स्थापित कर लिया। जव उसने देखा कि १५६७ ई० मे चित्तौड जैसे सुदृढ दुर्ग का पतन हो चला है और चित्तौड तथा उसके आसपास के भाग मुगल सरकार के भाग वनाये जा चुके हैं तो वीकानेर पर अधिकार करना अकवर के लिए कठिन न होगा।

४ अकवरनामा, जि० २, पृ० १५६, ११६-१६, आइने अकवरी, जि० १, पृ० ३१६, मुन्तखव-उत-तवारीख, जि० २, पृ० १३७, तवकात-ए-अकवरी, इलियट, जि० ५, पृ० २६५, अकवरनामा, जि० ३, पृ० ५१८, दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र २२-२३

५ ओझा, वीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १६१-६२

उसने यह भी भलीभाँति देख लिया कि मारवाड के राठौडो मे फूट थी और चन्द्रसेन को जोधपुर से हटने के लिए विवश किया गया था। ऐसी स्थिति मे जोधपुर के पडोसी राज्य बीकानेर का स्वतन्त्र बने रहना कठिन था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि भटिण्डा के बीकानेर के अधिकार से निकल जाने से राव कल्याणमल की सैनिक स्थिति निर्बल हो चली थी और उसकी भी मनोवृत्ति आश्रित रहने मे राज्य का हित समझती थी। इसीलिए पहले उसने पठानो का और तदनन्तर मुगलो का आश्रय ढूंढना अपने तथा अपने राज्य के लिए श्रेयस्कर समझा।

महाराजा रायसिंह (१५७४-१६१२ ई०) और अकबर

अपने पिता के साथ, जैसा कि ऊपर बताया गया है, कुँवर रायसिंह नागौर के शाही मुकाम के अवसर पर बादशाह की सेवा मे उपस्थित हो गया था। उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हो अकबर ने उसकी नियुक्ति जोधपुर की देखरेख के लिए कर दी। ऐसा करने का कारण यही हो सकता है कि उन दिनो गुजरात मे बडी अव्यवस्था फैल रही थी। उधर मेवाड मे प्रताप का आतक बढ रहा था। सिरोही के देवडे उपद्रव कर रहे थे। मालवा मे मिर्जा-बन्धुओ ने उपद्रव का झण्डा उठा रखा था। ऐसी स्थिति मे अकबर ने रायसिंह पर जोधपुर राज्य पर अधिकार रखने का उत्तर-दायित्व दिया। राठौड होने के नाते और जोधपुर के प्रति वैमनस्य रखने के कारण रायसिंह की इस प्रकार की नियुक्ति उचित थी। यह कार्य अकबर की भेद नीति का परिष्कृत रूप था। बादशाह द्वारा रायसिंह को १५७२ ई० मे जोधपुर दिये जाने का उल्लेख फारसी तवारीखो मे मिलता है, परन्तु वहाँ रायसिंह का अधिकार कब तक रहा, इसकी स्पष्टता फारसी तवारीखो से नही होती। अलबत्ता दयालदास की ख्यात से मालूम होता है कि उसका वहाँ तीन वर्ष तक अधिकार रहा हो। इस अवधि मे उसने ब्राह्मणो, चारणो, भाटो आदि को बहुत-से गाँव दान मे दिये थे। ख्यातो मे दिये गये सवतो से यह तो नही कहा जा सकता है कि उनमे दिया हुआ जोधपुर के अधिकार का समय ठीक है, परन्तु कुछ १५८८ ई० के दानपत्रो से यह अवश्य अनुमानित होता है कि नागौर और उसके आसपास तो रायसिंह का अधिकार बहुत वर्षो तक रहा था। इस पद पर उसकी नियुक्ति कुँवर की हैसियत से हुई और राजा बनने पर भी इस पद का वह उपभोग करता रहा।[६]

रायसिंह द्वारा मिर्जा बन्धुओ का पीछा करना—रायसिंह जब जोधपुर की व्यवस्था का भार सँभाले हुआ था तो विद्रोही इब्राहीम मिर्जा मुगल सेना के आतक से बचने के लिए नागौर आ पहुँचा। रायसिंह ने ऐसे अवसर पर मुगल सेना की सहायता की और कठौली नामक गाँव मे उसको घेर लिया। जब वह यहाँ से भी

---

६ अकबरनामा, जि० ३, पृ० ३०५, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ८५-८८, दयालदास की ख्यात, जि० १, पत्र ३०

भाग निकला तो रायसिंह ने उसका पीछा किया जिसके फलस्वरूप उसे १५७३ ई० मे पजाव की तरफ चला जाना पडा। इसी वर्ष जव वादशाह मुहम्मद हुसैन मिर्जा के उपद्रव को दवाने के लिए गुजरात आया तो रायसिंह भी उसकी सेना मे सम्मिलित हो गया। मुहम्मद हुसैन मिर्जा ने मुगल फौज के साथ युद्ध किया पर वह वन्दी वना लिया गया। रायसिंह ने उसे पराजित करने मे वडी वीरता दिखायी थी तो सम्राट ने वन्दी को उसके सुपुर्द कर दिया और अन्त मे रायसिंह और भगवानदास की अनुमति से मिर्जा को कत्ल करवा दिया गया।[७]

रायसिंह का चन्द्रसेन तथा देवडा सुरताण के विरुद्ध भेजा जाना—राव चन्द्रसेन जो जोधपुर से हटाया गया था, दक्षिण मारवाड मे अपनी शक्ति का सगठन करने लगा। सम्राट ने १५७४ ई० मे चन्द्रसेन को दण्ड देने के लिए रायसिंह की कई अधिकारियो के साथ नियुक्ति की। रायसिंह ने सर्वप्रथम चन्द्रसेन के समर्थको को अपने-अपने स्थान से निकाला। कल्ला जो सोजत मे अपनी शक्ति सगठन कर रहा था, उसके विरुद्ध सेना भेजी गयी। उसे गोरम के पहाडो मे भागना पडा। इस प्रकार जव चन्द्रसेन के समर्थको की शक्ति कम कर दी गयी तो सिवाने के दुर्ग को घेरने का प्रयत्न किया गया। अन्त मे १५७५ ई० तक चन्द्रसेन के हाथ से यह सुदृढ दुर्ग भी निकल गया।[८]

इसी प्रकार जव देवडा सुरताण तथा जालौर का ताजखाँ प्रताप के साथ मिलकर उपद्रव कर रहे तो सम्राट ने रायसिंह तथा अन्य अधिकारियो को उनके विरुद्ध भेजा। शाही सेना के सामने ताजखाँ ने अधीनता स्वीकार कर ली। सुरताण भी शाही दरवार मे उपस्थित होने के लिए रायसिंह के पास उपस्थित हुआ और वादशाही सेवा मे चला गया। रायसिंह ने नाडोल मे अपने मुकाम कर लिये, जहाँ से उसने विद्रोहियो को दवाया और मेवाड राज्य के आने-जाने के मार्गों को रोक दिया। परन्तु जव सुरताण विना सम्राट की आज्ञा प्राप्त किये ही सिरोही लौट गया और उपद्रव मचाने लगा तो रायसिंह की नियुक्ति फिर उसको दवाने के लिए हुई। उसने सुरताण को चारो ओर से इस प्रकार घेरा कि वह १५७७ ई० मे फिर दरवार मे उपस्थित होने के लिए राजी हो गया। फिर भी देवडा सुरताण की समस्या न सुलझ सकी। देवडा सुरताण और वीजा देवडा मे, जो सिरोही के राजकाज के काम को सँभालता था, अनवन हो गयी। रायसिंह ने वीजा को निकाल दिया और इसके उपलक्ष मे आधा सिरोही मुगलो के लिए रख लिया। सम्राट ने मेवाड से अप्रसन्न होकर आये हुए जगमाल को, जो महाराणा प्रताप का विरोधी था, सिरोही का आधा

---

७ अकवरनामा, जि० ३, पृ० ५९-६२, ७३-८१-८२, ८५-८६, आइने अकवरी, जि० १, पृ० ४६३, मुन्तखव-उत-तवारीख, जि० २, पृ० १७२

८ अकवरनामा, जि० ३, पृ० ११३-१४, १५५, २३७-३८, उमरा-ए-हनूद, पृ० २१३, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० ९०

राज्य दे दिया। देवडा सुरताण इस प्रबन्ध से असन्तुष्ट था। उसने फिर मुगलो से टक्कर ली जिसमे १५८३ ई० मे जगमाल आदि दताणी के युद्ध मे खेत रहे और सुरताण ने पुन अपने पूरे पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया।[९]

रायसिंह की अन्य स्थानो मे नियुक्ति और मुगल राज्य की सेवाएँ—काबुल के उपद्रवो को दबाने के लिए मुगल सेनाएं कुंवर मानसिंह के नेतृत्व मे काम कर रही थी। उन सेनाओ को सहायता पहुँचाने के लिए १५८१ ई० मे एक जत्था काबुल भेजा गया जिसमे रायसिंह भी सम्मिलित था। इसी तरह बलोचिस्तान के कुछ सरदारो ने विद्रोह करना आरम्भ किया तो बादशाह ने उनका दमन करने के लिए इस्माइल कुलीखाँ को रायसिंह, अबुल-कासिम आदि के साथ भेजा। शाही सेना की सहायता से विद्रोहियो को मुगल सेवा मे उपस्थित करने मे रायसिंह सफल हुआ। जब खानखाना ने कन्धार के विद्रोह के दबाने के लिए बादशाह से सहायता माँगी तो १५९१ ई० मे रायसिंह को उसकी सहायता के लिए भेजा गया था। इसी तरह बुरहानुल्मुल्क के विरुद्ध दानियाल के १५९३ ई० के अभियान मे रायसिंह सम्मिलित था। उसे १६०१ ई० के नासिक की अराजकता समाप्त करने को भी भेजा गया था। मेवाड अभियान के लिए सलीम की नियुक्ति के अवसर पर रायसिंह को भी इसमे सम्मिलित किया गया था।[१०]

जब तक अकबर जीवित रहा रायसिंह की गणना एक अच्छे विजेता के रूप मे की जाती थी। इसकी सेवाओ से सन्तुष्ट होकर सम्राट ने उसके पद की वृद्धि की थी और जागीरें भी दी थी। १५९३ ई० मे उसे जूनागढ का प्रदेश और १६०४ ई० मे शमसाबाद तथा नूरपुर जागीर मे मिले थे।[११]

रायसिंह और जहाँगीर

वैसे तो रायसिंह अकबर का अच्छा कृपापात्र था परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसका जहाँगीर से भी अच्छा मेल था। जब अकबर मृत्यु-शैय्या पर था तो ऐसी सम्भावना थी कि मानसिंह और खान आजम खुसरो की सहायता करेंगे, क्योकि वह मानसिंह का भानजा और खान आजम का जामाता होता था। सलीम रायसिंह पर

---

[९] अकबरनामा, जि० ३, पृ० २६६-६७, २७८-७९, उमरा-ए-हनूद, पृ० २१३-१४, मुहणोत, नैणसी की ख्यात, जि० १, पृ० १३१-३३, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १७२-१७७

[१०] अकबरनामा, जि० ३, पृ० ४९३-९५, ५०८, ५१८, ५४२, ५४६, ७१६-३९, ९१९, ९२४, ९२५, ११७३, ११८४, तबकात-ए-अकबरी, इलियट, भा० ५, पृ० ४६२, उमरा-ए-हनूद, पृ० २१५, तकमील-ए-अकबरनामा, इलियट, जि० ६, पृ० ११०

[११] बदायूँनी, मुन्तखब-उत-तवारीख, जि० २, पृ० ४००, फरमान, ३१ मई, १६०४

भरोसा करता था। इसलिए अपने पक्ष को दृढ करने के लिए सलीम ने शीघ्र उसे आगरा आने को लिखा। अकबर के देहावसान के पश्चात सलीम जहाँगीर के नाम से आगरे में सिंहासनारूढ हुआ। पहले जुलूस के उत्सव के अवसर पर सम्राट ने उसका मनसब पाँच हजारी कर दिया। अपने राज्य के अन्तर्गत होने वाले कुछ षड्यन्त्रों तथा जहाँगीर के समय की अराजकता के कारण रायसिंह पर कुछ समय सम्राट अप्रसन्न भी रहा, परन्तु पीछे से उसकी नियुक्ति दक्षिण में कर दी गयी, जहाँ १६१२ ई० में बुरहानपुर में उसकी मृत्यु हो गयी।[१२]

महाराजा रायसिंह का व्यक्तित्व—महाराजा रायसिंह के जीवन की सबसे बडी घटना मुगल सेवाएँ थी। अपने पिता की विद्यमानता में ही उसको शाही सेवा में रहने का अवसर मिला था जिसको वह मृत्युपर्यन्त करता रहा। अपनी वीरोचित तथा स्वामि-भक्ति के गुणों के कारण वह अकबर एव जहाँगीर का विश्वास-पात्र बना रहा। जहाँ भी राजस्थान में मुगल-हित की रक्षा करनी होती थी रायसिंह की सेवाएँ उपलब्ध की जाती थीं। जोधपुर, सिरोही, मेवाड आदि राज्यों में मुगलों के हितों के सम्बन्ध में उसकी नियुक्तियाँ हुई थी जिनमें उसने सफलता भी प्राप्त की थी। राजस्थान के बाहर जैसे गुजरात, काबुल बलोचिस्तान, दक्षिण आदि भागों में युद्धों के अवसर पर उसने अपनी योग्यता का परिचय दिया था। इन विभिन्न स्थानों की सफल सेवाओं के उपलक्ष में रायसिंह का मनसब जहाँगीर ने पाँच हजारी तक कर दिया था जो एक उच्च सम्मान का प्रतीक था। इस पद के अतिरिक्त अकबर ने उसे कई बार जागीरें आदि दी थीं, जिनमें जूनागढ, नागौर, शमसाबाद आदि उल्लेखनीय हैं। चन्द्रसेन से जोधपुर खालसा कर रायसिंह को वहाँ का राज्य देना तथा अकबर की मृत्यु पर जहाँगीर द्वारा उसे दरबार में आने के लिए लिखना इस बात के प्रमाण हैं कि दोनों सम्राट उसमें कितना अधिक विश्वास रखते थे।

वीरोचित गुणों के साथ-साथ रायसिंह को साहित्य में भी बडा अनुराग था। वह स्वय कवि था और कवियों एव साहित्यकारों का आश्रयदाता था। उसके आश्रय में कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचनाएँ हुईं और कई टीकाओं का निर्माण हुआ। उसने स्वय 'रायसिंह महोत्सव" नामक वैद्यक और "ज्योतिष रत्नमाला" नामक ज्योतिष ग्रन्थों की भाषा टीका की रचना की, जो रायसिंह की सस्कृत और भाषा की योग्यता के सूचक हैं। रायसिंह महोत्सव ग्रन्थ के प्रारम्भ में राव सीहा से लगाकर रायसिंह तक की सस्कृत श्लोकों में वशावली दी है और रायसिंह का भी कुछ वृत्तान्त दिया है। ज्योतिष रत्नमाला की टीका का नाम 'बालबोधिनी' रखा गया था। किसी अज्ञात कवि ने महाराजा रायसिंह की प्रशसा में 'राजा रायसिंह री वेल' नामक पुस्तक की

---

१२ तुजुक-ए-जहाँगीरी, जि० १, पृ० १, ४६, १३०-३१, १४८ आदि, इकबालनामा, पृ० ६, मआसिर-ए-जहाँगीरी, पृ० ७१, दयालदास री ख्यात, जि० पृ० २५-२६, ३२ आदि

रचना की जिसमे ४३ गीत हैं। इन गीतो से इसकी गुजरात की लडाइयो पर कुछ प्रकाश पडता है। बीकानेर दुर्ग के भीतर रायसिंह के काल की एक वृहत् प्रशस्ति लगी हुई है जो इतिहास की दृष्टि से बडे महत्त्व की है। इसी के समय मे जैन साधु ज्ञानविमल ने महेश्वर रचित "शब्दभेद" की टीका समाप्त की थी।[13]

रायसिंह को भवन निर्माण मे भी बडी रुचि थी। बीकानेर के सुदृढ किले के निर्माण की आज्ञा उसने अपने मन्त्री कर्मचन्द को दी, जिसके निर्माण मे लगभग पाँच वर्ष लगे। इसका निर्माण-कार्य १५९४ ई० मे समाप्त हुआ। यह गढ राजप्रासादो, बगीचो, सुदृढ दीवारो और द्वारो से सुसज्जित है, जिसमे मध्ययुगीन शिल्प-शैली की प्राधान्यता है। कही-कही मुगल शैली को भी भारतीय शैली के साथ इस प्रकार सयोजित कर दिया है कि शिल्प दृष्टि से उसमे अद्भुत चमत्कृति उत्पन्न हो गयी है। इस सम्पूर्ण दुर्ग के भवनो का वर्णन रायसिंह की प्रशस्ति मे बडे रोचक रूप से दिया गया है। इस विशाल दुर्ग से रायसिंह के समय की समृद्धि और उस काल के मुगल सम्पर्क का अच्छा बोध होता है। उसके समय मे अनेक मन्दिरो के निर्माण हुए और उनका जीर्णोद्धार हुआ, जिनमे बीकानेर के जैन मन्दिर मुख्य है।[14]

वैसे तो अधिकाश शाही सेवा मे लगे रहने के कारण वह अपने राज्य के शासन सम्बन्धी कामो मे अधिकाश समय नही दे सका। यही कारण था कि उसने अपने मन्त्री कर्मचन्द पर राज्य का सभी भार सौंप रखा था। परन्तु इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि मन्त्री अन्य अधिकारियो से मिलकर रायसिंह को गद्दी से उतारकर उसके पुत्र दलपतसिंह को गद्दी पर बिठाने का षड्यन्त्र करने लगा। जब इसकी सूचना रायसिंह को मिली तो उसने ठाकुर मालदे को कर्मचन्द को मारने के लिए नियुक्त किया। ज्योही कर्मचन्द को इसका पता लगा वह सपरिवार भागकर अकबर की सेवा मे जा रहा। समयाभाव से अपने राज्य की ओर वह अधिक ध्यान नही दे सका यह तो सही है, परन्तु वह लोकोपकारी कार्यो से पूर्णरूप से उदासीन रहा हो ऐसा भी न था। १५७८ ई० के व्यापक दुर्भिक्ष के समय उसने राज्य की ओर से तेरह महीने तक अन्न-सत्र खुले रखे, जहाँ से क्षुधा और रोगग्रस्त प्रजा को अन्न और औषधियो के वितरण द्वारा सहायता पहुँचायी जाती थी। प्रजा के कष्टो के निवारण की ओर भी

---

[13] टेसीटोरी, ए डिस्क्रिप्टिव कैटेलॉग ऑफ वार्डिक एण्ड हिस्टोरीकल मैन्युस्क्रिप्ट्स, सेक्शन २, पार्ट १, पृ० ५९, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २०१-२०४

[14] जरनल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, न्यू सीरीज, भा० १६, ई० स० १९२०, पृ० २७६, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४४-४६, १७९, २०४

भरोसा करता था। इसलिए अपने पक्ष को दृढ करने के लिए सलीम ने शीघ्र उसे आगरा आने को लिखा। अकबर के देहावसान के पश्चात सलीम जहाँगीर के नाम से आगरे मे सिंहासनारूढ हुआ। पहले जुलूस के उत्सव के अवसर पर सम्राट ने उसका मनसब पाँच हजारी कर दिया। अपने राज्य के अन्तर्गत होने वाले कुछ षड्यन्त्रो तथा जहाँगीर के समय की अराजकता के कारण रायसिंह पर कुछ समय सम्राट अप्रसन्न भी रहा, परन्तु पीछे से उसकी नियुक्ति दक्षिण मे कर दी गयी, जहाँ १६१२ ई० मे बुरहानपुर मे उसकी मृत्यु हो गयी।[१२]

महाराजा रायसिंह का व्यक्तित्व—महाराजा रायसिंह के जीवन की सबसे बडी घटना मुगल सेवाएँ थी। अपने पिता की विद्यमानता मे ही उसको शाही सेवा मे रहने का अवसर मिला था जिसको वह मृत्युपर्यन्त करता रहा। अपनी वीरोचित तथा स्वामि-भक्ति के गुणो के कारण वह अकबर एव जहाँगीर का विश्वास-पात्र बना रहा। जहाँ भी राजस्थान मे मुगल-हित की रक्षा करनी होती थी रायसिंह की सेवाएँ उपलब्ध की जाती थी। जोधपुर, सिरोही, मेवाड आदि राज्यो मे मुगलो के हितो के सम्बन्ध मे उसकी नियुक्तियाँ हुई थी जिनमे उसने सफलता भी प्राप्त की थी। राजस्थान के बाहर जैसे गुजरात, काबुल बलोचिस्तान, दक्षिण आदि भागो मे युद्धो के अवसर पर उसने अपनी योग्यता का परिचय दिया था। इन विभिन्न स्थानो की सफल सेवाओ के उपलक्ष मे रायसिंह का मनसब जहाँगीर ने पाँच हजारी तक कर दिया था जो एक उच्च सम्मान का प्रतीक था। इस पद के अतिरिक्त अकबर ने उसे कई बार जागीरे आदि दी थीं, जिनमे जूनागढ, नागौर, शमसाबाद आदि उल्लेखनीय हैं। चन्द्रसेन से जोधपुर खालसा कर रायसिंह को वहाँ का राज्य देना तथा अकबर की मृत्यु पर जहाँगीर द्वारा उसे दरबार मे आने के लिए लिखना इस बात के प्रमाण हैं कि दोनो सम्राट उसमे कितना अधिक विश्वास रखते थे।

वीरोचित गुणो के साथ-साथ रायसिंह को साहित्य से भी बडा अनुराग था। वह स्वय कवि था और कवियो एव साहित्यकारो का आश्रयदाता था। उसके आश्रय में कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचनाएँ हुई और कई टीकाओ का निर्माण हुआ। उसने स्वय "रायसिंह महोत्सव" नामक वैद्यक और "ज्योतिष रत्नमाला" नामक ज्योतिष ग्रन्थो की भाषा टीका की रचना की, जो रायसिंह की संस्कृत और भाषा की योग्यता के सूचक है। रायसिंह महोत्सव ग्रन्थ के प्रारम्भ मे राव सीहा से लगाकर रायसिंह तक की संस्कृत श्लोको मे वशावली दी है और रायसिंह का भी कुछ वृत्तान्त दिया है। ज्योतिष रत्नमाला की टीका का नाम 'बालबोधिनी' रखा गया था। किसी अज्ञात कवि ने महाराजा रायसिंह की प्रशसा मे 'राजा रायसिंह री वेल' नामक पुस्तक की

---

१२ तुजुक-ए-जहाँगीरी, जि० १, पृ० १, ४६, १३०-३१, १४८ आदि, इकबालनामा, पृ० ६, मआसिर-ए-जहाँगीरी, पृ० ७१, दयालदास की ख्यात, जि० २, पृ० २५-२६, ३२ आदि

रचना की जिसमे ४३ गीत हैं। इन गीतो से इसकी गुजरात की लडाइयो पर कुछ प्रकाश पडता है। बीकानेर दुर्ग के भीतर रायसिंह के काल की एक बृहत् प्रशस्ति लगी हुई है जो इतिहास की दृष्टि से बडे महत्त्व की है। इसी के समय मे जैन साधु ज्ञानविमल ने महेश्वर रचित "शब्दभेद" की टीका समाप्त की थी।[13]

रायसिंह को भवन निर्माण मे भी बडी रुचि थी। बीकानेर के सुदृढ किले के निर्माण की आज्ञा उसने अपने मन्त्री कर्मचन्द को दी, जिसके निर्माण मे लगभग पाँच वर्ष लगे। इसका निर्माण-काय १५९४ ई० मे समाप्त हुआ। यह गढ राजप्रासादो, बगीचो, सुदृढ दीवारो और द्वारो से सुसज्जित है, जिसमे मध्ययुगीन शिल्प-शैली की प्राधान्यता है। कहीं-कही मुगल शैली को भी भारतीय शैली के साथ इस प्रकार सयोजित कर दिया है कि शिल्प दृष्टि से उसमे अद्भुत चमत्कृति उत्पन्न हो गयी है। इस सम्पूर्ण दुर्ग के भवनो का वर्णन रायसिंह की प्रशस्ति मे बडे रोचक रूप से दिया गया है। इस विशाल दुर्ग से रायसिंह के समय की समृद्धि और उस काल के मुगल सम्पर्क का अच्छा बोध होता है। उसके समय मे अनेक मन्दिरो के निर्माण हुए और उनका जीर्णोद्धार हुआ, जिनमे बीकानेर के जैन मन्दिर मुख्य है।[14]

वैसे तो अधिकाश शाही सेवा मे लगे रहने के कारण वह अपने राज्य के शासन सम्बन्धी कामो मे अधिकाश समय नही दे सका। यही कारण था कि उसने अपने मन्त्री कर्मचन्द पर राज्य का सभी भार सौंप रखा था। परन्तु इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि मन्त्री अन्य अधिकारियो से मिलकर रायसिंह को गद्दी से उतारकर उसके पुत्र दलपतसिंह को गद्दी पर बिठाने का षड्यन्त्र करने लगा। जब इसकी सूचना रायसिंह को मिली तो उसने ठाकुर मालदे को कर्मचन्द को मारने के लिए नियुक्त किया। ज्योंही कर्मचन्द को इसका पता लगा वह सपरिवार भागकर अकबर की सेवा मे जा रहा। समयाभाव से अपने राज्य की ओर वह अधिक ध्यान नही दे सका यह तो सही है, परन्तु वह लोकोपकारी कार्यो से पूर्णरूप से उदासीन रहा हो ऐसा भी न था। १५७८ ई० के व्यापक दुर्भिक्ष के समय उसने राज्य की ओर से तेरह महीने तक अन्न-सत्र खुले रखे, जहाँ से क्षुधा और रोगग्रस्त प्रजा को अन्न और औषधियो के वितरण द्वारा सहायता पहुँचायी जाती थी। प्रजा के कष्टो के निवारण की ओर भी

---

[13] टेसीटोरी, ए डिस्क्रिप्टिव कैटेलॉग ऑफ बार्डिक एण्ड हिस्टोरीकल मैन्युस्क्रिप्ट्स, सेक्शन २, पार्ट १, पृ० ५९, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २०१-२०४

[14] जरनल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, न्यू सीरीज, भा० १६, ई० न० १९२०, पृ० २७९, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४४-४६, १७९, २०४

उसने समय-समय पर ध्यान दिया। उपद्रवी सरदार जो राज्य की शान्ति को भग करते थे उन पर वह कडी नजर रखता था।[१५]

रायसिंह स्वभाव से उदार और धर्मसहिष्णु था। ख्यात लेखको ने उसकी दानशीलता की भूरि-भूरि प्रशसा की है। इसी के आधार पर मुशी देवीप्रसाद ने उसे राजपूताने का 'कर्ण' कहा है। विवाहोत्सव और पर्वों के अवसर पर वह ब्राह्मणो, चारणो और विद्वानो को दान-दक्षिणा से सन्तुष्ट किया करता था। वह प्रसन्न होकर कई कवियो को करोड और सवा करोड के पसाव दिया करता था। हिन्दू धर्म का अनुयायी होते हुए भी उसने इतर धर्मो को सम्मान की दृष्टि से देखा। उसके समय मे कई जैन धर्म के मन्दिरो के जीर्णोद्धार हुए। ऐसा प्रसिद्ध है कि जब तुरसमखाँ ने सिरोही के आक्रमण के समय कई जैन मन्दिरो की धातु मूर्तियो को लेकर गलवाने का प्रयत्न किया तो रायसिंह ने बादशाह से आज्ञा प्राप्त कर उन्हे बीकानेर पहुँचा दिया। बताया जाता है कि ये जैन मूर्तियाँ अब तक बीकानेर के एक जैन मन्दिर के तहखाने मे सुरक्षित हैं। उन्हे विशेष उत्सवो पर वहाँ से निकाला जाता है और विधिवत उनकी अर्चना की जाती है। उसके द्वारा स्थापित अन्न-सत्रो से सभी धर्मावलम्बियो को अन्न वितरण होता था। वह विजित शत्रुओ के साथ भी सम्मान का व्यवहार करता था जो उसकी असीम उदारता बताता है।[१६]

रायसिंह मे कुछ अपने देश के प्रति अभिमान की भावना भी थी, ऐसा उसके द्वारा रचित दोहे से स्पष्ट है। बताया जाता है कि एक बार दक्षिण मे नियुक्त होने पर उस निर्जन स्थान मे एक 'फोग' का पौधा देखकर उसने निम्नाकित भावमय दोहे की रचना की—

तूं सैंदेशी रूखडा, म्हें परदेशी लोग।
म्हाने अकबर तेडिया, तूं क्यों आयो फोग॥[१७]

महाराजा दलपतसिंह (१६१२-१६१३ ई०)

महाराजा दलपतसिंह ने अपने पिता के समय विद्रोह किया था जिससे उसकी कृपा उस पर कम हो गयी थी। रायसिंह की यह इच्छा थी कि उसके बाद उसका पुत्र सूरसिंह राज्य का अधिकारी हो। परन्तु शाही दरबार मे पहुँचकर सूरसिंह ने अपने टीके का पिता द्वारा दिया जाना व्यक्त कर सम्राट को दबाना चाहा तो जहाँगीर ने दलपतसिंह को टीका देकर उसके पैतृक राज्य का स्वामी बना दिया। परन्तु

---

१५ कर्मचन्द्र वशोत्कीर्तनककाव्यम्, श्लो० २९८-३००, दयालदास की ख्यात, जि० २, पृ० ३२

१६ कर्मचन्द्र वशोत्कीर्तनककाव्यम्, श्लो० ३१३, ३१८, ३२५, दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ३४, राजरसनामृत, पृ० ३६

१७ ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २०२

दलपतसिंह का आचरण सम्राट के अनुकूल न था, इसलिए शाही सहायता से फिर से सूरसिंह को बीकानेर दिलाया गया और दलपत को कैद कर मृत्यु-दण्ड दिया गया।[१८]

महाराजा सूरसिंह (१६१३-१६३१ ई०)

महाराजा सूरसिंह अपने भाई को परास्त कर बीकानेर की गद्दी पर बैठा। अपनी प्रतिज्ञा के अनुकूल उसने रायसिंह के विरोधियो को एक-एक कर समाप्त कर दिया। कर्मचन्द्र के पुत्रो को वह समझा-बुझाकर दिल्ली से ले आया, परन्तु बीकानेर मे लाकर उन्हे युद्ध के लिए विवश किया और मौत के घाट उतारा। पुरोहित मान महेश और बारहट चौथ की, जो रायसिंह के विरोधी थे, जागीरें जब्त कर ली जिससे खिन्न हो वे जलकर मर गये। सारण भरथा जाट को भी गोपालदास सागावत के हाथ से मरवा डाला।[१९]

उसकी मुगल सेवाएँ—जहाँगीर के पिछले दिनो मे जब खुर्रम ने विद्रोह किया तो सूरसिंह उसके विरुद्ध भेजा गया था। इस अवसर पर कई लडाइयो मे राजकुमार को परास्त करने मे उसने सफलता दिखायी। परन्तु जब खुर्रम शाहजहाँ नाम धारण कर तख्त पर बैठा तो उसने सूरसिंह का मनसब बढाकर चार हजार जात और ढाई हजार सवार कर दिया। १६२८ ई० मे उसकी नियुक्ति काबुल के विद्रोह को दबाने के लिए की गयी। जब जुझारसिंह बुन्देला ओरछा मे पहुँचकर युद्ध की तैयारी करने लगा तो सूरसिंह को अन्य सरदारो के साथ उसके विरुद्ध भेजा गया। तीन ओर से आक्रमण होने पर जुझारसिंह ने शाही दरबार मे हाजिर होना स्वीकार कर लिया। १६२९ व १६३० ई० मे खानजहाँ लोदी के विद्रोह को दबाने के लिए जयसिंह, गजसिंह आदि कई अधिकारी भेजे गये थे जिनमे सूरसिंह भी एक था। शाही सेना ने विरोधी दल का पीछा किया जिससे उसे भाग जाना पडा। इस तरह सूरसिंह की अन्य स्थानो मे भी नियुक्तियाँ होती रही जिनसे सम्बन्धित अनेक फरमान उपलब्ध है। इन फरमानो मे से एक मे उसे उच्च-कुल के राजाओ मे सर्वश्रेष्ठ सम्बोधित किया गया है जिससे स्पष्ट है कि सूरसिंह अपने समय के नरेशो मे सम्मान प्राप्त नरेश था। इन शाही आदेशो से उसकी नियुक्ति किरकी, जालनापुर, मारोठ, थट्टा, बुरहानपुर आदि स्थानो मे हुई जहाँ उसने अपनी वीरता का परिचय दिया।[२०]

महाराजा कर्णसिंह (१६३१-१६६९ ई०) -

बीकानेर के शासको मे कर्णसिंह का स्थान बडे महत्त्व का है। शाहजहाँ के समय मे वह सम्मानित नरेश था। फतहखाँ, शाहजी एव परण्डे पर की जाने वाली

---

[१८] तुजुक-ए-जहाँगीरी, जि० १, पृ० २१७, २१८, २२९, उमरा-ए-हनूद, पृ० १९४, दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ३४-३६

[१९] दयालदास की ख्यात, जि० २, पृ० ३९ -

[२०] ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २११-२२८

चढाइयो मे उसे शाही सेना के साथ जाने का अवसर मिला था जहाँ उसने अपने साहस और वीरता का परिचय दिया। वह दूरदर्शी शासक था। जब शाहजहाँ की बीमारी की खबर मिलते ही उसके राजकुमारो ने गृह-युद्ध छेड दिया तो कर्णसिंह अपनी राजधानी लौट गया और दूर से युद्ध की गतिविधि को देखता रहा। साथ ही वह यह जानता था कि सभी राजकुमारो मे औरगजेब अधिक चतुर और शक्ति-सम्पन्न है। अत उसने अपने दो पुत्रों—पद्मसिंह और केसरीसिंह को उसके साथ भेज दिया।

जब औरगजेब राज्य का स्वामी बन गया तो कर्णसिंह ने उसकी सेवाएँ स्वीकार कर ली। ख्यातो के अनुसार वह अपने समय का हिन्दू धर्म का अग्रणीय शासक था जिसकी मान्यता सभी शासको ने अटक पार करने के समय दी थी। उन्होंने उस समय उसको 'जगलधर बादशाह' की उपाधि दी, जो उसके वशजो मे आज भी चली आती है। अटक पार करने की वार्ता मे अतिशयोक्ति हो सकती है, परन्तु उसके सम्मान की मान्यता राजस्थान के नरेशो द्वारा स्वीकृत थी, इसमे कोई सन्देह नही। अनूपसिंह के समय मे अनूदित शुकसप्तति मे कर्णसिंह को 'जगल का पातसाह' लिखा है, अतएव यह मानना पडेगा कि ख्यातो के इस कथन मे कुछ सत्य का अश हो सकता है।[२१]

कर्णसिंह उसके पिता व पितामह की तुलना मे बीकानेर मे अधिक समय रह लेता था, इसलिए वह अपने राज्य की व्यवस्था देखने और साहित्यादि प्रगति को बढाने मे रुचि ले सका। वह स्वय विद्वान, विद्वानो का आश्रयदाता तथा विद्यानुरागी नरेश था। उसके समय मे अनेक ग्रन्थो की रचना हुई। उसने कई विद्वानो की सहायता मे 'साहित्य कल्पद्रुम' की रचना की। गगानन्द मैथिल ने 'कर्णभूषण' तथा 'काव्य-डाकिनी' की रचना की। भट्ट होसिक ने 'कर्णावतम' तथा कविमुद्गल ने 'कर्णसन्तोष' लिखा। वृतसारावली की भी उसके समय मे रचना हुई थी। ये ग्रन्थ अनूप सस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर मे सुरक्षित अवस्था मे देखे गये हैं।[२२]

अनूपसिंह (१६६९-१६९८ ई०)

कर्णसिंह की विद्यमानता मे ही बादशाह द्वारा अनूपसिंह का मनसब दो हजार जात एव डेढ हजार सवार था। उसके पिता की मृत्यु हो जाने पर वह गद्दी पर बैठा और औरगजेब ने उसे फरमान भेजकर सम्मानित किया। १६७० ई० में उसकी नियुक्ति दक्षिण मे हुई जब शिवाजी का आतक अधिक बढने लगा। माल्हेर के घेरे के समय उसने महाबतखाँ को बडी सहायता पहुँचायी थी। परन्तु इस घेरे मे महाबतखाँ को पूरी सफलता न मिली। सम्राट ने महाबतखाँ को तो वापस बुला लिया पर उसके

---

[२१] उमरा-ए-हनूद, पृ० २६७-२६९, दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ३९-४६, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २२९-२५०

[२२] वही, पृ० २५२-५३

स्थान मे बहादुरखाँ को नियुक्त किया जो दक्षिण में मराठो को दबाये रखे। महाराजा अनूपसिंह भी दूसरे अधिकारियो की भाँति दक्षिण मे ही रहा। १६७२ से १६७५ ई० के दक्षिण के युद्धो मे अनूपसिंह ने बहादुरखाँ को अपना सहयोग दिया और बडी वीरता से लडा। कुछ समय बाद दिलेरखाँ को दक्षिण का हाकिम नियुक्त किया गया। अनूपसिंह, जो पहले की भाँति दक्षिण मे ही रखा गया था, दक्षिण के युद्धो मे वीरता-पूर्वक भाग लेता रहा। उसकी दक्षिण की सेवाओ से प्रभावित होकर सम्राट ने उसे महाराजा का खिताब दिया।[२३]

दक्षिण मे मुगल अधिकारियो के साथ रहकर अनूपसिंह का सैनिक अनुभव समृद्ध हो गया था, अतएव १६७७-७८ ई० मे बादशाह ने उसे औरगाबाद का शासक नियुक्त किया। इस पद पर रहते हुए उसने शिवाजी के उत्पातो का मुकाबला करने में अपने साहस का परिचय दिया। इसके अनन्तर उसकी नियुक्ति आदूणी (दक्षिण) मे हुई जहाँ उसने विद्रोहियो को दबाने मे सफलता प्राप्त की। १६७६ ई० मे आहोत और तरबक की तरफ जाकर मराठो को दबाने का उसे आदेश मिला था। १६८५-८६ ई० की बीजापुर की लडाई मे अनूपसिंह शाही सेना मे था। इसी तरह १६८७ ई० के गोलकुण्डा के आक्रमण मे उसका सम्राट के साथ होना पाया जाता है। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर बादशाह ने उसका मनसब बढाकर तीन हजारी कर दिया। इन सेवाओ के उपलक्ष मे उसे 'माही मरातिब' का सम्मान भी मिला था।[२४]

अपने देश से दूर रहते हुए भी अनूपसिंह अपने राज्य की व्यवस्था चलाने मे भी निपुण था। जिन दिनो अनूपसिंह आदूणी मे था खारबारा, रायमलबाली तथा राणी के सरदारो ने चूडेर के गढ मे जमा होकर मुकन्दराय की फौजो का, जिसको महाराजा ने उपद्रवियो को दबाने के लिए नियुक्त किया था, सामना करने का प्रबन्ध किया। जब किले की रसद समाप्त हो गयी तो इन्होने जोहियो से रसद भेजने को कहलवाया। इस पर जोहिये रसद, बारूद और गोले लेकर चूडेर की ओर बढे। ठीक उस समय मुकन्दराय अमरसिंह और भागचन्द के साथ वहाँ जा पहुँचा और उन्हें भागने के लिए विवश किया। पीछे से भागचन्द को खारबारा की जागीर मिल गयी। इससे भाटियो और जोहियो ने फिर उपद्रव कर दिये, परन्तु क्रमश अनूपसिंह उन पर प्रभाव स्थापित करने मे सफल हुआ।[२५]

इसी तरह अनूपसिंह के अनौरस भाई बनमालीदास ने अपना धर्म परिवर्तन

---

[२३] उमरा-ए-हनूद, पृ० ६३, मुशी देवीप्रसाद, औरगजेबनामा, भा० २, पृ० ३०, ४०, ५०, ५५, दयालदास की ख्यात, जि० २, पृ० ४७

[२४] मुशी देवीप्रसाद, औरगजेबनामा, भा० ३, पृ० ३३-४६, उमरा-ए-हनूद, पृ० ६३, दयालदास की ख्यात, जि० २, पृ० ४८, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २५६-५७

[२५] दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ४६-५०

कर वादशाह से अपने नाम आधा बीकानेर लिखवा लिया । इससे अनूपसिंह की स्थिति बडी गम्भीर हो गयी । परन्तु इसमे उसने बडी सावधानी से काम लिया । जब वह बीकानेर पहुँचा तो उसका अनूपसिंह ने बडा आतिथ्य किया पर उसको छल से मरवाने की युक्ति भी सोच ली । इस कार्य का भार उसने अपने विश्वस्त आदमियो को सौंपा, जिनमे लक्ष्मीदास और बीका भीमराजोत मुख्य थे । इन्होने वनमाली को अपनी ओर मिलाया और उसका विवाह एक दासी पुत्री से कर दिया । इस स्त्री ने पूर्व आदेशानुसार उसकी शराब मे सखिया मिलाकर पिला दिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी । यह कार्य उसने इतनी अच्छी तरह से करवाया कि बादशाह नाराज भी न होने पाया और बीकानेर का राज्य अयोग्य व्यक्ति के हाथ मे न जा सका ।[२६]

अनूपसिंह जैसा वीर और कूटनीतिज्ञ था वैसा विद्यानुरागी भी था । वह सस्कृत भाषा का विद्वान तथा विद्वानो का आश्रयदाता था । उसने स्वय अनेक सस्कृत ग्रन्थो की रचना की थी जिनमे 'अनूप विवेक', 'काम प्रबोध', 'श्राद्ध प्रयोग चिन्तामणि' और गीतगोविन्द की 'अनूपोदय' टीका बडे प्रसिद्ध हैं । उसके समय मे अनेक विद्वानो ने सस्कृत ग्रन्थो की रचना की । श्रीनाथ सूरी के पुत्र वैद्यनाथ ने 'ज्योत्पत्ति सार', गगाराम के पुत्र मणिराम ने 'अनूप व्यवहार सागर' और 'अनूप विलास' नामक ग्रन्थ लिखे । 'अपुतलक्षहोमकोटिप्रयोग' यज्ञ विषयक ग्रन्थ की रचना भद्रराम ने तथा 'तीर्थरत्नाकर' की रचना अनन्त भट्ट ने की थी । उदयचन्द्र ने 'पाण्डित्यदर्पण' को लिखा था । अनूपसिंह को राजस्थानी भाषा से बडी रुचि थी । 'शुकसारिका' का भाषानुवाद उसी ने किसी विद्वान से कराया । उसके आश्रित गाडण वीरभाण ने 'राजकुमार अनोपसिंह री वेल' नामक वेलियाँ गीतो की रचना की । 'वैताल पचीसी' की कथाओ का कविता मिश्रित मारवाडी गद्य मे उसी के समय मे अनुवाद हुआ था । शुकसारिका की कथाओ का सस्कृत तथा मारवाडी मे 'दम्पति विनोद' नाम से अनुवाद कराया गया । 'दूहा रत्नाकर' का अनूपसिंह की आज्ञा से ही सग्रह हुआ था । गीता का गद्य और पद्य मे नाजर आनन्दराम ने अनुवाद किया था । अनूपसिंह को सगीत से भी प्रेम था । उसके दरबार मे सगीताचार्य जनार्दन भट्ट का पुत्र भाव भट्ट रहता था । उसने 'सगीत अनूपाकुश', 'अनूप सगीत विलास', 'अनूप सगीत रत्नाकर' आदि ग्रन्थो की रचना की । उसने दक्षिण मे रहते हुए अनेक ग्रन्थो को नष्ट होने से बचाया और उन्हे खरीदकर अपने पुस्तकालय के लिए ले आया । कुम्भा के सगीत ग्रन्थो का पूरा सग्रह भी उसने एकत्र करवाया था । आज अनूप पुस्तकालय हमारे देश का अलभ्य पुस्तको का भण्डार है जिसका अधिकाश श्रेय अनूपसिंह के विद्यानुराग को है ।[२७]

---

[२६] दयालदास की ख्यात, जि० २, पृ० ५१

[२७] टेसीटोरी, ए डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑफ बार्डिक एण्ड हिस्टोरीकल मैनुस्क्रिप्ट्स, सेक्शन २, पार्ट १, पृ० ३१-६०, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २८०-२८७

दक्षिण मे रहते हुए उसने अनेक मूर्तियो का सग्रह किया और उन्हे नष्ट होने से बचाया। यह मूर्तियो का सग्रह बीकानेर के 'तेतीस करोड देवताओ के मन्दिर' मे सुरक्षित है।

बीकानेर के अन्य शासक और मुगल सम्बन्ध—महाराजा स्वरूपसिह (१६६८-१७०० ई०) अपने पिता की मृत्यु के समय नौ वर्ष का था जबकि उसकी गद्दीनशीनी हुई। आरम्भ से ही उसे औरंगाबाद तथा बुरहानपुर में बादशाह के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करने का अवसर मिला। उसने जुल्फिकारखाँ के साथ शाही सेवा मे रहकर काम किया। १६९९ ई० मे वह रामराजा के बाल-बच्चों को, जो जुल्फिकारखाँ की कैद मे थे, अपने साथ लेकर सम्राट के पास गया था। परन्तु इसके समय मे बीकानेर राज्य की हालत सन्तोषजनक नही थी। राज्य का सभी काम स्वरूपसिह की माँ सँभालती थी। राजा का अल्पवयस्क होना और स्त्री द्वारा राज्य सचालन एक अभिशाप बन गये, जिससे राज्य मे सामन्तो और मन्त्रियो तथा अधिकारियो के कई दल बन गये। इस दलबन्दी में राज्य के अच्छे-अच्छे कर्मचारी मारे गये और अन्त मे १७०० ई० मे स्वरूपसिह की मृत्यु शीतला से हो गयी।[२८]

महाराजा सुजानसिंह (१७००-१७३५ ई०)

यह स्वरूपसिह का छोटा भाई था जो १७०० ई० मे बीकानेर का स्वामी बना। उन दिनो औरंगजेब दक्षिणी अभियान मे लगा हुआ था, अतएव उसने सुजानसिह को दक्षिण बुलाया जहाँ वह लगभग दस वर्ष तक रहा। परन्तु जब औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगलो मे गृह-युद्ध आरम्भ हो गये और एक के बाद दूसरे राजकुमार बादशाह बनते गये तो ऐसी स्थिति मे सुजानसिंह ने शाही सेवा मे रहना उचित न समझा। फिर भी दिल्ली से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए उसने खवास आनन्दराम और मूँधडा जसरूप को कुछ सेना के साथ दिल्ली भेजा तथा मेहता पृथ्वीसिंह को अजमेर की चौकी पर रखा। महाराजा ने अपना बाकी समय भाटियो को दबाने या मारवाड के शासक अजीतसिह और नागौर के शासक बखतसिंह से अपने राज्य को बचाये रखने मे लगाया, क्योकि उनकी लालसा बीकानेर लेने की बनी रहती थी। अन्त में ३५ वर्ष राज्य करने पर वह रायसिहपुरे मे रोगग्रस्त हुआ और १७३५ ई० को वही उसकी मृत्यु हो गयी।[२९]

इसके बाद महाराजा जोरावरसिंह, गजसिह आदि बीकानेर के शासक हुए जिनमे गजसिह (१७४६-१७८७ ई०) के सम्बन्ध मे वर्णन मिलता है कि उसके पास बादशाह अहमदशाह ने फरमान भेजा कि सफदरजग विद्रोही हो गया है, अतएव उसको

---

[२८] दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ५८, ५९, उमरा-ए-हनूद, पृ० ६३
[२९] वही, पत्र ६०-६३

दबाने के लिए वह अपनी फौज लेकर दिल्ली पहुँचे । इस पर एक सेना मेहता बख्तावरसिंह के साथ भेजी गयी । सामयिक सहायता से सम्राट बहुत प्रसन्न हुआ और उसने गजसिंह का मनसब सात हजारी कर दिया तथा उसे 'श्री राजराजेश्वर महाराजाधिराज महाराजा शिरोमणि श्री गजसिंह' का खिताब प्रदान किया। यह खिताब बाद मे उसकी मुद्रा तथा शिलालेखो मे प्रयुक्त किया जाने लगा।[३०]

गजसिंह के बाद बीकानेर के शासको का सम्बन्ध मुगलो से इतना नही रहा। उनका इतिहास स्थानीय विद्रोह, सामन्तो के विरोध और जोधपुर तथा अन्य राजस्थान के राज्यो से वैमनस्य से भरा पडा है जिनका इस प्रसग मे वर्णन करना कोई अधिक महत्त्व नही रखता।

---

[३०] दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ७६, वीरविनोद, भा० २, पृ० ५०५, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, पृ० २३५

अध्याय २१

बूँदी राज्य और मुगल साम्राज्य की सेवाएँ (१५६६-१७३६ ई०)

सुर्जन हाड़ा और मुगल सेवाएँ

बूँदी के सघर्ष-काल मे जैसा कि हमने देखा, १५६६ ई० मे राव सुजन ने मुगल सम्राट अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी, जिससे अकबर ने उसे कई प्रकार से सम्मानित किया। सवप्रथम उसे एक हजारी जात का पद देकर मनरूढ और गढ कटगा की जागीर दी। वहाँ रहते हुए उसने वहाँ के आदिम निवासी—गोडो का दमन किया तथा उनकी शक्ति के केन्द्र वारीगढ पर मुगलो का अधिकार स्थापित किया। गोड नरेश को दिल्ली लाया गया और अकवर के सम्मुख पेश किया गया। इस सेवा के उपलक्ष मे सम्राट ने उसे रावराजा की उपाधि दी तथा ५००० का मनसब दिया। इसके अतिरिक्त बूँदी के निकट २६ परगने और बनारस के निकट २६ परगने देकर उसकी जागीर मे वृद्धि की। उसको बनारस तथा चुनार की भी हाकिमी दी गयी। बनारस मे परगने प्राप्त होने पर वह वही रहने लगा और बूँदी का राज्य उसका ज्येष्ठ पुत्र दूदा सँभालता था। बनारस मे रहते हुए सुर्जन ने यात्रियो के लिए कई सुन्दर इमारते जलाशय, महल, गगा नदी के तट पर घाट आदि बनवाये। उसके द्वारा निर्मित द्वारिकापुरी मे रणछोडजी का मन्दिर बडा प्रसिद्ध है। बनारस मे रहते हुए उसके अनुरोध पर चन्द्रशेखर कवि ने 'सुजन चरित' की रचना लगभग १५७८ ई० के आसपास की। अपनी दानशीलता के कारण सुर्जन का नाम काशी मे बडी प्रसिद्धि पा गया। अन्त मे १५८५ ई० मे काशी मे ही उसकी मृत्यु हो गयी। वह अपने समय का धार्मिक, उदार और बुद्धिसम्पन्न नरेश था। उसने जितना विस्तृत राज्य अपने अधिकार मे कर लिया था उतना पहले कभी किसी हाडा नरेश ने नही किया। यह एक दुर्भाग्य की बात थी कि अपने बल और पुरुषार्थ पर निर्मित बूँदी के विस्तारित राज्य की स्वतन्त्रता का अन्त उसके समय मे हुआ।[1]

---

[1] वशभास्कर, भा० ३, पृ० २२८४-२२६०, नैणसी की ख्यात, भा० १, पृ० १११, टॉड, राजस्थान, भा० ३, पृ० १४८४

दबाने के लिए वह अपनी फौज लेकर दिल्ली पहुँचे। इस पर एक सेना मेहता बख्तावरसिंह के साथ भेजी गयी। सामयिक सहायता से सम्राट बहुत प्रसन्न हुआ और उसने गजसिंह का मनसब सात हजारी कर दिया तथा उसे 'श्री राजराजेश्वर महाराजाधिराज महाराजा शिरोमणि श्री गजसिंह' का खिताब प्रदान किया। यह खिताब बाद मे उसकी मुद्रा तथा शिलालेखो मे प्रयुक्त किया जाने लगा।[३०]

गजसिंह के बाद बीकानेर के शासको का सम्बन्ध मुगलो से इतना नही रहा। उनका इतिहास स्थानीय विद्रोह, सामन्तो के विरोध और जोधपुर तथा अन्य राजस्थान के राज्यो से वैमनस्य से भरा पडा है जिनका इस प्रसग मे वर्णन करना कोई अधिक महत्त्व नही रखता।

---

३० दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ७६, वीरविनोद, भा० २, पृ० ५०५, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, पृ० ३३५

अध्याय २१

बूँदी राज्य और मुगल साम्राज्य की सेवाएँ (१५६६-१७३६ ई०)

सुर्जन हाडा और मुगल सेवाएँ

बूँदी के संघर्ष-काल मे जैसा कि हमने देखा, १५६६ ई० मे राव सुर्जन ने मुगल सम्राट अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी, जिससे अकबर ने उसे कई प्रकार से सम्मानित किया। सर्वप्रथम उसे एक हजारी जात का पद देकर मनरूढ और गढ कटगा की जागीर दी। वहाँ रहते हुए उसने वहाँ के आदिम निवासी—गोडो का दमन किया तथा उनकी शक्ति के केन्द्र बारीगढ पर मुगलो का अधिकार स्थापित किया। गोड नरेश को दिल्ली लाया गया और अकबर के सम्मुख पेश किया गया। इस सेवा के उपलक्ष मे सम्राट ने उसे रावराजा की उपाधि दी तथा ५००० का मनसब दिया। इसके अतिरिक्त बूँदी के निकट २६ परगने और बनारस के निकट २६ परगने देकर उसकी जागीर मे वृद्धि की। उसको बनारस तथा चुनार की भी हाकिमी दी गयी। बनारस मे परगने प्राप्त होने पर वह वही रहने लगा और बूँदी का राज्य उसका ज्येष्ठ पुत्र दूदा संभालता था। बनारस मे रहते हुए सुर्जन ने यात्रियो के लिए कई सुन्दर इमारतें जलाशय, महल, गगा नदी के तट पर घाट आदि बनवाये। उसके द्वारा निर्मित द्वारिकापुरी मे रणछोडजी का मन्दिर बडा प्रसिद्ध है। बनारस मे रहते हुए उसके अनुरोध पर चन्द्रशेखर कवि ने 'सुजन चरित' की रचना लगभग १५७८ ई० के आसपास की। अपनी दानशीलता के कारण सुर्जन का नाम काशी मे बडी प्रसिद्धि पा गया। अन्त मे १५८५ ई० मे काशी मे ही उसकी मृत्यु हो गयी। वह अपने समय का धार्मिक, उदार और बुद्धिसम्पन्न नरेश था। उसने जितना विस्तृत राज्य अपने अधिकार मे कर लिया था उतना पहले कभी किसी हाडा नरेश ने नही किया। यह एक दुर्भाग्य की बात थी कि अपने बल और पुरुषार्थ पर निर्मित बूँदी के विस्तारित राज्य की स्वतन्त्रता का अन्त उसके समय मे हुआ।[1]

---

[1] वशभास्कर, भा० ३, पृ० २२८४-२२६०, नैणसी की ख्यात, भा० १, पृ० १११, टॉड, राजस्थान, भा० ३, पृ० १४८४

राव भोज (१५८५-१६०७ ई०)

राव भोज सुर्जन का दूसरा पुत्र था जो अपने पिता की मृत्यु के बाद १५८५ ई० मे बूंदी के राज्य का अधिकारी बना। इसने उडीसा के शाही युद्धो मे मानसिंह के साथ रहकर तथा गुजरात के युद्धो एव अहमदनगर (१६०० ई०) के घेरे मे अकवर के साथ रहकर अपनी वीरता का परिचय दिया था। इन सेवाओ के उपलक्ष मे अकवर ने उसे पुरस्कारो और पदोन्नति से सम्मानित किया।[२]

राव रतन (१६०७-१६२१ ई०)

जहाँगीर के शासनकाल मे उसके पद और सम्मान की वृद्धि हुई। उसे पाँच हजारी मनसवदार बनाया गया और 'सरबुन्दराय' और 'रामराज' की उपाधियो से अलकृत किया गया। केसरिया निशान और नक्कारे के चिह्नो से उसका सम्मान बढाया गया। उसने बुरहानपुर मे रहते हुए किले की रक्षा की और खुर्रम को, जो अपने पिता से विमुख हो गया था, परास्त किया। इस घेरे मे राव रतन ने अपनी क्षत्रियोचित वीरता का परिचय दिया। इस प्रकार जहाँगीर के काल मे वह मुगल साम्राज्य का स्तम्भ था। इसके सम्बन्ध मे एक न्यायप्रियता की कहानी भी प्रसिद्ध है कि उसने अपने लडके गोपीनाथ की हत्या करने वाले ब्राह्मणों को दण्ड नही दिया, क्योकि वह दुराचारी था और दुराचारो से तग आकर ब्राह्मणो ने उसे मार दिया था। इसकी १६२१ ई० मे मृत्यु हो गयी।[३]

राव शत्रुशाल हाडा (१६२१-१६५८ ई०)

यह राव रतन का पोता और गोपीनाथ का पुत्र था। यह २५ वर्ष की आयु मे बूंदी की राजगद्दी पर बैठा। इस पर शाहजहाँ की बडी कृपा थी। उसे सम्राट ने राव पद से विभूषित कर तीन हजार जात व दो हजार सवार का मनसव तथा बूंदी और खटकड परगने की जागीर देकर खानेजमा के साथ दक्षिण मे भेजा। १६३२ ई० मे दौलताबाद के किले को जीतने मे तथा १६३३ ई० मे परदे के घेरे मे इसने अपनी वीरता का अच्छा परिचय दिया था। बुरहानपुर और खानदेश के अभियानो मे इसकी श्लाघनीय सेवाएँ थी। १६४१ से १६५१ ई० के कन्धार, वलख बदख्शाँ की चढाइयो मे उसने अपनी अपूर्व वीरता दिखायी। तब तक इसका मनसव तीन हजार हो गया। औरगजेब की दक्षिणी सूवेदारी के अवसर पर दौलताबाद, बीदर, गुलबर्गा और दमोनी की विजयो मे उसके सैनिको ने अपूर्व वीरता दिखायी। जब शाहजहाँ के पुत्रो मे गृह-युद्ध आरम्भ हुआ तो वह शामूगढ के युद्ध मे शाही फौजो के साथ रहकर औरगजेब से लडा था। जब दारा हाथी छोडकर गायब हो गया तो शत्रुशाल ने हाथी पर सवार

---

२ उमरा-ए-हनूद, पृ० ९५, मआसिर-उल-उमरा, पृ० २७४

३ तुजुक-ए-जहाँगीरी, भा० २, पृ० २९४-९६, वशभास्कर, पृ० २४७९, २४८०, २४९६

होकर युद्ध की प्रगति को बनाये रखा। इसी रण-स्थल मे गोली लगने से १६५८ ई० मे वह अपने कई सम्बन्धियो के साथ वीरगति को प्राप्त हुआ।[४]

राव भावसिंह हाडा (१६५८-१६८१ ई०)

शत्रुशाल की मृत्यु पर औरगजेब ने शत्रुशाल हाडा के भाई भगवन्तसिंह को मऊ, बारा आदि परगने देकर बूंदी का अलग राज बना दिया और उसके ज्येष्ठ पुत्र भावसिंह के विरुद्ध, जो बूंदी का शासक बना था, शिवपुर के राजा आत्माराम गौड और बरसिंह बुन्देले को भेजा। यह औरगजेब की भेद-नीति थी। पर इसमे वह सफल नही हुआ। भगवन्तसिंह की मृत्यु हो गयी और जो सेना भावसिंह के विरुद्ध भेजी थी उसकी खातोली नामक गाँव के पास पराजय हुई। जब सम्राट अपनी भेद-नीति मे सफल नही हो सका तब उसने भावसिंह को १६५८ ई० मे आगरा बुलाया और उसे तीन हजारी जात और दो हजार सवार के मनसब तथा डका, झण्डा एव बूंदी की जागीर देकर सम्मानित किया। इसके अनन्तर उसकी नियुक्ति बागी शुजा के विरुद्ध की गयी। प्रयाग के पास होने वाले युद्ध मे उसको शाही तोपखाने का अधिकारी बनाया गया था। १६६० ई० के चाकण के घेरे मे वह मिर्जा राजा जयसिंह की चढाइयो मे शाही फौज मे सम्मिलित था। वह बहुत समय औरगाबाद का फौजदार भी रहा जहाँ उसने कई इमारतें बनवायी और गाँव बसाये।[५]

राव अनिरुद्ध हाडा (१६८१-१६९५ ई०)

यह राव भावसिंह हाडा के छोटे भाई का पोता था जो १५ वर्ष की आयु मे १६८१ ई० में बूंदी राज्य का स्वामी बना। उसकी गद्दी-नशीनी पर औरगजेब ने खिलअत और हाथी टीके मे भेजे थे। १६८२ ई० मे औरगजेब के दक्षिण के अभियानो मे वह उसके साथ था। इस अवधि मे उसने मराठो से शाही बेगमो को घेरे जाने पर बचाया, जिससे प्रसन्न होकर सम्राट ने उसकी जागीर मे वृद्धि कर दी और उसको खिलअत भी दी। कुछ समय उसे अपने घरेलू झगडे मे, जो दुर्जनसिंह और उसके बीच मे हुए थे, उलझे रहना पडा। १६८८ ई० के राजाराम जाट के विरुद्ध लडे गये युद्ध मे वह आजम के पुत्र बेदारबख्त के साथ था। काबुल के युद्धो मे भी उसकी नियुक्ति मुअज्जम और आमेर के शासक बिशनसिंह के साथ हुई थी। वही उसकी मृत्यु १६९५ ई० मे हो गयी।[६]

---

४ मआसिर-उल-उमरा, भा० १, पृ० ४०३, वशभास्कर, जि० ३, पृ० १३७, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ४, पृ० २६८, २७२

५ वशप्रकाश, पृ० ७६-८०

६ औरगजेबनामा (देवीप्रसाद), भा० २, पृ० १२४-२५, टॉड, राजस्थान, जि० ३, पृ० १४९३-९४

रावराजा बुद्धसिंह (१६९५-१७३९ ई०)

यह राव अनिरुद्धसिंह का ज्येष्ठ पुत्र था जो १० वर्ष की आयु मे १६९५ ई० मे बूंदी राज्य का स्वामी बना। जब औरगजेब की मृत्यु हुई तो उसके पुत्रो के बीच उत्तराधिकार के लिए युद्ध ठन गया। बुद्धसिंह ने, जो उस समय काबुल मे था, बहादुरशाह का साथ दिया। इस युद्ध मे उसने अपनी बहादुरी का परिचय दिया। विजय बहादुरशाह की रही जिससे उसने बुद्धसिंह को 'महाराव राणा' का खिताब एव कुछ परगने जागीर मे दिये। परन्तु जब फर्रुखसियर शासक बना तो कोटा के महाराव भीमसिंह ने सम्राट से फरमान प्राप्त कर बूंदी कोटा मे मिला लिया। परन्तु जब सम्राट को सैयद बन्धुओ के विरुद्ध सहायता की आवश्यकता हुई तो बुद्धसिंह ने सम्राट का पक्ष लिया। इससे प्रसन्न होकर उसने बूंदी फिर बुद्धसिंह को दिला दी। पर जब १७१९ ई० मे फर्रुखसियर की मृत्यु हो गयी तो सैयद बन्धुओ की सहायता से भीमसेन ने बुद्धसिंह को युद्ध मे परास्त कर बूंदी अपने अधिकार मे कर ली और उस पर भगवानदास धाभाई को फौजदार नियुक्त कर दिया। परन्तु यह अधिकार क्षणिक रहा। जब भीमसिंह की मृत्यु १७२० ई० मे हो गयी तो फौजदार ने फिर बूंदी बुद्धसिंह को सुपुर्द कर दी।[७]

इन नरेशो का मुगलो से सीधा सम्पर्क रहा जिसका सक्षेप मे वृत्तान्त दिया गया है। इस समय के बाद बूंदी की राजनीति ने नया पलटा खाया जिसके फलस्वरूप मराठो का प्रवेश राजस्थान मे होने पाया जिसका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

---

७ खफीखाँ, जि० २, पृ० ८४४-८५१

अध्याय २२

कोटा राज्य और मुगल सम्बन्ध* (१६२३-१७५६ ई०)

कोटा वैसे तो बूदी राज्य का अग था, परन्तु ज्यो-ज्यो समय बीतता गया परिस्थितियो के कारण कोटा अपने पैतृक राज्य से अलग हो गया। राव सुजन की मृत्यु के पश्चात उसके पुत्र भोज ने अपने तीन पुत्रो मे से एक पुत्र हृदयनारायण को कोटा का शासक नियुक्त किया और इस सम्बन्ध मे अकबर की अनुमति भी शाही फरमान द्वारा प्राप्त कर ली। अपने पिता के द्वारा नयी व्यवस्था के सम्पादन से तथा मुगल स्वीकृति से कोटा का स्वतन्त्र अस्तित्व हो गया। भोज की मृत्यु के बाद जब उसका प्रथम पुत्र राव रतन बूदी की गद्दी पर बैठा तो दोनो हाडौती के भागो पर अलग-अलग शासक थे जिससे कोटा की बूदी से पृथक स्थिति और अधिक स्पष्ट हो जाती है। अलबत्ता जब तक भोज जीवित था, हृदयनारायण अपने पिता की आज्ञा मानता था और भोज की मृत्यु के उपरान्त भी वह पूर्ववत अपने भाई रतन की आज्ञा का सम्मान करता रहा।[1]

हृदयनारायण को मुगल सम्पर्क का पहला अवसर तब मिला था जबकि नूरजहाँ ने राव रतन को खुर्रम के विद्रोह को दबाने के लिए आमन्त्रित किया था। राव रतन ने बूंदी तथा कोटा की सेना की सहायता से, शाहजादा परवेज के नेतृत्व में रहते हुए, झूसी के स्थान पर १६२३ ई० मे खुर्रम को परास्त किया और उसे विवश किया कि वह अपने दल के साथ दक्षिण भाग निकले। इस युद्ध मे हृदयनारायण के भाग के मोर्चे पर शत्रुओ का काफी दबाव था जिसका मुकाबला हृदयनारायण नही कर सका। फलत वह भी रणक्षेत्र से भाग गया। जब जहाँगीर के पास हृदयनारायण की कायरता के समाचार पहुँचे तो उसने कोटा राज्य हृदयनारायण से छीन लिया। अस्थायी रूप से राव रतन ने कोटा राज्य का शासन कुछ समय के लिए अपने हाथ मे ले लिया।[2]

---

* कोटा राज्य और मुगल सम्बन्ध के विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य, डा० मथुरालाल शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भा० १

[1] टॉड, राजस्थान, जि० ३, पृ० १४८६

[2] तुजुक-ए-जहाँगीरी, जि० २, पृ० २६४-६६, इकबालनामा, पृ० २५-३४

माधोसिंह (१६२४-१६४८ ई०)

जब झूसी से परास्त होकर खुर्रम दक्षिण पहुँचा तो उसने अहमदनगर के मन्त्री मलिक अम्बर से मैत्री कर ली और वह मुगल सेना का मुकाबला करने लगा। उस समय राव रतन भी अपने दोनों पुत्रों—माधोसिंह तथा हरिसिंह के साथ मुगल सेना का नेतृत्व कर रहा था और उसका पड़ाव बुरहानपुर में था। खुर्रम ने शत्रु सेना को घेर लिया। राव रतन ने तथा उसके पुत्र माधोसिंह ने इस घेरे के अवसर पर अपने साहस का परिचय दिया जिसके फलस्वरूप खुर्रम को फिर भागना पड़ा। इस अवसर पर राव रतन ने शत्रुओं के ३०० सैनिक बन्दी बनाये तथा उनका बहुत-सा सामान लूट लिया। इस प्रकार विजयश्री राव रतन के हाथ लगी। इस युद्ध में तरुण माधोसिंह ने अपने अपूर्व साहस का परिचय दिया था, अतएव उसके पिता ने उसे १६२४ ई० में कोटा का राजा बना दिया, जिसकी स्वीकृति जहाँगीर से माँगी गयी।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि माधोसिंह की इस समय कोटा राज्य पर नियुक्ति बादशाही फरमान के अभाव में अस्थायी ही थी, क्योंकि खुर्रम का विद्रोह तथा मुगल राज्य की स्थिति नयी करवटें ले रहा था, राव रतन ने केवल मात्र औपचारिक रूप से सम्राट की स्वीकृति माँग ली थी। सम्भवत उसे भय था कि यदि इस सम्बन्ध का फरमान मिल जायगा तो खुर्रम बादशाह बनने पर उसे अस्वीकृत कर देगा।[4]

वैसे तो खुर्रम बुरहानपुर से भागा था परन्तु पीछे वह पकड़ा गया और राव रतन की निगरानी में बुरहानपुर में ही बन्दी बनाकर रखा गया। उसने अपने छोटे लड़के हरिसिंह को शाहजादे की देखरेख के लिए नियुक्त किया। कुँवर हरिसिंह ने खुर्रम के साथ दुर्व्यवहार करना आरम्भ किया। वंशभास्कर के लेखक के अनुसार वह शाहजादे से पंखा झलवाता था और यदि वह इसमें संकोच करता था तो उसकी नाक पर मुक्के का प्रहार करता था। वह उसके साथ इतना निष्ठुर था कि उसको गरम रोटी भी नहीं दी जाती थी। नितान्त इस व्यवहार से तंग आकर खुर्रम ने राव रतन से इस अनुचित व्यवहार की शिकायत की। जब राव रतन ने देखा कि खुर्रम को सम्राट ने क्षमा कर दिया है और वह भावी सम्राट है तो उसने तुरन्त उसके प्रति उदार नीति को अपनाया। कुँवर हरिसिंह की देखरेख हटा ली गयी और यह काम माधोसिंह को सुपुर्द किया गया। उसे आदेश दिया गया कि वह खुर्रम को सम्मानपूर्वक रखे। उसने शाहजादे की सेवा के लिए शिष्ट तथा अनुभवी सेवकों की नियुक्ति की और यह आज्ञा दी कि माधोसिंह और अन्य परिचरगण शाहजादे की आज्ञा का पालन करें। माधोसिंह भी समय की गति को पहचानता था। उसने शाहजादे के लिए आमोद-प्रमोद के लिए साधन जुटा दिये। इसी अवधि में राव रतन और माधोसिंह

---

३ तुजुक-ए-जहाँगीरी, जि० १, पृ० ३१९, खफीखाँ, जि० १, पृ० ३४६-३५६, वंशभास्कर, भा० ३, पृ० २४८७, २५००, ९४

४ वंशभास्कर, भा० ३, पृ० २५१० १२

की खुर्रम के प्रति सद्भावनाएँ बनती चली गयी। यहाँ तक कि जब जहाँगीर ने उन्हे शाही बन्दी को दिल्ली भेजने की आज्ञा दी तो उसको बीमार होना बताकर भेजने मे असमर्थता प्रकट की। साथ ही साथ खुरम पर किये जाने वाले अनर्थों की सम्भावना से बचाने के लिए बुरहानपुर के किलेदार द्वारिकादास से मिलकर उसे वहाँ से चुपके से भगा दिया।[५] इस नीति मे अनुकूल परिस्थिति की प्रतीक्षा की गयी थी। धीरे-धीरे परिस्थिति बदलने लगी। नूरजहाँ अपने जामाता के राज्यारोहण के षड्यन्त्रो मे व्यस्त हो गयी और जहाँगीर महावतखाँ का बन्दी बन अपनी प्रतिष्ठा को खो बैठा। यह स्थिति भी अधिक समय न रही। जब १६२७ ई० मे जहाँगीर कश्मीर से अस्वस्थ लौट रहा था कि मार्ग मे उसकी मृत्यु हो गयी। आसफखाँ की सहायता से शीघ्र ही खुर्रम शाही तख्त का स्वामी बन गया।

बताया जाता है कि जब खुरम को कैद से मुक्त कर गुप्त रीति से भगाये जाने की व्यवस्था की गयी थी तो उसने उसी समय कुरान लेकर राव रतन को आश्वासन दिलाया था कि भविष्य मे जब उसके दिन ठीक आयेंगे तो वह इस उपकार का बदला उचितढग से चुकायेगा, क्योकि कारागार मे माधोसिंह ने उसके साथ अच्छा व्यवहार किया था और उसे अपना स्वामी समझा था। राव रतन और माधोसिंह का शाहजादे के साथ अच्छे व्यवहार करने की चर्चा या कुरान द्वारा शपथ लेना आदि का वर्णन केवल वशभास्कर मे ही मिलता है। इसका उल्लेख समसामयिक या पिछले फारसी इतिहासो मे नही मिलता। परन्तु इसी आधार पर इस वर्णन मे सन्देह नही किया जा सकता, क्योकि राव रतन तथा माधोसिंह, जिनकी निगरानी मे शाही बन्दी था, कम से कम शाहजादे को भावी सत्ता का अधिकारी जानते थे। ऐसी स्थिति मे उसके साथ सद्व्यवहार करना कोई सन्देहात्मक नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त ज्योही खुर्रम राजगद्दी पर बैठा तो उसने माधोसिंह के नाम कोटा राज्य का फरमान जारी किया। कोटा राज्य की अभिवृद्धि के लिए उसको खजूरी, अरण्डखेडा, कैथून, आवाँ, कनवास, मधुकरगढ, दीगोद व रहल के परगने दिये। इन सम्मान-सूचक कार्यो से भी माधोसिंह द्वारा खुरम के साथ आदर और प्रेम का व्यवहार करना तथा कुरान लेकर माधोसिंह की पदवृद्धि की प्रतिज्ञा करना शकाजनक नही प्रतीत होता। वास्तव मे सूरजमल मिश्रण द्वारा दी गयी खुर्रम के सम्बन्ध की कारावास की कहानी निराधार नही कही जा सकती।

जब १६३१ ई० मे राव रतन का देहान्त बुरहानपुर मे बालघाट की रक्षा करते हुए हुआ तो माधोसिंह को पृथक रूप मे कोटा का राजा स्वीकार कर लिया गया। उसके लिए खिलअत भेजी गयी और उसका मनसब २५०० जात व १५०० सवार का

---

५ वशभास्कर, भा० ३, पृ० २५२३-२६

कर दिया गया। उसकी पदवी भी सम्भवत तभी से महाराजाधिराज स्वीकृत कर दी गयी।[६]

खानजहाँ लोदी का विद्रोह और माधोसिंह (१६३१ ई०)—कोटा का स्वतन्त्र तथा विधिवत शासक बनने से पूर्व ही माधोसिंह ने अपनी वीरता तथा स्वामिभक्ति का परिचय दे दिया था, जिसके फलस्वरूप वह मुगल राज्य का एक प्रभावशाली व्यक्ति बन गया। अब मुगल राज्य की दृष्टि मे हाडौती की शक्ति का केन्द्र बूँदी न होकर कोटा था। शाहजहाँ के समय मे खानजहाँ लोदी ने, जो मुगल दरबार का प्रमुख सामन्त था और जिसने कई अवसरो पर मुगलो की सेवा की थी, विद्रोह का झण्डा उठा लिया। उसने जगह-जगह—धौलपुर, उज्जैन, बुन्देलखण्ड आदि स्थानो मे उपद्रव आरम्भ कर दिये। विद्रोह को दबाने मे माधोसिंह के दल-बल ने बडी वीरता दिखायी जिसके फलस्वरूप १६३१ ई० मे विद्रोही अपने दो पुत्रो सहित युद्ध मे काम आया। शाहजहाँ ने माधोसिंह को, इस अवसर पर की गयी सेवाओ का उपयुक्त पुरस्कार दिया। उसके मनसब मे ५०० की वृद्धि की गयी और जीरापुर, खैराबाद, चेचट, खिलचीपुर, रामगढ, रहलावण, कोटडा, सुलतानपुर, बडवा, माँगरोल, सुकेत, मण्डाना, राणपुर, नीमोद, सोरसन, पलायथा, कोयला, आटोण और सोरखण्ड के परगने जागीर मे दिये गये।[७]

बुन्देला का विद्रोह और माधोसिंह (१६३५ ई०)—१६३५ ई० मे जब वीरसिंह के पुत्र जुझारसिंह ने शाहजहाँ के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तो विद्रोह को दबाने वाले दल मे माधोसिंह भी अपने १५०० सैनिको के साथ सम्मिलित था। माधोसिंह चाँदा की सीमा पर जुझारसिंह मे भिडा जिसमे शत्रु खेत छोडकर भाग गया। इस वीरता के उपलक्ष मे हाडा वीर के मनसब मे वृद्धि की गयी तथा खिलअत और चाँदी की जीन सहित घोडा इनायत किया गया।[८]

माधोसिंह की सीमान्त तथा मध्य एशियाई मोर्चे पर सेवाएँ (१६३७-४८ ई०)—सीमान्त प्रान्त तथा मध्य एशियाई भाग, सैनिक तथा व्यापारिक दृष्टि से मुगल साम्राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण थे। इनके अधिकार के लिए अकबर के समय से निरन्तर सघर्ष चल रहे थे। शाहजहाँ की महत्त्वाकाक्षा इस सम्बन्ध मे शिथिल नही थी। औरगजेब और दारा के नेतृत्व मे कन्धार विजय के लिए दो विफल घेरे हो चुके थे। माधोसिंह भी १,५०० सवारो के साथ १६३७ ई० में कन्धार के घेरे मे सम्मिलित था। वहाँ लगभग २ वर्ष तक कन्धार के घेरे मे वह लडता रहा। इसी अवधि मे वह कई बार लाहौर आया और बादशाह से आवश्यक आदेश और सहायता प्राप्त कर युद्ध-

---

६ बादशाहनामा, पृ० ४०१

७ बादशाहनामा, इ० डा०, भा० ७, पृ० २०-२२, शाहजहाँनामा, भा० २, पृ० २८, मआसिर-उल-उमरा, पृ० २८६, वशभास्कर, भा० ३, पृ० २५६५

८ अब्दुल हमीद, बादशाहनामा, जिल्द १, भा० २, पृ० ६६-११७

स्थल लौटता रहा। बादशाह ने भी माधोसिंह की वीरता, स्वामिभक्ति और निपुणता का समय-समय पर, उसके पद मे वृद्धि कर, सम्मान किया।[९]

१६४२ ई० मे जब बल्ख और बदख्शा मे नजरमुहम्मद और अब्दुल अजीज के मध्य राज्यारोहण का झगडा आरम्भ हो गया तो शाहजहाँ ने उसमे हस्तक्षेप करने का दृढ सकल्प किया। वह इस प्रदेश को अपने पैतृक राज्य का अग मानता था और बडा उत्सुक था कि उस अवसर का लाभ उठाकर उसे अपने राज्य मे मिला ले। शाहजादा मुरादबख्श के नेतृत्व मे एक अभियान का आयोजन हुआ। माधोसिंह को भी १६४६ ई० मे इसमे सम्मिलित होने का आदेश हुआ। ज्योही शाही सेना इस प्रदेश मे बढती थी तो राजपूत सेना हरावल मे रहकर मुगल सत्ता को स्थापित करती थी। कमरू और कन्दज के किलो को मुगल अधिकार मे लेने मे तथा बल्ख पर अधिकार स्थापित करने मे माधोसिंह ने अपने अदम्य साहस और शौर्य का परिचय दिया। नजरमोहम्मद मुगल शक्ति का मुकाबला न कर सका और अन्त मे भाग गया। उसका परिवार बन्दी बनाकर काबुल भेज दिया गया। इस विजय में मुरादबख्श को विशाल सम्पत्ति हाथ लगी। परन्तु वह तथा अन्य मुगल सैनिक भारत लौटने के लिए आतुर हो गये। शाहजादा मुरादबख्श सम्राट की आज्ञा बिना ही लौट आया परन्तु माधोसिंह किले की निरन्तर रक्षा करता रहा। ज्योही शाही सेना चली गयी तो नजर मोहम्मद तथा अब्दुल अजीज की सयुक्त सेना ने बल्ख के किले को पुन प्राप्त करने का प्रयत्न किया पर वह असफल रही। इतने में २५ मई, १६४७ को औरगजेब की सेना आ पहुँची जिससे माधोसिंह के विरोध को अधिक बल मिला। जब सम्राट ने मुराद के द्वारा माधोसिंह की वीरता और कुशलता की प्रशसा सुनी तो उसके लिए चाँदी के साज और आभूषणो से अलकृत 'बाद-रफ्तार' नामक घोडा भेजा। औरगजेब ने यह घोडा वीर हाडा को दिया और बल्ख की किलेदारी उसी के पास रखी। कारणवश जब शाही सेना भारत लौटी तो माधोसिंह भी स्वदेश लौट गया। निरन्तर युद्ध लडने तथा पहाडी जलवायु के सेवन के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड गया। कोटा लौटने पर १६४८ ई० मे, लगभग ४८ वर्ष की अवस्था मे, उसकी मृत्यु हो गयी।[१०]

माधोसिंह का व्यक्तित्व और उपलब्धियाँ—माधोसिंह राव रतन का द्वितीय पुत्र था। इसका जन्म ज्येष्ठ, शुक्ला ३, सवत् १६५६ मे बूँदी मे हुआ था। इसकी माता अरण्डखेडा के, जो बूदी के अन्तर्गत था, बालनोत ठाकुर की लडकी थी। इसकी प्रारम्भिक शिक्षा बूँदी मे रहते हुए ही हुई थी। चौदह वर्ष की अवस्था तक

---

९ अब्दुल हमीद, बादशाहनामा, जिल्द १, भा० २, पृ० १५२

१० अब्दुल हमीद, बादशाहनामा, जिल्द २, पृ० ४८४-८५, ८८, ५६६, ५७१, ६१४, ६१८, ६२०-२४, ६२६, ६४२-५७, ६८०-८५, ६४१, ६८७, वशभास्कर, भा० ३, पृ० २६३०-३५, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, जि० १, पृ० १०३-११०

कुछ संस्कृत, भाषा, पुराण आदि सम्बन्धी ज्ञान इसे हो गया था। शस्त्र चलाने तथा घोडे की सवारी मे उसने छोटी आयु मे ही दक्षता प्राप्त कर ली थी। इसमे निपुण होने से उसका सम्मान मुगल राज्य मे खूब बढा।

अपने समय मे मुगलो द्वारा लडे जाने वाले दक्षिण, सीमान्त प्रान्त तथा बल्ख बदख्शा के युद्धो मे उसकी नियुक्तियाँ हुई थी, जिनमे बहुधा हरावल मे रहकर अपने युद्ध-कौशल का उसने पूर्ण परिचय दिया था। समय-समय पर सम्राट द्वारा उसे मनसब, खिलअत तथा जागीर इनायत कर सम्मानित किया गया था। उसने अपने जीवन-काल मे ५००० जात तथा २५०० सवार का मनसब प्राप्त किया था जो मुगल व्यवस्था मे प्रतिष्ठा का पद था। इस प्रकार के मनसब से माधोसिंह की वार्षिक आय साढे तीन लाख थी। यह पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करने मे उसने बुन्देलो, अफगानो और विद्रोहियो को खूब छकाया था। बल्ख तथा बदख्शा के अभियानो मे तो माधोसिंह ने मुगल राज्य के गौरव बढाने मे कोई कसर नही रखी थी। जब शाहजादा इस प्रान्त मे अधिक समय रहने से ऊब गया था तो माधोसिंह ने अकेले अपने साथियो के सहयोग से बल्ख के किले को बचाये रखा। औरंगजेब जैसा साहसी शाहजादा भी माधोसिंह के युद्ध-चातुर्य से मुग्ध था। इस प्रकार की प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसने राजा की पदवी प्राप्त की थी और उसे नक्कारा और निशान मिलने का सौभाग्य प्राप्त था।

माधोसिंह ने जब कोटा का राज्य प्राप्त किया था उस समय उसका विस्तार अधिक नही था। पूर्व मे पलायथा और मेगरोल, उत्तर मे बडौद, पश्चिम मे नान्ता तथा दक्षिण मे मुकन्दरा की पर्वत-श्रेणी तथा शेरगढ तक उसके राज्य की सीमा थी। उसने अपनी योग्यता से राज्य का विस्तार कर उसे ४३ परगनो मे विभाजित कर दिया जिसमे लगभग २००० गाँव थे।

माधोसिंह के समय मे शासन-प्रबन्ध अपने ढग का था। कुछ परगने अजमेर सूबे के रणथम्भौर सरकार मे और कुछ सूबा उज्जैन के गागरौन सरकार मे गिने जाते थे। इसी विभाजन के अनुसार कोटा राज्य की मालियात इन दोनो सूबा के खजाने मे प्रति वर्ष जमा होती थी। इस प्रकार की जमाबन्दी कोटा की मुगल अधीनता स्पष्ट करती है। प्रत्येक परगने मे बादशाह द्वारा नियुक्त चौधरी और कानूनगो होते थे और प्रत्येक मे राजा द्वारा नियुक्त ठाकुर होता था। ये अवैतनिक होते थे और उन्हे राजस्व का कुछ भाग वसूली की रकम से मिलता था। इनका पद पैतृक होता था। चौधरी और कानूनगो जमीन का नाप, पैदावार और उसमे वसूली का लेखा रखते थे। उनका यह भी काम था कि वे कृषि की उन्नति का उपाय करते रहे। इनकी सहायता के लिए पटेल होते थे। ये अधिकारी अपना हिसाब सम्राट की खिद-मत मे पेश करते थे। वे राजा के सीधे सेवक न थे परन्तु जब तक वे अमुक राजा की जागीर मे रहते थे तब तक उसकी आज्ञा का भी पालन करते थे। ठाकुर राजा के द्वारा नियुक्त होता था जो परगने के शासन, शान्ति तथा सुरक्षा

मुगल मनसबदार होने के नाते माधोसिंह ५००० जात तथा २५०० सवार के हिसाब से सेना रखता था। राज्य की सुरक्षा के लिए भी एक अलग सेना होती थी जिनमे पैदल, घुडसवार, हाथी, ऊँट आदि रहते थे। सेना मे अलग-अलग विभाग भी रहते थे जिनके पृथक-पृथक अधिकारी हुआ करते थे।

राज्य की आर्थिक व्यवस्था अधिक सन्तोषजनक नही थी। बहुत-सी भूमि जागीर मे बँटी रहती थी। खालसा भूमि भी मुकाते पर उठायी जाती थी जिसकी आमदनी ब्याज और मूल रकम मे जमा होती रहती थी। निजी खर्च, युद्ध खर्च और धर्मार्थ व्यय अधिक होता था।

माधोसिंह को इमारतें बनवाने का शौक था। उसने अपने समय मे गढ, महल, दरवाजे आदि का निर्माण करवाया। राजमहल का हौज, बोलसरी की ड्योढी, नक्कारखाने का दरवाजा, शहरपनाह, पाटनपोल, कैथूनीपोल, भीलवाडी पोल आदि निर्माण के काय उसके समय मे हुए थे। मधुकरगढ नामक कस्बा भी माधोसिंह ने बसाया था। इन इमारतो मे मूल रूप से हिन्दू स्थापत्य दिखायी देता है, कही-कही अलबत्ता मुगल शैली की झलक है।

राव मुकुन्दसिंह हाडा (१६४८-१६५८ ई०)

राव मुकुन्दसिंह माधोसिंह का ज्यष्ठ पुत्र था। उसे अपने बाल्यकाल से ही युद्धोपयोगी शिक्षा मिली थी। सम्भव है उसे अपने पिता के साथ मुगल सेवाओ मे जाने का अवसर मिला हो या एतद् सम्बन्धी घटनाओ के वर्णन द्वारा सैनिक शिक्षण प्राप्त किया हो। राज्यारोहण के समय उसे शाहजहाँ ने शाही खिलअत से तथा तीन हजार के मनसब और दो हजार सवार पद से सम्मानित किया। वैसे तो अपने राज्यारोहण के प्रारम्भिक काल मे उसने अपना अधिकाश समय राज्य के शासन-कार्य को सँभालने मे लगाया, परन्तु आवश्यकता पडने पर उसने मालवा, दक्षिण प्रदेश तथा चित्तौड के युद्धो मे भाग लिया। जब इसके शासनकाल में शाहजहाँ के चारो लडको मे गृह-युद्ध आरम्भ हुआ तो अन्य राजस्थानी नरेशो की भाँति मुकुन्दसिंह ने भी केन्द्रीय शक्ति का साथ दिया। औरगजेब और मुराद की सयुक्त सेना का मुकाबला करने के लिए जसवन्तसिंह के नेतृत्व मे एक महती सेना उज्जैन की ओर चली जिसमे मुकुन्दसिंह भी अपने ५०० सवारो के साथ उसमे सम्मिलित हुआ। कुछ दिनो प्रतीक्षा करने के उपरान्त धर्मत के मैदान मे दोनो पक्षो की मुठभेड हुई जिसमे मुकुन्दसिंह ने हरावल मे रहते हुए मुगल सेना का नेतृत्व किया। इसके चार भाई—मोहनसिंह, जुझारसिंह, कन्हीराम व किशोरसिंह भी इसके सहयोगी थे। शीघ्र ही शत्रुदल के तोपखाने का सामना करता हुआ मुकुन्दसिंह औरगजेब के हरावल पर टूट पडा। तब तो तोपखाने के अफसरो ने जसवन्तसिंह के और मुकुन्दसिंह के दलो को अलग कर दिया। इस चाल से मुकुन्दसिंह शत्रु सेना

कुछ सस्कृत, भाषा, पुराण आदि सम्बन्धी ज्ञान इसे हो गया था। शस्त्र चलाने तथा घोडे की सवारी मे उसने छोटी आयु मे ही दक्षता प्राप्त कर ली थी। इसमे निपुण होने से उसका सम्मान मुगल राज्य मे खूब बढा।

अपने समय मे मुगलो द्वारा लडे जाने वाले दक्षिण, सीमान्त प्रान्त तथा वल्ख वदख्शा के युद्धो मे उसकी नियुक्तियाँ हुई थी, जिनमे बहुधा हरावल मे रहकर अपने युद्ध-कौशल का उसने पूर्ण परिचय दिया था। समय-समय पर सम्राट द्वारा उसे मनसव, खिलअत तथा जागीर इनायत कर सम्मानित किया गया था। उसने अपने जीवन-काल मे ५००० जात तथा २५०० सवार का मनसव प्राप्त किया था जो मुगल व्यवस्था मे प्रतिष्ठा का पद था। इस प्रकार के मनसव से माधोसिंह की वार्षिक आय साढे तीन लाख थी। यह पद और प्रतिष्ठा प्राप्त करने मे उसने बुन्देलो, अफगानो और विद्रोहियो को खूब छकाया था। वल्ख तथा वदख्शा के अभियानो मे तो माधोसिंह ने मुगल राज्य के गौरव वढाने मे कोई कसर नही रखी थी। जब शाहजादा इस प्रान्त मे अधिक समय रहने से ऊव गया था तो माधोसिंह ने अकेले अपने साथियो के सहयोग से वल्ख के किले को वचाये रखा। औरगजेव जैसा साहसी शाहजादा भी माधोसिंह के युद्ध-चातुर्य से मुग्ध था। इस प्रकार की प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसने राजा की पदवी प्राप्त की थी और उसे नक्कारा और निशान मिलने का सौभाग्य प्राप्त था।

माधोसिंह ने जब कोटा का राज्य प्राप्त किया था उस समय उसका विस्तार अधिक नही था। पूर्व मे पलायथा और मेगरोल, उत्तर मे वडौद, पश्चिम मे नान्ता तथा दक्षिण मे मुकन्दरा की पर्वत-श्रेणी तथा शेरगढ तक उसके राज्य की सीमा थी। उसने अपनी योग्यता से राज्य का विस्तार कर उसे ४३ परगनो मे विभाजित कर दिया जिसमे लगभग २००० गाँव थे।

माधोसिंह के समय मे शासन-प्रवन्ध अपने ढग का था। कुछ परगने अजमेर सूवे के रणथम्भौर सरकार मे और कुछ सूवा उज्जैन के गागरौन सरकार मे गिने जाते थे। इसी विभाजन के अनुसार कोटा राज्य की मालियात इन दोनो सूवो के खजाने मे प्रति वर्ष जमा होती थी। इस प्रकार की जमावन्दी कोटा की मुगल अधीनता स्पष्ट करती है। प्रत्येक परगने मे वादशाह द्वारा नियुक्त चौधरी और कानूनगो होते थे और प्रत्येक मे राजा द्वारा नियुक्त ठाकुर होता था। ये अवैतनिक होते थे और उन्हे राजस्व का कुछ भाग वसूली की रकम से मिलता था। इनका पद पैतृक होता था। चौधरी और कानूनगो जमीन का नाप, पैदावार और उसमे वसूली का लेखा रखते थे। उनका यह भी काम था कि वे कृषि की उन्नति का उपाय करते रहे। इनकी सहायता के लिए पटेल होते थे। ये अधिकारी अपना हिसाब सम्राट की खिदमत मे पेश करते थे। वे राजा के सीधे सेवक न थे परन्तु जब तक वे अमुक राजा की जागीर मे रहते थे तब तक उसकी आज्ञा का भी पालन करते थे। ठाकुर राजा के द्वारा नियुक्त होता था जो परगने के शासन, शान्ति तथा सुरक्षा का उत्तरदायी था।

मुगल मनसबदार होने के नाते माधोसिंह ५००० जात तथा २५०० सवार के हिसाब से सेना रखता था। राज्य की सुरक्षा के लिए भी एक अलग सेना होती थी जिनमे पैदल, घुडसवार, हाथी, ऊँट आदि रहते थे। सेना मे अलग-अलग विभाग भी रहते थे जिनके पृथक-पृथक अधिकारी हुआ करते थे।

राज्य की आर्थिक व्यवस्था अधिक सन्तोषजनक नही थी। बहुत-सी भूमि जागीर मे बँटी रहती थी। खालसा भूमि भी मुकाते पर उठायी जाती थी जिसकी आमदनी व्याज और मूल रकम मे जमा होती रहती थी। निजी खर्च, युद्ध खर्च और धर्मार्थ व्यय अधिक होता था।

माधोसिंह को इमारतें बनवाने का शौक था। उसने अपने समय मे गढ, महल, दरवाजे आदि का निर्माण करवाया। राजमहल का हौज, बोलसरी की ड्योढी, नक्कारखाने का दरवाजा, शहरपनाह, पाटनपोल, कैथूनीपोल, भीलवाडी पोल आदि निर्माण के कार्य उसके समय मे हुए थे। मधुकरगढ नामक कस्बा भी माधोसिंह ने बसाया था। इन इमारतो मे मूल रूप से हिन्दू स्थापत्य दिखायी देता है, कही-कही अलबत्ता मुगल शैली की झलक है।

राव मुकुन्दसिह हाडा (१६४८-१६५८ ई०)

राव मुकुन्दसिह माधोसिंह का ज्यष्ठ पुत्र था। उसे अपने बाल्यकाल से ही युद्धोपयोगी शिक्षा मिली थी। सम्भव है उसे अपने पिता के साथ मुगल सेवाओ मे जाने का अवसर मिला हो या एतद् सम्बन्धी घटनाओ के वर्णन द्वारा सैनिक शिक्षण प्राप्त किया हो। राज्यारोहण के समय उसे शाहजहाँ ने शाही खिलअत से तथा तीन हजार के मनसब और दो हजार सवार पद से सम्मानित किया। वैसे तो अपने राज्यारोहण के प्रारम्भिक काल मे उसने अपना अधिकाश समय राज्य के शासन-कार्य को सँभालने मे लगाया, परन्तु आवश्यकता पडने पर उसने मालवा, दक्षिण प्रदेश तथा चित्तौड के युद्धो मे भाग लिया। जब इसके शासनकाल मे शाहजहाँ के चारो लडको मे गृह-युद्ध आरम्भ हुआ तो अन्य राजस्थानी नरेशो की भाँति मुकुन्दसिह ने भी केन्द्रीय शक्ति का साथ दिया। औरगजेब और मुराद की सयुक्त सेना का मुकाबला करने के लिए जसवन्तसिंह के नेतृत्व मे एक महती सेना उज्जैन की ओर चली जिसमे मुकुन्दसिह भी अपने ५०० सवारो के साथ उसमे सम्मिलित हुआ। कुछ दिनो प्रतीक्षा करने के उपरान्त धर्मत के मैदान मे दोनो पक्षो की मुठभेड हुई जिसमे मुकुन्दसिह ने हरावल मे रहते हुए मुगल सेना का नेतृत्व किया। इसके चार भाई—मोहनसिह, जुझारसिह, कन्हीराम व किशोरसिह भी उसके सहयोगी थे। शीघ्र ही शत्रुदल के तोपखाने का सामना करता हुआ मुकुन्दसिह औरगजेब के हरावल पर टूट पडा। तब तो तोपखाने के अफसरो ने जसवन्तसिह के और मुकुन्दसिह के दलो को अलग कर दिया। इस चाल से मुकुन्दसिह शत्रु सेना

से घिर गया और अन्त मे अपने चारो भाइयो तथा अन्य ६ राजपूत सरदारो के साथ रणक्षेत्र मे धराशायी हुआ।[११]

शासन-प्रबन्ध—राव मुकुन्दसिंह ने अपने समय मे कोटा राज्य को अपने सुशासन द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनाया। उस समय देश की रक्षा के लिए मनसव पद के अतिरिक्त वडी सेना रखी जाती थी। मुगलो की भाँति राजकीय सेवा करने वाले जागीरदारो को निश्चित सैनिक रखने होते थे और उसके वदले मे उन्हे जागीर दी जाती थी। ऐसे जागीरदारो मे राठौड, कछवाहा, सीसोदिया, तँवर, पँवार, मुसलमान, भील, मीणे, अहीर आदि होते थे। इन जागीरदारो के साथ पैदल, घुडसवार शुतुर्सवार आदि के साथ अटक पार जाने की शर्त कर ली जाती थी। जागीरें केवल युद्ध-कार्य मे सहायता पहुँचाने के लिए ही नही दी जाती थी, वरन् गुणीजन, दस्तकार, कलाकार, अहलकार, खवास, भाट आदि लोगो को भी नौकरी के एवज जागीर मिलती थी। जागीर के गाँवो मे राहदारी, जकात आदि कर तो राज्य के कर्मचारी वसूल करते थे और हासिल जागीरदार वसूल करते थे। राज्य जागीर के गाँवो के कुछ शासन का उत्तरदायी होता था इसलिए 'मसादती' नामक कर राज्य जागीरदारो से वसूल करता था।[१२]

भूमि-कर राज्य की मुख्य आय होती थी जो नकद और अनाज के रूप मे लिया जाता था। विशेषत उपज का तीसरा या सवा तीसरा भाग राज्य लेता था। सन, तम्वाकू, कपास, तरकारी आदि मे नकद वसूली की जाती थी। भूमि-कर निश्चित करने के लिए कूँत (अनुमान), लाटा तथा वटाई की पद्धति काम मे लायी जाती थी जिसमे गाँव के पटेल, पटवारी, हवालगीर, चौधरी तथा गाँव के पच सम्मिलित रहते थे। कभी-कभी पूरे गाँव मुकाते पर दिये जाते थे जिसमे मुकातेदार कृषको से कर वसूल कर राज्य को देते थे। इस प्रथा मे कृषको को हानि उठानी पडती थी। भूमि-कर के अतिरिक्त कई अन्य कर भी थे जो नेग, कँवर, मटकी, खडपा, खूटी, नापो, छापो, कसारी, धाणी, कलाली आदि कहलाते थे। इनमे से अधिक कर पेशेवर कौम से सम्वन्धित थे।[१३]

राज्य का सम्पूर्ण काम राजा के नाम के हुक्म से होता था जिसमे राजमन्त्री आज्ञा देते थे। हवालगीर तथा दीवान वडे अधिकारी होते थे जिनके नाम मन्त्री आज्ञा भेजता था। परगने के अधिकारियो मे चौधरी, कानूनगो, हवालगीर तथा फोतदार मुख्य होते थे। गाँवो में पटेल तथा चौकीदार शासन-कार्य को देखते थे।

---

११ अमल-ए-सालेह, जि० ३, पृ० २८६-२८७, आलमगीरनामा, पृ० ५६-७८, वश-भास्कर, भा० ३, पृ० २६६७, सरकार, औरगजेव, जि० २, पृ० १२-१८

१२ तकसीम सवत् १७११, १७१८, तालीक सवत् १७०७, कागजात १७०७, मथुरालाल शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १४२-१४७

१३ भण्डार न० ४, सवत् १७०७-१७११ आदि

राव जगतसिंह (१६५८-१६८३ ई०)

राव जगतसिंह की आयु अपने पिता की मृत्यु के समय १४ वर्ष की थी। वह अपने पिता का इकलौता पुत्र था। धर्मत के युद्ध मे मुकुन्दसिंह के खेत रहने पर वह कोटा राज्य का स्वामी बना। इस समय मुगल राज्य की स्थिति विक्षुब्ध अवस्था से गुजर रही थी। औरगजेब ने साभूगढ की विजय के बाद अपने पिता को कैद कर लिया और स्वय शासक बन बैठा। वैसे तो वह कोटा परिवार से प्रसन्न न था, परन्तु वह जानता था कि बिना राजपूतो की सहायता के उसे साम्राज्य को सँभालने मे सफलता नही मिल सकती। उसने जगतसिंह को अपने दरबार मे बुलाकर २००० का मनसब दिया। जब शाहजादा शुजा ने औरगजेब के विरुद्ध बगावत का झण्डा उठाया तो सम्राट स्वय उसका मुकाबला करने को पूर्व की ओर बढा। जगतसिंह और उसका काका किशोरसिंह शाही सेना मे सम्मिलित थे। उन्हें खजुहा के मैदान मे हरावल मे लडने का अवसर प्राप्त हुआ, जिसमे उन्होने अपने साहस और वीरता का अच्छा परिचय दिया। शुजा की सेना खेत छोडकर भाग गयी और औरगजेब के हाथ विजयश्री प्राप्त हुई।[१४]

१६८ ई० के बाद औरगजेब बीजापुर और गोलकुण्डा के सुल्तानो तथा मराठो की शक्ति को नष्ट करने के अभिप्राय से दक्षिण की ओर बढा। मार्ग मे उसने कई मन्दिरो को भी तोडा। इस समय जगतसिंह मुगल सेना के साथ दक्षिण मे था। जब उसे कोटा के मन्दिरो के तोडे जाने की आशका की सूचना मिली तो उसने कोटा के अधिकारी वर्ग विजयराम, राय द्वारिकादास और चौधरी रणछोडदास को सावधान रहने का आदेश दिया। १६८० से १६८३ ई० की अवधि मे जगतसिंह प्राय दक्षिण मे मुगल सेवा मे बना रहा। कभी वह औरगाबाद मे, कभी बुरहानपुर मे और कभी जहानबाद में रहा। यहाँ रहते हुए उसकी, हैदराबाद के अभियान के अवसर पर दक्षिण मे ही १६८३ ई० के लगभग, मृत्यु हो गयी।[१५]

जगतसिंह का व्यक्तित्व—जगतसिंह का राजत्व-काल कोटा के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ। उसने खजुहा के युद्ध मे अद्भुत वीरता दिखायी थी जिसके उपलक्ष मे मऊ का परगना उसको मिला था। उसके राज्यारोहण के समय वैसे तो राज्य की आर्थिक दशा इतनी सन्तोषजनक न थी फिर भी उसने युक्तिपूवक शासन चलाया और राज्य की स्थिति को सँभाले रखा। उसके समय में दान, दक्षिणा और अनुदानो के वर्णन से उसकी दानशीलता प्रकट होती है। दुर्भिक्ष के समय कृषको को लगान मे छूट देना

---

[१४] आलमगीरनामा, पृ० २२६, २३४, २३५, २३८, २४१, २६३, २६४, २६५, वशभास्कर, भा० ३, पृ० २७६८, २७६९, २७७०, सरकार, औरगजेब, जि० २, पृ० ११०-२२०

[१५] डा० मथुरालाल शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १८२-१९६

और गाँवो को डाकुओ के द्वारा लूटे जाने पर प्रजा को राजकोप से सहायता देना उसकी उदारता के प्रमाण है।

राव किशोरसिंह (१६८४-१६९६ ई०)

जगतसिंह के नि सन्तान मरने से ठिकाना कोयले से पेमसिंह को गद्दी पर बिठाया। परन्तु इसमे अपेक्षित योग्यता का अभाव पाया गया अतएव इसके स्थान पर माधोसिंह के सबसे छोटे पुत्र किशोरसिंह को कोटा का अधिकारी बनाया। इसको अपने पिता तथा भाई के समय मे बल्ख और बदख्शा के युद्धो मे लडने का अनुभव प्राप्त था। धर्मत की लडाई मे अपने भाइयो के साथ रहकर औरगजेब के विरुद्ध इसे लडने का अवसर मिला था। युद्ध-स्थल से अचेत अवस्था मे इसे हटाया गया था। भाग्यवश उपचार की व्यवस्था होने से वह स्वस्थ हो सका था। राव जगतसिंह के साथ हरावल मे रहते हुए किशोरसिंह खजुहा के रणक्षेत्र मे शुजा के विरुद्ध वीरता से लडा था। उसकी नियुक्ति बीजापुर के युद्धो मे भी औरगजेब के द्वारा की गयी थी।[१६]

जगतसिंह की मृत्यु होने पर सम्राट ने किशोरसिंह को २००० का मनसब दिया और खिलअत देकर सम्मानित किया। इस समय से लगाकर अपने अन्तिम समय तक इसका अधिकाश समय दक्षिण मे युद्ध-स्थल मे बीता। बीजापुर की विजय मे राव किशोरसिंह ने अपनी वीरता का परिचय दिया था, जिसके उपलक्ष मे सम्राट ने इसको खिलअत, हाथी, घोडे और जवाहरात से सम्मानित किया। बीजापुर की विजय के बाद इब्राहीमगढ के घेरे मे उसने बडी दृढता और वीरता प्रदर्शित की थी। १६८६ ई० के हैदराबाद के घेरे मे भी औरगजेब के साथ रहकर राव किशोरसिंह ने अपने अद्भुत युद्ध-कौशल और स्वाभाविक वीरता का परिचय दिया था। १६८८ से १६९५ ई० तक जब औरगजेब मराठो का दमन करने मे लगा हुआ था तब किशोरसिंह कभी सम्राट के साथ और कभी शाही सेनापति जुल्फिकारखाँ के साथ मराठो से सघर्ष करता रहा। इस बीच उसकी नियुक्ति जाटो के उपद्रव को दबाने के लिए मथुरा और पहाडसिंह गौड के विद्रोह को दबाने के लिए मालवा मे हुई थी। १६८९ ई० के रायगढ तथा वसन्तगढ के घेरे के समय राव औरगजेब के साथ था और उसने अच्छी वीरता दिखायी थी। जिजी तथा कर्नाटक के अभियानो मे यह जुल्फिकारखाँ का सहयोगी था। सम्भवत धनाजी यादव तथा सान्ता घोरपरे के साथ लडे जाने वाले किसी दक्षिण के युद्ध मे १६९६ ई० के लगभग किशोरसिंह की मृत्यु हो गयी।[१७]

किशोरसिंह का व्यक्तित्व—राव किशोरसिंह ने पेमसिंह से राज्य लिया था जिसमे अशान्ति और असन्तोष था। राज्य-कोष खाली था। मऊ, बडौद आदि परगनो

---

[१६] आलमगीरनामा, पृ० ८४५-५०

[१७] मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० २६८, ३११, खफीखाँ, पृ० ३१६, ३९५, वशभास्कर, भा० ३, पृ० २८८६-२८९०

मे अराजकता फैल रही थी। राव किशोरसिंह ने धीरे-धीरे इन स्थानो मे शान्ति स्थापित की। इन परगनो मे तथा अन्य स्थानो मे शान्ति की रक्षा के लिए उसने गिरासिये नियत किये। परगना बारा पर अधिकार स्थापित करने के लिए सेना भेजी गयी। उसने राज्य के पुराने कर्ज को चुकाने की व्यवस्था की तथा कई मन्दिरो तथा ब्राह्मणो को जागीर देकर सन्तुष्ट किया। उसने किशोरसागर तालाब की मरम्मत करवायी और किशोर विलास बाग लगवाया। राजघाट के निर्माण तथा महलो और रगवाडी के कोट की मरम्मत कर स्थापत्य को प्रोत्साहन दिया। किशोरगज नामक कस्बे का बसाना तथा उसके पास एक बडे तालाब तथा महल और किले का निर्माण करवाना राव किशोरसिंह के स्थापत्य प्रेम के साक्षी हैं। इसी के राजत्व-काल मे चाँदखेडा के जैन मन्दिर का निर्माण हुआ था।

राव रामसिंह (१६९६-१७०७ ई०)

राव रामसिंह राव किशोरसिंह का द्वितीय पुत्र था। अरनी के युद्ध के समय वह अपने पिता के साथ था। ऐसा प्रतीत होता है कि मुगलो के द्वारा अरनी के किले को जीते जाने पर इसकी सुरक्षा का भार रामसिंह पर रहा था। इसे राजकुमार की अवस्था से ही अपने पिता के साथ बीजापुर, बसन्तगढ, रामगढ, भावनगर, अडोनी, पनाला, वन्देवाश, चगमन, अरनी आदि युद्धो मे रहकर एतद्कालीन युद्ध की गतिविधि को समझने का अच्छा अवसर मिला था। बीजापुर की विजय मे रामसिंह ने अपने अदम्य साहस का परिचय दिया था जिससे उसे १,००० का मनसब सम्राट की ओर से प्राप्त हुआ।[१८]

जब अरनी में राव किशोरसिंह की मृत्यु हो गयी तो उसका ज्येष्ठ भाई बिशनसिंह कोटा की गद्दी पर बैठ गया। उसके दूसरे भाई हरनाथसिंह ने भी इसका साथ दिया। जब रामसिंह को इसका पता चला तो उसने दक्षिण से प्रयाण किया। आँवा गाँव मे इन दोनो दलो का युद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप बिशनसिंह घायल हुआ और हरनाथसिंह धराशायी हुआ। रामसिंह, जिसे औरगजेब ने ३,००० का मनसब देकर सम्मानित किया था, अन्त मे कोटा का अधिकारी बन गया।[१९]

अपने गृह-युद्ध से छुटकारा पाकर राव रामसिंह फिर दक्षिण पहुँचा और अरनी तथा जिंजी के घेरे मे सम्मिलित हो गया। राजाराम जिंजी दुर्ग मे मुगलो का मुकाबला कर रहा था। रामसिंह ने कुछ समय यह प्रयत्न किया कि राजाराम और औरगजेब में सुलह हो जाय, परन्तु जब सम्राट किसी शर्त पर सन्धि करने को तैयार नही था तो सुलह के प्रयत्न बन्द कर दिये गये और पुन जिंजी का घेरा आरम्भ कर दिया

---

[१८] मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० ३०८, कागजात, १७४० वि०, सरकार, औरगजेब, जि० ५, पृ० १००-१०४

[१९] सरकार, जि० ५, पृ० १०४-१०५

गया। जुल्फिकारखाँ और दाऊदखाँ, जो मुगल सेनापति थे, जब अपने प्रयत्नो मे क्रमश. शिथिल होते जा रहे थे तो सम्राट ने रामसिंह को भी इनके साथ लगाया। घेरे की तीव्रता के फलस्वरूप जिंजी से राजाराम का परिवार राजगढ भेज दिया और दुर्ग मुगलो के हाथ लगा। राजाराम के परिवार को रायगढ पहुँचने पर भी शान्ति न मिली। रामसिंह के हाडो ने दुर्ग को घेर लिया और राजपरिवार को आत्मसमर्पण के लिए विवश होना पडा। रामसिंह ने मराठा परिवार को सम्मान के साथ शाही पडाव मे ठहराया। इस अवसर पर औरंगजेब ने प्रसन्न हो रामसिंह को खिलअत तथा उच्च पद से सम्मानित किया। सारथल, छीपाबडौद और खानपुर के परगने भी कोटा राज्य को मुगल सेवाओ के उपलक्ष मे मिले थे।[२०]

जब १७०७ ई० मे औरंगजेब की मृत्यु हो गयी और राजकुमारो मे उत्तराधिकार का युद्ध आरम्भ हो गया तो राव रामसिंह ने आजम का साथ दिया। जाजव के युद्ध मे हरावल मे रहते हुए रामसिंह मारा गया, परन्तु अन्त समय तक वह आजम के पक्ष मे बना रहा। रामसिंह को बचपन से मृत्युपर्यन्त कई युद्धो मे रहने का अनुभव प्राप्त था। सम्भवत ज्येष्ठ पुत्र न होते हुए भी कोटा राज्य को प्राप्त करने मे उसकी वीरता और मुगल सम्राट पर उसका प्रभाव होना प्रमुख कारण था। उसने पडोसी राज्य—उदयपुर और आमेर से अच्छा सम्बन्ध बना रखा था। उसके समय मे राज्य की शासन-व्यवस्था सन्तोषप्रद थी और आवश्यक वस्तुओ के भाव भी सस्ते थे। उसके समय मे कई निर्माण-कार्य भी कराये गये जिनमे रामपुरा बाजार, रामपुरा दरवाजा, रामगज, रावठा तालाव, किशोर सागर, शहरपनाह, सूरजपोल आदि मुख्य हैं। मेवाड, बूँदी, आमेर, बाँसवाडा आदि राज्यो मे आने-जाने के कई मार्ग प्रचलित थे जो उसके समय की आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं।[२१]

महाराव भीमसिंह (१७०७-१७२० ई०)

राव रामसिंह की जाजव के रणक्षेत्र में १७०८ ई० को वीर गति प्राप्त होने पर उसका पुत्र भीमसिंह कोटा राज्य का स्वामी बना। इसने मुगल साम्राज्य के क्षुब्ध वातावरण से लाभ उठाकर अपने राज्य का विस्तार करने का ध्येय बनाया। उसने खीचियो से गागरोन लिया। बारा, मांगरोल, मनोहरथाना और शेरगट के परगनो पर अपना अधिकार स्थापित किया तथा भील राजा चन्द्रसेन को परास्त कर उसके राज्य को कोटा राज्य मे मिलाया। इसके अतिरिक्त ओनारसी, पीटावा, टीग आदि भागो को उसने अधिकार मे कर लिया।[२२]

चूँकि रामसिंह ने जाजव के युद्ध मे आजम का पक्ष लिया था, मुअज्जम ने बादशाह बनने पर कोटा को हानि पहुँचाने के मार्ग को ढूंढ निकाला। उसने बूँदी

२० नुस्खए दिलकश, सरकार, जि० ५, पृ० १०५-१०८ से उद्धृत

२१ कोटा के कागजात, स० १७५२-१७६३

२२ वंशभास्कर, भा० ४, पृ० २९९८-९९

शासक बुद्धसिंह को कोटा राज्य को अपने राज्य मे सम्मिलित करने के लिए उकसाया। जब बूंदी के मन्त्रियो ने कोटा के विरुद्ध सेना भेज दी तो भीमसिंह ने उसे परास्त कर दिया। बहादुरशाह इसके बाद सक्रिय रूप से भीमसिंह के विरुद्ध कोई कार्य न कर सका। उसकी मृत्यु के बाद जब जहाँदारशाह और उसके पश्चात फर्रुखसियर दिल्ली के तख्त पर बैठा तो भीमसिंह ने सैयद बन्धुओ से, जो मुगल राज्य के सर्वेसर्वा थे, मेल बढा लिया। इधर फर्रुखसियर बुद्धसिंह से प्रसन्न नही था, क्योकि उसने सम्राट बनने के समय कोई सहायता नही दी थी। इस स्थिति का लाभ उठाकर सन् १७१३ ई० मे भीमसिंह ने बूंदी पर आक्रमण कर दिया। बूंदी का राजकोष कोटा पहुँचा दिया गया और शाही निशान, रणभेरी, नक्कारा आदि कोटा भेज दिये। फर्रुखसियर ने भी भीमसिंह को पाँच हजारी मनसबदार बनाकर सम्मानित किया। फर्रुखसियर की मृत्यु के बाद इसने फिर सैयद बन्धुओ की निजाम के विरुद्ध सहायता की, परन्तु वह कुरवाई के मैदान मे १७२० ई० मे मारा गया।[२३]

भीमसिंह का व्यक्तित्व—भीमसिंह के समय मे कोटा राज्य जितना अधिक विस्तृत हुआ था उतना न पहले हुआ न पीछे। उपजाऊ भूमि, समृद्ध नगर तथा सुदृढ दुर्गो की दृष्टि से उसका क्षेत्रफल जोधपुर या उदयपुर राज्य के बराबर था। शाही दरबार मे भी उसका बडा सम्मान था। सम्राट ने उसे 'माही मरातिब' तथा 'महाराव' की पदवी से विभूपित किया। अपने पद और प्रतिष्ठा के अनुकूल इसकी उदयपुर, किशनगढ, प्रतापगढ आदि नरेशो से तथा आगरा, अजमेर और उज्जैन के सूबेदारो से अच्छी मैत्री थी। इसके शासनकाल मे दिल्ली के तख्त पर कई सम्राट बैठे जिनके उत्थान और पतन मे इनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हाथ था। मुगल शक्ति को क्षीण होते देख इसने अपने राज्य का विस्तार भी किया और कोटा राज्य की स्वतन्त्र टकसाल स्थापित कर दी। नीति-कुशलता और वीरता के साथ इसमे धार्मिकता तथा धर्म सहिष्णुता थी। इसने कई पर्वो के अवसर पर ब्राह्मणो को भूमिदान दिये और अनेक देवी-देवताओ के सेवा-पूजन का प्रबन्ध किया। वैष्णव धर्म का अनुयायी होते हुए भी अन्य धर्मो को अनुदान देना वह अपना परम कर्तव्य समझता था। राजकीय आदेशो मे दरबार की ओर से भेजे जाने वाले पत्रो मे 'जय गोपाल' लिखा जाता था। इसका विश्वास धीरे-धीरे वैष्णव धर्म की ओर इतना बढ गया कि वह अपने आपको कृष्णदास कहलाने मे गौरव अनुभव करता था। इसे धर्म के प्रति इतनी श्रद्धा थी कि दक्षिण मे चिनकुलीजखाँ के विरुद्ध लडने के समय उसने अपने इष्टदेव की प्रतिमा को हाथी के हौदे मे अपने सम्मुख रखा था। इसे स्थापत्य कला के प्रति भी रुचि थी। इसके समय मे बारहदरी के नीचे का कृष्णमहल, सलहखाने का महल, भीम विलास, श्री ब्रजनाथजी का मन्दिर, आशा-

---

[२३] वफीखाँ, मुन्तखब-उल-लुबाब, पृ० ८०६, वंशभास्कर, भा० ४, पृ० २९९९-३०६७, इर्विन, लेटर मुगल्स, जि० १, पृ० ३७६

पुराजी का मन्दिर, कृष्ण भण्डार, भीमगढ का किला तथा अनेक मन्दिर, कुएँ, बावडियो आदि का निर्माण हुआ था।[२४]

महाराव अर्जुनसिंह (१७२०-१७२३ ई०)

भीमसिंह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अर्जुनसिंह कोटा राज्य की गद्दी पर बैठा। दस्तूर के मुआफिक मुहम्मदशाह ने उसे खिलअत, फरमान, हाथी, घोडे, जेवर आदि से सम्मानित किया। परन्तु सम्राट ने महाराव की कोई अधिक पदोन्नति न की क्योकि वह सैयदो का समर्थक था।[२५]

राव दुर्जनशाल (१७२३-१७५६ ई०)

राव दुर्जनशाल कोटा का अन्तिम शासक था जिसने मुगलो से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखे। उसके राज्यारोहण के समय मुहम्मदशाह ने राव को टीके मे हाथी, खिलअत तथा फरमान भेजा। मुगलो की स्थिति भारत मे उत्तरोत्तर डाँवाडोल होती जा रही थी और मराठो का दौर बढ रहा था। १७३५ ई० मे जब सम्राट ने खानदौरान को एक बडी सेना देकर राजपूताने और बुन्देलखण्ड की ओर से बढते हुए मराठो को रोकने के लिए भेजा तो राव दुर्जनशाल भी उससे जा मिला। परन्तु जब रामपुरे की ओर मुगल सेनानायक बढा तो स्वय दुर्जनशाल तो कोटा रुक गया और अपनी सेना को शाही सेना के साथ भेज दिया। रामपुरे मे शाही सेना तथा जयसिंह को मराठो ने घेर लिया। जब दुर्जनशाल को इस स्थिति का पता चला तो वह शाही सेना की सहायता के लिए एक सेना के साथ कोटा से रवाना हुआ, परन्तु होल्कर और सिन्धिया ने उसे आगे बढने से रोका। घिरे हुए शाही सेनाध्यक्ष तथा जयसिंह को मराठो के साथ बडे दामो पर सन्धि करनी पडी। इसके द्वारा २२ लाख की चौथ देने के लिए मुगलो को विवश होना पडा। इस सन्धि का एक बहुत बडा फल यह भी हुआ कि कोटा राज्य से मुगलो का प्रभाव समाप्त होता गया और उसका उत्तरोत्तर स्थान मराठो ने ले लिया।[२६]

---

२४ खफीखाँ, जि० २, पृ० ८५१, कागजात, कोटा भण्डार, सवत् १७६७-१७७६, वशभास्कर, भा० ४, पृ० ३०७१

२५ खफीखाँ, जि० २, पृ० ८९४-९५, ९३३, वशभास्कर, भा० ४, पृ० ३०७६

२६ कागजात, कोटा भण्डार, सवत् १७८०, सियर-उल-मुताखिरीन, जि० २, पृ० ८३, इरविन, लेटर मुगल्स, जि० २, पृ० ३०४, एस० पी० डी०, जि० १४, पत्र न० २१ और २३

अध्याय २३

जोधपुर का राठौड वश तथा समन्वय और संघर्ष के उतार-चढाव (१५८१-१७२४ ई०)

प्राक्कथन—१५८१ ई० मे राव चन्द्रसेन की मृत्यु हो जाने पर अकबर की स्थिति मारवाड मे बडी सन्तोषजनक थी। कई राठौड सरदार उसके मनसवदार बन चुके थे तथा मालदेव के अन्य पुत्र उसके आश्रय मे थे। रिक्त गद्दी पर वैसे तो चन्द्रसेन के बडे भाई उदयसिंह का हक था, परन्तु राजनीतिक परिस्थिति मे अधिक स्थायित्व लाने के लिए लगभग तीन वर्ष तक जोधपुर के राज्य को खालसे मे रखा गया। यह कदम राजपूत नीति के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण अग था। सम्राट ने इस प्रकार के व्यवहार से इस बात का स्पष्टीकरण किया था कि राजपूत राज्य, जो मुगल राज्य से सन्धि कर लेते हैं, उसके पूर्ण आश्रित हैं। गद्दी के अधिकार को मान्यता व अमान्यता सम्राट की इच्छा पर निर्भर है। वास्तव मे यह दृष्टिकोण उन राज्यो के लिए लागू होता था जहाँ के शासक निर्बल होते थे या जहाँ फूट होती थी। इस प्रकार की नीति को व्यवहार में लाकर सम्राट ने मुगल सर्वाधिकार को बढावा देने की चेष्टा की थी। अन्त मे फिर अपने विशेष अधिकार पर बल देने के लिए उसने तीन वर्ष के बाद उदयसिंह को मारवाड-राज्य का अधिकार खिलअत और खिताब सहित १५८३ ई० मे दे दिया। इस समय से लेकर उदयसिंह ने १५९५ ई० तक मारवाड का शासन किया। यह प्रथम मारवाड का शासक था जिसे मुगल राज्य की कृपा प्राप्त थी। उसको कई बार शाही सेना के साथ जाकर अपने शौर्य का परिचय देने का अवसर मिला था। १५७७ ई० में उसे मधुकर बुन्देले के विरुद्ध शाही सेना के साथ भेजा गया था। गुजरात के बागी सरदार मुजफ्फरखाँ के विरुद्ध भी १५८४ ई० मे लडने का इसे अवसर मिला था। १५८४ ई० मे सैयद दौलत का दमन करने मे वह शाही सेना के साथ था। उसे दो बार अर्थात १५८८ व १५९३ ई० मे सिरोही के सुरताण के विरुद्ध जाने का अवसर मिला था। उसकी सेवाओ से प्रसन्न होकर सम्राट ने उसे १५९२ ई० में कलीजखाँ के साथ लाहौर का प्रवन्धक नियुक्त किया। इन सब अधिकारो के पूर्व ही मोटा राजा उदयसिंह १५८७ ई० में अपनी पुत्री मानीबाई का विवाह शाहजादे सलीम के साथ कर चुका था। उमरा-ए-हनूद से पाया जाता है कि यह वही मानमती थी जो 'जगतगुसाईं' के नाम से प्रसिद्ध थी। जोधपुर की राजकुमारी होने से उसको 'जोधाबाई' भी कहा

जाता था। इस विवाह के अवसर पर उदयसिंह को एक हजार का मनसब देकर सम्मानित किया गया था। जोधपुर के राजपरिवार मे यह प्रथम व्यक्ति था जिसने मुगलो से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने प्रभाव को मुगल व्यवस्था मे बढाने की चेष्टा की थी। इसने मालदेव के समय से आरम्भ होने वाली सतत् युद्ध की स्थिति को समाप्त कर मारवाड को शान्ति और सुख से साँस लेने का अवसर दिया। परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करना पटेगा कि इस शान्ति का मूल्य राठौड वंश के गौरव के बलिदान द्वारा चुकाया गया था।[1]

महाराजा सूर्रसिंह (१५६५-१६१६ ई०)

अपने पिता की मृत्यु पर अकबर ने सूरसिंह को उसके कई बडे भाइयो के होते हुए भी मारवाड का स्वामी स्वीकार किया। उसके टीका के देने का रस्म लाहौर में सम्पादित किया गया और उस अवसर पर उसका मनसब दो हजार जात और दो हजार सवार कर दिया गया। इसके कुछ दिनो के पश्चात उसकी नियुक्ति कई अन्य मुसलमान अफसरो के साथ गुजरात के प्रबन्ध के लिए की गयी। इस मौके पर उसने १५९७ ई० मे विद्रोही बहादुर को गुजरात से भगाने में सफलता प्राप्त की। १५९९ ई० मे जब उसकी नियुक्ति शाहजादे दानियाल के साथ दक्षिण अभियान के सम्बन्ध मे की गयी तो वह मार्ग मे सोजत मे ही ठहर गया। सम्भवत या तो वह राजकुमार के साथ जाने मे अपनी मान-हानि समझता था, या अपने स्थानीय उपद्रवो को दबाने के लिए सुदूर दक्षिण जाना पसन्द नही करता था। कोई भी कारण रहा हो, सम्राट उसकी इस निरकुश प्रवृत्ति से अप्रसन्न हो गया, उससे सोजत छीन लिया और उसका पट्टा उसके भाई शक्तिसिंह के नाम कर दिया। परन्तु भाटी गोविन्ददास तथा राम रतन-सिंहोत ने बादशाह से पुन सोजत सूरसिंह के नाम लिखवाने मे सफलता प्राप्त की। इसके बाद महाराजा सूरसिंह की नियुक्ति नासिक अभियान मे की जिसमे उसने विद्रोही का सामना करने मे अपनी वीरता का परिचय दिया। इस घटना के दो वर्ष बाद उसने खुदावन्दखाँ के विद्रोह को दबाने वाले दल मे सम्मिलित हो शान्ति स्थापित करने मे सफलता दिखायी। इसके कुछ समय बाद उसकी नियुक्ति अमर चम्पू पर भेजी गयी शाही सेना के साथ हुई। इसमे सफलता मिलने से उसके सम्मान मे वृद्धि की गयी।[2]

---

१ अकबरनामा (बैवरिज), भा० ३, पृ० २९४-९५, ६३१-३६, ६५५-५६, ९८५, तबकात-ए-अकबरी, इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ५, पृ० ४३५-३६, ४६२, मुहणोत, नैणसी री ख्यात, जि० १, पृ० १३४, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० ९५-१०४, बाँकीदास की बातें, न० ८००, ८६६-८६७, ८७१, ८७८, ८८४, १८४७, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३५४-३६३

२ अकबरनामा (बैवरिज), जि० ३, पृ० १०४३, १०८३, ११२६, ११५८, १२११, १२२९, १२४९, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० १२२-२५, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३६४-७०

जहाँगीर के समय मे भी सूरसिंह की सेवाओ को मनसव वृद्धि से मान्यता दी गयी थी। १६०८ ई० तक उसका मनसव तीन हजार जात और दो हजार सवार हो गया था। १६१३ ई० मे खुर्रम के मेवाड अभियान मे सूरसिंह भी सम्मिलित था। अव तक की सेवा से प्रसन्न होकर बादशाह ने उसके मनसव को पाँच हजार जात तथा तीन हजार सवार कर दिया। दक्षिण अभियान के समय पद मे ३०० की संख्या वढा दी थी। दक्षिण मे महकर के थाने पर रहते हुए उसकी मृत्यु १६१६ ई० मे हो गयी।[3]

सूरसिंह एक दानी शासक था जिसने ब्राह्मणो और चारणो को दान-दक्षिणा तथा लाख पसाव देकर सम्मानित किया। उसने अपने जीवन मे दो वार तुलादान किये। उसे मुगलो की भाँति स्थापत्य तथा उद्यान लगाने मे वडी रुचि थी। सूरसागर के तालाव, उस पर का कोट महल तथा उद्यान उसी ने वनवाये थे। उसने मुगल राज्य की सेवा करते हुए भी अपने राज्य के सुप्रवन्ध की ओर ध्यान दिया था। सम्भवत जोधपुर कुछ समय रुकने की चेष्टा से असन्तुष्ट होकर दो वार उसकी जागीर मे कमी गयी हो। फिर भी उसमे इतनी चतुराई थी कि उसने दोनो सम्राटो को अपनी वीरता और योग्यता से प्रसन्न रखा। उसने एक हजार जात से पाँच हजार तक के जात का पद प्राप्त कर लिया, जो उसकी योग्यता का द्योतक है। जहाँगीर के समय मे पाँच हजार का मनसव वहुत वडा पद माना जाता था।[4]

महाराजा गजसिंह (१६१९-१६३८ ई०)

जव दक्षिण मे राजा सूरसिंह की मृत्यु हो गयी तो जहाँगीर ने उसके पुत्र गजसिंह के लिए सिरपाव भेजे और १६१९ ई० मे बुरहानपुर में उसके टीके का दस्तूर किया गया। तीन हजार जात और दो हजार के मनसव तथा झण्डा और राजा की उपाधि से सम्मानित किया। जोधपुर, जैतारण, सोजत, सिवाना, तेलवाडा, सातलमेर, पोकारण के परगने उसे जागीर मे दिये गये। राज्य-प्राप्ति के वाद वह दो वर्ष दक्षिण मे ही रहा जहाँ दक्षिणियो के साथ लडी गयी लडाइयो मे उसने अपनी वीरता का परिचय दिया। इससे प्रसन्न होकर वादशाह ने उसके मनसव मे एक हजार जात और एक हजार सवार की वृद्धि कर दी। यहाँ से वह जोधपुर पहुँचा, परन्तु १६२३ ई० मे उसको खुर्रम के विरुद्ध पाँच हजार जात और चार हजार सवार का पद देकर भेजा गया। जहाँगीर की मृत्यु के वाद शाहजहाँ के समय मे भी उसने मुगल सेवा मे तत्परता दिखायी। खानजहा के विद्रोह के अवसर पर सम्राट ने उसे पुरस्कृत कर उसके

---

[3] तुजुक-ए-जहाँगीरी (रो० वि०), जि० १, पृ० १२५-२६, १४०-४१, १५३, १५५, १६५, २४६-५६, २७४, २७५-७७, २९१-९२, ३०१, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० १२८-१४६, वाँकीदास की ऐतिहासिक वातें, स० ३५७, १००७, १००८, ११००, १५४३ आदि। ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३८९

[4] वही, पृ० ३८७-८८

विरुद्ध भेजा था। वह बीजापुर की तथा कन्धार की चढाई मे शाही सेना के साथ गया था जहाँ उसने अपनी अच्छी वीरता दिखायी थी।[५]

महाराजा ने अपने जीवनकाल मे ही अपने छोटे पुत्र जसवन्तसिंह को अपना उत्तराधिकारी वना दिया, क्योकि वताया जाता है कि वह अपने ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह के हठी और उद्दण्ड प्रकृति से असन्तुष्ट था। इस घटना से अमरसिंह अप्रसन्न हो शाहजहाँ के दरवार मे पहुँचा, जिसने उसे वडौद, झलान, साँगोद आदि के परगने जागीर मे देकर मनसवदार वना दिया। सम्राट की सेवा मे रहते हुए अमरसिंह ने कई शाही अभियानो मे योग दिया। १६४४ ई० मे उसकी वीकानेर से खीलवा और नागौर के सम्वन्ध मे लडाई हुई जो 'मतीरे की राड' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी वर्ष वह सलावतखाँ को मारकर विट्ठलदास गौड के पुत्र अर्जुन तथा अन्य व्यक्तियो द्वारा मौत की गोद मे वैठा। अमरसिंह राठौड राजकुमारो मे अपने साहस और वीरता के लिए प्रसिद्ध है। आज भी इसी के नाम के 'ख्याल' राजस्थान के गाँवो मे गाये जाते हैं और खेले जाते हैं। ख्यातो मे लिखा है कि अमरसिंह ने सलावतखाँ द्वारा उसको 'गँवार' कहना असह्य मानकर उसकी हत्या शाही दरवार मे कर दी थी और वह वहाँ से किले की दीवार कूदकर भाग निकला था। परन्तु नीचे पहुँचते-पहुँचते प्रमुख दरवारियो द्वारा उसकी हत्या कर दी गयी। उमरा-ए-हनूद में अमरसिंह के ऐसे आचरण का कारण शराव का नशा था।[६]

इस घटना के पूर्व ही गजसिंह की मृत्यु आगरा मे १६३८ ई० मे हो गयी थी। वह भी अपने पिता की भाँति दानशील और विद्याप्रेमी था। उसके समय मे कई स्थानीय तथा वाहर के ब्राह्मणो, विद्वानो तथा चारणो को प्रभूत तथा समृद्ध दान मिले थे। अपने पिता की भाँति उसको भी मुगल दरवार मे उच्च पद और सम्मान मिले थे। उसकी मुगल सेवाएँ श्लाघनीय थी। परन्तु उसने अपनी प्रीतिपात्री अनारा के प्रभाव मे आकर अमरसिंह जैसे योग्य राजकुमार को उत्तराधिकार से वंचित कर भारी भूल की थी। इसी से औरगजेव के काल मे मारवाड को अनेक कष्टो का सामना करना पडा था।[७]

महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम (१६३८-१६७८ ई०)

जसवन्तसिंह का जन्म २६ दिसम्वर, १६२६ ई० मे वुरहानपुर मे हुआ था। जिस समय इसके पिता का स्वर्गवास हुआ वह वूंदी अपना विवाह करने के लिए गया

---

५ तुजुक-ए-जहाँगीरी (रो० वे०), जि० २, पृ० १००, २३३, २५६-६१, मुंशी देवीप्रसाद, शाहजहाँनामा, भा० १, पृ० १७०-७४, भा० २, पृ० १०-३६, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० १५०-१६१, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३८८-४०८

६ उमरा-ए-हनूद, पृ० ५६, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० २६४

७ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४०७, ४११-१२

हुआ था। ज्योही गजसिंह की मृत्यु के समाचार पहुँचे त्योही बादशाह के द्वारा उसे आगरा पहुँचने का निमन्त्रण भी मिला। वहाँ पहुँचने पर शाही तौर से उसे टीका दिया गया और खिलअत, जडाऊ जमधर आदि वस्तुओ से उसे सम्मानित किया। इसी अवसर पर उसे राजा का खिताब तथा चार हजारी जात और चार हजारी सवार का पद भी दिया गया। आगरा बुलाकर शीघ्र ही उसको जोधपुर का शासक घोषित करने का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि अमरसिंह के पुत्रो से मारवाड के उत्तराधिकार सम्बन्धी बखेडे होने की सम्भावना थी। शाही स्वीकृति से इस प्रकार की आशका कम हो गयी। चूँकि उसकी आयु उस समय ११ वर्ष की थी, बादशाह ने आसोप ठाकुर राजसिंह कूँपावत को एक हजार जात और चार सौ सवार का मनसब देकर जोधपुर राज्य का मन्त्री नियुक्त किया। आगरा से महाराजा बादशाह के साथ दिल्ली और वहाँ से जमरूद गया। इसी अर्से मे उसके पद मे एक हजार जात और एक हजार सवार की वृद्धि हो गयी और जैतारण का परगना भी उसे दिया गया। यहाँ से उसे जोधपुर जाने की आज्ञा हुई वहाँ पहुँचने पर ३० मार्च, १६४० ई० को उसके गद्दी-नशीनी का उत्सव मनाया गया।[८]

वह सिर्फ एक ही वर्ष अपने राज्य मे रहने पाया था कि ठाकुर राजसिंह की मृत्यु हो गयी, अतएव बादशाह ने महेशदास को खिलअत आदि देकर उसके स्थान पर मन्त्री बनाया। वह थोडे समय ही स्वदेश रहने पाया था कि उसकी नियुक्ति ईरान के शाह के विरुद्ध भेजने वाली बादशाही सेना के साथ की गयी। वहाँ से लौटकर फिर वह जोधपुर पहुँचा कि उसको १६४५ ई० को आगरे के प्रबन्ध के लिए रखा गया। परन्तु जब १६४८ ई० मे शाह अब्बास ने कन्धार को घेर लिया तब उधर भेजी जाने वाली सेना के साथ अन्य अधिकारियो सहित वह भी उधर भेजा गया। इस अभियान मे शाही सेना को बडी दिक्कतो का सामना करना पडा, फिर भी जसवन्तसिंह के दल के साहस को देखकर उसके साथियो को बडी हिम्मत मिलती थी। इस अवसर के बाद शाहजहाँ ने उसके मनसब को छ हजार जात और छ हजार सवार कर दिया।[९]

जसवन्तसिंह और उत्तराधिकार का युद्ध—जब १६५७ ई० मे बादशाह शाहजहाँ की बीमारी की सूचना देश भर मे फैल गयी तो उसके उत्तराधिकारियो मे राजगद्दी प्राप्त करने के लिए होड आरम्भ हो गयी। औरगजेब दक्षिण से चलकर

---

८ शाहजहाँनामा (मुशी देवीप्रसाद), भा० २, पृ० ३५-१७५, उमरा-ए-हनूद, पृ० ११२-१५६, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० १६४-२४८, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४१३-२४, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० २, पृ० २१०-१६

९ शाहजहाँनामा (देवीप्रसाद), पृ० ४३-५१, उमरा-ए-हनूद, पृ० १५५, मआसिर-उल-उमरा, पृ० १७०, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४१४, ४२०-२१

विरुद्ध भेजा था। वह बीजापुर की तथा कन्धार की चढाई मे शाही सेना के साथ गया था जहाँ उसने अपनी अच्छी वीरता दिखायी थी।[५]

महाराजा ने अपने जीवनकाल मे ही अपने छोटे पुत्र जसवन्तसिंह को अपना उत्तराधिकारी बना दिया, क्योकि बताया जाता है कि वह अपने ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह के हठी और उद्दण्ड प्रकृति से असन्तुष्ट था। इस घटना से अमरसिंह अप्रसन्न हो शाहजहाँ के दरबार मे पहुँचा, जिसने उसे बडौद, झलान, साँगोद आदि के परगने जागीर मे देकर मनसबदार बना दिया। सम्राट की सेवा मे रहते हुए अमरसिंह ने कई शाही अभियानो मे योग दिया। १६४४ ई० मे उसकी बीकानेर से खीलवा और नागौर के सम्बन्ध मे लडाई हुई जो 'मतीरे की राड' के नाम से प्रसिद्ध है। इसी वर्ष वह सलाबतखाँ को मारकर विट्ठलदास गौड के पुत्र अर्जुन तथा अन्य व्यक्तियो द्वारा मौत की गोद मे बैठा। अमरसिंह राठौड राजकुमारो मे अपने साहस और वीरता के लिए प्रसिद्ध है। आज भी इसी के नाम के 'ख्याल' राजस्थान के गाँवो मे गाये जाते हैं और खेले जाते हैं। ख्यातो मे लिखा है कि अमरसिंह ने सलावतखाँ द्वारा उसको 'गँवार' कहना असह्य मानकर उसकी हत्या शाही दरबार मे कर दी थी और वह वहाँ से किले की दीवार कूदकर भाग निकला था। परन्तु नीचे पहुँचते-पहुँचते प्रमुख दरबारियो द्वारा उसकी हत्या कर दी गयी। उमरा-ए-हनूद मे अमरसिंह के ऐसे आचरण का कारण शराब का नशा था।[६]

इस घटना के पूर्व ही गजसिंह की मृत्यु आगरा मे १६३८ ई० मे हो गयी थी। वह भी अपने पिता की भाँति दानशील और विद्याप्रेमी था। उसके समय मे कई स्थानीय तथा बाहर के ब्राह्मणो, विद्वानो तथा चारणो को प्रभूत तथा समृद्ध दान मिले थे। अपने पिता की भाँति उसको भी मुगल दरबार मे उच्च पद और सम्मान मिले थे। उसकी मुगल सेवाएँ श्लाघनीय थी। परन्तु उसने अपनी प्रीतिपात्री अनारा के प्रभाव मे आकर अमरसिंह जैसे योग्य राजकुमार को उत्तराधिकार से वंचित कर भारी भूल की थी। इसी से औरगजेब के काल मे मारवाड को अनेक कष्टो का सामना करना पडा था।[७]

महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम (१६३८-१६७८ ई०)

जसवन्तसिंह का जन्म २६ दिसम्बर, १६२६ ई० में बुरहानपुर मे हुआ था। जिस समय इसके पिता का स्वर्गवास हुआ वह बूँदी अपना विवाह करने के लिए गया

---

५ तुजुक-ए-जहाँगीरी (रो० वे०), जि० २, पृ० १००, २३३, २५६-६१, मुशी देवीप्रसाद, शाहजहाँनामा, भा० १, पृ० १७०-७४, भा० २, पृ० १०-३६, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० १५०-१६१, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३८८-४०८

६ उमरा-ए-हनूद, पृ० ५६, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० २६४

७ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४०७, ४११-१२

हुआ था। ज्योंही गजसिंह की मृत्यु के समाचार पहुँचे त्योंही बादशाह के द्वारा उसे आगरा पहुँचने का निमन्त्रण भी मिला। वहाँ पहुँचने पर शाही तौर से उसे टीका दिया गया और खिलअत, जडाऊ जमधर आदि वस्तुओ से उसे सम्मानित किया। इसी अवसर पर उसे राजा का खिताब तथा चार हजारी जात और चार हजारी सवार का पद भी दिया गया। आगरा बुलाकर शीघ्र ही उसको जोधपुर का शासक घोषित करने का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि अमरसिंह के पुत्रो से मारवाड के उत्तराधिकार सम्बन्धी बखेडे होने की सम्भावना थी। शाही स्वीकृति से इस प्रकार की आशंका कम हो गयी। चूँकि उसकी आयु उस समय ११ वर्ष की थी, बादशाह ने आसोप ठाकुर राजसिंह कूँपावत को एक हजार जात और चार सौ सवार का मनसब देकर जोधपुर राज्य का मन्त्री नियुक्त किया। आगरा से महाराजा बादशाह के साथ दिल्ली और वहाँ से जमरूद गया। इसी अर्से मे उसके पद मे एक हजार जात और एक हजार सवार की वृद्धि हो गयी और जैतारण का परगना भी उसे दिया गया। यहाँ से उसे जोधपुर जाने की आज्ञा हुई वहाँ पहुँचने पर ३० मार्च, १६४० ई० को उसके गद्दी-नशीनी का उत्सव मनाया गया।[८]

वह सिर्फ एक ही वर्ष अपने राज्य मे रहने पाया था कि ठाकुर राजसिंह की मृत्यु हो गयी, अतएव बादशाह ने महेशदास को खिलअत आदि देकर उसके स्थान पर मन्त्री बनाया। वह थोडे समय ही स्वदेश रहने पाया था कि उसकी नियुक्ति ईरान के शाह के विरुद्ध भेजने वाली बादशाही सेना के साथ की गयी। वहाँ से लौटकर फिर वह जोधपुर पहुँचा कि उसको १६४५ ई० को आगरे के प्रबन्ध के लिए रखा गया। परन्तु जब १६४८ ई० मे शाह अब्बास ने कन्धार को घेर लिया तब उधर भेजी जाने वाली सेना के साथ अन्य अधिकारियो सहित वह भी उधर भेजा गया। इस अभियान मे शाही सेना को बडी दिक्कतो का सामना करना पडा, फिर भी जसवन्तसिंह के दल के साहस को देखकर उसके साथियो को बडी हिम्मत मिलती थी। इस अवसर के बाद शाहजहाँ ने उसके मनसब को छ हजार जात और छ हजार सवार कर दिया।[९]

जसवन्तसिंह और उत्तराधिकार का युद्ध—जब १६५७ ई० मे बादशाह शाहजहाँ की बीमारी की सूचना देश भर मे फैल गयी तो उसके उत्तराधिकारियो मे राजगद्दी प्राप्त करने के लिए होड आरम्भ हो गयी। औरंगजेब दक्षिण से चलकर

---

८ शाहजहाँनामा (मुंशी देवीप्रसाद), भा० २, पृ० ३५-१७५, उमरा-ए-हनूद, पृ० ११२-१५६, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० १९४-२४८, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४१३-२४, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० २, पृ० २१०-१९

९ शाहजहाँनामा (देवीप्रसाद), पृ० ४३-५१, उमरा-ए-हनूद, पृ० १५५, मआसिर-उल-उमरा, पृ० १७०, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४१४, ४२०-२१

अपनी जगह-जगह विजय स्थापित करता हुआ धर्मत के मैदान तक आ धमका। मुराद की सभी सैन्य-शक्ति भी उसके ही अधीन थी। दिल्ली से दारा, जसवन्तसिंह, कासिमखाँ, मुकुन्दसिंह हाडा, राजा रत्नसिंह राठौड आदि कई मुगल सेना के नेता शाही सेना के साथ औरगजेब का मुकाबला करने भेजे गये। युद्ध-स्थल मे पहुँचने से पूर्व औरगजेब ने जसवन्तसिंह के पास कविराय नामक ब्राह्मण के साथ कहला भेजा कि वह उसका विरोध न करे और सीधा जोधपुर लौट जाय। महाराजा ने अपनी दृढता का सवाद भेजकर दूत को लौटा दिया और आगे बढा। युद्ध-स्थल पर पहुँचने पर जसवन्तसिंह और औरगजेब की फिर बातचीत हुई। परन्तु जब दोनो दल किसी निर्णय पर नही पहुँचे तो जसवन्तसिंह ने सेना की जमावट की। हरावल मे जसवन्तसिंह, कासिमखाँ, मुकुन्दसिह हाडा, रत्नसिंह राठौड आदि रखे गये। इनके आगे फौजबख्शी और तोपखाने के दरोगा थे। महेशदास गौड, गोवर्द्धन राठौड आदि सहायक सेना मे थे। गिर्दाविरी पर मुखरिवसखाँ आदि थे। स्वय महाराजा जसवन्तसिंह दो हजार राजपूतो को लेकर बीच मे डटा हुआ था। दाहिनी तरफ राजा रायसिंह (टोडा) तथा सुजानसिंह थे। बायी तरफ इफ्तिकारखाँ एव शेरखाँ अपने साथियो के साथ थे।[१०]

इस प्रकार फौजी जमावट करने के अनन्तर जसवन्तसिंह ने युद्ध-शैली अपनाने मे यह योजना बनायी कि यथासम्भव वह औरगजेब के तोपखाने से किसी प्रकार बच निकले और घुडसवारो के निकट आकर उनसे जूझ जाये। ऐसा करने मे यदि कुछ समय गोलियो की बौछार का सामना भी करना पडे तो वह इसके लिए तैयार था। अपने दल के सामने भी उसने पानी छिडकवा दिया जिससे शत्रु की सेना कीचड मे आगे तेजी से न बढने पाये। परन्तु जब प्रात लगभग आठ बजे युद्ध आरम्भ हुआ तो औरगजेब के तोपखाने ने गोलियाँ बरसानी शुरू की और राजपूत भी शत्रु सेना के निकट पहुँचने के लिए बडी तेजी से आगे बढे। युद्ध की भीषणता ने सैनिको को दोनो ओर से उकसाया जिसके फलस्वरूप कई वीर धराशायी होने लगे। अग्रभाग के राजपूत जिनमे मुकुन्दसिंह हाडा, राजसिंह राठौड, दयालसिंह झाला, सुजानसिंह सीसोदिया आदि थे, वीरगति को प्राप्त हुए। वैसे राजपूतो का भी वार तोपखाने पर सफल रहा, जिसके फलस्वरूप तोपखाने का नेता मुर्शीद कुलीखाँ मारा गया और तोपखाने के दल मे चला-चली होने लगी। इस स्थिति मे औरगजेब का अग्रदल और राजपूत एक-दूसरे के निकट आ गये। इस समय जुल्फिकारखाँ ने अपने हाथी से उतर कर युद्ध की गति को अपने साहस और वीरता से बढाया। तलवारें बडी तेजी से बजने लगी और युद्ध-स्थल रक्त से लाल हो गया। ऐसी परिस्थिति मे जसवन्तसिंह के दल को अन्य भागो से सहायता मिलना कठिन हो गया। मुराद और औरगजेब के

---

[१०] ईश्वरदास, पत्र २०-२१, अदब, पत्र २०, वीरविनोद भा० २, पृ० ३८६-४७, सरकार, औरगजेब, भा० १, पृ० ३८८-५८, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४३०-३१

दल ने सहसा जसवन्तसिंह को चारो ओर से घेर लिया। शत्रु-दल के बढते हुए कदम से भयभीत होकर कई शाही दल के सैनिक भाग खडे हुए। इफ्तिखारखाँ आदि शाही सहायक लडकर मारे गये और कासिम ने धोखा दिया। बचे हुए राजपूत सैनिको के साथ, जो अब कम सख्या में थे, जसवन्तसिंह लडता हुआ औरगजेब के पास पहुँच गया। शत्रु सेना उस पर टूट पडी जिससे राजपूत वीर स्वय घायल हो गया और उसका घोडा भी आहत होकर गिर पडा। जसवन्तसिंह शीघ्र ही दूसरा घोडा बदल कर लडने लगा, परन्तु शत्रु-दल के बढते हुए कदमो के सामने शाही सेना टिक न सकी। ऐसी स्थिति मे जसवन्तसिंह के साथियो ने जिनमे आसकरन, महेशदास गौड और गोवर्धन मुख्य थे, घोडे की बाग पकडकर उसे युद्ध-क्षेत्र से बाहर निकाल लिया और उसे जोधपुर की ओर लौटने के लिए विवश किया। इस युद्ध मे सहस्रो की सख्या मे शाही सेना के राजपूत काम आये और विजयश्री शाहजादे के हाथ आयी। इस विजय की स्मृति मे धर्मत का नाम "फतहआबाद" (फतियाबाद) रखा गया। विजयी राजकुमार यहाँ से अपने दल-बल के साथ उज्जैन और वहाँ से ग्वालियर की ओर बढे।[११]

जसवन्तसिंह का जोधपुर जाना—युद्ध-स्थल से लौटकर, अपने बचे हुए साथियो को लेकर, जसवन्तसिंह १५ अप्रेल, १६५८ ई० को सोजत और यहाँ चार-पाँच दिन ठहरकर जोधपुर पहुँचा। वहाँ रहते हुए उसे अपनी पराजय पर दु ख होता रहा। बर्नियर, मनूची तथा खफीखाँ के उल्लेख से ज्ञात होता है कि जब महाराजा जोधपुर पहुँचे तो "उदयपुरी राणी" ने किले के द्वार बन्द करवाकर कहलवा भेजा कि राजपूत युद्ध से या तो विजयी लौटते हैं या वहाँ मर मिटते हैं। महाराजा पराजय के बाद लौट नही सकते। वह कोई अन्य व्यक्ति है, यह कहकर वह सती होने की तैयारी करवाने लगी। अन्त मे बताया जाता है कि रानी की माँ ने उसे समझाया-बुझाया और महाराजा ने भी इस पराजय का बदला लेने का वचन दिया तब दुर्ग के द्वार खोले गये। इस कथा को श्यामलदास ने भी मान्यता दी है। इस कथा मे विश्वास करने का आधार यह बताया जाता है कि राजपूत वीरागनाओ के चरित्र के अध्ययन से रानी द्वारा जसवन्तसिंह का अपमान करना स्वाभाविक है। अतएव कथा मे सत्य का अश छिपा हुआ है। इस मत की पुष्टि मे उनका यह भी कहना है कि जब ऐसी घटना घटी थी, तभी समसामयिक यात्रियो ने इस तरह की कथा को अपने वर्णन मे स्थान दिया।[१२]

---

[११] ईश्वरदास, पत्र २१, मनूची, २२६, काम्बू, अमल-ए-सलीह पत्र ११, सरकार, औरगजेब, भा० १, ३५६-३६७

[१२] बर्नियर, ट्रैवल्स इन दि मुगल एम्पायर, पृ० ४०-४१, मनूची, स्टोरिया डी मौगोर, जि० १, पृ० २६०-६१, उमरा-ए-हनूद, पृ० १५०, वीरविनोद, भा० २, पृ० ८२५, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४६५-६६

परन्तु इसके विपरीत रेऊ की मान्यता है कि "बर्नियर ने यह कथा राजपूत वीरागनाओ की तारीफ मे सुनी-सुनाई किंवदन्तियो के आधार पर ही लिखी है और मुन्तखब-उत-तवारीख के लेखक ने हिन्दू-नरेश की वीरता को भुलावे मे डालने का उद्योग किया है। वास्तव मे न तो स्वामिभक्त किलेदार सरदार ही रानी के कहने से अपने वीर स्वामी के विरुद्ध ऐसी कार्यवाही कर सकता था और न इस प्रकार उदयपुर महाराणा या बूंदी के राव की रानी ही अपनी पुत्री को समझाने के लिए जोधपुर आ सकती थी। अत यह कथा विश्वास-योग्य नही है।"[13]

कविराज श्यामलदास के अनुसार ऊपर बतायी गयी घटना बूंदी की रानी से सम्बन्ध रखती है न कि उदयपुर की। हमारी राय मे रानी का स्थान सम्बन्धी भ्रम होने का कारण यह हो सकता है कि राव शत्रुशाल हाडा की एक रानी सीसोदनी राणी राजकुंवर थी और उसकी पुत्री करमेती का विवाह जसवन्तसिंह के साथ हुआ था। सीसोदी रानी की पुत्री होने से महाराजा की रानी को भी सीसोदी रानी मान लिया और 'सीसोदी' शब्द से उदयपुर की रानी होने का भ्रम पैदा हो गया। इस कथा मे हमे सत्यता कम दिखायी देती है। राजपूत वीरागनाएँ अपने पति के साथ किसी भी स्थिति मे इस प्रकार अपमानजनक व्यवहार नही कर सकती और जीवित महाराजा को मरा हुआ कहकर सती होने के लिए तैयार होना, जो रानी के लिए बताया जाता है, असत्य दीख पडता है। कोई भी स्त्री अपने जीवित पति के लिए ऐसी कल्पना नही कर सकती थी और न ऐसे भाव व्यक्त करने की धृष्टता ही कर सकती है। रहा प्रश्न रानी की माँ के आने पर समझाने की बात भी ठीक नही है, क्योंकि द्वार बन्द होने की सूचना इतनी जल्दी उदयपुर या बूंदी पहुँचना और शीघ्र रानी की माँ का आना असगत प्रतीत होता है। यह तो सर्वविदित है कि विवाह के बाद राजपूतो मे माता-पिता अपनी लडकी के राज्य की सीमा मे पानी पीना भी पाप समझते थे। ऐसी स्थिति मे जोधपुर दुर्ग के द्वार बन्द कर जसवन्तसिंह को अपमानित करना तथा उदयपुर से या बूंदी से उसकी माँ का आना कपोल-कल्पित ही दिखायी देता है।

जसवन्तसिंह की हार के कारण—महाराजा जसवन्तसिंह द्वारा धर्मत के युद्ध मे कुछ भूलें अवश्य हुई थी, जो उसकी पराजय का कारण बनी। तोपखाने की परवाह नही करते हुए आगे बढने की जो योजना उसने बनायी थी वह तभी सफल हो सकती थी जब बारूद का प्रयोग करने वाला दल शिथिल होता। द्रुतगति से काम करने वाले तोपची और बन्दूकचियो ने राजपूत दल की गति मे अवरोध उपस्थित कर उसकी समूची योजना के क्रम को बदल दिया। इसका फल यह हुआ कि शाही सेना का अग्रभाग नष्ट हो गया, जिसमे सिद्धहस्त लडाकू थे। बाकी बची हुई सेना औरगजेब के अग्रदल के सामने आ गयी, जिससे जसवन्तसिंह को किसी और पक्ष से सहायता उपलब्ध नही हो सकी। ऐसी अवस्था मे मुराद और औरगजेब ने अपने साथियो के साथ

---

[13] रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० २२४-२५

राजपूत नेता को घेर लिया। घिराव के फलस्वरूप जसवन्तसिंह को मैदान छोडकर जाना पडा। सर जदुनाथ[१४] के अनुसार राठौडो का वहाँ से चला जाना युद्ध शैथिल्य का चिह्न था। शीघ्र ही विरोध की मात्रा घटने लगी, बची हुई शाही सेना मे भगदड मच गयी, राजपूत अपने घर की ओर चल दिये और शत्रु सेना आगरे की ओर बढी। विद्वान लेखक का कहना है कि वास्तव मे यह तलवारो और बारूद का युद्ध था, जिसमे तोपखाने ने घुडसवारो पर विजय प्राप्त की थी।

जसवन्तसिंह ने जहाँ मैदान मे जमावट की थी वह चारो ओर से खाइयो और दलदल से घिरा हुआ था। ऐसा अस्त-व्यस्त युद्ध-स्थल घुडसवारो की गति मे रुकावट का साधन बना। इसके साथ-साथ जो निर्णय और नीति मे बल तथा स्वतन्त्रता औरंगजेब को थी वह जसवन्तसिंह के लिए कल्पना करना व्यर्थ था। शाहजहाँ ने महाराजा को आदेश दिया था कि वह दोनो विद्रोही राजकुमारो को यथासम्भव अपने-अपने प्रान्त मे भेज दे और उन्हे कोई क्षति न पहुँचाये। वह उनसे तभी युद्ध लडे जब कोई अन्य मार्ग न बचे। जहाँ तक उसके पद का प्रश्न था, वह आखिर एक आश्रित सेनानायक था जिसे राजकुमारो के विरुद्ध डरकर निर्णय लेना था। उसको अपने पद, साधन, जो मालवा से उपलब्ध हो सके, तथा केन्द्रीय आदेश की सीमा मे काम करना था, जबकि औरंगजेब अपने ढग से स्वतन्त्र था और उसे अपने लक्ष्य की पूर्ति करना एकमात्र ध्येय था।[१५]

इसके अतिरिक्त जसवन्तसिंह के नेतृत्व मे कई जातियो के सैनिक थे, जिनमे युद्ध की शैली, लक्ष्य और भावनाओ के विचार मे कोई तारतम्य नही था। अनेक राजपूत वंशीय उसके साथी एक-दूसरे से आन्तरिक रूप से शत्रुता रखते थे। इनको एक नेतृत्व मे चलाना जसवन्तसिंह के बूते के बाहर था। हिन्दू-मुस्लिम सेनाओ का सचालन एक राजपूत द्वारा होना भी अपने आप मे एक समस्या था। कासिमखाँ और जसवन्तसिंह, जो दोनो युद्ध का नेतृत्व कर रहे थे, पदेन लगभग बराबर थे और उनके सामाजिक स्तर मे अधिक अन्तर नही था। इस प्रकार के दोनो सेनानायक मिलकर काम नही कर सकते थे, जबकि कोई किसी की आज्ञा मानने के लिए बाध्य नही था। इसके अतिरिक्त शाही सेना मे सन्देह का वातावरण फैला हुआ था, जहाँ किसी का विश्वास

---

[१४] "The flight of the Rathors removed the last semblance of resistance There was now a general rout of the few divisions of the imperial army that had still kept the field The Rajputs retreated to their homes and the Muslims towards Agra"

—J N Sarkar, *History of Aurangzib*, p 566

"It was truly a contest between swords and gunpowder, and artillery triumphed over cavalry"

—Sarkar, p 556

[१५] काम्बू, अमल-ए-सलीह, पत्र ११, मनूची, स्टोरिया, भा० १, पृ० २५८, बर्नियर, पृ० ३७-३८, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, भा० १, पृ० ३५१-५२

करना खतरे से खाली नही था। ऐसा प्रतीत होता है कि एक प्रकार से शाही सेना के मुस्लिम सेनानायको और औरगजेव मे कोई साँठगाँठ थी। इनकी टुकडी पर मोर्चा न होकर मोर्चे का झुकाव राजपूत दल पर बना रहा, इस स्थिति से शत्रु का झुकाव स्वधर्मियो के प्रति ममता का हो सकता है, जैसी धारणा बनायी जाती है। इस धारणा की पुष्टि भी हो जाती है, जब हम जानते हैं कि कई मुस्लिम अधिकारियो ने युद्ध के दूसरे दिन दल बदल लिया और औरगजेव द्वारा उन्हें पुरस्कृत किया गया।[१६]

धर्मत के युद्ध का महत्त्व—जब शाही सेना के विभाग एक-एक कर नष्ट हो गये या भाग निकले तो औरगजेव तथा मुराद और उसके साथियो के हाथ खूब लूट का माल मिला, जिनमे हाथी, घोडे, ऊँट, धन, रसद आदि सम्मिलित थे। इस आर्थिक लाभ के अतिरिक्त सबसे बडा लाभ औरगजेव को अपनी प्रतिष्ठा वृद्धि के सम्बन्ध मे मिला। उसने एक ही बार मे दारा की शक्ति को धराशायी कर अपने व्यक्तित्व को सम्मानित करवा दिया। सभी की आँखें औरगजेव की ओर देखने लगी और यहाँ से उसके भावी कार्यक्रम की रूपरेखा स्पष्ट दिखायी देने लगी। चाहे नैतिक विचार से उसके कार्य की निन्दा की गयी हो, परन्तु सैनिक शक्ति मे उसकी धाक दक्षिण और उत्तरी भारत मे जम गयी। सभी उसका जय-जयकार करने लगे। सर जदुनाथ सरकार ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही कहा है कि सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य के सभी उसके साथी और लोग यह कहने लगे कि धर्मत औरगजेव की भावी सफलता का शुभ लक्षण हो गया।[१७]

जहाँ तक जसवन्तसिंह का प्रश्न है, धर्मत उसकी प्रतिष्ठा और पराभव की एक सीमा रेखा बनाता है। यहाँ से औरगजेव की दृष्टि मे उसके आचरण सन्देह के भाजन बनने लगे और महाराजा के विचारो मे भी मुगल सेवाओ के प्रति एक शुष्क भावना घर करने लगी। पूर्व निर्धारित सद्भावनाओ के प्रयत्नो के बीच एक सन्देह के वातावरण ने जन्म लिया, जो आगे की गतिविधियो का निर्णायक बना।

जसवन्तसिंह की आगे की गतिविधि—जसवन्तसिंह धर्मत से जोधपुर तो लौट गया, परन्तु उसको शान्ति न थी। ज्योही उसके पास औरगजेव के राज्यारोहण के समाचार मिले वह उसकी सेवा मे उपस्थित हुआ। ख्यात लेखक यह लिखते हैं कि सम्राट ने उसे फरमान भेजकर आमन्त्रित किया था। इस कथन मे भी सत्य हो सकता है, क्योकि औरगजेव अपने प्रारम्भिक राजत्वकाल मे राजपूतो से मेलजोल का व्यवहार रखना चाहता था। कुछ भी हो जब वह दरबार मे उपस्थित हुआ तो उसका मनसब बहाल कर दिया गया और उसे कई वस्तुएँ भेंट देकर प्रसन्न किया। इसी अवधि मे जब शुजा के सल्तनत की तरफ बढने के समाचार मिले तो स्वय सम्राट

---

१६ आलमगीरनामा, ७२, ७८, स्टोरिया, भा० १, पृ० २५८, बर्नियर, ५७-५८, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेव, भा० १, पृ० ३५१-५४

१७ "Dharmat became the omen of his future success in the opinion of his followers and of the people at large throughout the empire"
—J N Sarkar, *History of Aur* p 308

जसवन्तसिंह को साथ लेकर उसका विरोध करने चल पडा। विद्रोही राजकुमार और शाही फौजो का मुकाबला खजवा के मैदान मे हुआ जिसमे दक्षिण पार्श्व का अधिकारी महाराजा था। ५ जनवरी, १६५९ जब प्रात युद्ध होने को था, जसवन्तसिंह ने, जो मन ही मन औरगजेब से रुष्ट था, शुजा को यह सवाद गुप्त रीति से भिजवाया कि वह रात को औरगजेब के डेरे पर हमला कर देगा और तब शुजा शाही फौज पर आक्रमण करे। इसी के अनुसार दिन उगने के कुछ घण्टो पूर्व उसने शाही खेमो पर १४ हजार सैनिको से हमला बोल दिया। जो भी वस्तु हाथ लगी उसे हथिया लिया और जिसने भी विरोध किया उसे मौत के घाट उतारा। शाही सेना मे भगदड मच गयी। शुजा के लिए यह उपयुक्त अवसर था कि वह इस स्थिति का लाभ उठाता। परन्तु वह दिन खुलने की प्रतीक्षा मे अपने डेरे मे रुका रहा। उसे सम्भवत जसवन्तसिह की सूचना औरगजेब और राजपूतो का उसके विरुद्ध षड्यन्त्र ही दिखायी दे रहा था। औरगजेब को समयानुकूल आचरण करने का समय मिल गया जिससे अन्त में विजय सम्राट की ही रही।[१८]

जसवन्तसिंह के द्वारा शाही खीमे को लूटने तथा शुजा से सम्बन्ध स्थापित करने के व्यवहार की औरगजेब ने तथा मुस्लिम इतिहासकारो ने निन्दा की है और बताया है कि ये कार्य उसके लिए अशोभनीय था। परन्तु जसवन्तसिंह के आचरण को परिस्थिति की पृष्ठभूमि मे तोला जाना चाहिए। यदि उसने शुजा के साथ आक्रमण की कोई योजना बनायी तो इसमे मुअज्जमखाँ, जो उसके पार्श्व मे था और जिसे सम्राट से नाराजगी थी, भी सम्मिलित था। ऐसी स्थिति मे दोष का भार कुछ बँट जाता है। यदि हम जोधपुर राज्य की ख्यात के उल्लेख को स्वीकार करते हैं तो परिस्थिति कुछ दूसरी ही हो जाती है। उसमे वर्णित है कि युद्ध के आरम्भ होने वाली रात के पहले औरगजेब ने जसवन्तसिह को दक्षिण पार्श्व के बजाय चन्दावल से लडने का आदेश दिया था। सम्भवत उसको पीछे धकेल देने मे सम्राट अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाना चाहता था। उसे जसवन्तसिंह पर अविश्वास हो गया था। अविश्वास हो जाने के सम्बन्ध मे भीमसेन लिखता है कि मुअज्जमखाँ ने शुजा के साथ होने वाली सभी बातचीत की सूचना सम्राट को दे दी थी। यदि औरगजेब ने जसवन्तसिंह पर अविश्वास के कारण उसे अपनी जगह से बदल दिया तो महाराजा को नाराज होने का अधिकार था और उसने लूट-खसोट इसी नाराजगी के प्रदर्शन में की थी। हो सकता है कि शुजा के साथ की जाने वाली बातचीत मे मुअज्जमखाँ प्रमुख रहा हो और उसने सारा दोष जसवन्तसिह पर मढ दिया हो। ऐसी स्थिति मे युद्ध-स्थल से चल देना जसवन्तसिंह की बुद्धिमत्ता थी। ख्यात मे यह भी सकेत है कि महाराजा पुन शाहजहाँ के राज्य की स्थापना चाहता था। शुजा के साथ की गयी बातचीत मे इस लक्ष्य की पूर्ति का प्रयत्न

---

[१८] आलमगीरनामा, २२६, २३५, २३६, २४०-२४१, २५६, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, पृ० ४६६-४८४

छिपा हो तो कोई आश्चर्य नही। यह भी बताया जाता है कि जसवन्तसिंह अस्वस्थ हो जाने से वहाँ से चल दिया। इन सभी उल्लेखो मे कम से कम औरगजेव के सन्देह-पूर्ण व्यवहार की झलक है। इसी व्यवहार से महाराजा के आत्मसम्मान पर ठेस पहुँचने का आभास दिखायी देता है। यदि हम इन सभी घटनाओ को ख्यातो के उल्लेख तथा आकिलखाँ और भीमसेन के वर्णन के साथ पुन अध्ययन करें तो जसवन्तसिंह पर थोपे गये विश्वासघात के दोष के थोडे परिमार्जन की गुजाइश दिखायी देती है।[१६]

यदि हम जसवन्तसिंह की इस मामले मे स्पष्ट धोखेबाजी भी मान लें तो यह भी कहना अनुचित नही होगा कि महाराजा के लिए ऐसा करना समयानुकूल था। जिस धृष्टता से औरगजेव ने राज्य हथिया लिया था उसी प्रणाली से जसवन्तसिंह भी औरगजेव के अशिष्ट व्यवहार का, जो उसने धर्मत की लडाई के पूर्व बताया था, बदला चुकाना चाहता हो। औरगजेव की चाल से जसवन्तसिंह को युद्ध से लौटने का पराभव झेलना पडा, सम्भवत उसके विरुद्ध ही यह प्रतिशोध की भावना का परिणाम हो। जो भी हो वह यहाँ से मुगल थानो को लूटता हुआ जोधपुर पहुँचा। औरगजेव ने भी इसकी राजधानी को नष्ट करने के लिए मुगल सेना को उसके पीछे लगा दिया। परन्तु इधर से दारा जसवन्तसिंह को अपनी ओर मिलाना चाहता था। इस आशय के उसने महाराजा को अनेक पत्र भी लिखे थे। जयसिंह के बीच-बचाव से औरगजेव और जसवन्तसिंह का मनमुटाव कम हो गया और महाराजा ने दारा को सहायता देने से इन्कार कर दिया। सम्राट ने पुन उसके खिताव और मनसव बहाल कर दिये। इसके अनन्तर उसने उसे १६५६ ई० मे गुजरात का भी सूबेदार बना दिया। परन्तु १६६२ ई० मे उसे हटाकर उसके स्थान पर महावतखाँ की नियुक्ति कर दी।[१६अ]

जसवन्तसिंह और मराठे—औरगजेव के राज्यारम्भ के पूर्व से ही दक्षिण मे मराठे शक्तिशाली हो रहे थे। सम्राट ने शिवाजी की बढती हुई ताकत को रोकने के लिए पहले मुअज्जम और फिर शाइस्ताखाँ की १६५६ ई० मे नियुक्ति की। जब दक्षिण की स्थिति विशेष सन्तोषजनक नही चल रही थी तो औरगजेव ने १६६२ ई० मे जसवन्तसिंह को कुछ अधिकारियो के साथ दक्षिण जाने का फरमान भिजवाया, जिससे वे शाइस्ताखाँ की सहायता कर सकें। इसी वर्ष के अन्त तक जसवन्तसिंह, आसफखाँ, नामदारखाँ, कुतुबुद्दीनखाँ, राव रामसिंह, राव भाऊसिह आदि दक्षिण पहुँचे। इस

---

१६ आलमगीरनामा, पृ० १८६, २२०, मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० ५, मनूची, स्टोरिया, पृ० ३२६, भीमसेन, पृ० ३१-३५, ईश्वरदास, पत्र ४०, आकिलखाँ, पृ० ३७, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेव, पृ० ४८१-८६

१६ अ आलमगीरनामा, २५६-२६५, मुन्तखब, भा० २, ५१-५३, उमरा-ए-हनूद, पृ० १५८, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० २२५-२३, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेव, भा० १, पृ० ४६६, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४४०-४८

शक्ति से शाइस्ताखाँ के हाथ मजबूत हो गये और कई दुर्गो पर मुगल आक्रमणो का ताँता बाँध दिया गया।

चाकन पर अधिकार स्थापित करने के बाद शाइस्ताखाँ पूना चला गया और वही रहने लगा। महाराजा जसवन्तसिंह दस हजार सैनिको के साथ सिहगढ के मार्ग पर ठहर गया। इसी अवधि मे सिहगढ के मार्ग को एक तरफ रखकर शिवाजी मुगल छावनी में पहुँच गया और वहाँ से शाइस्ताखाँ के निवास-स्थान पर ५ अप्रैल, १६६३ ई० को जा धमका। शाइस्ताखाँ किसी प्रकार अपनी जान बचाकर भागा, जो दास्तान सर्वविदित है। प्रातकाल होते ही जब शिवाजी की सूझबूझ के कार्य की चर्चा चारो ओर फैली तो जसवन्तसिंह भी शाइस्ताखाँ का हालचाल पूछने के लिए वहाँ पहुँचा। शाइस्ताखाँ ने वडी नाराजगी से ताना सुनाया कि मैं तो समझ रहा था कि शत्रु का मुकाबला करते हुए वह काम आ गया होगा। इस घटना के बाद शिवाजी ने सूरत भी लूटा। बढते हुए उपद्रव को रोकने के लिए शाइस्ताखाँ का स्थानान्तर वगाल कर दिया गया और उसके स्थान पर मुअज्जम की नियुक्ति कर दी और जसवन्तसिंह को पूना भेजा गया।[२०]

इस घटना के सम्बन्ध मे वर्नियर तथा मनूची ने यह लिखा है कि इस पूना आक्रमण और सूरत की लूट मे जसवन्तसिंह का हाथ था। इस कथन से जसवन्तसिंह और शिवाजी मे किसी प्रकार का समझौता होने की सम्भावना दीख पडती है, जिससे उपर्युक्त दोनो घटनाएँ हुई। इसी आधार को लेकर फारसी तवारीखो ने भी जसवन्तसिंह और शिवाजी की साँठ-गाँठ बतायी है। इस आधार की पुष्टि भी इस तरह की जाती है कि जब सिहगढ की छावनी पर जसवन्तसिंह था तो उसी मार्ग से शिवाजी कैसे निकलने पाया ? सम्राट को भी जब इस स्थिति की सूचना दी गयी तो वह पीछे से दक्षिण से बुला लिया गया। परन्तु इस सारी घटना मे जसवन्तसिंह का कोई हाथ नही दिखायी देता। सिहगढ के मार्ग से निकलने पर भी शिवाजी बडी आसानी से जसवन्तसिंह की छावनी को टाल सकते थे। वह पहाडी मार्ग से जाने मे अभ्यस्त था। ऐसी स्थिति मे बिना राजपूत अधिकारी की जानकारी के भी उस मार्ग से निकल जाना उसके लिए सम्भव था। उसी रात वह मुगल छावनी के पास ही तो कही छिपकर रहा था और वहाँ से वह पूना पहुँचा। दूसरा १२ अप्रैल, १६६३ ई० के गिएफर्ड की एक चिठ्ठी से, जिसमे शिवाजी का पण्डित राव के नाम पत्र का उल्लेख है, स्पष्ट है कि शिवाजी ने पूना अभियान मे जसवन्तसिंह की कोई सहायता नही ली थी, उसमे परमेश्वर मात्र सहायक था। इस पत्र से भी जसवन्तसिंह की इस सम्बन्ध मे जानकारी होना नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त महाराजा की नियुक्ति पूना मे इस घटना के

---

[२०] मुन्तखब-उल-लुबाब, इलियट, जि० ७, पृ० २६१-२६९, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, पृ० ६१-६५, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४५२-५३, सरदेसाई, न्यू हिस्ट्री ऑफ दि मराठाज, पृ० १४४-४६

वाद की गयी थी। यदि उस पर सन्देह किया जाता तो सम्राट उसे पूना मे कम से कम कभी नही रखता। यदि इस प्रकार की घटना का उत्तरदायित्व जसवन्तसिंह का होता तो आलमगीरनामा, खुलासत-उत-तवारीख और फतूहात-ए-आलमगीरी मे इसका अवश्य उल्लेख होता। महाराजा द्वारा शिवाजी के विरुद्ध निरन्तर आक्रमणो को वनाये रखना भी इसकी पुष्टि करता है। यदि उसका स्थानान्तर किया गया था तो वह वाद मे १६६५ ई० मे।[२१]

दो वर्ष के वाद शाहजादे मुअज्जम के साथ जसवन्तसिंह की फिर से दक्षिण मे नियुक्ति हुई। उसके दक्षिण मे पहुँचने से मुगलो की स्थिति कुछ सुधर गयी। शिवाजी इस समय अपनी शक्ति का सगठन करना चाहता था, अतएव उसने जसवन्तसिंह के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजकर यह लिखा कि वह शम्भा को शाहजादे के पास मनसवदार के रूप मे भेजने को तैयार है। जव यह पत्र शाहजादे को वताया गया तो वह वडा प्रसन्न हुआ। दोनो ने शिवाजी के साथ सन्धि करने की सिफारिश वादशाह से कर दी। सम्राट ने उनकी वात मान ली और शिवाजी को राजा का खिताव दिया। सन्धि की शर्त के अनुसार, शम्भाजी औरगावाद भेजा गया। शाहजादे से मिलने पर उसे पाँच हजारी मनसव, एक हाथी और एक रत्नजटित तलवार दी गयी। जसवन्तसिंह के कारण थोडे समय मुगलो और मराठो मे सन्धि वनी रही। इसी वर्ष सम्राट ने प्रसन्न होकर उसे थिराद और राधणपुर के परगने दिये और उसे गुजरात पहुँचने का आदेश दिया।[२२]

जसवन्तसिंह की पश्चिमोत्तर भाग मे नियुक्ति और मृत्यु—जसवन्तसिंह को पश्चिमोत्तर भाग का वैसे अच्छा अनुभव था, क्योकि समय-समय पर इसे इस भाग के सैनिक अभियानो मे जाने का अवसर मिला था। परन्तु जव यहाँ की परिस्थिति अधिक विगडने लगी तो उसे १६७३ ई० मे कावुल की ओर प्रस्थान करने का आदेश मिला। गुजरात से मारवाड होता हुआ वह पेशावर पहुँचा। उधर पठानो के उपद्रव से शाही अफसर शुजातखाँ मारा गया था। स्थिति को कावू मे लाने के लिए कई वार पठानो पर उसने आक्रमण किये। इन आक्रमणो मे उसके कई राजपूत मारे गये। उसे तदनन्तर जमरुद रहने का आदेश दिया गया। कई वर्षो तक वहाँ का कामकाज देखते हुए २८ नवम्वर, १६७८ ई० को उसकी वही मृत्यु हो गयी।[२३]

---

२१ वर्नियर, ट्रैवल्स इन दि मुगल एम्पायर, पृ० १८७-८८, मनूची, स्टोग्यिा, भा० २, पृ० १०४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४५४, सरकार, शिवाजी, पृ० ६१

२२ जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० १, पृ० २४०-४१, सरकार, शिवाजी, पृ० १६२-६५, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४६०-६२

२३ जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० २४३-४४, वाँकीदास, ऐतिहासिक वातें, स० २५४४-४७, वीरविनोद, भा० २, पृ० ८२७

महाराजा जसवन्तसिंह का व्यक्तित्व—महाराजा अपने काल का बडा वीर, साहसी और शक्तिशाली नरेश था। शाहजहाँ कालीन मुगल दरबार मे उसका बडा सम्मान था। सम्राट उस पर विश्वास करता था, अतएव उसके समय के मुख्य अभियानो मे उसकी नियुक्तियाँ होती रही। उसे कई अवसरो पर हाथी, घोडे, सिरोपाव आदि मूल्यवान वस्तुएँ देकर सम्मानित किया गया और उसके मनसब मे भी वृद्धि सात हजार जात और सात हजार सवार तक कर दी गयी। जब सम्राट के पुत्र उससे बागी हो गये तो उनको दबाने का काम इसे ही सुपुर्द किया गया। धमत के युद्ध का वह प्रमुख नेता था, जहाँ उसने अपनी कार्यकुशलता का परिचय दिया। यदि औरगजेब अपने छल से कासिमखाँ को न फोड लेता तो इस युद्ध का फल शाही पक्ष मे रहता। उसने ममयोचित नीति से युद्ध-स्थल छोड दिया और अवसर आने पर इसके प्रतिकार करने के प्रयत्न मे लगा रहा।

जब औरगजेब सम्राट बना तो जसवन्तसिंह ने मुगल सेवाओ मे भाग लिया, परन्तु उसकी मन स्थिति समय-समय पर उसका विरोध करती रही, खजुआ के मैदान मे तो उसने इस वृत्ति का पूरा परिचय दिया, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। औरगजेब ने भी जसवन्तसिंह को पुरस्कार और सम्मान देकर प्रसन्न रखने की कोशिश की। मराठो तथा अफगानो के विरुद्ध उसकी जब-जब नियुक्तियाँ हुई तब-तब उसने अपनी कुशलता और शौर्य का परिचय दिया।

जसवन्तसिंह के राजनीतिक जीवन मे कुछ विरोधाभास दिखायी देते है जिनमे उसके शुजा व दारा के साथ किये गये समझौते तथा शिवाजी के साथ गठबन्धन बताये जाते है। वास्तव मे उस समय की सैनिक और कूटनीतिक सेवाओ मे रहने के कारण उसके व्यवहार मे ऐसा आभास होता है। औरगजेब का स्वय चरित्र चाल-बाजियो और छल के कर्तव्यो से भरा पडा है, अतएव उसकी छाया उसके सहयोगियो मे देखने की कुछ लोग कोशिश करते हैं। परन्तु वस्तुत स्थिति यह है कि महाराजा सीधे कतव्यो और न्यायोचित कार्यो के पक्ष मे रहते हुए इस प्रकार आचरण करता था कि उमका सही मूल्याकन होना कठिन था। यदि जसवन्तसिंह ने अपने समय को नही पहचाना होता तो औरगजेब जैसा कूटनीतिज्ञ सम्राट उसे चैन से नही रहने देता और मारवाड राज्य की प्रजा को कई प्रकार के कष्टो को भोगना पडता।

बहुत दिनो शाही सेवा मे रहते हुए उसने कभी अपने राज्य के प्रबन्ध के विषय में उपेक्षा नही की। उसके योग्य मन्त्री तथा सेनाध्यक्ष राज्य मे अच्छी व्यवस्था बनाये रखने मे प्रयत्नशील रहते थे। कई पडोसी राज्यो से भी उसने अपना सम्बन्ध अच्छा बनाये रखा। परन्तु यदि कभी सामन्तो ने, निकटवर्ती राजाओ ने उसके राज्य को हानि पहुँचाने की कोशिश की तो उसने योग्य व्यक्तियो को नियुक्त कर उन्हें समय पर दबा दिया।

वह जैसा वीर, साहसी और कूटनीतिज्ञ था वैसा ही वह विद्या तथा कला-प्रेमी भी था। उसके आश्रय मे कई विद्वान रहते थे, जिन्हे समय-समय पर पारितोपिक

दे सम्मानित किया जाता था। उसके समय मे कई अमूल्य ग्रन्थो का निर्माण हुआ, जिनमे 'भाषा-भूषण' सर्वोत्तम है। यह रीति और अलकार का अनुपम ग्रन्थ है। महाराजा के द्वारा रचे गये अन्य ग्रन्थो मे अपरोक्ष सिद्धान्त सार और प्रवोध चन्द्रोदय नाटक हैं। उसके समय के आश्रित विद्वानो में सूरत मिश्र, नरहरिदास, नवीन कवि, वनारसीदास आदि प्रसिद्ध हैं, जिन्होने स्वतन्त्र रूप से कई ग्रन्थो की रचना की थी। मुहिणोत नैणसी उसका मन्त्री था और ख्यात लेखक भी। उसकी ख्यात तथा जोधपुर रा परगणा री विगत राजस्थान के ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अध्ययन के अनुपम ग्रन्थ है।[२४]

उसने अपने समय मे अनेक तालाव और उद्यानो को वनाकर स्थापत्य के प्रति रुचि का परिचय दिया। उसने औरगावाद के वाहर जसवन्तपुरा आवाद किया। उसमे उसने एक सुन्दर वाग और सगब्रस्त की इमारत वनवायी। आगरे के निकट उसने कचहरी का भवन वनवाया जो राजपूत-मुगल शैली का अच्छा नमूना है। उसकी रानी अतिरगदे ने 'जान सागर' वनवाया, जिसे 'सेखावतजी का तालाव' कहते हैं। उसकी दूसरी रानी जसवन्तदे ने १६६३ ई० मे 'राई का वाग' उसका कोट तथा 'कल्याण सागर' नाम का तालाव वनवाया। इस तालाव के स्थान को 'राता नाडा' कहते है। जोधपुर के वागो को समृद्ध वनाने के लिए उसने कावुल से लाकर अनार के पेड कागा के वाग मे लगवाये।[२५] आज भी जोधपुर का अनार उसी वीज के कारण अपने मिठास के लिए प्रसिद्ध है।

मआसिर-उल-उमरा[२६] के लेखक ने जसवन्तसिंह को हिन्दू नरेशो मे अग्रणीय कहकर प्रशसा की है। वह औरगजेव के दरवार मे अपनी धार्मिक वृत्ति के लिए प्रसिद्ध था। जव तक वह उत्तरी भारत मे रहा तव तक सम्राट की हिम्मत हिन्दू विरोधी नियमो के वनाने की न हो सकी और यदि उसने कुछ नियम वनाये भी तो उनको वह उचित रूप से लागू नही कर सका। जव उसकी व्यग्रता उनको लागू करने के सम्वन्ध मे हुई तव उसने सम्भवत उसे कावुल और जमरूद तक सुदूर भेज दिया, जहाँ से वह फिर न लौटा।

मारवाड राज्य का वह अन्तिम शासक था जिसने अपने वल और प्रभाव से अपने राज्य का सम्मान वनाये रखा। मुगल दरवार का सदस्य होते हुए भी उसने अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का परिचय दे राठौड वश के गौरव और पद की प्रतिष्ठा वनाये रखी। जव तक वह जीवित रहा औरगजेव भी अपने कई स्वप्नो को चरितार्थ नहीं

---

[२४] ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४७०-७२

[२५] ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४७०

[२६] 'On account of his wealth and the number of his followers he was at the head of the Rajas of Hindustan"
—*Muasir-ul-Umrah*, I, p 755

कर सका। वह उसी के समय के स्वामिभक्त सामन्तो की एक अवलि ऐसी छोड गया जिसने अपने शौय और त्याग से राठौड राज्य की मर्यादा और परम्परा की रक्षा की।

अजीतसिंह (१६७८-१७२४ ई०)

प्राक्कथन—जसवन्तसिंह की जमरूद मे मृत्यु होना मारवाड के लिए आपत्ति का सूत्रपात था। जसवन्तसिंह के कोई पुत्र तब तक नही पैदा हुआ था। अमरसिंह का पोता इन्द्रसिंह शाही दरबार का सामन्त था। औरगजेब की दृष्टि मे वह मारवाड का उपयुक्त शासक हो सकता था, क्योकि दो पीढियो से उसके वशज मुगल अधीनता मे रह चुके थे। उससे मुगल स्वार्थो की रक्षा उसके द्वारा मारवाड मे अच्छी हो सकती थी। वैसे तो मुगल शासक इन देशी राज्यो के शासको को पद देने से और टीका भेजने के रस्म के कारण अपने को सर्वसत्तावान समझते थे, परन्तु इसका यह अभिप्राय नही था कि उनकी विना आज्ञा राजा का पुत्र राज्य का अधिकारी नही हो सकता। किसी भी नरेश के मरने पर उसका उत्तराधिकारी राज्य का स्वामी उसी दिन घोपित कर दिया जाता था। गद्दीनशीनी का उत्सव उपयुक्त मुहूर्त पर मनाया जाता था। इसी अवसर पर अन्य राज्यो से आने वाले दस्तूरो को उसी रोज स्वीकार किया जाता था। अकवर ने भी चन्द्रसेन के रहते हुए अन्य कुमारो को मारवाड का शामक नही माना था। वीकानेर के सम्वन्ध मे थोडी दस्तन्दाजी अवश्य हुई थी, परन्तु मेवाड तथा मारवाड मे अब तक ऐसी स्थिति नही आयी थी। औरगजेव टीके के दस्तूर को अपना विशेष अधिकार मानकर यह ताने-वाने बुनने लगा कि इन्द्रसिंह को मारवाड का अधिकारी वना दिया जाय और जोधपुर पर तब तक शाही अधिकारियो को प्रवन्ध के लिए भेज दिया जाय।

मारवाड को अपने अधिकार मे रखने के लिए सम्राट के दो वडे स्वाथ भी छिपे हुए थे। एक तो यह था कि गुजरात, अहमदावाद, केम्बे, अरवसागर आदि व्यापारिक केन्द्रो से सम्पर्क वनाये रखने के लिए मारवाड के सीधे मार्ग दिल्ली और आगरा जाते थे। मेवाड वाले मार्ग मे कई वाधाएँ थी। यदि मारवाड मुगल साम्राज्य के प्रभाव क्षेत्र मे आ जाता है तो शाही लश्कर तथा व्यापार के आदान-प्रदान की वडी सुविधा हो सकती थी। दूसरा स्वार्थ यह भी था कि मारवाड का शासक जसवन्तसिंह हिन्दू प्रतीको का रक्षक माना जाता था। उसके सुयोग्य उत्तराधिकारी से भी इसी प्रकार की प्रेरणा मिल सकती थी। अपनी हिन्दू-विरोधी नीति के परिवर्द्धन मे मारवाड मे ऐसे उत्तराधिकारी की आवश्यकता थी जो सम्राट की नीति का समर्थन करे। इसके अतिरिक्त औरगजेव जसवन्तसिंह द्वारा की गयी हरकतो का वदला उसके राज्य को नष्ट कर या अधीन स्थिति मे लाकर लेना चाहता था। महाराजा की मृत्यु इसके लिए उपयुक्त अवसर था।[२७]

---

[२७] सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेव, भा० ३, पृ० ३२३-२४

इस वस्तु स्थिति को नही समझते हुए कई औरंगजेब के प्रशसको का यह मत है कि मारवाड के उत्तराधिकार के प्रश्न को हल करने का पूरा अधिकार सम्राट को था। वह एक प्रमुख सत्ताधारी होने के नाते मारवाड के आश्रित राज्य को गृह-कलह से बचाना चाहता था। बताया जाता है कि इधर सामन्तो ने अपने-अपने अधिकार क्षेत्रो को बढाना आरम्भ कर दिया था और उसकी रानियाँ भी अपनी-अपनी सन्तानो के पक्ष मे अधिकार की माँग कर रही थी। इन्होने भी अपने-अपने समर्थकों की सख्या बढाकर एक प्रकार की दलबन्दी कर ली थी। इन्द्रसिंह का तो राज्य पर हक था ही जो सीधा शाही सम्पर्क और विश्वासपात्रो मे था। इस अराजकता का अन्दाज सम्राट के समर्थको ने 'वाकिया-ए-रणथम्भौर' और कुछ प्रान्तीय समाचारो के आधार पर लगाया है। परन्तु इन लोगो ने औरंगजेब की मनोवृत्ति के विश्लेपण करने का प्रयत्न नही किया है जो स्पष्टत मलीन भावनाओ से ओतप्रोत थी। मारवाड के सामन्त जो अजीतसिंह के साथ कन्धे से कन्धा लगाये हुए रहे और अन्त तक अपने राज्य के लिए मर मिटे वे भला किस प्रकार अपनी-अपनी सीमा बढाने मे लग सकते थे। रानियो मे भी किसी का पुत्र नही था जो उसके हक के लिए दलबन्दी करती। औरंगजेब एक लम्बे समय से अवसर की ताक मे था, जो उसे मिल गया। यदि जोधपुर को बनाये रखना था तो उसकी दृष्टि मे, वह इन्द्रसिंह के अधिकार की स्वीकृति तक ही सीमित था।

फिर भी इस विषय को विचाराधीन रखकर उसने जोधपुर राज्य को खालसा मे शुमार कर लिया। ताहिरखाँ को जोधपुर का फौजदार, खिदमत गुजारखाँ को किलेदार, शेरअनवर को अमीन और अब्दुर्रहीम को कोतवाल बनाकर जोधपुर का प्रबन्ध करने भेजा। इस पर जोधपुर के सरदारो ने वहाँ का सारा लेखा उन्हे समझा दिया और अन्य सरदारो को भी लिखा कि वे बिना किसी ऐतराज के मुगल अफसरो को स्थानीय अधिकार सुपुर्द कर दें। सम्राट ने साथ ही साथ शाहजादे अकबर, शाइस्ताखाँ (आगरा), मुहम्मद अमीनखाँ (गुजरात) और असदखाँ (उज्जैन) को भी जोधपुर पहुँचने के लिए लिखा। इसी तरह इन्द्रसिंह जो दक्षिण मे था उसे भी राज्य देने के लिए आमन्त्रित किया। इस प्रकार सम्राट ने भविष्य की नीति की सारी रूपरेखा थोडे ही समय मे बना ली।[२८]

जब यह सभी प्रबन्ध हो ही रहा था कि राठौड दल दोनो गर्भवती रानियो को साथ लेकर जमरूद से लाहौर पहुँचा, जहाँ उनमे कुछ घडियो के अन्तर मे १९ फरवरी, १६७९ ई० को दो पुत्र क्रमश अजीतसिंह और दलथम्भन नामक उत्पन्न हुए। इसकी सूचना सम्राट को भी अजमेर फरवरी के अन्तिम सप्ताह मे पहुँच गयी।[२९]

२८ मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० १७१-१७३, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, भा० ३, पृ० ३२६, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४७९-८०

२९ मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० १७२-७३, ईश्वरदास, पत्र ७३, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, भा० ३, पृ० ३२७

इस सूचना के बाद तो औरंगजेब की यदि नीयत साफ होती तो उसे अजीतसिंह को जोधपुर शीघ्रातिशीघ्र भिजवा देना चाहिए था। परान्तु उसने मारवाड को अधीन करने की नीति मे कोई शिथिलता नही आने दी। राज्य को नि सहाय पाकर और मुगल अधिकार का विरोध न देखकर सम्राट ने चारो ओर खजानो की तलाश करवाना आरम्भ किया। खिदमतगुजारखाँ ने सिवाना के खजाने की तलाशी ली जहाँ फटे चिथडो के अतिरिक्त कुछ भी न मिला। अन्य स्थानो मे कोट, बुर्ज, दीवारो और आँगनो मे तोड-फोड कर खजाने की तलाश की गयी। खालसे के दीवान ने सभाले की फरदें और राजस्व की आय के आँकडे बनाना शुरू किया। खाँनेजहाँबहादुर को अफसरो के दल के साथ राज्य पर अधिकार करने तथा मन्दिरो को तोडने आदि के लिए पहले ही जाने का आदेश दिया जा चुका था। उसने जोधपुर पर अधिकार स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की और वह गाडियो मे मूर्तियाँ लदवाकर दिल्ली लाया, जिन्हे दिल्ली के किले के दालान तथा जामा मस्जिद के सामने पैरो तले कुचलने के लिए रखवा दी गयी। इन्द्रसिह को ३६ लाख रुपये के एवज मे २६ मई को जोधपुर दे दिया गया। सरकारी इन्तजाम बदस्तूर रखा गया ताकि नये शासक को कोई दिक्कत का सामना न करना पडे।[30]

इस सम्पूर्ण गतिविधि मे मारवाड के सरदारो ने खुला विरोध नही किया, क्योकि राजपरिवार के साथ जमरूद से आने वाले सरदारो ने जोधपुर सन्देश भिजवा दिया था कि वे औरंगजेब का विरोध न करें। वे अपनी मजिलो की यात्रा का ब्यौरा सतत् भेजते रहते थे, जिससे उन्हे आशा थी कि रानियो के आ जाने से और अजीत की विद्यमानता से मारवाड से मुगल अधिकार हट जायगा। परन्तु ज्यो दिन बीतते गये त्यो औरंगजेब ने राजपरिवार को मनसब देने के बहाने दिल्ली बुला लिया, तो सरदारो को इस विषय मे सन्देह होने लगा। कुछ मन्त्री तो २६ फरवरी को सम्राट से मिले और प्रार्थना की कि अजीत को जसवन्तसिह का अधिकारी घोषित कर दिया जाय। जून के अन्त तक तो राठौड राजपरिवार दिल्ली भी पहुँच गया, तब भी इस सम्बन्ध मे कोई निर्णय लिये जाने की चर्चा नही थी।

अजीतसिंह के लिए प्रयत्न—जब औरंगजेब जेल मे था तब भी भाटी रघुनाथ और पचोली केसरीसिंह आदि ने अजीतसिंह के लिए जोधपुर भेजने के सम्बन्ध मे प्रयत्न किया था, परन्तु इसमे कोई सफलता न मिली। वे फिर दिल्ली पहुँचे। यहाँ जोधा रणछोडदास गोयददासोत (खैरवा) तथा राठौड सूरजमल, नाहर खानोत आदि सरदार भी पहुँच गये। उन्होने दीवान असदखाँ और बख्शी सरबुलन्दखाँ के द्वारा भी कोशिश की कि अजीतसिंह को जोधपुर भेज दिया जाय। औरंगजेब इस सम्बन्ध की

---

[30] मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० १७२, १७५, ७६, ईश्वरदास, पत्र ७५, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, भा० ३, पृ० ३२७-२८

बात टालता रहा यह बताते हुए कि जब वह बडा हो जायगा तो उसे राजा का पद और मनसब से सम्मानित किया जायगा। इस सम्बन्ध मे यह भी एक सुझाव था कि बादशाह महाराज के पुत्र को ५०० सवारो से चाकरी के एवज सोजत और जैतारण दे सकता है। दिलखुश का लेखक तो बताता है कि औरगजेब उसे जोधपुर देने के लिए तैयार हो गया था, यदि अजीतसिंह इस्लाम धर्म स्वीकार करले। वैसे तो सम्राट की नीति का यह एक पक्ष था। उसने इसी शर्त पर चौगीगढ, देवगढ और माऊ की जमीदारियाँ उन विरोधी हकदारो को दी थी जिन्होने मुसलमान बनना स्वीकार किया था। अजीत के प्रसग मे ये धारणा सही भी मालूम होती है, जब हम जानते हैं कि उसने जाली अजीतसिंह का नाम मुहम्मदीराज रखा था और उसके मरने पर उसे मुस्लिम विधि से दफनाया था। आगे भी उसने शाहू भौंसले को इस्लाम स्वीकार करने को दबाया था। अतएव अजीत के लिए औरगजेब ने इसी प्रकार की धारणा बना रखी हो या ऐसा विचार व्यक्त किया हो तो कोई आश्चर्य नही।[३१]

राठौडों का अन्तिम निर्णय—जहाँ तक बन सका राठौड सरदारो ने दिल्ली मे रहते हुए प्रार्थना के रूप मे सम्राट को राजी करने की कोशिश की, जिससे वह अजीतसिंह को जोधपुर भेज दे और उसका राज्य उसे लौटा दे। परन्तु वह इस मामले को तूल देने के साथ-साथ ऐसी कार्यवाही करने लगा जो असह्य थी। उसने उन्हे जोधपुर की हवेली खाली करने को बाध्य किया। विवश होकर राजपरिवार तथा राठौड सरदारो को किशनगढ की हवेली मे जाकर रहना पडा। इसी प्रकार केसरीसिंह पचोली को जोधपुर का सभी हिसाब समझाने को दबाया गया। जब उसने इसमे आनाकानी की तो उसे बन्दी बना लिया गया, जहाँ कुछ ही दिनो मे उसने विष खाकर अपने राज्य तथा स्वय के आत्म सम्मान की रक्षा की। इन्होने जब देखा कि सम्राट की नीयत साफ नही है और वह बलात् राजकुमार को अपने दबाव मे रखकर इस्लाम कबूल करा देगा या उसका जीवन खतरे मे डाल देगा तो उन्होंने अपने प्राणो की आहुति के बल पर राठौड परिवार की रक्षा करने का सकल्प किया। इस समय उन्होंने शान्ति से काम निकालने की योजना बनायी, जिससे प्रारम्भ मे सम्राट को यह सन्देह न हो जाय कि ये सगठित रूप मे कोई अपनी मन्तव्य सिद्धि के सम्बन्ध मे कदम उठाने जा रहे हैं। उन्होने यह भी सोचा कि यदि सभी सरदार वहाँ बने रहेंगे तो सम्भवत उनको भी कैद कर लिया जायगा या उन पर पहरा बिठा दिया जायगा। यदि खुला विरोध भी किया जायगा तो सम्राट की शक्ति के मुकाबले मे उन्हे मर मिटना पडेगा। अतएव राठौड रणछोडदास, भाटी रघुनाथ, राठौड रूपसिंह तथा राठौड दुर्गादास ने यह निर्णय

---

३१ मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० १७३, १७७, दिलखुश, पत्र १६, अखबारात, वर्ष १३, पृ० १०, २४, ३२, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० २, पृ० १५-१६, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३२६-३०, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८०-८१

लिया कि कुछ सरदार, जिनमे राठौड सूरजमल, राठौड सग्रामसिंह (आऊवा), चापावत उदयसिंह, जैतावत प्रतापसिंह (बगडी), राठौड राजसिंह आदि मुख्य थे, एक-एक कर जोधपुर लौट जायँ। इस प्रयोग के दो लाभ हो सकते थे, एक तो यह कि जोधपुर पहुँच कर वे अपने दल-बल के साथ शाही अधिकारियो का आवश्यकता पडने पर विरोध कर सकेंगे। अन्यथा इसका दूसरा यह भी आभास होगा कि प्रमुख राठौड सरदार अजीतसिंह को छोडकर अपनी-अपनी जागीर को लौट रहे है और उन्हे सम्राट का निर्णय मान्य है। इस समय भी यह निर्णय लिया गया कि कुछ सरदार दिल्ली के आसपास रहेगे जो अजीतसिंह को निकाल ले जाने वाले दल की सहायता करेंगे और मुगलो की सेना जो उनका पीछा करेगी उसका मुकावला कर मर मिटेंगे। इस प्रयोग से अजीतसिंह सुदूर निकल भी जायगा और शाही सेना की रोकथाम भी हो जायगी। वास्तव मे इस निर्णय मे सूझबूझ तथा व्यावहारिकता थी। इस सारी योजना के पीछे दुर्गादास का मस्तिष्क था जिसने औरगजेव की धूर्तता का उचित रूपेण प्रत्युत्तर देने की तरकीब सोच निकाली थी।[३२]

अजीतसिंह को बचाने के लिए युद्ध—जब राठौड सरदार एक-एक कर औरगजेब से विदाई लेकर जाने लगे तो औरगजेब ने इनकी शक्ति कम होती देख राजपरिवार के लिए अधिक कठोर व्यवहार को अपनाना आरम्भ किया। १५ जुलाई, १६७६ ई० को उसने फौलादखाँ कोतवाल को हुक्म दिया कि वह सैयद हामिदखाँ, कमालुद्दीनखाँ आदि की सहायता से रानियो तथा राजकुमारो को रूपसिंह की हवेली से हटाकर नूरगढ पहुँचा दें और यदि वे इसमे आनाकानी करे तो उन्हे दण्ड दें। भाग्यवश इसके एक दिन पहले ही दुर्गादास तथा सोनिंग आदि अजीत को लेकर मारवाड की ओर निकल चुके थे। रानियो को भी पुरुष वेश मे ले जाया गया था। जब सम्राट की आज्ञा के अनुसार उन्हे नूरगढ ले जाने का प्रवन्ध किया गया तो रघुनाथ भाटी अपने १०० साथियो समेत शत्रुओ पर टूट पडे। कुछ घण्टो के विरोध के वाद भाटी सरदार अपने ७० सहयोगियो के साथ मारा गया। जब यह स्पष्ट हो चुका था कि राठौड सरदार अजीतसिंह को वहाँ से निकाल ले गये थे, शाही दल ने उसका पीछा किया जिसका मुकावला रणछोडदास ने बडे साहस से किया। तब तक दुर्गादास राजकुमार को आगे निकाल चुका था। जब ये राजपूत दल युद्ध कर मौत की गोद मे सोया तो शाही दल आगे बढा। इस वार दुर्गादास ने उसको रोके रखा और उसमे युद्ध करता रहा, तब तक राजपरिवार और आगे बढ चुका था। दुर्गादास भी किसी प्रकार सन्ध्या पडते-पडते शत्रुओ से बचकर अजीतसिंह से जा मिला।

---

३२ ईश्वरदास, पत्र, ७२, ७५, अजितोदय, सर्ग ६, श्लो० ८५-६०, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० २, पृ० १७, ३२, ४५, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेव, भा० ३, पृ० ३३०-३१, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८२-८३, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भाग १, पृ० २५३-५४

शाही सेना भी अल्पसख्या मे बची थी, वह भी दिल्ली लौट गयी। इस प्रकार २३ जुलाई तक अजीतसिंह और उसके साथी मारवाड की ओर जा पहुँचे।[३३]

अजीतसिंह को दिल्ली से मारवाड पहुँचाने के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न मत हैं। मुन्तखब-उल-लुबाब नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि जब राठौड सरदारो को स्वदेश लौटने की आज्ञा हो गयी तो इन्होने किन्ही दो बालको को और दासियो को लाकर उन्हे राजकुमारो तथा रानियो की पोशाक मे वही छोड दिया और वास्तविक रानियो को तथा राजकुमारो को स्वामिभक्त राठौड रात्रि मे वहाँ से निकालकर ले गये। जोधपुर राज्य की ख्यात मे खीची मुकुन्ददास तथा कलावत द्वारा अजीतसिंह और दलभजन को गुप्त रीति से दिल्ली से निकालकर ले जाना लिखा है। दलभजन का मार्ग मे ही मरना उसमे उल्लेखित है। वशभास्कर से पाया जाता है कि दुर्गादास अजीतसिंह को निकाल ले जाने वालो मे से एक था और भाटी गोइन्दास कालवेलिये का रूप धर दोनो राजकुमारो को पिटारो मे रखकर निकाल ले गया था। कर्नल टॉड ने मिठाई के टोकरे मे कुमार को वहाँ से निकालना लिखा है। सर सरकार ने लिखा है कि जब शाही दल और राजपूतो मे झगडा चल रहा था कि दुर्गादास युक्ति से अजीत को वहाँ से निकालकर चल दिया। रेऊ के अनुसार राठौडो ने कुमार को बलूंदा के सरदार मोकमसिंह की स्त्री बाघेली के साथ सकुशल दिल्ली से निकाल दिया।[३४]

रानियो के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न लेखको ने भिन्न-भिन्न बातें लिखी हैं। मुन्तखब-उल-लुबाब के अनुसार मर्दो की पोशाक मे रानियो का निकलना लिखा है और साथ ही सन्देह भी प्रकट किया है कि रानियो का भागना ठीक-ठीक प्रमाणित नही है। जोधपुर राज्य की ख्यात मे लिखा है कि जब शाही अफसरो के बीस हजार सवार और तोपखाना हवेली पर पहुँचे तो राठौड सरदार लडने को कटिबद्ध हो गये। जब युद्ध आरम्भ हुआ तो जादमजी और नरूकीजी (रानियाँ) का चन्द्रभाण के हाथ से लोहा कराने को कहकर राठौड दुर्गादास आदि बचे हुए ढाई-तीन सौ राजपूतो ने युद्ध जारी रखा। मुशी देवीप्रसाद कृत औरगजेबनामा मे पाया जाता है कि लडाई के मैदान मे हार की सम्भावना मानकर पुरुष वेश मे जो रानियाँ थी उन्हे राठौडो ने कत्ल कर दिया और वे दूसरे लडके को दूध बेचने वाले के घर मे छोडकर भाग गये। टॉड के

---

३३ ईश्वरदास, पत्र ७५-७६, खफीखाँ, भा० २, पृ० २५९-६०, मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० १७८, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३३३-३४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८२-८४

३४ मुन्तखब-उल-लुबाब, इलियट, जि० ७, पृ० २९७, औरगजेबनामा (देवीप्रसाद), भा० २, पृ० ८४-८५, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० २, पृ० ३२, वश-भास्कर, भा० ३, पृ० २८५९, छन्द १९, टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ९९३, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८४, रेऊ, मारवाड राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २५४

अनुसार युद्ध के आरम्भ होने के पूर्व ही रानियो को स्वर्ग भेज दिया गया था।[३५] "अजितोदय और राजरूपक में लिखा है कि रानियो ने अपने सिर कटवा कर पति का अनुगमन किया था। किसी-किसी ख्यात मे इनके सिर काटने वाले का नाम जोधा चन्द्रभान लिखा है। जदुनाथ सरकार ने अजीतसिंह की माता का मेवाड राजवंश की होना और उसका दिल्ली से मारवाड पहुँच महाराणा से सहायता माँगना लिखा है।[३६]

इन विभिन्न मतो के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि कुमार वहाँ से निकाल लिया गया था और कई राठौड सरदार उसके मारवाड पहुँचते-पहुँचते अपने जीवन की आहुति दे चुके थे। रानियो का भी अन्त इसी रूप से हुआ होना स्वाभाविक दीख पडता है।

अजितोदय से प्रमाणित है कि चाँदावत मोकमसिंह की स्त्री ने अपनी दूध पीती हुई कन्या को तो अजीतसिंह की धाय को सुपुर्द किया, और वह स्वय उसे लेकर मारवाड की तरफ आयी। उसके पुत्र हरिसिंह और खीची मुकुन्ददास ने इसे मार्ग में सुरक्षित रखा। कुछ समय बलूदे रहने के पश्चात बालक को सिरोही ले जाया गया। वहाँ उसे देवडीजी की सम्मति से पुरोहित जयदेव की स्त्री को सौंप दिया गया, जिसने कालिंद्री मे रहकर बालक की देखभाल की। खीची मुकुन्दसिंह आसपास सन्यासी के वेष में रहकर बालक की सुरक्षा की व्यवस्था देखता रहा।[३७] परन्तु जब चारो ओर मुगल थानो की निकटता देखी तो दुर्गादास ने महाराणा राजसिंह से प्रार्थना की कि वह उसको अपनी शरण में रख ले। जब महाराणा ने यह स्वीकार कर लिया तो दुर्गादास आदि सरदार उसको महाराणा के पास ले गये और उसे जेवर सहित १ हाथी, ११ घोडे, १ तलवार, रत्नजटित कटार और १० हजार दीनार नजर किये। महाराणा ने अजीतसिंह को बारह गाँवो सहित केलवा का पट्टा देकर वहाँ रखा और राठौड सरदारो को उसके सम्बन्ध मे निश्चिन्त रहने का आश्वासन दिया।[३८]

जब अजीतसिंह के भाग जाने और जोधपुर पहुँचने की सूचना सम्राट को मिली तो उसने एक ग्वाले के लडके को हरम मे रखा और उसे अजीतसिंह घोषित

---

[३५] मुन्तखब-उल-लुबाब, इलियट, जि० ७, पृ० २९७-९८, औरगजेबनामा (देवीप्रसाद), भा० २, पृ० ८५, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० २, पृ० ३२-३६, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८१-८२

[३६] अजितोदय, सर्ग ७, श्लो० १९२०, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३७७-७८, ३८६-९४, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० २५७

[३७] अजितोदय, सर्ग ६, श्लो० ८५-९०, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० २५४

[३८] मान कवि, राजविलास, सर्ग ९, पद्य १७१-२०९, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८८-८९

शाही सेना भी अल्पसंख्या मे बची थी, वह भी दिल्ली लौट गयी। इस प्रकार २३ जुलाई तक अजीतसिंह और उसके साथी मारवाड की ओर जा पहुँचे।[३३]

अजीतसिंह को दिल्ली मे मारवाड पहुँचाने के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न मत हैं। मुन्तखब-उल-लुबाब नामक ग्रन्थ मे लिखा है कि जब राठौड सरदारो को स्वदेश लौटने की आज्ञा हो गयी तो इन्होने किन्ही दो बालको को और दासियो को लाकर उन्हे राजकुमारो तथा रानियो की पोशाक मे वही छोड दिया और वास्तविक रानियो को तथा राजकुमारो को स्वामिभक्त राठौड रात्रि मे वहाँ से निकालकर ले गये। जोधपुर राज्य की ख्यात मे खीची मुकुन्ददास तथा कलावत द्वारा अजीतसिंह और दलभजन को गुप्त रीति से दिल्ली से निकालकर ले जाना लिखा है। दलभजन का मार्ग मे ही मरना उसमे उल्लेखित है। वशभास्कर से पाया जाता है कि दुर्गादास अजीतसिंह को निकाल ले जाने वालो मे से एक था और भाटी गोइन्दास कालवेलिये का रूप धर दोनो राजकुमारो को पिटारो मे रखकर निकाल ले गया था। कर्नल टॉड ने मिठाई के टोकरे मे कुमार को वहाँ से निकालना लिखा है। सर सरकार ने लिखा है कि जब शाही दल और राजपूतो मे झगडा चल रहा था कि दुर्गादास युक्ति से अजीत को वहाँ से निकालकर चल दिया। रेऊ के अनुसार राठौडो ने कुमार को बलूंदा के सरदार मोकमसिंह की स्त्री बाघेली के साथ सकुशल दिल्ली से निकाल दिया।[३४]

रानियो के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न लेखको ने भिन्न-भिन्न बातें लिखी हैं। मुन्तखब-उल-लुबाब के अनुसार मर्दो की पोशाक मे रानियो का निकलना लिखा है और साथ ही सन्देह भी प्रकट किया है कि रानियो का भागना ठीक-ठीक प्रमाणित नहीं है। जोधपुर राज्य की ख्यात मे लिखा है कि जब शाही अफसरो के बीस हजार सवार और तोपखाना हवेली पर पहुँचे तो राठौड सरदार लडने को कटिबद्ध हो गये। जब युद्ध आरम्भ हुआ तो जादमजी और नरूकीजी (रानियाँ) का चन्द्रभाण के हाथ से लोहा कराने को कहकर राठौड दुर्गादास आदि बचे हुए ढाई-तीन सौ राजपूतो ने युद्ध जारी रखा। मुशी देवीप्रसाद कृत औरगजेबनामा से पाया जाता है कि लडाई के मैदान मे हार की सम्भावना मानकर पुरुष वेश मे जो रानियाँ थी उन्हे राठौडो ने कत्ल कर दिया और वे दूसरे लडके को दूध बेचने वाले के घर मे छोडकर भाग गये। टॉड के

---

३३ ईश्वरदास, पत्र ७५-७६, खफीखाँ, भा० २, पृ० २५६-६०, मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० १७८, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३३३-३४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८२-८४

३४ मुन्तखब-उल-लुबाब, इलियट, जि० ७, पृ० २९७, औरगजेबनामा (देवीप्रसाद), भा० २, पृ० ८४-८५, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० २, पृ० ३२, वशभास्कर, भा० ३, पृ० २८५६, छन्द १६, टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ९९३, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८८, रेऊ, मारवाड राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २५४

अनुसार युद्ध के आरम्भ होने के पूर्व ही रानियो को स्वर्ग भेज दिया गया था।[३५] "अजितोदय और राजरूपक मे लिखा है कि रानियो ने अपने सिर कटवा कर पति का अनुगमन किया था। किसी-किसी ख्यात मे इनके सिर काटने वाले का नाम जोधा चन्द्रभान लिखा है। जदुनाथ सरकार ने अजीतसिंह की माता का मेवाड राजवश की होना और उसका दिल्ली से मारवाड पहुँच महाराणा से सहायता माँगना लिखा है।[३६]

इन विभिन्न मतो के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि कुमार वहाँ से निकाल लिया गया था और कई राठौड सरदार उसके मारवाड पहुँचते-पहुँचते अपने जीवन की आहुति दे चुके थे। रानियो का भी अन्त इसी रूप से हुआ होना स्वाभाविक दीख पडता है।

अजितोदय से प्रमाणित है कि चाँदावत मोकमसिंह की स्त्री ने अपनी दूध पीती हुई कन्या को तो अजीतसिंह की धाय को सुपुर्द किया, और वह स्वय उसे लेकर मारवाड की तरफ आयी। उसके पुत्र हरिसिंह और खीची मुकुन्ददास ने इसे मार्ग में सुरक्षित रखा। कुछ समय बलूंदे रहने के पश्चात बालक को सिरोही ले जाया गया। वहाँ उसे देवडीजी की सम्मति से पुरोहित जयदेव की स्त्री को सौंप दिया गया, जिसने कालिन्द्री मे रहकर बालक की देखभाल की। खीची मुकुन्दसिंह आसपास सन्यासी के वेप में रहकर बालक की सुरक्षा की व्यवस्था देखता रहा।[३७] परन्तु जब चारो ओर मुगल थानो की निकटता देखी तो दुर्गादास ने महाराणा राजसिंह से प्रार्थना की कि वह उसको अपनी शरण मे रख ले। जब महाराणा ने यह स्वीकार कर लिया तो दुर्गादास आदि सरदार उसको महाराणा के पास ले गये और उसे जेवर सहित १ हाथी, ११ घोडे, १ तलवार, रत्नजटित कटार और १० हजार दीनार नजर किये। महाराणा ने अजीतसिंह को बारह गाँवो सहित केलवा का पट्टा देकर वहाँ रखा और राठौड सरदारो को उसके सम्बन्ध मे निश्चिन्त रहने का आश्वासन दिया।[३८]

जब अजीतसिंह के भाग जाने और जोधपुर पहुँचने की सूचना सम्राट को मिली तो उसने एक ग्वाले के लडके को हरम मे रखा और उसे अजीतसिंह घोषित

---

[३५] मुन्तखब-उल-लुबाब, इलियट, जि० ७, पृ० २९७-९८, औरगजेबनामा (देवीप्रसाद), भा० २, पृ० ८५, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० २, पृ० ३२-३६, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८१-८२

[३६] अजितोदय, सर्ग ७, श्लो० १९२०, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३७७-७८, ३८६-९४, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० २५७

[३७] अजितोदय, सर्ग ६, श्लो० ८५-९०, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० २५४

[३८] मान कवि, राजविलास, सर्ग ९, पद्य १७१-२०९, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८८-८९

किया, यह बताते हुए कि दुर्गादास वाला अजीत नकली राजकुमार है। साथ ही साथ उसने जोधपुर के फौजदार को सेवा से रिक्त कर दिया, इस आरोप पर कि वह दुर्गादास को जोधपुर के बाहर नही रख सका। इन्द्रसिंह को भी गद्दी से हटा दिया गया क्योंकि वह राठौडो पर अपना प्रभाव स्थापित नही कर सका। सम्राट ने १५ अगस्त को सरबुलन्दखाँ की अध्यक्षता मे एक सेना जोधपुर की ओर भेजी और वह स्वय २५ सितम्बर को अजमेर पहुँचा जिससे कि जोधपुर लेने के कार्य का निरीक्षण वह निकट रहकर कर सके। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर परिहारो ने मण्डोर पर अधिकार कर लिया और चारो ओर अराजकता का वातावरण पैदा होने लगा। इसी समय सम्राट ने तहव्वरखाँ को एक वडी सेना लेकर मारवाड की ओर भेजा। उसका मुकाबला मेडता मे राठौड राजसिंह ने किया जिसमे दोनो दलो मे हताहतो की सख्या काफी थी। तीन दिन के विरोध के अनन्तर मेडतिये ने मर कर शाही सेना को मार्ग दिया। यहाँ से शत्रु सेना सोजत, डीडवाना, रोहित आदि स्थानो को साफ करती चली गयी। इसी विध्वस के साथ औरगजेब ने जोधपुर को खालसा कर लिया और उसके विभिन्न विभागो पर मुगल अधिकारियो की नियुक्ति कर दी। जहाँ भी शत्रु सेनाएँ पहुँची वहाँ अबोध जनता को मौत के घाट उतारा गया और मन्दिरो को ढाया गया तथा उनके स्थान पर मस्जिदो का निर्माण करवाया गया।[३९]

सीसोदिया राठौड सघ—वैसे तो मुगलो की चारो ओर विजय ही विजय हो रही थी, परन्तु उनकी विध्वसकारी आक्रमण नीति ने, सरकार[४०] के अनुसार, राजपूतो मे एक स्वाभाविक प्रतिक्रियात्मक भावो को उत्तेजित किया, जिसमे वह निष्फल सिद्ध हुई। इन्होने अब जमकर लडने के बजाय लुका-छिपी की युद्ध-प्रणाली को प्रधान्यता देकर मुगलो को छकाना आरम्भ किया। इतना ही नही सीसोदिया और राठौडो ने मिलकर मुगल प्रयत्नो को विफल बनाने की योजना बना ली जिससे सम्पूर्ण युद्ध का स्वरूप वदल गया। महाराणा राजसिंह जो ऊपरी तौर से औरगजेब से अच्छे सम्बन्ध बनाये हुए था, इस युद्ध मे कूद पडा। अजीतसिंह की माँ जो राणा की सम्बन्धी थी[४१] उसके द्वारा सहायता की अपेक्षा रखती थी। इसके अतिरिक्त शाही सेना का मारवाड का विध्वस मेवाड तक भी कालान्तर मे बढ सकता था, क्योंकि दोनो राज्यो की

---

३९ मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० १७९-१८२, दिलखुश, पृ० १६५, ईश्वरदास, पृ० ७६५, टॉड, राजस्थान, भा० २, अध्याय ७, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३३४-३३७

४० 'But this policy of aggression and religious persecution by provoking a natural reaction brought about its own failure"
—Sarkar, *History of Aurangzib* III p 336

४१ कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ४, पृ० १४८

सीमाएँ एक स्थान पर मिलती थी।[४२] ऐसी स्थिति मे महाराणा के लिए आवश्यक था कि इस अवसर का लाभ उठाकर मारवाड की सीमा की रक्षा करे और राठौडो का भी सहायक बने। इन आधारो पर दोनो वशो का गुट बना। दो बडे मोर्चे मुगल विरोध के लिए खोले गये। एक मोर्चा मेवाड मे और दूसरा मारवाड मे था। राठौडो ने मारवाड मे स्थान-स्थान पर लडने के अड्डे स्थापित किये और सीसोदियो ने गिर्वा मे जगह-जगह सेनाओ को स्थापित किया जो मुगल आक्रमण को राकें और युद्ध करे। राजस्थान के इतिहास मे इस मैत्री सम्बन्ध का बडा महत्त्व है। इस सघ ने मुगल राज्य की नीव को हिला दिया। औरगजेब अन्ततोगत्वा सीसोदियो और राठौडो को कुचल न सका, जैसा कि युद्ध की गतिविधि से स्पष्ट होगा।

मेवाड मे युद्ध की घटनाएँ—राजसिह ने शत्रु का मुकावला करने के लिए देवारी की नाल को सुदृढ दीवारो व फाटक से बन्द करवा दिया और चित्तौड दुर्ग की मरम्मत करवायी। घाटियो और ऊबड-खाबड भूमि मे बस्तियो को भेज दिया और मैदानी भागो को उजाड कर दिया ताकि शत्रुओ को रसद आदि अलभ्य हो जाय और उन्हे कोरे हाथ लौटना पडे। औरगजेब ने भी स्वय देवारी पर आक्रमण कर उस द्वार के द्वारा ४ जनवरी, १६८० को अपनी फौजो को भीतरी गिर्वा मे राणा की तलाश के लिए भेजा। दूसरी फौज को चीरवे के मार्ग से उदयपुर की ओर रवाना किया। बडे कष्ट से इन फौजो ने उदयपुर तक प्रवेश किया, नगर को उजाडा तथा कई मन्दिरो की तोड-फोड की। इस अभियान मे राणा को वे नही पकडने पाये या परास्त करने पाये। हताश होकर चित्तौड तथा उदयसागर के कुछ मन्दिरो को ढाह कर सम्राट २२ मार्च को अजमेर लौट गया। वैसे तो राजसिह मेवाड के पहाडो मे एक स्थान से दूसरे स्थान अपने मुकाम बदलता रहा, परन्तु उसने अपनी सेना की टुकडियो की सहायता से, जो अनेक नाको पर लगायी गयी थी, मुगलो को खूब खदेडा। वह अपने पश्चिमी सीमा की नालो के मार्ग से मेवाड और मारवाड का सम्बन्ध बनाये रखने मे पूर्णरूपण सफल रहा। इसके विपरीत औरगजेब के लिए यह बडा कठिन था कि वह मेवाड और मारवाड की मुगल सेना का एक तारतम्य स्थापित करे। उदाहरणार्थ, जब चित्तौड की मुगल सेना को मारवाड जाना पडता था तो मार्ग मे बदनौर, ब्यावर और सोजत पडते थे जिनको पार कर आसानी से मारवाड नही पहुँचा जा सकता था। राणा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना या सैनिक सहायता पहुँचाना आसान था। उसका सारा राज्य उदयपुर से कुम्भलगढ और राजसमुद्र से सलुम्बर की पहाडियो से घिरा हुआ था और जिसकी रक्षा के केन्द्र देसुरी, देवारी, उदयपुर, राजसमुद्र, दिवेर आदि थे। राजपूत अपनी परिचित भूमि मे लडने के कारण कई प्रकार से लाभ मे थे। उनको स्थानीय वर्ग से हर वक्त सहायता प्राप्त हो सकती थी। मुगल यहाँ

---

[४२] सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३३७-३३९, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १६८

की भूमि और जनसमुदाय से अपरिचित थे, जिससे उन पर राजपूतों का व्यक्तिगत प्रभाव सरलता से स्थापित हो सकता था।[४३]

औरंगजेब ने अकबर को चित्तौड़ के मोर्चे पर मुकर्रर किया था, जिससे वह अजमेर से अपना सम्बन्ध बनाये रखे और मेवाड़ पर भी आक्रमण की व्यवस्था करे। परन्तु उसके पत्रों से तथा अदब-ए-आलमगीरी से विदित होता है कि मेवाड़ की घाटियों में आगे बढ़ने से मुगल सेना नायक और सैनिक हिचकते थे और अपने पर उत्तरदायित्व लेने के लिए इन्कार कर दिया करते थे। हसनखाँ की स्थिति ने, जिसने उदयपुर की पहाड़ियों में जाने की हिम्मत की और जिसका लम्बे समय तक पता नहीं लग सका, सभी को भयभीत कर दिया था। अकबर के खेमे पर राजपूत कई बार धावा बोल चुके थे और शाही रसद और सामान को हानि पहुँचा चुके थे। मन्दसौर और नीमच के मार्ग से मालवा से आने वाले दस हजार बंजारों के बैलों को राजपूतों ने लूट लिया जिससे मुगलों को खाद्यान्न की भारी कमी भुगतनी पड़ी। राणा स्वयं इन घाटियों में घूम-फिरकर मुगल सेना को क्षति पहुँचाने में सफल हो रहा था।[४४] औरंगजेब ने युद्ध में नयी प्रगति उत्पन्न करने के लिए शाहजादे आजम को चित्तौड़ नियुक्त किया और उसे आदेश दिया कि वह अपने मुकाम से देबारी के मार्ग से उदयपुर की ओर बढ़े। शाहजादे मुअज्जम को राजसमुद्र की ओर से उसी तरफ बढ़ने को कहा गया। औरंगजेब ने अकबर को जो चित्तौड़ रहते हुए कोई अच्छी तरह से काम नहीं कर सका था, देसुरी भेज दिया और उससे अपेक्षा की गयी कि वह मेवाड़ पर पश्चिमी सीमा से आक्रमण करे। परन्तु रावत रुघनाथ, उदयभान, महासिंह, केसरीसिंह और रत्नसिंह के विरोध से आजम और मुअज्जम राणा को पहाड़ी भाग में घेर लेने में सफल नहीं हो सके। इसी स्थिति का वर्णन करते हुए हमने लिखा है कि मुगल राजपूतों के मोर्चे पर काबू न पा सके, क्योंकि उन्होंने आकस्मिक हमले तथा रसद को लूट लेने की विधि से मुगल थानेदारों को अरक्षित बना दिया था।[४५]

मारवाड़ में युद्ध की घटनाएँ—जब मुहम्मद अकबर को देसुरी पहुँचने का

---

४३ मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० १९५-९६, मुन्तखब-उल-लुबाब, भा० २, पृ० १६२-६४, राजविलास, सर्ग १० श्लो० ५४-११२, जी० एन० शर्मा, मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १७०-१७४

४४ अदब, न० ६६२, ६६६, ७२१, ७३४, ७४८ आदि, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, भा० ३, पृ० ३३९-४६

४५ अदब, न० ६८६, ७००, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, पृ० ३४६
"They failed to shake the Rajput grip over their defence points from which they carried successful rids and surprise attacks Their tactics of cutting the supply practically reduced the Mughal outposters to the position of insecurity "
—G N Sharma, *Mewar and the Mughal Emperors*, p 174

आदेश हुआ तो वह उस ओर बढा। उसे मार्ग मे ब्यावर, मेडता, सोजत आदि स्थानो मे राठौडो का विरोध झेलना पडा और कुछ समय देसुरी के बजाय सोजत को उसे अपना मुकाम बनाना पडा। राठौड सरदार पग-पग पर मुगलो का विरोध करते थे और ज्योही उन्हें मौका लगता था मुगल थाने पर आक्रमण कर या क्षति पहुँचाकर छिप जाते थे। रसद को लूटना या मुगल यातायात को हानि पहुँचाना साधारण-सी घटना थी। अजीत के सहयोगी जालौर, सिवाना, गोडवाड, नागौर, डीडवाना, साँभर आदि मुकामो पर छापा मारते थे और मुगल अधिकारियो को चैन से नही सोने देते थे। मारवाड मे कही जमकर युद्ध नहीं हुआ परन्तु छापे मारने और रसद लूटने की चालो को वहाँ इतनी निपुणता से अपनाया गया था कि मुगल सैनिक तथा अधिकारी किंकर्तव्य विमूढ थे।[४६]

पुन मेवाड की घटनाएँ—अकबर की देसुरी नाल पर पहुँचकर कुम्भलगढ के प्रान्त पर आक्रमण करने की योजना थी, परन्तु इस मजिल तक पहुँचने मे उसे कई महीने लग गये। पहले तो वह सोजत से नाडौल पहुँचा और फिर उसने जोधपुर से नाडौल के मार्ग की सुरक्षा की व्यवस्था की। वहाँ उसने तहव्वरखाँ को देसुरी की ओर बढने के लिए आदेश दिया। तहव्वरखाँ ने आगे बढने से इन्कार किया, क्योकि मार्ग भयानक था और राजपूतो का विरोध भी असह्य था। फिर भी बडे दबाव से वह आगे बढा। अब अकबर भी देसुरी के निकट आ पहुँचा। यहाँ से तहव्वरखाँ को झीलवाडा पहुँचने को कहा गया, जहाँ से कुम्भलगढ निकट था। यहाँ महाराणा ने अपनी शक्ति का सगठन कर रखा था। अकबर के यहाँ पहुँचने की अवधि मे राजपूतो ने तहव्वर के माध्यम से यह निश्चय किया कि औरगजेब को हटाकर अकबर को गद्दी पर बिठाया जाय जिसमे सीसोदिया एव राठौड उसके सहायक होगे। यही कारण था कि तहव्वर की गति इस भाग में बडी मन्द हो गयी थी। महाराणा और दुर्गादास की यह चाल काम आ गयी। वैसे २० अक्टूबर, १६८० ई० को राजसिंह की मृत्यु हो गयी, फिर भी महाराणा जयसिंह के समय यह सन्धि वार्ता चलती रही। जिसके फलस्वरूप अकबर ने १ जनवरी, १६८१ ई० मे अपने आपको नाडौल मे भारत का शासक घोषित किया और वह औरगजेब के विरुद्ध राजपूत सेना तथा अपनी सेना लेकर अजमेर की ओर चल पडा।[४७]

औरगजेब के प्रयत्नों से अकबर की विफलता—जब अकबर इस प्रकार अपने को बादशाह बनाने के जोश मे राजपूतो के साथ अजमेर के निकट धीरे-धीरे आ रहा

---

[४६] सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३४७

[४७] ईश्वरदास, फतूहात-ए-आलमगीरी, पत्र, ७७-७८, मुन्तखब-उल-लुबाब, इलियट, जि० ७, पृ० ३००, राजविलास, सर्ग ११-१४, जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० २, पृ० ४२-४३, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३४८-३५१, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १७५-७७

था तो सम्राट ने भी अपनी सैनिक शक्ति को चारो ओर से बटोरा। शाही सेना ने देवराय के स्थान पर आकर मुकाम किया और अकबर कुरर्की के स्थान पर आकर टिका। १५ जनवरी को सम्राट ने धोखे से तहव्वरखाँ को बुलाकर मरवा दिया और अकबर के नाम एक पत्र उसकी प्रशसा मे लिखा कि उसने राजपूतो को उसके वार मे लाकर श्लाघनीय काम किया है। इस पत्र को उसने दुर्गादास के पास किसी तरह पहुँचा दिया। दुर्गादास के साथी जब यह समझे कि सारा मामला धोखे से भरा है, वे अकबर का सामान आदि लूटकर मारवाड की ओर चल दिये। दूसरे दिन अकबर अपने को अकेला पाकर राजपूतो के पीछे-पीछे भागा। राजपूत अब यह समझ गये कि ये सभी औरगजेब की चाल थी, वे फिर अकबर की तलाश मे मुडे और अकबर को साथ ले लिया। दुर्गादास उसे विपम स्थिति से बचाकर महाराष्ट्र की ओर लेकर चल दिया।[४८]

मेवाड से सन्धि (१४ जून, १६८१ ई०)—अकबर विद्रोह कर वैसे तो औरगजेब का कोई विगाड न कर सका, परन्तु उसकी इस गतिविधि से राजपूत-मुगल सघर्ष का केन्द्र मेवाड से बदलकर मारवाड हो गया। औरगजेब ने राठौडो को दबाने के लिए सेना को उस ओर भेजा। इतना ही नही युद्ध की गति मे भी एक अवरोध आ गया। अब औरगजेब को दुर्गादास और अकबर के महाराष्ट्र की ओर जाने से अधिक चिन्ता बढ गयी, क्योकि मराठा-राजपूत गुट अधिक भयकर साबित हो सकता था। उसके लिए दक्षिण की ओर प्रस्थान करना नितान्त आवश्यक हो गया। इधर युद्ध की गति मे शिथिलता पाकर मेवाड की सेना बडनगर, विशालनगर, मालवा, धार आदि मे लूट-खसोट करने लगी। इस स्थिति से मुगल साम्राज्य को भी हानि होने लगी। महाराणा जयसिंह जिसमे अपने पिता की योग्यता का अभाव था, युद्ध स्थगित करने के पक्ष मे था। अन्त मे बीकानेर के श्यामसिंह ने बीच-बचाव कर दोनो पक्षो मे सन्धि करने का प्रस्ताव रखा, जिसकी स्वीकृति दोनो ने दे दी। इसके फलस्वरूप १४ जून, १६८१ ई० को मेवाड और मुगलो मे सन्धि हुई। सन्धि की शर्त के अनुसार राणा ने माण्डल, पुर और बदनौर के परगने जजिया के एवज मुगलो को सुपुर्द किये। मुगल भी मेवाड से हट गये और राणा को पाँच हजार का मनसब और राणा की उपाधि स्वीकृत की।[४९]

---

४८ मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० २०३-२०६, २११, खफीखाँ, भा० २, पृ० २७५-२७७, ईश्वरदास, पत्र ८३, दिलखुश, पृ० १७१, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३५४-३६८

४९ ईश्वरदास, पत्र ८०, राजविलास, सर्ग १५-१७, मआसिर-ए-आलमगीरी, पृ० २०८, मीरात-ए-अहमदी, पृ० ३११, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३६८-३७१, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १७९-१८१

इस सन्धि से पुराने सम्बन्धो की पुनरावृत्ति हुई और एक विध्वसकारी युद्ध की समाप्ति के बाद मेवाड मे फिर से सुख-शान्ति का सचार होने पाया। वैसे तो यह युद्ध, जैसा कि सर सरकार[५०] लिखते हैं, एक अनिर्णित युद्ध था, परन्तु इससे मेवाड की प्रजा को काफी आर्थिक हानि उठानी पडी थी। फिर भी यह स्वीकार करना पडेगा कि इस युद्ध को समाप्त करने पर भी मेवाड ने अपनी स्वतन्त्रता न खोई। मुगलो के लिए भी यह सन्धि लाभदायक सिद्ध हुई, क्योकि वे अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति मारवाड की ओर लगा सके या दक्षिण के युद्धो पर अधिक ध्यान दे सके। जहाँ तक राणा द्वारा मेवाड-मुगल सन्धि करने का प्रश्न है वह एक दृष्टि से निन्दनीय था। यदि सीसोदिया राठौड गुट पहले कि भाँति युद्ध जारी रखता तो मारवाड मे भी युद्ध की समाप्ति जल्दी होती और दोनो राज्य मिलकर एक शक्ति सन्तुलन बनाये रखते। ऐसी स्थिति मे मुगल साम्राज्य उनसे शकित और भयभीत बना रहता।

मुगल-मारवाड सघर्ष—जैसा कि हमने ऊपर पढा, मेवाड से सन्धि हो जाने के बाद मुगल शक्ति का पूरा दबाव मारवाड की ओर उमड पडता, परन्तु दुर्गादास का अकबर को लेकर मराठा दरबार मे पहुँचना मुगलो के लिए शोचनीय था। इसीलिए उन्हे अधिकाश शक्ति दक्षिण मे मराठो के विरुद्ध लगा देनी पडी और मारवाड पर पूरी शक्ति का उपयोग न होने पाया। इस स्थिति से लाभ उठाकर राठौडो ने जगह-जगह मुगल थानो को जलाना, लूटना और उनकी रसद को समाप्त करना आरम्भ कर दिया। इसी समय राठौडो ने बगडी को लूटा तथा सोजत के हाकिम सरदार खाँ को वहाँ से निकाल दिया। ३० अक्टूबर के आसपास डीडवाना और मेडता के थाने लूटे गये और दक्षिण जाने वाले कासिमखाँ से नक्कारा और निशान छीन लिये गये। कई उदावत, चाँपावत आदि सरदारो ने जोधपुर और सोजत के बीच गाँवो को लूटा और पहाडियो में छिप गये।[५१]

इसी अर्से मे अजीतसिंह को मेवाड से हटाकर १६८१ ई० मे सिरोही के कालिन्द्री गाँव मे लाया गया। कुछ समय वहाँ रखने के बाद लगभग सभी सरदारो की यह इच्छा थी कि बालक महाराज को प्रकट किया जाय, जिससे उसके नेतृत्व मे मुगल-सघर्ष को नयी प्रगति मिले। २३ मार्च, १६८७ ई० को पालडी गाँव मे महाराजा ने नागणेची देवी की पूजा की, जहाँ उपस्थित सरदारो ने नजरें पेश की। तदनन्तर स्वय महाराजा आऊवा, बीलाडा, बलूंदा, लेवेरा, रीवा खीमसर, कालू आदि

---

५० "The Rajput war was a drawn game so far as actual fighting was concerned, but its material consequences were disastrous to the Maharana's subject"

—Sarkar, *History of Aurangzib*, p 369

५१ मीरात-ए-अहमदी, जि० १, पृ० ३२८-३८, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० २, पृ० ५४-५६, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, जि० ५, पृ० २२०-२४

जागीरो मे घूमा और मारवाड-सगठन को एक नया रूप दिया। २१ अक्तूबर, १६८७ के दिन दुर्गादास भी दक्षिण से आकर अजीतसिंह से भीवरलाई मे मिला और नजर पेश की। दुर्गादास के मारवाड लौट आने पर मुगल-मारवाड सघर्ष ने फिर उग्र रूप धारण कर लिया और जगह-जगह उपद्रव के दौर दिखायी देने लगे। परन्तु युद्ध की स्थिति मे अधिक तेजी लाने के सम्बन्ध मे दुर्गादास और अजीतसिंह के बीच थोडा मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया, फिर भी दुर्गादास आसपास के इलाको मे लूट-खसोट करता रहा और मुगल अधिकारियो के मार्ग मे बाधा उपस्थित करता रहा। इसकी बढती हुई शक्ति को देखकर बादशाह ने दुर्गादास से अपने पुत्र सुलतान बुलन्द-अख्तर और पुत्री सफीयतुन्निसा बेगम को जो उसके अधिकार मे थे, लौटाने की बातचीत आरम्भ की। शुजातखाँ और ईश्वरदास के बीच-बचाव से ऐसा होना सम्भव हो सका। दुर्गादास को इसके अनन्तर बादशाह से मिलने का अवसर मिला, जबकि उसने उसे तीन हजार सवार का मनसब, एक रत्न जटित कटार, एक सुवर्ण पदक, एक मोतियो की माला और एक लाख रुपया नकद देकर सम्मानित किया। मारवाड से दूर रखने के लिए, शाही सेवा मे उपस्थित हो जाने के बाद, सम्राट ने दुर्गादास को पाटन का फौजदार नियुक्त कर उधर भेज दिया। अजीतसिंह को भी मेडता की जागीर देकर कुछ शान्त कर दिया गया। परन्तु अजीत एव दुर्गादास ने फिर विद्रोह का झण्डा उठाया, परन्तु किसी प्रकार उसे शान्त कर दिया गया। अन्त मे जब औरगजेब की मृत्यु १७०७ ई० में हो गयी तो अजीतसिंह ने जफरकुली को निकालकर जोधपुर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसी तरह मेडता, सोजत, पाली आदि स्थान भी उसके हाथ आ गये। एक लम्बे सघर्ष के बाद राठौडो का अधिकार मारवाड मे पुन जम गया और वहाँ मुगलो का प्रभाव समाप्त हुआ।[५२]

अजीतसिंह और पिछले मुगल शासक—जब औरगजेब का उत्तराधिकारी शाहजादा मुअज्जम 'शाह आलम' के नाम से गद्दी पर बैठा तो अजीतसिंह ने उसकी उपेक्षा की। बादशाह ने नाराज होकर जोधपुर के विरुद्ध आक्रमण कर दिया। फिर किसी प्रकार जयसिंह के बीच-बचाव से अजीतसिंह का मनसब और वतन जागीर बहाल कर दी गयी। परन्तु अजीत की हरकतो से रुष्ट होकर जोधपुर पर बादशाह ने फिर से अपने अधिकारियो को भेज दिया। आमेर के सम्बन्ध मे भी बादशाह ने इसी नीति को अपनाया। अन्त मे दोनो नरेश मेवाड के महाराणा से मिले और इनकी सयुक्त शक्ति ने मारवाड और आमेर पुन अपने अधिकर मे कर लिये। इसके अतिरिक्त नागौर और अजमेर पर भी अजीत ने आक्रमण किये। इन उपद्रवो से तग आकर

---

५२ मीरात-ए-अहमदी, जि० १, पृ० ३३१-३३, जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० २, पृ० ८०-९१, सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, जि० ५, पृ० २२४-२३१, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ५०२-५२६

बादशाह ने इनसे मेल कर लिया और उन्हे फिर से मनसब व भेट देकर प्रसन्न कर लिया।[५३]

जब फर्रुखसियर सैय्यद-बन्धुओ की सहायता से दिल्ली के तख्त का स्वामी बना तो अजीतसिह जोधपुर पर नियुक्त शाही अफसरो को निकालने और उनके मुकामो को नष्ट करने तथा अजान के बन्द कराने आदि कार्यो मे लग गया। इसको दण्ड देने के लिए बादशाह ने हुसैन अलीखाँ को एक बडी सेना के साथ मारवाड भेजा। अजीत मेडता से नागौर गया, परन्तु वहाँ भी मुगल फौज निकट आ पहुँची। अन्त मे राठौडो ने हुसैन अलीखाँ की शर्तों के अनुसार सन्धि करली, जिसमे अजीत ने अपनी लडकी का विवाह बादशाह के साथ करना स्वीकार किया और अपने लडके अभयसिंह को बादशाह की सेवा मे भेजा। सन्धि की शर्त के अनुसार अजीतसिंह की पुत्री इन्द्रकुँवरी का विवाह १७१५ ई० मे बादशाह के साथ कर दिया गया। परन्तु जब सैय्यद-बन्धुओ और बादशाह मे अनबन हो गयी तो अजीतसिह दरबारी षड्यन्त्र मे सम्मिलित हो गया जिससे फर्रुख-सियर की हत्या कर दी गयी। मुहम्मदशाह के बादशाह बनने से महाराजा को अहमदाबाद का फिर सूबेदार बनाया गया।[५४]

महाराजा की हत्या—महाराजा अजीतसिह की हत्या के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध है। एक मत तो यह है कि कुँवर अभयसिह को जयसिह और अन्य मुगल सरदारो ने यह समझाया कि महाराजा का फर्रुखसियर को मरवाने मे हाथ था, इससे बादशाह उससे अप्रसन्न है। यदि तुम बादशाह को खुश करना चाहते हो तो तुम अपने पिता को मरवा दो। यह बात अभयसिह को पसन्द आ गयी। उसने अपने छोटे भाई बख्तसिह को यह काम सौंपा। उसने अवसर पाकर २३ जून, १७२४ ई० मे जनाने मे सोते हुए अपने पिता को मार दिया।[५५]

जोधपुर राज्य की ख्यात मे इस कथा को प्रारम्भ मे इस प्रकार दिया है कि अभयसिह और जयसिह दोनो बादशाह के कृपापात्र थे। जब अजीतसिह ने अभयसिह को एक दफा जोधपुर बुलाया तो जयसिह ने उससे कहा कि बादशाह महाराजा से नाराज है, क्योकि उसका फर्रुखसियर को मरवाने मे हाथ था। सैय्यद-बन्धु भी इस काम मे उसके साथ थे, इसलिए बादशाह ने उन्हे तो मरवा दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अजीतसिह को मरवायेगा और जोधपुर को भी नष्ट करेगा। उसने उसे सुझाव दिया कि अगर वह अपने पिता को मरवा दे तो बादशाह उस पर प्रसन्न

---

५३ जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० २, पृ० ७२-१०४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ५३८-५५३, इरविन, लेटर मुगल्स, भा० १, पृ० ६७-२२३

५४ इरविन, लेटर मुगल्स, जि० १, पृ० ३६८-४३२, भा० २, पृ० ३-११४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ५८०-५९९

५५ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ३००

होगा। भण्डारी रघुनाथ ने भी जोधपुर बचाने का यही मार्ग बताया। अतएव अभयसिंह ने अपने भाई बख्तसिंह को इस सम्बन्ध मे लिख दिया। उसने महल मे सोये हुए महाराजा की हत्या कर दी।[५६]

कामवरखाँ अजीतसिंह के मारे जाने का अन्य कारण देता है। उसके अनुसार महाराजा का अपनी पुत्रवधु (वख्तसिंह की पत्नी) के साथ अनुचित सम्बन्ध था। इस अपमान का बदला लेने के लिए बख्तसिंह ने उसकी हत्या कर दी। इस कथा की पुष्टि अन्य आधारो से नही होती।[५७]

टॉड लिखता है कि अभयसिंह को सैय्यदो ने कहा था कि वह अपने पिता को मरवादे अन्यथा बादशाह मारवाड को नष्ट कर देगा। अभयसिंह ने इस कार्य को करने के उपलक्ष मे वख्तसिंह को नागौर की जागीर दी। तदनुसार वख्तसिंह ने रात्रि के समय पिता के शयनागार मे छिपकर उसकी निद्रावस्था मे हत्या कर दी। इस कथन मे सन्देह की गुन्जाइश है, क्योकि सैय्यद बन्धु इस घटना के पहले खत्म हो चुके थे।[५८]

इन सभी विभिन्न कथाओ मे कौन-सी सच है और कौन-सी झूठ, यह कहना वडा कठिन है। परन्तु इसमे सारभूत बात यह मालूम होती है कि सम्भवत अभयसिंह अजीत के लम्बे शासनकाल से अधिकार के लिए अधीर हो गया हो, जिससे उसने अपने भाई को नागौर की जागीर का प्रलोभन देकर उसे मरवा दिया हो।

अजीतसिंह का चरित्र—अजीतसिंह का जन्म अपने पिता की मृत्यु के बाद जमरुद से दिल्ली यात्रा के अवसर पर हुआ था। जन्म लेने के समय से अपनी मृत्यु तक उसे कई प्रकार के कष्ट झेलने पडे। मारवाड को भी इसके जन्म मे ही दुर्दिन देखने पडे, जो एक सयोग की बात है। उसे राठौड सरदार औरगजेब के चगुल मे बचा ले गये और उसे बचपन मे मेवाड या सिरोही मे अज्ञातवास मे रहना पडा। जब वह प्रकट हुआ तो मारवाड के सरदारो और जनता ने उसके प्रति अपनी असीम श्रद्धा प्रकट की। उसके नाम से सहस्रो राजपूत वीरो ने मारवाड के गौरव की रक्षा मे अपने प्राण गँवाये। अजीत दुखो मे ही पला और पोषा गया जिससे उसमे एक दुख झेलने की आदत पड गयी। इसका लाभ यह हुआ कि अन्त मे वह अपने पैतृक राज्य को अपने अधिकार मे कर सका। इस दृष्टि से उसका साहस और वीरता श्लाघनीय है। उसमे किसी कदर स्वाभिमान भी था, क्योकि मुगलो के साथ सन्धि करने पर भी उसने उनसे विरोध किया और उनसे बदला लेने का प्रयत्न किया। फर्रुखसियर को एक मर्तबा

---

५६ जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० २, पृ० ११५, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ६००-६०१

५७ इरविन, लेटर मुगल्स, जि० २, पृ० ११६-१७

५८ टॉड, राजस्थान, जि० २, पृ० ८५७-५८, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ६०१

अपना जामाता बनाकर उसके मरवाने के षड्यन्त्र का पात्र बनना उसमे प्रतिकार की भावना की पराकाष्ठा बताता है।[५९]

वह अपने समय का एक अच्छा शासक था। उसके द्वारा अजीत चरित्र[६०] मे मारवाड के राज्य की नयी व्यवस्था का समुचित चित्रण है जिससे स्पष्ट है कि बहुत दिनो से अस्त-व्यस्त राज्य को अच्छी शासन-व्यवस्था मे परिणित करना उसमे शासन योग्यता होना प्रमाणित करता है।

वह साहित्य का बडा प्रेमी था। वह स्वय विद्वान और कवि था। उसके रचे हुए ग्रन्थो मे गुणसागर, दुर्गापाठ भाषा, निर्वाण दुहा, अजीतसिंहजी रा कह्या दुहा, महाराजा अजीतसिंहजी कृत दुहा श्री ठाकुरा रा, महाराजा अजीतसिंहजी री कविता एव महाराजा अजीतसिंहजी रा गीत आदि बडे प्रसिद्ध हैं। उसने अपने कुछ दोहो मे द्वारिका यात्रा का भी वर्णन दिया है।[६१]

साहित्य की भाँति अजीतसिंह को भवन-निर्माण कला मे बडी रुचि थी। उसने जोधपुर गढ के फतह महल और दौलतखाने का राजमहल बनवाये। इन भवनो मे स्थानीय और मुगल कला का अच्छा समन्वय है। नगर के घनश्यामजी और मूलनायक के मन्दिर महाराजा ने बनवाये थे। मण्डोर मे जसवन्तसिंह का स्मारक बनवाकर उसने अपनी पितृ-भक्ति का अच्छा परिचय दिया। उसकी एक रानी राणावतीजी ने झालरे के निकट शिखरबन्द मन्दिर और जाडेची ने चाँदपोल के बाहर एक बावडी बनवायी।

डा० ओझा ने जहाँ अजीतसिंह के गुणो की प्रशसा की है वहाँ उसके कुछ दोषो को भी बताया है। "वह अभिमानी, कान का कच्चा, अत्याचारी और कृतघ्न नरेश था। अपने स्वार्थ साधन के लिए वह नम्र बन जाया करता था। बादशाह फर्रुखसियर, बहादुरशाह एव मुहम्मदशाह के समय उस पर मुगल सेना की चढाइयाँ होने पर उसने लडने का साहस न किया और पीछे हटता गया। यही नहीं उसने उस समय मुसलमानो की कडी से कडी शर्तें मान लीं। इससे उसकी मानसिक कमजोरी ही प्रकट होती है। वह अपने विरोधियो से सख्त बदला लेता था, जिनमे से कई को उसने छल से मरवा डाला। उसने अपने सच्चे सहायक और मारवाड के रक्षक, अदम्य साहसी एव स्वार्थ त्यागी वीर दुर्गादास को, जिसने उसके जन्म से ही उसका साथ दिया था, बुरे लोगो के बहकाने मे आकार बिना किसी अपराध के देश से निर्वासित कर दिया। उसकी यह कृतघ्नता उसके चरित्र पर कलक की कालिमा के रूप मे सदैव अकित रहेगी।"[६३]

---

५९ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ६०२-६०३

६० मेरा लेख, ए नोट ऑन अजीत चरित्र, राजस्थान प्रॉसिडिंग, १९६८

६१ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ६०३

६२ वही, पृ० ५९९-६००

६३ वही, पृ० ६०४

सर जदुनाथ सरकार[६४] ने भी लिखा है कि अजीत मे अपने पिता की योग्यता और प्रभाव का अभाव था। वह अस्थिर बुद्धि और समयोचित नीति के समझने मे अयोग्य था। वह स्वभाव से उतावला और अच्छी सलाह को न मानने वाला व्यक्ति था। उसने दुर्गादास के परिषद के प्रभाव और स्वजनो मे लोकप्रियता से नाराज होकर उसके द्वारा की गयी भलाइयो की उपेक्षा की, जिससे उसे मुगलो से मेल करना पडा और उदयपुर की सेवा मे जाकर अपने अन्तिम दिन काटने पडे। हमारे विचार से जैसे जसवन्तसिंह ने नैणसी के साथ दुर्व्यवहार किया था उससे भी अधिक नृशस और कृतघ्नता का आचरण अजीत ने दुर्गादास के साथ किया।

दुर्गादास का चरित्र और व्यक्तित्व—दुर्गादास जसवन्तसिंह के मन्त्री आसकरण, जो द्रुनेरा का जागीरदार था, पुत्र था। उसका जन्म १६३८ ई० मे हुआ था। अपनी पत्नी से अप्रसन्न होने से आसकरण ने उसे तथा उसके पुत्र को छोड-सा दिया था। इस-लिए दोनो माता और पुत्र लूणादे गाँव मे रहते थे और खेती-बाडी से अपना गुजर करते थे। इस अर्थ मे शिवाजी और शेरखाँ की भाँति दुर्गादास का प्रारम्भिक जीवन आरम्भ हुआ था। शिवाजी की माँ की भाँति दुर्गादास की माँ ने भी उसमे मारवाड तथा उसके राजवश के प्रति भक्ति की भावना भर दी थी। एक मर्तबा जब वह खेती की रखवाली कर रहा था कि सरकारी राइके ने खडी फसल पर अपने ऊँट चरा दिये। मना करने पर उसने बहुत बुरा-भला कहा। यहाँ तक कि जसवन्तसिंह के किले को 'धोला ढूँढा' कहा जिस पर छप्पर का अभाव बताया। इस अपमानजनक बात को सुनकर दुर्गादास ने राइके को मार दिया। जब इसकी सूचना महाराजा के पास पहुँची और आसकरण के लडके द्वारा की गयी हत्या की शिकायत हुई तो महाराजा ने आसकरण से उसके लडके के सम्बन्ध मे पूछा। उसने उसे अपना लडका स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, यह कहते हुए कि कुपुत्र को पुत्र नही मानते। परन्तु जब जसवन्तसिंह ने दुर्गादास को अपने पास बुलाया तो उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया, पर उसके मारने के कारण को भी स्पष्ट कह दिया। इस निर्भीकता से महाराजा

---

[६४] "Ajit Singh lacked his father's ability and power of command He seems to have been capricious and self-indulgent and incapable of thinking-out or following any deeply laid scheme of concerted action He was impatient of advice imperious in temper, and jealous of Durgadas, well merited influence in the royal council and popularity among his clansmen It speaks very ill of the character and intelligence of Ajit for the supremely devoted and unselfish servant of his house and saviour of his own infancy, he could find no place in his government but at last drove him out to seek mughal service or take refuge in Udaipur territory"

—Sarkar, *History of Aurangzib*, V, p 234

वडा प्रसन्न हुआ। उसने उसे अपनी सेवा मे रख लिया, यह बताते हुए कि भविष्य मे दुर्गादास मारवाड राज्य का उद्धारक होगा।[६५]

वास्तव मे महाराजा ने जो दुर्गादास के होनहार होने के लक्षण देखे थे वे सही निकले। जब मारवाड खालसा कर लिया गया और बालक अजीत को शाही दरवार मे रखकर इस्लामी शिक्षा व दीक्षा दिये जाने का जाल रचा गया तो दुर्गादास ने सभी राठौड सरदारो का सगठन कर युक्ति से युवराज को शाही चँगुल से निकाल लिया। इस सारी घटना मे उसने वीरता तथा कूटनीति से काम लिया था। इसके अतिरिक्त सीसोदिया-राठौड सघ के निर्माण का भी वह प्राण था। दोनो की सयुक्त शक्ति ने मुगलो के दाँत खट्टे कर दिये थे। जब मेवाड के साथ सन्धि हुई तो वह बडे ढग से अकवर को निकालकर मराठा दरबार मे ले गया। यह कार्य दुर्गादास की कूटनीति की चाल का एक महत्त्वपूर्ण अग था। इससे औरगजेब अपनी पूरी शक्ति मारवाड पर न लगा सका। सभी सरदारो ने जगह-जगह विद्रोह के झण्डे खडे कर दिये। अन्त मे दुर्गादास और अजीतसिंह के साथ सन्धि करने के लिए सम्राट को बाध्य होना पडा।

शाहजादे अकवर के पुत्र वुलन्दअख्तर और उसकी पुत्री सफयतुन्निसा वेगम को अपने पास रख दुर्गादास ने न केवल शाहजादे की मित्रता निभाई थी, वरन् एक धर्मसहिष्णु होने का अच्छा परिचय दिया था। दुर्गादास ने इनकी देखरेख और निवास आदि का समुचित प्रवन्ध किया। यहाँ तक कि इनकी शिक्षा और दीक्षा की व्यवस्था उसी रूप से की गयी जो एक सुन्नी के लिए आवश्यक थी। जब अवसर आया तो उसने इन दोनो को सम्मानपूर्वक सम्राट के पास भेज दिया।

वह सम्भवत युद्ध का दौर उसी प्रगति से बनाये रखता यदि अजीतसिंह उसको मारवाड मे मिलने वाले सम्मान से ईर्ष्या न करता। मारवाड के सरदारो की परिषद भी जितना आदर दुर्गादास की सम्मति को देती थी वह आदर अजीतसिंह की राय को नही मिलने पाता था। सम्भवत इससे महाराजा उससे अप्रसन्न रहने लगा। कई ऐसे विषय थे जिनमे दुर्गादास अपने ढग से काम करना चाहता था अजीत उसका विरोध करने लगा। अधिकाश मे युद्ध नीति में भी महाराजा दुर्गादास का विरोध करने लगा। वास्तव मे वह पीछे से आराम पसन्द जीवन बिताना चाहता था। यदि दुर्गादास के सिद्धान्तो पर अजीतसिंह चलता तो सम्भवत मुगल-मारवाड सघर्ष की इतिश्री वडे गौरव के साथ होती।

जब अजीतसिंह के पास जोधपुर आ गया और वह यह समझ गया कि अब उसे दुर्गादास की आवश्यकता नही है, उसने एक स्वार्थी शासक की भाँति उसे मारवाड

---

[६५] सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरगजेब, भा० ३, पृ० ३३१, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८२-८३

से निकाल दिया। जोधपुर राज्य की ख्यात मे लिखा है कि साँभर-विजय के बाद वहाँ डेरे होने पर दुर्गादास ने अपनी सेना-सहित अलग डेरा किया। महाराजा ने उससे मिसल (सरदारो की पक्ति) मे डेरा करने को कहा तो उसने इसका विरोध किया, यह कहते हुए कि मेरी उमर हो गयी है, मेरे पीछे के लोग मिसल मे डेरा करेंगे। दुर्गादास को महाराजा के व्यवहार से इतना असन्तोष हो गया कि जब वह महाराणा को बुलाने गया तो उदयपुर से वापस न लौटा। इससे महाराजा की बडी बदनामी हुई। जिसके सम्बन्ध मे एक पद्य प्रसिद्ध है—

महाराज अ री जद पारख जाणी।
दुर्गो देशा काढियो गोला गागाणी॥

अर्थात अजीतसिंह की परीक्षा तब हुई जब उसने दुर्गादास को देश से निकाल दिया और गोलो को गागाणी जैसी जागीर दी।[६६]

दुर्गादास सकुटुम्ब मारवाड छोडकर उदयपुर महाराणा अमरसिंह द्वितीय की सेवा मे चला गया। महाराणा ने उसे विजयपुर की जागीर देकर अपने पास रखा और उसके लिए पाँचसौ रुपये दैनिक नियत कर दिये। पीछे उसे रामपुरे का हाकिम नियुक्त किया गया। वहाँ रहते हुए उसकी मृत्यु २२ नवम्बर, १७१८ ई० मे हो गयी। उसका अन्तिम सस्कार क्षिप्रा नदी के तट पर हुआ। इस सम्बन्ध मे एक प्राचीन पद्य भी प्रचलित है—

"अण धर याही रीत दुर्गो दागियो"

अर्थात जोधपुर वश की ऐसी ही रीति है कि दुर्गादास का दाह भी क्षिप्रा नदी के तट पर हुआ, मारवाड मे नही।[६७]

दुर्गादास की प्रशसा करते हुए सर जदुनाथ सरकार[६८] लिखते है कि उसको न मुगलो का धन विचलित कर सका और न मुगल शक्ति उसके दृढ हृदय को पीछे हटा सकी। वही एक वीर था जिसमे राजपूती साहस और मुगल मन्त्री-सी कूटनीति थी। इसी के गुणगान मे इसीलिए भाट गाते हैं कि 'हे मात पूत ऐसो जण जेसो दुर्गादास'।

---

६६ जोधपुर राज्य की ख्यात, भा० २, पृ० ११६, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ५४१-४२

६७ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ५४१-४३

६८ "Mughal gold could not seduce, Mughal arms could not daunt that constant heart Almost alone among the Rathors he displayed the rare combination of the dash and reckless valour of a Rajput soldier with the tact, diplomacy and organizing power of a Mughal minister of State" —Sarkar, *History of Aurangzib*, III, p 332

डा० ओझा[६९] ने भी उसकी "अपूर्व वीरता, स्वामिभक्ति, युद्ध-कौशल, राजनीतिक योग्यता एव स्वार्थ त्याग" की प्रशसा की है और लिखा है कि "वीर दुर्गादास का नाम राठौड वश के इतिहास मे अमर रहेगा। उसने असामान्य वीरता और रण-चातुरी के अतिरिक्त आदर्श स्वामिभक्ति और देश-प्रेम का परिचय दिया।" उसकी प्रशसा मे मारवाड के कवियो ने अनेक कविताएँ भी की है जिनमे राम कवि का दोहा इस प्रकार प्रसिद्ध है—

"ढबक ढबक ढोल बाजे, दे दे ठोर नगारा की।
आसे घर दुर्गा नहीं होतो, सुन्नत होती सारा की॥[७०]

---

६९ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ४८२, ५४१
७० मुशी देवीप्रसाद, होनहार बालक, प्रथम भाग, पृ० २७-३२

अध्याय २४

राजस्थान और मुगल सम्बन्ध तथा समाज व समन्वय

प्राक्कथन—राजस्थान के इतिहास मे मुगलो के साथ यहाँ के नरेशो का सम्बन्ध कई सीढियो से गुजरता है। पहला वह काल है जबकि यहाँ के नरेश एकतन्त्र मे होकर मुगल सम्बन्ध का विरोध करते हैं। भाग्यवश इस काल मे राजस्थान की राजनीति के पतवार का खैवैया महाराणा सागा था। इसके नेतृत्व मे जोधपुर, वीकानेर, आमेर, ग्वालियर, रायसेन, कालपी, चन्देरी, अजमेर, सीकर, बूँदी, रामपुरा, सिरोही, गागरौन आदि शासक थे जो उसके इशारे पर देश रक्षा के लिए कटिवद्ध थे। दिल्ली की लोदी सल्तनत तथा मालवा और गुजरात के प्रान्तीय राज्यो को उसने परास्त कर नतमस्तक किया था। मालवा के नसीरुद्दीन खलजी व गुजरात के महमूदशाह वेगडा उसकी शक्ति का लोहा मानते थे। जब वावर ने इब्राहीम लोदी को १५२६ ई० मे पानीपत के मैदान मे हराकर मुगल सल्तनत की नीव भारतवर्ष मे डाली तो सगठित शक्ति से सागा ने खानवा के मैदान मे उस शक्ति का मुकावला किया। यह दूसरी वात है कि कई कारणो से वह उसमे सफल नही हो सका, परन्तु उसने कम से कम एक नवीन सत्ता को राजस्थान मे आगे वढने से रोका। यह सही नही है कि इस पराजय के वाद राजस्थान की राजनीतिक एकता सदा के लिए समाप्त हो गयी। वास्तविकता तो यह है कि इस पराजय ने आगे आने वाली पीढी की आँखें खोल दी, जिससे थोडे समय के लिए उन्होने फिर मुगल सत्ता को परेशानी मे डाल दिया। हमने देखा कि वावर का वशज हुमायूँ राजपूतो की शक्ति का कुछ न विगाड कर सका। वल्कि उसे मालदेव से सहायता प्राप्त करने की उत्सुकता वनी रही। मालदेव के जीवित रहते हुए अकवर जैसा महान् सत्तावादी सम्राट भी राजस्थान के राजनीतिक ढाँचे को नही वदल सका।[1]

' और राजनीतिक समन्वय—सागा तथा मालदेव कालीन सघर्ष भावना ने आगे चलकर नया मोड लिया। इस मोड के कई कारण थे। सर्वप्रथम राजस्थान मे ऐसा नरेश नही वचा था जो वढती हुई अकवर की सत्तावादी नीति का मुकावला कर सके। निर्वल और निकम्मे शासको की आपसी फूट और अयोग्यता के दौर ने राजस्थान की सघर्ष की भावना को शिथिल वना दिया। राणा सागा की मृत्यु के वाद

---

१ जोधपुर राज्य की ख्यात, पृ० ५८-७५, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ४२

मेवाड की परिस्थिति बदल गयी। आन्तरिक झगडो के कारण मेवाड निर्बल हो गया। बूंदी के शासक जो मेवाड के सहयोगी थे विरोधी हो गये। मेवाड मे रत्नसिंह और हाडी कर्मवती के दो विरोधी दल बन गये। यहाँ तक कि रानी कर्मवती ने बाबर से साँठ-गाँठ कर रत्नसिंह को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया। वागड राज्य की इकाई जो गुजरात की सीमा पर राजस्थान की रक्षा के लिए सरक्षक का काम कर रही थी वह भी बाँसवाडा और डूंगरपुर राज्य मे विभाजित हो गयी। बहादुरशाह ने चित्तौड पर आक्रमण कर उसे निर्बल बना दिया और साबित कर दिया कि उस दुर्ग की अक्षुण्णता सैनिक विशिष्ठता से तोडी जा सकती है। मेवाड मे विक्रमादित्य और बणवीर तथा उदयसिंह और बणवीर के निन्दनीय सम्बन्धो ने रही-सही मेवाड की आभा को फीका कर दिया। मेडता और मारवाड नरेश के झगडो ने शेरशाह को राजस्थान को अपना राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र बनाने मे सहायता पहुँचायी और अन्त मे मालदेव की मृत्यु से राठौडो के घरेलू झगडो ने अकबर को मारवाड की राजनीति मे हस्तक्षेप करने का मौका देकर राजस्थान की स्वतन्त्रता का सर्वनाश किया। १५६२ ई० की मालदेव की मृत्यु अकबर की नीति के लिए वरदान सिद्ध हुई। राव चन्द्रसेन और उदयसिंह के आपसी वैमनस्य ने अकबर को मारवाड की राजनीति मे हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। मेडता, नागौर, जैतारण आदि दुर्गो को मुगल राज्य के अग बना लिये गये जिससे पश्चिमी राजस्थान की रीढ टूट गयी। पश्चिमी राजस्थान के प्रदेश के ये वडे फाटक अब मुगल राज्य के प्रहरी बन गये। इधर आमेर की राजनीतिक स्थिति भी कोई सन्तोषजनक नही थी। कछवाहा भारमल का विरोध उसके सम्बन्धी कर रहे थे। अपना पक्ष प्रबल करने के लिए उसने अकबर के दरबार मे प्रवेश किया और अन्त मे १५६२ ई० मे अपनी राजकुमारी का विवाह अकबर के साथ कर उसने मुगलो से निकट सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इस वैवाहिक सम्बन्ध ने अन्य राजपूत नरेशो को भी अपने भविष्य के बारे मे सोचने का अवसर दिया। परन्तु जब तक मेवाड का सीसोदिया वश मुगल सत्ता को स्वीकार नही करता तब तक अकबर की प्रभुता का दौर राजस्थान मे सफल नही हो सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर १५६७ ई० में चित्तौड पर आक्रमण किया गया और चित्तौड से अजय दुर्ग को अपने अधिकार मे करके कम से कम अन्य राजस्थानी नरेशो को भयभीत कर दिया। रणथम्भौर की भी इसके बाद बारी आयी और १५६९ ई० मे सुर्जन हाडा भी अकबर की शक्ति का शिकार बना। इस स्थिति मे अकबर को अपनी प्रभाव-विस्तारित नीति पर विश्वास बढ गया। उसने १५७० ई० मे नागौर के डेरे पर राजनीतिक मन्त्रणा की जिससे राठौड नरेशो ने अकबर की सत्ता को स्वीकार किया और वे वैवाहिक सम्बन्ध के सूत्र मे सम्मिलित हुए। अब केवल मेवाड बच रहा। प्रात स्मरणीय प्रताप मे हल्दीघाटी का १५७६ ई० का युद्ध लडा गया जिसके फलस्वरूप अकबर अपनी शक्ति का प्रदर्शन अवश्य कर सका, परन्तु प्रताप अनम्य बना रहा।[२]

---

२ अबुल फजल, अकबरनामा, भा० २, पृ० ४००-६००

इस नीति से अकबर को राजस्थान के कई नरेशो का सहयोग प्राप्त हो गया। यह नरेश काबुल, कन्धार, बिहार, बगाल तथा दक्षिण मे मुगल हितो की रक्षा करते रहे और अपनी सैनिक सेवाओ से मुगल राज्य की विस्तार नीति को बल देते रहे। मुगल दरबार मे भी इन नरेशो तथा उनके साथियो का बडा सम्मान हुआ और उन्हे ऊँचे-ऊँचे मनसब दिये गये। अकबर के द्वारा निर्धारित नीति का प्रभाव इतना अत्यधिक रहा कि जहाँगीर तथा कुछ काल तक उसका स्थायित्व शाहजहाँ के काल तक बना रहा। सम्मान प्राप्त करने वाले राजपूत नरेशो मे मानसिंह मिर्जा राजा जयसिंह, सवाई जयसिंह, कुँवर पृथ्वीराज, रायसिंह, मुकुन्दसिंह हाडा, माधोसिंह आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह शासक केवल मात्र अपने राज्य तथा मुगल दरबार की राजनीति के गठबन्धन के सूत्र ही न बने वरन् हिन्दू समाज का मुगलो से मधुर सम्बन्ध स्थापित कराने के माध्यम बने रहे। उनका सहयोग मुगल सत्ता की भित्ति को मजबूत बनाने मे उपयोगी सिद्ध हुआ। मुगल सेना मे अब सैनिक बल और निर्देशन की कोई कमी न रही। इस सम्पूर्ण नीति की प्रशसा करते हुए डा० त्रिपाठी लिखते है कि "अकबर ने अन्य राजपूत राजाओ के प्रति अपने व्यवहार से यह सिद्ध कर दिया कि न तो वह उनके राज्यो पर अधिकार करना चाहता था और न उसे उनके सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन मे हस्तक्षेप करना था। वह इतना ही चाहता था कि वे नवीन साम्राज्य सघ का प्रभुत्व मान लें।"[3] क्योकि कई शासको ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया, इस नीति को एक सफल नीति कहा जा सकता है। वे फिर आगे लिखते हैं कि वास्तविकता और बुद्धि मुगल साम्राज्य सघ के पक्ष मे थी।[४] डाक्टर ईश्वरीप्रसाद ने[५] भी इस नीति

---

3 त्रिपाठी, मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन, पृ० १७७
"By his dealings with other Rajput Princes Akbar had clearly slown that he did not wish either to annex their states, or interfere with their social, economic and religious life He wanted nothing more than their allegiance to the new Imperial Confideration"
—Tripathi, pp 223-24

४ Reason and realism were on the side of the pro-confederation elements
—Tripathi

५ "Akbar's policy towards the Rajputs was more generous and humane than that of other Muslim rulers Akbar was endowed with the higher qualities of statesmanship and he resolved to base his empire on the goodwill of both Hindus and Muslims Equality of status with the Muslims steeled the loyalty of the Rajput Chiefs and they shed their life-blood in the service of the empire in the distant and dangerous lands The rapid growth of the empire stirred their martial spirit Many of them loved art and literature and their presence added to the magnificance of the imperial court It was they who aided to a large extant the synthesis of religions and cultures They made possible the fusion of the Hindus and Muslims"
—Dr Ishwari Prasad, *The History of Muslim Rule*, pp 365-67

को उदार और मानवी कहा है जिसने मुगल साम्राज्य को दोनो हिन्दू और मुसलमानो के सद्भावो पर आधारित किया। इस युक्ति से राजपूतो को जो समानता के पद मुगल व्यवस्था मे दिये गये जिससे वे भारत के बाहर जाकर भी सहर्ष अपना रक्त मुगल हित के लिए बहाने को तैयार हो गये। कई राजपूत वीर जिन्होने मुगल सम्पर्क को मान्यता दी थी और जिन्हे साहित्य और कला से प्रेम था उन्होने शाही दरबार के वैभव को परिवर्द्धित करने मे अनुपम योग दिया। इस युग की जो सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक समन्वय की उपलब्धि हो सकी है उसका अधिकाश श्रेय राजपूतो को है जिसने हिन्दू-मुस्लिम सामजस्य को एक सम्भावित घटना बनाया।

जिस वैवाहिक सम्बन्ध की नीति का बडे पैमाने मे आरम्भ अकबर ने किया था उसके परिणाम बडे महत्त्वपूर्ण रहे। अकबर ने जो विवाह कछवाही राजकुमारी से किया उससे सलीम का जन्म हुआ। इस निकट सम्बन्ध ने आमेर के राजपरिवार का महत्त्व मुगल दरबार मे तथा राजस्थान मे बढा दिया। इसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि आमेर की गणना मुगलो की कूटनीति के निर्धारण मे प्रमुख हो गयी और सम्पन्नता के विचार से भी उसे बहुत लाभ पहुँचा। मोटा राजा उदयसिंह ने भी अपने सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के अभिप्राय से अपनी पुत्री मानीबाई का विवाह सलीम के साथ कर दिया। जोधपुर की राजकुमारी होने से उसे जोधाबाई कहने लगे। शाहजादा सलीम ने उसको जगत-गुसाई की पदवी देकर सम्मानित किया था। खुर्रम इसी से पैदा हुआ था। इस प्रकार के पारिवारिक सम्बन्ध बन जाने से राठौड नरेशो की सैनिक नियुक्तियाँ मुगल सूबो मे तथा दक्षिण मे हुई। इन नरेशो को इस प्रकार की सेवाओ से आर्थिक लाभ भी हुआ। बीकानेर नरेश रायसिंह की पुत्री का भी सम्बन्ध जहाँगीर से हुआ जिससे वहाँ के नरेशो की पद-वृद्धि उत्तरोत्तर होती रही। भाटियो के विवाह सम्बन्ध भी जैसलमेर की उन्नति के कारण बने।

अकबर इन वैवाहिक सम्बन्ध से ही सन्तुष्ट नही था। उसे इसी बहाने राजस्थान के शासकीय मामलो में हस्तक्षेप करने का भी अवसर मिल गया। शासकीय एकता स्थापित करने के लिए राजस्थान का कुछ भाग अजमेर सूबे के अन्तर्गत और कुछ भाग गुजरात सूबे के अन्तर्गत रख दिये गये। इन सूबो को अजमेर, चित्तौड, रणथम्भौर, जोधपुर, नागौर, बीकानेर और सिरोही नामक सरकारो मे बाँटा गया।[६] औरगजेब के समय मे जैसलमेर राज्य को पृथक सरकार बनाया गया। इन सरकारो मे लगभग १९७ परगने थे। यह व्यवस्था इन देशी राज्यो के लिए उसी रूप से लागू रही हो यह आवश्यक नहीं था। क्योकि जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर आदि राज्यो मे परगनो का वर्गीकरण दूसरे ढग से था जो आइन मे दिये हुए परगनो की सूची से मेल नही खाता। यह सारी व्यवस्था मुगल शासन की सहूलियत के लिए थी उसका बन्धन देशी राज्यो के लिए नही था।

---

६ आइन-ए-अकबरी, भा० २, पृ० २४६-८२

जहाँ तक भूमि के नाप और राजस्व की व्यवस्था का प्रश्न है, सरकारी कागजातो मे वन्दोवस्त का तरीका और लगान की दरें राजस्थान के लिए लगभग वही थी जो खालसा के लिए थी। कुछ स्थानो के लिए नकद लगान और कुछ स्थानो के लिए उपज मे लगान लिये जाने के उल्लेख मिलते है। यह दरें उपज के छटवें तथा सातवें भाग के लगभग हैं। परन्तु उसी समय की खतूनियाँ वसूली के विचार से लगान वसूली के तरीके और दरे अपने स्थानीय परम्परा और कीमतो के हिसाव से वताती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्व मे मुगल तरीको का प्रचलन राजस्थान मे वटी मन्द-गति से हो सका था। अलवत्ता अधिकारियो के पद वहुधा वही थे जो मुगल सल्तनत मे प्रचलित थे। कही-कही पटवारी, कानूनगो आदि के पद स्थानीय अधिकारियो के पाये जाते है तो कही पटेल और शहना के नाम मिलते हैं। इनको वहुधा नाममात्र का नकद वेतन मिलता था, अन्यथा उनकी आय उपज और लगान के अनुपात से निर्धारित की जाती थी। उपज वसूली मे भी 'कूंता', 'लाटा' आदि का प्रचलन दिखायी देता है। कर वसूली मे अलवत्ता जकात और राहदारी की वसूली मुगलो के तरीके से उद्धृत की गयी थी। अन्य वेगार और छोटे-मोटे कर का भी जिक्र मिलता है जो सर्वथा स्थानीय थे। हर पेशे के व्यक्ति से किसी न किसी रूप की वेगार ली जाती थी और 'घर वराड', 'चूल्हावराड', 'मटकी', 'विछायत', 'धूंआ', 'सराई' आदि विविध प्रकार के कर थे, जो पूर्णत स्थानीय थे। सम्पूर्ण राजस्थान मे इन करो के नामो मे भी एकरूपता नही दिखायी देती।[७]

ज्यो-ज्यो मुगल प्रभाव राजपरिवारो मे वढता गया त्यो-त्यो राजस्थान के नरेशो की स्वतन्त्रा भी कम होने लगी। पद और प्रतिष्ठा के लोभ से वे अपने राज्य के वाहर रहने लगे और कभी-कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध उन्हे दूर-दूर सूवो मे लम्बे समय तक रहना पडता था। इसके अच्छे परिणाम भी हो सकते हैं, परन्तु इस स्थिति मे इन नरेशो द्वारा स्थानीय शासन की देखरेख सुचारु रूप से नही हो सकती थी। उन्हे अपने मन्त्रियो तथा अधिकारियो के हाथ शक्ति सौंप देना होता था जिससे इन राज्यो की आन्तरिक व्यवस्था अधिक सन्तोषजनक नही रहती थी। यह स्थानीय अधिकारी सर्वेसर्वा वन जाते थे और राजकीय पद उत्तरोत्तर पैतृक हो जाते थे। यदि हम ओसवाल जाति या कायस्थ जाति के पदो का विश्लेपण करें तो हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि प्रधान, मुसाहिव, वख्शी, कारकून, कानूनगो आदि के पदो मे उन्ही वशो के लोग विना किसी रुकावट के चले आते हैं। इससे स्वेच्छाचारिता के दोप शासन मे वढना स्वाभाविक दीख पडता है। अलवत्ता ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि जव इन अधिकारियो के कारनामे सीमा का उलघन कर जाते थे और उनकी शिकायतें नरेशो के पास पहुँचती थी तो उनको पद मे हटा भी दिया जाता था या उनको निम्न

---

७ कागजात सायर कोटा, वि० स० १७७५-१८००, अडमट्टा, १७००-१८००, मालरी वही, वीकानेर, १७००-१८००

पदो पर रख दिया जाता था। नरेशो का भय और जनमत की आवाज ऐसी अवस्था मे कभी-कभी रोकथाम का काम करते थे। नैणसी जैसे कृपापात्र को जसवन्तसिंह द्वारा हटाया जाना तथा कर्मचन्द्र का बीकानेर नरेश द्वारा राज्य से निकाला जाना इस स्थिति की पुष्टि करते हैं।

राजस्थान के नरेशो का मुगलो से निकट सम्बन्ध होने से और मुगलो की सेवा मे रहने का तत्कालीन प्रभाव यह पडा कि वे यदाकदा राजाओ के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप करने लगे। उत्तराधिकार के मामलो मे विशेष रूप से वे रुचि रखते थे, क्योकि उनके कृपापात्र को वे राज्य का अधिकारी बनाना अपनी शक्ति की स्थिरता के लिए आवश्यक समझते थे। मुगल सम्राट अपनी नाराजगी प्रकट करने के लिए कभी-कभी उनके मनसब मे कमी कर देते या जागीर के परगनो मे कटौती भी कर देते। जिस पर विशेष कृपा होती उसकी जागीर मे वृद्धि कर देते। इस स्थिति से राजा लोग मुगल सम्राटो की सुदृष्टि की अपेक्षा रखते थे। यदि कोई सामन्त या राजकुमार अपने पैतृक राज्य से असन्तुष्ट होकर मुगल दरबार मे आता तो उसका सम्मान बढाया जाता था जिससे मुगल राजसत्ता का प्रभाव बढता रहे। शक्तिसिंह और सगर का मेवाड मे नाराज होकर अकबर के दरबार मे जाना मुगल सत्ता के लिए हितकारक समझा गया।[८] चन्द्रसेन और उदयसिंह के घरेलू झगडे को अकबर ने अपने प्रभाव वर्द्धन का अच्छा साधन माना।[९] रायसिंह अपने दलपतसिंह के बजाय सूरसिंह को बीकानेर का शासक बनाना चाहता था, फिर भी जहाँगीर ने दलपतसिंह को ही शासक बनाया। परन्तु जब दलपतसिंह विद्रोही बना तो सम्राट ने पुन सूरसिंह को बीकानेर का शासक स्वीकार किया और दलपत को मृत्यु दण्ड दिया।[१०] जोधपुर के नरेश जसवन्तसिंह की मृत्यु पर नागौर के शासक इन्द्रसिंह की ओर औरगजेब ने अपना झुकाव बताकर अजीतसिंह और उसके सहयोगियो को रुष्ट कर दिया। इस प्रकार की घटनाओ से राजस्थान के नरेशो में अपने अधिकार के सम्बन्ध मे सन्देह पैदा हो गया। उन्हें भय होने लगा कि उत्तराधिकार के सम्वन्ध मे सम्राट किस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाये। परन्तु यह स्थिति तभी पैदा होती थी जब कि आन्तरिक बखेडो को स्वय यह नरेश नही निपटा सकते थे। शक्ति-सम्पन्न राजाओ के सम्वन्ध मे मुगल सम्राट तटस्थ ही रहते थे। मेवाड मे इस प्रकार के हस्तक्षेप का अभाव था।

सामाजिक स्थिति और समन्वय (जागीरदारी प्रथा)—उस समय की सामाजिक व्यवस्था मे सामन्त पद्धति अपना प्रमुख स्थान रखती है। कर्नल टॉड ने इस सामन्त पद्धति की तुलना मध्ययुगीन यूरोपीय सामन्त पद्धति से की है। इसमे कोई सन्देह

---

८ अकबरनामा, भा० २, पृ० ४४२-४३

९ अकबरनामा, भा० २, पृ० ५१८

१० तुज़ुक-ए-जहाँगीरी, जि० १, पृ० २१७-१८, दयालदास की ख्यात, जि० २, पत्र ३५

नही कि यहाँ की सामन्त पद्धति और यूरोप की सामन्त प्रणाली मे कई साम्यता हैं, परन्तु राजस्थानी सामन्त प्रथा एक प्रकार की सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था का रूप है जिसमे नेता के रूप मे एक राजा रहता है और उसके साथ उसी के वशज या अन्य जाति के वशज उसके साथी और सहयोगी बने रहते है। यूरोप मे एक स्वामी के साथी आश्रित के रूप मे रहते थे जिनकी स्वतन्त्र कोई स्थिति नही थी। यहाँ एक प्रकार से राजा के सामन्त उसी या समकक्ष वश के होने से राज्य के वरावरी के हिस्सेदार होते थे। उनके पोषण के लिए कुछ भूमि दे दी जाती थी और उसका उस पर जन्मजात अधिकार होता था। पूर्व-मध्यकालीन साहित्य से जो व्याख्या सामन्तो के लिए मिलती है वह टॉड की सामन्त प्रथा, जो यूरोप के समकक्ष वतायी गयी है, से मेल नही खाती। टॉड ने जिस समय इस प्रथा को देखा था उस समय राजस्थान के सामन्त निर्वल हो चुके थे और उस समय इनकी स्थिति केवल एक राज्य के आश्रित के रूप मे थी। अन्यथा राजस्थानी नरेश अपने सामन्तो को भाईजी और काकाजी आदि आदर सूचक शब्दो से सम्वोधित करते थे, जिससे राज्य मे समता के पद और उत्तरदायित्व की ध्वनि स्पष्ट होती है।[11]

लेकिन यह स्थिति आगे चलकर वदली। राज्य के कार्य और व्यवस्था तथा प्रवन्ध मे आपसी साझेदारी में परिवर्तन आया। मुगलो के सम्पर्क से अव्यवस्था, चोरी, डकैती आदि अवसरो के लिए उन्हे मुगल सहायता प्राप्त होने लगी। राजाओ के अधिकार और पद-वृद्धि से सामन्तो की धीरे-धीरे आश्रित स्थिति वढने लगी। राजपूत नरेशो ने क्रमश उनके अस्तित्व को सैनिक सहयोगियो के रूप मे वदलना आरम्भ किया जिसके एवज मे उन्हे जागीरें दी गयी। जागीरो की आमदनी के अनुपात से उनका सैनिक वल निर्धारित किया गया जिसको लेकर उन्हे युद्धोचित सेवाएँ देना होता था। उनकी आश्रित स्थिति मे अत्यधिक वन्धन कर दिये गये। नये सामन्त की स्थापना पहले के सामन्त के उत्तराधिकारी के रूप मे तभी सम्भावित होती थी जव कि राज्य का स्वामी 'खड्गवन्धी' का दस्तूर अपनी उपस्थिति मे करें और नया सामन्त इसके उपलक्ष मे हुक्मनामा या 'नजर' करे। यह हुक्मनामा मुगल प्रथा पेशकशी के ढग पर लगाया गया था। महाराजा अजीतसिंह के समय मे तागीरात की नयी वसूली जागीरदारो से की जाने लगी। मुत्सदी खर्च की नयी लागत जागीरदारो मे ली जाने लगी। इन दोनो दस्तूरो के अभाव मे सामन्त पद की स्वीकृति नही मानी जा सकती थी। अव मुगलो की परिपाटी के अनुकूल राजस्थानी सामन्तो की जागीर के उपज का भी अनुमान निर्धारित किया गया जिसे 'रेख' कहते थे। 'रेख' के आधार पर सैनिक वल का अनुपात स्थापित होने लगा। आगे चलकर 'चाकरी' व 'छटूंद' की भी

---

[11] टॉड, राजस्थान, १०८-१३२, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ८५-८६

रकम जागीरदारो से ली जाने लगी। 'तागीरयात और 'मुस्सदी खर्च' इन जागीरदारो को राज्य को देना पडता था। राज्य के स्वामी को अधिकार रहता था कि इन रकमो को न देने पर उनकी जागीर जब्त कर ली जाय।[१२]

जागीरदारो के कई दर्जे भी मुगलो की मनसबदारी प्रथा की भाँति कर दिये गये। इसका यह अभिप्राय नही है कि दोनो प्रथाएँ साम्यता रखती हैं। साम्यता इसी अर्थ मे है कि जागीरदारो के दर्जे निश्चित करने से उनकी जागीर की आय और उनके पद और प्रतिष्ठा का निर्धारण होता था। मेवाड मे 'सोलह', 'बत्तीस' और 'गोल' के सरदार थे तो मारवाड मे राजवीस[१३], सरदार[१४], मुत्सदी[१५] और गनायत[१६] थे। इनमे भी जो राठौड होते थे उन्हे दुहरी ताजीम और हाथ के कुरब से इज्जत की जाती थी अर्थात उनके आने और जाने पर स्वय दरबार उठते थे और सरदार के कन्धे पर अपना हाथ रखते थे। वह भी महाराजा के वागे की किनारी को पकडता था और अपनी तलवार उनके सामने रखता था। जोधा के पहले के सरदार दरबार मे दक्षिण मे बैठते थे और जोधा के वशज वाम भाग में। कुछ सरदारो को एकरी ताजीम की इज्जत थी। कुछ को बाँह का कुरब दिया जाता था।[१६अ]

कोटा मे सेवा के अनुसार उनका पद निर्धारित होता था। कोटा के जागीरदार 'देशथी' (देश मे ही रहकर रक्षा करने वाले) तथा 'हजूरथी' (दरबार के साथ मुगल सेना मे रहने वाले) की सज्ञा में बाँटे गये थे। जयपुर मे प्राथमिक रूप से इनका विभाजन 'बारा कोटडी' से आधारित था। इन सज्ञाओ की स्थानीय विशेषताएँ थी इसी से इनका वर्गीकरण भी किया गया था। मेवाड के बडे सरदारो को महलो के प्रागण के कुछ भाग तक नक्कारा, निशान, छत्र आदि ले जाने का अधिकार था। मारवाड मे आउवा और पोकरन के ठाकुरो को गाँवो के दान पत्रो पर हस्ताक्षर करने का अधिकार था। मेवाड मे सलुम्बर के ठाकुर महाराणा की अनुपस्थिति में राजधानी की रक्षा का उत्तरदायित्व रखते थे। बगडी ठाकुर राज्यतिलक के अवसर पर अपने अगुष्ठ के रक्त से तिलक राजा को लगाते थे। इन्दा के जागीरदार पर मारवाड की सीमा की सुरक्षा का विशेष भार था। इन बडे-बडे सामन्तो की मृत्यु के अवसर पर

---

[१२] अमल की चिट्ठी, मेडतिया ख्यात, भा० २, पृ० १२४८, मलानी ख्यात, ग्रन्थ न० ३६, पृ० १२, जी० एन० शर्मा०, सोशल लाइफ, पृ० ८६-८७

[१३] राजपरिवार के सामन्त

[१४] राजपरिवार से अतिरिक्त

[१५] अधिकारी वर्ग जो जागीर प्राप्त किये हुए हो

[१६] अपनी शाखा के अतिरिक्त के बाहर से आये हुए सरदार

[१६अ] जोधपुर रेकाड, फाइल न० ७०, हकीकत बही, न० ६

नही कि यहाँ की सामन्त पद्धति और यूरोप की सामन्त प्रणाली मे कई साम्यता हैं, परन्तु राजस्थानी सामन्त प्रथा एक प्रकार की सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था का रूप है जिसमे नेता के रूप मे एक राजा रहता है और उसके साथ उसी के वशज या अन्य जाति के वशज उसके साथी और सहयोगी वने रहते है। यूरोप मे एक स्वामी के साथी आश्रित के रूप मे रहते थे जिनकी स्वतन्त्र कोई स्थिति नही थी। यहाँ एक प्रकार से राजा के सामन्त उसी या समकक्ष वश के होने से राज्य के वरावरी के हिस्सेदार होते थे। उनके पोषण के लिए कुछ भूमि दे दी जाती थी और उसका उस पर जन्मजात अधिकार होता था। पूर्व-मध्यकालीन साहित्य से जो व्याख्या सामन्तो के लिए मिलती है वह टॉड की सामन्त प्रथा, जो यूरोप के समकक्ष वतायी गयी है, से मेल नही खाती। टॉड ने जिस समय इस प्रथा को देखा था उस समय राजस्थान के सामन्त निर्वल हो चुके थे और उस समय इनकी स्थिति केवल एक राज्य के आश्रित के रूप मे थी। अन्यथा राजस्थानी नरेश अपने सामन्तो को भाईजी और काकाजी आदि आदर सूचक शब्दो से सम्वोधित करते थे, जिससे राज्य मे समता के पद और उत्तरदायित्व की ध्वनि स्पष्ट होती है।[११]

लेकिन यह स्थिति आगे चलकर वदली। राज्य के कार्य और व्यवस्था तथा प्रवन्ध मे आपसी साझेदारी मे परिवर्तन आया। मुगलो के सम्पर्क से अव्यवस्था, चोरी, डकैती आदि अवसरो के लिए उन्हे मुगल सहायता प्राप्त होने लगी। राजाओ के अधिकार और पद-वृद्धि से सामन्तो की धीरे-धीरे आश्रित स्थिति वढने लगी। राजपूत नरेशो ने क्रमश उनके अस्तित्व को सैनिक सहयोगियो के रूप मे वदलना आरम्भ किया जिसके एवज मे उन्हें जागीरें दी गयी। जागीरो की आमदनी के अनुपात से उनका सैनिक वल निर्धारित किया गया जिसको लेकर उन्हे युद्धोचित सेवाएँ देना होता था। उनकी आश्रित स्थिति मे अत्यधिक वन्धन कर दिये गये। नये सामन्त की स्थापना पहले के सामन्त के उत्तराधिकारी के रूप मे तभी सम्भावित होती थी जव कि राज्य का स्वामी 'खड्गवन्धी' का दस्तूर अपनी उपस्थिति मे करें और नया सामन्त इसके उपलक्ष मे हुक्मनामा या 'नजर' करे। यह हुक्मनामा मुगल प्रथा पेशकशी के ढग पर लगाया गया था। महाराजा अजीतसिंह के समय मे जागीरान की नयी वसूली जागीरदारो से की जाने लगी। मुत्सदी खर्च की नयी लागत जागीरदारो से ली जाने लगी। इन दोनो दस्तूरो के अभाव मे सामन्त पद की स्वीकृति नही मानी जा सकती थी। अव मुगलो की परिपाटी के अनुकूल राजस्थानी सामन्तो की जागीर के उपज का भी अनुमान निर्धारित किया गया जिसे 'रेख' कहते थे। 'रेख' के आधार पर सैनिक वल का अनुपात स्थापित होने लगा। आगे चलकर 'चाकरी' व 'छटूंद' की भी

---

११ टॉड, राजस्थान, १०८-१३२, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ८५-८६

रकम जागीरदारो से ली जाने लगी। 'तागीरयात और 'मुस्सदी खर्च' इन जागीरदारो को राज्य को देना पडता था। राज्य के स्वामी को अधिकार रहता था कि इन रकमो को न देने पर उनकी जागीर जब्त कर ली जाय।[१२]

जागीरदारो के कई दर्जे भी मुगलो की मनसबदारी प्रथा की भाँति कर दिये गये। इसका यह अभिप्राय नही है कि दोनो प्रथाएँ साम्यता रखती हैं। साम्यता इसी अर्थ में है कि जागीरदारो के दर्जे निश्चित करने से उनकी जागीर की आय और उनके पद और प्रतिष्ठा का निर्धारण होता था। मेवाड मे 'सोलह', 'बत्तीस' और 'गोल' के सरदार थे तो मारवाड मे राजवीस[१३], सरदार[१४], मुत्सदी[१५] और गनायत[१६] थे। इनमे भी जो राठौड होते थे उन्हें दुहरी ताजीम और हाथ के कुरब से इज्जत की जाती थी अर्थात उनके आने और जाने पर स्वय दरबार उठते थे और सरदार के कन्धे पर अपना हाथ रखते थे। वह भी महाराजा के वागे की किनारी को पकडता था और अपनी तलवार उनके सामने रखता था। जोधा के पहले के सरदार दरबार में दक्षिण मे बैठते थे और जोधा के वशज वाम भाग मे। कुछ सरदारो को एकरी ताजीम की इज्जत थी। कुछ को बाँह का कुरब दिया जाता था।[१६अ]

कोटा मे सेवा के अनुसार उनका पद निर्धारित होता था। कोटा के जागीरदार 'देशथी' (देश मे ही रहकर रक्षा करने वाले) तथा 'हजूरथी' (दरबार के साथ मुगल सेना मे रहने वाले) की सज्ञा में बाँटे गये थे। जयपुर मे प्राथमिक रूप से इनका विभाजन 'वारा कोटडी' से आधारित था। इन सज्ञाओ की स्थानीय विशेषताएँ थी इसी से इनका वर्गीकरण भी किया गया था। मेवाड के वडे सरदारो को महलो के प्रागण के कुछ भाग तक नक्कारा, निशान, छत्र आदि ले जाने का अधिकार था। मारवाड मे आउवा और पोकरन के ठाकुरो को गाँवो के दान पत्रो पर हस्ताक्षर करने का अधिकार था। मेवाड मे सलुम्वर के ठाकुर महाराणा की अनुपस्थिति मे राजधानी की रक्षा का उत्तरदायित्व रखते थे। वगडी ठाकुर राज्यतिलक के अवसर पर अपने अगुष्ठ के रक्त से तिलक राजा को लगाते थे। इन्दा के जागीरदार पर मारवाड की सीमा की सुरक्षा का विशेष भार था। इन वडे-वडे सामन्तो की मृत्यु के अवसर पर

---

१२ अमल की चिट्ठी, मेडतिया ख्यात, भा० २, पृ० १२४८, मलानी ख्यात, ग्रन्थ न० ३६, पृ० १२, जी० एन० शर्मा०, सोशल लाइफ, पृ० ८६-८७

१३ राजपरिवार के सामन्त

१४ राजपरिवार से अतिरिक्त

१५ अधिकारी वर्ग जो जागीर प्राप्त किये हुए हो

१६ अपनी शाखा के अतिरिक्त के वाहर से आये हुए सरदार

१६अ जोधपुर रेकार्ड, फाइल न० ७०, हकीकत वही, न० ६

रकम जागीरदारो से ली जाने लगी। 'तागीरयात और 'मुत्सदी खर्च' इन जागीरदारो को राज्य को देना पडता था। राज्य के स्वामी को अधिकार रहता था कि इन रकमो को न देने पर उनकी जागीर जब्त कर ली जाय।[१२]

जागीरदारो के कई दर्जे भी मुगलो की मनसबदारी प्रथा की भाँति कर दिये गये। इसका यह अभिप्राय नही है कि दोनो प्रथाएँ साम्यता रखती हैं। साम्यता इसी अर्थ में है कि जागीरदारो के दर्जे निश्चित करने से उनकी जागीर की आय और उनके पद और प्रतिष्ठा का निर्धारण होता था। मेवाड मे 'सोलह', 'बत्तीस' और 'गोल' के सरदार थे तो मारवाड मे राजवीस[१३], सरदार[१४], मुत्सदी[१५] और गनायत[१६] थे। इनमे भी जो राठौड होते थे उन्हें दुहरी ताजीम और हाथ के कुरब से इज्जत की जाती थी अर्थात उनके आने और जाने पर स्वय दरबार उठते थे और सरदार के कन्धे पर अपना हाथ रखते थे। वह भी महाराजा के वागे की किनारी को पकडता था और अपनी तलवार उनके सामने रखता था। जोधा के पहले के सरदार दरबार में दक्षिण मे बैठते थे और जोधा के वशज वाम भाग में। कुछ सरदारो को एकरी ताजीम की इज्जत थी। कुछ को बाँह का कुरब दिया जाता था।[१६अ]

कोटा मे सेवा के अनुसार उनका पद निर्धारित होता था। कोटा के जागीरदार 'देशथी' (देश मे ही रहकर रक्षा करने वाले) तथा 'हजूरथी' (दरबार के साथ मुगल सेना मे रहने वाले) की सज्ञा में बाँटे गये थे। जयपुर मे प्राथमिक रूप से इनका विभाजन 'बारा कोटडी' से आधारित था। इन सज्ञाओ की स्थानीय विशेषताएँ थी इसी से इनका वर्गीकरण भी किया गया था। मेवाड के बडे सरदारो को महलो के प्रागण के कुछ भाग तक नक्कारा, निशान, छत्र आदि ले जाने का अधिकार था। मारवाड मे आउवा और पोकरन के ठाकुरो को गाँवो के दान पत्रो पर हस्ताक्षर करने का अधिकार था। मेवाड मे सलुम्बर के ठाकुर महाराणा की अनुपस्थिति में राजधानी की रक्षा का उत्तरदायित्व रखते थे। बगडी ठाकुर राज्यतिलक के अवसर पर अपने अगुष्ठ के रक्त से तिलक राजा को लगाते थे। इन्दा के जागीरदार पर मारवाड की सीमा की सुरक्षा का विशेष भार था। इन बडे-बडे सामन्तो की मृत्यु के अवसर पर

---

[१२] अमल की चिट्ठी, मेडतिया ख्यात, भा० २, पृ० १२४८, मलानी ख्यात, ग्रन्थ न० ३६, पृ० १२, जी० एन० शर्मा०, सोशल लाइफ, पृ० ८६-८७

[१३] राजपरिवार के सामन्त

[१४] राजपरिवार से अतिरिक्त

[१५] अधिकारी वर्ग जो जागीर प्राप्त किये हुए हो

[१६] अपनी शाखा के अतिरिक्त के बाहर से आये हुए सरदार

[१६अ] जोधपुर रेकार्ड, फाइल न० ७०, हकीकत वही, न० ९

नही कि यहाँ की सामन्त पद्धति और यूरोप की सामन्त प्रणाली मे कई साम्यता हैं, परन्तु राजस्थानी सामन्त प्रथा एक प्रकार की सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था का रूप है जिसमे नेता के रूप मे एक राजा रहता है और उसके साथ उसी के वशज या अन्य जाति के वशज उसके साथी और सहयोगी वने रहते है। यूरोप मे एक स्वामी के साथी आश्रित के रूप मे रहते थे जिनकी स्वतन्त्र कोई स्थिति नही थी। यहाँ एक प्रकार से राजा के सामन्त उसी या समकक्ष वश के होने से राज्य के वरावरी के हिस्सेदार होते थे। उनके पोपण के लिए कुछ भूमि दे दी जाती थी और उसका उस पर जन्मजात अधिकार होता था। पूर्व-मध्यकालीन साहित्य से जो व्याख्या सामन्तो के लिए मिलती है वह टॉड की सामन्त प्रथा, जो यूरोप के समकक्ष वतायी गयी है, से मेल नही खाती। टॉड ने जिस समय इस प्रथा को देखा था उस समय राजस्थान के सामन्त निर्वल हो चुके थे और उस समय इनकी स्थिति केवल एक राज्य के आश्रित के रूप मे थी। अन्यथा राजस्थानी नरेश अपने सामन्तो को भाईजी और काकाजी आदि आदर सूचक शव्दो से सम्वोधित करते थे, जिससे राज्य मे समता के पद और उत्तरदायित्व की ध्वनि स्पष्ट होती है।[११]

लेकिन यह स्थिति आगे चलकर बदली। राज्य के कार्य और व्यवस्था तथा प्रवन्ध मे आपसी साझेदारी मे परिवर्तन आया। मुगलो के सम्पर्क से अव्यवस्था, चोरी, डकैती आदि अवसरो के लिए उन्हे मुगल सहायता प्राप्त होने लगी। राजाओ के अधिकार और पद-वृद्धि से सामन्तो की धीरे-धीरे आश्रित स्थिति बढने लगी। राजपूत नरेशो ने क्रमश उनके अस्तित्व को सैनिक सहयोगियो के रूप मे वदलना आरम्भ किया जिसके एवज मे उन्हे जागीरें दी गयी। जागीरो की आमदनी के अनुपात से उनका सैनिक वल निर्धारित किया गया जिसको लेकर उन्हे युद्धोचित सेवाएँ देना होता था। उनकी आश्रित स्थिति मे अत्यधिक वन्धन कर दिये गये। नये सामन्त की स्थापना पहले के सामन्त के उत्तराधिकारी के रूप मे तभी सम्भावित होती थी जव कि राज्य का स्वामी 'खड्गवन्धी' का दस्तूर अपनी उपस्थिति मे करें और नया सामन्त इसके उपलक्ष मे हुक्मनामा या 'नजर' करे। यह हुक्मनामा मुगल प्रथा पेशकशी के ढग पर लगाया गया था। महाराजा अजीतसिंह के समय मे तागीरात की नयी वसूली जागीरदारो से की जाने लगी। मुत्सदी खर्च की नयी लागत जागीरदारो से ली जाने लगी। इन दोनो दस्तूरो के अभाव मे सामन्त पद की स्वीकृति नही मानी जा सकती थी। अव मुगलो की परिपाटी के अनुकूल राजस्थानी सामन्तो की जागीर के उपज का भी अनुमान निर्धारित किया गया जिसे 'रेख' कहते थे। 'रेख' के आधार पर सैनिक वल का अनुपात स्थापित होने लगा। आगे चलकर 'चाकरी' व 'छटूंद' की भी

---

११ टॉड, राजस्थान, १०८-१३२, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ८५-८६

रकम जागीरदारो से ली जाने लगी। 'तागीरयात और 'मुत्सदी खर्च' इन जागीरदारो को राज्य को देना पडता था। राज्य के स्वामी को अधिकार रहता था कि इन रकमो को न देने पर उनकी जागीर जब्त कर ली जाय।[१२]

जागीरदारो के कई दर्जे भी मुगलो की मनसबदारी प्रथा की भाँति कर दिये गये। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दोनो प्रथाएँ साम्यता रखती हैं। साम्यता इसी अथ मे है कि जागीरदारो के दर्जे निश्चित करने से उनकी जागीर की आय और उनके पद और प्रतिष्ठा का निर्धारण होता था। मेवाड मे 'सोलह', 'बत्तीस' और 'गोल' के सरदार थे तो मारवाड मे राजवीस[१३], सरदार[१४], मुत्सदी[१५] और गनायत[१६] थे। इनमे भी जो राठौड होते थे उन्हे दुहरी ताजीम और हाथ के कुरब से इज्जत की जाती थी अर्थात उनके आने और जाने पर स्वय दरबार उठते थे और सरदार के कन्धे पर अपना हाथ रखते थे। वह भी महाराजा के वागे की किनारी को पकडता था और अपनी तलवार उनके सामने रखता था। जोधा के पहले के सरदार दरबार मे दक्षिण मे बैठते थे और जोधा के वशज वाम भाग मे। कुछ सरदारो को एकरी ताजीम की इज्जत थी। कुछ को बाँह का कुरब दिया जाता था।[१६अ]

कोटा मे सेवा के अनुसार उनका पद निर्धारित होता था। कोटा के जागीरदार 'देशथी' (देश मे ही रहकर रक्षा करने वाले) तथा 'हजूरथी' (दरबार के साथ मुगल सेना मे रहने वाले) की सज्ञा में बाँटे गये थे। जयपुर मे प्राथमिक रूप से इनका विभाजन 'बारा कोटडी' से आधारित था। इन सज्ञाओ की स्थानीय विशेषताएँ थी इसी से इनका वर्गीकरण भी किया गया था। मेवाड के बडे सरदारो को महलो के प्रागण के कुछ भाग तक नक्कारा, निशान, छत्र आदि ले जाने का अधिकार था। मारवाड मे आउवा और पोकरन के ठाकुरो को गाँवो के दान पत्रो पर हस्ताक्षर करने का अधिकार था। मेवाड मे सलुम्बर के ठाकुर महाराणा की अनुपस्थिति मे राजधानी की रक्षा का उत्तरदायित्व रखते थे। वगडी ठाकुर राज्यतिलक के अवसर पर अपने अगुष्ठ के रक्त से तिलक राजा को लगाते थे। इन्दा के जागीरदार पर मारवाड की सीमा की सुरक्षा का विशेष भार था। इन बडे-बडे सामन्तो की मृत्यु के अवसर पर

---

१२ अमल की चिट्ठी, मेडतिया ख्यात, भा० २, पृ० १२४८, मलानी ख्यात, ग्रन्थ न० ३६, पृ० १२, जी० एन० शर्मा०, सोशल लाइफ, पृ० ८६-८७

१३ राजपरिवार के सामन्त

१४ राजपरिवार से अतिरिक्त

१५ अधिकारी वर्ग जो जागीर प्राप्त किये हुए हो

१६ अपनी शाखा के अतिरिक्त के बाहर से आये हुए सरदार

१६अ जोधपुर रेकार्ड, फाइल न० ७०, हकीकत वही, न० ६

राजकीय रूप से शोक मनाया जाता था। इस प्रकार के विशेष अधिकार केवल ऊपरीय स्तर के जागीरदारो के लिए ही थे, सभी के लिए नही।[१७]

परन्तु जब समय बीतता गया इन अधिकारो मे बढाव-चटाव आता गया। मराठो के आक्रमण से भी इस स्थिति मे परिवर्तन होते गये। यहाँ तक कि १८वी शताब्दी के आरम्भ काल तक उत्तर-पूर्वी राजस्थान के सामन्त तो निर्बल हो गये। दक्षिण-पश्चिमी भाग के सामन्तो के अधिकार, अलबत्ता, उत्तर-पूर्वी भागो के सामन्तो की अपेक्षा अधिक थे। इसका मूल कारण यह था कि उत्तर-पूर्व मे दक्षिण-पश्चिम की अपेक्षा मुगल प्रभाव अधिक रहा था। उत्तर की अपेक्षा दक्षिण मे राजपूतो की जनसख्या भी अधिक थी, इसलिए उनका स्थानीय प्रभाव मे एक दबाव था और उसकी मान्यता भी थी। कोटा, बूंदी, भरतपुर और धौलपुर के महाराजा अधिक शक्तिशाली होते थे जिनसे उनके सामन्तो की शक्ति घटती चली गयी। मुगलो के सम्पर्क बढने से कई सामन्त मुगलो के मनसबदार भी बन गये जिससे उनका स्थानीय प्रभाव एक अर्थ मे कम हो गया। परन्तु जब मुगल सल्तनत भी निर्बल होने लगी और युद्ध की स्थिति भी बदलने लगी तो राजस्थान के सरदारो की वह प्राचीन क्रियाशीलता और कर्तव्य-परायणता शिथिल होने लगी। मराठो के आक्रमण ने अराजकता का दौर आरम्भ कर दिया तो राजपूत सरदार भी इस व्यवस्था से निजी लाभ उठाने लगे। जिस ओज और शौर्य के लिए इनकी एक प्रतिष्ठा बनी हुई थी उसमे ह्रास दिखायी देने लगा। अंग्रेजो के आने पर तो वे बिल्कुल निष्क्रिय होते चले गये।[१८]

समाज की सामन्त व्यवस्था मे 'ग्रासिये' और भोमियो का भी महत्वपूर्ण स्थान है। ग्रासिये वे जागीरदार थे जो सैनिक सेवा के उपलक्ष मे शासक के द्वारा भूमि की उपज का, जो 'ग्रास' कहलाती थी, उपभोग करते थे। ऐसी भूमि सेवा मे ढिलाई करने या आज्ञा का उल्लघन करने पर छीनी जा सकती थी या फिर दी जा सकती थी। परन्तु भोमिये राजपूत वे होते थे, जिन्होने सीमान्त रक्षा के लिए या गाँव की हिफाजत या राजकीय अन्य सेवाओ के लिए अपना बलिदान किया था। इनको भूमि से बेदखल नही किया जा सकता था। उन्हे नाममात्र का ऐसी भूमि का एवजाना देना होता था, अन्यथा वे हर प्रकार के दायित्व से मुक्त थे। भोमिया जागीरदार छोटे व मोटे दर्जे के होते थे। ओगना, पानरवा, जवास आदि के जागीरदार भोमिया सज्ञा के थे। छोटे भोमियो को लगान से मुक्त भूमि प्राप्त होती थी और वे उसके एवज एक परगने से दूसरे परगने की डाक पहुँचाने का या अधिकारियो

---

[१७] ख्यात इन्दा, पत्र २६-२७, राठौड दानेश्वर वशावली, पृ० ३३८, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ८७-८८

[१८] भाटी ख्यात, पत्र ६-१०, हयवही, न० ११, पृ० १७८, खासा रुक्का परवाना वही, न० २, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ८८

को दौरे के समय सहायता पहुँचाने का अथवा खजाने को हिफाजत से पहुँचाने आदि का काम करते थे।

इस प्रकार राजस्थान की सामन्त प्रथा आपसी साझेदारी थी और उसका रूप एक प्रकार से सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक विशेषताओ को लिये हुए था। इस प्रथा मे निजी रूप से भूमि से लाभ और राज्य की सैनिक सेवा सम्मिलित थी। सामन्त और शासक का सम्बन्ध पूर्णरूप से आश्रितो का न होकर समकक्ष आज्ञाकारी सहयोगियो का था। यह विशेषताएँ ही उसके चिर स्थायित्व के प्रमुख कारण हैं। मैंने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि इस प्रकार की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था कुछ सामाजिक और आर्थिक कारणो से जुडी हुई थी।[१९]

इस व्यवस्था मे आगे चलकर कई दोष आ गये। उत्तराधिकार के नियम की विशेषता से भूमि का विभाजन होना आवश्यक था जिससे उत्तरोत्तर भूमि के कई छोटे-छोटे विभाग होते गये। ऐसी स्थिति मे वडे से बडे जागीरदार की भूमि भी कई भागो मे वँटकर छिन्न-भिन्न हो गयी। मेके[२०] के शब्दो मे "सूर्य और चन्द्र के लाल तथा अग्नि पुत्र अपनी परम्परा को भूलकर शौर्य के बजाय शराब और व्यभिचार के व्यसन सेवी वन गये। वे कर्ज मे डूब गये।" "परन्तु हम देखते हैं कि आखिर इस व्यवस्था का अपने युग मे एक उपयोग था। इस व्यवस्था मे स्वामिभक्त और देशभक्त सामन्त हँसते-हँसते अपने प्राण वलिदान कर देते थे। थोडे ही समय मे शासक वडा आसानी से इस व्यवस्था के कारण वडे से वडा सैनिक दल तैयार कर सकता था। १७९० ई० के मेडता के युद्ध मे शीघ्र ही ३६,००० सैनिक मारवाड की रक्षा के लिए युद्धस्थल मे उपस्थित हो गये। इस व्यवस्था को राजनीतिक दृष्टि से दोषपूर्ण क्यो न ठहराया जाय, परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि एक युग मे राजस्थान के भाग्यविधान के लिए उसका एक स्वतन्त्र उपयोग था।"[२१]

---

१९ "This kind of socio-political organization arose from certain social and economic forces, and as such had a vitality of its own which accounts for its survival for a longer period of time"
—G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 88

२० 'The Children of the Sun and Moon, the children of the fire-fountain, seem to have forgotten the inspiring traditions of their race and have sunk into the state of slothful ignorance and debauchery that mournfully contrast with the chivalrous heroism"
—Aberigh Mackay

२१ "Whatever have been the defect of the system, it should be admitted that the institution had justification in the age it flourished Under this system the patriotic nobles were always ready to lay down their lives for the glory of their rulers and the land The institution, though appears to be a negation of political authority was very useful and patent in shaping the destiny of Rajasthan' —G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 90

समाज और जातीय विशेषताएं—इस सामन्तिक सामाजिक व्यवस्था की ऊपरीय धुरी पर नरेशो तथा उनके परिवार का स्थान था। उन्हे सभी विशेष अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त थी। उनकी आज्ञा की अवहेलना करना या उनकी इच्छा के विरुद्ध जाना उनके राज्य मे सम्भव नही था। उन्हे कई विवाह करने और अन्त पुर को कई रमणियो से सुशोभित करने का अधिकार था जिससे भोग-विलास के उपकरणो की उनके लिए कोई कमी न थी। परन्तु उनमे कुछ स्वाभाविक गुण ऐसे थे जिससे वे हमेशा वीरोचित कार्यो की तथा धर्म प्रसार के अवसरो की प्रतीक्षा मे रहते थे। शिकार खेलना, जगली पशुओ से लडना आदि कार्य शौर्य प्रवृत्ति को बढावा देते रहते थे। राजपूतो मे अनेक शाखा और प्रशाखाएँ होती थी। इनका पारस्परिक एक पारिवारिक सम्बन्ध होता था जिससे वशीय परम्पराएँ इनमे अक्षुण्ण बनी रहती थी। पुरुषो की भाँति राजपूत महिलाएँ भी प्रतिभासम्पन्न होती थी जो युद्ध और शान्ति के अवसर पर अपने साथियो को प्रेरणा देती रहती थी। आवश्यकता पडने पर जीवनोत्सर्ग उनके लिए एक साधारण घटनामात्र थी।

इस मध्ययुगीय समाज मे नैतिक जीवन का आधार ब्राह्मण वर्ग से सम्बन्धित था। पढना, पढाना, ध्यान, आराधना आदि इस वर्ग के सम्मानित कार्य थे। राज्य भी इनको हर प्रकार से इन कार्यों मे सहायता पहुँचाता था। कई योग्य ब्राह्मणो को दान-दक्षिणा से सन्तुष्ट रखना राजाओ का कर्तव्य था। इस वर्ण मे अनेक विद्वान होते थे जिन्होने स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना की थी। इनमे भी अनेक जातियाँ होती थी जिनमे खाने-पीने तथा विवाह का पारस्परिक सम्बन्ध नही होता था। जो ब्राह्मण जितना इन विषयो मे कट्टर होता था उतनी ही उसकी मान्यता होती थी। अन्त्येष्टि कर्म कराने वाले ब्राह्मण सम्मान की दृष्टि से नही देखे जाते थे। कुछ ब्राह्मण खेती तथा व्यापार के द्वारा भी अपना उदरपोषण करते थे। बीकानेर, जैसलमेर, करौली और मारवाड मे कुछ ब्राह्मण अच्छे व्यापारी होते थे। बाँसवाडा के नागर ब्राह्मणो की प्रतिष्ठित आदान-प्रदान की पीढियाँ होती थी। कभी-कभी ब्राह्मण योद्धा का भी काम करते थे। हल्दीघाटी के युद्ध तथा मेडता के युद्ध मे कई ब्राह्मण योद्धा धराशायी हुए थे। इनको राज्य के उच्च पद भी प्राप्त थे। जोधपुर राज्य और उदयपुर तथा जयपुर राज्य मे ऐसे कई ब्राह्मणो के परिवार होते थे जो राज्य की सेवा मे रहकर उच्च पदो को प्राप्त कर सके। असोपा नवलराय, प० जीवनराम, कृपाराम आदि १८वी सदी के जोधपुर राज्य के अच्छे सलाहकार थे।[२२]

वैश्यो मे भी ब्राह्मणो और राजपूतो की भाँति अनेक वर्ग मिलते है। इनका मुख्य जीवन का आधार खेती, वाणिज्य और लेन-देन था। इनमे से कई समृद्ध परिवारो ने इस समय मन्दिरो का निर्माण या जीर्णोद्धार करवाया और विशेष रूप से

---

२२ खासा परवाना वही, वि० स० १७०७, जमा खर्च वही, वि० स० १८२५-१९२५, भरतपुर, बूंदी, बाँसवाडा आदि, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ८०-८३

जैन धर्म की वडी सेवाएँ की। इनमे विशेष प्रतिभा होने से शासकीय कार्यो मे भी इनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा। क्योकि इस युग के नरेश वहुधा मुगल सेवाओ मे रहते थे इनके हाथ राज्य का शासकीय कार्य वशक्रम से वना रहा। ओसवाल जाति के वैश्य इस सम्बन्ध मे विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त भारमल, भामाशाह, ताराचन्द, मेवाड मे तथा कर्मचन्द्र वीकानेर मे, भण्डारी खीमसी जोधपुर मे शासकीय अधिकारी होने के साथ-साथ कुशल योद्धा भी थे।[२३]

इस समय के समाज के ढाँचे मे कायस्थो मे मुगल सम्पर्क से नया मोड आया। ये जाति दक्ष और चतुर होने से उस समय के मुगल शिष्टाचार और भाषा से परिचित हो गये। राजपूत नरेशो के दरबार मे इनकी पूछ होने लगी, क्योकि उन्हे मुगल ढग से हिसाब-किताव रखने, पत्रो के आदान-प्रदान की व्यवस्था देखने आदि मे अच्छा अभ्यास हो गया था। फारसी जानने के कारण मुगल दरवार और राजस्थानी राज्यो के बीच होने वाले पत्र-व्यवहार मे इनकी आवश्यकता महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। भटनागर, पचोली तथा माथुर सज्ञा के कायस्थ उस युग के कुशल प्रशासक और योद्धा थे जिनमे रत्ना पचोली, वच्छराज, हरराय, केसरीसिंह आदि के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं।[२४]

ब्राह्मण और राजपूत जाति के गुणो का सामजस्य हमे चारण जाति मे मिलता है जिसका मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। युद्ध मे भाग लेने, मदिरा का सेवन करने और शक्ति की उपासना मे यह जाति राजपूत जाति के निकट थी। पठन-पाठन और साहित्यिक रचनाओ के विचार से उसकी साम्यता ब्राह्मणो से की जा सकती है। इस जाति ने अपनी कृतियो द्वारा अपने आपको तथा जिस नरेश की वह आश्रित रही अमर कर दिया। डिंगल साहित्य और भाषा की सम्पन्नता इस जाति की महती देन है। चारण स्त्रियो ने भी बीका तथा हम्मीर जैसे महत्त्वकाक्षी नरेशो को सहायता पहुँचाकर दैवी प्रतिष्ठा को प्राप्त किया। वे आज भी पूज्य मानी जाती हैं। चारणो के युद्धोचित शौर्य की भी अनेक कथाएँ वडी श्रद्धा से पढी जाती है, जिनमे चारण खेमराज और नरू चारण की कथाएँ वडी प्रसिद्ध है जिन्होंने जगतसिंह की जान बचाकर तथा रुहिल्लखाँ के विरुद्ध लडकर अपने नामो को अमर वनाया था। राजकुमार अकवर को शम्भाजी के दरबार मे पहुँचाने का श्रेय चारण जोगीदास, मिशन भारमल, वीठू कानू आदि को है। युद्ध और सन्धि के इस युग मे चारण जाति के विद्वानो, योद्धाओ और राजकर्मचारियो की वडी सेवाएँ रही है।[२५]

---

[२३] जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ९०-९३

[२४] डा० कानूनगो, स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री, पृ० ५५-५६, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ९३-९४

[२५] मारवाड रा धणियाँ री वात, पत्र २४-२६, डा० कानूनगो, स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री, पृ० ४५, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ९४-९६

इन हिन्दू जातियो के अतिरिक्त मुसलमानो का भी इस युग मे एक स्वतन्त्र स्थान रहा है। उत्तर-पूर्वी भागो मे इनकी सख्या दक्षिण-पश्चिम के राजस्थान की अपेक्षा अधिक रही है, क्योकि उत्तर-पूर्वी भागो मे तुर्क और मुगल प्रभाव अधिक रहा। इस काल मे धर्म-परिवर्तन के द्वारा भी कई जातियाँ इस्लाम धर्म की अनुयायी बनी जिनमे मेवात के मेव, फतेहपुर, झुंझनू और शेखावाटी के मुस्लिम चौहान तथा उत्तर-पूर्वी राजस्थान के कायमखानी मुख्य हैं। इन धर्म परिवर्तित जातियो मे आज भी कई मान्यताएँ और रस्म-रिवाज हिन्दुओ की भाँति हैं। अनूपगढ, पूंगल और मोरोट के मुसलमान आज भी पीरदास कहलाते हैं। पीर शब्द इस्लाम धर्म और दास हिन्दू धर्म का सूचक है। मेवो मे राजपूतो की भाँति उसी वश मे विवाह सम्बन्ध का प्रचलन नही है। देसावती बनजारा, जिन्होने इसी काल मे इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया था, हिन्दू बनजारो के कई रस्म मानते हैं। हिन्दू जातियो के ऊँच-नीच का विचार मुसलमानो मे भी प्रवेश कर गया। काजी, सैय्यद, कायमखानी अपने को अन्य मुसलमानो से उच्च मानते हैं। इन विभिन्न वर्गों ने राजकीय सेवाओ को बडी भक्ति से किया और उसके उपलक्ष मे इन्हे जागीरो और इनामो के द्वारा सम्मानित किया गया। कुछ मुसलमानो का वर्ग दस्तकारी मे कुशल होने से विभिन्न हस्तकार्यो के सम्पादन मे लगा रहा। राजस्थान मे लुहारी, छपाई, रगाई आदि के लिए मुसलमानो की प्राधान्यता इस युग की देन है। राज्य मे तथा समाज मे इनका एक स्वतन्त्र स्थान बन गया।[२६]

मध्यकालीन युग मे, विशेष रूप से मुगल सम्पर्क काल मे शिल्पो की वृद्धि के साथ कई जातियो का बाहुल्य हो गया जिनमे छीपे, शिकलीघर, पटवा, घाची, मोची, ठठेरा, सुनार, लुहार आदि थे। ये जातियाँ इस काल से पहले भी विद्यमान थी, परन्तु आर्थिक जीवन मे नये मोड के साथ इन जातियो की बस्तियाँ स्थान-स्थान मे बढने लगी और उनके हस्त-कौशल का भी महत्त्व बढने लगा।[२७]

सामाजिक जीवन की झाँकी मे अछूत और दासो का भी अध्ययन अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। कसाई, चमार, बलाई, रेगर, भगी, भाँभी आदि जाति के लोग अपने गन्दे कार्यों के कारण अछूत समझे जाते थे। इनके साथ आम तौर से सम्पर्क नही बढाया जाता था और साथ ही साथ उनके लिए अपने काम और दायरे मे बना रहना उचित समझा जाता था। जब यह लोग अपने कामो से उदर-पोषण नही कर सकते थे तो उन्हे अपने लिए खेती करना या पत्थर ढोना वर्जित नही था।[२८]

---

२६ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० १०३-१०५

२७ कान्हडदे प्रबन्ध, अ० २, पृ० ८०-८१, स्याह हजूर, वि० स० १७७४, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ९८

२८ रसिया की छत्री का लेख, श्लो० २०४, एकलिगजी का लेख, वि० स० १५४५, श्लो० १०, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ९८-९९

इस युग मे दासो के लिए दास, दासी, गोला, गोली, चाकर आदि शब्दो का प्रयोग करते थे। भारतवर्ष मे प्राचीनकाल मे दासो के उल्लेख मिलते हैं, परन्तु तुर्क और मुगलो के प्रभाव से उच्च वर्ग की समृद्धि दासो की सख्या से नापी जाने लगी। विवाह के अवसर पर दास और दासियो को दहेज मे दिया जाता था और तब से उनका सम्बन्ध नये परिवार से हो जाता था। इन दासो को वस्तुओ की भाँति अदल-बदल किया जा सकता था या बेचा जा सकता था। लड़के और लड़कियाँ भी दास के रूप मे रखे जाते थे। युद्ध के अवसर मे भी बडी सख्या मे स्त्री-पुरुष दास बनाये जाते थे। मेधावी दासो को अधिकार के पद दिये जाते थे और चतुर तथा सुन्दर दासियाँ अन्तःपुर मे सर्वेसर्वा बन जाती थी। बहुधा दासो के बाहुल्य से नैतिक पतन की आशका अधिक बनी रहती थी।[२९]

सामाजिक स्तर के विचार से भीलो का कोई उच्च स्थान स्वीकृत नही था, परन्तु युद्ध के अवसरो मे कई राजस्थानी नरेशो को इनकी सहायता लेनी पडी थी। सुख-शान्ति के समय मे इनका बटोहियो की हिफाजत करने का उत्तरदायित्व था, अन्यथा खेती करना और जगली वस्तुओ को इकट्ठा कर कस्बो और नगरो मे बेचना उनका मुख्य उद्योग था।[३०]

वैसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक जाति खानपान तथा वैवाहिक सम्बन्ध मे शुद्धाशुद्ध का विचार रखती थी अतएव इनका पृथक रहना स्वाभाविक था। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि इनका परस्पर कोई सामाजिक सम्पर्क नहीं था। राजा महाराजा भी अपने परिवार के विवाहादि अवसरो पर विभिन्न जातियो को आमन्त्रित करते थे और उन्हे दावत देकर सम्मानित किया जाता था। होली और दिवाली के अवसर पर अनेक जाति के समुदाय नरेशो से मिलते थे और उनका योग्यता के अनुसार सम्मान किया जाता था। गाँवो मे पडोसी-पडोसी किसी भी जाति के होते हुए भी एक-दूसरे के उत्सव मे भाग लेते थे। ब्राह्मण जैसे कट्टर समुदाय भी कच्चा सामान लेकर दूसरी जाति के उत्सवो मे हाथ बटाते थे। गाँवो और कस्बो मे आर्थिक आवश्यकता के लिए विभिन्न जाति का मेल रहता था। किसान को मोची, नाई, धोबी की आवश्यकता रहती थी तो इन जातियो को किसान की। गाँवो और कस्बो मे विभिन्न जातियाँ अपने-अपने समुदाय बनाकर रहती थी और एक-दूसरे को सहयोग देती रहती थी। हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध भी इस युग मे सन्तोषजनक था। राज्य मे कई मुस्लिम दस्तकारो को ऊँचे पद प्राप्त थे और हिन्दू समाज मे मुस्लिम शिल्पियो का उचित सम्मान था।[३१]

---

२९ राजलोक रेकार्ड्स, वि० स० १७८३-१९००, बीकानेर अभिलेखागार, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ९९-१००

३० शेरिंग, हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, भा० ३, पृ० ७८-७९, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० १०१-१०३

३१ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० १०५-१०६

इन हिन्दू जातियो के अतिरिक्त मुसलमानो का भी इस युग मे एक स्वतन्त्र स्थान रहा है। उत्तर-पूर्वी भागो मे इनकी सख्या दक्षिण-पश्चिम के राजस्थान की अपेक्षा अधिक रही है, क्योकि उत्तर-पूर्वी भागो मे तुर्क और मुगल प्रभाव अधिक रहा। इस काल मे धर्म-परिवर्तन के द्वारा भी कई जातियाँ इस्लाम धर्म की अनुयायी वनी जिनमे मेवात के मेव, फतेहपुर, झुंझनू और शेखावाटी के मुस्लिम चौहान तथा उत्तर-पूर्वी राजस्थान के कायमखानी मुख्य है। इन धर्म परिवर्तित जातियो मे आज भी कई मान्यताएँ और रस्म-रिवाज हिन्दुओ की भाँति हैं। अनूपगढ, पूंगल और मोरोट के मुसलमान आज भी पीरदास कहलाते हैं। पीर शब्द इस्लाम धर्म और दास ,हिन्दू धर्म का सूचक है। मेवो मे राजपूतो की भाँति उसी वश मे विवाह सम्बन्ध का प्रचलन नही है। देसावती वनजारा, जिन्होंने इसी काल मे इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया था, हिन्दू वनजारो के कई रस्म मानते हैं। हिन्दू जातियो के ऊँच-नीच का विचार मुसलमानो मे भी प्रवेश कर गया। काजी, सैय्यद, कायमखानी अपने को अन्य मुसलमानों से उच्च मानते है। इन विभिन्न वर्गो ने राजकीय सेवाओ को वडी भक्ति से किया और उसके उपलक्ष मे इन्हे जागीरो और इनामो के द्वारा सम्मानित किया गया। कुछ मुसलमानो का वर्ग दस्तकारी मे कुशल होने से विभिन्न हस्तकार्यो के सम्पादन मे लगा रहा। राजस्थान मे लुहारी, छपाई, रगाई आदि के लिए मुसलमानो की प्राधान्यता इस युग की देन है। राज्य मे तथा समाज मे इनका एक स्वतन्त्र स्थान वन गया।[२६]

मध्यकालीन युग मे, विशेप रूप से मुगल सम्पर्क काल मे शिल्पो की वृद्धि के साथ कई जातियो का वाहुल्य हो गया जिनमे छीपे, शिकलीघर, पटवा, घाची, मोची, ठठेरा, सुनार, लुहार आदि थे। ये जातियाँ इस काल से पहले भी विद्यमान थी, परन्तु आर्थिक जीवन मे नये मोड के साथ इन जातियो की वस्तियाँ स्थान-स्थान मे वढने लगी और उनके हस्त-कौशल का भी महत्त्व वढने लगा।[२७]

सामाजिक जीवन की झाँकी मे अछूत और दासो का भी अध्ययन अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है। कसाई, चमार, वलाई, रेगर, भगी, भाँभी आदि जाति के लोग अपने गन्दे कार्यो के कारण अछूत समझे जाते थे। इनके साथ आम तौर से सम्पर्क नही वढाया जाता था और साथ ही साथ उनके लिए अपने काम और दायरे मे वना रहना उचित समझा जाता था। जव यह लोग अपने कामो से उदर-पोषण नही कर सकते थे तो उन्हे अपने लिए खेती करना या पत्थर ढोना वर्जित नही था।[२८]

---

२६ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० १०३-१०५

२७ कान्हडदे प्रवन्ध, अ० २, पृ० ८०-८१, स्याह हजूर, वि० स० १७७४, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ९८

२८ रसिया की छत्री का लेख, श्लो० २०४, एकलिंगजी का लेख, वि० स० १५४५, श्लो० १०, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ९८-९९

इस युग मे दासो के लिए दास, दासी, गोला, गोली, चाकर आदि शब्दो का प्रयोग करते थे। भारतवर्ष मे प्राचीनकाल मे दासो के उल्लेख मिलते हैं, परन्तु तुर्क और मुगलो के प्रभाव से उच्च वर्ग की समृद्धि दासो की सख्या से नापी जाने लगी। विवाह के अवसर पर दास और दासियो को दहेज मे दिया जाता था और तब से उनका सम्बन्ध नये परिवार से हो जाता था। इन दासो को वस्तुओ की भाँति अदल-बदल किया जा सकता था या बेचा जा सकता था। लडके और लडकियाँ भी दास के रूप मे रखे जाते थे। युद्ध के अवसर मे भी बडी सख्या मे स्त्री-पुरुष दास बनाये जाते थे। मेधावी दासो को अधिकार के पद दिये जाते थे और चतुर तथा सुन्दर दासियाँ अन्त-पुर मे सर्वेसर्वा बन जाती थी। बहुधा दासो के बाहुल्य से नैतिक पतन की आशका अधिक बनी रहती थी।[२९]

सामाजिक स्तर के विचार से भीलो का कोई उच्च स्थान स्वीकृत नही था, परन्तु युद्ध के अवसरो मे कई राजस्थानी नरेशो को इनकी सहायता लेनी पडी थी। सुख-शान्ति के समय मे इनका बटोहियो की हिफाजत करने का उत्तरदायित्व था, अन्यथा खेती करना और जगली वस्तुओ को इकट्ठा कर कस्बो और नगरो मे बेचना उनका मुख्य उद्योग था।[३०]

वैसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक जाति खानपान तथा वैवाहिक सम्बन्ध मे शुद्धाशुद्ध का विचार रखती थी अतएव इनका पृथक रहना स्वाभाविक था। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि इनका परस्पर कोई सामाजिक सम्पर्क नही था। राजा महाराजा भी अपने परिवार के विवाहादि अवसरो पर विभिन्न जातियो को आमन्त्रित करते थे और उन्हें दावत देकर सम्मानित किया जाता था। होली और दिवाली के अवसर पर अनेक जाति के समुदाय नरेशो से मिलते थे और उनका योग्यता के अनुसार सम्मान किया जाता था। गाँवो मे पडोसी-पडोसी किसी भी जाति के होते हुए भी एक-दूसरे के उत्सव मे भाग लेते थे। ब्राह्मण जैसे कट्टर समुदाय भी कच्चा सामान लेकर दूसरी जाति के उत्सवो मे हाथ बटाते थे। गाँवो और कस्बो मे आर्थिक आवश्यकता के लिए विभिन्न जाति का मेल रहता था। किसान को मोची, नाई, धोबी की आवश्यकता रहती थी तो इन जातियो को किसान की। गाँवो और कस्बो मे विभिन्न जातियाँ अपने-अपने समुदाय बनाकर रहती थी और एक-दूसरे को सहयोग देती रहती थी। हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध भी इस युग मे सन्तोपजनक था। राज्य मे कई मुस्लिम दस्तकारो को ऊँचे पद प्राप्त थे और हिन्दू समाज मे मुस्लिम शिल्पियो का उचित सम्मान था।[३१]

---

२९ राजलोक रेकार्ड्स, वि० स० १७८३-१९००, बीकानेर अभिलेखागार, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ९९-१००

३० शेरिंग, हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, भा० ३, पृ० ७८-७९, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० १०१-१०३

३१ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० १०५-१०६

रस्म-रिवाज—हिन्दू समाज मे सस्कारो का जीवन-क्रम से घना सम्बन्ध रहा है। वच्चे के गर्भाधान के लेकर मृत्युपर्यन्त जीवन सस्कारो की श्रेणी से आवद्ध रहता था। जातकर्म, चूडाकर्म, विवाह, उपनय, अन्त्येष्टि आदि प्रमुख सस्कार थे। इनकी मान्यता ब्राह्मणो और क्षत्रियो मे अधिक रूप से देखी गयी है। विवाह भी जीवन का आवश्यक और पुनीत सस्कार रहा है। इसके दस्तूर एक जाति से दूसरी जाति मे भिन्न रूप के भी देखे गये हैं। विवाह के समय दहेज देना एक अभिशाप परन्तु अनिवार्य रूप से प्रचलित रहा है। अन्त्येष्टि क्रिया पर अपव्यय प्रतिष्ठित परिवारो मे खूब देखा गया है। इन कुप्रथाओ के विरुद्ध कोई सुधारात्मक प्रयत्न अधिकाश मे नही देखे गये। सामाजिक सुधार नाम के कुछ प्रयत्न सवाई जयसिंह के समय मे मिलते हैं या दहेज या नेग देने के सम्वन्ध मे रोक लगाने का उल्लेख पीछे से जाकर राजपूत-हितकारिणी सभा द्वारा किये गये थे। १८३६ ई० मे महाराजा रत्नसिंह ने राजपूत परिवारो मे वच्चियो को मार देने की प्रथा पर प्रतिवन्ध लगाने के सम्वन्ध मे अपने सामन्तो को गया मे शपथ दिलायी थी।[३२]

स्त्रियों की दशा—बहु-विवाह इस युग की एक महान विशेषता है। राजपूतो और वैश्यो मे इसका प्रचलन वहुत देखा गया है। अगर हम उस समय के कई नरेशो की पत्नियो का अनुमान लगायें तो इनका औसत नौ से किसी कदर कम नही रहता। चूंकि युद्ध के अवसर पर जीवन का कोई ठिकाना नही रहता था, प्रत्येक योद्धा दाम्पत्य जीवन मे अनेक पत्नियो का होना आवश्यक समझता था। परन्तु बहुधा बहु-पत्नियो का होना दोषपूर्ण था। गार्हस्थ्य जीवन कभी-कभी क्लेश तथा खतरे से खाली नहीं होता था। जायदाद तथा अधिकार के झगडो से पारिवारिक जीवन एक झझट हो जाता था। बहुपत्नी प्रथा से विधवाओ का वाहुल्य होना भी स्वाभाविक था। पति के मरने के वाद इनको परिवार मे भार रूप माना जाता था। सम्पत्ति मे उनका कोई अधिकार न होने से उनको जीवन के कटु अनुभवो का सामना करना पडता था। उत्सव के अवसरो पर या प्रयाण काल मे विधवा का मिलना अच्छा नही समझा जाता था। महाराणा रायमल तथा जयपुर के महाराजाओ ने विधवा के अधिकार और पालन पोषण सम्वन्धी समस्या को हल करने का प्रयत्न किया। सवाई जयसिंह ने तो उनके पुनर्विवाह करने के सम्वन्ध मे नियम बनाने का प्रयत्न किया। कोटा और जयपुर के अभिलेखो मे विधवाओ को सहायतार्थ शुल्क देने के उल्लेख मिलते हैं।[३३]

उस समय का स्त्री समाज सती प्रथा से दूषित था। इस प्रथा के अनुसार पुरुष के मरने पर उसकी स्त्री या स्त्रियाँ सती होती थी। जव इसका दौर कम था तो

---

३२ दस्ती रेकार्ड्स, १७८३, हकीकत वही, १७८३, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० १११-११८

३३ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ११८-१२०

यह एक धार्मिक सस्था के रूप मे माना जाता था। परन्तु आगे चलकर ज्यो बहु-विवाह प्रथा ने बल पकडा तो सती होना भी एक आवश्यक घटना हो गयी। कभी कभी तो मरने वाले पुरुष के लिए उसकी प्रतिष्ठा उसके शव के साथ जलने वाली पत्नियो से नापी जाती थी। बलात्कार से अबोध स्त्रियो को सती होने के लिए बाध्य किया जाता था। सती होने के समय रानियाँ घोडे पर बैठ कर सती होने के लिए प्रस्थान करती थी। श्मशान मे पहुँचकर गाजे-बाजे की घोर ध्वनि के साथ वे चित्ता मे प्रवेश कर भस्म हो जाती थी। प्रत्येक राजा के साथ इस प्रकार अनेक पत्नियाँ, उपपत्नियाँ, खवासनें और दासियाँ सती होती थी। इसका कोई भी समर्थन किसी विशेष समय या परिस्थिति मे रहा हो, परन्तु इस प्रथा मे बलात्कार और सामाजिक बन्धन बडे घातक थे, जिससे मध्ययुग मे असख्य अबोध अबलाओ को अपने जीवन से हाथ धोने पडे। नैतिक और न्याय के आधार पर हम इस प्रथा का समर्थन नही करते।[३४]

आमोद-प्रमोद—सामाजिक जीवन मे आमोद-प्रमोद का भी विशेष स्थान था। चौपड, शतरज, गजीफा आदि खेल घरो और महलो मे रहते हुए भी खेले जाते थे। इन खेलो मे धन, स्त्री, घोडा आदि को दाँव पर लगाया जाता था। राजपरिवार मे, विशेष रूप से अन्त पुर मे इन खेलो का विशेष प्रचलन था। कुश्ती, पट्टेबाजी, तैरना, शिकार खेलना, घुडदौड, रथ-दौड, हिंसक पशुओ की लडाइयाँ आदि शौर्य प्रदर्शन के खेल थे जिनका आयोजन राज्य द्वारा होता था। इनमे से पट्टेबाजी, पशुओ की लडाई और तैरना सार्वजनिक रूप से नगरो मे आयोजित होते थे, जिनमे भाग लेकर या देखकर बालक, वृद्ध, स्त्रियाँ आदि आनन्द का अनुभव करते थे। इनमे से कई खेल मुगल दरबार से चले थे जिनको समाज मे स्थान मिल गया था। पतगबाजी, कबूतर बाजी, मीडो और मुर्गो की लडाई सार्वजनिक आमोद-प्रमोद के साधन बन गये थे, जो मुगलो से लिये गये थे। नाचना, गाना, वाद्य-यन्त्रो का बजाना, झूलना ग्रामीण और नागरिक प्रजा मे अधिक प्रचलित था। भाँड और नटो के खेल, रास, गवरी का आयोजन आदि समाज मे मनोरजन के साधन थे। त्यौहारो मे, गनगौर, तीज, होली, दीपावली, नवरात्रि, दशहरा तथा कई धार्मिक पर्वो को बडी धूमधाम से मनाया जाता था। इन त्यौहारो पर नरेशो के दरबार मे इनाम और इनायतें हुआ करती थी। इन उत्सवो पर राजा और प्रजा के सम्पर्क के अवसर रहते थे। ये त्यौहार और आमोद-प्रमोद जातियो तथा कई स्तर के व्यक्तियो मे सम्बन्ध स्थापन के माध्यम बनते थे। अजैन त्यौहारो मे जैनो का सम्मिलित होना तथा उर्स के अवसर पर हिन्दुओ का सहयोग उस समय के समन्वय का द्योतक है। यह साधन अपने ढग मे जनजीवन को एक सूत्र मे बाँधकर सास्कृतिक जीवन मे रोचकता का सचार करते थे। इन

---

[३४] बर्नियर, पृ० ४१ और ३०६, टेवर्नियर, पृ० १६६, अजितोदय, सर्ग ४, पत्र २१-२४, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० १२६-१२६

त्यौहारो और आमोद-प्रमोद की विविधता धार्मिक विचारधारा मे भी बाधा उपस्थित नही करती थी, बल्कि उसमे समन्वय की भावना को पुष्ट बनाती थी।[३५]

समाज और रहन-सहन

वस्त्राभूषण और शृगार—पुरुष—सामाजिक जीवन की जानकारी मे उस युग के पुरुषो और स्त्रियो के रहन-सहन का एक मुख्य स्थान है। रहन-सहन मे वस्त्राभूषण मनुष्य के स्तर और विचार के द्योतक है। उस समय के बने हुए कई मन्दिरो की तक्षण कला मे या इधर-उधर से मिलने वाले तक्षण के नमूनो से या चित्रो से तथा कई साहित्यिक ग्रन्थो से वेशभूषा का परिज्ञान होता है। साधारण स्तर के पुरुष धोती और उपवस्त्र रखते थे। गरीब लोग ऊँची और छोटी धोती और एक छोटे फेंटे मे काम चलाते थे। कभी-कभी सर्दी से बचने के लिए 'अगरक्षी' और दुपट्टा (पछेवडा) काम मे लाते थे। राजा, महाराजा बडी धोती, लम्बी अगरक्षी तथा रग-बिरगी पगडियाँ पहनते थे। अगरक्षी कई रगो की और सोने या चाँदी के तारो से कामदार होती थी। पगडी भी सोने या चाँदी के तारो से किनारीदार या बेल-बूटेदार होती थी, जिसे 'मदील' कहते थे। मुगलो के सम्पर्क से उच्च स्तर के व्यक्तियो मे जामा, जाँघिया, डगला, पेशवाज, गावा आदि का प्रचलन हुआ। सेठ-साहूकार लम्बी अगरक्षी और दुपट्टा, शाल या पामडी को उपयोग मे लाते थे। पगडियो को बाँधने का ढँग एक रियासत से दूसरी रियासत मे दूसरे ढँग का होता था। कही उसे उदयशाही, कही अमरशाही, कही खजरदार, खगेदार, शिवशाही या शाहजहानी पगडी कहते थे। ऋतु के अनुकूल पगडियो का रग होता था जिसमे लहरदार पगडी या मोठडा बडे चाव से पहना जाता था। दाढी-मूँछ रखना पुरुष शृगार था। पुरुष जूते पहनते थे।[३६]

पहनाव मे भी विभिन्न पेशे या स्तर के लोगो मे भिन्नता दिखायी देती थी। सैनिक आरम्भ मे बहुत कम कपडे पहनते थे, परन्तु मुगल सम्पर्क से वे पाजामा, कमरबन्ध, मोटा साफा या पगडी और लोह के कवच आदि पहनने लग गये। ब्राह्मणो और दस्तकारो का पहनाव सादा बना रहा, परन्तु समृद्ध व्यक्ति बूटेदार पगडी और दुपट्टा अपने शान का साधन मानते थे। भील लँगोटी या अँगोछा और छोटा फेंटा लपेटकर काम चला लेते थे।[३७] कुलीन पुरुष के वेश मे तो कुछ परिवर्तन मुगलो

३५ अभयविलास, पत्र ३०, फँ की यात्रा, पृ० २४१, महावीर रास, वि० स० १६०६, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० १३०-१४२

३६ कल्पसूत्र, जरनल ऑफ इण्डियन म्यूजियम, भा० १२, पृ० ६६-७?, जैतसी रो छन्द, सख्या, २७ और ३६७, एकलिंग महात्म्य, श्लो० २२, कानून-ए-हुमायूँ, पत्र, ७०-७७, आइन-ए-अकबरी, भा० १, पृ० ६४-६६, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १४३-४४

३७ आर्शरामायण, पत्र २८-२६, पचतन्त्र चित्रित, पत्र १, केप्टिन मण्डी, दि जरनल ऑफ ए टूर इन इण्डिया, भा० १, पृ० ६५-६६, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १४७-१५०

के सहयोग से अवश्य आया, क्योंकि राजा, महाराजा, सामन्त अधिकारी वर्ग तथा सेठ-साहूकारो को मुगल दरबार या छावनियो मे, वर्षो मुगल राजकुमारो, सिपह-सालारो, सैनिको आदि के साथ रहने का अवसर प्राप्त होता था। साधारण व्यक्तियो का ऐसा सम्पर्क न था अतएव उसमे परिवर्तन बहुत कम हो सका था।

पुरुषो मे स्त्रियो की भाँति आभूषणो को धारण करने की परम्परा थी। उच्च वर्ग के लोग कानो मे कुण्डल, हाथो में कडे, भुजबन्ध, अँगूठी, गले में हार और कमर में करधनी पहनते थे। निम्न श्रेणी के लोग भी उत्सव आदि अवसरो पर चाँदी या पीतल के आभूषण पहनते थे। राजाओ और सामन्तो मे सोने, रत्न और मोतियो के आभूषणो का प्रयोग होता था।[३८]

वस्त्राभूषण और शृगार—नारियाँ—विजयस्तम्भ, कुम्भश्याम मन्दिर, जगदीश मन्दिर आदि की मूर्तियाँ स्त्री-वेशभूषा के अध्ययन के, इस युग के अच्छे माध्यम है। प्रारम्भकालीन मूर्तियो को देखने से प्रतीत होता है कि एक ही लम्बी साडी शरीर के अधोभाग और ऊपर के अग को ढकने के लिए पर्याप्त होती थी। उच्च वर्ग की स्त्रियाँ घेरदार अधोवस्त्र पहनती थीं और लम्बी आस्तीन वाली, उदर तक ढकने वाली, अगरखी पहनती थी। १७वी शताब्दी मे अधोवस्त्र कम घेर का हो गया जिसे 'लँहगा' कहते थे। कचुकी का भी प्रचलन उस समय हो गया जिसकी आस्तीनें छोटी होती थी और जो सिर्फ स्तन ढकने का काम करती थी। वस्त्र साधारणत महँगे दाम के होते थे, जिनको विभिन्न स्थिति के वर्ग अपनी आय के अनुसार काम मे लाते थे। साडियाँ आगे चलकर मुगल प्रथा के अनुसार छोटी और बारीक होने लगी। निम्न श्रेणी की स्त्रियाँ ऊँचा अधोवस्त्र और कम लम्बाई की मोटी साडी का प्रयोग करती थी। परन्तु हर वर्ग की महिलाएँ साडी से चेहरे को ढकने का प्रयोग अवश्य करती थी। दुपट्टे का प्रयोग स्त्रियाँ भी करती थी जिन पर किनारी, बेल-बूटे आदि बने रहते थे। उत्सवो पर समृद्ध परिवार की स्त्रियाँ चमकीली किनारी वाली साडियो, लँहगो, कुडतियो का प्रयोग करती थी। सम्पन्न परिवार की स्त्रियाँ मखमल और कामदार जूतियाँ भी पहनती थी।[३९]

नारियो के आभूषणो का वर्णन साहित्य-ग्रन्थो और कवि-कृतियो मे खूब मिलता है, जिसका समर्थन मूर्तिकला भी करती है। स्त्रियो मे आभूषण पहनने का इतना चाव था कि उनका कोई अग आभूषण से खाली नही रहता था। कुण्डल, हार,

---

३८ एकलिंगमहात्म्य, पत्र २१, सूर्यप्रकाश, पत्र ३२, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १५४-१५५

३९ रागिनी चित्रावली कोटा, जोधपुर आदि, १७वी शताब्दी, आर्शगमायण, पत्र २५-२६, बाकीदास ख्यात, भा० २, पत्र ६६, हकीकत वही, न० ३, वि० स० १८३५, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १५२-१५४

अगद, गजरे, पूछें, नथ, तुलसी, पाएज, नूपुर, अणवट, कर्धनी, मुद्रिका, चूडी, नोगरी, हथपान, पगपान, झेला, झुमका, बोर, कर्णफूल आदि अनेक आकार और प्रकार के आभूपण रहते थे जो सोने-चाँदी, रत्न आदि के होते थे। जडाऊ और मीनेकारी के जेवरो का भी बडा प्रचलन था। नाक की लोग और फूल-पत्ती के जेवरो का प्रचलन मुगलो के सम्पर्क से समृद्ध परिवारो मे वढ गया। निम्न श्रेणी की स्त्रियाँ गुंजो के या पीतल और काँसे के आभूपणो को पहनना अपने सौभाग्य का लक्षण समझती थीं। हाथो मे और पैरो मे मेहँदी लगाना शुभ लक्षण का शृगार समझा जाता था। दाँतो मे स्वर्ण की मेखें और उन पर काला एक प्रकार का रग सुन्दरता बढानें का साधन था। आँखो मे अजन और भाल मे विन्दु लगाना शुभ और सौन्दर्यवर्द्धक था। उवटन, तेल, फुलेल, पुष्प इत्यादि का प्रयोग स्वास्थ्य और मनोहरता का परिवर्द्धन करते थे। वालो को कई तरह से सजाना उस समय मे प्रचलित था।[४०]

आहार और पेय—राजस्थान के निवासी शाकाहारी और माँसाहारी थे, परन्तु हिन्दू विशेपत शाकाहारी होते थे। गरीव स्थिति के लोगो और काश्तकारो के मुख्य भोजन मे 'राव', 'सोगरो', 'रोटो', 'घाट' आदि मुख्य थे। मीठे पदार्थों मे गुड और गुड के वने पदार्थों का प्रयोग उत्सवो पर किया जाता था। वाजरा, मोठ, मक्की, ज्वार तथा जौ और उडद की दाल भोजन के मुख्य खाद्यान्न थे। भोजन के साथ मट्ठे का प्रयोग अधिक किया जाता था। सादा भोजन इस युग के भोजन की विशेपना थी। कद्दू की सब्जी, दाल और 'लापसी' दावत मे वनाये जाते थे। मजदूर पेशा और राजपूत वर्ग मे शराव और अफीम का प्रयोग वहुत होता था। मध्यमवर्ग चाँवल, गेहूँ, घी, गुड आदि को काम मे लाते थे। दावतो मे विभिन्न प्रकार के पक्वान्न और कई व्यजन वनाये जाते थे। समृद्ध वर्ग के भोजन मे कई प्रकार की तरकारियाँ, अचार, मुरब्वा और पक्वान्न का वाहुल्य होता था। राजा महाराजा भोजन को चाँदी के थाल और कटोरियो मे रखकर खाते थे। भोजन को एक चौखटे पर रखा जाता था और भोजन करने वाले एक पक्ति मे गद्दियो पर वैठते थे या उनके वैठने का अलग-अलग भी प्रवन्ध रहता था। विवाहादि अवसर पर कई मिठाइयो का तथा व्यजनो का होना प्रतिष्ठा का विषय माना जाता था। ऊँचे दर्जे की शराव और अफीम का 'कसुम्वा' आमतौर से इस वर्ग मे प्रचलित था। यदि पुरोहित वर्ग इन पेय पदार्थों को, विशेप रूप से शराव को, काम मे लाता था, तो वह निन्दनीय समझा जाता था। मादक पदार्थों मे, इस वर्ग के लिए तम्वाकू का खाना और भग का पीना

---

४० विजयस्तम्भ चौथी मजिल, ढोला मारू चित्रित, पुस्तक प्रकाश, खेडमूलटक, पत्र ३७, दस्तूर कौमवार, वि० स० १७५८, भण्डार न० ४, वस्ता न० २६, वि० स० १७८७, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १५५-१६०

वर्जित नही था। मुगलो के सम्पर्क से भुनी हुई वस्तुओ का प्रचार समृद्ध परिवारो मे वढ गया। पुलाव, मुरब्बा, कचोरी, खुरासानी खीचडी, कवूली आदि भोजन के नये प्रकार थे जिन्हे मुगलो की भाँति राजाओ तथा सम्पन्न व्यक्तियो ने अपना लिया था।[४१]

[४१] वातसग्रह, पत्र ३४५, वर्नियर्स ट्रेवल्स, पृ० ३५४, भण्डार न० २, वस्ता न० १०, वि० स० १७४५, राजविनोद, पत्र १४-३०, खेडमूलटक, पत्र ५४, सूरज-प्रकाश, पत्र ५४, गुणभापा, पत्र १२, राजप्रशस्ति, सर्ग ३, श्लो० १७, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १५८-१६५

अध्याय २५

राजस्थान और मध्ययुगीन आर्थिक व्यवस्था

कृषि—आर्थिक जीवन का प्रमुख आधार भूमि थी जिसके द्वारा राजस्थान की अधिकाश जनता जीवन का निर्वाह करती थी। राजा भूमि का मालिक था इसीलिए वह भूमिपति कहलाता था। उसे भूमि को देना और जब्त करने का अधिकार था। साधारण स्थिति मे जब तक लगान बराबर दिया जाता था तो पीढी-दर-पीढी वही भूमि मूल पुरुष के वशजो के अधिकार मे चली आती थी और उन्हे बहुधा अपनी भूमि से वचित नही किया जाता था। किसान वास्तव मे खेती की भूमि, जो वशानुक्रम से चली आती थी, उसे अपनी निजी समझते थे। राजस्थान मे भूमि का, स्वामित्व के विचार से, चार वर्गो मे विभाजन किया जा सकता है जैसे खालसा, जागीर, भोम और शासन। खालसा भूमि राज्य के सीधे स्वामित्व मे रहती थी जिसमे लगान लगाने, वसूली करने और लगान मे छूट करने का काम सीधा राज्य के अधिकारी करते थे। जागीर वह भूमि थी जिसे राज्य की ओर से सैनिक सेवा या अन्य सेवाओ के उपलक्ष मे सामन्तो या कर्मचारियो को दी जाती थी। ऐसी भूमि को बदलना या बेचना बिना राज्य की आज्ञा के सम्भव नही था। जागीरदारो को सतर्क बनाये रखने के लिए उनकी जागीरें अदल-बदल की जाती थी और उन्हे कम या ज्यादा भी किया जा सकता था। भोम ऐसी जागीर थी जिस पर कोई लगान नही था, परन्तु भोमियो से सरकारी सहायता के लिए सेवाएँ अवश्य ली जाती थी। शासन भूमि पुण्यार्थ होती थी उसे न तो अपहरण किया जाता था और न किसी को उसे बेचने का अधिकार था। कुछ भूमि गाँवो के पशुओ के लिए चरने के लिए खाली रखी जाती था। ऐसी भूमि को 'चर्णोट' कहते हैं।[१]

जिस प्रकार भूमि का स्वामित्व के विचार से वर्गीकरण था उसी प्रकार खेती की क्षमता की दृष्टि से भूमि का भी विभाजन किया गया था। प्राचीनकाल मे एक चमडे के पात्र से सीची जाने वाली भूमि को 'कोशवाहक' कहते थे। तालाब की भूमि को 'तलाई', नदी के किनारे वाली भूमि 'कच्छ' और कुएँ या गड्ढे के पास वाली

---

१ भण्डार न० २७, बस्ता न० १७, हकीकत बही, वि० स० १८२०-१८४०, हासिल बही, बीकानेर, वि० स० १८०६-१८२५, डा० जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल, राजस्थान, पृ० २८८-२६१

'डीमड़' और गाँव के पास वाली जमीन को 'गोरयो' कहते थे। १७वी और १८वी सदी मे उपज के अनुसार उनका वर्गीकरण किया गया जैसे सिचाई की सुविधा वाली जमीन पीवल, पानी से भरी हुई 'गलत हांस', जोती जाने वाली 'हकत-बहत', काली उपजाऊ जमीन, 'माल', पहाडी जमीन, 'मगरो', ककरवाली जगल की जमीन 'कांकड' आदि। इन सभी प्रकार की भूमि को 'क्यारी' और 'बटका' या 'कटका' मे बाँटा जाता था और उन्हे कुएँ, नदी, तालाब, नहर आदि से सीचा जाता था। रहट या चरस या चमडे की टोकरियो से सिन्चाई की जाती थी। कही-कही नदी से ऊपर गड्ढे मे पानी लेकर सिंचाई होती थी और कही तालाबो से नहर ले जाकर भूमि को सीचा जाता था। बाबर ने भी भारतीय सिंचाई के ढग पर काफी प्रकाश डाला है।[२]

भूमि की पैदावारो मे मुख्य ज्वार, बाजरा मोठ, मक्की, चावल, गेहूँ, जौ, गन्ना, सब्जी, फल-फूल आदि थे। सर्दी मे पैदा होने वाली उपज को 'सियालू' और गर्मी मे पैदा होने वाली को 'उनालू' कहते थे। राजस्थान मे विभिन्न प्रकार की भूमि होने से और सिंचाई के साधनो मे भेद होने से अलग-अलग भागो मे अलग-अलग प्रकार की उपज होती थी। जैसे रेगिस्तानी भाग मे ज्वार, बाजरा अधिक होता था। दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान मे गेहूँ और चावल प्रधान रूप से पैदा होते थे। सिंचाई के साधन वाले भागो मे गेहूँ, चना और दालें होती थी। प्रतापगढ और माल की भूमि मे कपास, गन्ना और अफीम पैदा होती थी। कस्बो मे सब्जी और फल-फूल बोये जाते थे।[३]

कर—राज्य और खेती करने वालो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का 'कर' एक माध्यम था। साधारणत उपज का १/३ या १/४ भाग लगान के रूप मे लिया जाता था। यदि अनाज या उपज मे वसूली होती थी तो 'लाटा', 'कूंता' आदि से उपज का भाग निर्धारित्त किया जाता था। 'लाटा' मे उपज के ढेर लगाये जाते थे और 'कूते' मे शिष्ट ग्रामीणो के अनुमान से उपज निर्धारित की जाती थी। किसान को उपज के भाग के सिवाय अन्य कर भी देने पडते थे, जो कई बराडो के रूप मे लिये जाते थे। 'राहदारी', 'बाब', पेशकश, जकात, गनीम बराड आदि कर मुगलो के सम्पर्क से राजस्थान मे चालू हुए थे। यदि जमाना अच्छा होता था तो राजस्थान के कुछ भाग का उपज के विचार से आर्थिक जीवन सुखमय था। उद्योग और अन्य व्यवसायो के लिए उपज का इधर-उधर न जाने से जहाँ जो माल पैदा होता था वह वही रहता था। इसके कई दोष थे, परन्तु उत्पादको की हालत कम से कम उस क्षेत्र मे सन्तोष-जनक रहती थी। परन्तु साहूकारो के खरीद-फरोख्त से, करो की अधिकता से तथा

---

२ बाबरनामा, पत्र २०, बैवरिज, भा० २, पृ० ४८७, राजप्रशस्ति, सर्ग ११, श्लो० ३०, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २६१-२६४

३ हय वही न० १, अकबरनामा पृ० १८२, बैवरिज, पृ० ३७५, ब्रिग्ज, फरिश्ता, भा० २ और भा० ४, पृ० १२३ और ५५१, नैणसी री ख्यात, पत्र १२ और ६१, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० २६५-२६७

कई कृषको के पास अपनी भूमि न होने से या राज्य द्वारा विशेष अवसरो पर कर वृद्धि से खेती से पोषण करने वाले व्यक्तियो को हानि भी उठानी पडती थी। दुष्काल, जो राजस्थान मे तीसरे चौथे वर्ष होता ही था, कृषको के जीवन को सकटमय बना देना[४] था। कृषकों के जीवन का उल्लेख करते हुए मैंने अपनी पुस्तक 'सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान' मे लिखा है कि राजस्थान मे खेती से, परिश्रम की तुलना मे, लाभ कम होता था। किसान को थोडी उपज मे सन्तोष करना होता था। जब कृषक का सम्पूर्ण परिवार श्रम करता था तब कही उसकी आवश्यकता की पूर्ति हो पाती थी। परन्तु जो भी वह पैदा करता था या बचाने पाता था वह युद्ध, बीमारी या कर द्वारा नष्ट हो जाता था। ऐसी स्थिति मे मध्ययुगीन राजस्थान के कृषक की हालत सन्तोषजनक नही कही जा सकती।[५]

उद्योग—ज्यो गाँव कच्चे माल का उत्पादन करते थे त्यो कस्बो और शहरो मे उसकी सहायता से कई उद्योग पनपते थे। सतत् युद्ध की स्थिति से, कस्बो मे बस्तियाँ बढने से और मुगलो से सम्पर्क स्थापित होने से राज्यो मे औद्योगिक कार्य मे विकास होने लगा। राजपरिवार, अधिकारी वर्ग और सैनिक विभाग की आवश्यकता समयानुकूल बढने लगी, क्योकि रहन-सहन, शासन और युद्ध के तरीको मे एक नया मोड आ गया था। राजस्थानी नरेशो को नयी प्रगति को बढावा देना था। व्यापारी वर्ग भी इस परिवर्तन से अवगत था। इन सभी कारणो को लेकर नये उद्योग पनपने लगे। पुरानो मे एक नया परिवर्तन आया और दूर-दूर से दस्तकार एक स्थान से दूसरे स्थान मे आकर बसने लगे और राजस्थान का औद्योगिक जीवन नयी करवट लेने लगा। जहाँ-जहाँ आसपास मे रुई की उपज अधिक थी और सूत के लिए आबोहवा उपयुक्त थी वहाँ कपडे बुनने, छापने, रँगने आदि के उद्योग प्रगति करने लगे। देलवाडा, पाली, सीरोज, अजमेर आदि स्थान सूत कातने और कपडे बुनने के बडे केन्द्र बन गये।

---

४ भण्डार न० १, बस्ता न० ४, वि० स० १७३९ आदि, रोजनामचा जयपुर, १७५०-१८००, भरतू वही, वि० स० १७५०, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० २९७-३००

५ "From the foregoing account it appears that agriculture in Rajasthan possibly gave a lower return The cultivators had to remain satisfied with a meagre reward for hard work Even though the whole household of the agriculturists, including wives and children, worked, yet from their labours emerged incomes which left over little when the necessaries were to be supplied Moreover, whatever scanty income and the slowly accumulated capital the farmers had was wiped out by war, famine, and pestilence Heavy taxes, feudal levies and outburst of robbery also told heavily on farmer s life In brief, it can conveniently be asserted that the cultivators' lot was not certainly enviable "
—G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 301

सागानेर, आकोला, भरतपुर, उदयपुर, चित्तौड और कोटा मे रँगाई, बँधाई और छपाई का काम अच्छा होने लगा। बगरू की छपाई विशिष्ट ढग की होती थी। इन स्थानो मे स्थानीय दस्तकारो के साथ दूसरे आकर बसने लगे। अच्छे कपडो पर सोने और चाँदी व रेशम के बेल-बूटो का काम होने लगा, जिससे इन कामो के करने वाले तारकश और पटवो की इज्जत होने लगी। ये लोग, जहाँ उनकी माँग अधिक थी, एक जगह से दूसरी जगह जाकर श्रम करने लगे। आज के कई दस्तकारो के वशक्रम को यदि लिया जाय तो कई इन प्राचीन दस्तकारो की सन्तान के साथ बाहरी प्रदेश से आने वाले मिलेंगे।[६]

इस काल मे धातु कार्य ने भी वडी उन्नति की थी। धातु की जिन मूर्तियो के बनाने मे यहाँ के कलाकार बडे निपुण थे। कई धातुओ को मिलाकर त्रिशूल बनाना या मूर्ति बनाना भी उस समय प्रचलित था। इन पर कई जगह दस्तकारो के नाम भी उत्कीर्ण मिलते हैं जिनमें सामल, मनसुख, धन्ना, सादू आदि मुख्य हैं। शस्त्रो के बनाने के लिए लुहार और बन्दूक बनाने वालो का हर स्थान मे सम्मान था। शिकलीधर, म्यानधर, नालबन्द आदि राज्यो के केन्द्रो मे रहकर अपना उद्योग करते थे। राज्य के भी अपने कारखाने होते थे जिनमे राजकीय आवश्यकता की पूर्ति करने का प्रयत्न किया जाता था। जयपुर में राजकीय कारखानो मे अलीनिजाम हैदराबादी, अल्लाबख्श, इलाहीबख्श, कालू और मोमचन्द कुशल कारीगर थे। कोटा, जोधपुर, मेडता, गागरौन आदि स्थानो मे तोपें भी ढाली जाती थी, जिनका प्रयोग राज्यो की सुरक्षा के लिए होता था। यहाँ चाँदी और सोने का काम या जडाई का काम भी अच्छा होता था। बैठकें, कुर्सियाँ, पलग, पालकियाँ, घोडे की काठियाँ और हाथी के हौदे और चाँदी या सोने के किवाड बनते थे जिसकी प्रशसा अबुलफजल तथा जहाँगीर ने स्वय की है। जयपुर, कोटा, नाथद्वारा आदि स्थानो मे जडाई और मीनेकारी का काम उत्कृष्ट होता था। कोटा के कलाकारो मे सुखपाल, चाँद, लालू, चन्ना आदि के नाम उल्लेखनीय है जो इन कार्यो में दक्षता रखते थे। जोधपुर के कुशालचन्द का नाम भी सोने-चाँदी के कारीगरो मे लिया जाता है जो १८वी शताब्दी मे हुआ था। बर्तन बनाने में सवाई माधोपुर और भीलवाडा के ठठेरा अच्छे माने जाते थे। लोहे, सीसे और ताँबे की खानो के होने से धातु कार्य मे राजस्थान ने वडी उन्नति कर ली थी।[७]

---

६ हकीकत वही, वि० स० १८२२, दस्तूर कौमवार, भा० ३, पृ० ४०६, टेवर्नियर, अध्याय ४, भा० २, पृ० ३३, स्टोरिया, भा० २, पृ० ४२५, ४२६, ४३२, उदयपुर गजल, ३७-३६, जैसलमेर गजल, ७४-१०२, डा० जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३०२-३०३

७ आइन, भा० २, पृ० १६१-६२, तुजुक, पृ० ३७७-३७६, मआसिर-ए-आलमगीरी, इ० डा० भा० ३, पृ० १८६, भा० ७, पृ० १८७, दस्तूर कौमवार, भा० ३, पत्र ३१५, ३६५, ३६६, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३०३-३०६

इस युग मे लकडी के काम मे राजस्थान ने अच्छी उन्नति कर ली थी। लकडी के खिलौने उदयपुर मे बनते थे, दानेदार रगाई का काम जहाजपुर और सवाई माधोपुर मे, लकडी पर खुदाई का काम डूंगरपुर और बाँसवाडा मे अच्छा होता था। आज भी इन भागो मे ये काम अच्छे ढग से किये जाते हैं।[८]

लकडी के काम की भाँति पत्थर का काम राजस्थान मे प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। नगरी का स्तम्भ, मण्डोर के द्वार के अवशेष आदि प्राचीन शिल्प-कला के अच्छे नमूने हैं। आम्बेर, उदयपुर, बाडोली, आबू, आम्बानेरी, अर्थूणा आदि स्थानो के मन्दिर या उनके अवशेष इस कला की उत्कृष्टता के साक्षी हैं। अमीर खुसरो ने झाइन के पत्थर के काम की बडी प्रशसा की है। कुम्भाकालीन राणकपुर का मन्दिर, कीर्तिस्तम्भ, कुम्भलगढ और चित्तौडगढ उस समय के उच्च स्तर के स्थापत्य की दुहाई दे रहे हैं। मेवाड का मण्डन इस समय का शिल्पशास्त्र का अच्छा विद्वान था जिसने स्थापत्य के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष को अपनी मेधा से मूर्तिमान बनाया। अचलगढ लेख से देवा, हला, गदा, हापा, नाला, हाना, काला आदि कलाकारो के नाम मालूम होते हैं जिन्होंने शिल्पशास्त्र के अनुकूल कलाकृतियो का निर्माण किया। मालदेव के आश्रित शिल्पियो मे केशव और कर्मचन्द के नाम हमे उपलब्ध होते है जो अपने काम मे दक्ष थे। जैसलमेर के स्थापत्य के नमूने जिनकी एक मान्यता है, धन्ना, सेडा, शिवदास, जैसा आदि कलाकारो की देन हैं। मुकुन्द, कल्याण, सुखदेव, केशव, सुन्दर, लाला आदि के नाम राजसमुद्र की तक्षणकला और निर्माण-कला के साथ जुडा हुआ है।[९]

राजस्थान अपने पशु-धन के लिए बडा प्रसिद्ध रहा है, इसलिए पशुओ के चमडे से घी, तेल आदि द्रव पदार्थों के रखने के 'सीदडे' (भाण्ड), ढाल, तलवार की म्यान, घोडे का साज, काठी आदि यहाँ अच्छे बनते रहे। जयपुर, उदयपुर, जोधपुर मे, विशेष रूप से, चमडे के सामान बनाने की कला खूब उन्नति करती रही। इन स्थानो के बने हुए जूते आज भी अपनी विशेषता लिए हुए है।[९अ]

कचर-रेवासर (शेखावाटी), लूणकरनसर, छापुर (बीकानेर) और कानोद (जैसलमेर) मे घटिया जाति का नमक और साँभर, डीडवाना, फलोदी, पचभद्रा और नाँवा मे बढिया किस्म का नमक का उत्पादन होता रहा है। इसके व्यवसाय मे लगे

८ भण्डार न० १, दस्ता न० २८, इम्पीरियल गजट, पृ० २६७

९ गुरातुल, कमाल, इ० डा० भा० ३, पृ० ५४१-५४२, राणपुर लेख, राजप्रशस्ति, शिलाखण्ड २५, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ३०५-३०८

९अ भण्डार न० १, बस्ता न० ६१, फाइल न० १३, वि० स० १८५९, दस्तूर कौमवार, भा० ३ व १३, पृ० ३१५, ३२३, ३४१, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ३०९

हुए व्यापारी लूणिया महाजन कहलाये। बीकानेर, जोधपुर और जयपुर को नमक पर लगाये गये कर से खूब लाभ होता था।[१०]

राजस्थान मे कागज बनाने का भी उद्योग बडे महत्त्व का रहा है। घोसुंडे तथा सवाई माधोपुर मे हाथ से कागज बनते थे जिनका उपयोग बहीखाते और दस्तावेज लिखने मे काम आता रहा है। हस्तलिखित पुस्तकें भी इसी प्रकार के कागज पर लिखी जाती थी। यह कागज मोटाई और मजबूती के लिए बडा उपयोगी माना जाता था।[११]

इन उद्योगो के अतिरिक्त गुलाब का इत्र और गुलाब जल कोटा और कोठारिया मे तैयार किया जाता था। शराब महुए से करीब-करीब सभी जगह तैयार करते थे। सवाई माधोपुर मे खसखस का इत्र बनता था। ऋषभदेव के आसपास पारेवे के पत्थर के बर्तन और मूर्तियाँ बहुत बनती थी। कोटा की आतिशबाजी और उदयपुर का साबुन बडा प्रसिद्ध रहा है। प्रतापगढ मे काँच पर नक्काशी का काम बडा सुन्दर होता था। जालौर मे घोडे की काठियाँ और मालपुरा मे बन्दूक की 'खोलिया' अच्छी बनती थी।[१२]

पारिश्रमिक—किसी भी उद्योग मे लगे हुए श्रमिको को जो पारिश्रमिक दिया जाता था वह नाममात्र का होता था। उस समय की जमाखर्च बहियो को देखने से मालूम होता है कि एक साधारण शिल्पी को चार आने से छ आने दैनिक पारिश्रमिक मिलता था तथा अच्छे शिल्पी को छ से आठ आने दिये जाते थे। मिस्त्री का दैनिक पारिश्रमिक एक रुपया दो आने के लगभग होता था। सुनार को या दर्जी को भी दैनिक काम के छ आने के लगभग दिया जाता था। साधारण मजदूर को दो आने और अच्छे मजदूर को तीन आने मिलते थे। समृद्ध परिवार के लोगो या राज्य के कार्यो मे अनाज मिलता था जो ६ छटाँक से १४ छटाँक तक अनाज काम के एवज मे दिया जाता था। काम समाप्त होने पर मुखियाओ को सिरोपाव व कडे इनायत होते थे।[१३]

चौकीदार, बागवान, महतर को २ से ३ रुपये मासिक वेतन मिलता था और और वह भी हर छटे महीने दिया जाता था। घरेलू नौकरानियो को प्रत्येक वर्ष मे

---

[१०] जमाखर्च वही, न० २०, वही गजसिंह, वि० स० १८०६, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३०६-३१०

[११] हथवही, न० १, वि० स० १८२२, टॉड, एनाल्स, भा० ३, पृ० १६७०-७१

[१२] भण्डार न० १, बस्ता न० ११, वि० स० १७५०, हकीकत वही, वि० स० १७६७, स्याह हजूर, वि० स० १८११

[१३] भण्डार न० १, बस्ता ४७, वि० स० १७४६, जमाखर्च वही बीकानेर, वि० स० १८१५, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३११-१२

दो वार अनाज दिया जाता था जो ६ मन से १० मन होता था। टेवर्नियर लिखता है कि सूरत से आगरा के लिए रक्षको को चार रुपये मासिक वेतन पर रखा गया था। उच्च दर्जे के अधिकारियो का वेतन १२ रुपये से ३० रुपये तक होता था, इनमे लेखक, पोतदार, कोतवाल, लेखेदार, मुनीम आदि सम्मिलित थे।[१४]

वस्तुओं के दाम—जिस प्रकार पारिश्रमिक का दर नीचा था उसी प्रकार चीजो के दाम भी बहुत सस्ते थे। *कोटा और जयपुर के जमाखर्च के आँकडो से पता लगता* है कि १० मन गेहूँ के दाम १४ से १६ रुपये होते थे। १० मन जौ की कीमत ९ से १० रुपये होती थी। एक मन दाल की कीमत एक रुपया तथा एक मन घी के दाम २५ से ३० रुपये होते थे। साधारण साडी की कीमत २ रुपये और फूलदार साडी के दाम ३ से ४ रुपये होते थे। एक पगडी की कीमत २ रुपये और १० गज लम्बी छीट की कीमत २ रुपये होती थी। बढिया किनारीदार या कामदार साडी १२ से ७० रुपये और अच्छी पगडी १२ से १६ रुपये मे मिलती थी। कोटा की चूंदडी ६ रुपये और शाल १० रुपये से २५० रुपये तक के होते थे।[१५]

इसी प्रकार साधारण ऊँट की कीमत १२ से ३५ रु०, घोडे की कीमत ५ से २० रुपये, गाय की २ से ५ रुपये, बैल की १२ से २७ रुपये कीमत होती थी, परन्तु अच्छे घोडे, ऊँट और बैल ३०० से १५०० रुपये मे आते थे।[१६]

मध्ययुगीन राजस्थान मे दस्तकार तो बहुत थे और वे बहुत अच्छी वस्तुओ का उत्पादन भी करते थे, परन्तु खरीदने वालो की सख्या कम होने से या साहूकार से कर्ज लेने के कारण उन्हें उन पर लाभ कम मिलता था। उन्हे कई वार वेगार मे काम करना पडता था या कच्चे माल की कम पैदावार के जमाने मे उन्हे निठल्ला बैठना पडता था। अच्छी हालत तो उन दक्ष दस्तकारो की थी जो राज्य के आश्रित थे, जिन्हे समय-समय पर राजकीय सम्मान प्राप्त करने का सौभाग्य था।[१७]

व्यापार और वाणिज्य—हम व्यवसाय और वाणिज्य का प्रचलन राजस्थान के कई क्षेत्रो मे पाते हैं। स्थानीय व्यापार छोटी-छोटी गलियो मे सभी चीजो को लेकर होता था, जहाँ उत्पादक ही व्यापारी होता था और उसकी दुकान तथा घर एक प्रकार से एक ही स्थान मे होते थे। विशिष्ट चीजो के लिए विशिष्ट वाजार होते थे जहाँ एक ही प्रकार की वस्तुएँ कई व्यापारी वेचते और खरीदते थे।

---

१४ जमाखर्च वही, वि० स० १८१५, भण्डार न० १, वस्ता न० २, वि० स० १८५५, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३१२

१५ शहरलेख वही, वि० स० १७२७, भण्डार न० १, फाइल न० २५, वि० स० १७५०, रोजनामचा, वि० स० १७३९, महमानी वही, न० ६, बाँकीदास ख्यात, भा० २, पत्र २९६ और ३७१

१६ भण्डार न० ४, वस्ता न० ४, वि० स० १७३९, पोर्ट फोलियो फाइल ६

१७ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३१३-१५

स्थानीय मण्डी होती थी या साप्ताहिक, अर्द्ध-साप्ताहिक या विशेष अवसर पर हाट लगता था जहाँ सभी प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध होती थी। पुष्कर, परवतसर, राजनगर और नागौर मे, विशेष रूप से पशुओ का मेला लगता था जहाँ दूर-दूर से लोग आते थे और वस्तुओ तथा पशुओ को खरीदते थे या वेचते थे। राज्य की ओर से व्यापारियो की सुरक्षा का प्रबन्ध रहता था और उन्हे कई प्रकार के कर से मुक्त किया जाता था। कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओ के लिए अधिक मात्रा मे माल खरीदा जाता था। ऐसे स्थानो मे ऊन के लिए जैसलमेर और बीकानेर, रुई के लिए कोटा, अफीम के लिए प्रतापगढ, जगली काष्ठादिक के लिए दक्षिण-पश्चिम राजस्थान प्रसिद्ध थे। कम तोलने और मिलावट करने के अपराध पर दण्ड दिया जाता था। मध्ययुगीन राजस्थान मे आमतौर पर व्यापारिक नैतिकता सन्तोषजनक थी।[१८]

कपडे, नमक, तम्बाकू, अनाज आदि का राजस्थान के एक भाग से दूसरे भाग मे लेन-देन होता रहता था। जैसलमेर, फलौदी, अजमेर, आमेर, पाली, मेडता आदि अन्तर राजस्थानीय मण्डियाँ थी, जहाँ कुछ कर देने से इधर-उधर से सामान आता था या ले जाया जाता था। वनजारे और दलाल ऐसे व्यापार मे वडे सहायक होते थे।[१९]

राजस्थान की केन्द्रीय स्थिति भारत के अन्य भागो से व्यापारिक सम्वन्ध जोडने मे वडी सहायक सिद्ध हुई। मध्ययुग मे उत्तरी और दक्षिणी भारत से वस्तुओ का आदान-प्रदान होता रहता था। गुजरात, सिन्ध, मालवा और वुरहानपुर से आने वाले और ले जाने वाले माल के लिए अजमेर, नागौर, मेडता, चित्तौड, वयाना, उमरकोट, मोरवाना तथा पाटन मण्डियाँ थी। मुगल दरवार मे और सूवो मे भी राजस्थान के माल की माँग थी और कई राज्यो मे मुगल सूवो से माल आता था। यहाँ से चमडे का सामान, लकडी का सामान, वर्तन, घोडे, ऊँट आदि मुगल दरवार मे उपहार के रूप मे भेजे जाते थे या खरीदे जाते थे। छुहारा, नारियल, सोना, हाथी, घोडे, वढिया शराव, मखमल, सूखा मेवा, परदे, वुरहानपुरी कपडा सारगपुर की पगडियाँ, वनारसी साडियाँ, वूटेदार गुजराती रेशम, कश्मीरी ऊनी सामान, औरगावादी कपडे आदि की माँग थी। राजस्थान के नरेश वाहर से आने वाले व्यापारियो को कर मे छूट देते थे और उनकी सुरक्षा का प्रवन्ध करते थे। इन सुविधाओ के कारण यहाँ कई व्यक्ति समृद्ध व्यापारी वन गये जिनमे उत्तमचन्द, शाह सुजान, गुलाव भारती, वावा दयालगिरी, गेवीलाल, देवदत्त आदि प्रसिद्ध है। कई स्थानीय व्यापारियो ने दक्षिण और

---

[१८] रोजनामचा, वि० स० १८२६ (जोधपुर), भण्डार न० १, वस्ता न० १०१, १७४०, अजमेर रेकार्ड, पुष्कर फाइल, १८२४, टॉड, पर्सनल नरेटिव, अध्याय२६, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३१६-३१९

[१९] नैणसी ख्यात, पत्र ४७, ६८, १३४, दस्ती वही, वि० स० १८४०, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० ३१९

उत्तरी भारतवर्ष के सूबो मे अपनी दुकानें खोल दी जिससे व्यापारिक प्रगति को बडा लाभ पहुँचा। इतना होते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि राजस्थान मे व्यापारिक गति मन्द थी, क्योंकि यहाँ माल इकट्ठा करने की सुविधा तथा यातायात और सुरक्षित मार्गो का अभाव बना रहा।[२०] इस सम्बन्ध मे मैंने अपनी पुस्तक 'सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान' मे इसी प्रसग मे लिखा है कि यह असुविधाएँ राजस्थान के बाजारो की मन्दगति, आर्थिक विकास के अभाव और विदेशी व्यापार की मात्रा मे न्यूनता का विश्लेषण करती है।[२१]

यात्रार्थ तथा व्यापारिक मार्ग—प्राचीन शिलालेखो से प्रमाणित होता है कि जैसलमेर, आहड, जालौर, मेडता, बाडमेर, नडुलाई, जूना आदि नगर ऐसे मार्गो पर थे जो राजस्थान की कई मण्डियो, नगरो तथा मध्यदेश, विन्ध्य प्रदेश, प्रयाग, आगरा, दिल्ली आदि प्रान्तो को मिलाते थे। तुर्कों और मुगलो के आने से नये सूबो का महत्त्व बढने लगा और नयी-नयी मण्डियाँ बनने लगी। अकबरनामा मे आगरा से अहमदाबाद जाने के कई मार्ग थे। एक मार्ग फतेहपुर, सागानेर, अजमेर और नागौर होकर जाता था। गुजरात जाने के लिए नागौर से एक रास्ता जालौर होकर जाता था और दूसरा सिरोही होकर। उदयपुर, ईडर और डूँगरपुर से भी गुजरात जाया जाता था। विलयम फिंच ने आगरा से चित्तौड होते हुए अहमदाबाद जाने के मार्ग का उल्लेख किया है। आगरा से गुजरात जाने के लिए साँभर, माण्डल और अजमेर मार्ग मे पडते थे। मारगपुर, मन्दसौर या झलावाड होते हुए भी आगरा से अहमदाबाद जाने की सडक थी।[२२]

बाबर ने धौलपुर और ग्वालियर से होकर मालवा के मार्ग का उल्लेख किया है। दूसरा मालवा जाने का मार्ग चम्बल के किनारे होकर जाता था। एक मार्ग मालवा जाने के लिए मेवाड द्वारा भी था। आगरा से माण्डू जाते हुए मेडता, चित्तौड,

---

२० जमाखर्च वही, न० १४, वि० स० १७२९-१७३५, दस्तूर कौमवार, भाग १५, पृ० ८५, भा० १८, पृ० ७२६, भा० २०, पृ० १८७ आदि

२१ "In determining the role of foreign trade we cannot ignore the lack of proper storage facilities, especially for cereals and the lack of rapid and regular transport These facts adequately explain the weaknesses of the marketing structure, economic under-development and unfavourable position of the volume of foreign trade" —Dr G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, pp 321-22

२२ भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, न० १, पृ० ६७, ६९, जैन इन्सक्रिप्शन्स, भा० २, न० १७१६, अकबरनामा, भा० ३, पृ० ८७, ९२, २४४, २७२, ३९२, ३९९, अर्ली ट्रैवल्स इन इण्डिया, पृ० १७०

रणथम्भौर, कोटा, गागरौन और उज्जैन मार्ग मे पडते थे। मालवा जाने के लिए उदयपुर, डूंगरपुर और बाँसवाडा, रणथम्भौर, बयाना से होकर जा सकते थे।[२३]

राजस्थान मे एक राज्य से दूसरे राज्य मे जाने के भी कई मार्ग थे। बयाना, धौलपुर और बारी से कई रास्ते जुडे हुए थे। जोधपुर, चित्तौड और बयाना से सडकें जाती थी जो आगरा और मालवा को मिलाती थी। माण्डलगढ और बागौर होते हुए गोगुन्दे से आम्बेर जा सकते थे। अजमेर से कई सडकें आमेर, मेवाड, पाली, मेडता, सिवाना, साभर और चित्तौड से रणथम्भौर और अजमेर जाने के मार्ग थे।[२४]

इन सडको का उपयोग व्यापारिक, सैनिक तथा सामाजिक था। सडकें कच्ची और मिट्टी की होती थी जिससे बरसात मे यातायात की कठिनाई अनुभव होती थी। लम्बी सडको की यात्रा, जो जगली या रेतीले भागो से करनी होती थी, खतरे से खाली नही थी, क्योकि चोरी, डकैती तथा हिंसक पशुओ का उनमे भय बना रहता था। नदियो और नालो पर पुल नही होने से वर्षाऋतु मे यात्रा करना असुविधाजनक होता था। फिर भी इन सडको से सास्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक लाभ होते रहते थे।[२५]

मुद्रा—आन्तरिक और बाह्य व्यापारिक सुविधाओ के लिए राजस्थान मे मुद्राओ का प्रचलन था जो अलग-अलग आकार और तोल की थी। चाँदी, सोना और ताँबे के सिक्के का प्रयोग प्राचीनकाल से चला आता था। प्रारम्भिक मध्यकालीन लेखो मे द्रम, द्रमार्ध, द्रभाष्ट, विंपटिक और अर्द्ध-विंपटिक का प्रयोग होता था। इनके साथ-साथ 'रूपक' का भी प्रचलन था। पन्द्रहवी शताब्दी के लेखो मे 'टक्का' सोने, चाँदी और ताँबे के होने के प्रमाण मिलते हैं। प्राकृतपिंगल के अनुसार एक टक्के का तोल चार माशा होता था। महाराणा कुम्भा के समय मे चौकोर और गोल आकार की सुवर्ण मुद्राएँ चलती थी। ताँबे के भी सिक्के उसके समय के देखे गये हैं जिनके एक तरफ 'कुम्भकर्ण' और दूसरी ओर 'कुम्भलमेरु' या 'श्रीएकलिंग' खुदा हुआ रहता था। मुसलमानो के सम्पर्क के कारण तुर्क कालीन और मुगल कालीन सिक्को को राजस्थान मे व्यवहार मे लाया जाता था। इन सिक्को को फिरोजी, आलमशाही, शालमशाही, औरंगशाही और अकबरी सिक्के कहते थे। इनमे चाँदी अधिक होती थी औ मिलावट का अनुपात कम होता था। ताँबे के पैसो को 'फदिया', 'टींगला', 'ढब्बूशाही' आदि नामो से जाना जाता था। 'गुमानशाही' और 'चलनी' मुद्राओं का प्रयोग कोटा मे होता था। 'कुचामनी', 'चित्तौडी', 'शाहशाही',

---

[२३] नैणसी की ख्यात, पत्र ११, तारीखे अहमदी, भा० १, पत्र १०३-१०५; तुजुक-ए-बाबरी, भा० २, पृ० ५७७-६०८, अकबरनामा, भा० ३, पृ० २७[illegible]

[२४] अकबरनामा, भा० १, पृ० ३७२

[२५] जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २२९-३२६

उत्तरी भारतवर्ष के सूबो मे अपनी दुकानें खोल दी जिससे व्यापारिक प्रगति को बडा लाभ पहुँचा। इतना होते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि राजस्थान मे व्यापारिक गति मन्द थी, क्योकि यहाँ माल इकट्ठा करने की सुविधा तथा यातायात और सुरक्षित मार्गो का अभाव बना रहा।[२०] इस सम्बन्ध मे मैंने अपनी पुस्तक 'सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान' मे इसी प्रसग मे लिखा है कि यह असुविधाएँ राजस्थान के बाजारो की मन्दगति, आर्थिक विकास के अभाव और विदेशी व्यापार की मात्रा मे न्यूनता का विश्लेषण करती है।[२१]

यात्रार्थ तथा व्यापारिक मार्ग—प्राचीन शिलालेखो से प्रमाणित होता है कि जैसलमेर, आहड, जालौर, मेडता, बाडमेर, नडुलाई, जूना आदि नगर ऐसे मार्गो पर थे जो राजस्थान की कई मण्डियो, नगरो तथा मध्यदेश, विन्ध्य प्रदेश, प्रयाग, आगरा, दिल्ली आदि प्रान्तो को मिलाते थे। तुर्को और मुगलो के आने से नये सूबो का महत्त्व बढने लगा और नयी-नयी मण्डियाँ बनने लगी। अकबरनामा मे आगरा से अहमदाबाद जाने के कई मार्ग थे। एक मार्ग फतेहपुर, सागानेर, अजमेर और नागौर होकर जाता था। गुजरात जाने के लिए नागौर से एक रास्ता जालौर होकर जाता था और दूसरा सिरोही होकर। उदयपुर, ईडर और डूंगरपुर से भी गुजरात जाया जाता था। विलयम फिच ने आगरा से चित्तौड होते हुए अहमदाबाद जाने के मार्ग का उल्लेख किया है। आगरा से गुजरात जाने के लिए साँभर, माण्डल और अजमेर मार्ग मे पडते थे। सारगपुर, मन्दसौर या झलावाड होते हुए भी आगरा से अहमदाबाद जाने की सडक थी।[२२]

बाबर ने धौलपुर और ग्वालियर से होकर मालवा के मार्ग का उल्लेख किया है। दूसरा मालवा जाने का मार्ग चम्बल के किनारे होकर जाता था। एक मार्ग मालवा जाने के लिए मेवाड द्वारा भी था। आगरा से माण्डू जाते हुए मेडता, चित्तौड,

---

२० जमाखर्च बही, न० १४, वि० स० १७२९-१७३५, दस्तूर कौमवार, भाग १५, पृ० ८५, भा० १८, पृ० ७२६, भा० २०, पृ० १८७ आदि

२१ "In determining the role of foreign trade we cannot ignore the lack of proper storage facilities, especially for cereals and the lack of rapid and regular transport These facts adequately explain the weaknesses of the marketing structure, economic under-development and unfavourable position of the volume of foreign trade" —Dr G N Sharma *Social Life in Medieval Rajasthan*, pp 321-22

२२ भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, न० १, पृ० ६७, ६९, जैन इन्सक्रिप्शन्स, भा० २, न० १७१९, अकबरनामा, भा० ३, पृ० ८७, ९२, २४८, २७२, ३९२, ३९९, अर्ली ट्रेवल्स इन इण्डिया, पृ० १७०

रणथम्भौर, कोटा, गागरौन और उज्जैन मार्ग मे पडते थे। मालवा जाने के लिए उदयपुर, डूँगरपुर और बांसवाडा, रणथम्भौर, बयाना से होकर जा सकते थे।[२३]

राजस्थान मे एक राज्य से दूसरे राज्य मे जाने के भी कई मार्ग थे। बयाना, धौलपुर और बारी से कई रास्ते जुडे हुए थे। जोधपुर, चित्तौड और बयाना से सडकें जाती थी जो आगरा और मालवा को मिलाती थी। माण्डलगढ और बागौर होते हुए गोगुन्दे से आम्बेर जा सकते थे। अजमेर से कई सडकें आमेर, मेवाड, पाली, मेडता, सिवाना, साभर और चित्तौड से रणथम्भौर और अजमेर जाने के मार्ग थे।[२४]

इन सडको का उपयोग व्यापारिक, सैनिक तथा सामाजिक था। सडके कच्ची और मिट्टी की होती थी जिससे बरसात मे यातायात की कठिनाई अनुभव होती थी। लम्बी सडको की यात्रा, जो जगली या रेतीले भागो से करनी होती थी, खतरे से खाली नही थी, क्योकि चोरी, डकैती तथा हिंसक पशुओ का उनमे भय बना रहता था। नदियो और नालो पर पुल नही होने से वर्षाऋतु मे यात्रा करना असुविधाजनक होता था। फिर भी इन सडको से सास्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक लाभ होते रहते थे।[२५]

मुद्रा—आन्तरिक और बाह्य व्यापारिक सुविधाओ के लिए राजस्थान मे मुद्राओ का प्रचलन था जो अलग-अलग आकार और तोल की थी। चाँदी, सोना और तांबे के सिक्के का प्रयोग प्राचीनकाल से चला आता था। प्रारम्भिक मध्यकालीन लेखो मे द्रम, द्रमार्ध, द्रभाष्ट, विषटिक और अर्द्ध-विषटिक का प्रयोग होता था। इनके साथ-साथ 'रूपक' का भी प्रचलन था। पन्द्रहवी शताब्दी के लेखो मे 'टक्का' सोने, चाँदी और तांबे के होने के प्रमाण मिलते हैं। प्राकृतपिंगल के अनुसार एक टक्के का तोल चार माशा होता था। महाराणा कुम्भा के समय मे चौकोर और गोल आकार की सुवर्ण मुद्राएँ चलती थी। तांबे के भी सिक्के उसके समय के देखे गये है जिनके एक तरफ 'कुम्भकर्ण' और दूसरी ओर 'कुम्भलमेरु' या 'श्रीएकलिंग' खुदा हुआ रहता था। मुसलमानो के सम्पर्क के कारण तुर्क कालीन और मुगल कालीन सिक्को को राजस्थान मे व्यवहार मे लाया जाता था। इन सिक्को को फिरोजी, आलमशाही, शालमशाही, नौरगशाही और अकबरी सिक्के कहते थे। इनमे चाँदी अधिक होती थी और मिलावट का अनुपात कम होता था। तांबे के पैसो को 'फदिया', 'ढीगला', 'ढब्बूशाही' आदि नामो से जाना जाता था। 'गुमानशाही' और 'चलनी' मुद्राओ का प्रयोग कोटा मे होता था। 'कुचामनी', 'चित्तौडी', 'झाडशाही',

---

२३ नैणसी की ख्यात, पत्र ११, तारीखे अहमदी, भा० १, पत्र १०३-१०५, तुजुक-ए-बाबरी, भा० २, पृ० ५७७-६०८, अकबरनामा, भा० ३, पृ० २७६-२७७

२४ अकबरनामा, भा० १, पृ० ३७२

२५ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३२२-३२६, ३२६-३२६

'अखेशाही', 'चाँदोडी', 'भीरखानी', 'शिवशाही' आदि कई सिक्के होते थे जिनमे चाँदी के अनुपात मे मिलावट दशमास या पचमाश हुआ करती थी। इन सिक्को को राजस्थान मे सभी जगह ले लिया जाता था, परन्तु चाँदी के भाव के अतिरिक्त 'वट्टा' काट लिया जाता था।[२६]

आदान-प्रदान मे गति लाने के लिए गाँवो, कस्वो और नगरो मे 'साहूकार' होते थे जो भले-बुरे सिक्को की जाँच करते थे, कर्ज देते थे, चीजो की अदल-बदल की व्यवस्था करते थे और एक जगह से दूसरी जगह सामान को ले जाते थे और क्रय-विक्रय किया करते थे। कृषको को बीज की आवश्यकता के अवसर पर या रुपयो की आवश्यकता पर वे कर्ज देते थे जिसे वे मूल और व्याज सहित निश्चित समय मे वसूल कर लिया करते थे। राज्य को भी सकट के समय वे सहायता देते थे। जोधपुर राज्य को सेठ कुशालचन्द ने १८०६ ई० मे धन देकर आर्थिक सकट दूर करने मे सहायता पहुँचायी। ऐसे सभी रियासतो मे व्याज पर कर्ज देकर 'साहूकार' अर्थ सकट का निवारण करते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जव रुपयो की आवश्यकता होती थी तो 'हुण्डी' के द्वारा मुद्रा भेज दी जाती थी। ऐसे धन पर सूद की दर एक रुपये पर मासिक एक आना होता था। राजस्थान के बाहर भी स्थानीय साहूकार अपनी दुकानें स्थापित करते थे और आदान-प्रदान मे सहायता पहुँचाते थे।[२७] ये तो ठीक ही है जैसा एन० के० सिन्हा लिखते हैं कि यह सेठ या साहूकार वडी दरो पर कर्ज देकर मूल से भी व्याज अधिक वसूल कर लेते थे और गरीब किसान का सर्वस्व अपहरण कर लेते थे। इस अर्थ मे आर्थिक विप्लव या मुद्रा की गडवडी के समय वे नृशस रूप से अपने स्वार्थ की सिद्धि करते थे[२८], परन्तु मेरे विचार से आजकल जैसे वैंको के अभाव मे वाणिज्य और व्यापार की अभिवृद्धि मे उनका खूब योगदान रहता था।[२९]

---

२६ भण्डार न० १, वस्ता न० १०, वि० स० १७४६, रोजनामचा, जोधपुर, वि० स० १८२६ करेन्सी फाइल, अजमेर नम्वर १ (६), जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३३१-३७

२७ भण्डार न० ५८, फाइल न० ५५, वि० स० १७७०, हकीकत वही, वि० स० १८२४, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३३७-३४१

२८ "The *Shroffs* were past masters in the acts of dodging and sophistry and in those days of confusion in currency they often played their game too well" —N K Sinha quoted by Dr Dutta, *Survey of Indian Social Life etc*, p 178

२९ "In promotion of trade and commerce their services were unchallengeable In the days when modern facilities of banking ware absent the role of the indigenous bankers had its own justification"

—G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 342

दुष्काल—इस युग की आर्थिक दशा को समझने मे दुष्काल पर भी दो शब्द उपयुक्त होगे। जैसे कि ऊपर सकेत किया गया है कि हर तीसरे या चौथे वर्ष अकाल पडना राजस्थान के लिए स्वाभाविक-सी घटना थी। इस राज्य का कोई न कोई भाग अकालग्रस्त रहता था। यातायात की गति मे शिथिलता होने से सहस्रो जन और पशु ऐसे अवसर पर मौत के शिकार होते थे। जैसलमेर, मारवाड और बीकानेर मे तो फसल के अभाव के साथ-साथ पानी की कमी भी रहती थी। जब कभी कही दुष्काल की सम्भावना होती तो सहस्रो मनुष्य अपने पशुओ को लेकर अपने स्थान से निकल जाते थे तथा घास और पानी वाले भागो मे पहुँच जाते थे। बदायूँनी ने लिखा है कि बयाना किले के घेरे के समय भयकर अकाल के कारण सहस्रो मनुष्य और पशु मर गये। यह ऐसा समय था जब मनुष्य-मनुष्य को खा जाता था और मरते समय इन्सान के होठो से रोटी-रोटी का शब्द मात्र सुनायी देता था। कुछ समसामयिक साधनो मे १६१३ ई० के अजमेर के दुष्काल का उल्लेख मिलता है। सारा राजस्थान मे व्यापी दुष्काल १७४७ ई० मे पडा था जब पानी और अनाज के अभाव मे जीवनयापन कठिन हो गया था। वि० स० १८५३ का 'त्रेपन्या अकाल' बडा घातक सिद्ध हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे समय मे दानी लोग 'सदाव्रत' और 'प्याऊ' का प्रबन्ध कर जन और पशु धन की रक्षा करते थे। राजा-महाराजा भी अन्नाश्रम या तालाब या महलो के निर्माण के आयोजनो द्वारा सहस्रो का कष्ट निवारण करते थे।[३०]

---

[३०] अमीर खुसरो, इलियट-डाउसन, भा० ३, पृ० ५४०, अकबरनामा, भा० २, पृ० ५१७, ख्यात वातसग्रह, पत्र १६३, वशभास्कर, पृ० ३४४६, पर्शियन कोरोस्पोण्डेन्स, रजिस्टर न० १-८, ६३, २६०८, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३४४-४७

अध्याय २६

राजस्थान मे मध्यकालीन धार्मिक जीवन

धर्म—राजस्थान मे धर्म की एकसूत्रता युग-युगान्तर से स्वीकृत चल आ रही है जिसमे विश्वास, देव अर्चन, सद्कार्य, धार्मिक शिक्षा, धर्म विचारको के प्रति श्रद्धा आदि सम्मिलित है। वैदिक धर्म और उसके सम्बन्धी विश्वासो के प्रतीक राजस्थान मे आज भी देखे जाते हैं। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के घोसुण्डी शिलालेख मे अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है जो गज वश के सर्वतात ने सम्पादित किया था। तीसरी शताब्दी के नान्दसा यूप स्तम्भ पर षष्ठिरात्र यज्ञ का आयोजन अकित है। कोटा तथा जयपुर के कुछ स्तम्भो से त्रिरात्र यज्ञ के प्रचलन का वोध होता है। मेवाड के वापा रावल, क्षेत्रसिंह तथा महाराणा कुम्भा वैदिक यज्ञो को करते थे। जोधपुर के अभयसिंह ने भी वैदिक परम्परा को महत्त्व दिया। सवाई जयसिंह ने अश्वमेध तथा अन्य यज्ञो के सम्पादन द्वारा अपने समय तक यज्ञो की वैदिक परम्परा को जीवित रखा। राजस्थान मे १२वी शताब्दी तक मुख्य देव के रूप मे ब्रह्मा का अर्चन प्रचलित था जो पुष्कर, वाँसवाडा, कुसमा (सिरोही) आदि के मन्दिरो से प्रमाणित है। आगे चलकर ब्रह्मा उपदेव मे पूजे जाते रहे। ब्रह्मा की भाँति सूर्य की भी मुख्य देव के रूप मे पूजा प्रचलित थी। चित्तौड का सूर्य मन्दिर इसका आज भी साक्षी है। इस देवता की आराधना मध्यकालीन सुरह स्तम्भो तथा हस्तलिखित ग्रन्थो से स्पष्ट है।[1]

शैव धर्म—पूर्व मध्यकालीन शिलालेखो से विदित होता है कि राजस्थान मे शिव की अर्चना एकलिंग, गिरि सुतापति, समिधेश्वर, चन्द्र चूडामणि, भवानीपति, अचलेश्वर, शम्भू, पिनाकिन, स्वयम्भू आदि विविध नामो मे की जाती थी। लकूलीश और नाथ सम्प्रदाय के आचार्यो ने अपने चमत्कार के प्रभाव मे मेवाड और मारवाड राजपरिवार पर क्रमश प्रभाव स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की जिसका फल यह हुआ कि मेवाड के महाराणा श्रीएकलिंगजी को ही राज्य का स्वामी मानते थे और अपने आपको उनका दीवान। मारवाड मे भी महाराजा मानसिंह के समय नाथो का शासन कार्य मे वडा हाथ रहा। लकूलीश सम्प्रदाय के साधु दिन मे कई बार

---

१ ऑर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १९०६-०७, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, न० ६ व ९, आम्बेर ऑर्कियोलोजिकल कक्ष आदि, डा० जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १७९-१८३

स्नान करने, एकलिंगजी की तीन बार पूजा करने, जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहने, लँगोटी पहनने, खडाऊँ धारण करने, डण्ड धारण करने, शिव को ईश्वर मानने और लिगपूजा मे विश्वास करने पर बल देते थे। हारीत, वेदागमुनि, माहेश्वर ऋषि, गुण ऋषि, नरहरि आदि आचार्यो के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होने इस मत का दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान मे बडा प्रचार किया। इनकी शिष्य परम्परा श्रीएकलिंगजी की सेवा करते रहे जिनका स्थान १७वी शताब्दी मे बनारस के सन्यासी सन्त रामानन्द ने ग्रहण किया।[२]

नाथो की भी गद्दी जोधपुर के महामन्दिर मे है, जिनको राज्य की ओर से जागीर और सम्मान प्राप्त था। यह भगवा वस्त्र और ऊँची काली टोपी पहनते थे और कानो का छेदन करवाते थे। ललाट पर भभूत लगाना, बाल बढाना, जन-सम्पर्क स्थापित करना, शिवलिंग की सेवा करना इनकी विशेषताएँ रही हैं। खाखी, सिद्ध, नागा आदि भी शैव थे जिन्होने राजस्थान मे कई स्थानो पर अपने 'अखाडे' स्थापित कर रखे थे। राज्यो द्वारा इन्हें भी जागीरें मिली थी। वे कभी-कभी नगे रहने, सम्पूर्ण अग मे भस्म लगाने, अग्नि तपने, वर्षा झेलने और शरीर को प्राकृतिक स्थिति के साथ अनुकूल रखकर तपस्या करने मे विश्वास रखते थे। टेवर्नियर ने ऐसी कई कष्ट साध्य तपस्याओ का अपने यात्रा वर्णन मे उल्लेख किया है जिनको उसने स्वय आश्चर्य से देखा था। कभी-कभी इस प्रकार की तपस्या ढोग और दुनिया को ठगने के लिए भी की जाती हो, परन्तु पाशविक इच्छाओ पर काबू पाने के लिए तथा उसके द्वारा शारीरिक शुद्धि प्राप्त करने के लिए ऐसी साधनाओ का बडा महत्त्व है।[३]

इस युग की शैव मत की प्रगति कई मन्दिरो के निर्माण और उनके लिए भूमिदान से स्पष्ट है। उदयपुर के महाराणाओ ने बापा द्वारा निर्मित श्रीएकलिंगजी के मन्दिर को भेंट और उपहार देकर अपनी शिव धर्म के प्रति श्रद्धा प्रकट की। जोधपुर, कोटा, बाँसवाडा, जयपुर, किशनगढ, बीकानेर आदि स्थानो मे भी राज्य के द्वारा, राजपरिवार के द्वारा तथा अधिकारियो, सामन्तो और भक्तो द्वारा शिवालयो का निर्माण हुआ, जिनमे एकलिंग तथा चतुर्मुख शिव की मूर्तियो की स्थापना हुई और इनके अर्चन और आराधना का प्रबन्ध भी किया गया। महाराणा कुम्भा ने श्रीएकलिंग भगवान को नागदा, कालोडा, मालखेडा और भीमाना गाँव भेंट किये। रावगागा की रानी नानिक देवी जोधपुर मे अचलेश्वर के मन्दिर को बनाकर अचल यश की भागिनी बनी। खड्गदे मे एक पटेल सामुल ने खीरेश्वर के मन्दिर का निर्माण सन् १५६७ मे करवाया। राय सुखिया महाकाल के मन्दिर का, जो धनमाता के पहाड,

---

२ भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, भा० २, पक्ति ९-१०, पृ० ७०, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० १८३-८४

३ नाथ चरित्र, पत्र २, १२, नाथ चन्द्रिका, ग्रन्थ न० १, बस्ता न० १४, सूरज प्रकाश, पत्र ४७, टेवर्नियर, कलेक्शन ऑफ ट्रेवल्स, भा० १, पृ० १०२

डूंगरपुर मे है, जीर्णोद्वारक था ।[४] ऐसे सहस्रो की सख्या मे उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ सभी स्तरो के आस्तिक व्यक्तियो ने, शिव मतावलम्वी होने के नाते शैव धर्म की प्रगति को राजस्थान मे आगे वढाया ।

शक्ति पूजा—पुरातत्त्व सम्वन्धी सामग्री से प्रमाणित है कि प्राचीन काल से हमारे अध्ययन काल तक शक्ति की उपासना प्रचलित थी । शक्ति की आराधना शौर्य, क्रोध और दया की भावना से जुडी हुई है, अतएव शक्ति को मातृदेवी, महिषसुरमर्दिनी, दुर्गा, पार्वती, योगेश्वरी, दधिमति, क्षेमकरी, अरण्यवासिनी, वसुन्धरा, अष्टमात्रिका, राधिका, लक्ष्मी, भगवती, नन्दा, सरस्वती, कात्यायनी, अम्विका, काली, योगेश्वरी, सच्चिका आदि रूप मे आराधना की जाती थी और आज भी इन विभिन्न रूपो मे उसके प्रति श्रद्धा रखी जाती है । इन रूपो मे शौर्य और क्रोध की भावना को अधिक महत्त्व दिया जाता था, क्योंकि मध्ययुगीन जीवन भय और युद्ध से अधिक जुडा हुआ था । युद्ध मे भाग लेने वाले शक्ति को अपनी आराध्यदेवी मानते थे और जव वे युद्ध मे वलि देते थे तो 'जैमाताजी की' शब्द से उसका आह्वाहन करते थे । शान्ति के समय विविध देवियो के मन्दिर की भी स्थापना की जाती थी जिनमे ११७७ ई० का ओसियाँ का सच्चिका का मन्दिर, गोगुन्दा मे, १३६६ का शीतला मन्दिर, चित्तौड का कालिका का मन्दिर आदि वडे प्रसिद्ध है । राजस्थान के नरेशो का शक्ति पर विश्वास अधिकाधिक वढता गया जिससे कई राजपरिवारो ने तो उसे कुल देवी के रूप मे स्वीकार कर लिया । देशनोक की कर्णीजी आज भी वीकानेर के राजपरिवार की कुल देवी है । जोधपुर राजपरिवार ने नागणेची और सीसोदिया नरेशो ने वाणमाता और कछवाहो ने अन्नपूर्णा को कुल देवी स्वीकृत किया ।[५]

वैष्णव धर्म—राजस्थान मे वैष्णव धर्म का सर्वप्रथम उल्लेख द्वितीय शताब्दी ई० पू० के घोसुण्डी के लेख मे मिलता है, जिसमे सर्वतात द्वारा वलराम-वासुदेव के पूजा स्थान के चारो ओर दीवार वनाने का वर्णन है । इसके वाद कुछ मन्दिरो मे कृष्णलीला सम्वन्धी उत्कीर्ण अकन मिलते है जिससे कृष्ण भक्ति के प्रति जनसाधारण की रुचि व्यक्त होती है । चौथी शताब्दी के मण्डोर के स्तम्भो पर गोवर्धनधारण और दानलीला के अकन मिलते हैं । सातवी शताब्दी के उदयपुर के लेख मे अपराजित की स्त्री द्वारा विष्णु मन्दिर के निर्माण का वर्णन है । प्रतिहारो के प्रभाव काल मे भी कृष्ण लीला के कई अकन प्राप्त होते है । ओसियाँ, किराडू, सादडी, केकिन्दा की उत्कीर्ण कला मे कृष्ण लीला से सम्वन्धित कई आख्यान तक्षण कला के द्वारा व्यक्त

---

४ कुम्भलगढ लेख, पट्टिका १, श्लो० ४१-५०, प्रतिष्ठा वही, वि० स० १८३५, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १८७-१९०

५ ओसियाँ लेख, ११७६ ई०, चीरवा लेख, १२७३ ई०, जैन लेख पृ० २५३-२५८, न० ७७, २२, पृ० २६१, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १९०-१९४

किये गये हैं। एकलिंग शिलालेख मे मोकल के द्वारा द्वारकाधीश के मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। महाराणा कुम्भा के समय मे खडिया गाँव मे कृष्ण मन्दिर के बनने और चित्तौड तथा कुम्भलगढ मे कुम्भश्याम के मन्दिर बनने के उल्लेख हैं। १७वी शताब्दी का उदयपुर मे जगदीश का मन्दिर, नाथ द्वारा का श्रीनाथजी का मन्दिर, काकरोली का द्वारकाधीश का मन्दिर और १८वी शताब्दी का जोधपुर का घनश्यामजी का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। कृष्ण की लीलाओ को लेकर १७वी व १८वी शताब्दी मे कई चित्रितग्रन्थ तैयार किये गये जो उदयपुर के सरस्वती भण्डार मे, कोटा के सग्रहालय तथा जोधपुर के पुस्तक प्रकाश मे सुरक्षित है। यह धर्म इतना प्रभावशील था कि जोधपुर, जयपुर, उदयपुर और कोटा के राजपरिवार तथा आम जनता मे इसका अच्छा प्रचार हो गया। मीरा अपने समय की एक कृष्ण भक्ति की अनुपम उदाहरण है। बीकानेर के पृथ्वीराज तथा जोधपुर के विजयसिंह अपने समय के परम भक्तो मे स्थान पाये हुए है।[६]

कृष्ण भक्ति के साथ राम भक्ति भी राजस्थान मे सम्मानित पद प्राप्त किये हुए रही है। मेवाड के महाराणा तो राम से अपना वशक्रम निर्धारित करते है। समिधेश्वर लेख से (१४०१ ई०) क्षेत्रसिंह का रामभक्त होना प्रमाणित होता है। जयपुर के कई शासक भी रामभक्त हुए जिनमे सवाई जयसिंह का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बाँसवाडा, उदयपुर और जयपुर के कई लेखो मे 'श्रीरामजी' का सर्वप्रथम लिखा जाना इस बात का प्रमाण है कि इन राज्यो के नरेश राम को इष्टदेव मानते थे।[७]

राजस्थान मे इन धर्मो के साथ गणेश, हनुमान, भैरव आदि देवताओ की भी आराधना प्रचलित थी। गाँव-गाँव मे हमें इन देवताओ से सम्बन्धित सहस्रो मन्दिर मिलते हैं, जिससे प्रमाणित होता है कि यहाँ की जनता कितनी धर्मनिष्ठ थी और उसका धर्म मे कितना विश्वास था।[८]

जैन धर्म—राजस्थान मे वैश्यो मे जैन धर्म अधिक प्रचलित रहा है। वैसे तो यहाँ के नरेशो मे इस धर्म के अनुयायी नहीं रहे, परन्तु इतना अवश्य था कि इन्होने इस धर्म को सर्वदा सष्णुितापूर्ण दृष्टि से देखा। उनके द्वारा इस धर्म के साधुओ का सम्मान किये जाने तथा जैन मन्दिरो और उपासको के लिए अनुदान दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं। इस धर्म के कई साधुओ ने जो खरतरगच्छ, तपागच्छ, सण्डेरगच्छ, लुकागच्छ, सगरगच्छ आदि शाखा के थे, अनेक स्थानो मे मूर्तियो की स्थापना करवायी। उन्होने अपने प्रभाव से कई व्रत, उपवास और उत्सवो के आयोजनो को

---

६ ऑर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १९०५-१९०६, पृ० १३५, मेरा लेख, प्रोसिडिंग्ज ऑफ इण्टरनेशनल ओरियण्टल कान्फ्रेंस दिल्ली, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० १९४-२००

७ जी० एन० शर्मा, वही, पृ० २००-२०२

८ वही, पृ० २०२

सफल बनाया। उन्होने जगह-जगह पदयात्रा द्वारा सम्पूर्ण जैन समाज को सगठित रखा। यदि कभी इनमे विरोध की भावना उत्पन्न हुई तो उसे भी समाप्त करने का प्रयत्न किया। जैसलमेर, नाडौल, आम्बेर, धुलेव, राणकपुर, नाडलाई, विक्रमपुर, आबू, सिरोही आदि स्थानो मे मूर्ति-स्थापना और व्रत-उधापन सम्बन्धी अनेक शिलालेख उपलब्ध हैं जो जैन धर्म की राजस्थान मे होने वाली प्रगति पर प्रकाश डालते हैं। सबसे वडी देन जो जैन धर्म की राजस्थान को है वह यह कि इस धर्म के अनेक विद्वानो ने सहस्रो की सख्या मे हस्तलिखित ग्रन्थो को लिखा और उन्हे धर्म-स्थानो में सुरक्षित किया। इन ग्रन्थो मे निहित और प्रतिपादित ज्ञान हमारे लिए एक वडी निधि है जो किसी शास्त्र, विद्या, विज्ञान, कला और इतिहास को समृद्ध बना सकती है।[९]

इस्लाम—इस्लाम धर्म, जो एशिया का बहुत वडा धर्म रहा है, राजस्थान में १२वी शताब्दी से अधिक प्रगतिशील बना। अजमेर इसका मुख्य केन्द्र था जहाँ से जालौर, नागौर, माण्डल, चित्तौड आदि स्थानो मे उसका विकास हुआ। आरम्भ मे इनके सन्तो ने, जिनमे मुइनउद्दीन चिश्ती प्रमुख है, इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तो को वडे सरल तरीके से लोगो को समझाया और अपने नैतिक आचरणो से जनता को प्रभावित किया। जिस इस्लाम की यह सरल और सहज भावना थी वह इस धर्म का प्रचार करने मे वडी सफल रही। कही-कही हिन्दू मन्दिरो के तोड-फोड और वलात् इस्लाम धर्म को स्वीकार करने के लिए भी लोगो को वाध्य किया गया था। इस कार्य से इस्लाम धर्म के प्रति रोश की भावना वनने लगी और इसके प्रति कटुता बढी। फिर भी जव दोनो धर्म के मानने वाले एक साथ रहने लगे तो इन्होने एक-दूसरे को खूब समझा और आदान-प्रदान की व्यवस्था भी वनने लगी। राजस्थान के नरेशो ने कई दस्तकारो को अपने यहाँ आश्रय देकर कला-कौशल की अभिवृद्धि की। सेना मे भी उन्हे स्थान दिया गया। कई काजियो को राजकीय रूप से सम्मानित किया जाता था। मस्जिदो को भी राजाओ के द्वारा अनुदानो के दिये जाने के कई उल्लेख मिलते हैं। अजमेर की दरगाह शरीफ को अजीतसिंह और जगतसिंह द्वारा गाँवो को भेंट के रूप मे दिये जाने के वर्णन मिलते हैं। इस प्रकार की नीति का यह फल हुआ कि राजस्थान मे १८वी शताब्दी तक हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के विशेष रूप के अवसर नही आये। वैसे तो यह स्थिति सम्पूर्ण भारतवर्ष मे भी इस काल तक थी, परन्तु राजस्थान के शासको की सहिष्णु नीति इस प्रकार के वातावरण के लिए अधिक उपादेय सिद्ध हुई।[१०]

---

९ जैन इन्सक्रिप्शन्स, प्रथम, द्वितीय व तृतीय भाग, जी० एन०, इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २११-२१६

१० हकीकत वही, १७७६, दरगाह फाइल, १८१८ ई०, जी०। लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २१६-२२३

धार्मिक सुधार और भक्ति प्रवाह—जैसा हमने ऊपर पढा, परम्परागत ... मे सभी वर्ग और स्तर के व्यक्ति विश्वास रखते थे और उसका समाज पर बडा प्रभाव था। जीवन को अनुशासित ढग से चलाने मे उनका बडा हाथ था। परन्तु जब देश के कई विचारक परम्परागत धर्म मे जाने वाले दोपो को निकालने के पक्ष मे प्रयत्न कर रहे थे और धर्म-सुधार प्रवृत्ति की ओर चिन्तन हो रहा था, राजस्थान भी इस चिन्तन मे योग दान देने लगा। रूढिवाद और धार्मिक उपकरणो के बजाय हृदय की शुद्धि और ईश्वर मे भक्ति पर बल दिया जाने लगा। तुर्की आक्रमण ने जिस तीव्र गति से मन्दिरो को ढहाना तथा मूर्तियो को तोडना आरम्भ कर दिया उसी गति से कुछ दार्शनिक मन्दिरो और मूर्तियो के बजाय धार्मिक मनन और चिन्तन को प्राधान्यता देने लगे। जात पाँत के भेदभावो से ऊपर उठकर मनुष्य जाति के कल्याण के मार्ग की ओर विचारको का ध्यान गया। इसी प्रकार जब सहस्रो की सरया मे यहाँ की हिन्दू जनता को दास बनाया जाने लगा और उन्हे अपने धर्म को बदलने के लिए बाध्य किया जाने लगा तो समाज मे, धर्म को पाखण्ड से अलग रख, सगठन की चेतना उत्पन्न हुई। इस्लाम की साधारण प्रक्रियाओ ने तथा हिन्दू और मुस्लिम विचारो के आदान-प्रदान ने भी धार्मिक सुधार की भावनाओ को आगे बढाया। इन विविध प्रवृत्तियो के साथ आधारभूत भारतीय विचार और धर्म के प्रति लोगो की श्रद्धा बनी रही। भजन, मनन, नृत्य, गायन आदि साधनो से ईश्वर मे लौ लगाना अधिक श्रेयस्कर दिखायी दिया। अब परम्परागत धर्म के उपकरणो मे विकार उत्पन्न हो गया था और युग के अनुसार उनमे सुधार की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पूर्ति भक्ति आन्दोलन के द्वारा की गयी। उस समय के साहित्य मे, जैसे हरिबोल चिन्तामणि (१६६३ ई०), पश्चिमाद्रि स्तोत्रम् (१६५१ ई०), विप्रबोध (१६८८) आदि, नवचेतना और धर्म के प्रति नयी दृष्टि के सकेत मिलते हैं। हरिबोल चिन्तामणि का लेखक हृदय शुद्धि पर बल देता है। विप्रबोध मे हरि को सर्वोपरि मानते हुए तथा प्रार्थना का महत्त्व बताते हुए योगी, यति, पण्डित और शेखो की विशेष स्थिति की निन्दा की है। उदयराज नामक लेखक ने ईश्वर को पिदर और शक्ति को मादर बताया है। पश्चिमाद्रिस्तोत्र मे राम और रहीम, गोरख और गेसू, पीर और मीर, अल्ला और अकबर मे कोई भेद नही माना है।[११]

लोकदेव-गोगाजी, पाबूजी, तेजाजी, देवजी, मल्लिनाथ आदि—राजस्थान मे इस धम की नयी प्रवृत्ति का पूर्व रूप लोक-देवो के प्रदुर्भाव मे प्रतिध्वनित होता दिखायी देता है। जिन लोगो ने त्याग और आत्म-बलिदान से अपने देश की सेवा की या नैतिक जीवन विताया तो उनको देवत्व का स्थान देकर पूजा जाने लगा। इनमे

---

[११] हरिबोल चिन्तामणि, ११५-२२०, विप्रबोध, पद्य २७-५७, पश्चिमाद्रिस्तोत्रम्, पत्र १७-३१, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २२४-२२६

विश्वास रखने वाला अधिकाश मे वह वर्ग था जो युद्धप्रिय था और जिसके जीवन का आधार कृषि या हस्तकला था। ऐसे लोकप्रिय देवो मे गोगाजी का नाम मुख्य है। गोगाजी ने मुसलमानो से गाँएँ छुडा लाने मे अपने प्राण छोडे थे जिससे आज भी राजस्थान के गांव-गांव मे गोगाजी को पूजनीय माना जाता है। भाद्रपद की कृष्णा नवमी को इनके उपासक स्थान-स्थान मे मेला लगाते है और उनको श्रद्धाजलि अर्पित करते है।[१२]

गोगाजी की भाँति पूर्व-मध्यकालीन राजस्थान के तेजाजी, पाबूजी, मल्लिनाथ, देवजी आदि भी लोक-देव[१३] है जिन्होंने अपने आत्मोत्सर्ग के द्वारा तथा सादा और सदाचारी जीवन विताने के कारण अमरत्व प्राप्त किया। लाखो की सख्या मे ग्रामीण आज भी तेजाजी का चिह्न गले मे पहनते है। इनमे लोगो का यहाँ तक विश्वास है कि सांप का काटा हुआ पशु या मनुष्य इनकी मनौती लेने पर जीवित हो जाता है। इन विविध लोक-देवो की उपासना वैसे तो अन्ध-विश्वास पर आधारित रही है और बुद्धिवादियों की इन पर कोई श्रद्धा नही रही है, फिर भी इनके प्रति दृढ निष्ठा ने सहस्रो साधारण स्तर के नर-नारियो को सदमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया है। इनके जीवन-वृत्त पर मनन करने से ऐसा वर्ग इस नतीजे पर पहुँचा है कि जगत् का नियन्ता कोई ऊपरीय शक्ति है और चमत्कार से धार्मिक जीवन का घना सम्बन्ध है। इस प्रकार के विश्वास से प्रेरित होकर इन लोक-देवो के अनुयायी एक स्थान मे एकत्रित होते हैं और धार्मिक एकसूत्रता का अनुभव करते हैं। सबसे बडा महत्त्व इस प्रकार के स्थानीय देवो मे विश्वास का, जो मैं समझता हूँ, यह है कि राजस्थान की अधिकाश जनता ने विना धर्म सम्बन्धी दर्शन के शास्त्रार्थ मे पडे एकता, ध्यान और नैतिक जीवन के तत्त्वो को समझने मे सफलता प्राप्त की।[१४] इनके अनुयायियो मे आज भी अच्छे सिद्ध-पुरुष दिखायी देते हैं जो एक तरह से निरक्षर हैं परन्तु जिनका आत्मबोध स्तुत्य है और जिनका ईश्वर के प्रति प्रेम अगाढ है।

धन्ना—रहस्यवाद और रूढिवाद का समन्वय हम धन्ना सन्त मे पाते हैं जो राजस्थान के एक जाट परिवार मे १४१६ ई० मे पैदा हुआ था। भक्ति भावना से प्रेरित होकर धन्ना राजस्थान छोडकर बनारस चले गये और रामानन्द के शिष्य बन गये। नाभाजी ने धन्ना सम्बन्धी कई कथानको का उल्लेख किया है जिनमे कितना

---

१२ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २२६-२२७

१३ पाबूजी रा दूहा, ग्रन्थ न० ५, बस्ता न० २२, दयालदास स्यात, पत्र ४७-६७

१४ "The great worth of these 'desert—born geniuses for religion' was that without leading the simple minds of Country-men towards the controversies of theology, they impressed on their followers the worth of unity, contemplation and virtues of life—the main themes of religion" 228
—G N Sharma, *Social Life in Medieval R*

सत्यता का अश है यह तो कहना कठिन है, परन्तु उनके अध्ययन मे हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि धन्ना का परमात्मा मे पूर्ण विश्वास था। उनकी वाणी मे एक स्थान मे उन्होने बताया है कि "जगत् मे ईश्वर प्राप्ति का मार्गदर्शक मेरा गुरु है और जब गुरू की शिक्षा और आदेशो पर मनन करता हूँ तो हृदय को वडी शान्ति मिलती है और यह अनुभव होने लगता है कि ईश्वर-प्राप्ति आन्तरिक जिज्ञासा और ध्यान से होती है।"[१५] उनका अनुभव था कि प्रेम और मनन से ईश्वर का सामीप्य सुलभ है।

जाम्भोजी—जाम्भोजी का जन्म १४५१ ई० मे जोधपुर राज्य के अन्तर्गत नागौर परगने के पीपासर गाँव मे हुआ था। जाति के वे पँवार वशीय राजपूत थे। इनके पिता लोहटजी बडे सम्पन्न व्यक्ति थे और उनकी माता हासा भाटी कुल की थी। अपने पिता के इकलौते पुत्र होने के कारण उन पर माता-पिता तथा इतर सम्बन्धियो का सहज स्नेह था। बचपन से ही यह मननशील थे जिससे वे कम बोलते थे। साधारणत इस स्थिति को देखकर लोग इन्हे गूंगा कहते थे। परन्तु कभी-कभी वे ऐसी बात कर बैंठते थे कि लोग आश्चर्यान्वित हो जाते थे। सम्भवत अचभित करतूतो से लोग इन्हें जाम्भोजी कहने लगे हो। बताया जाता है कि ७ वर्ष की अवस्था से इन्हे गौएँ चराने भेज दिया गया जिस काम को वे लगभग अपनी १६ वर्ष की आयु तक करते रहे। इसी अवस्था मे इन्हे सदगुरू का साक्षात्कार हुआ। जब इनके माता-पिता की मृत्यु हो गयी तो वे घर छोडकर चल दिये और सत्सग मे तथा हरिचर्चा मे अपना समय बिताने लगे।[१६]

वे केवल मननशील ही नही वरन् उस युग की साम्प्रदायिक सकीर्णता, कुप्रथाओ एव कुरीतियो के प्रति जागरूक भी थे। वे चाहते थे कि अन्ध-विश्वास और नैतिक पतन के वातावरण से सामाजिक दशा को सुधारा जाय और आत्मबोध के द्वारा कल्याण के मार्ग को अपनाया जाय। उनकी शिक्षा-दीक्षा का व्यवस्थित न होना स्वाभाविक था, परन्तु गौएं चराने के अवसर ने इन्हें एकान्तवास और मनन का समय दिया। उनके सम्बन्ध मे बतायी गयी वाणी मे परमतत्त्व की विवेचना मिलती है जो अनुभव-प्रधान हो सकती है। ससार के मिथ्या होने पर भी उन्होने समन्वय की प्रवृत्ति को प्राधान्यता दी। दान, तीथ आदि के सम्बन्ध मे उन्होने उपेक्षा करते हुए 'शील-स्नान' को उत्तम बताया, पाखण्ड को अधम और पवित्र जीवन को धार्मिक बताया। विष्णु की भक्ति से अर्चन करने पर बल देते हुए कुरीतियो से बचने के उपाय भी उन्होने सुझाये। समाज सुधारक की भाँति जाम्भोजी ने विधवा विवाह पर बल दिया। मुसलमानो के अनुरूप मुर्दो को गाडना उन्होने ठीक बताया। उनके ये

---

[१५] भर्तृ चरित्र ग्रन्थ, पत्र २४१-२६८, सुख सवाद, पत्र २-१२, भक्तमाल, पत्र १२, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २२८-२२९

[१६] सबदवाणी तथा हरिदासजी की वाणी डा० माहेश्वरी, जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, प्रथम भाग, प्रस्तावना

सभी अनुभव २६ शिक्षा के नाम से जाने जाते है और इनका पालन करने वाले 'विष्णोई' नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। इन मतावलम्बियो का अपने जीवन और विचारो का एक तरीका हैं जिससे वे स्वत एक समाज बनाते है। इनको एक सूत्र मे गठित करने का श्रेय जाम्भोजी को है। आज भी विष्णोई समाज, जिसमे अधिकाश मे जाट हैं, अपने ढग से स्वतन्त्र विचारो का है और उसकी अपनी इकाई है। जाभोजी की जीवन लीला तालवा गाँव मे १५२६ ई० मे समाप्त हुई जिसके स्मरण मे विष्णोई भक्त फाल्गुन मास की त्रयोदशी को वहाँ एकत्रित होते है और मृत आत्मा को श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं। जाम्भोजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त, सबद-वाणी और उनका नैतिक जीवन मध्ययुगीन धर्म सुधारक प्रवृत्ति के बलवान अग हैं।[१७]

रैदास—रैदास चमार जाति के थे जिसका समाज मे बडा निम्न स्थान था। इनका जन्म बनारस मे हुआ था। बचपन से ही रैदास घर मे जो भी पैसा या वस्तु होती थी, साधु-सन्तो और गरीबो को बाँट दिया करते थे। इन हरकतो से तग आकर इनके पिता ने इन्हे घर से निकाल दिया। बेचारे निराधार रैदास अपनी पत्नी के साथ एक झोपडी मे रहने लगे और जूतो की मरम्मत कर अपना निर्वाह करने लगे। इस स्थिति मे रहते हुए भी उनमे साधु समागम की रुचि बढती गयी और इनकी ख्याति एक सिद्ध के रूप मे हो गयी। बताया जाता है कि वे चित्तौड भी गये जहाँ मीराबाई से उनकी भेंट हुई। ये दोनो समकालीन थे या नही यह विषय विवादस्पद है, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि रैदास की स्मृति मे एक छत्री कुम्भश्याम के मन्दिर (चित्तौड) के एक कोने मे बनी हुई बतायी जाती है।[१८]

यह तो ठीक है कि रैदास राजस्थान के नही थे, परन्तु इतना अवश्य है कि रैदास का सम्पर्क राजस्थान से अवश्य बना रहा। आज भी कई हस्तलिखित भण्डारो मे रैदास की वाणी की प्रतिलिपियाँ बडी सख्या मे मिलती है और परम्परा से उन वाणियो को दुहराया जाता है या उनका श्रद्धा से उल्लेख किया जाता है। इन वाणियो को 'रैदास की परची' भी कहते है। इनमे सहिष्णुता, मानवता, आत्मसमर्पण, भक्ति, उदार विचार आदि विषयो से सम्बन्धित रस प्रवाहित होता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रैदास को आडम्बर, रूढिवादी कर्मकाण्ड और वर्णाश्रम, अवतारवाद आदि मे कोई विश्वास नही था। वे दार्शनिक शास्त्रार्थ को व्यर्थ मानते थे। इनका विचार था कि ईश्वर नित्य है, सर्वोपरि है तथा मनुष्य एक निमित्तमात्र अबोध वासनाओ का

---

१७ जाम्भोजी-रा-गीत, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १९-२०, पाद टिप्पणी, न० २, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २२६

१८ डा० ताराचन्द्र, इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृ० १७६

दास है। रैदास तथा कबीर के सिद्धान्तो मे बहुत कुछ साम्यता दिखायी देती है। उन्होने सर्वदा अपनी तथा व्यक्ति की निम्नता स्वीकार करते हुए ईश्वर की महत्ता के गुणो को गाया है। रैदास के जीवन से उस समय के जाति-बन्धनो की जटिलता पर प्रकाश पडता है और साथ ही साथ यह भी आभासित होता है कि सिद्धो की सज्ञा मे आये हुए सन्तो की मान्यता के समक्ष सकुचित विचारो तथा भेद-भावो का कोई स्थान नही था।[१९]

मीराबाई—जिस युग मे समन्वय के प्रयत्न तथा सादे और सारगर्भित विचारो की मान्यता बढ रही थी उस समय एक राजपूत महिला द्वारा, जिसका नाम मीराबाई था, इस मान्यता को और अधिक बल मिला। अभाग्यवश जिस मीरा के नाम मे एक भक्ति प्रवाह का अविरल स्रोत दिखायी देता है उस नाम के सम्बन्ध मे कई भ्रान्तियाँ फैली हुई है। भाषा विज्ञान या शब्द विज्ञान के आधार पर यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि मीरा शब्द की व्युत्पत्ति 'मीर', 'पीर', 'मिहिर' आदि से है। इन धारणाओ की पुष्टि में बताया जाता है कि यह नाम किसी सन्त विशेष द्वारा दिया हुआ उपनाम है। पुरोहित हरनारायणजी की यह धारणा है कि मीरा नाम अजमेर शरीफ के एक सिद्ध मीराशाह की मनौती के फलस्वरूप हो सकता है। श्री शास्त्री के अनुसार मीरा शब्द का मूलरूप 'मिहिर' से सम्बन्धित है। प्रो० नरोत्तमदास स्वामी प्राकृत और अपभ्रश के व्याकरण के आधार पर 'मीरा' का मूलरूप 'बीरा' मानते है। श्री गहलोत मीरा का अर्थ सागर से लेकर उसका प्रयोग महान के अर्थ मे करते हैं। इन सभी प्रकार की दलीलो से यह ध्वनि निकलती है कि 'मीरा' नाम अस्वाभाविक है। ऐसा प्रतीत होता है कि अस्वाभाविक नाम के लिए ही सभी व्युत्पत्तियाँ ढूँढ निकाली गयी हैं। परन्तु हमारी राय मे वास्तव मे देखा जाय तो यह नाम राजपूतो मे नवीन नही है। मालदेव की एक लडकी का नाम मीरा था जिसका विवाह वागड के एक राजकुमार से हुआ था। राजस्थान मे राजपूतो में विशेष रूप से ऐसे नाम दिये जाते थे जिनका सम्बन्ध परिचित वस्तुओ से हो। उदाहरणार्थ, आस्थान के लडके का नाम हेडक (बैल) था, जयमल के लडके का नाम बीजड (बीज) था, चुण्डा की स्त्री का नाम इन्दी (काँटे वाली फाटक), सातल की पत्नी का नाम फूला (भुना हुआ मक्का), गागा की स्त्री का नाम जेवडा (रस्सी) आदि रखे गये थे। इन्ही उदाहरणो के अनुकूल मीरा 'मेर' से सम्बन्धित नाम है। मेर खडी फसल को कहते हैं। मीरा के परिवार का सम्बन्ध खेती से होने से इस नाम को चुना गया हो तो कोई

---

[१९] रैदास की पर्ची, पद्य १२-१३, भक्तमाल, पत्र १२, रैदास की वाणी, पृ० ७-३९, सन्तवाणी, पृ० २४, डा० ताराचन्द, इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृ० १७९-१८०, डा० जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २२९-२३०

आश्चर्य नही। 'पीर' या 'मीर' से मीरा नाम का सम्बन्ध जोडना असगत प्रतीत होता है। यह नाम विशुद्ध स्थानीय नाम है और राजपूत परम्परा के अनुरूप है।[२०]

नाम की भाँति मीरा के जीवनवृत्त सम्बन्धी घटनाएँ जन्म, विवाह तथा मृत्यु विवादग्रस्त है। कर्नल टॉड ने मीरा का विवाह कुम्भा से होना लिखा है जो भ्रान्तिपूर्ण है, क्योकि कुम्भाकालीन किसी भी आधार से ऐसा प्रमाणित नही होता। सम्भवत टॉड ने कुम्भा को कृष्ण भक्त जानकर मीरा का नाम उससे जोड दिया हो। कुछ भजनो के आधार पर मीरा को कवीर, तुलसी तथा अकवर का समकालीन माना जाने लगा। परन्तु उसे इन व्यक्तियो के समकालीन मानने में मीरा का जीवनकाल १४२५ से १६०५ ई० तक चला जाता है जो सम्भव नही। इसके अतिरिक्त इन गीतो की पुष्टि मे कोई दूसरी सामग्री मीरा को तुलसी या कवीर के समकालीन नही ठहराती। अतएव इस धारणा मे स्वत तर्क का अभाव दीख पडता है। यदि हरिराम, नाभादास, प्रियदास आदि की कृतियो से कुछ ऐतिहासिक निष्कर्ष निकालें तो हम मीरा के काल को १५०० से १५४० के लगभग स्थिर कर पाते हैं, जो ठीक है।[२१]

प्रियदास के भक्तमाल और मेडतियाँरी ख्यात से मीरा के जीवन की कहानी के कुछ अश स्पष्ट होते है। मीरा अपने पिता रत्नसिंह की इकलौती पुत्री थी। इनका जन्म मारवाड के एक गाँव कुडकी मे लगभग १४९८-१४९९ ई० मे हुआ था। जव वह अल्पवयस्क थी तो इनकी माता का देहान्त हो गया। तभी से वे कुडकी से मेडता अपने दादा दूदाजी के पास रहने लगी। दूदाजी स्वय कृष्ण के वडे भक्त थे और उनके आसपास हिन्दू सस्कृति के पोषक वातावरण का प्रावल्य था। उनके पिता रत्नसिंह, चाचा वीरमदेव और उनकी दादी सभी वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। ऐसे विशुद्ध वैष्णव धर्म के वातावरण का प्रभाव मीरा पर पडा जिससे उसके सस्कारो मे एक दृढ भक्ति उत्पन्न हो गयी। यदि परम्परागत कथानक मे सत्यता है, तो वताया जाता है कि मीरा मे कृष्ण के प्रति निष्ठा अपनी दादी के द्वारा उत्पन्न हुई। एक वरात को देखकर वालिका मीरा ने अपनी दादी से पूछा कि यह वरात किसकी है ? उत्तर मिला कि यह दूल्हे की वरात है। झट से दूसरा प्रश्न था कि मेरा दुल्हा कहाँ है ? तो दादी ने कहा कि तुम्हारा दूल्हा गिरधर गोपाल है। तभी से मीरा गिरधर गोपाल की उपलब्धि के प्रयत्नो मे लग गयी।[२२]

---

२० माधुरी, मीरा, पृ० ११४-१५, राजस्थानी साहित्य न० २, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ० ३२९, टॉड, एनल्स, पृ० २३२-३३, माताप्रसाद, तुलसीदास, पृ० २५४, माहेश्वरी, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २९५-२९७, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २३०-२३१

२१ टॉड, एनल्स, पृ० २३२-२३८, डा० ताराचन्द, इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृ० १४६-१४७,

२२ प्रियदास, भक्तमाल, पत्र ४१, मेडतारी ख्यात, पत्र ९३९, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३५९

समय आने पर मीरा का विवाह सागा के पुत्र भोजराज से हुआ। परन्तु अभाग्यवश उनका वैवाहिक जीवन अधिक मधुर न रहा, क्योकि उनके पतिदेव की शीघ्र ही मृत्यु हो गयी। पति की मृत्यु के वाद १५१५ ई० मे उनके दादा दूदा की भी मृत्यु हो गयी। कुछ ही समय के वाद मीरा के पिता खानवा के युद्ध मे, जो वाबर के विरुद्ध लडा गया था, मारे गये और अन्त मे १५३० ई० मे उनके श्वसुर सागा का भी देहान्त हो गया। इन घटनाओ के पाँच वर्ष की अवधि मे उनके चाचा वीरमदेव को मालदेव से पराजित होना पडा और इसके फलस्वरूप उसे मेडता छोडना पडा। अब वह एक तरह से बेघर की हो गयी। मीरा के जीवन की यह कहानी दुखी जीवन की कहानी है। न पिता के घर और न पति के घर उसे कोई तसल्ली देने वाला बच रहा। यहाँ तक कि सागा के उत्तराधिकारियो मे गृह-कलह आरम्भ हो गया जिसमे मीरा का वैधव्य एक अभिशाप था। मेवाड राजपरिवार मे उनकी कुछ नही चलती थी बल्कि उनके स्वतन्त्र विचारो से राणा उनके विरोधी हो गये थे।[२३] इस परिस्थिति ने मीरा के जीवन को नया मोड दिया। अवश्य ही पति की मृत्यु से लेकर अपने चाचा को मेडता से निकाले जाने की अवधि काल का उपयोग मीरा ने अध्ययन और मनन से किया। उसे जहर पीने के लिए विवश किया जाना, साँप से कटवाना, पानी मे डूब मरने का प्रयत्न करना, उनके चरित्र पर राणा द्वारा सन्देह करना आदि कथानको का तारतम्य यही प्रतीत होता है कि मीरा का रवैया एक राजपूत परिवार की स्त्री के रवैये से भिन्न था। वह एक असाधारण महिला थी जिसने एक दुख के वाद दूसरे दुख को वडे धैर्य से सहन किया और अपने लिए अध्ययन, मनन और सत्सग का मार्ग ढूँढ निकाला। साथ ही उनकी वैष्णव धर्म के प्रति दृढता रत्नसिह, विक्रमादित्य आदि की शैवधर्म की ममता मे मेल नही खाती थी। कहाँ तो रत्नसिह और विक्रमादित्य की पहलवानों और तमाशबीनो की सगति और कहाँ मीरा की साधु-सन्तो से धर्म चर्चा, इन दोनो प्रवृत्तियो का कोई मेल न था। विभिन्न दृष्टिकोणो का एक स्थान में समावेश होना कठिन था। सम्भवत यही विष और साँपो की कहानियो का रहस्य है। मीरा राजपरिवारो के लिए काँटे की तरह चुभ रही थी। उनका चित्तौड मे रहना प्रमादी राणाओ के लिए असह्य था। विक्रमाजीत, जो उग्र और प्रतिकार की भावनाओ से भरा था, मीरा को अनेक यातनाएँ देने लगा। परन्तु कृष्ण भक्ति मे लगी हुई मीरा के लिए शारीरिक यातनाएँ, वैधव्य जीवन के कडवे घूटे तथा जीवन की असुविधाएँ कोई महत्त्व नही रखती थी। उनका क्रमश जीवन से मोह घटता गया और उनकी निष्ठा भक्ति-भाव और सन्त सेवा की ओर द्रुतगति से बढती चली गयी।[२४]

उधर से मीरा के लिए त्रास और भय की योजनाओ का कोई अन्त न था और

---

२३ प्रियदास, भक्तमाल, पृ० ४१, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, ३५६, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २३२-३३

२४ प्रियदास, भक्तमाल, पत्र ४२-४३

इधर मे कृष्ण भक्ति के प्रकार प्रगाढ व अनन्त थे। यह प्रतिशोध की भावना और दृढ निष्ठा का तुमुल युद्ध था। "राजपूत परिवार मे, जिसकी स्त्रियाँ जौहर की प्रथा मे गौरव अनुभव करती हैं और जिन्होंने अपने धर्म पर आरूढ रहने का सिद्धान्त बना रखा है, पैदा होकर मीरा ने दुनिया को यह बता दिया कि वह अपने विचारो पर डटी रहेगी और विपरीत फल होने की आशका की कभी परवाह न करेगी। कृष्ण के प्रेम के लिए वह किसी अन्य समझौते के लिए तैयार नही हो सकती।"[२५] मेवाड मे अपनी लगन मे लग रहने के लिए वातावरण को उपयुक्त न समझ वे वृन्दावन चली गयी जहाँ उनके लिए साधना का मार्ग सुगम था। बताया जाता है कि वे एक दिन वृन्दावन मे रूप गोस्वामीजी से मिलने गयी। गोसाईजी ने, जो उच्चकोटि के सन्त थे, उनसे मिलने से इन्कार कर दिया, यह कहते हुए कि वे स्त्रियो से नही मिलते। मीरा ने प्रत्युत्तर मे कहलवा भेजा कि क्या वृन्दावन मे पुरुष रहते हैं ? यदि कोई पुरुष है तो वे कृष्ण हैं। रूप गोसाई इस सकेत से निरुत्तर हो गये, क्योंकि पुष्टि मार्ग मे सखी भाव से कृष्ण की सेवा की जाती है। जहाँ पुरुष और स्त्री का कोई भेद नही रहता। उन्होंने तुरन्त मीरा से भेंट की। इस प्रकार वृन्दावन मे रहते हुए, एक मत के अनुसार, वह नृत्य करते-करते रणछोडजी की मूर्ति मे, १५४० ई० के लगभग, लीन हो गयी।[२६]

मीरा नारी-सन्तो मे ईश्वर प्राप्ति मे लगी रहने वाली भक्तो मे प्रमुख हैं। जब हम इनकी कविताओ का समुचित रूप से अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि मीरा की कृष्ण भक्ति तीन सोपानो से होकर गुजरती है। पहला सोपान प्रारम्भ मे उनका कृष्ण के लिए लालायित रहने का है। वे व्यग्र होकर गा उठती हैं "मैं विरहणी बैठी जागूँ, जग सोवी री आली।" वह फिर विनम्र भाव से कहती हैं "छोड मत जाजोजी महाराज।" दूसरा सोपान वह है जब उन्हे कृष्ण भक्ति से उपलब्धियो की प्राप्ति हो गयी थीं। वे सन्तोषपूर्वक कहती है, "माई मैं तो राम रतन धन पायो।" तीसरे भक्ति के सोपान मे उन्हे आत्मबोध हो जाता है जो सायुज्य भक्ति की चरम सीढी है। वे सहसा कहती है, "मारे तो गिरिधर गोपाल दूजो न कोई।"[२७]

मीरा आज नही हैं परन्तु वे हमारे लिए एक समृद्ध भक्ति साहित्य को छोड गयी है जिसे उन्होंने रच-रचकर गाया और उसके द्वारा अपना ही नही अन्य भक्तो

---

२५ "Born in the race of the Rajputs, whose women boasted of the custom of *Jauhar* and who had for their ideal unshaken fidelity to their faith, she showed to the world that she would stand by her conviction however terrible the consequences might be In her love for the Lord Krishna, she could accept no compromise" —G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 233

२६ प्रियदास, भक्तमाल, पत्र ४२, घोष, लार्ड गौराग, भा० १, प्रस्तावना, पृ० ११, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २३३-३४

२७ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २३४

के मार्ग को स्पष्ट किया। मीरा की मान्यता थी कि ससार छोड देने से ईश्वर की प्राप्ति होती है। उनकी दृष्टि मे समृद्धि, वैभव, ससार के सुख, उच्च पद और सम्मान मिथ्या है। यदि कोई सत्य है तो उनके 'गिरिधर गोपाल।' कृष्ण को ही वे परमात्मा और अविनाशी मानती थी। उनका धम भक्ति था जिसमे उपकरणो और रूढियो का कोई स्थान नही था। भक्ति का सरल मार्ग उनके अनुसार, गायन, नृत्य और कृष्ण-स्मरण ही है। वह दिखावो, ढोग और परम्परागत मिथ्या मान्यताओ से परे थी। इस अर्थ मे वे नवयुग की अगुवा थी। मीरा की भक्ति की विशेषता यह थी कि इसमे ज्ञान पर जितना वल नही था उतना भावना पर था। यही कारण है कि साधारण स्तर के व्यक्ति के लिए मीरा द्वारा प्रतिपादित मार्ग सुगम है। इसकी सफलता का एक यह भी रहस्य है कि उन्होने उच्च सिद्धान्तो को वोलचाल की भाषा मे व्यक्त किया न कि शास्त्रीय भाषा मे। इस विचार के अनुयायियो मे कृपको से लेकर राजा-महाराजा तक पाये जाते हैं। वैसे तो मीरा को लेकर पिछले कवियो ने अनेक कविताओ की रचना कर दी, परन्तु जो भावनाएँ उनमे मिलती हैं वे सभी मीरा की सच्ची भावनाओ की प्रतीक हैं। आज भी 'मीरादासी' सम्प्रदाय अनेक भक्तो द्वारा अपनाया जा रहा है और उसके अनुसरण करने वालो की सख्या राजस्थान मे पर्याप्त है।

डा० मेनारिया के शब्दो मे—"मीरा प्रेम और भक्ति की दीवानी थी। आध्यात्मिक आकुलता और भक्त हृदय का अटल विश्वास इनकी कविता मे अपूर्व रूप से झकृत है। साहित्यिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इनकी कविता कोई वहुत ऊँची नही है, परन्तु स्वाभाविक तथा भक्तिभावपूण होने से एक भक्त-हृदय को मुग्ध करने मे वह फिर भी अप्रतिभ है। सूर सचमुच हिन्दी साहित्याकाश के 'सूर' है, परन्तु इतना सव होते हुए भी मीरा के पदो मे जो रस है, मीठा-सा दद है, वह उनमे भी नही आ पाया है।"

दादू—धर्म सम्वन्धी स्वतन्त्र विचारको मे दादू का भी नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इनके जीवन सम्वन्धी अनेक मत हैं। प० सुधाकर द्विवेदी ने इन्हे जौनपुर के निवासी वताया है, जहाँ वे मोची का काम करते थे। इन्हे वे कमाल के शिष्य भी वताते हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन इन्हे धुनिया मुसलमान वताते हैं। इनके मुसलमान होने की सम्भावना को लगभग कई विद्वान मानते है जिनमे डा० मोतीलाल मेनारिया, डा० पीताम्वरदत्त, डा० हजारीप्रसाद आदि मुख्य है। डा० पीताम्वरदत्त तथा श्रीपरशुराम चतुर्वेदी इनका जन्म-स्थान अहमदावाद वताते हैं। इनके सम्वन्ध मे यह भी प्रसिद्ध है कि सावरमती नदी मे वहते हुए एक नागर ब्राह्मण लोदीराम ने इन्हें वचा लिया और उनका लालन-पालन किया। प्रसगवश बुद्धानन्द से इनकी भेंट हुई जिन्होने इन्हे दीक्षा दी, तव से ही वे त्यागी हो गये। घरवार छोड कर वे जगह-जगह पर्यटन करते रहे और साधना मे व्यस्त रहे। इस अवधि मे उन्होने सिरोही, कल्याणपुर, साँभर, अजमेर, आम्वेर आदि स्थानो मे भ्रमण किया। लम्वे अनुभव के वाद उन्होंने अपने विचारो को प्रकट किया। सयोगवश इनकी भेंट अकवर

से भी हुई। अपने पिछले जीवन के दिन उन्होने नारायना गाँव मे विताये। वहाँ उनकी १६०५ ई० मे मृत्यु हुई। इनकी स्मृति मे एक झील के किनारे सुन्दर संगमरमर के भवन बने हुए है। सम्पूर्ण भवन एक चबूतरे पर खम्भो से आधारित है, जिसके भीतरी भाग मे दादूजी के चरण-चिह्न तथा उनकी कृतियाँ सुरक्षित हैं। भवन की निर्माण-कला मे हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य का सम्मिश्रण है। झील के किनारे एक मस्जिद भी है जो इस धार्मिक स्थान मे समन्वय की सूचक है। यहाँ फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी से पूर्णिमा तक एक बहुत बडा मेला लगता है, जहाँ दूर-दूर से साधु-सन्त एकत्रित होते हैं और दादूजी को अपनी ओर से श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं।[२८]

दादू की ख्याति एक सन्त के रूप मे तथा दादू पथ के प्रवर्तक के रूप मे है। इनकी शिष्य परम्परा मे वैसे तो १५२ शिष्य माने जाते है परन्तु इनमे ५२ शिष्य प्रधान रूप से स्वीकृत हैं जिसमे सुन्दरदास, बलनाजी और रज्जबजी विशेष उल्लेखनीय है। इस पथ के ये ५२ शिष्य बावन स्तम्भ कहलाने लगे। इन्होने प्रमुख दादू पथ से अपना सम्बन्ध तो बनाये रखा पर इन्होने इसकी कई शाखा और प्रशाखाओ का भी प्रवर्तन कर डाला, जिनमे खालसा, नागा, उत्तराढी, विरक्त तथा खाकी मुख्य हैं। आज भी नारायणा की गद्दी को दादू पथ की प्रधान गद्दी मानी जाती है और सभी खम्भो के अनुयायी इसकी मान्यता स्वीकार करते हैं।[२९]

दादू द्वारा कविता मे व्यक्त किये गये विचारो को उनके शिष्यो ने सकलन किया जिनको दादूदयाल-की-वाणी तथा दादूदयाल-रादूहा कहते हैं। इनके अध्ययन से हम दादू के भाव, विचार और सिद्धान्तो की जानकारी कर सकते हैं। इनमे उनके उदार विचारो का, जो विशेष जातिवाद और बन्धनो से मुक्त है, अच्छा सग्रह है। इन वाणियो से उनकी आत्मानुभूति, ईश्वर तथा गुरु मे आस्था, प्रेम और नैतिकता व्यक्त होती है। एक वाणी मे गुरु की महिमा के प्रसग मे वर्णित है कि शिष्य, जो निराधार और दीन है, गुरु दया से उच्च आदर्शो की उपलब्धि कर लेता है। आगे वह कहते हैं कि गुरु के शब्द दूध के समान हैं जिसमे से विलोकर घी शिष्य की क्षमता से ही निकाला जा सकता है। रात-दिन राम या अल्हा के नाम स्मरण से और जगत् की मिथ्या माया के त्याग से मुक्ति मिल सकती है। कबीर की भाँति दादू रूढियो, विविध पूजा पद्धतियो के विरुद्ध थे और कहते थे कि ईश्वर एक है जिसके दरबार मे

---

२८ दादूदयाल का सबद, भूमिका, डा० ताराचन्द, इन्फ्लूएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृ० १८५, डा० मोतीलाल, राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ० १८३, हिन्दी सन्त काव्य सग्रह, पृ० १३४, केम्पबेल ओमन, दि मिस्टिक्स, पृ० १३३, माहेश्वरी, राजस्थानी साहित्य, पृ० १८१-१८२, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २३५-२३६

२९ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २६७-६८, रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८५, उत्तरी भारत की सन्त परम्परा, पृ० ४२१-४२२, माहेश्वरी, राजस्थानी साहित्य, पृ० २८२-८३

हिन्दू-मुसलमानो का कोई भेदभाव नही है। ऐसे शास्त्रीय ज्ञान और तत्त्वज्ञान का महत्त्व वे स्वीकार करते थे जिनको स्वानुभूति, अनुभव और व्यावहारिकता की कसाटी पर परखा जा सके। उनके विचार से स्वानुभूति ही सत्य है और आत्मबोध ही प्रामाणिक है। दादू द्वारा प्रतिपादित पथ मे प्रेम एक ऐसा धागा है जिसमे गरीब व अमीर वाँधे जा सकते है और जिसकी एकसूत्रता विश्व-कल्याण का मार्ग स्पष्ट कर सकती है। उनके सिद्धान्त विश्व-कल्याण के मागलिक भावो से ओतप्रोत हैं। इनके अनुयायी के लिए आवश्यक है कि वे अपने सर को मुंडवाने, मूर्ति पूजा का विरोध करने, नैतिकता का प्रचार करने के साथ-साथ हृदय की विशालता, विशुद्ध मनोवृत्ति, समान भाव को प्राधान्यता दें।[30]

जहाँ तक दादू के सिद्धान्तो मे उपासना का प्रश्न है, दादू ने मन्दिर, मस्जिद, पण्डित, मुल्ला, मौलवी, रोजा-नमाज, छापा, तिलक, वेश-भूषा आदि को उसका माध्यम नही बताया और न विशेष प्रकार के उपकरणो पर वल ही दिया। इनकी उपासना निरजन और निर्गुण ब्रह्म की प्राधान्यता को लेकर है। उनका कहना था कि आत्मज्ञान, जात-पाँत की निस्सारता तथा सयम-नियम, प्राभावाभिव्यक्ति सच्चे उपासना के साधन हैं। जहाँ तक सत्य और सरल जीवन की अभिव्यक्ति के ऊपर वल देने का प्रश्न है दादू और कवीर के सिद्धान्तो मे साम्यता दिखायी देती है, परन्तु कवीर की भाँति खण्डन-मण्डन की प्रणाली को दादू ने नही अपनाया। मौलिक रूप से दोनो मे साम्यता सुधारवादी भावना से है, यदि भेद है तो दृष्टिकोण और पद्धति का। दादू की वर्णन-शैली सरल और स्पष्ट है। कबीर के कहने मे उग्रता झलकती है तो दादू मे विनम्रता। दादू के शब्द हृदय को स्पश कर जाते हैं।[31]

सबसे वडी विशेषता जो दादू के प्रचार के माध्यम की है वह भाषा है। जैसे वातावरण या स्थान विशेष मे प्रचार की आवश्यकता हुई दादू ने वैसी भाषा का प्रयोग किया। राजस्थान मे, जो उनके पथ का केन्द्र था और जहाँ उन्हें विशेष आना जाना पडा, उन्होने ढूँढाडी भाषा को अपनाया। उनकी भाषा मे गुजराती, पश्चिमी हिन्दी तथा कुछ पजावी शब्दो का प्रयोग भी दिखायी देता है। उन्होने आम जनता के लिए अपने विचारो को गम्य कराने के लिए पजाबी, रेख्ता और फारसी से मिश्रित भाषा को अपनाया। हिन्दी के सन्त-साहित्य मे दादूजी का 'वाणी' का इसीलिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।[32]

दादू के शिष्यो ने वाणी के रूप मे उनके गुरु के सिद्धान्तो का विश्लेषण किया।

---

[30] गुरुदेव को अग, पत्र १-२२, दादू दयाल की वाणी, पृ० १८६, ३२३, ३३८, ४५५ आदि, डा० ताराचन्द, इन्फ्लूएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृ० १८२-१८८, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ, पृ० २३६

[31] सन्त काव्य, पृ० २८४, डा० माहेश्वरी, राजस्थानी साहित्य, पृ० २८४

[32] जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २३६-३७

परमात्मा को सर्वस्व-समर्पण, उपासना, साधना, अहिंसा, प्रेमभाव, भक्ति की तन्मयता पर बल देकर इस पथ को सजग रखा। राजस्थान मे आज भी दादू पथ के अनेक अनुयायी पाये जाते हैं।

रामचरणजी—राजस्थान के राजनीतिक जीवन मे १८वी शताब्दी का काल एक ह्रास काल था। यहाँ की धार्मिक और सामाजिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो रही थी। महाराणा कुम्भा, सागा, मालदेव, चन्द्रसेन और प्रताप के शौर्य की कहानियाँ स्मृति रूप मे जीवित थी। पारस्परिक द्वेष और ईर्ष्या से वातावरण धूमिल एव विक्षुब्ध हो रहा था। सामन्तो और नरेशो के आपसी कलहो से अग्रेजो की आँखे राजस्थान पर लगी हुई थीं। मराठो के आक्रमणो से व्यापारिक और जनजीवन की साधारण गतिविधि अवरुद्ध हो रही थी। धर्म की स्थिति सन्तोषजनक नही थी। व्रत, उपवास, तीर्थ, पूजा, प्रतिष्ठा आदि के नाम पर धर्म भीरु जनता को ठगा जाता था या डराया जाता था। ऐसे आतक के विक्षुब्ध वातावरण को शुद्ध करने के लिए ऐसी विभूति की आवश्यकता थी जो युग की आवश्यकता को समझे और पथ-भ्रष्टो को सच्चा मार्ग दिखाये।

भाग्यवश १७१८ ई० मे जयपुर राज्य के अन्तर्गत सोडा (सूरसेन) नामक गाँव मे एक बीजावर्गी वैश्य कुल मे रामचरणजी का जन्म हुआ। इनके पिता बखतराम और माता देउजी मालपुरा के निकट बनवाडो नामक गाँव मे रहते थे। शिशु का जन्म अपनी ननिहाल मे हुआ था। पुत्र की उत्पत्ति के उपलक्ष मे वहाँ तथा पिता के घर बडा उत्सव मनाया गया। कुण्डली के अनुसार इनका नाम रामकिशन रखा गया। इनके नक्षत्रो से ज्योतिषियो ने यह बताया कि नवजात बालक या तो सम्राट होगा या महान योगी। तेजस्वी अवयवो से उनमे प्रतिभा स्पष्ट थी।[३३]

रामकिशन बचपन से ही प्रखर बुद्धि थे। शीघ्र ही उन्होने अपने पिता का काम सँभाल लिया। इनकी कार्यकुलता की ख्याति चारो ओर फैल गयी। जयपुर नरेश ने भी इनकी प्रशसा सुन उन्हे अपने यहाँ बुलाकर अपना मन्त्री बना लिया। कर्तव्य परायण और न्याय-निष्ठ रामकिशनजी ने इस कार्यभार को उस योग्यता से सँभाला कि सभी उनकी निपुणता तथा न्याय-प्रियता की प्रशसा करने लगे। परन्तु कुछ आकस्मिक घटना इस प्रकार घटी कि रामकिशनजी ने राज्य-कार्य छोड दिया। बताया जाता है कि जब वे २४ वर्ष की आयु के थे कि उनके पिता की मृत्यु हो गयी। उनके मोसर करने के लिए जयपुर से गाँव जाते हुए उन्हें एक यति मिला जिसने उनके या तो सम्राट या योगी होने की सम्भावना प्रकट की। इन्ही दिनो पिछली रात्रि को उन्हे एक स्वप्न हुआ जिसमे इनको नदी मे बहते हुए किसी ने हाथ पकडकर बचाया और फिर एक साधु से उनकी भेंट हुई। जब स्वप्न भग होकर उनकी आँखे

---

३३ स्वामी लालदास, रामचरणजी परची, गुरु लीला विलास, पद्य ४४, रामचरणजी की परची, पद्य ३०-३२

खुली तो उनको स्वप्न सम्बन्धी घटनाओ के गाम्भीर्य को समझने की बड़ी लालसा हुई और इसी को लेकर वे बडे चिन्तित हुए।[३४]

इसी चिन्ता मे उन्होने घर, सम्पत्ति, उच्चपद आदि को त्याग दिया और वे सद्गुरु की खोज मे निकल पडे। भाग्यवश यात्रा करते-करते वे मेवाड के एक गाँव दातडा मे पहुँचे जहाँ महाराज कृपारामजी के दर्शन करने का उन्हे सौभाग्य हुआ। वे इस सन्त की दिव्य मूर्ति देखकर चकित हो गये, क्योकि जिस सन्त को उन्होंने स्वप्न मे देखा था वह इन्हीं-से थे। थोडे समय अवाक् रहकर वे सहसा कृपारामजी के चरणो मे झुक गये। थोडी देर दोनो मे सलाप हुआ तब आचार्यजी ने उन्ह अपने पास रखा और राम नाम की दीक्षा दी और उनका दीक्षा नाम रामचरण रख दिया।[३५]

एक समय रामचरणजी को अपने गुरु कृपारामजी के साथ गलता के मेले मे जाने का अवसर मिला। वहाँ सहस्रो साधु एकत्रित हुए थे जिनकी भीडभाड को देख कर इनका मन घबराया, परन्तु गुरु के द्वारा राम-स्मरण का उपदेश सुन इन्हे शान्ति हुई। यहाँ से वे विरक्त वेश मे वृन्दावन गये, परन्तु एक साधु ने उन्हे फिर मेवाड लौट जाने की सलाह दी और आदेश दिया कि लोक-कल्याण मे लगकर साधारण जनता का उद्धार करना वास्तविक धर्म है। इस प्रकार का निर्देशन प्राप्त कर वे भीलवाडा पहुँचे। यहाँ लोग मूर्तिपूजक थे तथा सगुणोपासना मे विश्वास करते थे। स्वामीजी ने निर्गुण उपासना तथा सभी के प्रति प्रेम भावना का उपदेश देना शुरू किया। अनेक नर-नारी उनके उपदेशो को सुनकर मुग्ध हो गये और उनकी एक शिष्य मण्डली बन गयी। यहाँ दस वर्ष रहकर स्वामीजी ने साधना की और उसका लाभ अपने शिष्यो को भी दिया। फिर भी सगुणोपासना मे विश्वास रखने वाले व्यक्ति उनके विरोधी भी हो गये। उनको विष देने तथा हत्या करने के षड्यन्त्र रचे गये, परन्तु इसका प्रभाव स्वामीजी पर न पडा। इनके विरुद्ध बुरी भली बातें महाराणा के पास पहुँचायी गयी, परन्तु रामचरण पर इसका कोई असर न हुआ। विरोधियो को प्रसन्न रखने के लिए फिर तो स्वामीजी ने भीलवाडा छोड दिया और वहाँ से ढाई मील दूर कुहाडे गाँव जा रहे, जहाँ 'रामधुन' की ध्वनि ने सहस्रो की संख्या मे लोगो को आकर्षित किया। थोडे समय के बाद शाहपुरा से निमन्त्रण आने पर वे वहाँ चले गये जहाँ रामस्नेही सम्प्रदाय तथा मठ की स्थापना की तथा अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियो को 'अणभैवाणी' के रूप मे अवतरित किया। सहस्रो अनुयायियो के कल्याण मार्ग के सृजन के बाद स्वामीजी का देहावसान १७९८ ई० मे हो गया।[३६]

---

३४ गुरुलीला विलास, ब्रह्म समाधि लीन-जोग, छन्द २१, श्रीरामस्नेही सम्प्रदाय, वैद्य केवलराम स्वामी आदि द्वारा सम्पादित, पृ० ६-७

३५ ब्रह्म समाधि लीन-जोग, पद्य ३३-३४, गुरुलीला विलास, छन्द ४३-४४, रामचरणजी की परची, पद्य ३०-३२, श्रीरामस्नेही सम्प्रदाय, पृ० ८-११

३६ रामचरणजी की परची, छन्द ५१-५३, अणभैवाणी, पृ० ९९७-९८, श्रीरामस्नेही सम्प्रदाय, वैद्य केवलरामजी स्वामी आदि द्वारा सम्पादित, पृ० १२-२६

रामचरणजी द्वारा प्रतिपादित मार्ग 'रामस्नेही' सम्प्रदाय कहलाता है। स्वामी जी के समय मे ही इस सम्प्रदाय के सहस्रो अनुयायी वन गये, इनमे २२५ शिष्यो और १२ प्रधान शिष्यो की सज्ञा मे थे। इन्होने 'रामनाम' के पावन मन्त्र का प्रचार किया और दूर-दूर राम की महिमा का सन्देश भेजा। धीरे-धीरे इनकी शिष्य परम्परा वढती चली गयी जिनके प्रयास से जगह-जगह 'रामद्वारो' की स्थापना हुई। रामद्वारो मे रामस्नेही साधु रहते हैं और साधुओ मे हिन्दू जाति को ही लिया जाता है। ये साधु गुलावी रग की धोती और उपवस्त्र पहनते हैं तथा दाढी, मूँछ और सर के वाल नही रखते। इस मत के मानने वाले मूर्ति-पूजा नही करते और रामनाम के स्मरण को प्राधान्यता देते है। इस पथ मे नैतिक आचरण, सत्यनिष्ठा, धार्मिक अनुशासन पर वल दिया जाता है, चाहे वह रामद्वारे का साधु हो या गृहस्थी। शाकाहारी होना भी इनके लिए आवश्यक होता है। राम की अरचना दोनो स्त्री और पुरुषो के लिए वाछ-नीय है पर एक स्थान मे ये दोनो साथ रहकर अरचना नही करते। अरचना के कार्य-क्रम की परिपाटी मे मुसलमानो की पद्धति से कुछ साम्यता दिखायी देती है। रामचरण और उनके पीछे की गुरु प्रणालिका द्वारा रचित वाणियो को इस सम्प्रदाय मे वडा महत्त्व दिया जाता है, जिसको वडे प्रेम से गाया जाता है और व्याख्या की जाती है। इनकी भाषा व्रजभाषा या राजस्थानी होती है जो कि जन-समुदाय को आकर्षित करती है।[३७]

धार्मिक आन्दोलन की समीक्षा—तुर्को तथा मुगलो के आक्रमणो द्वारा पैदा होने वाली नयी परिस्थितियो ने तथा युग की आवश्यकताओ ने वास्तव मे धार्मिक जागरण को जन्म दिया था। युग धर्म की आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस समय के जो नूतन धर्मो के पथ और सम्प्रदाय वने उनमे सादगी, रूढिवाद का खण्डन, दिखावो का अभाव, अन्धविश्वास के प्रति घृणा आदि मुख्य थे। पूजा के विविध प्रकार, पण्डितो की प्राधान्यता, मन्दिरो की स्थापना, शास्त्रो के प्रति मान्यता आदि वातो का इस नवीन प्रवृत्ति मे कोई स्थान न था। इस नवजागरण ने सभी हिन्दू जाति और दलित जाति को एक वर्ग मानकर पथो की सीमाएँ वनायी जिससे विधर्मी होने के अवसर कम हो गये और भारतीय जनता एक सूत्र मे वँध गयी। यहाँ तक कि कई पथो मे तो हिन्दू-मुसलमानो का भेदभाव स्वीकृत नही करने से जातिवाद के दोष से देश मुक्त हो गया। निम्न वर्ग और उच्च वर्ग के भेदभावो को मिटाने से ये नवजागरण के प्रयास सुधार-वादी वन गये और अन्ततोगत्वा जन-समुदाय को इससे लाभ ही हुआ। इसी विशेषता

---

३७ अणर्भवाणी, गुरु महिमा, काम्पवेल ओमन, मिस्टिक्स, एसेटिक्स एण्ड सेण्ट्स ऑफ इण्डिया, पृ० १३३, भट्टाचार्य, हिन्दू कास्ट्स एण्ड सेक्ट्स, पृ० ४४७, डा० ताराचन्द, इन्फ्लूएन्स ऑफ इण्डिया ऑन इण्डियन कल्चर, पृ० २०५, डा० जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २३६

३८ कुण्डलियाँ रूपजी, पत्र १८६-२१७

को लेकर रैदास जैसे अन्त्यज जाति के व्यक्ति की सज्ञा सन्तो मे हो सकी जिन्हें आज भी सभी वडे आदर से देखते है। आत्मज्ञान, साधना और आत्मकल्याण के ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तो की व्याख्या बोलचाल की भाषा मे की जाने लगी तो ये पथ वडे लोकप्रिय हो गये। शास्त्रो की जटिल वातो के स्थान पर साधारण जीवन की नैतिकता को समझने मे सभी वर्गों के लिए सुगम हो जाना इन पथो का बडा चमत्कार था। प्रेम, सत्य, गुरु-भक्ति, ईश्वर मे विश्वास, भक्ति द्वारा साधना ऐसे माध्यम थे जिनकी सभी पथो मे मान्यता थी।[३८] इन सभी सम्प्रदायो के आधारभूत सिद्धान्तो का यदि हम परिवेक्षण करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इन विचारो से समाज मे एक आध्यात्मिक स्तर स्थापित हो सका तथा शान्ति का मार्ग प्रत्येक जिज्ञासु के लिए सुलभ हो सका।[३९]

परन्तु जहाँ हम इन मतो की विशेषताओ के गुणो को देखते हैं तो वहाँ हम उनमे शनै-शनै प्रवेश करने वाले दोषो की उपेक्षा नही कर सकते। वैसे तो इन पथो के प्रवर्तको के आचरण विशुद्ध थे, जिससे जन-समुदाय प्रभावित हुआ था, परन्तु आगे चलकर उनकी गद्दी पर वैठने वाले गुरु-परम्परा मे दुर्गुण पैदा हो गये जिससे ये पथ वदनाम होने लगे। जिन मौलिक पवित्र सिद्धान्तो को लेकर इनका प्रादुर्भाव हुआ था उनकी पूर्ति न हो सकी। रूढियो तथा उपकरणो मे विश्वास के विरुद्ध प्रवर्तक सन्तो ने जो अपनी आवाज उठायी थी वे ही दोष फिर इनमे प्रविष्ट हो गये। समाज का ढाँचा, जो सकुचित भावना और अन्धविश्वास से जकडा हुआ था, मुक्त न हो सका। पद-दलित अन्त तक पद-दलित बने रहे और कुछ न कुछ कमी फिर भी इन पथो में बनी रही। समाज से ऊँच-नीच का भाव पूर्णरूप से समाप्त न हो सका।

इन दोषो के रहते हुए भी यह मानना होगा कि भक्ति-आन्दोलन ने आन्तरिक भावनाओ को किसी सीमा तक विशुद्ध बनाने मे सहायता पहुँचायी। इससे स्थानीय साहित्य का विकास हुआ तथा ऐसे साहित्य से जिज्ञासुओ को नयी प्रेरणा मिली। कवीर, मीरा, दादू, रैदास आदि सन्तो की कृतियाँ आज भी प्रान्तो के लिए पथ-प्रदर्शक वनी हुई हैं। इसलिए यह युग न केवल राजस्थान की सस्कृति का वरन् भारतवर्ष की सस्कृति का उज्ज्वल युग है। हमारी स्मृति मे धार्मिक जीवन का ऐसा उज्ज्वल पक्ष इसके पूर्व इतना नैसर्गिक और फलद नही हो सका।[४०]

---

[३९] "Taking a total view of these sects it may be said that they were fairly rational and were successful in providing a spiritual basis for rapprochement"

—G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 240

[४०] "It was a revival of popular literature, which produced the lofty poetry of Kabir, the refined melodies of Mira, and stirring *Vanis* of Raidas, Dadu and others Thus the period of these saints was a glorious epoch not only in the cultural history of Rajasthan but also Hindustan, for never before had there been such a spontaneous and fruitful upheaval of religions life"

—G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 240

रामचरणजी द्वारा प्रतिपादित मार्ग 'रामस्नेही' सम्प्रदाय कहलाता है। स्वामी जी के समय मे ही इस सम्प्रदाय के सहस्रो अनुयायी बन गये, इनमे २२५ शिष्यो और १२ प्रधान शिष्यो की सज्ञा मे थे। इन्होने 'रामनाम' के पावन मन्त्र का प्रचार किया और दूर-दूर राम की महिमा का सन्देश भेजा। धीरे-धीरे इनकी शिष्य परम्परा बढती चली गयी जिनके प्रयास से जगह-जगह 'रामद्वारो' की स्थापना हुई। रामद्वारो मे रामस्नेही साधु रहते है और साधुओ मे हिन्दू जाति को ही लिया जाता है। ये साधु गुलाबी रग की धोती और उपवस्त्र पहनते हैं तथा दाढी, मूँछ और सर के बाल नही रखते। इस मत के मानने वाले मूर्ति-पूजा नही करते और रामनाम के स्मरण को प्राधान्यता देते है। इस पथ मे नैतिक आचरण, सत्यनिष्ठा, धार्मिक अनुशासन पर बल दिया जाता है, चाहे वह रामद्वारे का साधु हो या गृहस्थी। शाकाहारी होना भी इनके लिए आवश्यक होता है। राम की अरचना दोनो स्त्री और पुरुषो के लिए वाछनीय है पर एक स्थान मे ये दोनो साथ रहकर अरचना नही करते। अरचना के कार्यक्रम की परिपाटी मे मुसलमानो की पद्धति से कुछ साम्यता दिखायी देती है। रामचरण और उनके पीछे की गुरु प्रणालिका द्वारा रचित वाणियो को इस सम्प्रदाय मे बडा महत्त्व दिया जाता हैं, जिसको बडे प्रेम से गाया जाता है और व्याख्या की जाती है। इनकी भाषा ब्रजभाषा या राजस्थानी होती है जो कि जन-समुदाय को आकर्षित करती है।[३७]

धार्मिक आन्दोलन की समीक्षा—तुर्कों तथा मुगलो के आक्रमणो द्वारा पैदा होने वाली नयी परिस्थितियो ने तथा युग की आवश्यकताओ ने वास्तव मे धार्मिक जागरण को जन्म दिया था। युग धर्म की आवश्यकता की पूर्ति के लिए इस समय के जो नूतन धर्मो के पथ और सम्प्रदाय बने उनमे सादगी, रूढिवाद का खण्डन, दिखावो का अभाव, अन्धविश्वास के प्रति घृणा आदि मुख्य थे। पूजा के विविध प्रकार, पण्डितो की प्राधान्यता, मन्दिरो की स्थापना, शास्त्रो के प्रति मान्यता आदि बातो का इस नवीन प्रवृत्ति मे कोई स्थान न था। इस नवजागरण ने सभी हिन्दू जाति और दलित जाति को एक वर्ग मानकर पथो की सीमाएँ बनायी जिससे विधर्मी होने के अवसर कम हो गये और भारतीय जनता एक सूत्र मे बँध गयी। यहाँ तक कि कई पथो मे तो हिन्दू-मुसलमानो का भेदभाव स्वीकृत नही करने से जातिवाद के दोष से देश मुक्त हो गया। निम्न वर्ग और उच्च वर्ग के भेदभावो को मिटाने से ये नवजागरण के प्रयास सुधारवादी बन गये और अन्ततोगत्वा जन-समुदाय को इससे लाभ ही हुआ। इसी विशेषता

---

३७ अणभैवाणी, गुरु महिमा, काम्पबेल ओमन, मिस्टिक्स, एसेटिक्स एण्ड सेण्ट्स ऑफ इण्डिया, पृ० १३३, भट्टाचार्य, हिन्दू कास्ट्स एण्ड सेक्ट्स, पृ० ४४७, डा० ताराचन्द, इन्फ्लूएन्स ऑफ इण्डिया ऑन इण्डियन कल्चर, पृ० २०५, डा० जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २३६

३८ कुण्डलियाँ रूपजी, पत्र १८६-२१७

को लेकर रैदास जैसे अन्त्यज जाति के व्यक्ति की सन्ना सन्तो मे हो सकी जिन्हे आज भी सभी बडे आदर से देखते हैं। आत्मज्ञान, साधना और आत्मकल्याण के ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तो की व्याख्या बोलचाल की भाषा मे की जाने लगी तो ये पथ बडे लोकप्रिय हो गये। शास्त्रो की जटिल बातो के स्थान पर साधारण जीवन की नैतिकता को समझने में सभी वर्गो के लिए सुगम हो जाना इन पथो का बडा चमत्कार था। प्रेम, सत्य, गुरु-भक्ति, ईश्वर मे विश्वास, भक्ति द्वारा साधना ऐसे माध्यम थे जिनकी सभी पथो मे मान्यता थी।[३८] इन सभी सम्प्रदायो के आधारभूत सिद्धान्तो का यदि हम परिवेक्षण करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन विचारो से समाज मे एक आध्यात्मिक स्तर स्थापित हो सका तथा शान्ति का मार्ग प्रत्येक जिज्ञासु के लिए सुलभ हो सका।[३९]

परन्तु जहाँ हम इन मतो की विशेषताओ के गुणो को देखते हैं तो वहाँ हम उनमें शनै-शनै प्रवेश करने वाले दोषो की उपेक्षा नही कर सकते। वैसे तो इन पथो के प्रवतको के आचरण विशुद्ध थे, जिससे जन-समुदाय प्रभावित हुआ था, परन्तु आगे चलकर उनकी गद्दी पर बैठने वाले गुरु-परम्परा मे दुर्गुण पैदा हो गये जिससे ये पथ बदनाम होने लगे। जिन मौलिक पवित्र सिद्धान्तो को लेकर इनका प्रादुर्भाव हुआ था उनकी पूर्ति न हो सकी। रूढियो तथा उपकरणो मे विश्वास के विरुद्ध प्रवर्तक सन्तो ने जो अपनी आवाज उठायी थी वे ही दोष फिर इनमे प्रविष्ट हो गये। समाज का ढाँचा, जो सकुचित भावना और अन्धविश्वास से जकडा हुआ था, मुक्त न हो सका। पद-दलित अन्त तक पद-दलित बने रहे और कुछ न कुछ कमी फिर भी इन पथो मे बनी रही। समाज से ऊँच-नीच का भाव पूर्णरूप से समाप्त न हो सका।

इन दोषो के रहते हुए भी यह मानना होगा कि भक्ति-आन्दोलन ने आन्तरिक भावनाओ को किसी सीमा तक विशुद्ध बनाने मे सहायता पहुँचायी। इससे स्थानीय साहित्य का विकास हुआ तथा ऐसे साहित्य से जिज्ञासुओ को नयी प्रेरणा मिली। कबीर, मीरा, दादू, रैदास आदि सन्तो की कृतियाँ आज भी भ्रान्तो के लिए पथ-प्रदर्शक बनी हुई है। इसलिए यह युग न केवल राजस्थान की सस्कृति का वरन् भारतवर्ष की सस्कृति का उज्ज्वल युग है। हमारी स्मृति मे धार्मिक जीवन का ऐसा उज्ज्वल पक्ष इसके पूर्व इतना नैसर्गिक और फलद नही हो सका।[४०]

---

३९ "Taking a total view of these sects it may be said that they were fairly rational and were successful in providing a spiritual basis for rapprochement"

—G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 240

४० "It was a revival of popular literature, which produced the lofty poetry of Kabir, the refined melodies of Mira, and stirring *Vanis* of Raidas, Dadu and others Thus the period of these saints was a glorious epoch not only in the cultural history of Rajasthan but also Hindustan, for never before had there been such a spontaneous and fruitful upheaval of religious life"

—G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 240

अध्याय २७

मध्ययुगीन राजस्थान मे शिक्षा

(अ) शिक्षा के प्रकार और प्रगति

प्राचीनकाल की भाँति राजस्थान के मध्ययुग मे शिक्षा का बहुत बडा महत्त्व रहा है। इस युग की शिक्षा विशेप विचारधारा तथा उद्देश्य पर आधारित थी। शिक्षा का प्राथमिक ध्येय आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक होने के साथ-साथ नैतिक तथा आध्यात्मिक भी था। अर्थोपार्जन और बौद्धिक विकास के साथ-साथ परम शान्ति प्राप्त करना उस युग की शिक्षा का लक्ष्य था। इन लक्ष्यो की पूर्ति विभिन्न स्तरो के शिक्षा सस्थाओ के द्वारा होती थी।[1]

उस समय की शिक्षा मे घरेलू शिक्षा का बहुत बडा हाथ था। पिता अपने पुत्र को आरम्भ से लगाकर ऊँची से ऊँची शिक्षा घर मे ही दे दिया करता था। वह उसके लिए तथा अपने शिष्यो के लिए पुस्तको की प्रतिलिपियाँ तैयार करता था और उनके माध्यम से पीढी-दर-पीढी शिक्षा दी जाती थी। ऐसी पुस्तके घर की सम्पत्ति समझी जाती थी जिनका बँटवारा भाइयो मे स्थावर सम्पत्ति की तरह होता था।[2]

इस घरेलू शिक्षा का प्रचलन व्यावसायिक क्षेत्र मे बडे पैमाने पर होता था। एक कुशल दस्तकार अपने पुत्र को अपने घर मे ही अपने कौशल को सिखा देता था जिससे परम्परागत हस्तकौशल मे एक उच्च स्तर स्थापित हो जाता था। ऐसी व्यावसायिक शिक्षा का वर्णन स्वय बाबर ने अपने बाबरनामा मे किया है। उस समय के बने हुए चित्र, जेवर, किले, महल आदि उस युग की दक्षता का प्रमाण देते है जिनको बनाने वाले वही कुशल कलाकार थे जिन्होने घर मे रहकर पितृ-परम्परा विधि से शिक्षा प्राप्त की थी। खेती तथा वाणिज्य सम्बन्धी कुशलता इसी पद्धति से अर्जित की जाती थी।[3]

इस घरेलू अध्ययन की विधि के साथ-साथ राजस्थान की बस्तियो से लगे हुए शिक्षा के केन्द्र होते थे जिनको एक गुरु अपने तत्त्वावधान मे चलाता था। ऐसे

---

१ सोम सौभाग्य काव्य, सर्ग २, श्लो० ४५-५५

२ एकलिंग प्रशस्ति, श्लो० ६१-६६

३ बाबरनामा, भा० २, पृ० ५१८, टेवर्नियर, पृ० १६१

केन्द्र हमारे पुराने आश्रम की भाँति थे। शिष्य गुरू की सेवा करता और उसके खेत मे काम करना तथा साथ ही साथ गुरु के चरणो मे बैठ शिक्षा ग्रहण करता था। गुरु इनसे कोई शुल्क नही लेता था परन्तु उसकी आवश्यकता की पूर्ति समृद्ध लोग या राजा कर दिया करते थे। एकलिंग महात्म्य मे सोम शर्मा का वर्णन मिलता है जिसके लिए प्रसिद्ध था कि वह सभी वेदो तथा शास्त्रो मे अपने शिष्यो को पारगत बनाता था। कभी-कभी ऐसे आचार्यो के निर्वाह के लिए दानी शासक गाँव की सम्पूर्ण उपज इनको अर्पित कर दिया करते थे जिससे उन्हें अपने पालन-पोषण की कोई चिन्ता नही रहती थी। वे निरन्तर विद्या का वितरण पात्र शिष्यो मे करते रहते थे।[४]

ऐसी सस्थाओ के अतिरिक्त राजस्थान के नगरो और कस्बो मे जैन उपासर भी रहते थे जहाँ रहने वाले साधु सतत रूप से शिक्षा को बढावा देने मे प्रयत्नशील रहते थे। वे भी अपने शिष्यो के लिए उपयोगी ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ तैयार करते थे और जनसाधारण को शिक्षित बनाते थे। इन उपासरो मे सभी विषयो की हस्तलिखित पुस्तकें रहती थी जो जैन साधुओ के द्वारा लिखी गयी थी। समृद्ध व्यक्ति ऐसे उपासरो का निर्माण कराते थे जिनमे साधु निवास करते थे और शिष्य परम्परा को परिवर्द्धित करते रहते थे। मठो मे भी शिक्षा का प्रबन्ध रहता था जहाँ साधु और सन्त शिक्षा सम्बन्धी चर्चा, व्याख्यान आदि साधनो से शिक्षा का प्रचार करते थे। उदयपुर के सविनाखेडा तथा प्रागदास स्थल शिक्षा के प्रचार के केन्द्र थे।[५]

गाँवो तथा कस्बो मे शिक्षा का प्रचार स्थानीय अध्यापक के द्वारा होता था। पाठशाला, नेसाल, पोशाल आदि मे आसपास रहने वाले शिक्षा पाते थे। ऐसी सस्थाओ का भार स्थानीय जनता पर रहता था जो अपने खेतो या व्यवसाय के उपार्जन का भाग अध्यापक को फसल के समय दे दिया करते थे और प्रारम्भिक शिक्षा को प्रोत्साहन देते थे। हमे कई चित्रित ग्रन्थो तथा मन्दिरो की तक्षण-कला के अवशेषो मे स्थानीय पाठशालाओ मे शिक्षा के क्रम को देखने का अवसर मिलता है। अध्यापक खुले मैदान या पेड या छोटे छप्पर के नीचे बैठकर विद्यार्थियो को पढाता था और आवश्यकता पडने पर अपनी लम्बी बेंत से विद्यार्थियो को दण्ड भी देता था।[६]

१६वी तथा १७वी शताब्दी के पुरालेखो तथा काव्य ग्रन्थो से विदित होता है कि पाँच वर्ष से विद्यारम्भ कर १५ या १८ वर्ष तक की अवधि मे विद्यार्थी विद्या के कई क्षेत्रो मे पारगत हो जाया करता था, क्योकि सतत गुरु के सम्पर्क मे रहने तथा रात-दिन पढने का अवसर उसे प्राप्त होता था। पर्व दिनो तथा पूर्णिमा और अमावास्याओ को छोडकर अवकाश जैसी कोई वस्तु नही होती थी। अष्टमी को पहले के

---

४ समिधेश्वर लेख, वि० स० १४८५, गुणभाषा, पत्र ५, दक्षिणामूर्ति इन्सक्रिप्शन्स, वि० स० १७७०

५ आर्ष रामायण, पत्र ७२, बीकानेर जैन लेख सग्रह, पृ० ५६

६ बृहद् गुरुवावलि, पृ० १२, शिवपुराणचरित्र, पत्र ४४

अध्याय २७

मध्ययुगीन राजस्थान मे शिक्षा

(अ) शिक्षा के प्रकार और प्रगति

प्राचीनकाल की भाँति राजस्थान के मध्ययुग मे शिक्षा का बहुत बडा महत्व रहा है। इस युग की शिक्षा विशेष विचारधारा तथा उद्देश्य पर आधारित थी। शिक्षा का प्राथमिक ध्येय आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक होने के साथ-साथ नैतिक तथा आध्यात्मिक भी था। अर्थोपार्जन और बौद्धिक विकास के साथ-साथ परम शान्ति प्राप्त करना उस युग की शिक्षा का लक्ष्य था। इन लक्ष्यो की पूर्ति विभिन्न स्तरो के शिक्षा सस्थाओ के द्वारा होती थी।[1]

उस समय की शिक्षा मे घरेलू शिक्षा का बहुत बडा हाथ था। पिता अपने पुत्र को आरम्भ से लगाकर ऊँची से ऊँची शिक्षा घर मे ही दे दिया करता था। वह उसके लिए तथा अपने शिष्यो के लिए पुस्तको की प्रतिलिपियाँ तैयार करता था और उनके माध्यम से पीढी-दर-पीढी शिक्षा दी जाती थी। ऐसी पुस्तकें घर की सम्पत्ति समझी जाती थी जिनका बँटवारा भाइयो मे स्थावर सम्पत्ति की तरह होता था।[2]

इस घरेलू शिक्षा का प्रचलन व्यावसायिक क्षेत्र मे बडे पैमाने पर होता था। एक कुशल दस्तकार अपने पुत्र को अपने घर मे ही अपने कौशल को सिखा देता था जिससे परम्परागत हस्तकौशल मे एक उच्च स्तर स्थापित हो जाता था। ऐसी व्यावसायिक शिक्षा का वर्णन स्वय बाबर ने अपने बाबरनामा मे किया है। उस समय के बने हुए चित्र, जेवर, किले, महल आदि उस युग की दक्षता का प्रमाण देते है जिनको बनाने वाले वही कुशल कलाकार थे जिन्होने घर मे रहकर पितृ-परम्परा विधि से शिक्षा प्राप्त की थी। खेती तथा वाणिज्य सम्बन्धी कुशलता इसी पद्धति से अर्जित की जाती थी।[3]

इस घरेलू अध्ययन की विधि के साथ-साथ राजस्थान की बस्तियो से लगे हुए शिक्षा के केन्द्र होते थे जिनको एक गुरु अपने तत्वावधान मे चलाता था। ऐसे

---

1 सोम सौभाग्य काव्य, सर्ग २, श्लो० ४५-५५

2 एकलिंग प्रशस्ति, श्लो० ६१-६६

3 बाबरनामा, भा० २, पृ० ५१८, टेवर्नियर, पृ० १६१

था कि मध्ययुगीन राजस्थान मे गाँव-गाँव मे पाठशालाएँ थी, प्रत्येक कस्बे तथा नगर मे विद्या के केन्द्र थे। जो कभी ऊपरीय उपकरणों का अभाव उस समय का समाज अनुभव करता होगा उसकी पूर्ति विद्या के प्रति अभिरुचि तथा तल्लीनता कर दिया करती थी। हो सकता है कि परिमाण मे शिक्षा का विकास आज के युग की भाँति न रहा हो, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि उस युग की शिक्षा के परिणाम सन्तोषजनक थे। इसीलिए हम देखते है कि उस समय के कुछ ठोस विद्वानो की प्रतिष्ठा आजकल के कई विद्वानो की अपेक्षा अधिक रही हो। विविध क्षेत्रो के विद्वानो मे सोमशर्मा, वेदशर्मा, मदन, हीरानन्द, नैणसी, सदाशिव, बाँकीदास आदि उल्लेखनीय है, जो राजस्थान के विद्वानो मे अग्रगण्य थे। शिक्षा का क्या स्तर था और किन-किन प्रवृत्तियो मे उसका विकास हुआ था इसका वर्णन अब हम करते हैं। इस वर्णन से शिक्षा की सर्वांगीण उन्नति का हम अनुमान लगा सकेंगे।[१०]

(ब) साहित्य का सृजन

इस युग की शिक्षा के विकास का मापदण्ड साहित्य सृजन है। इस समय सभी क्षेत्रो मे जैसे ऐतिहासिक साहित्य, काव्य रचना, संगीत, वैद्यक आदि मे मौलिक रचनाएँ हुई, जिनमे से इतिहासपरक साहित्य का वर्णन विस्तार से पहले के अध्याय मे कर दिया गया है। फिर भी विभिन्न राज्यो के विचार से हम कुछ साहित्य का वर्णन यहाँ करेंगे।

मेवाड—मेवाड मे बडे अच्छे प्रशस्तिकार और कवि हुए है जिन्होने काव्य-रचना के साथ-साथ ऐतिहासिक तथ्यो को भी लिखा है। मोकल के समय का शृंगी ऋषि का लेख[११] (१४२८ ई०) कविराज वाणीविलास योगीश्वर के द्वारा रचा गया था। चित्तौड के समिधेश्वर[१२] के (१४२९ ई०) लेख की रचना दशोरा जाति के भट्ट विष्णु ने की थी। कुम्भा के समय की कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्ति[१३] काव्य सौरभ तथा ऐतिहासिक उपयोगिता की दृष्टि मे अनुपम है। इसकी रचना अत्रि तथा महेश कवियो ने की थी। कुम्भलगढ प्रशस्ति[१४] के भी रचयिता ये ही पण्डित हो सकते है। स्वय कुम्भा बडा विद्वान था। उसके रचे हुए ग्रन्थो[१५] मे संगीतराज, संगीतमीमासा, सूड प्रबन्ध आदि मुख्य हैं। उसने चण्डीशतक की व्याख्या की तथा गीतगोविन्द पर

---

[१०] राजरत्नाकर, श्लो० ६-१३, दस्तूर कौमवार, भा० १५, वि० स० १७८७, १८०१, १८११ आदि, भण्डार न० १, बस्ता न २८, वि० स० १७७०, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २८४-८७

[११] एन्युयल रिपोर्ट म्यूजियम, अजमेर, १९२४-२५

[१२] ए० इ०, भा० २, पृ० ४१०

[१३] आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भा० २३, प्लेट २०-२१

[१४] ज० ए० सो० ब०, भा० ५५, पृ० ७१-७२

[१५] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३१३-३१५

पढे सन्दर्भो का परायण करना होता था जिससे विद्या की उपस्थिति वनी रहती थी। पढने-पढाने के विषयो मे वेद, शास्त्र, नीति, मीमासा, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, पुराण, ज्योतिष, गणित, साहित्य, व्याकरण आदि प्रमुख स्थान पाते थे। सगीत, नृत्य, चित्र-कला, चिकित्सा आदि रोचक विषयो को भी शिक्षाक्रम मे उचित स्थान दिया जाता था। सैनिक शिक्षा राजपरिवार के व्यक्तियो को दी जाती थी। वाद-विवाद, तर्क-वितर्क, लेखन, कण्ठाग्र करना आदि पठन-पाठन के लिए साधन माने जाते थे। कथा वार्ता द्वारा सयानो को पढाये जाते थे जिससे कठिन से कठिन विषय भी सुगम हो जाते थे। ऊँची शिक्षा प्राप्त करने वालो को पण्डित, उपाध्याय, महामहोपाध्याय, आचार्य आदि उपाधियाँ दी जाती थी जिनकी वडी मान्यता होती थी।[७]

उस समय मे स्त्रियाँ भी कही-कही विदुषी होती थी। हमे ऐसे ग्रन्थ सैकडो की सख्या मे मिले है जिनमे गीता, भागवत, रामायण तथा कथानको के ग्रन्थ मुख्य है, जिन्हे धर्मनिष्ठ स्त्रियो तथा विदुषियो के पठनार्थ लिखवाया गया था।[८]

उस युग की शिक्षा का विस्तार इससे भी प्रमाणित होता है कि राज-दरवारो, धर्म स्थानो, मठो, उपासरो आदि मे वडे-वडे पुस्तकालय होते थे जिनमे समृद्ध लोग अपने खर्चे से लिखवाकर पुस्तको का अनुदान करते थे। इन पुस्तको को जिल्दो मे बँधवाया जाता था या लकडी की तख्तियो के वीच बाँधकर सुरक्षित किया जाता था। प्रत्येक विषय के अनेक वण्डल रहते थे जिन पर क्रम सख्या लगा दी जाती थी। उदयपुर और कोटा के सरस्वती भण्डार, जोधपुर का पुस्तक प्रकाश, वीकानेर का अनूप सस्कृत पुस्तकालय तथा आमेर शास्त्र भण्डार आदि पुस्तको के सग्रह उस युग की निधि हैं जो आज भी हमारे लिए एक वृहद् कोष के रूप मे हैं।[९]

वैसे तो उस मध्ययुगीन राजस्थान मे शिक्षा विभाग जैसा व्यवस्थित कोई विभाग न था, न आजकल जैसे वडे-वडे विश्वविद्यालय या महाविद्यालयो के भवन थे और न मुद्रित पुस्तको की इतनी अकूट राशि थी, परन्तु इतना अवश्य मनना पडेगा कि इन चीजो के अभाव की तुलना मे शिक्षा का स्तर ऊँचा था। उस समय के विद्वानो द्वारा लिखे गये ग्रन्थ आज भी मौलिक ग्रन्थो मे स्थान पाते हैं जिनकी समा-नता के ग्रन्थ आज भी निर्मित नही हो पाते। गुरु-शिष्य के सम्वन्ध का आदर्श जो आज हमे दुर्लभ दिखायी देता है उसका साकार रूप हमे मध्ययुगीन राजस्थान मे दिखायी देता है। जो शिक्षा की सरक्षा आज हमे सरकार के द्वारा उपलब्ध होती है वही शिक्षा की सरक्षा उन दिनो अनेक दानी तथा विद्याप्रेमी जनो से मिलती थी। प्रत्येक समृद्ध व्यक्ति उस समय अपना धर्म समझता था कि उसे विद्योन्नति मे योग देना है। यही कारण

---

७ जी० एल० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २७१-२७८

८ वही, पृ० २७८-७९

९ स्याह हजूर, न० १२८, वि० स० १७९१, दस्तूर कौमवार, वि० स० १८६८, जी० एल० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २८०-२८२

था कि मध्ययुगीन राजस्थान मे गाँव-गाव मे पाठशालाएँ थी, प्रत्येक कस्बे तथा नगर मे विद्या के केन्द्र थे। जो कभी ऊपरीय उपकरणो का अभाव उस समय का समाज अनुभव करता होगा उसकी पूर्ति विद्या के प्रति अभिरुचि तथा तल्लीनता कर दिया करती थी। हो सकता है कि परिमाण मे शिक्षा का विकास आज के युग की भाति न रहा हो, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि उस युग की शिक्षा के परिणाम सन्तोषजनक थे। इसीलिए हम देखते हैं कि उस समय के कुछ ठोस विद्वानो की प्रतिष्ठा आजकल के कई विद्वानो की अपेक्षा अधिक रही हो। विविध क्षेत्रो के विद्वानो मे सोमशर्मा, वेदशर्मा, मदन, हीरानन्द, नैणसी, सदाशिव, वाँकीदास आदि उल्लेखनीय हैं, जो राजस्थान के विद्वानो मे अग्रगण्य थे। शिक्षा का क्या स्तर था और किन-किन प्रवृत्तियो मे उसका विकास हुआ था इसका वर्णन अव हम करते हैं। इस वर्णन से शिक्षा की सर्वांगीण उन्नति का हम अनुमान लगा सकेंगे।[१०]

(व) साहित्य का सृजन

इस युग की शिक्षा के विकास का मापदण्ड साहित्य सृजन है। इस समय सभी क्षेत्रो मे जैसे ऐतिहासिक साहित्य, काव्य रचना, सगीत, वैद्यक आदि मे मौलिक रचनाएँ हुई, जिनमे से इतिहासपरक साहित्य का वर्णन विस्तार से पहले के अध्याय मे कर दिया गया है। फिर भी विभिन्न राज्यो के विचार से हम कुछ साहित्य का वर्णन यहाँ करेंगे।

मेवाड—मेवाड मे वडे अच्छे प्रशस्तिकार और कवि हुए हैं जिन्होंने काव्य-रचना के साथ-साथ ऐतिहासिक तथ्यो को भी लिखा है। मोकल के समय का शृगी ऋषि का लेख[११] (१४२८ ई०) कविराज वाणीविलास योगीश्वर के द्वारा रचा गया था। चित्तौड के समिधेश्वर[१२] के (१४२९ ई०) लेख की रचना दशोरा जाति के भट्ट विष्णु ने की थी। कुम्भा के समय की कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्ति[१३] काव्य सौरभ तथा ऐतिहासिक उपयोगिता की दृष्टि से अनुपम है। इसकी रचना अत्रि तथा महेश कवियो ने की थी। कुम्भलगढ प्रशस्ति[१४] के भी रचयिता ये ही पण्डित हो सकते है। स्वय कुम्भा बडा विद्वान था। उसके रचे हुए ग्रन्थो[१५] मे सगीतराज, सगीतमीमासा, सूड प्रवन्ध आदि मुख्य हैं। उसने चण्डीशतक की व्याख्या की तथा गीतगोविन्द पर

---

[१०] राजरत्नाकर, श्लो० ६-१३, दस्तूर कौमवार, भा० १५, वि० स० १७८७, १८०१, १८११ आदि, भण्डार न० १, वस्ता न २८, वि० स० १७७०, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २८४-८७

[११] एन्युयल रिपोट म्यूजियम, अजमेर, १९२४-२५

[१२] ए० इ०, भा० २, पृ० ४१०

[१३] अर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भा० २३, प्लेट २०-२१

[१४] ज० ए० सो० व०, भा० ५५, पृ० ७१-७२

[१५] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३१३-३१५

पढे सन्दर्भो का परायण करना होता था जिससे विद्या की उपस्थिति बनी रहती थी। पढने-पढाने के विषयो मे वेद, शास्त्र, नीति, मीमासा, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, पुराण, ज्योतिष, गणित, साहित्य, व्याकरण आदि प्रमुख स्थान पाते थे। सगीत, नृत्य, चित्र-कला, चिकित्सा आदि रोचक विषयो को भी शिक्षाक्रम मे उचित स्थान दिया जाता था। सैनिक शिक्षा राजपरिवार के व्यक्तियो को दी जाती थी। वाद-विवाद, तर्क-वितर्क, लेखन, कण्ठाग्र करना आदि पठन-पाठन के लिए साधन माने जाते थे। कथा वार्ता द्वारा सयानो को पढाये जाते थे जिससे कठिन से कठिन विषय भी सुगम हो जाते थे। ऊँची शिक्षा प्राप्त करने वालो को पण्डित, उपाध्याय, महामहोपाध्याय, आचार्य आदि उपाधियाँ दी जाती थी जिनकी वडी मान्यता होती थी।[७]

उस समय मे स्त्रियाँ भी कही-कही विदुषी होती थी। हमे ऐसे ग्रन्थ सैकडो की सख्या मे मिले है जिनमे गीता, भागवत, रामायण तथा कथानको के ग्रन्थ मुख्य हैं, जिन्हे धर्मनिष्ठ स्त्रियो तथा विदुषियो के पठनार्थ लिखवाया गया था।[८]

उस युग की शिक्षा का विस्तार इससे भी प्रमाणित होता है कि राज-दरवारो, धर्म स्थानो, मठो, उपासरो आदि मे वडे-वडे पुस्तकालय होते थे जिनमे समृद्ध लोग अपने खर्चे से लिखवाकर पुस्तको का अनुदान करते थे। इन पुस्तको को जिल्दो मे बँधवाया जाता था या लकडी की तख्तियो के वीच वाँधकर सुरक्षित किया जाता था। प्रत्येक विषय के अनेक बण्डल रहते थे जिन पर क्रम सख्या लगा दी जाती थी। उदयपुर और कोटा के सरस्वती भण्डार, जोधपुर का पुस्तक प्रकाश, वीकानेर का अनूप सस्कृत पुस्तकालय तथा आमेर शास्त्र भण्डार आदि पुस्तको के सग्रह उस युग की निधि हैं जो आज भी हमारे लिए एक वृहद् कोष के रूप मे हैं।[९]

वैसे तो उस मध्ययुगीन राजस्थान मे शिक्षा विभाग जैसा व्यवस्थित कोई विभाग न था, न आजकल जैसे वडे-वडे विश्वविद्यालय या महाविद्यालयो के भवन थे और न मुद्रित पुस्तको की इतनी अकूट राशि थी, परन्तु इतना अवश्य मनना पडेगा कि इन चीजो के अभाव की तुलना मे शिक्षा का स्तर ऊँचा था। उस समय के विद्वानो द्वारा लिखे गये ग्रन्थ आज भी मौलिक ग्रन्थो मे स्थान पाते हैं जिनकी समानता के ग्रन्थ आज भी निर्मित नही हो पाते। गुरु-शिष्य के सम्वन्ध का आदर्श जो आज हमे दुर्लभ दिखायी देता है उसका साकार रूप हमे मध्ययुगीन राजस्थान मे दिखायी देता है। जो शिक्षा की सरक्षा आज हमे सरकार के द्वारा उपलब्ध होती है वही शिक्षा की सरक्षा उन दिनो अनेक दानी तथा विद्याप्रेमी जनो से मिलती थी। प्रत्येक समृद्ध व्यक्ति उस समय अपना धर्म समझता था कि उसे विद्योन्नति मे योग देना है। यही कारण

---

७ जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २७१-२७८

८ वही, पृ० २७८-७९

९ न्याह हजूर, न० १२८, वि० स० १७९१, दस्तूर कौमवार, वि० स० १८९८, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २८०-२८२

रसिकप्रिया नाम की टीका लिखी। इनके अतिरिक्त उसने महाराष्ट्री, कर्णाटी तथा मेवाडी भापा मे चार नाटको को रचकर अपने विविध भापा सम्वन्धी जानकारी का परिचय दिया। सगीत रत्नाकर की भी टीका राणा द्वारा की गयी थी। उसके समय मे शिल्प सम्वन्धी अनेक ग्रन्थ वनें। मण्डन द्वारा रचे गये कई ग्रन्थो मे राजवल्लभ, प्रासाद मण्डन, रूपमण्डल, वास्तु-शास्त्र, रूपावतार आदि वडे प्रसिद्ध हैं। मण्डन के भाई नाथा ने वास्तु-मन्जरी और मण्डन के पुत्र गोविन्द ने उद्धार धोरणी, कला निधि तथा द्वारदीपिका नामक पुस्तको की रचना की। महाराणा रायमल भी अपने पिता की भाँति विद्याविलासी था। उसके समय मे दक्षिण-द्वार प्रशस्ति[१६] (१४८८ ई०) तथा जावर की प्रशस्ति[१७] (१४९७ ई०) वनी जो उस समय की सस्कृत भापा के स्वरूप का दिग्दर्शन कराती है। महाराणा सागा के काल से लेकर महाराणा प्रतापसिंह के समय तक सतत युद्ध की स्थिति ने साहित्य सृजन के कार्य मे थोडा अवरोध अवश्य उपस्थित कर दिया, परन्तु सस्कृत पठन-पाठन का काम पूरी तरह से स्थगित हो गया हो ऐसा नही था। वेदला गाँव से प्राप्त सिंहासन वत्तीसी की पाण्डुलिपि उस समय की विद्योन्नति का प्रतीक है।

भापा के ग्रन्थो मे युद्धकालीन युग की पद्मनीचोपई तथा दुरसा आढा[१८] की प्रताप सम्वन्धी कविताएँ अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखती है। अमरसिंह कालीन सस्कृत ग्रन्थो मे अमरसार[१९] तथा अमरभूषण अपने ढग की अच्छी पुस्तके हैं जिनमे प्रथम ग्रन्थ की रचना प० जीवाधर ने की थी। जगतसिंह के समय के ग्रन्थो मे जगतसिंह काव्य[२०] और जगतसिंहाष्टक[२१], जगदीश प्रशस्ति[२२] आदि वडे महत्त्व के हैं, जो लेखको की उत्कृष्ट कवित्व शक्ति के द्योतक हैं। राजसिंह का काल सस्कृत तथा स्थानीय भापा और हिन्दी के समृद्ध स्वरूप के लिए प्रसिद्ध रहा है। अमरकाव्य वशावली[२३] तथा राज-प्रशस्ति महाकाव्य[२४] को रणछोड भट्ट ने लिखकर राजसिंह को अमर वना दिया है। सस्कृत मे कवित्व शक्ति की सम्पन्नता और सस्कृत भापा का सौरभ इन कृतियो मे सजीव-सा है। इसी समय का सस्कृत भापा का ग्रन्थ राजरत्नाकर[२५], जिसे सदाशिव

---

[१६] भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, न० ६, पृ० ११७-२३

[१७] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३४५

[१८] महाराणा यश प्रकाश

[१९] जी० एन० शर्मा, विवलियोग्राफी, पृ० ६३-६४

[२०] वही, पृ० ६४

[२१] वही, पृ० ६४

[२२] वही, पृ० १२

[२३] वही, पृ० ६४-६५

[२४] ए० इ०, भा० २९-३०

[२५] जी० एन० शर्मा, विवलियोग्राफी, पृ० ६

ने लिखा था, अपने ढग का अच्छा ऐतिहासिक काव्य है। मुकुन्द या राजसिहाष्टक कविता की दृष्टि से सुन्दर कृति कही जा सकती है। राजप्रकाश[२६], जिसे किशोरदास ने लिखा था, स्थानीय भाषा का अच्छा प्रयास माना जा सकता है। मान कवि का राजविलास अपने विचारो की उच्चता तथा समाजित हिन्दी भाषा के स्वरूप के जानने का अच्छा साधन है। स्वय राजसिह कवि था और विद्वानो का सम्मान करने वाला था इसलिए उसका समय साहित्य सेवा की दृष्टि से मेवाड का सुवर्णकाल था। श्रीलाल भट्ट[२७] भी इसी राणा के समय का कवि था जिसने १०१ श्लोको की रचना द्वारा महाराणा के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश डाला है। महाराणा अमरसिह दूसरे के समय मे (१७००-१७१० ई०) अमरनृप काव्यरत्न[२८] नामक काव्य की रचना हरिदेव सूरि के पुत्र मगल ने की थी। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक न होकर प्रधानत कविकल्पना मात्र है। राज्याभिषेक सम्बन्धी एक कृति पण्डित वैकुण्ठ[२९] द्वारा रची गयी थी जो इस विषय सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रन्थो के आधार पर बनी थी। सग्रामसिह द्वितीय[३०] के समय के पण्डितो मे दक्षिणामूर्ति, वैद्य मगल, प० दिनकर, पुण्डरीक भट्ट, ज्योतिषी कमलाकान्त भट्ट, कविया करणीदान आदि बडे प्रसिद्ध थे। वैद्यनाथ के मन्दिर की प्रशस्ति (१७१८ ई०) इसी महाराणा के समय बनी थी, जो सस्कृत साहित्य का एक अच्छा नमूना है। आगे होने वाले महाराणाओ के समय भी प्रशस्तियो के लिखने का काम चलता रहा जिनमे अरिसिह द्वितीय[३१] के समय की देवारी की ओर प्रभुदारातण की बावडी की प्रशस्तियाँ (१७६२ ई०) प्रसिद्ध है। महाराणा भीमसिह के समय भीमविलास तथा भीमपद्येश्वर की प्रशस्ति तैयार हुए। भीमविलास को चारण कवि आढाकृष्ण ने तैयार किया था। उसके समय की प्रशस्ति १८२७ ई० मे बनी थी। महाराणा स्वय कवि था और कवियो तथा विद्वानो का आश्रयदाता था।[३२] मेवाड मे कई ख्यातें और वशावलियाँ भी लिखी गयी जो यहाँ के राजनीतिक तथा सामाजिक इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। इनमे रावल राणाजी री वात, ग्रन्थ वशावली, वशावली राणाजी नी, सीसोद वशावली, तवारीख वशावली, सूयवश आदि मुख्य है। उस समय की स्थानीय बोलचाल की भाषा के अध्ययन के लिए भी इनका उपयोग हो सकता है। इनके लिखने का काल १७वी से १९वी शताब्दी का है।[३३]

---

२६ जी० एन० शर्मा, बिबलियोग्राफी पृ० ७५

२७ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ५८०

२८ वही, भा० २, पृ० ६०९-१०

२९ वही, भा० २, पृ० ६१०

३० वही, पृ० ६२१-२२

३१ वही, पृ० ६६३

३२ वही, पृ० ७२१-२२

३३ जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० २२८-३०

मारवाड—मेवाड की भाँति मारवाड मे भी प्रशस्तियो की तथा सस्कृत और डिंगल भाषा मे स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना होती रही। यहाँ के नरेश विद्वानो और कवियो के आश्रयदाता थे। वे स्वय भी बडे विद्वान होते थे। समय-समय पर दान, दक्षिणा और पारितोषिक देकर वे विद्वानो के उत्साह को बनाये रखते थे। मेवाड की भाँति यहाँ वैसे उतने विस्तार वाले शिलालेख नही तैयार किये गये, परन्तु यहाँ के राजाओं के स्मारको पर या मन्दिरो मे अवश्य सस्कृत के तथा भाषा के शिलालेख लगाये गये थे। सीहाजी के स्वर्गवास के अवसर पर लगाया गया एक लेख वि० स० १३३० का बीठू[३४] मे मिला है जो यहाँ के इतिहास के लिए बडे महत्त्व का है। इस लेख से प्रकट होता है कि लगभग ८० वर्ष की अवस्था मे सीहा का स्वर्गवास हुआ था और उस समय पार्वती नामक रानी उसके साथ सती हुई थी। इस प्रशस्ति मे सस्कृत भाषा की कई अशुद्धियाँ है जो लेख खोदने वाले की भूलें हो सकती है। इसी तरह सवत १३६६ का घुहड का लेख[३५] तथा मालदेव के समय के कतिपय लेख जोधपुर राज्य के इतिहास के लिए बडे काम के हैं।[३६] महाराजा गजसिंह के राज्यकाल के १६२१ से १६३२ ई० के कई शिलालेख मिले हैं, जिनमे कई जैन मन्दिरो के जीर्णोद्धार के सम्बन्ध के हैं। ख्यातो से प्रमाणित है कि महाराजा विद्वानो, चारणो, ब्राह्मणो आदि को दान तथा पसाव और हाथियो को देकर सन्तुष्ट करता था। वह बाहर से आने वाले विद्वानो का भी सत्कार करता था। प्राचीन ख्यातो और काव्य ग्रन्थों से प्रकट होता है कि महाराजा गजसिंह ने अपने समय के १४ कवियो को 'लाख पसाव' दिये थे। एक पसाव के नाम से २५००) रुपये दिये जाने का प्रचलन दिखायी देता है। उसी के आश्रित हेम कवि ने गुण भाषा और केशवदास ने गुणरूपक नामक काव्यो की रचना की थी, जिसके उपलक्ष मे उन्हे पुरस्कृत किया गया था।[३७]

महाराजा गजसिंह का उत्तराधिकारी महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम (१६३८-१६७८ ई०) स्वय विद्वान तथा विद्वानो का आश्रयदाता था। उसने कई अवसरो पर ब्राह्मणो, कवियो, चारणो आदि को गाँव, सिरोपाव, अश्व आदि देकर उत्साहित किया। उसके समय के आढा किशना दुरसावत तथा लालस खेतसी को लाख पसाव देकर उनकी विद्वत्ता का सम्मान किया। ओझाजी के अनुसार "उसके समय में साहित्य की बडी वृद्धि हुई तथा उसके आश्रय मे कितने ही अमूल्य ग्रन्थो का निर्माण हुआ। महाराजा भी ऊँचे दर्जे का कवि था। भाषा के उसके कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जिनमें

---

३४ इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० ४०, पृ० ३०१

३५ इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जि० ४०, पृ० ३०१

३६ राजस्थान हिस्ट्री काग्रेस, प्रोसिडिंग्स, १९६६

३७ ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४०८-४१२, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० २०, जी० एन० शर्मा, ए बिब्लियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ७२-७३

भाषा-भूषण सर्वोत्तम ग्रन्थ है। यह रीति और अलकार का अनुपम ग्रन्थ है। इसमें प्रारम्भ में भाव-भेद और अर्थालकारो का सुन्दर वर्णन है। मिश्र बन्धुओ के शब्दो में, "जिस प्रकार इन्होंने अर्थालकार कहे हैं उसी रीति से अब भी कहे जाते हैं। इस ग्रन्थ के कारण ये महाराज भाषालकारो के आचार्य समझे जाते थे। यह ग्रन्थ अद्यावधि अलकार के ग्रन्थो में बहुत पूज्य दृष्टि से देखा जाता है।" महाराजा के रचे हुए दूसरे ग्रन्थ—अपरोक्ष-सिद्धान्त, अनुभव प्रकाश, आनन्द विलास, सिद्धान्त बोध, सिद्धान्तसार और प्रबोध चन्द्रोदय नाटक हैं। ये सभी छोटे-छोटे और वेदान्त के हैं। महाराजा का काव्यगुरु सूरत मिश्र था तथा उस समय के प्रसिद्ध कवि नरहरिदास तथा नवीन कवि उसी के आश्रय मे रहते थे। बाँकीदास लिखता है कि "महाराजा ने बनारसीदास नाम के एक जैन व्यक्ति को एक आध्यात्मिक ग्रन्थ लिखने की आज्ञा दी थी।" इनके अतिरिक्त नायिका भेद पर भी महाराजा की लिखी हुई एक पुस्तक बतायी जाती है। मुहणोत नैणसी इसी के समय मे हुआ था जो उसकी ख्यात और जोधपुर रा परगणा री विगत से आज भी अमर है।[३८]

महाराजा जसवन्तसिंह का पुत्र अजीतसिंह (१६७८-१७२४ ई०) स्वय कवि और भाषाविद् था। उसके रचे हुए ग्रन्थो मे गुणसार, दुर्गापाठ, निर्वाण दुहा, अजीतसिंहजी रा कह्या दुहा, महाराजा अजीतसिंहजी कृत दुहा श्री ठाकुरा रा, महाराजा अजीतसिंह जी री कविता और अजीतसिंहजी रा गीत मुख्य हैं। अपने कुछ दोहो में उसने अपनी द्वारिका-यात्रा का वर्णन दिया है, जो बडा रोचक है। इसके समय के तीन काव्य ग्रन्थ भी बडे महत्त्व के हैं। इनमे से बालकृष्ण ने अजीत-चरित्र और भट्ट जगजीवन ने अजितोदय सस्कृत मे और एक अजीत चरित्र भाषा मे रचे थे।[३९]

अजीतसिंह के पुत्र अभयसिंह के समय के तीन काव्य बडे प्रसिद्ध हैं। सस्कृत में लिखा गया जगजीवन का अभ्योदय और डिंगल भाषा मे बनाया हुआ चारण करणीदान का सूरजप्रकाश और चारण वीरभाण का राजरूपक बडे उच्चकोटि के काव्य है। इनमे ऐतिहासिक घटनाओ को काव्यशैली से ऐसा जोडा गया है कि उनमे साहित्यिक विशेषता उत्पन्न हो गयी है। सूरजप्रकाश के लेखक ने उसे १२६ पद्धरी छन्दो मे लिखकर उसका नाम विडदसिणगार रखा था। इन काव्य ग्रन्थो की रचना के सम्मान मे महाराजा ने लेखक को २००० रुपये वार्षिक आय की जागीर प्रदान की

---

[३८] जोधपुर राज्य की ख्यात, जि० १, पृ० २०४-२०५, ४११, बाँकीदास की ऐतिहासिक बातें, स० ५२०, मिश्रबन्धु विनोद, भा० २, पृ० ४६३, ग्रियर्सन, दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान, पृ० ९९-१००, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४७०-७२

[३९] ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ६०३, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० २१, जी० एन० शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ६५-६६

थी। वीरभाण का ग्रन्थ महाराजा न देख सका जिससे लेखक मारवाड छोडकर वाहर चला गया। वाद मे मानसिह ने उसके वशज को ५००) रुपये वार्षिक आय की जागीर देकर मृत लेखक के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की। इसी तरह कवि पृथ्वीराज ने भाषा के एक काव्य की, जिसे अभयविलास कहते हैं, रचना की थी।[४०]

महाराजा वख्तसिह के समय की एक देवीस्तुति और कुछ भजन मिले हैं जो भाषा की दृष्टि से सरस है। महाराजा विजयसिह के समय मे वारहट विशनसिह ने 'विजयविलास' नामक काव्य-ग्रन्थ की रचना की थी। इसी प्रकार रामकरण कवि ने अलकार समुच्चय की रचना भीमसिह के समय मे की थी।[४१]

जब १८०४ ई० मे मानसिह गद्दी पर वैठा तव साहित्य रचना मे फिर से प्रगति आरम्भ हुई। उसकी स्वय कविता करने मे रुचि थी। धार्मिक भावो को कविता वद्ध उपस्थित करने मे वह वडा दक्ष था। वह भाषा और सस्कृत का अच्छा विद्वान था। उसके वनाये हुए ग्रन्थो की वडी लम्बी सूची है, जिनमे नाथचरित्र, विद्वज्जन मनोरजनी, कृष्णविलास, भागवत टीका (मारवाडी मे), चौरासी पदार्थ नामावली, जलधर चरित, जलधर चन्द्रोदय, नाथस्तोत्र, पश्नोतर शृगाररस कविता, जलधर ज्ञान सागर, पचवली, मान विचार आदि अधिक प्रसिद्धि मे आये हैं। इसकी भटियानी रानी प्रताप कुँवरी ने अनेक भक्ति सम्वन्ध ग्रन्थों की रचना की थी। महाराजा के काल का वाँकीदास अच्छा कवि था, जिसने मानजसोमण्डन की रचना कर अपने अद्वितीय कवित्व शक्ति का परिचय दिया था। उसका गद्य का ग्रन्थ 'वाँकीदास री ऐतिहासिक वाता' राजस्थान के इतिहास के लिए वडा उपयोगी ग्रन्थ है। मानसिह को इतिहास से वडा प्रेम था। उसने उपयोगी सामग्री के आधार पर राज्य का वृहद् इतिहास लिखवाया जिसे जोधपुर राज्य की ख्यात कहते है। कर्नल टॉड ने उसे कई भाषा का ज्ञाता वताया है। वह फारसी भी अच्छी जानता था। उसकी फारसी की जानकारी से प्रभावित होकर कर्नल ने उसे तारीख फरिश्ता तथा खुलामवुतवारीख की प्रतिलिपियाँ भेंट की थी।

उसके आश्रित कवियो मे वागीराम और ग्रन्थो मे गाडूराम-कृत जसभूषण तथा जसरूप, मनोहरदास कृत जसआभूषण चन्द्रिका तथा फूलचरित्र वडे सुन्दर ग्रन्थ हैं। उसके आश्रित लेखक उत्तमचन्द ने अलकार आशय, नाथ चन्द्रिका तथा तारकनाथ पथियो की महिमा नामक ग्रन्थ लिखे थे। राजकुमार प्रवोध तथा राजनीति उपदेश शम्भुदत ने रचे थे। सेवक दौलतराम जलधरनाथजी रो गुण और परिचय प्रकाश का रचयिता था। महाराजा सगीत विद्या का प्रेमी होने के नाते अच्छे सगीतज्ञो को आश्रय

---

[४०] रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० २२, जी० एन० शर्मा, ए विवलियो-ग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ७३-७४

[४१] ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ७६३, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० २२

देता था। उसकी एक उपपत्नी तुलछराय ने कई भगवद् भक्ति पूर्ण पदो की रचना की थी। महाराजा को चित्रित ग्रन्थो का भी बहुत शौक था। उसके समय मे बने हुए रामायण, महाभारत, शुकनास चरित्र आदि के चित्रित ग्रन्थ उस समय की कला की दुहाई दे रहे है। ये तथा अन्य ग्रन्थ आज भी महाराजा के निजी सग्रहालय मे सुरक्षित हैं जो इतिहास तथा समाज और धर्म सम्बन्धी ज्ञान के लिए बडे उपयोगी है।[४२]

बीकानेर—बीकानेर राज्य मे भी जोधपुर राज्य की भाँति कुछ छोटी-छोटी प्रशस्तियाँ उपलब्ध हैं जो या तो वहाँ के महाराजाओ के स्मारक सम्बन्धी है या कई जैन, शिव और विष्णु मन्दिरो मे पायी जाती हैं। इनमे से कुछ प्रशस्तियो का उल्लेख नहाटाजी ने अपने 'बीकानेर जैन लेख सग्रह' नामक ग्रन्थ मे किया है। इन प्रशस्तियो से मध्ययुगीन बीकानेर राज्य की धार्मिक और आर्थिक स्थिति का बोध होता है। इनके द्वारा उस समय मे प्रयोग की जाने वाली भाषाओ का सस्कृत तथा गद्य-भाषा का बोध होता है। बीका का मृत्यु स्मारक[४३] जो सस्कृत मे है, उसकी मृत्यु तिथि (आषाढ सुदि ५, स० १५६१) को अकित करता है। इसी तरह, लूणकर्ण[४४], जैतसिह[४५] आदि के भी स्मारक मिलते हैं जो तिथि-क्रम के लिए उपयोगी हैं। बीकानेर दुर्ग के एक पाश्व मे लगी हुई महाराजा रायसिह की एक विशाल प्रशस्ति[४६] (स० १६५०) वर्तमान किले के बनाने की तिथि, बीकाजी से रायसिह तक की वशावली तथा उनकी उपलब्धियो पर प्रकाश डालती है। उस समय सस्कृत भाषा के स्तर का भी हम इस प्रशस्ति से अनुमान लगा सकते हैं। इसका लेखक मुनी जेता था जो अपने समय का अच्छा विद्वान था।

रायसिह अपने आश्रित कविजनो और विद्वानो के प्रति बडा उदार था, जिनको उसने करोड और सवा करोड पसाव देकर सम्मानित किया था। मुशी देवीप्रसाद के शब्दो मे वह राजपूताने का कर्ण था। वह भाषा और सस्कृत मे कविता करता था। वह स्वय रायसिह-महोत्सव और ज्योतिष रत्नाकर का रचयिता था। इनमे से पहला

---

४२ टॉड, राजस्थान, जि० २, पृ० ८२४-२५, ८३३, मिश्रबन्धु विनोद, भा० २, पृ० ६१४, ६२१, ६४७, ६५२, १०३५, भा० ३, पृ० ११०५-११०६, श्याम-सुन्दरदास, हस्तलिखित हिन्दी पुस्तको का सक्षिप्त विवरण, भा० १, पृ० १४, ७०, १६४, ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ८७२-८७५, रेऊ, मारवाड राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २२-२४, जी० एन० शर्मा, ए बिबलियो-ग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, अध्याय ७ और ६ के सम्बन्धित ग्रन्थ।

४३ ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० १०६

४४ वही, पृ० ११६

४५ वही, पृ० १३६

४६ जनरल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल, न्यू सीरीज, १६, १६२०, पृ० २७६, जी० एन० शर्मा, ए बिबलियोग्राफी ऑफ मेडीवल राजस्थान, पृ० ११

वैद्यक का और दूसरा ज्योतिष का ग्रन्थ था। इससे स्पष्ट है कि वह इन विषयो का मर्मज्ञ था। एक बार दक्षिण मे एक फोग का बूंटा देखकर उसने सहसा एक भावमय दोहा रचा—

"तू सँदेशी रुखडा, म्हें परदेशी लोग।
म्हाने अकबर तेडिया, तूं क्यो आयो फोग ?"

उसके आश्रय मे अनेक ग्रन्थो के निर्माण हुए जिनमे महेश्वर का शब्दभेद अधिक प्रसिद्ध है।[४७]

कर्णसिंह (१६३१-१६६६ ई०) भी स्वय विद्वान तथा विद्वानो का आश्रयदाता था। उसके समय कई ग्रन्थ बने जिनमे कई विद्वानो द्वारा रचा हुआ साहित्य कल्पद्रुमा, प० गगानन्द मैथिलकृत कर्णभूषण और काव्य डाकिनी, भट्ट होसिहककृत कर्णवतस, वृत्तसारावली आदि उल्लेखनीय हैं।[४८]

महाराजा कर्णसिंह का ज्येष्ठ पुत्र अनूपसिंह (१६६९-१६९८ ई०) विद्याविलासी तथा सस्कृत और भाषा का अच्छा ज्ञाता था। उसने कई विषयो पर इन भाषाओ मे अनेक ग्रन्थो की रचना की, जिनमे अनूप विवेक (तन्त्रशास्त्र), काम प्रबोध (कामशास्त्र) श्राद्धप्रयोग चिन्तामणि और गीतगोविन्द की अनूपोदय नामक टीका अधिक प्रसिद्ध हैं। इसके आश्रित विद्वानो ने भी विविध विषयो पर ग्रन्थ लिखे। विद्यानाथ ने ज्योत्पत्तिसार (ज्योतिप), मणिराम दीक्षित ने अनूप व्यवहार सागर (ज्योतिष), अनूप विलास या धर्माम्बुधि (धर्मशास्त्र), भद्रराम ने अयुतलक्षहोम कोटि प्रयोग (कर्मकाण्ड), अनन्तभट्ट ने तीर्थरत्नाकर और उदयचन्द्र ने पाण्डित्यदर्पण ग्रन्थ लिखे। भाषा ग्रन्थो मे भी शुकसारिका, अनूपसिंह री वेल (वीरभाण), वैतालपचीसी, दम्पतिविनोद (जोशीराय), गीता अनुवाद (श्रीधर) आदि ग्रन्थो की उसने रचना करायी।[४९]

अनूपसिंह को सगीत मे भी वडी रुचि थी। उसके समय मे शाहजहाँ के दरवार के प्रसिद्ध सगीताचार्य जनार्दन भट्ट का पुत्र भावभट्ट (सगीतराय) अनूपसिंह के

---

४७ राजरसनामृत, पृ० ३६, टेसीटोरी, ए डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑफ वार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स, सेक्शन २, पार्ट १, पृ० ५९, ओझा, वीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २०१-२०२

४८ राजरसनामृत, पृ० ४५-४६, ओझा, वीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २५२-५३

४९ मित्र, कैटलॉग ऑफ सस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, पृ० ३००, ४७१, ५३२, कैटलॉग्स कैटलागर भा० १, पृ० ९३, स्टाइन कैटलॉग ऑफ सस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट, जम्मू, पृ० २८०-८१, दलाल, कैटलॉग ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट्स, जैसलमेर, पृ० ५६, टेसीटोरी, ए डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑफ वार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स स० २, पार्ट १, पृ० ६०, वीकानेर, ओझा, वीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २८०-८४

दरबार मे आकर रहा, जहाँ उसने सगीत अनूपांकुश, अनूपसगीत विलास, अनूपसगीत रत्नाकर, नष्टोद्दिष्ट-प्रबोधकध्रौपद टीका आदि ग्रन्थो की रचना की । इनके अतिरिक्त अनूपसिंह ने तथा उसके आश्रित विद्वानो ने अनेक विषयो पर ग्रन्थो का निर्माण किया जिसकी लम्बी नामावली मुशी देवीप्रसाद ने दी है ।[५०]

जोरावरसिंह (१७३६-१७४५ ई०) के समय मे वैद्यकसार और पूजापद्धति सस्कृत मे और रसिकप्रिया और कविप्रिया की टीका भाषा मे रचे गये । जोरावरसिंह स्वय सस्कृत और भाषा का अच्छा कवि था । उसके समय मे बीकानेर के घेरे जाने पर एक सफेद चील को देखकर उसने एक दोहा रचा—

डाढाली डोकर थई, का तूं गयी विदेस ।
खून बिना क्यों खोसजे, निज बीका रा देस ।।[५१]

जोरावरसिंह का उत्तराधिकारी गजसिंह (१७४५-१७८७ ई०) था जो स्वय कवि और साहित्यानुरागी था । उसके राज्यकाल मे चारण गोपीनाथ ने ग्रन्थराज नामक ग्रन्थ की रचना की थी । इस ग्रन्थ मे विभिन्न प्रकार के ग्रन्थो का समावेश है । ग्रन्थकर्ता ने इसे गजसिंह को भेंट किया, जिसने उसे दो हजार रुपये, हाथी, घोडा, सीरोपाव आदि पुरस्कार मे दिये । इस ग्रन्थ मे गजसिंह तक के बीकानेर के शासको की उपलब्धियो का वर्णन है । इसी तरह सिढायच फतेराम ने भी महाराजा 'गजसिंह रो रूपक' नामक काव्य ग्रन्थ रचा । इसी कवि ने दूसरा और ग्रन्थ लिखा जो महाराजा 'गजसिंहजी रा गीत कवित दूहा' के नाम से प्रसिद्ध है । स्वय महाराजा अच्छे कवि थे । भजन और कविता बनाने का इन्हे खूब शौक था ।[५२]

हाडौती—हाडौती के भी १२वी शताब्दी से आगे तक के कुछ शिलालेख हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है । पन्द्रहवी से सोलहवी शताब्दी के ऐसे लेख है जिनका सम्बन्ध खीची और गौडवशीय राजपूतो से है । इतिहास के लिए सबसे अधिक उपयोग उन शिलालेखो का है जो बूंदी और कोटा तथा झालावाड के नरेशो से सम्बन्धित है । उदाहरणार्थ, स० १६३६ का गैपरनाथ का शिलालेख मन्दिर की प्रतिष्ठा और स० १७४६ का चाँदरवेडी का शिलालेख जाटो के विरोध के सम्बन्ध मे

---

[५०] राजेन्द्रलाल मित्र, कैटलॉग ऑफ दि सस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स, बीकानेर, पृ० ५१०-५१४, मुशी देवीप्रसाद, राजरसनामृत, पृ० ४६-४८, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २८५-८७

[५१] राजरसनामृत, पृ० ४६-५०, नरोत्तमदास स्वामी, राजस्थान रा दूहा, भा० १, पृ० ६६ तथा २३७, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३२२

[५२] टेसीटोरी, ए डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑफ बीकानेर, सेक्शन १, पार्ट २, पृ० ३४-४०, ८३, ८५, राजरसनामृत, पृ० ५०, ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३५६-३६१

प्रकाश डालता है। इस राज्य के नरेश भी विद्याप्रेमी रहे हैं जिनके समय के कई संस्कृत और भाषा के ग्रन्थ सरस्वती भण्डार तथा कोटा और बूंदी नरेशो के निजी संग्रहालयो मे सुरक्षित हैं। इनमे अधिकाश मे वे ग्रन्थ हैं जो ज्योतिष, वैद्यक और काव्य विषय के हैं। जहाँ तक इतिहास सम्बन्धी साहित्य का प्रश्न है उनमे चरित्र रत्नावली का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ की प्रति तो देखने को नही मिली है, परन्तु इसका जिक्र मुशी मूलचन्द ने अपनी पुस्तक मे किया है। इस पुस्तक मे महाराव माधवसिंह के प्रारम्भिक जीवन और बुरहानपुर के घेरे का वर्णन उपादेय है। सम्वत् १८९७ ई० मे सूरजमल मिश्रण ने वशभास्कर नामक बूंदी राज्य का काव्यमय विस्तृत इतिहास लिखा जो इतिहास तथा साहित्यिक अध्ययन की दृष्टि मे बडे महत्त्व का है।[५३]

बागड—डूंगरपुर राज्य मे संस्कृत भाषा की प्रगति बडी सन्तोषजनक रही है। अनेक विद्वानो द्वारा संस्कृत गद्य और पद्य मे सैकडो शिलालेख तैयार करवाकर यहाँ के नरेशो और समृद्ध परिवारो ने अपने विद्याप्रेम और धार्मिक रुचि का परिचय दिया। आँतरी गाँव का स० १५२५ का शिलालेख और चीतरी गाँव का स० १५३६ का शिलालेख।[५४] उस समय की जन-समुदाय की धार्मिक प्रवृत्ति के बोधक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्ट सोमदत्त सोलहवी शताब्दी का डूंगरपुर राज्य का आश्रित विद्वान था। इसी तरह महारावल पुंजराज की गोवर्द्धननाथ की प्रशस्ति[५५] (स०-१६७९) से कई ऐतिहासिक तथ्यो का उन्मीलन ही नही होता, वरन् उस युग के विद्या के विकास तथा स्थानीय नरेशो के विद्यानुराग का परिज्ञान भी होता है। बडवो की ख्यातें भी इस राज्य की वागडी भाषा की स्थिति पर प्रकाश डालती हैं।

बाँसवाडा राज्य मे मध्ययुगीन ग्रन्थो का अभाव-सा है। रानीमगो की ख्यातें या वशावलियो की भी यहाँ कमी ही दिखायी देती है। परन्तु इनके अभाव मे हमे यहाँ कई दान-पत्र और शिलालेख मिलते हैं, जिनमे कुछ विद्वानो के नाम उपलब्ध होते है। इन नामो से स्पष्ट है कि राजस्थान का यह भाग विद्योन्नति से बिलकुल वंचित रहा हो ऐसा नही था। पीपलूआ गाँव के वि० १६६३ के लेख से मुकुन्द नामी विद्वान का पता चलता है। महारावल समरसिंह (१६१५-१६६० ई०) के समय मे संस्कृत भाषा का अच्छा प्रचार था, जो १६२० ई० की एक मत्स्यपुराण की प्रति मे प्रमाणित होता है।[५६] महारावल कुशलसिंह के समय मे १६६१ ई० मे ब्राह्मणभाग-अग्निरहस्यकाण्ड नामक पुस्तक लिखी गयी थी और उनके समय के व्यास उद्धव, दवेलाला, जोशी,

---

५३ डा० मथुरालाल शर्मा, कोटा राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४, ८, ९
५४ ओझा, डूंगरपुर राज्य का इतिहास, पृ० ७०-७१
५५ वही, पृ० ११०
५६ ओझा, बाँसवाडा राज्य का इतिहास, पृ० १००-१०१

केशव, पुंजा, पण्ड्या सुखा आदि सम्मानित विद्वान थे।[५७] महारावल पृथ्वीसिंह काव्य प्रेमी होने से कवियो को गाँव और भूमि देकर अपने आश्रय मे रखता था।[५८] महाराजा विजयसिंह ने भी दान-दक्षिणा से चारण और विद्वानो को सन्तुष्ट रखा।[५९]

प्रतापगढ—प्रतापगढ राज्य से मिलने वाले अनेक शिलालेख तथा ख्यातो से इस भाग मे होने वाले सस्कृत और भाषा के प्रचार का अनुमान लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे दो शिलालेख धोटार्सी गाँव के ११वी शताब्दी के प्रारम्भ के आस-पास के और तीसरा लेख गोतमेश्वर का विक्रम की सोलहवी शताब्दी का उल्लेखनीय है। बडवे और भाटो की बनायी हुई ख्यातें तथा वशावलियाँ भी स्थानीय भाषा के विकास पर काफी प्रकाश डालती है। महारावल जसवन्तसिंह स्वय की भाषा काव्य की रचना मे अच्छी गति थी। उसके सकलित दोहो मे (वि० स० १७४६) अधिकाश नायका भेद और नख-शिख वर्णन हैं। रचना अलकारयुक्त और अनूठी उपमाओ से पूर्ण है।[६०]

हरिसिंह (१६२८-१६७३ ई०) स्वय विद्वान था और विद्वानो का आदर करता था। "उसने स्वय अपने दरबारी पण्डित जयदेव रचित 'हरिविजय नाटक' पर सुबोधिनी टीका बनायी थी तथा व्याकरण पर 'हरि सारस्वत' की रचना की थी।" उसके साहित्यानुराग से प्रेरित होकर माधव भट्ट के पुत्र गगाराम भट्ट मेवाडा ब्राह्मण ने हरिभूषण महाकाव्य लिखा। इसमे नौ सग है और वह अपूर्ण अवस्था मे है। इसकी उपयोगिता प्रतापगढ के इतिहास के लिए बडे महत्त्व की है। पण्डित जयदेव ने महा-रावल हरिसिंह के नाम पर हरिविजय नाटक की रचना १६५७ ई० मे की। इस नाटक का अभिनय भी सभासदो के विनोदार्थ किया गया। इसकी रचना त्रिवाडी-मेवाडा जयदेव ने की थी। इसी कवि ने विष्णु सहस्रनाम की टीका और हेमाद्री की परिवर्तित प्रति भी तैयार की थी। इसी समय के हरिपिंगल से, जिसको कवि जोग ने बनाया था, भाषा साहित्य की प्रौढता प्रकट होती है।[६१]

अपने पिता की भाँति प्रतापसिंह (१६७३-१७०८ ई०) विद्या-प्रेमी था। वह विद्वानो को आश्रय देकर अपने यहाँ रखता था और उनका सम्मान करता था। उसके समय मे कल्याण कवि ने प्रताप-प्रशस्ति की रचना की थी जो खण्डित काव्य के रूप मे उपलब्ध है। इसके द्वारा तथा अन्य साधनो से हमे इसके दरबारी कवियो और

---

५७ वि० स० १७२१ का सलिया का लेख, वि० स० १७२४ का सरवणिया का लेख, वि० स० १७३६ का तलवाडा का लेख, ओझा, बाँसवाडा राज्य का इतिहास, पृ० १०९-१११

५८ वही, पृ० १४१

५९ वही, पृ० १४९

६० काव्य कुसुम, ओझा, बाँसवाडा राज्य का इतिहास, पृ० १३९

६१ वही, पृ० १७०-१७५

विद्वानो के नाम मिलते है, जिनमे सोमजी भट्ट, मन्सा भट्ट, विश्वनाथ, मेहता जयदेव, मेहता हरिदेव, भगवान कवि, नृसिहनागर, केशव पौराणिक, सन्तोशराय, रामकृष्ण, विजय सूरी, नरु आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। महारावल स्वय भाषा मे काव्य रचना करता था। कुछ उसके रचे हुए दोहो से, जो उपलब्ध हुए हैं, प्रकट है कि उसकी रचना शृगार या भक्ति रस प्रधान होती थी।[६२] किशनगढ के लेखको मे स्वय नागरीदास और वनीठनी व्रज भाषा के अच्छे कवि थे।[६३]

वैसे तो इस मध्ययुगीन साहित्यिक प्रगति को पूर्ण रूपेण मौलिक तो नही कहा जा सकता, परन्तु सस्कृत के मूलभूत ग्रन्थो को देखने से प्रकट होता है कि इस समय सस्कृत के अध्ययन और अध्यापन का स्तर सन्तोषजनक था। प्रारम्भिक मध्य-युगीन काव्य-परम्परा को बनाये रखने का इस युग को श्रेय है। जहाँ तक भाषा की सेवा का प्रश्न है इस युग मे राजस्थानी भाषा मे अच्छे ग्रन्थ रचे गये जिनमे मौलिकता भी है और उनकी उपादेयता भी। इस अर्थ मे मध्ययुगीन काल को राजस्थानी साहित्य का स्वर्णयुग कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। इस साहित्य का विकास और रसास्वादन प्रत्येक स्तर के समाज मे होता था, जिससे इसकी लोकप्रियता स्पष्ट है। किसी भी राजदरबार या साधारण परिवार का उत्सव सफल नही माना जाता था जब तक वहाँ राजस्थानी काव्य के उद्धरणो को न दोहराया जाय।

---

६२ काव्य कुसुम, ओझा, बाँसवाडा राज्य का इतिहास, पृ० १९१

६३ किशनगढ पेंटिग, प्रस्तावना

अध्याय २८

राजस्थान के स्थापत्य का विकास (प्राचीनकाल से १८वी शताब्दी तक)

प्राक्कथन—मानव-प्रयास के इतिहास मे स्थापत्य का अपना स्वतन्त्र स्थान है। चाहे वह रोम का हो या मिस्र का, यूनान का हो या काबुल का, भारतीय हो या चीनी, स्थापत्य एक ऐसी शृखला है जो शताब्दियो की बिखरी हुई कडियो को जोडकर हमारे लिये देश और जाति का सच्चा स्वरूप उपस्थित करता है। जहाँ लिखित ऐतिहासिक साधनो की उपलब्धि नही हो सकती वहाँ स्थापत्य के अवशेष अज्ञातकाल के इतिवृत के साक्षी बनते है तथा विस्मृत युगो की याद दिलाने मे सहायक होते है। किसी भी देश की युगीन प्रगति का समुचित अध्ययन विना स्थापत्य की विविध परतो तथा खण्डहरो के अध्ययन के नही हो सकता, क्योकि उनमे देश की वास्तविक आत्मा प्रतिविम्बित होती है। उन्ही के माध्यम से कला और जनजीवन का सामजस्य एक दिव्य प्रकाश के रूप मे प्रस्फुटित होता रहता है। जहाँ भारत की स्थिति का प्रश्न है वहाँ हम अनुभव करते है कि यहाँ धार्मिक चिन्तन, भाव, प्रमाण और प्रगति का समूचा चित्रण स्थापत्य के अन्तर्गत निहित रहा है। यहाँ कला ने निरन्तर राष्ट्रीय अनुभूतियो और जनजीवन के विशिष्ट उद्देश्यो की पूर्ति की है और साथ ही साथ सौन्दर्य और माधुर्य के अविरल स्रोत को बहाकर जीवन और आत्मा को स्थायी तत्त्वो द्वारा सुखमय बनाया है। ये सभी भारतीय स्थापत्य के तत्त्व विकसित तथा समृद्ध परिमाण मे राजस्थान मे पाये जाते है, क्योकि स्थापत्य को यहाँ राजकीय तथा व्यक्तिगत रूप से सतत प्रश्रय मिलता रहा। यहाँ स्थापत्य की अभिव्यक्ति गाँवो, नगरो, मन्दिरो, राजभवनो, दुर्गो, जलाशयो, उद्यानो तथा समाधियो द्वारा प्रमाणित होती है।

बस्तियाँ और स्थापत्य—राजस्थान के स्थापत्य का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मानव इतिहास का युग। प्रमाणो से ज्ञात है कि यहाँ का आदि-निवासी भारत के आदि-निवासी की भाँति पूर्व-प्रस्तर युगीन मनुष्य था। वह निरा बर्बर था एव नदियो के किनारे, वृक्षो के नीचे और पहाडो की उपत्यकाओ तथा कन्दराओ मे रहकर जीवन व्यतीत करता था। सरस्वती, चम्बल, बेडच, बनास, गम्भीरी, आहड तथा लूनी नदियो तथा अरावली की श्रेणियो के किनारो और गड्ढो मे जमी हुई परतें तथा उनके आसपास के क्षेत्रो मे मिलने वाले पत्थरो के औजार इस बात को प्रमाणित

करते हैं कि यहाँ का आदिम-मानव इन नदियो के तटो और आडावला पर्वत की उपत्यकाओ मे कम मे कम एक लाख वर्ष पूर्व रहता था।

कालान्तर मे इस पूर्व-प्रस्तरकालीन मानव ने उत्तर-प्रस्तर कालीन युग मे प्रवेश किया। इस समय तक वह भौंडे औजारो के वजाय पैने तथा चमकीले औजार वनाना सीख चुका था। मिट्टी के वर्तनो का प्रयोग तथा चमडे और वल्कल के वस्त्रो का उपयोग उसे सम्भवत अब ज्ञात हो चुका था। इसी प्रकार घास-फूस की झोपडियो मे रहने की विधि वह जान गया था, जिसे वह स्वय बनाता था। वर्षा अधिक होने से घने जगलो की उपज ने उसे इसको उपयोग में लाने की सूझ पैदा कर दी हो तो कोई आश्चर्य नही। साराश यह है कि पूर्व-प्रस्तर युगीन मानव से उत्तर-प्रस्तर युगीन मानव मे कुछ अन्तर आ गया जो घास-फूस, बाँस, लकडी, पत्ते आदि की झोपडियाँ वनाकर प्रागैऐतिहासिक स्थापत्य का जन्मदाता बना। आज भी राजस्थान के घने जगली, रेतीले और विहड पहाडी भागो मे रहने वाले आदिम जाति के समुदाय ऐसे स्थापत्य का प्रयोग करते है।[1]

कालान्तर मे प्रस्तर-युगीन मानव प्रस्तर-धातु युग मे प्रवेश करता है। स्थापत्य की धुँधली एव अन्धकारपूर्ण अवस्था अब समाप्त होती है और सस्कृति की कहानी एक मजिल और आगे बढती है। यहाँ से स्थापत्य का एक विशेष स्वरूप देखने को मिलता है। गगानगर जिले मे कालीवगा और सौथी मे पुरातत्त्व सम्बन्धी खुदाइयो मे जो भग्नावशेष मिले हैं उनसे प्रमाणित है कि ऋग्वैदिक काल से सदियो पूर्व सरस्वती और दृश्वती, जिन्हे आजकल घग्घर और छटूग कहते है, के काँठे पर जीवन लहरें मारता था। इन काँठो की उपजाऊ स्थिति अच्छी होने से यहाँ की सभ्यता सक्रिय थी तथा यहाँ की सस्कृति उच्चकोटि की थी। अनुमान लगाया जाता है कि इस प्रान्त के कई रेतीले ढेरो में उन्नत सभ्यता के केन्द्र ढके पडे हैं। कुछ एक ढेरो के परीक्षण खनन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सदियो तक यह प्रान्त सभ्यता को जीवित रखता रहा। कालान्तर मे बाढ या सूखा पडने के कारण ये नदी-सभ्यता के केन्द्र विध्वस हो गये या वीरान हो गये। इन ढेरो की खुदाई से प्रमाणित है कि यह समृद्ध सभ्यता का केन्द्र किसी विशेष शैली के अनुरूप बना था जिसमे हडप्पा और स्थानीय विशेषताओ का समुचित सम्मिश्रण हो गया। इसकी चौडी सडकें, सार्वजनिक नालियाँ, दुर्ग का प्राकार, गोल कुएँ, क्रमिक अन्तर वाली नालियाँ, और गलियाँ, छोटे-मोटे सटे हुए मकान आदि उस युग के शालीन स्थापत्य के साक्षी हैं। दीवारें कच्ची या भौंडी सूर्यतपी ईंटो की होती थी, सडकें विशेष प्रकार के गोल पदार्थ से कडी की जाती थी, मकानो के दरवाजे छोटे होते थे और पानी निकलने की चारो ओर व्यवस्था रहती थी। खुदाई से उपलब्ध सामग्रियो मे मिट्टी के चिकने चित्रित बर्तन, सुन्दर रेखाचित्रो वाली मुहरे,

---

[1] पी० टी० एल० लोगन, स्टोन एज इन इण्डिया, एच० डी० सकालिया, विगनिंग ऑफ सिविलिजेशन इन राजस्थान, सेमिनार रिपोर्ट, उदयपुर, १९६२, पृ० १-२

खिलौने, चूडियाँ आदि ने प्रमाणित कर दिया है कि सरस्वती तथा दृष्वती सभ्यता के नागरिक मोहनजोदडो तथा प्राचीन यूनानियो की भाँति कला के प्रति जागरूक थे और उसमे पूर्ण रुचि रखते थे। ऐसा भी जान पडता है कि नदी के अनित्य तथा वर्षा की अधिकता ने इस भाग को कृषि के लिए उपयोगी बना दिया होगा जिससे ये लोग कृषि को व्यवस्थित रूप से करते रहे होंगे। यदि यह मान्यता ठीक है तो यहाँ कृषि सम्बन्धी अन्य उद्योग भी समृद्ध रहे होंगे। इसी प्रकार एक विशेष प्रकार की चूडिया, जो बडी सख्या मे इधर-उधर धूल मे मिलती है, यह सकेत करती हैं कि इनके बनाने का उद्योग यहाँ खूब पनपा हो और सम्भवत कालीबगा नाम भी इस व्यवसाय मे सम्बन्धित हो।

सरस्वती सभ्यता की गोधूली के बाद दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान की सभ्यता का प्रभात हुआ। यह सभ्यता भी चिरकाल तक जीवित रही जिसकी अवधि ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ तक मानी जाती है। आहड (उदयपुर से ३ किलोमीटर पूर्व) और गिलूंड से (आहड से ७२ किमी उत्तर-पूर्व) की सभ्यता इस सभ्यता के प्रतीक हैं। घरेलू व्यवहार मे काम आने वाले अनेक आकृति के भाण्ड, प्याले, तश्तरियाँ, ढकनियाँ, छोटे-मोटे खाने, पीने और सग्रह के मिट्टी के बर्तन इन सभ्यताओ के निर्माताओ की सुरुचि के ज्वलन्त प्रमाण हैं। इन पात्रो पर बने हुए चित्रणो से स्पष्ट है कि उस युग के मानव को रूप तथा आकृति का सूक्ष्म बोध था। विविध प्रकार के बने हुए खिलौने जो खुदाई मे मिले हैं सजीवता के बेजोड नमूने है। इसी प्रकार बडे आकार के चूल्हे, नालियाँ, बाँस की छतें, द्वार, पत्थर और ईंटो का प्रयोग उस युग के स्थापत्य पर पूरा प्रकाश डालते है। यहाँ पत्थर की बहुतायत के कारण दीवारें छोटे-मोटे पत्थरो की बनी है जिन्हे मिट्टी से जोडा गया था। मकानो मे खिडकियो तथा दरवाजो की व्यवस्था रहती थी जिनमे दो तीन कमरो, बरामदो तथा खुले चौक को मिलाकर एक पूरे मकान की इकाई बनती थी जिससे यहाँ के निवासियो की समृद्ध अवस्था पर प्रकाश पडता है। एक दो कमरे तो ५०-६० फुट की लम्बाई और ३०-३५ फुट की चौडाई के भी आहड मे मिले जिसमे बडी-बडी भट्टियाँ पायी गयी। अनुमान किया जाता है कि ऐसा मकान किसी सार्वजनिक भोजनालय का स्थान रहा हो या बडे सयुक्त परिवार के रहने के मकान का कोई अग हो। एक दो स्थान मे मिट्टी के बर्तनो से ताँबे की चद्दरो का मिलना यह बताता है कि ताँबे के औजारो को बनाने मे यहाँ के कारीगर दक्ष रहे हो। इस क्षेत्र के आसपास ताँबे की खानो का होना भी इस अनुमान की पुष्टि करता है। कई पीसने के पत्थर जो यहाँ की खुदाई से निकले हैं, इस ओर सकेत करते हैं कि आहड की सभ्यता के लोग खेती द्वारा अन्नोत्पादन करते थे और अपने खाने के लिए अन्न को पत्थरो से पीसकर काम में लाते थे। नदी के सामीप्य से इन्हें सिंचाई मे सुविधा रही होगी तथा खानो के सामीप्य से यहाँ खनन-कार्य और उससे प्राप्त धातु से औजारो को बनाने के व्यवसाय के पनपने मे सहायता

मिली होगी। आहड के धूलकोट के भाग की यदि पूरी खुदाई की जाय तो सम्पूर्ण नगर के बनने तथा विशिष्ट स्थापत्य के पहलुओ पर अच्छा प्रकाश पड सकता है।[२]

इसी प्रकार पौराणिक सभ्यता के युग मे राजस्थान मे सभ्यता के केन्द्रो का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो[3] मे मिलता है जिनमे पुष्कर, मरुधन्व, जागल, श्वम्, मत्स्य, साल्व, मरूकान्तार आदि मुख्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग मे अर्बुद, पुष्करारण्य, वागड तथा कोटा आदि भागो मे स्थानीय असभ्य जातियो की भी बस्तियाँ थी। जहाँ-जहाँ नगरो का विकास हुआ वहाँ बडी-बडी खाइयाँ बनायी गयी तथा राजप्रासाद, प्राकार, आराम, वापिकाएँ, भवन आदि का निर्माण हुआ। पहाडी तथा जगली भागो मे स्थानीय जातियो ने पर्ण, घास-फूस, मिट्टी आदि से मकान बनाये और काँटेदार झाडियो से उनकी रक्षा का प्रबन्ध किया। इस प्रकार के स्थापत्य के तथ्यातथ्य का निर्णय वैसे तो देना कठिन है परन्तु यह ठीक जान पडता है कि उस समय ग्रामीण तथा नागरिक स्थापत्य का स्वरूप बन चुका था और उसके सामजस्य से एक सभ्यता का विकास हो रहा था। इसी युग के भारतीय नगर, जैसे अवन्ति, कौशाम्बी, मथुरा, काशी आदि सम्पन्न अवस्था मे थे। हमे ऊपर दिये गये नगरो के बारे मे जानकारी उनकी खुदाई से होती है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजस्थान भी इस अवस्था से अवश्य गुजरा था। इन अनुमानो की सच्चाई की जाँच के लिए परिवेक्षण तथा खनन की आवश्यकता है, जिससे इस युग की सभ्यता की रूपरेखा स्पष्ट हो जाय।

मौर्य-काल से लेकर उत्तर गुप्त कालीन युग मे भारतीय स्थापत्य की भाँति राजस्थान मे स्थापत्य के एक विशेप रूप का विकास हुआ। इस काल की कला केवल मात्र राजकीय प्रश्रय की ही पात्र न थी परन्तु उसे जनप्रिय बनाने का भी सौभाग्य प्राप्त था। वैराट नगर, जो जयपुर जिले मे है, अशोककालीन स्थापत्य का एक अच्छा प्रतीक है। यहाँ के भग्नावशेषो मे स्तम्भ-लेख और बौद्ध-विहार के खण्डहर प्रमुख है। स्तम्भ-लेख राजकीय कला के प्रतीक है तो बौद्ध-विहार के अवशेष साधारण जनता के भाव और विश्वास के। इस युग मे तथा आगे आने वाले युग मे राजस्थानी स्थापत्य मे जैन, बौद्ध और हिन्दू विचारो को प्रतिष्ठित स्थान मिला। मध्यमिका मे,

---

२ डा० एच० डी० साकलिया, बिगनिंग ऑफ सिविलिजेशन इन राजस्थान, सेकण्ड सेमीनार ऑन दि हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, पृ० ६-१६, आर्कियोलोजिकल रिमेंस, मोनुमेण्ट्स एण्ड म्यूजियम, भाग १, इण्टरनेशनल कान्फ्रेंस ऑफ ओरियण्टलिस्ट सेशन २६, दिल्ली पृ० १८-१६

3 वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग २२, महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय ५४, श्लोक ७, महाभारत, विराट पर्व, अध्याय १६-२८, अ० २४-३८, महाभारत, भीष्मपर्व, अध्याय ८७, ३५ आदि, ओझा, राजपूताने का इतिहास, जि० १, पृ० ६४-६८

जिसे आजकल नगरी कहते है, और जो चित्तौड से आठ मील उत्तर मे वेडच नदी पर स्थित है, इन विविध प्रवृत्तियो के अच्छे नमूने उपलब्ध है। इस नगरी के भग्नावशेष नदी के किनारे-किनारे धूल के ढेर के रूप मे बडी दूर तक फैले हुए है। यत्र-तत्र ईंटें, मन्दिर के अवशेष तथा मकानो के अवशेष के आधार दिखायी देते हैं जिससे स्पष्ट है कि नगरी तीसरी सदी ईसा पूर्व से छठी सदी ईस्वी काल तक एक समृद्ध नगर रहा हो। वतमान नगरी से कुछ ही दूर आज भी विशाल प्रस्तर-खण्ड दिखायी देते है जो तीसरी सदी ईसा पूर्व के स्थापत्य की विलक्षणता को प्रमाणित करते हैं। जव यह नगर उजाड हो गया तव यहाँ की सामग्री को चित्तौड ले जाया गया और उन्हे भवन, कुण्ड, मन्दिर आदि स्थानो के वनाने मे लगा दिया गया। यहाँ की खुदाई से मिलने वाली ईंटें तथा प्रस्तर-खण्ड धार्मिक तथा सावजनिक भवनो के निर्माण की परम्परा को प्रमाणित करते है। नगरी के दक्षिण की ओर की नहर नगर को वाढ के भय से वचाने के लिए बनायी गयी थी जो उस युग के स्थापत्य कौशल का अद्वितीय उदाहरण है।[४]

इसी तरह इस युग के, उत्तर-पूर्वी तथा दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान जयपुर तथा कोटा के आसपास के क्षेत्र वास्तुकला की दृष्टि से महत्त्व के हैं। उदाहरणार्थ, नान्दसा (२२५ ई०), कर्कोटनगर, रगमहल आदि अपने धर्म, कृषि, वाणिज्य, व्यापार तथा शिल्प की समृद्ध स्थिति के कारण अच्छी वस्ती के स्थान थे। पुरमण्डल, हाडौती, शेखावाटी और जागल प्रदेश मे भी स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने देखने को मिलते हैं। परन्तु जव हम गुप्तकाल और गुप्तोत्तरकाल मे प्रवेश करते है तो राजस्थान के स्थापत्य में एक शक्ति और दक्षता का सचार दिखायी देता है। मेनाल, अमझेरा, डवोक आदि कस्वो के भग्नावशेष परवर्ती शताब्दी के नगर निर्माण के अच्छे नमूने है।[५] कुण्ड, वापिकाएँ, सडकें, मन्दिर, नालियाँ आदि का प्रमाणिक सन्तुलन इन खण्डहरो मे मिलता है। इसी तरह कल्याणपुर का वीरान नगर हमे एक नयी दिशा मे सोचने की ओर आकृष्ट करता है। यह नगर निकटवर्ती दो धाराओ वाली नदी के वीच मे वसा हुआ था जिसके किनारे-किनारे मन्दिर और बीच-वीच मे वस्ती, खेत आदि के खण्डहर दिखायी देते हैं। इस समूचे काल के सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक चेतना ने भवन-निर्माण तथा नगर विकास योजनाओ को ईंटो तथा पत्थर के आकार और प्रकार से आभारित किया। कल्याणपुर तथा वसी से मिलने वाली ईंटो को देखकर हम आश्चर्य किये विना नही रहते कि उस युग मे यह घरेलू धन्धा कितना पल्लवित था।

जव हम सातवी शताब्दी से लेकर तेरहवी शताब्दी के स्थापत्य का पयवेक्षण करते हैं तो हम पाते हैं कि वह एक नये राजनीतिक ढाँचे के अनुकूल ढल जाता है।

---

४ आर्कियोलोजिकल सर्वे एण्ड एसकेवेशन, न० ४, १९२०

५ एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३५, अक २, अजमेर म्यूजियम रिपोर्ट, १९२९, पृ० १-२, मजूमदार व अल्टेकर, वाकाटक-गुप्त एज, पृ० २५-२६

इसी अवधि मे अर्बुदाचल प्रदेश मे परमार, मेवाड-वागड मे गुहिल, शाकम्भरी मे चौहान, ढूँढाढ मे कच्छपघाट, जागल मे राठौड, मत्स्य-राजगढ मे गुर्जर-प्रतिहार आदि राज्यो का उदय होता है। ये राजवश बल शौर्य को प्राधान्यता देते हैं और प्रसार की ओर अग्रसर होते है। यही कारण है कि इस युग की वास्तुकला मे शक्ति, विकास तथा जातीय सगठन की भावना स्पष्ट झलकती है। उदाहरणार्थ, नागदा, चीरवा, लोद्रवा, अर्थूणा, चाटसू आदि कस्वो को घाटियो, पहाडियो या जगल से आच्छादित स्थान मे बसाया गया और इनमे वे सभी साधन जुटाये गये जो युद्ध-कालीन स्थिति मे सुरक्षा के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते थे। इन कस्वो को राज-कीय निवास का केन्द्र भी बनाया गया जिससे इन राजवशो को आसपास के भागो पर अपना अधिकार स्थापित करने मे कठिनाई न हो। इन कस्वो मे कही-कही राज्य के उच्च कर्मचारी रखे जाते थे जो उनकी शक्ति को स्थापित करने मे सहयोग दिया करते थे। इन स्थानो को विशेष प्रकार के उपकरणो से सजाया जाता था। नागदा, जो गुहिलो की राजधानी थी, पत्थर से जडी हुई सडको से सुशोभित थी जिसके दोनो ओर ढलान था। ढलान का पानी नालियो मे वहकर निकलता रहता था। आज यह सडक बाघेला तालाब के गर्भ मे छिपी पडी है।[६]

इस काल मे नगरो मे वस्तियाँ किस प्रकार विभाजित थी और उनका सम्पूर्ण ढाँचा कैसा था उसका पूरा-पूरा चित्रण करना तो बडा कठिन है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नगर निर्माण मे प्रयुक्त स्थापत्य का प्रमुख आधार महाभारत, अर्थशास्त्र, कामसूत्र, शुक्रनीति, अपराजितप्रेच्छ आदि ग्रन्थो मे दिये गये सिद्धान्तो के अनुरूप था। उदाहरणार्थ, नगरो को परकोटो तथा खाइयो से सुरक्षित करने तथा राजप्रासादो, सुन्दर भवनो, मन्दिरो और आरामो से सुशोभित करने पर बल दिया जाता था। यथासम्भव वस्तियो को पेशे के अनुसार बाँटा जाता था और सडको को गलियो, चौपडो तथा नालियो से सम्बद्ध किया जाता था। इन सूत्रो का अनुपालन हमे मध्ययुगीन वास्तुकला मे दिखायी देता है। उदाहरणार्थ, वैरिसिंह ने ११वी शताब्दी मे आघाट नगर के चारो ओर परकोटे की व्यवस्था की। इगोदा नामक कस्बे मे वस्तियो को वर्ण तथा पेशे के अनुसार बसाया गया था। इसमे ब्राह्मणो के रहने के लिए ब्रह्मपुरी थी। देलवाडा मे भी वस्ती का बँटवारा उद्योग के अनुकूल किया गया था।[७]

आमेर नगर जो १०वी शताब्दी से १७वी शताब्दी तक कछवाहो की राजधानी था, एक विशेप परिस्थिति के अनुकूल बसाया गया था। दोनो ओर की पहाडियो के ढाल मे हवेलियाँ तथा ऊँचे-ऊँचे भवन बनाये गये थे और नीचे के समतल

---

६ मेरा लेख मॉर्डन रिव्यू, मई १९४९, भट्टिवश प्रशस्ति (पाण्डुलिपि), मण्डलेश्वर प्रशस्ति, वि० स० १६३६, फाल्गुन शुक्ला ७

७ महाभारत, सभापर्व, अध्याय २१, अर्थशास्त्र, २, पृ० २९, पृ० ५५ (शास्त्री), कुम्भलगढ लेख, श्लोक १४४-४५

भाग मे पानी के कुण्ड, मन्दिर, सडकें, वाजार आदि थे। पहाडी नाको को सकडा रखा गया था जिसका उपयोग सुरक्षा से सम्बन्धित था। ऊँची पहाडी पर राजभवनो का निर्माण कराया गया था। उत्तरोत्तर जब आमेर मे विकास की कोई गुजाइश न रही और कछवाहे मुगल मैत्री से अपने आपको अभय समझने लगे तथा उन्हे दस्तकारो के काम को अधिक प्रोत्साहन देना आवश्यक हुआ तो जयपुर का नगर खुले मैदानी भाग मे वसाया गया और उसकी सुरक्षा वजाय पहाडी घेरे और नाके के सुदृढ परकोटे से की गयी। नाहरगढ को सैनिक शक्ति से सुसज्जित कर सम्पूर्ण मैदानी भाग की चौकसी का प्रवन्धक वनाया गया। जगह-जगह जलाशय, आराम, फव्वारे, पानी की नालियाँ, चौडी सडके, चौपडें आदि वनायी गयी जिसके निर्माण मे मुगल तथा राजपूत स्थापत्य को समावेशित किया गया। जयपुर नगर के स्थापत्य मे प्राचीन हिन्दू स्थापत्य तथा मुगल स्थापत्य का समुचित समन्वय दिखायी देता है जिसकी ओर हेबर ने सकेत किया है। उसने पेशे के अनुसार बस्तियो के बनने का भी उल्लेख किया है। वुद्धि-विलास तथा सिहाहजूर के कागजात वाजारो तथा मुहल्लो के वर्णन द्वारा जयपुर के स्थापत्य पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।[८]

१२वी सदी मे जैसलमेर को सोम पहाडी, जगल की निकटता और पानी की सुविधा को ध्यान मे रखकर वनाया गया। जैसलमेर गजल के वर्णन से सिद्ध है कि यहाँ अलग-अलग वस्तुओ के क्रय-विक्रय के केन्द्र थे और राजस्थान के वाहर से सामान आने तथा यहाँ से वाहर ले जाने की अच्छी व्यवस्था थी। वाजारो के वर्णन से सिद्ध है कि यहाँ विविध वस्तुओ मे व्यापार होता था और जनजीवन सुखमय और समृद्ध अवस्था मे पहुँच गया था।[९]

अजमेर चौहानो के समय समृद्ध नगरो मे गिना जाता है। पृथ्वीराज विजय काव्य मे अजमेर की तुलना, जो इन्द्रपुरी से की है, यह सिद्ध करती है कि वह नगर सुख-सम्पदा से परिपूर्ण था। पठारी भाग के उपजाऊ केन्द्र मे होने से उसकी समृद्ध अवस्था मे सन्देह करना निरर्थक है। हसन निजामी, अवुलफजल, टॉमस रो आदि लेखको ने अजमेर की सम्पन्न अवस्था पर काफी प्रकाश डाला है। मालदेव ने अजमेर को परिवर्द्धित करने मे योग दिया। अकवर ने उसे सुसज्जित करने मे कोई कसर नही रखी। उसके काल से लेकर मराठो और तत्पश्चात अग्रेजो के अधिकार काल तक

---

८ आमेर का शिलालेख, ९५४ ई०, फर्ग्यूसन, इण्डियन आर्किटेक्चर, भा० २, पृ० २५५, एज स्टोन्स स्पीक्स पृ० १-२, ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर (मध्ययुगीन) पृ० १२८, हेवर, इण्डियन जरनल, अ० २३, पृ० ३९-४०, गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ४८-४९

९ जैसलमेर गजल, पद्य, १-७

अजमेर भवन-निर्माण, वाजारो की व्यवस्था और वाणिज्य मे उन्नति करता रहा। दरगाह शरीफ के होने से इस नगर की धार्मिक प्रतिष्ठा और वढ गयी।[१०]

बूंदी के स्थापत्य मे तथा उसके वसाने मे पहाडी स्थिति और पानी के प्राचुर्य का वडा हाथ रहा है। जोधपुर तथा वीकानेर के वसाने मे गढ का निर्माण, परकोटे, भवन-निर्माण भौगोलिक परिस्थिति से सम्वन्धित हैं। जोधपुर मे कही-कही ऊंचाई और ढाल को वस्तियो के वसाने मे उपयोग मे लाया गया और सडको तथा नालियो का प्रवन्ध उसके अनुकूल किया गया। वीकानेर मे वीकानेर गजल तथा वहियो से इसके निर्माण शिल्प का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके वर्णन से पता चलता है कि मुहल्ले पेशे के अनुसार वसाये गये तथा वाछनीय और अवाछनीय वस्तियो के स्थानो को प्रधानता और उपयोगिता की दृष्टि से वाँटा गया। उदयपुर की वस्ती का वर्णन राजरत्नाकर तथा यहाँ के पट्टे-परवानो से प्राप्त होता है। सम्पूर्ण नगर को एक छोर से दूसरे छोर तक सुन्दर झील के किनारे-किनारे वसाया गया और पश्चिमी तथा दक्षिणी भाग की वस्ती के वीच मे वगीचे, खेत और कुएँ देकर विशेप रोचक वनाया गया। नगर के वसाने मे चारो ओर पहाडी घेराव तथा परकोटे, खाई तथा सुदृढ द्वारो को प्रधानता दी गयी। वस्ती की व्यवस्था यहाँ भी पेशे के अनुसार की गयी। उदाहरणार्थ, चित्र वनाने वाले चितारा गली मे और पान वेचने वाले तम्वोली गली मे वसते थे। धनाढ्य महाजन परिवार नगर के वीच सकडी गलियो मे वस गये और उनकी वस्ती का नाम मालदास की सेरी रखा गया। हुम्मड जाति, जो यहाँ की मालदार महाजन जाति थी, उसे भी हुम्मडो की सेरी मे वसाया गया। कन्दोइयो को सेठजी की ओल मे मय अपनी दुकानो और मकानो के रखे गये। जडियो की वस्ती को जडिया ओल और व्राह्मणो की वस्ती को व्रह्मपुरी नाम दिया गया। वोहरो और सिलावटो की वस्ती वोरवाडी और सिलावटवाडी क्रमश कहा जाने लगा। पहाडी ढलान, चढाव और उतार को ध्यान मे रखते हुए सारे नगर को टेढा-मेढा इस तरह वसाया गया कि प्राचीन उदयपुर मे कही चौडे रास्ते या सीधे मार्ग या चौपड की व्यवस्था नही दीख पडती।[११]

नगरो और वस्तियो के स्थापत्य से गाँवो के वसाने की वास्तुकला विभिन्न है। जो गाँव नदी के किनारे मिलते हैं उनको हम लम्वे आकार मे खुली हुई वस्ती मे वसा हुआ पाते हैं। पहाडी इलाके के गाँव पहाडी ढलान और कुछ ऊँचाई लिये हुए हैं और

---

१० पृथ्वीराज विजय, सर्ग ६, पृ० १५५-१५६, ताजउलमसीर, इलियट, पृ० २१५, अकवरनामा, पृ० ३५६ (मूल), तुजुक, भा० १, पृ० २४०, २५६ २५६, ३४१, गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ५०-५१

११ नैणसी ख्यात (असोपा), भा० १, पृ० १५४-५५, हकीकत वही, वि० स० १६२१, अजितोदय, सर्ग १, श्लोक २७, दयालदास ख्यात, भाग २, पृ० २, राजविलास, सर्ग २, गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ५३-५६

उनको भी लम्बे आकार मे वसाया जाता है, जैसे सगडा, केलवाडा आदि। पहाडो और घने जगलो मे भीलो की बस्तियाँ छोटी-छोटी टेकरियो पर दो-चार झोपडियो से बसी मिलती हैं, जिनके चारो ओर काँटो की वाड लगी रहती है जिसमे जगली जानवरो से सुरक्षा वनी रहे। मेवात के गाँव भी इसी प्रकार दूरी पर वसे मिलते हैं जिसका उल्लेख जौहर ने अपने 'तजकिरात' मे किया है। रेगिस्तानी भाग के गाव पानी की सुविधा के अनुसार वसे मिलते हैं, जिनको पानी की कमी होने पर एक स्थान से दूसरे स्थान मे वदला जाता है। नैणसी द्वारा मरुस्थल के गावो का वर्णन आजकल उन्हीं गाँवो से मेल नही खाता, क्योंकि उन्हें वार-वार वदला गया है और पानी के स्थलो के अनुरूप उनके नाम रखे गये है। इन गाँवो के नाम के पीछ 'सर' का प्रयोग इसी स्थिति का द्योतक है। गाँवो की वास्तुकला मे मुख्य-द्वार विना छत वाला होता है और उसमे घुसने के वाद दालान, पशुओ का छप्पर, पट्टशाल तथा निवास-गृह, जिसके एक ओर चूल्हा और उसके पास अन्न सग्रह के कोठे रहते हैं। इस प्रकार गाँव मे सम्पन्न घरो का ढाँचा रहता है। गरीव ग्रामीणो के रहने के लिए एक ही कच्चा मकान रहता है जिसे वाँस, कवेलू या घास-फूस मे ढक दिया जाता है और जो मनुष्य के रहने, पशु के वाँधने, भोजन वनाने और घास, अन्न आदि रखने का काम देता है। सिवाय द्वार के, खिडकियाँ ऐसे मकानो मे नही रहती। जनजीवन के विकास के साथ गाँवो के मकानो का स्थापत्य वदल रहा है, परन्तु परिवर्तन की गति मन्द है, क्योकि किसान अपने कच्चे मिट्टी के मकान और खुले दालान मे विशेष सुविधा का अनुभव करता है। नगरो मे भी प्राचीन नगरो के ढाँचे को वदला जा रहा है। पुराने दरवाजे, परकोटो आदि को ढाहकर पुरानी वस्तियो मे चौडाई की जा रही है और खुले भागो मे पाश्चात्य ढग के मकान वडी द्रुतगति से वन रहे है। प्राचीन नगरो मे जो ग्रामीण और नागरिक स्थापत्य का सामजस्य था वह विलीनप्राय होता जा रहा है।[१२]

किले का स्थापत्य—राजस्थान मे महाराष्ट्र की भाँति पग-पग पर किले मिलते हैं। यदि हम इस राज्य के एक भाग से दूसरे भाग मे पद-यात्रा करें तो हमे लगभग १० मील के वाद कोई न कोई किला अवश्य मिल जायगा। चाहे राजा हो या सामन्त, वह किले को अपनी निधि के रूप मे समझता था। राजा अपने निवास के लिए, सुरक्षा के लिए, सामग्री सग्रह के लिए, आक्रमण के समय अपनी प्रजा को सुरक्षित रखने के लिए, पशु-धन को वचाने के लिए और सम्पत्ति को छिपाने के लिए किले बनाते थे। प्राचीन लेखको, मण्डन तथा सदाशिव ने किलो को राज्य का अनिवार्य अग वताया है। राजा की भाँति सामन्तो ने भी अपने अधिकार क्षेत्र में किले, उपर्युक्त विचारो को ध्यान मे रखते हुए वनाये। राजाओ तथा सामन्तो के अधिकारियो ने भी

---

[१२] चीरवा लेख, वि० स० १३३०, अकवरनामा (मूल), पृ० १८१, गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ३४-३९

अपने प्रभाव क्षेत्र मे, किले मे रहकर शासन करने की एक परिपाटी बनाये रखी। किले मे रहना या किले की अधिक सख्या अपने अधिकार मे रखना एक महत्त्व की बात मानी जाती थी।[13]

राजस्थान मे किले के स्थापत्य के विकास का प्रथम आधार कालीवगा की खुदाई मे मिलता है। उत्तर और दक्षिणी धूल के ढेरो को खोदने से स्पष्ट है कि उत्तरी ढेर से खोदा हुआ भाग सम्भवत किले का भाग रहा हो। इसकी पुष्टि के लिए उसके चारो ओर ८ से १० फुट चौडी दीवारो के अवशेष है। इस दीवार के भीतरी भाग के मकानो के अवशेष एक इकाई के रूप मे हैं जो दक्षिणी धूल के ढेर से विभिन्न हैं। इस प्रकार प्राचीनकाल मे दुर्गों की व्यवस्था थी, यह तो अनुमानित हो जाता है, परन्तु इसके अनुक्रम को युगयुगान्तर मे स्थापित करने मे कठिनाई होती है। प्राचीन वस्ती के स्थानो जैसे हाडौती, वागड, भोमट आदि मे दवी हुई परतो मे मिट्टी व ककडो की दीवारें यह सकेत करती है कि यहाँ के आदि निवासी इनकी दीवारें वना कर काँटे की झाडियो से वाड वना लेते हो और एक गढ की भाँति निवास वना कर रहते हो। वागड तथा आवू के भागो के निवासी आज भी, अपनी पालो के पहाडी भागो मे किले की भाँति अलग-अलग वस्तियाँ बनाकर रहते हैं। रेगिस्तानी भागो मे खाइयाँ खोदकर व झाडियाँ लगाकर प्राचीन मानव रहता हो यह अनुमानित है।

इस अतीत काल से आगे वढने पर जव हम मौर्य, गुप्त तथा परिवर्तित युग मे जाते है तो हमे कुछ किलो के स्वरूप के निश्चित आधार उपलब्ध होते हैं। पीर सुल्तान और वडोपल मे, जो वीकानेर जिले मे है, किलो के अवशेष दिखायी देते है जिनमे सुदृढ प्राचीर, इमारतें, सुदृढ द्वार और गोल वुर्जें अनुमानित की जाती है। चित्तौड के अन्तिम छोर वाले स्थान मे सुदृढ दीवारो के खण्डहर सातवी शताब्दी के स्थापत्य के साक्षी हैं। उस समय दुर्ग वनाने मे मन्दिरो तथा जलाशयो को भी प्राधान्यता दी जाती थी, जैसा कि उस समय के अवशेषो से विदित होता है।[14]

तेरहवी सदी से तो आगे के युग तक किले वनाने की परम्परा एक नया मोड लेती है। इस काल मे ऊँची-ऊँची पहाडियाँ जो ऊपर से चौडी हो और जिनमे खेती तथा सिचाई के साधन हो, किले वनाने के उपयोग मे लायी जाने लगी या जहाँ प्राचीन-काल के किले वने हुए थे उन्हे फिर से नये ढग से वना दिया गया। चित्तौड, आवू, कुम्भलगढ, माण्डलगढ आदि स्थानो के किले पुराने काल के थे, उनको फिर से मध्य-युगीन युद्ध शैली को ध्यान मे रखकर वना दिया गया। उदाहरणार्थ, महाराणा कुम्भा ने चित्तौड किले को प्राचीर, द्वारो की शृखला तथा वुर्जो से अधिक सुदृढ वनाया। कुम्भलगढ के किले को पहाडी शृखलाओ से घेरे हुए स्थान मे प्राकार द्वारा

---

[13] राजवल्लभ, सर्ग ४, राजविनोद, पृ० ५२-५४

[14] गोएट्ज, आर्ट एण्ड आर्टिटेक्चर ऑफ वीकानेर स्टेट, पृ० ६७-७०

सुरक्षित किया। किले के भीतर ऊँचे से ऊँचे भाग का प्रयोग राजप्रासाद के लिए तथा नीचे से नीचे भाग को जलाशयो के लिए और समतल भाग को खेती के लिए रखा गया। वची हुई भूमि का उपयोग मन्दिरो तथा मकानो के निर्माण मे किया गया। किले के चारो ओर दीवारे चौडी और वडे आकार की वनायी गयी जिन पर कई घोडे एक साथ चल सकते थे। प्राकार की दीवार का ढाल इस तरह रखा गया कि उस पर सरलता से चढना कठिन था। कही-कही दीवारो के नीचे गहरे पहाडी गड्ढे ऐसी स्थिति मे रखे गये कि हमलावर फौजो का दुर्ग मे घुसना कठिन था। अचलगढ तथा जोधपुर दुर्ग के किले पर प्राकृतिक जलाशय नही होने से तथा चौरस भूमि के अभाव के कारण टकियाँ बनायी गयी जिनमे वरसात का पानी इकट्ठा कर लिया जाता था और अन्न सग्रह के लिए कोठे भी वनाये गये जो आक्रमण के समय उपयोगी हो सके। ठीक इस गढ के नीचे जलाशय और खेती के उपयोग की भूमि भी रखी गयी।[१५]

इस दुर्ग-निर्माण पद्धति मे आगे चलकर तुर्कों के आगमन के पहले बने हुए किलो मे यौधेयो का भटनेर का किला तथा अर्बुद का परमारो का किला था। भटनेर के किले की १९वी सदी मे वीकानेर के शासको ने मरम्मत करवायी जिससे उसका स्वरूप वदल गया। किले के केन्द्रीय भाग मे पुराने समय की दीवारो के अवशेप उसकी प्राची-नता प्रमाणित करते है। नागौर का किला, जिसे चौहानो ने वनाया था, एक कोने वाले प्रासाद से अपनी प्राचीनता प्रमाणित करता है। परन्तु इस किले को यमीनी गवर्नर अवूमाली तथा अल्तमश के गवर्नर शम्सखाँ ने सुदृढ दीवारो, द्वारो, सैनिक तथा राजकीय भवनो से परिवर्द्धित कर दिया। वाद मे मुगलो के द्वारा भी इसमे सुदृढता के साधन वनाये गये। जालौर का किला भी एक विशेप प्रकार का दुर्ग था और रण-थम्भौर अपनी सुदृढता के लिए वडा प्रसिद्ध किला था। ये किले चौहानो की शक्ति के केन्द्र थे। ऊँचाई, चट्टानो और जगल की स्थिति की इन किलो के वनाने मे सहायता ली गयी थी। फिर यह किले खलजियो तथा मुगलो की अधीनता मे रहकर परिवर्तन अनुभव करते रहे। इन किलो की प्राकार की ढालू दीवारें, नुकीली बुर्जे, दो या तीन छेद वाले कँगूरे, यत्र-तत्र दीवारो और द्वारो मे सजावट का काम आदि मे मुस्लिम पद्धति का समावेश है। बीकानेर का किला रेगिस्तान मे वनने वाले किलो मे सवसे श्रेष्ठ किला है। किले की ऊँचाई अपेक्षाकृत नीची होने से इसके प्राकार की दीवारें अधिक ऊँची और उसकी रक्षा के लिए गहरी खाई का होना वडे महत्त्व का है। इस किले मे राजप्रासाद, उद्यान कुछ परिचारिको तथा सैनिको के मकान तथा कुछ विभागीय भवन तो हैं परन्तु उसमे खेती करने या जनता के निवास हेतु पर्याप्त भूमि नही है। युद्धकाल मे किले के फाटको को वन्द करके लडने के लिए यह किला वडा उपयोगी है।

---

१५ गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ६९-७२

राजप्रासाद और भवन-निर्माण—स्थापत्य का एक विशिष्ट रूप राजप्रासाद है, चाहे नगर का स्थापत्य हो या किले का, राजप्रासाद का होना अनिवार्य-सा दीख पडता है। वैसे प्रचीनकाल के राजप्रासादो के खण्डहर पूरे उपलब्ध नही होते परन्तु यह तो निश्चय है कि जब से राजस्थान मे राजपूतो के राज्य स्थापित होने आरम्भ हुए तब से राज-भवन के सम्बन्ध मे हमे अच्छी जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिलता है। मेनाल, नागदा, आमेर आदि स्थानो मे पूर्व-मध्ययुगीन काल के राजभवन के अवशेप देखने को मिलते हैं जिनमे सादगी और छोटे कमरे, नीचे दरवाजे और खिडकियो का अभाव दिखायी देता है। दोनो तरफ के कमरो को एक ढके हुए बरामदे से मिला हुआ देखा जाता है। यह राज-भवनो के बनाने की पद्धति कुछ हेर-फेर के साथ सम्पूर्ण राजस्थान मे देखने को मिलती है। मण्डन ने राज-भवन को बनाने का स्थान या तो नगर के बीच मे या नगर के एक कोने मे ऊँचे स्थान पर ठीक माना है। उसने राज-भवनो मे भव्यता को प्राधान्यता दी है जो राजपूतो की बढती हुई शक्ति का फल कहना चाहिए। परन्तु सम्पूर्ण राज-भवनो के ढाँचे मे दुर्गो की भाँति व्यवस्था होना, बुर्जो, प्राकार आदि का होना आवश्यक माना है। उनमे मर्दाना तथा जनाना महलो के सम्बन्ध मे भी सुगम मार्गो से जोडे जाने की व्यवस्था बतायी है। महलो मे दरबार लगाने, आम जनता तथा दरबारियो के मिलने, मन्दिर, रसोई, राजकुमारो के रहने आदि के स्थानो की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। सभी महलो के भागो को एक-दूसरे से जोडने तथा सभी को एक इकाई का रूप देने पर बल दिया है जो भारतीय पद्धति के अनुरूप है। इसको ब्राउन तथा गोएट्ज अव्यवस्थित स्थापत्य का ढाँचा कहते हैं। परन्तु यदि हम उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, कोटा, बूंदी, आमेर आदि स्थानो मे बने हुए १६वी सदी तक के महलो को देखें तो हम पायेंगे कि इनके प्लान मे बडी साम्यता है। यह अव्यवस्था का ढाँचा जो विदेशी विद्वानो को दिखायी देता है उसका एकमात्र यही कारण है कि उन्हे राजपूतो के प्रारम्भिक स्थापत्य के स्वरूप का ज्ञान सीमित है और वे उन्हे आज-कल के भव्य भवनो की होड मे तुलना करने की चेष्टा करते हैं। वास्तव मे उन दिनो समृद्ध नागरिक और सामन्त या राजा के रहने के मकानो के ढाँचो मे कोई मौलिक अन्तर न था, यदि था तो वह केवल अशानुक्रम से था। उस समय राज-भवनो को जितना अधिक सादा बना सकते थे उतना ही उसको सादा बनाया जाता था। महाराणा कुम्भा जैसे शक्ति-सम्पन्न राजा ने, जिन्होने अनेक सुदृढ दुर्ग, सुन्दर स्तम्भ और मन्दिरो का निर्माण कराया, जो भव्यता और कलात्मक दृष्टि से अपने ढग के थे, अपने रहने के कुम्भलगढ के महलो को ऐसा सादा बनाया कि जो आजकल के साधारण व्यक्ति के रहने के मकानो से कोई अधिक विशेपता नही बताते।[१६]

---

[१६] गजवल्लभ, सर्ग ४, श्लोक ८, सर्ग ५, श्लोक ३६-३८, सर्ग ६, श्लोक १८-२३ आदि, नैणसी की ख्यात, बूंदी, उदयपुर वर्णन आदि, हकीकत बही, १८२१-५४

परन्तु जब राजपूतो का सयोग मुगलो से हुआ तथा उनमे आदान-प्रदान का क्रम आरम्भ हुआ तो इन राज-भवनो को अधिक बडा, रोचक तथा क्रमबद्ध बनाने की पद्धति आरम्भ हुई। इनमे फव्वारे, छोटे बाग, पतले खम्भे, उन पर बेल-बूटो का काम, सगमरमर का प्रयोग आदि हेर-फेर लाये जाने लगे। उदयपुर के अमरसिह के महल, जगनिवास, जगमन्दिर, जोधपुर के फूल-महल, आमेर व जयपुर के दीवाने खास व दीवाने आम, बीकानेर के रगमहल, कर्णमहल, शीशमहल, अनूपमहल आदि मे राजपूत पद्धति की प्राधान्यता अवश्य है। परन्तु सजावट तथा साम्यता उत्पन्न करने मे मुगल शैली को अपनाया गया है। बूंदी, कोटा तथा जैसलमेर और जयपुर के महलो मे भी १७वी शताब्दी के पीछे से बनने वाले राजप्रासादो मे मुगल शैली अधिक जोर पकडती हुई दिखायी देती है। कारण यह है कि ज्यो-ज्यो राजपूत सरदार मुगलो के दरबार मे अधिकाधिक जाने लगे त्यो-त्यो कलात्मक विचारो का आदान-प्रदान भी होने लगा तथा उनमे मुगल शान के अनुरूप व्यवस्था अपने राज्य मे लाने की भी रुचि बढने लगी। मुगलो के पतन के पश्चात तो मुगल-आश्रित कई कलाकारो के परिवार राजस्थान मे आकर राजपूत दरबार के आश्रित बन गये। इनके द्वारा सामन्तो के भवनो के निर्माण मे मुगल शैली प्रगति करने लगी। परन्तु मुगल शैली का स्पष्ट प्रभाव आम जनता के मकानो मे न घुसने पाया, क्योकि स्थानीय दस्तकारो ने परम्परागत शिल्प सम्बन्धी शैली को जीवित रखा। खेद है कि आजकल की भवन-निर्माण शैली का बहाव परम्परागत स्थापत्य की दीवारो को ढाहता चला जा रहा है और कभी-कभी तो पुरानी इमारतो को शास्त्रीय पद्धति से दुरुस्त करने वाले कारीगर भी नही मिलते। ऐसी स्थिति मे स्थानीय कला का जीवित रहना कैसे सम्भव हो सकेगा, यह विचारणीय प्रश्न है। यथासम्भव कला को जीवित रखने के लिए कम से कम सार्वजनिक भवन भारतीय कला के आधार पर बनाये जाने चाहिए जिससे भारतीय कला का स्वरूप भी विद्यमान रहे और वह कला समाप्त भी न हो। विदेशी इन्ही नमूनो से भारतीय वैभव की आत्मा का साक्षात्कार कर सकते है।[१७]

मन्दिरो का निर्माण और स्थापत्य—स्थापत्य कला का प्रवाह न केवल नगर निर्माण, भवन तथा दुर्ग-निर्माण तक ही सीमित रहा वरन् कला की गति और कला की शक्ति के अनुरूप उसका प्रवेश मन्दिरो के निर्माण द्वारा भी अभिव्यक्त हुआ। भारतीय मानसिक तथा राजनीतिक परिवतन के साथ कला की प्रगति भी विकास करती रही जिससे युग का रूप स्थापत्य के ढाँचे मे ढलता चला गया। राजस्थान के कलाकार जो मन्दिरो के निर्माण की ओर लगे उन्होने अपनी कला के नैपुण्य से कला-कृतियो मे नवजीवन का सचार किया। सबसे प्राचीनतम मन्दिरो के निर्माण का वर्णन पुराणो मे मिलता है जिनमे पुष्करारण्य तथा अर्बुदाचल के देवालय मुख्य है। इनके

---

[१७] ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, अध्याय—राजप्रासाद

सम्बन्ध मे दिये गये उल्लेखो से स्पष्ट है कि उस काल का मन्दिरो का स्थापत्य भावना और कलात्मक उपकरणो की सफल सृष्टि था।

मौर्य काल से लेकर उत्तर गुप्तकालीन युग मे भावना और कलात्मक प्रवृत्ति ने शक्ति, सौन्दर्य और आराधना की अभिव्यक्ति द्वारा मन्दिरो के स्थापत्य को अनुपम आदर्श के रूप मे प्रस्तुत किया। इस युग के प्रारम्भिक काल के वैदिक वास्तुकला के प्रतीक जो धर्म से सम्बन्धित है अधिक उपलब्ध नही होते, परन्तु कुछ एक जो विद्यमान है वे कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। ऐसे अवशेषो मे नगरी के मैदान मे पत्थरो के खण्डो का एक वृहत् स्तम्भ है जिसकी ऊँचाई ३६ फुट और नीचे से चौडाई १४ फुट की है। अकबर ने अपने १५६७ ई० के चित्तौड के आक्रमण के समय इस स्तम्भ को मध्यमिका की नारायण वाटिका से हटाकर इस मैदानी भाग मे लगाया था जहाँ उसकी फौजो का पडाव था। इस स्तम्भ का उपयोग खीमे मे रोशनी के प्रबन्ध के लिए किया गया। इस पर जलाई जाने वाली रोशनी सैनिको के शिविर मे प्रकाश करने का काम करती थी। यह स्तम्भ अपने प्रारम्भिक स्थान मे सम्भवत पूजा या यज्ञ-वेदी का काम देता हो। इसके चारो ओर के शिला प्राकार के विशाल प्रस्तर-खण्ड आज भी तीसरी सदी ईसा पूर्व के धर्माश्रित वास्तुकला की विलक्षणता को प्रमाणित कर रहे हैं। जिस प्रकार नगरी मे वैष्णव धर्म सम्वन्धी अवशेप मिलते है उसी प्रकार यहाँ जैन तथा बौद्ध धर्म के पुरातन अवशेप भी मिलते है। इनके आकार और प्रकार से स्पष्ट है कि ये अवशेष किसी धर्मस्थान से सम्वन्धित थे जिनमे जैन और बौद्ध धर्म के विचार-पद्धति का समर्थन मिलता है। इनके अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि कला केवल कला के लिए ही नही थी वरन् उसका सम्वन्ध धार्मिक जीवन से भी था। बौद्ध स्तूप, जिसका एक खण्ड मैंने उदयपुर कॉलिज के कलाकक्ष मे सुरक्षित किया है, उस सदी के कलात्मक लक्षणो को तथा बुद्ध की स्मृति को स्थायित्व देने के प्रयास का अच्छा उदाहरण है।[१८]

मध्यमिका तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से ५-६ शताब्दी तक एक समृद्ध नगर रहा। इस अवधि मे यहाँ विविध धर्म के मन्दिरो का निर्माण हुआ। इन मन्दिरो के अवशेप देवी, देवता, यक्ष, यक्षिणी, पशु आदि के रूप मे चारो ओर विखरे मिलते है। यहाँ से लाये गये ये अवशेप चित्तौड के निर्माण के लिए भी काम मे लाये गये, जैसा चित्तौड के मन्दिर तथा भवनो मे यत्र-तत्र लगायी गयी उभरी हुई मूर्तियो से स्पष्ट है। नगरी की खुदाई मे मिलने वाली ईंटें धार्मिक और सार्वजनिक भवनो के निर्माण की परम्परा की ओर सकेत करती हैं। इन सभी वस्तुओ के देखने से यह सिद्ध होता है कि नगरी मे

---

१८ ऑर्कियोलोजिकल सर्वे एण्ड एक्सकेवेशन, जि० ४, १९२०, स्मिथ, अकवर, पृ० ८६-८७, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ५८-५९, गोपीनाथ शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ७०-७१

धार्मिक सस्थाओ के निर्माण द्वारा स्वाभाविक कला की अभिव्यक्ति एक लम्बे समय तक होती रही और धर्मप्रधान कला जनता के नैतिक स्तर को उठाती रही।[१९]

इसी कला के अनन्तर जब भारतीय इतिहास का चरण शुग तथा कुशान युग मे प्रवेश करता है तो राजस्थान के मन्दिरो के स्थापत्य मे एक नयी गति दीख पडती है। मालव, यौधेय, आर्जुनायन आदि गणराज्य के अन्तर्गत दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान और उत्तर-पूर्वी राजस्थान मन्दिरो से सम्बन्धित मूर्तिकला मे बडा विकास करता है। उदाहरणार्थ, नान्दसा से मिलने वाला यूपलेख (२२५ ई०) और बडवागाँव का यूपलेख (२३९ ई०) तत्कालीन धार्मिक स्थिति को अभिव्यक्त करते है। इसी प्रकार उत्तरी राजस्थान की रगमहल सस्कृति अनेक मृणमय मूर्तियो द्वारा सौम्य तथा समृद्ध कला की परम्परा को परिलक्षित करती है। इस भाग से मिलने वाली मूर्तियाँ जो बीकानेर सग्रहालय मे सुरक्षित हैं, वेशभूषा के विचार से कला के सौन्दर्य की पराकाष्ठा कही जा सकती है। इन नमूनो मे तत्कालीन जनता के विनय और आराधना के भाव स्पष्ट झलकते हैं।[२०]

इस युग के अनन्तर जब हम गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तरकाल मे प्रवेश करते हैं तो हम पाते है कि राजस्थान की स्थापत्य कला सूक्ष्मता तथा दक्षता की चरमसीमा पर पहुँचती है। इस युग की कला की विशेषता यह है कि उसके द्वारा चित्रण, मूर्ति-तक्षण और मन्दिरो के निर्माण की शैलियो मे एक समन्वय स्थापित होता है जिससे स्थापत्य को एक नवचेतना मिलती है। इस काल के नमूनो मे मण्डोर से प्राप्त रास-लीला व गोवर्धनधरण के अकन, छोटी सादडी के भ्रमरमाता के मन्दिर का निर्माण, कल्याणपुर की जैन और शिव मूर्तियाँ, चेतना, तक्षण, सूक्ष्मता, प्रसन्न-मुद्रा, धार्मिक भाव तथा परम्परा की सूचक हैं। इस काल मे बने हुए मन्दिर विशालता तथा प्रसारिता की दृष्टि से सास्कृतिक विजय के उज्ज्वल प्रमाण हैं। मानव के धार्मिक विकास और सरक्षण मे शिल्पी ने दार्शनिक एव कलाकार की हैसियत से इस युग के स्तर को ऊपर उठाने मे बडा योगदान दिया है।[२१]

जब हम परवर्ती शताब्दी मे प्रवेश करते है तो हमे मेनाल, अमझेरा, डबोक आदि स्थानो के मन्दिर, कुण्ड, मूर्तियाँ तथा धार्मिक स्थानो के अवशेष मिलते हैं। शिव, पार्वती, विष्णु, महावीर, भैरव, दक्ष नर्तिकाएँ आदि की मूर्तियाँ जो इस काल

---

[१९] जे० एन० एस० आई०, पृ० १२७, प्लेट १९-२०, अ, ब, मार्ग, राजस्थान स्कल्पचर, पृ० २५

[२०] स्मि० के० का० ई० म्यू०, जि० १, पृ० १६१, १७१-१७३, मजूमदार अल्टेकर, वाकाटक गुप्ता एज, अ० २, पृ० २५-४६

[२१] प्रोग्रेस रिपोर्ट, वेस्टर्न सर्किल, १९१५-१६, पृ० ५६, एपिग्राफिया इण्डिका भाग ३४, अक २, पृ० ५३-५८

के अनेक मन्दिरो के अवशेष है, लोकोत्तर आनन्द, दया और प्रेम के भाव के द्योतक है। इस समूचे काल की सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक चेतना ने केवल मूर्तिकला को ही प्रभावित नही किया वरन् देवालय निर्माण योजनाओ को अपने स्पर्श से आभारित किया। इन मन्दिरो और उनके उपकरणो से उस युग के सामाजिक तथा सास्कृतिक विकास का क्रमिक इतिहास स्पष्ट होता है। इनको देखने से सौन्दर्य और शान्ति की आभा प्रम्फुटित होती है।[२२]

इसी परवर्ती शताब्दी के मन्दिरो मे चित्तौड का सूर्य-मन्दिर एव वाडौली के शिव मन्दिर वडे महत्त्व के है। अनेक देवताओ की मूर्तियो के अकन द्वारा जहाँ सूर्य मन्दिर के निर्माणकर्ताओ ने पारलौकिक जगत का स्पष्ट रूप हमारे सामने रख दिया है तो कलाकारो ने वाडौली की तक्षण-कला द्वारा पशु-जीवन तथा जनजीवन के अनुभवो का स्पष्टीकरण किया है। विविध स्तरो तथा स्तम्भो मे उभारी गयी यक्षी मूर्तियाँ मुद्रा तथा शारीरिक सौन्दर्य की पराकाष्ठा है।[२३]

जब हम ७वी शताब्दी से लेकर १३वीं शताब्दी के स्थापत्य का पर्यवेक्षण करते है तो हम पाते है कि राजस्थान को एक नये राजनीतिक जीवन मे प्रवेश करना होता है। मालव, अवन्ति और अर्बुदाचल प्रदेशो मे परमार, मेवाड तथा वागड मे गुहिल, शाकम्भरी मे चौहान, ढूँढाढ मे कच्छपघट, जागल मे राठौड, मत्स्य-राजोगढ मे गुर्जर-प्रतिहार आदि राजवशीय राजाओ का प्रावल्य वढा जिन्होंने परम्परागत स्थापत्य को एक नया मोड दिया। जो शक्ति, विकास और जातीय सगठन की भावना राज्य सस्थापन मे आवश्यक थी वह भावना स्थापत्य मे भी प्रस्फुटित हुई। इस काल मे वनने वाले मन्दिरो मे, चाहे वे विष्णु के हो अथवा शिव के, शक्ति के हो या सूर्य के, वल और शौर्य का उन्मीलन प्रगाढ रूप से दिखायी देता है। अरण्यवासिनी के मन्दिर, कुण्डाग्राम के कैटभ-रिपु के मन्दिर, चित्तौड के सूर्य मन्दिर, आम्वानेरी के हर्षमाता के मन्दिर, आहड के आदि वराह के मन्दिर, जगत के अम्बिका के मन्दिर, किराडू के मन्दिर आदि मे भावगत एकत्व स्पष्ट है, भिन्नता केवल धर्मगत है। मूर्तिकार ने जगह-जगह भय, विनाश तथा मघर्ष का चित्रण इस प्रकार किया है कि पद-पद मे विजय-पिपासा को प्रेरणा मिलती है। यहाँ तक कि अटू, चन्द्रावती आदि के मन्दिरो की तक्षण-कला मे नारी की आकृतियो मे कही-कही सौंदर्य के स्थान मे रौद्र रस को प्रवाहित करने की चेष्टा की गयी है। इन मन्दिरो मे देवो और असुरो के सघर्ष मे अथवा विष्णु तथा शिव के अकन मे प्राय तमोगुण प्रतिविम्वित है। चन्द्रावती के मन्दिरो मे यदि द्वारपालो का स्वरूप योद्धाओ की साम्यता करता है तो आम्वानेरी मे

---

२२ एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३५, अक २, अजमेर म्यूजियम रिपोर्ट, १६२६, पृ० १-२

२३ मार्ग, राजस्थानी स्कल्पचर्स

रति धनुष लिये पुरुष की भाँति जीवन और शक्ति का प्रदर्शन किये हुए है। इस युग के कई मन्दिरो मे कलाकारो ने देव-मानव युद्ध के अकन मे वातावरण को शौर्य से ओतप्रोत कर दिया है। यदि कृष्ण का अकन गौओ के साथ है तो वहाँ कृष्ण द्वारा पूतनावध भी है। जहाँ बाल-गोपाल की क्रीडा है तो वहाँ शक्ति का प्रतीक गोवर्धन धारण भी है। इसी प्रकार वराह तथा नृसिह का अकन तो भक्ति रहस्य के ओट मे भयकरता का वातावरण उपस्थित करता है। समिधेश्वर के मनुष्य स्तर का बाहरी मन्दिर का समूचा भाग तो बढती हुई फौजो, हथियारो, योद्धाओ तथा ध्वजा-पताका, शखनाद, तुरही आदि युद्धोचित उपकरणो से भरा पडा है जिसको देखने से दर्शक के हृदय मे युद्ध की विभीषिका का नाद प्रतिध्वनित होता दिखायी देता है।[२४]

जहाँ शक्ति और शौर्य के दृश्यो की प्राधान्यता इन मन्दिरो मे है वहाँ गुप्तकालीन तक्षण-कला की परम्परा को भी निभाने मे कोई कसर नही रखी गयी है। नारी जगत के अकन मे नृत्य, शृगार, क्रीडा, प्रेम आदि की अभिव्यक्ति बडे सुन्दर रूप से अकित है। वस्त्रालकार, केशालकार तथा दाम्पत्य-जीवन और प्रेम के दृश्यो की अभिव्यक्ति आम्बानेरी के मन्दिर मे उत्कृष्ट कोटि की है। बाडौली के खम्भो मे हूणराज और उनकी रानी पिंगला के प्रेम को शिव-पार्वती की मूर्तियो द्वारा बडी दक्षता से अकित किया गया है। इस युग की तक्षण-कला जहाँ शक्ति और प्रेम के अकन मे उत्कृष्ट है तो वहाँ कला और काव्य का भी सयोग बडी निपुणता से दिखाया गया है। किराडू मे एक स्त्री का पुस्तक के साथ अकन इसी सकेत का पोषक है।[२५]

इस शौर्य और प्रेम से ओतप्रोत स्थापत्य मे धर्म का भी प्रमुख स्थान रहा है। जैन धर्म से सम्बन्धित मन्दिरो मे आबू का विमलशाह का मन्दिर (१०३२ ई०), वस्तुपाल और तेजपाल द्वारा निर्मित १२३१ ई० का मन्दिर बडे महत्त्व का है। चित्तौड के कीर्ति स्तम्भ जिसे बघेरवशीय शाह जीजा ने बनवाया था, कला का भव्य प्रतीक है। इन प्रतीको और मन्दिरो मे आचार प्रतिपादक दृश्यो और परम्परागत शिल्प सिद्धान्तो मे वैविध्य और वैचित्र्य दिखायी देता है। तोरण द्वारो, गुम्बजो, सभा-मण्डपो, विविध स्तरो मे भावसूचक शिल्प के उत्कृष्ट नमूने दिखायी देते हैं। देलवाडा समुदाय के मन्दिरो की मूर्तियो के बनाने मे कलाकार ने धैर्य और गाम्भीर्य को प्राधान्यता दी है। इसी प्रकार अर्थूणा, ओसियाँ, बाडौली, नागदा आदि स्थानो के शिव, विष्णु सूर्य तथा जैन मन्दिरो के शिल्प मे आत्मोत्थान के

---

[२४] एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १२, पृ० १६, २०, २३, वियना ओरियण्टल जरनल, भाग २१

[२५] मार्ग, राजस्थानी स्कल्पचर्स, पृ० ३५, ३७ आदि

भाव प्रतिविम्बित होते है। यहाँ के कलाकारो ने अपनी वारीक छैनी से भारतीय जीवन और सस्कृति के अमर तत्त्वो का उन्मीलन कर जनजीवन पर अद्‌भुत प्रकाश डाला है। यहाँ परमात्मा की आराधना, साधुओ की वाणी का श्रवण, अर्चन आदि गम्भीरतम भावो को अकित कर कलाकार ने उच्चतम कल्पना का स्तर निर्धारित करने मे सफल प्रयत्न का प्रदर्शन किया है। इन मन्दिरो मे जहाँ हम अनेक दलीय कमल की पखुडियाँ पाते हैं वहाँ हम अनुभव करते हैं कि भगवान के साक्षात्कार के भाव जाग्रत हो रहे हैं।[२६]

ऊपर जहाँ हमने किलो का वर्णन किया वहाँ यह बताया गया था कि १४वी शताब्दी से लगाकर १६वी शताब्दी की अवधि मे युद्ध से सुरक्षा के उपाय सोचे गये जिनमे दुर्गो का निर्माण वडे महत्त्व का है। अतएव इस युग के स्थापत्य का महत्त्व सुरक्षा से सम्वन्धित है। इस युद्धोपयोगी स्थापत्य की छाप मन्दिरो के निर्माण मे भी मिलती है। इस युग मे वनने वाले मन्दिरो को भी किले के रूप मे वनाया जाता था। कुम्भलगढ के नीलकण्ठ के मन्दिर, वाण माता के मन्दिर, एकलिगजी के मन्दिर, कुम्भश्याम के तथा राणकपुर के मन्दिर के चारो ओर वनायी गयी दीवारे वडी ऊँची हैं और उनके द्वारो, वुर्जो आदि के वनाने मे दुर्ग-स्थापत्य का अवलम्वन किया गया है। इन मन्दिरो की तक्षण-कला के नमूनो मे भी वराह, मधु-कैटभवध, पूतनावध, नृसिह अवतार आदि के अकन प्रधान रूप से रखे गये हैं जिससे धार्मिक भावना के साथ-साथ शौर्यादि कार्यो मे भी दर्शको को प्रेरणा मिल सके।[२७]

जहाँ विजेताओ को उत्तेजना के दिखावे से प्रेरित किया जाता था वहाँ उसे जीवन की मधुरता और सरसता से वचित नही रखा जाता था। इस युग के मन्दिरो मे नृत्य, गान, राग-रग के अकन भी प्रचुर मात्रा मे मिलते है। कही-कही छतो के तक्षण और पीठिकाओ के तक्षण मे तो नाच-गान तथा साहित्यिक विषयो का समुचित समावेश दिखायी पडता है।

कुम्भाकालीन मन्दिरो के स्थापत्य मे कृष्ण-लीला सम्वन्धी तक्षण वहुत मिलता है। रास मण्डल, कृष्ण-रुक्मणी, माधव-तुलसी आदि की सुन्दर मूर्तियो द्वारा वैष्णव धर्म की प्राधान्यता दिखायी देती है। साथ ही साथ शिव, पार्वती, ब्रह्मा, मातृदा, दिक्‌पाल आदि की प्रतिमाएँ धार्मिक सहिष्णुता के उत्तम प्रमाण हैं। इसी धार्मिक सहिष्णुता के कारण अनेक सम्पन्न तथा धर्मिष्ट व्यक्तियो ने इस काल मे नये मन्दिरो का निर्माण तथा प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार करवाया। कडिया ग्राम मे तिलभट्ट द्वारा १५०० ई० मे कृष्ण का मन्दिर, सेवाग्राम मे शिव मन्दिर, चित्तौड मे

---

२६ कनिघम, आँकियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २३

२७ राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, १६२१

कुकुटेश्वर का मन्दिर, शाह-गुणराज द्वारा अजहारि का मन्दिर, पिण्डवाडा तथा सालेर मे जिनालय, वेलाक का शान्तिनाथ मन्दिर, धरणाक द्वारा गणकपुर का मन्दिर इसके प्रमाण है। इन मन्दिरो मे तक्षण-कला द्वारा धर्म सम्वन्धी महत्त्वपूर्ण अकन ही प्राप्त नही होते वरन् इनमे जनजीवन की झाँकी भी मिलती है। उनमे तत्कालीन वेशभूषा, आमोद-प्रमोद, नाच-गान, खेलकूद आदि के सुन्दर नमूने दिखायी देते हैं।[२८]

वैसे चित्तौड का कीर्ति स्तम्भ मन्दिर की सज्ञा मे तो नही आता परन्तु इसका स्थापत्य मूर्तिकला के विचार से मन्दिरो के स्थापत्य के निकट है। इसमे अनेक देवी-देवता तथा जनजीवन से सम्वन्धित मूर्तियाँ अकित है। शास्त्रीय अध्ययन तथा विश्लेषण द्वारा तत्कालीन सस्कृति तथा कला का कैसे अध्ययन किया जाना चाहिए हमे मूक भाव से कीर्ति स्तम्भ वताता है। इसके वनाने मे नीचे से चौडाई तथा ऊपर से भी चौडाई ली गयी है जो शिल्पकला की एक अनोखी सन्तुलन प्रणाली है। यदि हमे पौराणिक देवताओ के आयुधो तथा उनके विषय मे समुचित जानकारी करनी है तो कीर्ति-स्तम्भ हमारे अध्ययन का अच्छा साधन हो सकता है।[२९]

कुम्भा के समय के पश्चात राजस्थान मे मन्दिरो के स्थापत्य मे एक नया मोड आया। यहाँ के राजा-महाराजाओ ने दिल्ली शासको से प्रभावित प्रणाली को अपनाना आरम्भ किया जिससे क्रमश हिन्दू-मुस्लिम स्थापत्य मे सामजस्य की स्थिति वल पकडने लगी, जिसका एक विशिष्ट रूप अकवर काल मे वन चुका था। उदाहरणार्थ, बीकानेर के हर मन्दिर मे कमल, तोते, मोर आदि के अकन हिन्दू पद्धति से हैं तो तारे, कुजे तथा द्वार की वनावट मे लाहौर शैली की ओर झुकाव दिखायी देता है। बीकानेर के दुर्ग के देवी के मन्दिर के खम्भे मुगल-राजपूत शैली के हैं। यह मन्दिर रायसिंह के समय मे वना था। यहाँ तक कि इसके पहले भी इस पद्धति ने बीकानेर मे जमाव कर लिया था जो लूणकर्ण के समय के लक्ष्मीनारायणजी के मन्दिर से स्पष्ट है। इस मन्दिर के शिखर तथा मण्डप आदि भागो मे नुकीलापन मेहराबी शैली का है। मण्डपो का अधिक खुले हुए रूप मे बनाना भी नयी पद्धति तथा प्राचीन पद्धति का सम्मिश्रण-मात्र है।[३०]

---

[२८] मार्ग, राजस्थानी स्कल्पचर्स, पृ० ३०, ३७, ४०, ४५ आदि

[२९] कीर्ति स्तम्भ शिलालेख, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ० २५३, टॉड, एनल्स, भाग २, पृ० ७६१

[३०] गोएट्ज, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर बीकानेर स्टेट, पृ० ५८-६४, गोपीनाथ शर्मा, एन इण्टरप्रिटेशन ऑफ कार्विंग एट राजसमुद्र लेक, उत्तरभारती, १९५८, पृ० २१-२५

लेकिन मिश्रण का सामजस्य का अनुपात दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान मे कम है तो उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी भाग मे अधिक है। इसका मुख्य कारण यह है कि मुस्लिम प्रभाव उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी भागो मे दक्षिण-पश्चिमी भागो की अपेक्षा अधिक था। डूंगरपुर का श्रीनाथजी का मन्दिर धुलेव का ऋषभदेवजी का मन्दिर और उदयपुर का जगदीश का मन्दिर परम्परा के स्थापत्य के अधिक निकट है, क्योकि यहाँ आक्रमणो का प्रभाव स्थायी न हो सका। परन्तु जोधपुर के घनश्यामजी के मन्दिर मे तथा जयपुर के जगत शिरोमणिजी के मन्दिर मे अलकरण तथा बाहरी ढाँचे मे मुगल शैली का प्रभाव स्पष्ट झलकता है।

१७वी सदी की एक और विशेषता यह है कि मन्दिरो के निर्माण मे वैष्णव धर्म से सम्बन्धित मन्दिर बडी सख्या मे बने। इसका कारण यह रहा है कि मुगलो के आतक से उत्तर भारत से अनेक मठो तथा मन्दिरो के आचार्य राजाओ से आश्रय पाने के अभिप्राय से अपनी मूर्तियो तथा अनेक अनुयायियो को लेकर राजस्थान मे चले आये। उन्हे यहाँ सम्मानित किया गया और उनके मन्दिरो के लिए भूमि तथा भोग-विलास के लिए अनुदान तथा जायदाद भेंट की गयी। इनमे राधावल्लभ, निम्बार्क, पुष्टिमार्ग पन्थ के आचार्य विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्हे सम्मानित किया गया था। इनके मन्दिर सिंहाड, नाथद्वारा, काकरोली, डूंगरपुर, कोटा, जयपुर आदि स्थानो मे बनाये गये। ये मन्दिर आकार मे बडे तथा खुले बरामदे वाले बनाये जाते थे।

जलाशय—प्राचीन ग्रन्थो मे, नगर हो या गाँव, जलाशय का होना आवश्यक बताया गया है। ऐसे जलाशय जहाँ प्राकृतिक है, जैसे झरने या नदियाँ, वहाँ बस्तियों को बसाया गया है। कालीबगा, गिलूंड, आहड आदि पुरानी बस्तियो के पास नदियाँ रही हैं, यही कारण है कि नदियो के सामीप्य से सस्कृति पनपने मे सुविधा रही है। मण्डन ने भी बडे नगर के लिए कई वापिकाएँ, कुण्ड तथा तालावो का होना अच्छा माना है। आमेर की बस्ती के पास जलाशयो का जिक्र मिलता है जो उस कस्बे के लिए बडे उपयोगी थे। जैसलमेर का कौशिकराम का कुण्ड, जेटसागर तथा ब्रह्मसर उस नगर के लिए बडे उपादेय माने गये थे। बूंदी की शोभा बढाने मे फूल सागर, जेटसागर तथा सूरसागर का बडा स्थान रहा है। जोधपुर के रानीसर, अभयसागर, बालसमद तथा गुलाबसर उस नगर के लिए हितकारी रहे। बीकानेर के लिए सूरसागर, अनूपसागर, गोगाताल, नवलखताल, सरूपदेसर, आचार्यकूप, नायूसर, पीरकुण्ड, सीशोलाव तथा हरसोलाव का वर्णन मिलता है। इन छोटे-मोटे जलाशयो के स्थापत्य मे विशेष रूप से यह देखा गया है कि इनके ऊपरी भाग मे छत्रियाँ बनी रहती हैं और सीढियाँ चारो ओर से या एक ओर से बनी रहती है, जो सभी भागो से या एक भाग से नीचे तक पहुँच जाती हैं। इनका उपयोग नहाने, पानी भरने तथा कही-कही सिचाई के काम मे भी लिया गया है। ऐसे जलाशयो को मुगल ढग से भी बनाया जाता था जिनमे बारादरियाँ इनके साथ बनवा दी जाती थी, जो ग्रीष्मऋतु मे

सुख-शयन के काम मे ली जाती थी। ताराचन्द्र की बावडी इसी प्रकार के जलाशय का एक नमूना है।[31]

राजस्थान के दक्षिण-पश्चिमी भाग मे बडे-बडे तालाब भी रहे हैं जो अपने ढग के स्थापत्य पर प्रकाश डालते है। चूकि ये भाग अधिकाश मे पहाडी हैं तो वहाँ दो पहाडो को रोककर धूल और पत्थरो का बाध बना दिया जाता था और बाध को आगे से सीढियो से तालाब तक जोड लिया जाता था। बाध का भाग पक्का बनाया जाता था। इससे कुछ नीचे वृक्षावलियाँ लगा दी जाती थी और उसे पक्के बाध से जोड दिया जाता था। इस प्रकार सारे बाध की बडी मजबूती हो जाती थी। इस ढग के बाधो मे पिछौला (उदयपुर), गेबसागर (डूँगरपुर), राजसमुद्र (राजनगर) और जयसमुद्र (ढेबर) बडे प्रसिद्ध है। इनको बनाने मे यही पद्धति ११वी सदी से १७वी सदी तक काम मे ली गयी है। इन बाधो मे राजसमुद्र का बाध विशेष उल्लेखनीय है। इसको दुष्काल से पीडित प्रदेश को राहत देने के लिए बनाया गया था। इसके बाध पर नौचोकी नामक तीन-तीन भाग वाली तीन छत्रियाँ बनायी गयी हैं जो तक्षण-कला की दृष्टि से अनुपम है। इस बाध के ऊपर के स्तर मे रामायण, महाभारत तथा जनजीवन की झाँकियाँ अकित है जो १७वी सदी के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन पर बडा प्रकाश डालती है। जहाँ दरबारी जीवन का अकन मिलता है वहाँ मुगल व्यवस्था की झलक दिखायी देती है।[32]

उद्यान—प्राचीन स्थापत्य मे बागो का बडा महत्त्व है। नगर की शोभा उद्यानो से बढायी जाती थी जिनमे फूल और फलो के वृक्ष लगाये जाते थे। अजमेर के वर्णन मे बाग का वर्णन हसन निजामी ने किया है जिसमे नगर की तुलना स्वर्ग से की गयी है। राणा मोकल, कुम्भा, मानसिह, राजसिह, जसवन्तसिह, मिर्जा राजा जयसिंह, सूरसिह आदि शासको ने बागात लगाये जिनमे अनेक प्रकार के फल-फूल लगाये जाते थे। इन बागो मे मुगलकालीन शैली की प्राधान्यता दिखायी देती है, इन्हे चारो ओर दीवारो से सुरक्षित रखा जाता था, जिनमे पानी की नालियाँ, फव्वारे, बारादरियाँ, फूलो के तख्ते आदि मुख्य हैं।[33]

समाधि—प्राचीनकाल से समाधियाँ बनती रही है और विशेष रूप से राजस्थान मे वीर स्तम्भ का प्रचलन बहुत रहा है। मध्ययुगीन वीर स्तम्भो पर योद्धा और उसके युद्ध सम्बन्धी सामान और उसके पीछे होने वाली सतियो का अकन रहता है। ऐसे वीर स्तम्भ १३वीं सदी से १७वी सदी तक बहुत मिले हैं। पीछे से इनमे

---

[31] गोएट्ज, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट, पृ० ८२-८३, गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ४५-६२

[32] राजप्रशस्ति महाकाव्य, राजविलास, सर्ग ८

[33] गोएट्ज, आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट, पृ० ८३

षट्कोण, अष्टकोण, चतुष्कोण, षोडशकोण की छत्रियाँ भी बनने का प्रचलन हो गया जिसमे मुगल शैली को प्राधान्यता दी जाने लगी। कभी-कभी ऐसी छत्रियो मे वीर स्तम्भ या सती स्तम्भ पर शिव लिंग लगा दिया जाता था। ये वीर स्तम्भ उस काल की वेशभूषा के अध्ययन के अच्छे साधन है। बीकाजी की छत्री, रायसिंह की छत्री, मण्डोर मे अजीतसिंह की छत्री, उदयपुर मे अमरसिंह तथा कर्णसिंह की छत्रियाँ विशेष उल्लेखनीय है। इसका स्थापत्य अपने ढग का रहता है जो मन्दिर के मण्डप या खुले बरामदे के बीच का है।

इन सभी प्रकार के स्थापत्य का परिष्कृत रूप हम साधारण व्यक्तियो के मकान मे पाते है, जहाँ बरामदे, ताकें, झरोके, सयान, छते आदि इसी विधि से छोटे पैमाने पर बनते है।

अध्याय २६

राजस्थान के मध्ययुगीन स्थापत्य के कतिपय प्रतीक

(अ) दुर्ग

(१) चित्तौड

अजमेर से खण्डवा जाने वाली रेलमार्ग पर चित्तौडगढ जक्शन है। यहाँ से दो मील की दूरी पर चारो ओर मैदान से घिरी हुई एक पहाडी है जिस पर एक प्रसिद्ध किला वना हुआ है, जिसे चित्रदुर्ग अर्थात चित्तौडगढ कहते है। यह गढ समुद्र की सतह से १८५० फुट ऊँचा, लगभग तीन मील लम्वा और आधा मील चौडा है। आसपास के चौरस मैदान से इसकी ऊँचाई ५०० फुट है। यह एक ऐसा दुग है जिस पर वस्ती, मन्दिर, महल के खण्डहर आदि हैं। यहाँ पानी के कुण्ड, तालाव, वावडियाँ और झरने हमेशा पानी से भरे रहते है। यहाँ तक कि दुष्काल के समय मे किले पर पानी की कमी नही रहती। यहाँ खेती की सुविधा भी है, जिससे घेरे के समय इसमे खाद्य-सामग्री की कभी कमी नही रही।[1]

चित्तौड की प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह है कि यहाँ हजारो क्षत्रियो ने, लाखो सैनिको ने और अनगिनत वीरो ने अपने देश के मान की रक्षा के लिए अपने जीवन का वलिदान दिया है। यहाँ सैकडो राजपूतो व अन्य जाति की महिलाओ ने जीते-जी अग्नि मे प्रवेश कर, जिसे 'जौहर' कहते हैं, अपने प्राणो की आहुति दे डाली थी। अनेक वार जव-जव इस गढ को घेरा गया, रक्तपात और 'जौहर' एक साधारण-सी घटना वन गयी थी।

दन्तकथा के आधार पर यह कहा जाता है कि यह किला पाण्डवो के समय विद्यमान था। यहाँ किसी समय भीम आया था जिसने अपने घुटने के वल से यहाँ पानी निकाला। यह स्थान 'भीमलत' के नाम से विख्यात है जो पानी के कुण्ड के रूप मे आज भी देखा जा सकता है। परन्तु वि० स० ७७० के एक शिलालेख से, जिसकी प्रतिलिपि कर्नल टॉड[2] की पुस्तक मे उद्धृत है, प्रमाणित होता है कि यहाँ मौर्यवश का एक भीम नामक शासक था। सम्भवत पाण्डव वश के भीम के साथ इस भीम को

---

[1] कनिंघम, ऑर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, भा० २३, पृ० ११२, १८७

[2] इर्सकिन, राजपूताना गजेटियर, भा० २, पृ० १०१

मिला दिया है और यह कहा जाने लगा है कि चित्तौड के 'भीमलत' कुण्ड को पाण्डव-वशीय भीम ने वनाया हो। शिलालेख की वशावली से मौर्यवशी भीम का चित्तौड मे रहना ठीक प्रतीत होता है। इसी भीम का उत्तराधिकारी मान था जिसे चित्रगमोरी भी कहते है। इसके लिए यह मान्यता है कि इसी के नाम से यह दुर्ग चित्रकूट तथा एक तालाव चित्रगमोरी तालाव कहलाया। यह कहना तो कठिन है कि चित्रग और मान एक ही व्यक्ति थे या विभिन्न। यदि इस तालाव से आगे दवे हुए खण्डहरो का उत्खनन किया जाय तो इस दुर्ग सम्वन्धी कई समस्याओ का सन्तोपजनक निराकरण हो सकता है और चित्तौड के प्राचीन वैभव का हम अनुमान लगा सकते है।[3]

इस किले के सम्बन्ध मे एक भ्रान्ति यह भी है कि वापा रावल ने आठवी शताब्दी के आसपास मानमोरी को परास्त कर चित्तौड को अपने अधीन किया।[4] परन्तु वि० स० ८११ के कुकडेश्वर के शिलालेख[5] से प्रमाणित होता है कि उस समय तक कुकडेश्वर नामक मौर्यवशी शासक यहाँ शासन कर रहा था। इसी तरह हरमेखलाकार[6] के वर्णन से सिद्ध है कि (वि० ८८७) ८३१ ई० मे चित्तौड का राजा धरणीवराह था। इसलिए वापा द्वारा चित्तौड लेने की कथा निराधार है। सम्भवत प्रतिहारो ने मौर्यो से चित्तौड लिया हो और देवपाल प्रतिहार को परास्त कर अल्लट उसका अधिकारी हुआ हो। फिर मालवा के परमार राजा मुज ने गुहिलो को परास्त कर इसे अपने राज्य मे मिलाया। वि० स० की वारहवी शताब्दी के अन्त मे गुजरात के सोलकी राजा सिद्धराज ने परमारो से मालवा छीना तव यह दुर्ग भी सोलकियो के अधिकार मे चला गया। वि० स १२३१ मे कुमारपाल के भतीजे अजयपाल को मेवाड के राजा सामन्तसिंह ने हराकर किले पर अपना अधिकार स्थापित किया हो। डा० दशरथ शर्मा जैत्रसिंह (१२१३-१२५३) को प्रथम चित्तौड विजेता मानते है।[7]

इसके कुछ समय वाद यह किला अलाउद्दीन के अधिकार मे और पीछे से अकबर के अधिकार मे रहा। परन्तु प्राय इस पर मेवाड का अधिकार वना रहा। आजकल किले के स्मारको की देखभाल भारतीय पुरातत्त्व विभाग के द्वारा की जा रही है।

सम्पूर्ण किला चारो ओर सुदृढ दीवारो से घिरा हुआ है और उसकी सुरक्षा के लिए मुख्य मार्ग तथा सात द्वार वने हुए हैं। किले के ऊपर जाने वाली सडक को

---

३ टॉड, राजस्थान भा० १, पृ० ६२५, एपेण्डिक्स न० ३, आर० के० पाल एडिशन १६५०

४ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४५

५ कुकुडेश्वर लेख, माघ स० ५, वि० स० ८११

६ प्रोसिडिंग्ज ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कॉंग्रेस, १६६०

७ रायचौधरी, हिस्ट्री ऑफ मेवाड, पृ० ३१, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ४५-४६, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ० २४०

तथा ऊँची दीवार और द्वारो की मरम्मत महाराणा कुम्भा ने पन्द्रहवी शताब्दी मे करवायी थी[८] किले के पूर्व की ओर सूरजपोल का वडा दरवाजा और दूसरी ओर लाखोटा वारी है जो किले मे प्रवेश को रोक्ती है। इन दोनो द्वागे पर अकवर ने अपने १५६७ ई० के हमले के समय चट्टानो मे सुरगो को लगाकर प्राचीरो को तोटा था और किले के सुरक्षा प्रवन्ध को समाप्त किया था।[९]

जव हम स्टेशन से किले की ओर जाते हैं तो लगभग सवा मील के वाद हमे एक पुल मिलता है जिससे गम्भीरी नदी पार की जाती है। यह पुल अलाउद्दीन खलजी के पुत्र खिज्रखाँ ने चित्तौड के भग्नावशेपो से वनवाया था। इसमे अनेक मूर्तियो और मन्दिरो के पाषाण खण्ड और प्रशस्तियो के टुकडे लगे हुए देखे जाते है। गम्भीरी नदी के पुल के दसवें महराव मे समरसिंह के समय का लेख है जिसका आशय यह है कि रावल समरसिंह ने अपनी माता जयतल्लदेवी के श्रेय के निमित्त पोषधशाला के लिए कुछ भूमि दी। अपनी माता के वनवाये हुए मन्दिरो की व्यवस्था के लिए कुछ हाट और वाग दिये तथा चित्तौड की तलहटी एव सज्जनपुर आदि की मण्डपिकाओ से कुछ द्रम दिये जाने की आज्ञा दी।[१०]

पुल से आगे वढने पर हम चित्तौड के कस्वे से गुजरकर चित्तौड दुर्ग के प्रथम द्वार पर आते है जिसे पाडन पोल (पटवनपोल) कहते हैं। इस द्वार के वाहर एक चवूतरा है जिस पर प्रतापगढ के रावत वाघसिंह का स्मारक बना हुआ है। जव गुजरात के सुल्तान वहादुरशाह ने १५३४ ई० मे चित्तौड पर आक्रमण किया था तव वाघसिंह ने दुर्ग की रक्षा मे अपने प्राण यहाँ गँवाये थे।[११]

थोडी दूर चलने पर उतार मे भैरवपोल आती है जहाँ जयमल के कुटुम्वी कल्ला और राठौड वीर जयमल की छत्रियाँ आती है। ये वीर अकवर के १५६७ ई० आक्रमण के समय वीरगति को प्राप्त हुए थे। वताया जाता है कि जव जयमल अकवर की वन्दूक से घायल हो गया था तो कल्ला ने स्वय उसे अपने कन्धे पर चढा लिया और दोनो किले की रक्षा मे मारे गये। जयमल उदयसिंह की अनुपस्थिति मे किले का प्रमुख रक्षक था।[१२]

---

८ कुम्भलगढ लेख, पट्टिका प्रथम व चतुर्थ

९ जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ७२-७५

१० व० ए० सो० ज०, जिल्द ५५, भा० १, पृ० ४७

११ वशावली श्रीगणाजी नी, पत्र ६३

१२ जयमल का स्मारक भैरो पोल के आगे होना सन्देहात्मक है क्योकि अमरकाव्य वशावली मे भी उसका अकवर की वन्दूक से मारा जाना लिखा है और मुस्लिम तवारीखो मे भी ऐसा ही लिखा मिलता है, अकवरनामा, भा० २, पृ० ४०१-४०२ (मूल), अमरकाव्य वशावली, पत्र ३७

इन छत्रियो से आगे बढने पर गणेशपोल, लक्ष्मणपोल और जोडन पोल आती है। इन सभी पोलो को सुदृढ दीवारो से इस प्रकार जोट दिया गया है कि बिना फाटको को तोडे शत्रु किले पर अधिकार नही कर सकता। जोडन पोल के सँकडे मोर्चे पर शत्रु सेना आमानी से रोकी जा सकती है। यहाँ की ऊँचाई, घुमाव और सँकरापन मध्ययुगीन सैनिक सुरक्षा के अच्छे साधन थे। फिर कुछ दूर चलने पर एक विशाल द्वार पर हम पहुंचते हैं जिसे रामपोल कहते है। यह पश्चिमाभिमुख प्रवेश द्वार है जहाँ से दुर्ग की समतल स्थिति आती है। रामपोल के भीतर घुसते ही एक तरफ सीसोदिया पत्ता का स्मारक आता है जहाँ अकबर की सेना से लडता हुआ पत्ता काम आया था। जयमल की मृत्यु के बाद राजपूतो ने इस वीर को अपना नेता चुना था।[13]

इस स्मारक के दाहिनी ओर जाने वाली सडक पर तुलजा माता का मन्दिर आता है। कुम्भलगढ मे भी मुख्य द्वार मे घुसते ही माता का मन्दिर है। ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्गो के निर्माण मे मातृ मन्दिर का विशेष स्थान रहता था। अन्य दुर्गो मे भी मातृ मन्दिर की स्थिति इसी प्रकार देखी गयी है। आगे चलकर बनवीर द्वारा बनवायी गयी ऊँची दीवार आती है जिसके पास एक सुरक्षित स्थान को नवलख भण्डार कहते हैं। अपने समय की अस्थिरता की स्थिति[14] से बचने के लिए उसने दुर्ग के अन्दर दूसरे दुर्ग की व्यवस्था की थी। इसी आहते के आसपास तोपखाना का दालान, महासानी और पुरोहितो की हवेलियाँ, भामाशाह की हवेली तथा अन्य महल हैं। नवलख भण्डार के निकट शृगार चवरी का मन्दिर आता है जिसका जीर्णोद्धार महाराणा कुम्भा के भण्डारी वेलाक ने १४४८ ई० मे कराया था। इस मन्दिर के बाहरी भाग मे उत्कीर्ण कला देखने योग्य है। इसको भ्रम से शृगार चौरी कहते है, यह बताते हुए कि महाराणा कुम्भा की लडकी का विवाह यहाँ हुआ था या वह यहाँ शृगार किया करती थी। वास्तव मे यह शान्तिनाथ का जैन मन्दिर है जिसकी प्रतिष्ठा खरतर गच्छ के आचार्य जिनसेन सूरि ने की थी। जिस स्थान को लोग चौरी कहते हैं वह वास्तव मे उक्त अष्टापद मूर्ति की वेदी है या पूजा प्रकार का स्थान विशेष है।[15]

यहाँ से आगे बढने पर त्रिपोलियाँ नामक द्वार मिलता है जहाँ से पुराने राजमहल का चौक, निजिसेवा का बाण, माता का मन्दिर, कुम्भा के जनाना और मर्दाना महल, राजकुमारो के प्रासाद, कोठार, शिलेखाना आदि दर्शनीय हैं। इस सम्पूर्ण भाग को कुम्भा के महल कहते हैं, जिसमे एक सुरग को पद्मिनी के जौहर का

---

[13] वशावली, पत्र ३१

[14] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ५६

[15] वि० स० १३५८ का द्वार पट्टीलेख, वि० स० १५१८ का वेलाक का लेख, आ० स० रि० भा० २३

स्थान बताया जाता है। वास्तव मे नीचे के महलो का भाग कुम्भा के समय से भी पहले बना था जिसके कई कमरे और बरामदे अब खुदाई व सफाई से निकल आये है। सम्भव है महाराणा कुम्भा ने इन्ही पुराने महलो पर नये महल बना दिये हो। जिस मार्ग को जौहर की सुरग बताया जाता है वह भी निर्मूल है। नीचे की मजिल निकल आने से यह भ्रान्ति स्पष्ट हो जाती है। जौहर होने का स्थान समिधेश्वर के आसपास की खुली भूमि है। अकबर के समय मे भी यही जौहर की धधकती हुई ज्वाला की ओर भगवानदास ने सकेत किया था।[१६] इसी स्थान पर छोटे-बडे शिवालय, स्मारक व चबूतरे मिलते है जो जौहर होने के स्थान के प्रमाण है। इन दिनो की खुदाई, जो समिधेश्वर के पास हुई है, इसको और स्पष्ट करती है।

ऊपर वर्णित राजप्रासाद का ढांचा १५वी सदी के उच्चवर्गीय समाज के जीवन के अध्ययन के लिए बडा उपयोगी है। एक पट्टशाल को जोडने वाले दो कमरे, गवाक्ष और खम्भो पर दालान की छत को रोकने की विधि, राजप्रासादो को जोडने वाले सँकरे मार्ग, छोटे दालान आदि उस समय के स्थापत्य की विशेषताएँ थी, जो चित्तौड के राजप्रासादो से झलकती है।

राजभवन के आगे कुम्भश्याम का मन्दिर[१७] आता है जिसका जीर्णोद्धार महाराणा कुम्भा ने करवाया और जहाँ मीरा हरिकीर्तन के लिए जाया करती थी। इसके आगे सात बीस देवरी के जैन मन्दिर हैं जो गुजरात तक्षण कला को स्पष्ट बताते है। इसके आगे गौमुख कुण्ड आता है और उसी के समीप त्रिभुवननारायण का मन्दिर[१८] है जिसे भोज ने बनाया था और जिसका जीर्णोद्धार मोकल ने १४२८ ई० मे कराया था। मूर्तिकला और जनजीवन की १३वी सदी की झाँकी के लिए यह मन्दिर अपने ढग का अद्वितीय है।

इसके निकट महाराणा कुम्भा का बनवाया हुआ नौ मजिल का विशाल कीर्ति-स्तम्भ है जिसे राणा ने मालवा के सुल्तान महमूदशाह खलजी को परास्त करने की स्मृति मे बनवाया था और उसके निर्माण काल के प्रारम्भ मे उसे भाक्षी नामक स्थान मे रखा था। यह स्तम्भ अनेक देवी-देवताओ और सामाजिक जीवन की परिचायक मूर्तियो का कोष है। इसमे विशेषता यह है कि प्रत्येक मूर्ति का नामाकन इस प्रकार कर दिया गया है कि मूर्ति के आयुध से तथा अन्य चिह्नो से उसे समझने मे दर्शको को सुविधा हो। ऊपर की मजिल मे ४ शिलालेखो की ताकें हैं जिनमे से दो शिलाएँ प्राप्य हैं। मूर्तिकार ने देवी-देवताओ की प्रतिमाओ के साथ कुलटा, तरुणी, सम्भोग, शस्त्र,

---

[१६] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० ७७

[१७] राजपूताना म्यूजियम रिपाट, अजमेर, सन् १९३१, पृ० २, वरदा वर्ष ९, अक ४

[१८] चीरवा का लेख, श्लोक ३०-३१, आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भा० २, पृ० ४१५

व्यापार तथा व्यवसाय करने वालो की मूर्तियाँ बनाकर इस स्तम्भ को सजीव बना दिया है। इसका निर्माण कार्य जेता सूत्रधार के द्वारा हुआ था।[१६]

आगे चलकर जयमल की हवेली मिलती है जो सामन्तो के आवास तथा रहने की सुविधा के अध्ययन की अच्छी झांकी उपस्थित करती है। इसके बाद पद्मिनी के महल आते है, जिसने अपनी सूझबूझ से ७०० डोलो मे सैनिको को भेजकर अपने पति-देव रत्नसिह को अलाउद्दीन से छुडाया था और फिर हजारो रमणियो के साथ जौहर-व्रत कर स्वर्ग पहुँची थी। ये महल अब नये बना दिये गये हैं परन्तु कही-कही खण्डहरो के अवशेष उस समय के स्थापत्य के साक्षी है। इसके आगे कालिका का मन्दिर है जो पहले सूर्य मन्दिर था। इस मन्दिर की तक्षण-कला ८वीं शताब्दी की है। यहाँ से चित्रगमोरी ताल को पारकर हम किले के एक छोर पर पहुँचते हैं जहाँ से नीचे मोर-मगरी दिखायी देती है। बहादुरशाह के आक्रमण के समय इसी ऊँची पहाडी पर तोप-खाना रखा गया था और अकबर ने उसे एक-एक सोने की मुहर देकर और ऊँचा उठाया और राजपूतो के मोर्चे को तोडा।

आगे चलकर एक जैन विजय स्तम्भ मिलता है जो ११वी सदी मे जीजा ने बनवाया था। इसी भाग मे अद्भुतजी का मन्दिर, लक्ष्मीजी का मन्दिर, नीलकण्ठ और अन्नपूर्णा के मन्दिर, रत्नसिह के महल, कुक्कडेश्वर का कुण्ड आदि स्थान दर्शनीय हैं।[२०]

सदियो के प्राचीन स्थानो, महलो तथा जौहर के स्थानो तथा अनेक वीरो के स्मारक चिह्नो से सजा हुआ यह गढ स्वदेश प्रेमी भारतीय जनता के लिए पूजनीय स्थान है। हमारे देश के लडने वाले बहादुर सिपाहियो और महिलाओ के खून से सनी हुई चित्तौडगढ की धूल तीर्थस्थानो की रेणु से भी अधिक पवित्र है। इस गढ के बलिदानो की कथाएँ और स्मारक हमारे नवयुवको और देश-प्रेमियो के जीवन को नयी प्रेरणा देते हैं और देते रहेगे, इसमे कोई सन्देह नहीं।

(२) तारागढ

अजमेर नगर के निकट, अरावली की शाखा का एक भाग, जो आसपास के भाग से ८०० फुट ऊँचा और चोटी पर ८० एकड क्षेत्रफल मे है, बीठली का पहाड कहलाता है। इसकी समुद्री तट से ऊँचाई २,८५५ फुट है। प्रारम्भ मे, इस पहाडी पर सातवी शताब्दी मे अजयपाल ने अजयमेरू दुर्ग का निर्माण करवाया, जिसकी बुर्जे और दीवारें अपनी सुदृढता के लिए प्रसिद्ध थी। कही-कही इसकी दीवारें २० फुट चौडी भी बनायी गयी थी जिससे उन पर शत्रु के वार का कोई असर न हो सके। सम्पूर्ण दीवारो का व्यास लगभग दो मील है। मेवाड के महाराणा रायमल के पुत्र महाराज कुँवर

---

१६ आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भा० २३, पृ० १०४-१०६

२० शास्त्री, चित्तौडगढ, पृ० ७५-८०, वरदा वर्ष ११, अक २, शोध पत्रिका, वर्ष १६, अक ३-४, सोमानी, वीर-भूमि चित्तौड, पृ० २००-२०७

पृथ्वीराज ने कुछ एक राजप्रासाद बनवाकर अपनी पत्नी ताराबाई के नाम पर इस गढ का नाम तारागढ रखा। ऐसी भी मान्यता है कि एक विट्ठलदास गौड नामक शाहजहाँ के सेनानायक ने इसे सुदृड किले मे परिणत करने के लिए विशेष रूप से इसका जीर्णोद्धार करवाया और तब से उसे गढ बीठली भी कहा जाने लगा। सम्भवत बीठली के पहाडी पर होने से भी यह नाम प्राचीनकाल से चला आया हो जिसको फिर से विट्ठलदास के नाम से जोडा गया हो। आजकल यह तारागढ के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।[२१]

गढ की ऊँचाई सीधी होने से उसके ऊपर जाने वाली पुरानी पगडण्डियाँ बडी ढालू है। एक पगडण्डी बडापीर से खिडकी दरवाजे तक जाती है और दूसरी खिडकी बुर्ज से सम्भलपुर की ओर। पुरानी सडक भी इन्दरकोट से गढ पर जाती थी जो खूब सीधी और तग थी। इस मार्ग की लम्बाई आधे मील की थी। इसी मार्ग को १८३२ ई० मे घुमावदार बनाकर चौडा और कम ऊँचाई वाला बनवा दिया, जब कि इस पर सेनिटोरियम की व्यवस्था की गयी। एक दूसरा मार्ग ऊपर जाने के लिए नसीराबाद से आने वाले सिपाहियो के लिए भी बनवाया गया था जो बडा सुगम और सरल था।[२२]

इस गढ का राजनीतिक इतिहास बडा रोचक है। इसे समय-समय पर कई घेरो का सामना करना पडा। सबसे पहले महमूद गजनवी ने १०२४ ई० मे इसको आ घेरा, परन्तु स्वय जख्मी हो जाने के कारण उसे घेरा उठाकर नहरवाल की ओर जाना पडा। इसके अनन्तर १७० वप तक इस गढ को शान्ति का अवसर मिला। इस काल मे यहाँ कई मन्दिर, कुण्ड, बुर्जो आदि का निर्माण हुआ। जब पृथ्वीराज की पराजय तराइन के मैदान मे हुई तो शहाबुद्दीन ने ११९२ ई० मे गढ पर अधिकार स्थापित कर लिया। ज्योही मुसलमानो ने अजमेर से मुख मोडा कि पृथ्वीराज के छोटे भाई हरिराज ने उस पर पुन अपना अधिकार स्थापित कर लिया। मुहम्मद गोरी के उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन ऐबक ने तारागढ पर ११९५ ई० मे फिर कब्जा जमा लिया और उसने अपने एक अधिकारी को, जिसका नाम सैयद हुसैन मशेदी था, वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया। इसी किले मे कुतुबुद्दीन ने आकर शरण ली थी, जब वह गुजरात के शासक भीमदेव से हारकर भागा था।[२३]

---

[२१] लाटोची, गजेटियर, पृ० ५४, केनी, पिक्चरस्क इण्डिया, पृ० ८१, हेबर जरनल, भा० २, पृ० ४८, सारदा, अजमेर, पृ० ४९-५०

[२२] आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोट, १८८३-८४, पृ० ३६

[२३] तबकात-ए-नासिरी (रेवर्टी), पृ० ५१९, टॉड, राजस्थान, भाग १, पृ० ४४८, साग्दा, अजमेर, पृ० ५०-५१

मेवाड के सीसोदियो ने मारवाड के रणमल के साथ मिलकर तारागढ पर १४०६ से १४१४ ई० के बीच किसी समय हमला कर उसे अपने अधिकार मे कर लिया। परन्तु मालवा के खलजी सुल्तान ने १४५५ ई० मे इस पर आक्रमण कर दिया जिसमे यहाँ के दुर्ग के अधिकारी गिरधर राज ने गढ की रक्षा मे अपने प्राण गँवाये और दुर्ग पर माडू के सुल्तान का अधिकार हो गया। इस पराजय का बदला कुंवर पृथ्वीराज ने १५०५ ई० मे मुस्लिम गवर्नर को मारकर लिया और पुन गढ सीसोदियो के अधिकार मे चला गया। जब गुजरात मे बहादुरशाह की शक्ति बढने लगी तो उसके प्रयास से १५३३ ई० मे दुर्ग फिर गुजरातियो के हाथ पडा। दो वर्ष के बाद जब बीरमदेव और मालदेव के आपस मे वैमनस्य बढने लगा तो बीरमदेव मेडता मे आकर इस गढ मे कुछ समय रहा, परन्तु मालदेव ने उसे यहाँ सुख से नही रहने दिया और गढ को, अजमेर नगर के साथ, मारवाड राज्य का भाग बना लिया। जब मालदेव की पराजय शेरशाह से हुई तो गढ शेरशाह के अधिकार मे आ गया। अफगानो का सेनापति हाजीखाँ इसको कुछ समय अपने अधिकार मे रखने मे सफल हुआ। परन्तु अकबर की सत्तावादी नीति के सामने अफगान अधिक समय यहाँ न टिकने पाये और अजमेर तारागढ के साथ मुगल सूबे मे परिणित कर दिया गया।[२४]

जब शाहजहाँ के समय मे गृहयुद्ध आरम्भ हुआ और शाही सेना धौलपुर में परास्त हुई तब दारा शिकोह ने तारागढ मे पनाह ली थी। परन्तु वह अपने को यहाँ अधिक समय सुरक्षित न रख सका। औरगजेब के सफल घेरे के फलस्वरूप १६५६ ई० मे वह नये शासक के अधिकार में आ गया। औरगजेब की मृत्यु के अनन्तर भी उत्तरकालीन मुगल इस पर १७२० ई० तक अधिकार जमाये हुए रहे, परन्तु शीघ्र ही महाराजा अजीतसिंह ने गढ को अपने अधिकार मे कर लिया। अजीतसिंह से महाराजा जयसिंह ने किला अपने अधिकार मे ले लिया। महाराजा अभयसिंह ने फिर से १७४४ ई० मे इसको अपने अधीन करने मे सफलता प्राप्त की। परन्तु १७५६ ई० मे विजयसिंह को जय अप्पा की हत्या के हर्जाने मे इसे मराठो को दे देना पडा। फिर सीघवी भीमराज ने सिन्धिया को परास्त कर इसे राठौडो की निधि बनाया। जब मराठो मे फूट चल रही थी तो लकवादादा ने अपनी शक्ति को बढाने के लिए किले को अपने अधिकार में किया, परन्तु १८०१ ई० मे जनरल पेरो के प्रयत्न से सिन्धिया को इसे पुन प्राप्त करने का सौभाग्य हुआ। अन्त मे करनल निक्सन और डेविड ऑक्टरलानी ने २८ जुलाई, १८१८ मे इस पर अपना अधिकार

---

२४ तारीखे दाऊदी, पृ० २३९, इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ३, पृ० ४०६, ब्रिग्ज, फरिश्ता, भा० २, पृ० २२२, ४०६, टॉड, राजस्थान, भा० १, पृ० ६७४ तथा भा० २, पृ० १६, २४

स्थापित कर दिया, और आगे चलकर नसीराबाद की छावनी के लिए इसे स्वास्थ्य केन्द्र मे परिणित किया गया।[२५]

इस गढ की चार दीवारी मे प्रवेश करने के कई द्वार हैं जिनमे लक्ष्मण पोल, फूटा दरवाजा, बडा दरवाजा, भवानी पोल, हाथी पोल और अरकोट का दरवाजा मुख्य हैं। यहाँ कोट के साथ कई बुर्जें हैं जिन्हे घूंघट बुर्ज, नगारची बुर्ज, शृगार चवरी बुर्ज, बान्द्रा बुर्ज, फतहबुर्ज आदि कहते हैं। इन्ही बुर्जो से सम्पूर्ण किले की सुरक्षा की व्यवस्था की जाती थी और जिस पर रहकर हजारो सैनिको ने अपनी जान न्यौछावर की थी।[२६]

किले के सबसे ऊँचे भाग मे मीरान साहब की दरगाह है। मीरान सैयद ने १२०२ ई० मे किले की रक्षा मे अपने प्राणो को गँवाया था। इनकी स्मृति मे यहाँ दरगाह की स्थापना की गयी। अकबर के काल से इस दरगाह की प्रतिष्ठा बढी और तब से हजारो की सख्या मे प्रति वर्ष निष्ठावान मुस्लिम यहाँ आते हैं और अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं। आज भी इस दरगाह मे जलने वाला दीपक, जो दूर से दिखायी देता है, उस सिद्ध पुरुष की स्मृति दिलाता है। इसमे स्थिर बुलन्द दरवाजा, आँगन, बरामदा आदि सोलहवी शताब्दी के स्थापत्य के नमूने हैं। कई राजनीतिक उथल-पुथलो के फलस्वरूप यहाँ की प्राचीन इमारतें नष्ट हो गयी है। केवल मात्र एक भवन, जिसे कचहरी कहा जाता है, प्राचीन स्थापत्य के अवशेप का साक्षी हैं। करनल टॉड ने भी केवल मात्र एक उन्नत मीनारो वाली मस्जिद के सिवाय किस विशेप भवन की चर्चा नही की है जिसे उसने ४ दिसम्बर, १८१८ ई० मे देखा था।[२७]

अलबत्ता कुछ पानी के हौज तथा घी, तेल और अन्न-सग्रह के कोठे और टकियाँ किले के प्राचीन अवशेष है जिन्हें समय-समय पर ठीक करवाया गया था। किले मे प्राकृतिक पानी के बने रहने का अभाव है जिससे बरसात मे पानी को इकट्ठा रखने के लिए कुण्डो का निर्माण करवाया गया। ऐसे पानी के स्थानो को नाना साहब का झालरा, गोल झालरा, इब्राहीम शरीफ का झालरा, बडा झालरा आदि कहते है। शेरशाह ने जब तारागढ को देखा और वहाँ पानी का अभाव पाया तो उसने अपने योग्य कारीगर को हफ्ज जमाल नामक चश्मे से दुर्ग पर पानी पहुँचाने की व्यवस्था करने का आदेश दिया। जो पानी इस ढग से ऊपर लाया गया उसे शीर चश्म कहा गया।[२८]

---

२५ इलियट, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ७, पृ० २४०, टॉड, राजस्थान, भा० २, पृ० ८९-९१, राजपूताना गजेटियर, भा० २, पृ० १९,३५, क्राम्पटन, यूरोपियन मिलिटरी एडवेन्चर्स ऑफ हिन्दुस्तान, पृ० ५५, सारदा, अजमेर, पृ० ५१-५२

२६ आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १८८३-८४, पृ० ३६

२७ ऑर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट पृ०,४२, टॉड, राजस्थान, भा० १, पृ० ८२

२८ हेबर जर्नल, भा० २, पृ० ४८, सारदा, अजमेर, पृ० ५४-६५

(३) आबू

सिरोही के इतिहास मे आबू का भी अपना एक स्थान है। आगरा या दिल्ली से अजमेर, व्यावर, एरनपुर तथा सिरोही होकर अहमदाबाद जाने वाली रेलवे लाइन पर आबू रोड स्टेशन है जहाँ से बस के मार्ग से माउण्ट आबू पहुँचते है। अरावली पर्वत-श्रेणी का आबू पहाड सबसे ऊँचा भाग है। हिन्दू शास्त्रो मे तथा जैन साहित्य मे आबू पर्वत की बडी महिमा वर्णित है। आधुनिक काल मे भी केवल भारत मे ही नही, किन्तु पाश्चात्य देशो मे भी आबू पर्वत ने रमणीयता तथा देलवाडा ने सुन्दर शिल्पकला द्वारा बडी ख्याति प्राप्त कर ली है।

हिन्दू धर्म-शास्त्रो के अनुसार आबू प्राचीनकाल मे ऋषियो के लिए तपस्या का उपयुक्त स्थान था। बताया जाता है कि यहाँ पहले गहरे गड्ढे थे जिनमे वशिष्ठ ऋषि की कामधेनु गाय अचानक गिर पडी। गाय ने अपने दूध से गड्ढे को भर दिया और वह उसमे तैरकर निकल गयी, परन्तु ऋषि ने भविष्य मे इस प्रकार के खतरे को टालने के लिए हिमालय से प्रार्थना की कि वह किसी पर्वत को भेजकर उस गड्ढे को भरवा दे। हिमालय ने अपने पुत्र नन्दिवर्द्धन को गड्ढे को पूरने के लिए आज्ञा दी। अर्बुद नामक सर्प द्वारा नन्दिवर्द्धन वहाँ लाया गया और वह खड्ढा भर दिया गया। सर्प भी नन्दिवर्धन पर्वत के नीचे रहने लगा। तभी से इस स्थान को अर्बुदाचल या नन्दिवर्द्धन कहते है।

इस कथानक मे सच्चाई कितनी है उसको आँकने से कोई लाभ नही, परन्तु इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि यह भूमि प्राचीनकाल से पवित्र मानी जाती थी। जहाँ ऋषि-मुनि तपस्या करते थे। हरिश्चन्द्र की गुफा, गोपीचन्द की गुफा तथा पापकटेश्वर की गुफा और वशिष्ठाश्रम, माधवाश्रम तथा गौमुख कुण्ड, जमदग्नि आश्रम तथा गौतम आश्रम—जो आबू पहाड के जगली भागो मे स्थित हैं, इस बात का स्मरण दिलाते है कि वास्तव मे निवृत्त जीवन के लिए मुनि तथा महात्मा यहाँ रहा करते थे। आज भी कई सन्त इन भागो मे रहते हैं और जीवन-मोक्ष की चर्चा द्वारा मुमुक्षुओ को लाभान्वित करते है।

आबू पहाड के दूसरी छोर पर एक अचलगढ का दुर्ग है जिसका निर्माण मेवाड के महाराणा कुम्भा ने १५वी शताब्दी मे करवाया था। इस गढ की तलहटी मे अच-लेश्वर महादेव का प्राचीन मन्दिर है और उसके बाजू मे कुण्ड, मठ और बगीचा है। यह भाग उस सदी मे बडा समृद्ध था जैसा कि वहाँ के खण्डहरो से और कई धनाढयो की नामावली से अनुमानित होता है। आबू के परमारवशीय राजाओ तथा चौहानो के अचलेश्वर कुलदेव माने जाते है। इस मन्दिर के आहते मे १२वी शताब्दी से लेकर १६वी शताब्दी तक के अनेक लेख प्राप्त होते है जो उस समय के इतिहास की जान-कारी के लिए बडे उपादेय हैं। यहाँ नन्दि के पास चारण कवि दुरसा आढा की पीतल

की मूर्ति बनी हुई है जो उस समय के कवि की याद दिलाती है जिसने अकबर के दरबार मे महाराणा प्रताप की प्रशसा निर्भीक होकर की थी ।

इस पहाड का सबसे ऊँचा भाग गुरु शिखर है जो समुद्री सतह से ५,६५० फुट ऊँचा है । यहाँ गुरु दत्तात्रेय के चरण, शिवालय, गौशाला, कमण्डल कुण्ड आदि दर्शनीय स्थान है । इस ऊँचे स्थान से दूरस्थ सिरोही शहर, अम्बा माता का मन्दिर और अरावली पर्वत-श्रेणी की छटा बडी रमणीय दिखायी देती है ।

आबू की विशेष प्रख्याति आबू के देलवाडा के जैन मन्दिरो के कारण है जिनका निर्माण तेजपाल और वास्तुपाल ने १२वी शताब्दी मे करवाया था जो गुजरात राज्य के सेनापति और मन्त्री थे । इन मन्दिरो की कारीगरी, तक्षणकला और खुदाई का काम देखते ही बन पडता है । शिल्पकला की दृष्टि से भारत मे ये मन्दिर अपने ढग के कारीगरी के उत्कृष्ट नमूने हैं । इसके अतिरिक्त खुदाई से प्राप्त मूर्तियो के अध्ययन से हम उस समय की वेशभूषा, रीति-रिवाज और व्यवहार का समुचित अध्ययन कर सके हैं । यहाँ गुरु-शिष्य के सम्बन्ध तथा राजसभा के शिष्टाचार से सम्बन्धित मूर्तियाँ है । सगीत और नृत्य आदि विषयो पर प्रकाश डालने वाले अनेक नृत्य और गायन के प्रदर्शन की मूर्तियाँ नाट्यशास्त्र के आधार पर बनायी गयी हैं जो अपनी लावण्यता के लिए सर्वोपरि है । यदि हम यह कह दें कि शिल्पशास्त्र, नाट्यशास्त्र, इतिहास और सामाजिक शास्त्र के अध्ययन के लिए ये मूर्तियाँ साक्षात अध्ययन केन्द्र हैं तो कोई अत्युक्ति नही होगी ।

इन मन्दिरो मे मण्डप की नक्काशी अपने ढग की विलक्षण है जिसको देखकर दर्शक स्तब्ध हो जाता है । यह काम इतना बारीक है कि देखते-देखते धैर्य की सीमा भी नही रहती और फिर भी मन नही भरता । यदि ताजमहल के पीछे एक स्त्री का सस्मरण खडा है तो इन मन्दिरो के पीछे एक धर्मनिष्ठ उदारता मूर्तिमान दिखायी देती है ।[२६]

तक्षणकला और वास्तु-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान फर्ग्यूसन, हेवल, स्मिथ आदि मर्मज्ञो ने इन मन्दिरो की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए लिखा है कि कारीगरी और सूक्ष्मता की दृष्टि से इन मन्दिरो की समता हिन्दुस्तान मे कोई इमारत नही कर सकी। ये भारतीय ज्ञान और सभ्यता के सच्चे प्रतीक हैं । आज यदि किसी भी एक स्थान को हिन्दू, जैन, शैव, शाक्त तथा वैष्णव एक निष्ठा से तीर्थ-रूप मानते हैं तो वह आबू पहाड है । यहाँ सभी धर्मावलम्वी प्रतिवर्ष हजारो की सख्या मे आते है । भारत के धर्म के सच्चे आदर्श को मूर्तिमान यदि हम देखना चाहते है तो वह आबू तीर्थ मे मिलता है ।

---

२६ —राजस्थान, स्कल्पचर्स, पृ० ३३-३४

(४) जालौर

जालौर मारवाड का सुदृढ गढ है जिसे परमारो ने वनाया था। यह गढ क्रमश परमारो, चौहानो और राठौडो के अधीन रहा। प्राचीन शिलालेखो मे जालौर का नाम जावालीपुर और किले का सुवर्णगिरि मिलता है। 'सुवर्णगिरि' शब्द का दूसरा रूपान्तर अपभ्रश मे सोनलगढ हो गया और इसी से यहाँ के चौहान सोनगरा कहलाये। गढ मे तथा कस्वे मे कई दर्शनीय स्थान हैं, जिनमे प्राचीन महल, मस्जिद, शाह की दरगाह, प्राचीन जैन मन्दिर, प्राचीन कचहरी, दहियो का गढ और वीरमदेव की चौकी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ये प्रत्येक स्थान यहाँ के राजनीतिक तथा सास्कृतिक इतिहास से सम्वन्धित हैं।

जालौर के किले की सैनिक उपयोगिता के कारण सोनगरा चौहानो ने इसे अपने राज्य की राजधानी वना रखा था। गढ के कारण यहाँ के राजा अपने आपको वडे वलवान मानते थे। जव कान्हडदे यहाँ का शासक था, तव अलाउद्दीन ने अपनी उत्तर भारत की विजय को पूर्णरूप से सम्पन्न करने और गुजरात विजय को स्थायी वनाने के लिए १३०५ ई० मे जालौर पर आक्रमण किया।[३०] कान्हडदे ने सुल्तान की सेना को, जो गुलए वहिश्त नामक दासी के नेतृत्व मे भेजी गयी थी, परास्त कर दिया। दास-सेनाध्यक्ष का लडका भी इस युद्ध मे राजपूतो द्वारा मारा गया। इस पराजय से क्षुब्ध होकर १३११ ई० मे एक सेना कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व मे भेजी गयी लेकिन उसके लिए भी दुर्ग को लेना सम्भव न हो सका। गढ के भण्डारो के रिक्त होने पर आसपास के व्यापारी गुप्त मार्गो से रसद भेजते रहे जिससे योद्धाओ की हिम्मत दिन दूनी और रात चौगुनी होती रही। ऐसा वताया जाता है कि जव राजपूत अपने प्राणो की वाजी लगा रहे थे उस समय अभाग्यवश एक सेजवाज विक्रम नामक विश्वास-घाती व्यक्ति ने सुल्तान के द्वारा दिये गये प्रलोभन मे आकर शत्रुओ को किले मे प्रवेश करने का एक गुप्त मार्ग वता दिया। अत शीघ्र ही शत्रु सेना किले के भीतर घुस गयी। सेजवाल की स्त्री ने, जो पतिव्रत-धर्म से भी देश-धर्म को अधिक महत्त्व देती थी, अपने पति के द्वारा किये गये विश्वासघात की सूचना कान्हडदे को दे दी। सभी राजपूत कान्हडदे के नेतृत्व मे प्राणोत्सर्ग के लिए उद्यत हो गये। किले के भीतर और वाहर भीषण युद्ध हुआ जिसमे कान्हडदे वीरोचित गति को प्राप्त हुआ।

फिर भी राजपूतो ने हिम्मत न हारी। उसके पुत्र वीरमदेव ने सगठित रूप से युद्ध जारी रखा। थोडे से मुट्ठी भर राजपूत रसद की कमी हो जाने तथा शत्रुओ के किले मे घुस जाने से युद्ध को अधिक समय न चला सके। वीरमदेव ने, यह समझ कर कि वह वन्दी वना दिया जायगा, अपने पेट मे कटार भोक ली और मृत्यु को

---

३० रेऊ, मारवाड का इतिहास, पृ० १५, ईश्वरी प्रसाद, हिस्ट्री ऑफ करोना टर्कस्, पृ० २६

गोद मे जा बैठा। इसी अवधि मे अनेक राजपूत अपने अन्तिम साँस तक शत्रुओं से लडकर मर गये और राजपूत महिलाओ ने भी जौहर कर अपने सतीव्रत की रक्षा की।

इस सम्पूर्ण घटना का उल्लेख अखैराज चौहान के एक आश्रित लेखक पद्मनाभ ने किया है। उसने कान्हडदे प्रबन्ध नामक ग्रन्थ मे कई समसामयिक मौलिक आधारो पर ऐतिहासिक घटनाओ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस अपूर्व वर्णन से हम जातीय गौरव से ओतप्रोत कान्हडदे, उसके साथियो के आत्मविश्वास तथा स्थानीय जनता के देश-प्रेम की सच्ची कहानी जान सकते है।

वैसे तो यह गढ अलाउद्दीन के अधीन हो गया पर यह गढ अपने अतीत के गौरव को अपने प्राचीन प्रतीको के द्वारा आज भी प्रदर्शित कर रहा है। परमार राज वीसल, चौहान राजा कीर्तिपाल, चाचिगदेव तथा सामन्तसिंह के शिलालेख जो खण्डहरो से प्राप्त होते है, इस बात के साक्षी है कि ये राजा कितने धर्मनिष्ठ थे। कान्हडदे द्वारा बनायी गयी बावडी तथा वीरमदेव द्वारा बनवाये गये दरबार जालौर के प्रतिभा सम्पन्न काल की दुहाई दे रहे है। यहाँ के भव्य जैन मन्दिर तथा कुछ फारसी के शिलालेख यह प्रमाणित करते हैं कि यह गढ १७वी शताब्दी तक बसा हुआ था और इसमे सभी जाति के लोग सहिष्णुतापूर्ण व्यवहार से रहते थे।

(५) सिवाना

सिवाना का दुर्ग जोधपुर से लगभग ५४ मील पश्चिम की ओर है। इसके पूर्व में नागौर, पश्चिम मे मलानी, उत्तर मे पचपदरा और दक्षिण मे जालौर स्थित है। वैसे तो यह किला चारो ओर रेतीले भाग से घिरा हुआ है परन्तु इसके साथ-साथ इस भाग मे छप्पन के पहाडो का सिलसिला पूर्व-पश्चिम की सीध मे ४८ मील फैला हुआ है। इस पहाडी सिलसिले के अन्तर्गत हलदेश्वर का पहाड सबसे ऊँचा है जिस पर एक सुदृढ दुर्ग बना हुआ है, जिसे सिवाना कहते है। इस किले पर जाने का मार्ग टेढी-मेढी चढाई से जाता है जो लगभग ६ मील है। ये पहाड बेरी, बबूल, धाव, पलास, बड आदि वृक्षो के समूह से आच्छादित रहता है जो वर्षाऋतु मे बडा सुहावना लगता है।

इस किले का एक बडा गौरवशाली इतिहास है। प्रारम्भ मे यह भाग पँवारो के अधिकार मे था। इसी वंश मे वीरनारायण बडा प्रतापी शासक हुआ था जिसने सिवाना शहर, बसाया और ऊपर पहाडी पर सिवाना दुर्ग को बनवाया। तदन्तर यह किला चौहानो के अधिकार मे आ गया। जब अलाउद्दीन ने गुजरात और मालवा अपने अधिकार मे कर लिये तब इन प्रान्तो मे जाने के मार्ग को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह राजस्थान के किलो को भी अपने अधिकार मे करे। इसी नीति के अनुसार उसने चित्तौड तथा रणथम्भौर को अपने अधिकार में कर लिया। परन्तु मारवाड से इन प्रान्तो मे जाने के मार्ग तब तक सुरक्षित नही हो सकते थे जब

तक जालौर और सिवाना पर वह अधिकार न कर ले। उस समय सिवाना चौहान राजपूत सरदार सीतलदेव के अधिकार मे था। सीतलदेव ने अपने समय मे चित्तौड तथा रणथम्भीर जैसे सुदृढ किलो को खलजी की शक्ति के सामने धराशायी होते हुए देखा था, परन्तु उसमे अपने किले को स्वतन्त्र रखने की क्षमता थी। वह विना युद्ध लडे किले को शत्रुओ के हाथ देना अपने वश-परम्परा और सम्मान के विरुद्ध समझता था। उसने स्वतन्त्रतापूर्वक कई रावो और रावतो को युद्ध मे परास्त किया था और उसकी धाक राजस्थान मे जमी हुई थी। भला सीधे हाथ वह किला शत्रुओ के हाथ कैसे दे सकता था ?

जव अलाउद्दीन ने देखा कि विना युद्ध के किले पर अधिकार स्थापित करना कठिन है तो २ जुलाई, १३०८ ई० को उसने एक वडी सेना किले को फतह करने के लिए भेजी।

इस सेना ने किले को चारो ओर से घेर लिया। शाही सेना के दक्षिण पार्श्व को दुर्ग के पूर्व और पश्चिम की ओर लगा दिया गया और वाम पार्श्व को उत्तर की ओर स्थापित किया गया। इन दोनो पार्श्वों के मध्य भाग मे मलिक कमालुद्दीन रखा गया। राजपूत सैनिक भी किले की वुर्जो पर शत्रुओ का मुकावला करने को आ डटे। जव शत्रुओ ने मजनीको से प्रक्षेपास्त्रो की अविरल वौछार का ताँता वाँध दिया तो राजपूतो ने अपने तीरो, गोफनो तथा तेल से सने वस्त्रो मे आग लगाकर शत्रुदलो पर फेंकना आरम्भ किया। जव शाही सेना के कुछ दल किले की दीवारो पर चढने का प्रयास करते थे तो वीर राजपूत सैनिक उनके प्रयत्नो को अपनी युक्ति से असफल वना देते थे। वडे लम्बे समय तक खलजियो को राजपूतो के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के कोई चिह्न नही दिखायी दिये, क्योकि प्रत्येक क्षण राजपूत दृढता से दुर्ग की रक्षा मे लगे रहते थे। इस अवधि मे शत्रुओ को वडी क्षति उठानी पडी तथा उनके सेनानायक नाहरखाँ को भी अपने प्राण खोने पडे।

जव लगभग कई महीनो तक मुस्लिम फौजें किले को लेने मे असमर्थ हुई तो स्वय अलाउद्दीन एक वडी सेना लेकर सिवाना की ओर चल दिया। उसने किले की स्थिति जानने के लिए एक पासहिव का निर्माण करवाया और एक राजद्रोही भावले की सहायता से किले के कुण्ड को, जो दुर्ग के पानी का एक मात्र साधन था, गोरक्त से अपवित्र कर दिया। किले मे भी खाद्य सामग्री समाप्त हो चली थी। जव सर्वनाश निकट था तो राजपूत वीरागनाओ ने सतीव्रत द्वारा अपनी देह की आहुति दे डाली। किले के फाटक खोल दिये गये। वीर राजपूत केसरी वाना पहनकर शत्रुओ पर टूट पडे और एक-एक कर वीरोचित गति को प्राप्त हुए। सीतलदेव भी एक वीर योद्धा की भाँति अन्त तक लडकर मारा गया। कमालुद्दीन गुर्ग ने जव सीतलदेव का शव तथा मस्तक सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत किया तो उसके हाथी जैसे शरीर को देखकर उसे वडा आश्चर्य हुआ। अमीर खुसरो ने भी इस अवसर पर समरागण मे जूझने वाले

राजपूतो की मुक्त कण्ठ मे प्रशसा की है। सुल्तान ने इस घटना के बाद सिवाना दुर्ग का अधिकार कमालुद्दीन गुर्ग को सौंपा और उसका नाम खैराबाद रखा गया।[31]

जब खलजियो की शक्ति अलाउद्दीन की मृत्यु के पीछे निर्बल हो गयी तो रावल मल्लीनाथ के भाई राठौड जैतमल ने इस दुर्ग पर कब्जा कर लिया और कई पुश्तो तक जैतमलोतो की इस पर प्रभुता बनी रही। जब मारवाड का शासक मालदेव बना तो उसने अपनी शक्ति को सगठित करने के लिए किले को अपने अधिकार मे कर लिया। इसी किले मे अफगानो से मुकाबला करने के लिए राव मालदेव ने युद्धोपयोगी सामग्री को जुटाया था।[32] अकबर के समय मे राव चन्द्रसेन ने सिवाना मे रहकर बहुत समय तक मुगल सेनाओ का मुकाबला किया था।[33] परन्तु अन्त मे सिवाना को छोडकर चन्द्रसेन को छप्पन के पहाडो मे अन्यत्र जाना पडा। अकबर ने अपने पोषितो के दल को बढाने के लिए इस किले को चन्द्रसेन के एक भतीजे कल्ला रायमलोत को दे दिया। जब मोटा राजा उदयसिंह मारवाड का राजा हुआ तो उसने वहाँ के कुछ नाई और छीपो को अपनी ओर मिलाकर कल्ला से किला छीन लिया।

जब मारवाड मे जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात फिर स्वतन्त्रता सग्राम की विभीषिका बजी तो सिवाना के सम्बन्ध मे फिर अभियानो की योजनाएँ बनायी गयी, जिसके फलस्वरूप मुगल फौजो ने इस किले पर अपना अधिकार कर लिया और उसे सुजानसिंह राठौड के हाथ सुपुर्द कर दिया। फिर भी मारवाड मे मुगल-राठौड सघर्ष समाप्त नही हुआ। अन्त मे जब राठौड दुर्गादास और अजीतसिंह के प्रयत्नो से मुगल-राठौड युद्ध की समाप्ति हुई तब महाराजा अजीतसिंह ने सुजानसिंह के बेटो से किला फिर छीन लिया। मारवाड की शक्ति के इतिहास से सिवाना के शौर्य की कहानी जुडी हुई है। इस प्रकार युगयुगान्तर का यह किला खण्डहर के रूप मे हमारे बीच मे है। इसमे कल्ला रायमलोत का थडा और पहाड की चढाई पर महाराजा अजीतसिंहजी का बनवाया हुआ दरवाजा, कोट, महलात आदि विद्यमान हैं। यहाँ हल्देश्वर महादेव का मन्दिर दर्शनीय है। आज हम इन मध्ययुगीन प्रतीको को देखकर उस युग के स्थापत्य तथा सैनिक व्यवस्था का अध्ययन कर सकते हैं। आज भी हम उसके पुराने खण्डहरो मे उस युग के वैभव, शौर्य तथा स्वातन्त्र्य प्रेम की आत्मा को छिपी हुई पाते हैं, जिसका स्मरण करने से हमारे हृदय मे राजस्थान के वास्तविक रूप का साक्षात्कार होता है।

(६) कुम्भलगढ

कुम्भलगढ मेवाड का सबसे बडा और सुदृढ दुर्ग है जिसको महाराणा कुम्भा ने मण्डन नामी शिल्पी के तत्त्वावधान मे स० १४९५ से स० १५१५ की अवधि मे

---

[31] खजाइन फुतूह, अनुवाद (प्रो० हबीब), पृ० ५३ व ३०७

[32] रेऊ, मारवाड का इतिहास, भाग १, पृ० १४३

[33] अकबरनामा, भाग ३, पृ० ८०-८१

बनाया था। पहाड़ी किला होने से उसे कुम्भलमेरु या कुम्भलमेर भी कहते हैं। चित्तौड के किले से यह दुर्ग विलक्षण ढग से बना हुआ है। जहाँ चित्तौड का किला एक पहाड के चौडे भाग पर बनाया गया है और चारो ओर मैदानी भाग से घिरा हुआ है, कुम्भलगढ का किला कई छोटी-मोटी पहाडियो को मिलाकर बनाया गया है। कुम्भलगढ की प्रशस्ति मे इन छोटी-मोटी पहाडियो के नाम नील, श्वेत, हेमकूट, निषाद, हिमवत्, गन्धमदन आदि दिये है। इसके अतिरिक्त इसके चारो ओर पहाड और घाटियाँ है, जिससे दूर से किला नही दिखायी देता और फिर भी समुद्री सतह से ३,५६८ फुट ऊँचे धरातल पर है। यह उदयपुर से ६० मील दूर तथा २५ ९ अक्षान्तर एव ७३ ३५ देशान्तर पर स्थित है।[३४]

वैसे तो इस किले का व्यवस्थिति रूप से निर्माण कुम्भा ने करवाया था, परन्तु ऐसी मान्यता है कि प्रारम्भ मे एक जैन राजा सम्प्रति (तीसरी शताब्दी ईसा) ने इसको बनवाया था। यहाँ के खण्डहरो से मिलने वाले मन्दिरो के अवशेष इसकी प्राचीनता प्रमाणित करते है। मारवाड और मेवाड की सीमा पर इसको बनाकर महाराणा ने इसके सैनिक महत्त्व को बहुत बढा दिया। साथ ही साथ पहाडी भू-भाग से घिरा होने से समय-समय पर इसमे राजपरिवार सुरक्षित रहा। अकबर के समय से लगाकर औरगजेब के काल के आक्रमणो मे मेवाड के राजपरिवार और आसपास की प्रजा और पशुओ ने यही सुरक्षा प्राप्त की थी। इस दुर्ग का उपयोग सैनिक सुरक्षा तथा निवास दोनो अभिप्रायो को लेकर है, जो इसके स्थापत्य से स्पष्ट है।[३५]

इस दुर्ग पर जाने के लिए केलवाडा नामक कस्बे से पश्चिम की ओर से टेढी-मेढी सडक जाती है, जो लगभग ७०० मील एक नाल पार कर 'आरटेपोल' पहुँचाती है। यह पोल दुर्ग की पोल न होकर आसपास के पहाडी घेराव का मुख्य द्वार है। यहाँ से एक मील आगे बढने पर एक दूसरा द्वार आता है जिसे 'हल्ला पोल' कहते हैं। यह भी दुर्ग की सुरक्षा के लिए पहाडी भाग मे रुकावट का द्वार है। इन दोनो द्वारो के पार करने पर किले का पूर्वी भाग स्पष्ट दिखायी देता है। यहाँ से आगे चलने पर 'हनुमान पोल' पहुँचते है, जो मुख्य दुर्ग का प्रमुख फाटक है। इसी के बाहर माण्डव्यपुर से लायी गयी हनुमान की मूर्ति स्थापित है, जिसका उल्लेख कीर्ति-स्तम्भ की प्रशस्ति मे है। ये मूर्ति कुम्भा के माण्डव्यपुर विजय की प्रतीक है, जिसके चरण चौकी पर स० १५१५ फाल्गुन मास का लेख खुदा हुआ है।

दुर्ग के चारो ओर सुदृढ प्राचीर बना हुआ है जिससे दुर्ग द्वार के अतिरिक्त कही से प्रवेश नही किया जा सकता। दुर्ग का प्राचीर ऊँची-नीची चट्टानो पर बना

---

[३४] कुम्भलगढ लेख, श्लो० १३०-१४३, आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भा० २२, प्लेट न० २१, अमरकाव्य, पत्र २६

[३५] नैणसी की ख्यात, पत्र ५, वीरविनोद, भा० १, पृ० ३३४, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ७१-७२

हुआ है और जिसके आसपास नीची खाइयाँ और गहरे खड्डे है। प्राचीर की दीवारें इस प्रकार बनी हुई है कि उन पर किसी साधन से चढना कठिन है। जगह-जगह सुदृढ बुर्जे बना दी गयी है। सम्पूर्ण दीवार कई मीलो तक दुर्ग को चारो ओर से घेरे हुए है। ये सारी दीवार इतनी चौडी है कि चार घुडसवार एक साथ इस पर चल सकते है।

दुग के चौरस भाग मे अपने ढग के कुछ स्थापत्य के नमूने है जो जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे है। यहाँ एक नीलकण्ठ महादेव का मन्दिर है जो चारो ओर से बरामदो से घिरा हुआ है। ऐसे बरामदे वाला मन्दिर पहली बार देखकर कर्नल टॉड ने अनुमान लगाया कि यह यूनानी शैली का है। इस धारणा का उपयोग उसने राजपूतो को विदेशी मानने के मत मे किया। परन्तु वास्तव मे यह कोई यूनानी शैली का मन्दिर नही है। यह साधारण रूप की नगर शैली है।

यहाँ का दूसरा उल्लेखनीय प्रतीक 'वेदी' है। महाराणा कुम्भा ने, जो शिल्पशास्त्र का अच्छा ज्ञाता था और मण्डन, जइता, पूंजा, नापा आदि जिसके अच्छे शिल्पी थे, शास्त्रोक्त विधि से 'वेदी' का निर्माण करवाया तथा इस दुर्ग की प्रतिष्ठा का यज्ञ भी यही हुआ। वेदी अपने आप एक दुमजिला भवन है जिसके ऊंचे गुम्वज के नीचे के भाग से धुआँ निकलने के लिए चारो ओर भाग है और साथ ही साथ होताओ के तथा दर्शको के बैठने की अच्छी व्यवस्था है। राजस्थान मे इस प्रकार की वेदी कुम्भलगढ मे ही प्राचीन यज्ञ की स्मृति मे अवशेप के रूप मे बची है। परन्तु खेद है कि इस यज्ञस्थान के खम्भो आदि को इस प्रकार दीवार से बन्द कर दिया गया है और उसमे नये ढग के ऐसे किवाड लगा दिये गये है कि उसका रूपान्तर हो गया है और आने-जाने वाले शिष्ट दर्शको के लिए इसका प्रयोग डाक बँगले के रूप मे किया जाने लगा है। अच्छा तो यह हो कि दीवारो और किवाडो को हटाकर उसे पुन अपने प्राचीन प्रतीक के रूप मे कर दिया जाय।

नीचे वाले भाग मे कुछ छोटे-छोट जलाशय बना दिये गये हैं और उनका सम्बन्ध भी नालियो से ऐसा जोड दिया गया है कि एक का पानी दूसरे मे पहुँचाया जा सके। स्थानीय कृपि के लिए इन जलाशयो का उपयोग होता था, जिससे कि दुग आक्रमण की अवस्था मे भी आत्म-निर्भर हो सके। इस नीचे वाली भूमि मे कई खेत, कुएँ आदि भी है और ऊपर-नीचे दुर्ग के निवासियो के घरो के खण्डहर भी हैं। इस भाग मे झाली बाव और मामादेव का कुण्ड भी हैं। इस कुण्ड पर महाराणा कुम्भा की हत्या उसके ज्येष्ठ पुत्र ऊदा ने की थी। इसी कुण्ड के निकट महाराणा ने मामावट के स्थान पर कुम्भ स्वामी का विष्णु मन्दिर बनवाया था जो जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे है। इस मन्दिर के खण्डहर के बाहरी भाग से कई प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जो विष्णु, पृथ्वी, कुबेर, पृथ्वीराज, महालक्ष्मी, महिप-मर्दिनी आदि की हैं। इन मूर्तियो मे से

अधिकाश उदयपुर के सग्रहालय मे सुरक्षित है। इस मूर्तियो के नीचे देवियो और देवताओ के नाम तथा कही-कही समय भी अकित है। कई मूर्तियो पर मामावट, आस्मिन्वट, मालुणवट आदि शब्द भी खुदे हैं जो स्थान विशेष के द्योतक है, न कि वट वृक्ष के, जैसा अनुमान लगाया जाता है। ये विष्णु मन्दिर का स्थान मामादेव के मन्दिर से विख्यात हैं। इसके अवशेषो से विदित होता है कि इसमे ३०×३० फुट का खुला वरामदा था जो साढे पाँच फुट चौडा था। इसमे १६ खम्भे लगे थे। भीतरी भाग के चवूतरे पर प्रतिमा का होना पाया जाता है तथा मध्यवर्ती भाग पर लघुवेदी। इसी वेदी के आधार पर सम्भवत श्री देवदत्त भण्डारकर ने इसको चौमुखा जैन मन्दिर मान लिया, जो भ्रम-मात्र है। सवसे उपयोगी भाग जो इस मन्दिर से सम्वन्धित है वह कुम्भलगढ की प्रशस्ति है। इसकी कुछ पट्टिकाएँ उदयपुर सग्रहालय मे है और एक अप्राप्य शिला (तृतीय) का प्रकाशन एक प्राचीन प्रति के आधार पर मैंने किया है। उदयपुर राजवश के इतिहास के लिए तथा पन्द्रहवी शताब्दी के जनजीवन के लिए ये प्रशस्ति वडे महत्त्व की है।[३६]

इसी के पास कुँवर पृथ्वीराज का स्मारक[३७] है जो दुर्ग के पिछले भाग से प्रविष्ट होकर यहाँ पहुँचते-पहुँचते मृत्यु को प्राप्त हुआ था। जिस स्थान मे उनका दाह सस्कार हुआ था वह स्थान अव भी एक पहाडी के ढाल पर विद्यमान है। यहाँ एक छत्री वनी हुई है जिसमे कई सीढियाँ लगी हुई है। छत्री १२ स्तम्भो पर आधारित है।[३८] स्तम्भ भारतीय पद्धति से[३९] वने हुए हैं। छत्री के वाहरी भाग मे सीधी रेखा[४०] के पत्थर लगे हुए है। भीतर अष्ट कोण वनाते हुए किनारे पर पत्थर लगे हुए हैं। चारो ओर लगभग तीन फुट की ऊँचाई पर खुले वरामदे[४१] वैठने योग्य वने है, जिनके चारो ओर पखडी के घुमाव के ढग[४२] के पत्थर लगे हुए है। भीतर वृत्ताकार शिखर, वडे आकार से छोटा होता हुआ चला गया है।

---

३६ एकलिंग महात्म्य, राजवश वर्णन, श्लो० १९२-१९८, आ० स० रिपोर्ट इण्डिया, वर्ष १९०९, पृ० ३६-३७, टॉड, एनल्स, भा० १, पृ० ६७२

३७ द्रष्टव्य मेरी पुस्तक 'ऐतिहासिक निवन्ध राजस्थान', पृ० ४५-५१

३८ टॉड, राजस्थान, जि० २, पृ० ३४८, वीरविनोद, भाग १, पृ० ३५१, हरविलास सारदा, महाराणा सागा, पृ० ४२-४३, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ३४१-४२

३९ कुम्भा के समय के वेदी के खम्भो के ये खम्भे छोटे रूप है।

४० चित्तौड के कुम्भश्याम के मन्दिर के वाहरी भाग, गरुड की छत्री मे ऐसी शैली है।

४१ कुम्भलगढ के वेदी के वरामदे का यह छोटा रूप है। पीछे कई छत्रीयो मे ऐसे वरामदे पाये जाते हैं।

४२ कुम्भा के महल मे, जो कुम्भलगढ मे वने हुए हैं, पखडी के घुमाव की शैली के झरोखे व गोखडे वने देखे जाते हैं। फिर चित्तौड के महलो मे व डूंगरपुर के पुराने महलो मे यह शैली स्पष्ट दिखायी देती है।

छत्री के बीच मे लगभग तीन फुट ऊँचा, डेढ फुट चारो ओर से चौडा और ऊपर से नुकीला एक स्मारक स्तम्भ लगा हुआ है, जिसमे चारो ओर सत्रह[४३] स्त्रियो की मूर्तियाँ तथा उनके बीच मे चारो तरफ पृथ्वीराज की मूर्तियाँ इस स्तम्भ के बीच वाले भागो मे खोदी गयी है। यह स्मारक-स्तम्भ पन्द्रहवी शताब्दी की वेशभूषा व सामाजिक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डालता है।

प्रवेश-द्वार के सामने वाले स्मारक स्तम्भ की पहलू पर चार स्त्रियो की मूर्तियाँ व बीच मे पृथ्वीराज की घोडे पर सशस्त्र मूर्ति बनी हुई है। पृथ्वीराज के लम्बी दाढी व मूछें है, जो तिकोने आकार मे नीचे तक चली गयी हैं। मालूम होता है कि पृथ्वीराज की मरते समय बडी आयु हो चली थी। इस समय तक प्रतीत होता है कि दाढी रखने की प्रथा परिपुष्ट हो चुकी थी और राजपरिवार मे लम्बी दाढी[४४] रखने का रिवाज चल पडा था।

पृथ्वीराज के आभूषणो मे सादी कण्ठी, भुजबन्द और कडे मुख्य है। इनके हाथ मे लम्बी तलवार दिखायी गयी है। सिर पर गोल आकार की पगडी हैं जैसी कि बीकानेर तथा मारवाड मे लोग बाँधा करते हैं। अधोवस्त्र मे धोती और उसके साथ अँगोछा कमर मे बँधा हुआ है जिसके पल्ले नीचे तक लटकते है। ऊपरीय शरीर पर वस्त्रो का अभाव है।

स्त्री वेश मे कण्ठी व गोल बडे कुण्डल[४५], कडे, लगर व चूडा मुख्य है। तीन लडी का कन्दोरा बडा भव्य दिखायी देता है। अधोवस्त्र जघा तक लटकने वाले

---

४३ डा० ओझाजी ने इनके साथ सती होने वाली स्त्रियो की सख्या १६ (उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ३४२) बतायी है। परन्तु स्तम्भ के चारो ओर स्त्री-मूर्तियाँ १७ हैं। तीसरे पहलू के लेख मे स्त्रियो के जो नाम दिये गये हैं, उनमे एक नाम विशेष मिलता है और मूर्तियाँ भी १७ स्त्रियो की है। ऐसी दशा मे एक विशेष स्त्री का सती होना स्पष्ट है। टेवर्नियर के वर्णन से भी साफ है कि अपनी स्त्रियो के अतिरिक्त अन्य दासियाँ भी सती होती थी। सम्भवत कोई उपस्त्री या दासी भी इनके साथ सती हुई हो। इस तरह कुल १७ स्त्रियो का वहाँ सती होना पाया जाता है।

४४ राजपूताना के इतिहास मे ओझाजी लिखते है कि वि० स० १४०० के आस पास तक राजपूत राजाओ और सरदारो की कई खडी मूर्तियो पर नीचे की तरफ लटकती हुई दाढी मिली है तथा राजपूताना म्यूजियम मे १३८९ वि० की ऐसी मूर्ति सुरक्षित है (ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग, १, पृ० ४५७-५८)। पृथ्वीराज की यह दाढी वाली मूर्ति भी अपने ढग की विलक्षण है, क्योकि सम्भवत राजपरिवार मे दाढी वाली मूर्ति यह अपने ढग की एक ही है। डा० ओझा के अनुसार महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय ने (वि० स० १७६७) गलमुच्छो वाली खसखसी दाढी (ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ४५८) रखवायी।

४५ ये कुण्डल वैसे ही हैं जैसे कुम्भा के विजय स्तम्भ की कई स्त्री मूर्तियो मे है।

आभूषणो से सुशोभित हैं। इन मूर्तियो मे कचुकी स्तनो तक व भुजा तक बनायी गयी है परन्तु साडी का पूरा अभाव है। १४७६ ई० के कल्पसूत्र[४६] मे भी इसी प्रकार की कचुकी व साडी का अभाव दिखायी देता है, जो उस समय राजस्थानी पहिनावे का द्योतक है। स्त्रियो के बाल सादे ढग से बताये गये हैं।

स्तम्भ के दूसरे पहलू मे चार रानियाँ और बीच मे पृथ्वीराज बताये गये हैं। पृथ्वीराज शकर की ऊँची जटाधारी वाले लिंग की पूजा करते हुए दिखाये गये हैं, जिससे स्पष्ट है कि प्राचीन गुहिलवशीय राजाओ की भाँति ये शैव मतावलम्वी थे। ये मूर्तियाँ आकार व प्रकार से वैसे ही दिखायी देती हैं जैसी नीलकण्ठ की मूर्ति कुम्भलगढ मे विद्यमान है।

तीसरे पहलू मे पाँच रानियाँ और पलग पर लेटे हुए पृथ्वीराज को बताया गया है। यहाँ कुँवर के मस्तक पर नुकीला टोप व अधोवस्त्र बताये गये हैं, जो एक योद्धा के वेश के द्योतक है। पलग के पाये तिरछे है और इन पायो से पलग के ऊपरी भाग आगे बढे हुए दिखायी देते है। आहड की छत्रियो व मन्दिरो मे तथा राजनगर[४७] की खुदाई के पलगो से इसकी आकृति अपने ढग की निराली हैं। लेटे हुए वीर की लम्बाई भी अधिक मालूम होती है। जिसमे पृथ्वीराज डील-डौल से लम्बे व मोटे दिखायी देते हैं। दो स्त्रियो के हाथ मे चौरस आकार के पखे दिखाये गये हैं। इन स्त्रियो के चेहरे से भक्तिभाव टपकता है। पलग के नीचे मध्य मे जलपात्र भी रखा हुआ है। पात्र के देखने से उस समय के पात्रो के आकार का अनुमान लगाया जा सकता हैं। चित्तौड के विजय स्तम्भ के पलगो के नीचे भी इसी प्रकार के जलपात्र दिखाये गये हैं।

चौथे पहलू मे पृथ्वीराज फिर चार स्त्रियो के साथ छोटी तलवार व ढाल लिये बताये गये हैं। इनमे गोल आकार की पगडी लहरदार बनायी गयी है। इसमे कुँवर कच्छ पहने हुए बताये गये है। रानियाँ हाथ जोडे हुए शान्तभाव से दिखायी गयी है जो सतीत्व की भक्तिभाव प्रदर्शन की प्रतिमाएँ हैं।

इस छत्री मे दाहिनी बाजू वाले पहले खम्भे पर लेख खुदा हुआ है जो अस्पष्ट हैं। परन्तु लिपि के देखने से स्पष्ट है कि यह लेख पीछे से किसी ने अपने स्वार्थ की पुष्टि के लिए यहाँ उत्कीर्ण किया हो। बायी ओर के दूसरे खम्भे पर तत्कालीन लिपि मे लेख है—'श्री घणप पना' जो इस छत्री के बनाने वाला सूत्रधार हो सकता है।

---

४६ डा० जी० एन० शर्मा, सोसाइटी इन वेस्टर्न इण्डिया एज रिफ्लेक्टेड इन कल्प-सूत्र, जरनल ऑफ इण्डियन म्यूजियम, भाग १२, १९५६, पृ० ६६-७१

४७ डा० गोपीनाथ शर्मा, राजसमुद्र और सस्कृति, 'शोधपत्रिका', मार्च १९५८

स्मारक-स्तम्भ पर मूर्तियो के ऊपर प्रत्येक मूर्ति का नाम अंकित है और इसी तरह घोडे का भी नाम अंकित मिलता है, जो इस प्रकार है

पहली पहलू (ऊपर की ओर) — वा०[४८]पना, (१) वा० रणदे (२) पृथ्वीराज वाजानी (३)
(चौथी रानी का नाम अन्त मे खण्डित है) (४)

(नीचे की ओर) — घोडो साहण[४९] दीवा

दूसरी पहलू (ऊपर की ओर) — वा० हीरू (५) वा० दाना (६) श्री पृथ्वीराज—
वा० से उलदे (७) वा० मलारदे (८)

तीसरी पहलू (ऊपर की ओर) — वा० श्री सूमो (९) वा० रायलदे (१०) वा० जेवता (११)
वा० ह (१२) वा० रोहण स (१३)

चौथी पहलू (ऊपर की ओर) — वा० नास (१४) (वा० श्री तारा) वाई (१५) श्री पृथ्वीराज—
वा० भगवती (१६) वा० व—ला (१७)

ये सभी नाम[५०] देवनागरी मे है, परन्तु अक्षरो की वनावट चतुष्कोणाकार है, जो उस समय की लिपि की विशेपता थी।

छत्री पर एक गोलाकार गुम्वज है जो प्रारम्भ मे लगभग दो फुट ऊँचे गोल आधार पर वनाया गया है। यह गुम्वज १५वी शताव्दी के राजपूत शैली के गुम्वजो की शैली का है। गुम्वज अर्द्ध-भाग समाप्त करने पर नुकीला वनता दिखायी देता है। ऊपर के शिखर पर गोलाकार विना काम वाला एक पत्थर लगा हुआ है। आकार-प्रकार से गुम्वज की वनावट कुम्भा के समय के गुम्वजो-सी है, जो गुम्वज कुम्भा के राज-प्रसादो के गवाक्षो और मन्दिरो के शिखरो पर अव भी चित्तौड और कुम्भलगढ मे देखे

---

[४८] वा० वाई का द्योतक है।

[४९] 'साहण' घोडे का नाम है जो पृथ्वीराज का निजी घोडा रहा हो। 'दीवो' शब्द से स्पष्ट है कि वह घोडा पृथ्वीराज के मरने पर पुण्यार्थ दे दिया गया हो। मेवाड के राजाओ के तथा राजकुमारो के मरने पर उनका घोडा या घोडे एकलिंगजी को भेंट किये जाते थे।

[५०] कही-कही ये नाम अस्पष्ट है जिनके पढने मे पाठ-भेद हो सकता है।

जाते है। इस गुम्वज के वनाने मे ईंट-पत्थर के टुकडे काम मे लिये गये हैं, जिस पर चूने का 'प्लास्टर' कर दिया गया है। ये 'प्लास्टर' अब ऊपर से काई जमने से काला हो गया है। परन्तु इनके भीतरी भाग मे प्रारम्भिक लाल रग[५१] स्पष्ट झलकता है।

इस गढ की दूसरी विशेषता यह है कि इसके अन्दर एक और गढ इसके सवसे ऊँचे भाग पर स्थित है, जिसे सीधी ऊँचाई के कारण कटारगढ कहते हैं। यह गढ भी द्वारो, प्राचीरो आदि से सुरक्षित है। इसमे राजप्रासाद के भवन वने हुए हैं। इस भीतरी दुर्ग मे प्रवेश होने के पहले देवी का मन्दिर है। चित्तौड दुर्ग मे भी राज-पथ पर तुलजा माता का मन्दिर है। ऐसी परम्परा थी कि दुर्ग से अभियान के अवसर पर महाराणा अपनी आराध्य देवी से आज्ञा लेकर आगे वढते थे या जव विजय से लौटते थे तो इस देवी के दर्शन कर अपने महलो मे प्रवेश करते थे। इस दुर्ग के टेढे-मेडे रास्ते को जोडने वाली कई पोलें हैं जिन्हे विजय पोल, भैरव पोल, नीबू पोल, चौगान पोल, पागडा पोल और गणेश पोल कहते हैं। इन द्वारो को पार करने पर एक वडा-सा दालान आता है जिसके दायी और वायी ओर कई राजप्रासाद वने हुए थे। एक तरफ के राजप्रासाद तो वैसे खण्डहरो की दशा मे देखे जा सकते है, परन्तु दूसरी तरफ के राजप्रासादो को तुडवाकर स्वर्गीय महाराणा फतहसिंह ने नये भव्य महलो को वनवा दिया। परन्तु खेद है कि इन भव्य महलो ने प्राचीन स्थिति की आत्मा को समाप्त कर दिया। यदि सभी खण्डहर वर्तमान खण्डहरो की भाँति वने रहते तो राजप्रासादो के ढाँचे का व्यवस्थित अध्ययन हो सकता था। फिर भी वाकी वचे खण्डहरो से प्रतीत होता है कि महाराणा कुम्भा ने दुर्ग मे खाद्यान्न तथा युद्धोपयोगी सामग्री को इकट्ठा करने के लिए वडे-वडे गोदाम वना रखे थे। उनके घोडो के अस्तवल तथा हाथियो के वाडे भी राजप्रासाद की सीमा मे थे। जहाँ तक उनके रहने के महलो का प्रश्न था, उनमे छोटी-छोटी कोठरियाँ, तग वरामदे और सँकरा चौक आदि पर्याप्त माने जाते थे। महाराणा का निजी कमरा सवसे ऊपरी भाग मे स्थित है जिसकी भीतरी छत पर चित्र वने हुए हैं, जो स्पष्ट रूप से नही देखे जा सकते। केवल इसमे छोटे गवाक्ष हैं और द्वार भी एक आदमी की लम्वाई से कुछ छोटा है। इतने वडे पैमाने पर दुर्गो, मन्दिरो और स्तम्भो के निर्माण करने वाला व्यक्ति ऐसे साधारण कमरो मे रहकर जीवन विताये, यह एक श्लाघनीय वात है। कुम्भा ने निजी सुविधा पर कम से कम खर्च कर जनजीवन सम्वन्धी कार्यों मे अपार धनराशि खर्च की, यह एक महान त्याग का उदाहरण है।

---

५१ उस समय सजावट के लिए प्लास्टर के चूने का रग लाल होता था। कुम्भलगढ के पुराने महलो मे जहाँ यह चूना सुरक्षित रूप से लगा हुआ है, लाल दिखायी देता है। साधारण काम के लिए सफेद प्लास्टर का चूना भी प्रयोग में आता था, जैसा उस समय के मकानो व अन्य महलो में देखा जाता है

कर्नल टॉड ने कुम्भलगढ की तुलना सुदृढ प्राचीरो, बुर्जो, कगूरो के विचार से एट्रस्कन से की है और उसका अच्छा वर्णन दिया है। सारदा ने इस दुर्ग को कुम्भा की सैनिक और रचनात्मक मेधा का एक महान मूर्तरूप प्रतीक बताया है जो सैनिक सुरक्षा और ऐतिहासिक ख्याति मे अद्वितीय है। हमने भी इसे उस नरेन्द्र की सामरिक और रचनात्मक गुणो की उपलब्धि कहा है। आज भी इसका सामरिक स्थापत्य अपनी अभेद्य स्थिति की दुहाई दे रहा है। हम अनेक प्रसगो मे पढ चुके हैं कि किस प्रकार इस सुदृढ दुर्ग ने मुगलो के कई बार दाँत खट्टे कर दिये थे जिसका यहाँ दोहराना आवश्यक नही है।[५२]

(७) आमेर

जनश्रुति के अनुसार यह नगर अम्बरीश के तप का स्थान होने से आमेर कहा जाने लगा। ख्यातो के अनुसार काकिल ने, जो अम्बा का भक्त था, इसे बसाकर अम्बा शब्द से इसका नाम आमेर रखा। अम्बिका अधिष्ठाता होने से भी इसका नाम आमेर रहा हो। प्राचीन ग्रन्थो मे इसका नाम आम्रदाद्रि मिलता है, जो सम्भवत इस भाग का आम के वृक्षो से छाया हुआ होना प्रमाणित करता है। आम्रदाद्रि पीछे से, आमेर रूप मे बदल गया हो। किसी भी कारण से इसका नाम आमेर रहा हो, मुक्तक सग्रह से यह प्रमाणित है कि यहाँ जैन-समाज अधिक सख्या मे निवास करता था और जिसकी आजीविका का मुख्य साधन व्यापार था। स० १०२४ के पूर्व भी आमेर उन्नत दशा मे था। बताया जाता है कि १०वी शताब्दी के आसपास दुल्हाराय कछवाहा इस ओर आया और मीणो को परास्त कर उसने यहाँ अपना राज्य स्थापित किया। उसके उत्तराधिकारी आमेर को अपनी राजधानी मानकर इसके आसपास की भूमि को अपने अधिकार मे करते रहे। धीरे-धीरे इसमे गढ, परकोटा, बुर्जें, मन्दिर, राजप्रासाद, जलाशय, बाजार आदि का निर्माण होता रहा और फिर इसकी ख्याति एक समृद्ध कस्बे के रूप मे हो गयी। मुगलो के जमाने मे गुजरात, अजमेर, मालवा जाने के मार्गो के निकट आमेर के आ जाने से इसका और अधिक महत्त्व बढ गया।

आमेर के राजप्रासाद—आमेर का सबसे रोचक और विस्तारित भाग यहाँ के राजप्रासाद हैं जो स्थानीय शिल्प को आधार बनाकर मुगल अलकरण से सजे हुए

---

५२ "It has a massive wall, with numerous towers and pierced battlements, having a strong resemblance to the Etruscan "

—Tod, *Annals*, Vol I, p 670

"The highest monument of Kumbha's military and constructive genius, however, is the wonderful fortress of Kumbhalgarh, second to none in strategical importance or historical renown "

—Sarda, *Maharana Kumbha*, p 125

"It was the biggest monument of that ruler s military and constructive genius "

—G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 71

हैं । इन राजप्रासादो पर पहुँचने के लिए पुराने जमाने मे एक पगडण्डी बनी हुई थी जिसको विस्तारित कर आने-जाने के योग्य मार्ग के रूप मे बना दी गयी । दूसरा कम चढाई वाला भी रास्ता इसी के पास होकर जाता है, जो मुगल काल मे बनाया गया था, जबकि यहाँ के नरेशो के पास हाथी, घोडे, रथ आदि का बडा लवाजमा रहता था । इस प्रकार के लवाजमे के ऊपर जाने और नीचे आने का रास्ता कम ढालू है । ऊपर पहाडी पर दक्षिण से पूर्व तक फैले हुए राजप्रासाद है जिनको चारो ओर से बडी सुदृढ दीवारो से सुरक्षित कर दिया गया है । इस किले के दोनो ओर बिलग पहाडियो की कलार आ जाने से इसकी सुरक्षा सहज मे ही हो जाती है । ऊपर से इसे चारो ओर से बन्द कर नीचे आने वाले शत्रुओ को बडी सरलता से मारा जा सकता है, परन्तु नीचे वाले शत्रु तग भाग मे आ जाने के कारण ऊपर तक अस्त्रो का प्रयोग सरलता से नही कर सकते । पहाड का ढाल इतना अधिक है कि भारी तोपो को ऊपर तक बुर्जो पर वार करने के लिए आसानी से नही पहुँचाया जा सकता । पूर्वी भाग मे सरोवर प्राकृतिक खाई का काम करता है । इसी के पास दलाराम बाग है जो फव्वारो, तिवारो छतरियो और बँगलो से सुसज्जित है । इसकी बनावट और भवनो की सजावट मुगल शैली पर है । भवनो की मेहरावें व छज्जे बगाली काट के हैं, जो काट सम्भवत मानसिंह के काल से यहाँ प्रयोग मे आने लगा हो । दक्षिणी तिवारे से पास वाहर खुले कुछ सतियो के स्मारक हैं । पास ही हम्याम के कमरे फिर से मुगल जीवन की गति-विधि का स्मरण कराते हैं ।

परन्तु जब हम आमेर दुर्ग पर जाते हैं तो उसका सम्पूर्ण ढाँचा हिन्दू राजभवन की शैली पर है । मुख्य द्वार के आने वाला आँगन, जो जलेब चौक कहलाता है, घोडे, हाथी, फौज, सैनिक आदि के निरीक्षण का स्थान है, जिन्हें यहाँ के नरेश प्रतिदिन किसी न किसी रूप मे देख लिया करते थे । घोडो की दौड का स्थान होने से इसे जलेब चौक की सज्ञा दी गयी है । ऊपर के दालान मे बैठकर नीचे आयोजित घोडे, हाथी की दौड और उनकी चाल का निरीक्षण किया जा सकता था और दशहरा, होली आदि पर्वो पर इनका पूजन भी किया जाता था । उदयपुर के चौक का भी ढाँचा इसी प्रकार का बना हुआ है, जो राजपूत शैली के अनुकूल है ।

फिर सीढियाँ चढकर हम दूसरे मुख्य द्वार पर जाते है जो सिंहपोल कहलाती है । द्वार का निर्माण हिन्दू प्रणाली के अनुरूप है, परन्तु बाहर उत्तर मुगलकालीन ढग की चित्रकला के अवशेष दिखायी देते हैं । इसके प्रवेश के बाद एक चौक और आता है जिसमे विशेष अधिकार के लोग पहुँचा करते थे और उत्सव पर यहाँ जमा होते थे । पीछे से इस चौक के एक कोने पर लाल खम्भो का एक खुला भवन बना दिया गया जिसे 'दीवाने आम' कहते हैं । इसमे पुराने व नये खम्भो का सम्मिश्रण है तथा छत भी पट्टियो वाली और मेहराब वाली बनी हुई हैं । भवन के खम्भो को 'डीगरियो' मे पाटा गया है और भारतीय पद्धति के अनुसार भवन की छत के भार [illegible] किया

गया है। छत को शरद् पूर्णिमा के अवसर पर आम दरीखाना लगाने हेतु प्रयोग किया जाता था। भवन का बाहरी दिखाव मुगल शैली का है, परन्तु पत्थर के दोहरे खम्भे, हाथियो की आकृतियाँ तथा छज्जो का प्रयोग स्थानीय है। इसका निर्माण-काल जयसिंह प्रथम के समय का आँका जाता है। इससे लगा हुआ कमरा 'मजलिस विलास' कहा जाता है जिसमे मुख्य मन्त्रियो या अधिकारियो की बैठक स्थानीय नरेश के साथ होती हो। इस सम्पूर्ण भवन मे हर प्रकार की एकरूपता नही दिखायी देती, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे समय-समय पर जीर्णोद्धार और परिवर्तन किये गये हो और प्राचीन दुर्ग का सामान इस नवनिर्मित भवन के निर्माण मे उपयोग मे लाया गया हो।

इसके बाद मुख्य चौक से अन्दर जाने के लिए कुछ छोटा, परन्तु मुख्य द्वार आता है जिसे गणेश पोल कहते हैं। इस पोल का प्रवेश और आसपास के भवन राजपूत शैली के हैं। पोल के ऊपर का दिखाव मेहराब वाला है, किन्तु उसमे प्रवेश करने के साधन और आसपास की छोटी-छोटी कोटडियो की बनावट स्थानीय है। इसमे प्रवेश करने के बाद भीतर एक विशाल चौक आता है। चौक के एक ओर 'शीशमहल' है जो आगरा फोर्ट के राजप्रासाद के ठीक अनुरूप दिखायी देता है। दूसरी ओर का सुख निवास राजपूत शैली का है। शीशमहल में चूने का बेल-बूटो का काम उभरे हुए ढग से किया गया है। इसी के साथ शीशो का मेल भी बिठाया गया है। भवन की बाहरी और भीतरी दीवारो पर उभरे हुए फूलो के गुलदस्ते बने हुए है और फूलो पर तितलियाँ बनायी गयी है। ये कला मुगल कला की साम्यता बताती है और किसी कदर आगरा, दिल्ली या सीकरी की कारीगरी से कम नही है। नीचे के शीश-महल के ऊपर जस मन्दिर है जिसमे भी शीशो की जडाई का काम है। ऊपर की छत भी शरद् पूर्णिमा की चाँदनी मे खासा दरबार लगाने के काम मे आती थी।

इसी तरह यहाँ दीवाने खास के दो बडे कमरे और आसपास दो छोटे कमरे है जिनमे छतो व दीवारो पर काँच का काम है। इसमे सुराहियाँ व बेल-पत्ती का काम बडा उत्कृष्ट है, जो फारस-कला के अनुरूप है। परन्तु शीशो पर राधाकृष्ण, गौएँ, कदली आदि की आकृतियाँ बनायी गयी हैं, जो विषय के चयन के विचार से सर्वथा भारतीय है।

गणेश पोल के ऊपर वाले भाग मे सुहाग मन्दिर तथा एक दालान और आस-पास दो छोटे कमरे हैं। दालान मे इस प्रकार की जालियाँ लगी हुई हैं कि ऊपर से स्त्रियाँ बाहर होने वाले उत्सवो को भलीभाँति देख सकती हैं, परन्तु बाहर के लोग उनको नही देख सकते। चौक के एक भाग मे प्राचीन आमेर के राजभवनो के भग्नावशेषो को देखा जा सकता है, जहाँ बालाबाई की पुरानी शाल आदि हैं। यही से आगे आने पर जयगढ से लगे हुए भवन बने हुए है। इन भवनो की विशेषता यह है कि इनमे छोटे-छोटे द्वार, खुले हुए तिवारे और उनके साथ दो-दो छोटे कमरे जुडे

हुए है। इन अलग-अलग भागो को सँकरे बन्द रास्तो से जोडा गया है। इन भवनो की छतें नीची हैं, जिन्हे सुरक्षा की दृष्टि से बनाया गया था। किवाडो पर राजपूत शैली के चित्र बने हुए है जो प्राचीन जयपुर कलम का रूप कहा जा सकता है। नीचे वाली बारादरी के आसपास अलग-अलग आवास बने हुए हैं जिन्हे रानियो के लिए बनाया गया था।

सुख निवास के पास भोजनशाला बतायी जाती है, जो ठीक नही। इसमे बरामदो के साथ छोटी-छोटी कोठरियाँ-सी बनी हुई हैं जो मर्दाना राजपरिवार के बैठने और मिलने के काम मे लायी जाती थी। इनमे दीवारो पर पौराणिक गाथाओ के श्याम कलम के चित्र भी राजपूत शैली मे बने हुए है। इसी के पास पानी की नाली लहरदार पत्थर के ऊपर बनी हुई है, जो ऐसा प्रतीत होता है कि ये आगरा फोर्ट के राजभवनो की नहर से उद्धृत की गयी हो।

यहाँ से फिर सिंहद्वार से उतरने पर दर्शक शीलादेवी के मन्दिर पर पहुँचता है। देवी की मूर्ति बगाल के केदार राजा को युद्ध मे परास्त कर मानसिंह यहाँ लाया था या शिला के रूप मे पडी हुई मूर्ति को पूजनार्थ यहाँ ले आया।

आमेरगढ और राजभवनो के अतिरिक्त यहाँ के प्राचीन मन्दिर और अन्य स्मारक दर्शनीय हैं। यहाँ का सबसे प्राचीन मन्दिर अम्बरीश का है जिसे अम्बकेश्वर का मन्दिर कहते हैं। इसके साथ छ छोटे-छोटे मन्दिर हैं। इनमे स्थापित चार मूर्तियाँ विक्रम की हैं जिनमे से एक शीतला माता के नाम से पूजी जाती है। यहाँ के वैष्णव मन्दिरो मे विशेष उल्लेखनीय कल्याणजी का मन्दिर है। जैन मन्दिरो मे कई प्राचीन मन्दिर है, जो टूटी-फूटी हालत में है या ऐसे मन्दिर है जिन्हे शिव मन्दिरो मे, जैन-हिन्दू वैमनस्य के समय, परिवर्तित कर दिया गया था।

यहाँ के विशाल मन्दिरो में जगत शिरोमणिजी का मन्दिर है जो १७वी शताब्दी की अच्छी कलाकृति है। यहाँ का तोरण उस समय की मूर्तिकला और तक्षण-कला का सुन्दर उदाहरण है। यह मन्दिर मानसिंह के समय मे जगतसिंह की स्मृति मे उसकी विधवा पत्नी के द्वारा बनवाया गया था। मन्दिर मे लगे हुए स्तम्भो पर देवी-देवताओ की आकृतियो से सजीवता टपकती है। इसमे तक्षण-कला के द्वारा उस समय के जीवन की झाँकी उपस्थित की गयी है, जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यहाँ के अन्य वैष्णव मन्दिरो मे नरसिंहजी का मन्दिर भी उल्लेखनीय हैं।

आमेर की अन्य स्मारक प्रतीको मे पन्नामिया का कुण्ड तथा अकबरकालीन मस्जिद है। शाहपुरा सडक पर स्थित यहाँ के राजाओ की छतरियाँ और एक-दूसरे मार्ग पर विष्णु का मन्दिर तथा यज्ञ-स्तम्भ सवाई जयसिंह की धार्मिक प्रवृत्ति की स्मृति दिलाते हैं।

फार्ग्यूसन[५३] ने आमेर के राजभवनो का चित्रण करते हुए ठीक कहा है कि वे ऐसे दीख पडते है कि सहसा वे घाटी से निकल पडे हो और फिर उनके विविध भाग नीचे अपनी परछाई फेंक रहे हो। परन्तु वही विद्वान लेखक[५४] यह अनुभव करता है कि आमेर के राजभवन ग्वालियर दुर्ग के राजभवनो के कक्ष मे तो रखे जा सकते है, परन्तु विशाल द्वारो, बुर्जो, दीवाने खास, दीवाने आम, बागात और फव्वारो से वे मुगल शैली के अधिक निकट है। ब्राउन[५५] भी जनाना भवनो को अकबरी कला मे दक्ष कारीगरो द्वारा बनाया हुआ मानते हुए यह लिखता है कि वे आगरा फोर्ट के भवनो से मिलते है। परन्तु हमारी[५६] राय मे इन कला के पारखियो ने इस बात की उपेक्षा की है कि आमेर के भवनो मे आधारभूत भारतीय शैली के तत्त्व छिपे हुए हैं, जिनमे चौक, बरामदो के साथ दो कमरो का होना, छोटे द्वार, चित्रित किवाड, तग ड्योढियां, मयूर, हाथी आदि की आकृतियाँ, रगीन शीशो पर पौराणिक दिखावा आदि प्रमुख है। दुग का सम्पूर्ण ढाँचा मण्डन के राजबल्लभ मे दिये गये ढाँचे के अधिक निकट है। यदि इनमे मुगलपन है तो वह बाहरी दिखावे तक ही सीमित है।

(ब) मन्दिर

(१) आबू के देलवाडा के मन्दिर

आबू की विशेष प्रख्याति देलवाडा के जैन मन्दिरो के समूह के कारण है।

---

५३ "The Amber palaces are so planned that it seems as if they emerged from the valley and their principal apartments cast an enchanting shadow down below "

—Fergusson, *Indian Architecture*, Vol II, p 255

५४ "The Amber palaces suffer in comparison with those of Gwalior Their imposing gateway, *Diwan-i-khas* and *Diwan-i-am* with double pillars, carved cornices, foilated arches, latticed openings, perforated parapets, pretty little gardens with fountains, approximately approach the Mughal style "

—Fergusson, *Indian Architecture*, Vol II, p 176

५५ "The Amber *Zanana* palace having been executed most probably by masons trained in the Akbari style by the Mughal overseers, resembles the one in the Agra Fort "

—Brown, *Indian Architecture* (*Medieval Period*), p 128

५६ 'The Amber palaces, with their successive courtyards, suits of two small rooms at both ends, a central hall, the verandahs, narrow passages and enclosed open space in between, is typically Rajput Moreover the capitals and the doorways with sculptured peacocks, elephants, men and animals are perfectly after Hindu style The free and profuse use of colour and mirrors on the walls and in the ceilings reveal the Rajput love of bright-colour The position of the stables and store-houses, which may yet be seen in ruins, is in harmony with the recommendation of Mandan "

—G N Sharma, *Social Life in Medieval Rajasthan*, p 49

ये मन्दिर समूह आबू पहाड की बस्ती से लगभग डेढ मील की दूरी पर हैं। इस स्थान का नाम मन्दिरो के समूह से सम्बन्धित है। इस समूह मे पाँच मन्दिर है, जिनमे दो बडे महत्त्व के हैं। इन मन्दिरो के चौकोर दायरे हैं, जो एक ही ढग से निर्मित हैं। इन मन्दिरो के निर्माण के लिए सगमरमर का पत्थर काम मे लिया गया है, जो पहाड के नीचे वाले भाग झालीवाव से लाकर लगाया गया है। प्रथम मन्दिर विमलशाह का है, जिसका निर्माण गुजरात के सोलकी राजा भीमदेव के मन्त्री और सेनापति विमलशाह ने वि० स० १०८८ (१०३१ ई०) मे कराया था। मन्दिर की मुख्य मूर्ति मे बहुमूल्य हीरो की आँखें लगायी गयी है जो स्वय प्रकाशमान है। मूर्ति आदिनाथ की है जो प्रथम तीर्थकर माने जाते है। इसके गर्भ-गृह, सभा-मण्डप, देवकुलिका, स्तम्भ, हस्तिशाला आदि भाग ११वी शताब्दी के शिल्प सिद्धान्त के अनुकूल बने हुए हैं। इस शताब्दी मे भुवनेश्वर प्रणाली के मन्दिर बहुधा बनते थे। आबू का यह मन्दिर उसी प्रणाली की परम्परा का प्रतीक है।

दूसरा मन्दिर, जो लूनवसाही भी कहा जाता है, नेमिनाथ का है, जो २२वें तीर्थंकर थे। यह मन्दिर आदिनाथ के मन्दिर से उत्तर-पूर्व मे बना हुआ है। इसकी स्थापना वि० स० १२८७ (१२३० ई०) मे वास्तुपाल के छोटे भाई तेजपाल ने करायी थी। बनावट और ढाँचे के विचार से यह मन्दिर विमलशाह के मन्दिर की भाँति ही है। इसमे भी मुख्य मन्दिर, सभा-मण्डप, जिनालय और हस्तिशाला हैं। मुख्य मन्दिर के द्वार के दोनो ओर दो ताक है, जिन्हे देवराणी-जेठाणी के गवाक्ष कहते हैं। इस मन्दिर का मुख्य शिल्पी शोभनदेव था।

चार हजार फुट से भी ऊँची पहाडी पर सगमरमर के देवालयो का बनना ही अपने आप मे एक अद्वितीय छटा और सौन्दर्य है। बाहर से तो इन मन्दिरो की बनावट सादी है, परन्तु भीतरी भाग मे खम्भो, छतो, मण्डपो, द्वारो आदि की तक्षण-कला अनुपम है। इन मन्दिरो की कारीगरी, तक्षण-कला और खुदाई का काम देखते ही बन पडता है। शिल्प-कला की दृष्टि से भारत मे ये मन्दिर अपने ढग के कारीगरी के उत्कृष्ट नमूने हैं। श्री कोसेन[४७] ने इसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशसा करते हुए लिखा है कि सगमरमर का पतला और पारदर्शी छिलके के भाँति पत्थर की तक्षण-कला कहीं की कला से आगे बढ जाती है और उसमे उत्कीर्ण अश सुन्दरता के स्वप्न दिखायी देते हैं। यदि इस कथा मे विश्वास किया जाय तो यहाँ तक्षण मे ऐसी सुन्दरता लाने का रहस्य यह था कि कलाकार जितना बारीक पत्थर को छीलता था उसमे प्राप्त सगमरमर की समूची धूल के वजन के अनुसार उसको पारिश्रमिक दिया जाता था।

---

४७ "The crisp, thin translucent, shall-like treatment of the marble surpasses anything seen elsewhere, and some of the designs are veritable dreams of beauty" —H Cousens, AAWI p 46 quoted from the *Struggle For Empir*^ ^1

इसके अतिरिक्त तक्षण मूर्तियो के अध्ययन से हम उस समय की वेशभूषा, रीति-रिवाज और व्यवहार का समुचित अध्ययन कर सकते हैं। यहाँ गुरु-शिष्य के सम्बन्ध तथा राजसभा के शिष्टाचार और जनजीवन की विविध झाँकियो से सम्बन्धित मूर्तियाँ हैं। सगीत और नृत्य आदि विषयो पर प्रकाश डालने वाले अनेक नृत्य और वाद्य के प्रदर्शन की मूर्तियाँ नाट्यशास्त्र के आधार पर बनायी गयी है, जो अपनी लावण्यता के लिए सर्वोपरि हैं। यदि हम यह कह दें कि देलवाडा का यह मन्दिर समूह शिल्प-शास्त्र, नाट्यशास्त्र, इतिहास और सामाजिक शास्त्र के अध्ययन के लिए स्वत मूर्तिमान साक्षात अध्ययन का केन्द्र है तो इसमे कोई अत्युक्ति नही होगी।

इन दोनो मन्दिरो की नक्काशी अपने ढग की विलक्षण है, जिसको देख कर दर्शक स्तब्ध हो जाता है। सारे मण्डप का काम इतना बारीक है कि दर्शक के धैर्य की सीमा नही रहती, और फिर भी मन नहीं भरता। मण्डप मे एक लडी के बाद क्रम से नीचे लटकने वाली केन्द्र की छत अपने आप मे स्थापत्य और वास्तुकला है। नीचे से ऊपर जाने वाले मण्डप के घेराव मे सन्तुलन और तक्षण-कला को ऐसा सम्बद्ध किया है कि उसके समन्वय का अनुमान लगाना कठिन है। यदि ताजमहल एक स्त्री का सस्मरण है तो इन मन्दिरो के पीछे एक धर्मनिष्ठ उदारता मूर्तिमान दिखायी देती है।

तक्षण-कला और वास्तु-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान फर्ग्यूसन, हेवल स्मिथ आदि मर्मज्ञो ने इन मन्दिरो की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए लिखा है कि कारीगरी और सूक्ष्मता की दृष्टि से इन मन्दिरो की समता हिन्दुस्तान मे कोई इमारत नही कर सकी। ये भारतीय ज्ञान और सभ्यता के सच्चे प्रतीक हैं।

श्री एस० के० सरस्वती ने स्ट्रगल फार एम्पायर की जिल्द मे कला वाले अपने अध्याय मे इन मन्दिरो के मण्डपो की प्रशसा करने के साथ यह भी लिखा है कि वे दोप से मुक्त नही हैं। इन मण्डपो के कई प्रकार के तक्षण को बार-बार दोहराने से स्थापत्य के सिद्धान्तो की अवहेलना स्पष्ट दिखायी देती है। मन्दिर के भीतरी भाग मे कई स्थानो मे अनुपात और साम्यता का अभाव दिखायी देता है, जो साधारण दर्शक को भी खटकता है। छतों से लटकने वाले मण्डप का भाग इस तरह उपस्थित किया गया है कि सारे मण्डप का एक दृष्टि से देखना अवरुद्ध हो जाता है। इस विचार से छतें अनुपात से नीची हैं। वैसे तो तक्षण के काम में एक बारीकी और सुन्दरता है, फिर भी एक देखने वाले के लिए थकावट पैदा करने वाला दोप अन्य किसी कलाकृति के माध्यम से परिमार्जित नही किया जा सका है।[५८]

---

[५८] There is, no doubt, a certain beauty in the delicately carved exuberant ornamentation of the halls, but even this beauty, endless as it seems, leaves the visitor with a sense of tiresome surfeit, and there are very few structural merits to compensate for this defect"

—*The Struggle for Empire*, p 582

(२) राणकपुर का मन्दिर

महाराणा कुम्भाकालीन शिल्प-स्थापत्य मे जिस प्रकार चित्तौड का कीर्ति-स्तम्भ प्रसिद्ध है उसी तरह उसके समय मे वना हुआ राणकपुर का जैन मन्दिर भी कला की दृष्टि से अद्वितीय है। इसको, विशेषरूप से, चारो ओर पहाडी भाग के सन्निकट तथा आगे से रेगिस्तान से घेरी हुई जगह वनाकर सुरक्षित कर दिया है। यह गोडवाड जिले का वहुत वडा तीर्थस्थान है, जो राणी स्टेशन से ७ मील, फालना स्टेशन से १२ मील और सादडी से ६ मील की दूरी पर स्थित है। इस मन्दिर की प्रमुख प्रतिमा आदिनाथ की है। प्रधान मन्दिर वर्गाकार (२२० फुट × २२० फुट) एव चौमुखा है। इसकी सीमा मे विभिन्न जिनालय ४८,००० वर्ग फुट के विस्तार मे हैं। इस क्षेत्रफल मे २४ मण्डप, ८५ शिखर और १४४४ स्तम्भ हैं। पहले दालान से लगभग २५ सीढियाँ चढने पर प्रमुख प्रासाद आता है जिसके चारो ओर द्वार हैं, इनमे से अव पश्चिमी दरवाजा ही खुला रहता है। मन्दिर की रचना इस प्रकार हुई है कि मध्य मे सर्वतोभद्र समवसरण प्रतिमा है और उसके चारो ओर आदिनाथ का विम्व है। इससे भगवान के दर्शन चारो दिशा से किये जा सकते हैं। मूल गर्भ-गृह के ऊपर दूसरी मजिल मे भी इसी प्रकार की मूर्ति है। ऐसा वताया जाता है कि प्रारम्भ मे इस देवालय को सात मजिला वनाने का आयोजन था, फिर किसी कारण से चार मजिल वनाकर ही छोड दिया गया। इसके सामने दो अन्य जैन मन्दिर हैं, जिनमे से पार्श्वनाथ के मन्दिर का वाहरी भाग पूरा अश्लील मूर्तियो से भरा पडा है। इसीलिए इस मन्दिर को लोग वैश्या मन्दिर कहते हैं।[५६]

इस मन्दिर के विषय मे वि० स० १४९६ के लेख से, जो प्रमुख मन्दिर के प्रवेश मार्ग के निकटस्थ स्तम्भ पर लगा हुआ है, प्रकट होता है कि प्राग्वाट्वशावतस कुम्भा के प्रीति पात्र धरणाक द्वारा इसका निर्माण कराया गया। इसका प्रमुख शिल्पी सोमपुरा ब्राह्मण देपाक था। इसके सहायक ५० से भी अधिक शिल्पी थे।[६०]

सभा-मण्डप, द्वार, स्तम्भ, छत आदि तक्षण-कला के काम से लदे पडे है। इनमे उत्कीर्ण मूर्तियो के अध्ययन से तत्कालीन वेशभूषा, रहन-सहन आदि का अच्छा वोध होता है। जगह-जगह नर्तकी की मूर्तियाँ हाव-भाव से परिपूर्ण है। उस युग मे कितने प्रकार के वाद्य-यन्त्रो को काम मे लाया जाता था इसका व्यौरा गायक और नर्तक मण्डलियो के परिवेक्षण से स्पष्ट हो जाता है। हर स्तम्भ पर अलकरण ऐसे हैं जो एक-दूसरे से साम्यता नही रखते। प्रमुख मन्दिर मे जैन तीर्थो का भी चित्रण है, जिनमे सम्मेत शिखर, मेरु पर्वत, अष्टपद, नन्दीश्वर दीप आदि मुख्य हैं। मूल मन्दिर की अन्य मूर्तियो मे सहस्रकूट, भैरव, हरिहर, सहस्रफणा, धरणीशाह और देपाक की मूर्तिया विशेष उल्लेखनीय हैं। कई मूर्तियो के हाथ मे ढाल और तलवारें हैं जो युग

---

५६ भण्डारकर, एन्युअल रिपोर्ट ऑकियोलोजी, १९०७-८, पृ० २११

६० सारदा, महाराणा कुम्भा, पृ० १५३-५४, शाह, स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ० २२

धर्म की द्योतक हैं। सभा-मण्डप के उत्कीर्ण सहस्रदल कमल तथा पुतलिकाएँ उच्च कला के प्रतीक हैं। सम्पूर्ण मन्दिर मे सोनाणा, मेदाडी और मकराना का पत्थर काम मे लाया गया है। इसके बनने मे ९९ लाख रुपया व्यय किया गया था।[६१]

१७वी शताब्दी के सुप्रसिद्ध कवि रिषभदास ने 'हीर-विजयसूरि रास' मे इस तीर्थ की महिमा वर्णन करते हुए लिखा है कि जिसने राणकपुर की यात्रा नही की, उसका जन्म लेना भी निरर्थक है। श्री समयसुन्दरजी ने भी अपने यात्रा-स्तवन मे राणकपुर तीर्थ की प्रशसा की है।[६२] फर्ग्यूसन[६३] ने इस प्रासाद के वर्णन के दौरान यह लिख ही दिया कि ऐसा जटिल एव कलापूर्ण मन्दिर मेरे देखने मे नही आया। आगे चलकर विद्वान लेखक[६४] फिर लिखता है कि मैं अन्य ऐसा कोई भवन नही जानता जो इतना रोचक व प्रभावशाली हो या जो स्तम्भो की व्यवस्था मे इतनी सुन्दरता व्यक्त करता हो। कर्नल टॉड[६५] ने भी इसे एक भव्य प्रासादो मे गिना है।

जब तक यह राणकपुर का मन्दिर विद्यमान रहेगा इसको बनाने वाले श्रेष्ठि धरणक का नाम इसके साथ अमर बना रहेगा। धरणक और उसके पूर्वजो के जीवन पर कुछ प्रकाश राणकपुर मे लगी हुई वि० स० १४९६ की प्रशस्ति से पडता है। इससे प्रकट होता है कि इस परिवार ने पिण्डवाडा, सालेरा आदि स्थानो के प्रासादो का जीर्णोद्धार करवाया। धणरक के पूर्वज सिरोही जिले के मान्दिया ग्राम के निवासी थे। यहाँ से ये लोग मालवा चले गये। वहाँ गौरी परिवार के आधिपत्य के बाद इस परिवार को कैद मे डाल दिया गया और दण्ड लेकर मुक्त किया। इसमे से कुछ लोग माण्डू रह गये, परन्तु धरणशाह मेवाड में आकर कुम्भलगढ के पास वाले मालगढ मे आ बसा। यहाँ आकर राणकपुर मे उसने देवी की प्रेरणा से इस भव्य मन्दिर का निर्माण कराया।[६६]

धरणीशाह के साथ इस मन्दिर के प्रमुख शिल्पी दीपा का नाम भी विख्यात है। ऐसी मान्यता है कि जब शाह ने मन्दिर निर्माण का विचार किया तो उसने कई

---

६१ वही, पृ० १४८-५१, जयराज जैन, कला मन्दिर, राणकपुर

६२ राजस्थान भारती, कुम्भा विशेषांक, पृ० १४४, वही, पृ० ५८-५९

६३ "It is the most complicated and extensive Jain temple, I have myself ever had an opportunity of inspecting"
—*History of Indian and Eastern Architecture*

६४ "Indeed, I know of no other building in India of the same class that leaves so pleasing an impression or affords so many hints for the graceful arrangement of columns in an interior"
—*History of Indian and Eastern Architecture*, pp 240 42

६५ 'It is one of the largest edifices existing and cost towards of a million sterling"
—Tod, *Annals*, Vol I, p 289

६६ राणकपुर प्रशस्ति, पीण्डवाडा लेख, आर्कियोलोजिकल सर्वे, १९०७, पृ० २०५-१८

प्रसिद्ध शिल्पियो को बुलाकर इसका मानचित्र बनाने को कहा। सभी ने अपने ढग के मानचित्र दिये, परन्तु धरणा को ये पसन्द न आये। इससे अन्य शिल्पी बडे अप्रसन्न हो गये। उन्होने एक द्वितीय श्रेणी के शिल्पी दीपा का नाम उसे सुझाया। यह सोमपुरा ब्राह्मण था और देवी का उपासक था। उसने भगवती की प्रार्थना की जिसके फलस्वरूप देवी ने स्वय मन्दिर का नक्शा उसे दे दिया। जब शाह ने नक्शे को देखा तो उसने उसके अनुकूल मन्दिर बनाने की स्वीकृति दे दी और उसे उसका मुख्य शिल्पी बनाया।[६७] मन्दिर के निर्माण के सम्बन्ध मे इस प्रकार की कथाओ का ऐतिहासिक आधार नही है। सोम-सौभाग्य काव्य मे दिया हुआ कारण ठीक प्रतीत होता है। उसमे वर्णित है कि एक बार सोमसुन्दरसूरि राणकपुर पहुँचे, जहाँ शाह ने उनका सम्मानपूर्वक स्वागत किया। उन्ही के आदेश से धरणक ने मन्दिर के निर्माण का कार्य आरम्भ किया, जो वि० स० १५१६ तक चलता रहा।[६८]

(३) श्रीएकलिगजी का मन्दिर

श्रीएकलिंगजी का मन्दिर उदयपुर से उत्तर की ओर १४ मील की दूरी पर नाथद्वारा जाने वाली सडक पर स्थित है। इस मन्दिर के चारो ओर पहाडियो के आ जाने से इसकी छटा, विशेषरूप से, वर्षाऋतु मे, बडी रमणीय हो जाती है। मन्दिर के आसपास छोटी बस्ती है जिसे श्रीएकलिंगजी के नाम पर कैलाशपुरी कहते है।[६९]

इस मन्दिर के सम्बन्ध मे प्रचलित मान्यता यह है कि सातवी शताब्दी के लगभग यहाँ बाँस के वन मे एक शिवलिंग था जिसकी अर्चना हारीत नामक ऋषी करते थे। इस शिवलिंग पर एक गाय हमेशा अपने दूध की धारा प्रवाहित करती थी। गुहिलवश के प्रमुख वशधर बापा ने यह घटना देखकर हारीत का शिष्यत्व ग्रहण किया और उनकी आज्ञा से उस स्थान पर श्रीएकलिंगजी का मन्दिर बनवाया और उनके आशीर्वाद से मेवाड के राज्य का विस्तार किया। तभी से गुहिलवशीय राजाओ के श्रीएकलिंगजी इष्टदेव माने जाने लगे। आगे चलकर मेवाड के महाराणा अपने इष्टदेव को मेवाड के शासक मानने लगे और स्वय अपने को उनका दीवान। इसी मान्यता के आधार पर मेवाड के सभी राजकीय दस्तावेजो तथा ताम्रपत्रो पर 'श्रीएकलिंगजी प्रसादातु' तथा 'दीवाणजी आदेशातु' अकित रहते थे।[७०]

बापा के समय मे श्रीएकलिंगजी का मन्दिर सामान्य रहा होगा जिसका जीर्णोद्वार क्रमश खुम्माण, जैत्रसिह, हम्मीर, मोकल, कुम्भा, रायमल, रायसिह

---

६७ सोमानी, महाराणा कुम्भा, पृ० २६७

६८ प्राग्वाट इतिहास, पृ० २७८

६९ राजपूताना गजट, भाग २, पृ० १०६

७० ओल्ड डिपोजिट रेकार्ड, उदयपुर

आदि मेवाड के शासको ने करवाया। इतने अधिक वार जीर्णोद्वार होने का प्रमुख कारण यह था कि श्रीएकलिंगजी का मन्दिर दिल्ली-अहमदावाद के प्रमुख माग पर होने से आक्रमणकारियो की तोड-फोड का शिकार वनता रहा। कुम्भा के तथा रायमल के समय के जीर्णोद्धार के समय इसके तीन ओर खाई तथा ऊँचे कोटे और बुर्जो की व्यवस्था की गयी, जिससे मन्दिर का वाहरी रूप किले के सदृश वन गया। जीर्णोद्धार के अवसर या विशेप उत्सवो के समय मेवाड के शासको, रानियो और सामन्तो ने मन्दिर के लिए धन, भूमि, दक्षिणा, भेंट आदि के द्वारा इसके वैभव को काफी वढाया।[७१]

इस मन्दिर की पूजन पद्धति पहले पाशुपत पद्धति के अनुसार रही, क्योकि प्रारम्भ मे यहाँ हारीतराशि, महेश्वरराशि, शिवराशि आदि आचार्य पीठासन पर रहे जो पाशुपत शैव थे। आगे चलकर इन आचार्यो के जीवन मे दोप आने लगे तो इनके वजाय सन्यासी आचार्य को वनारस से वुलाकर पीठस्थ होने की परम्परा की। ऐसे दण्डी सन्यासियो मे श्री प्रकाशनन्दजी, श्री आनन्दानन्दजी, शकरानन्दजी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये आचार्य एक विशेप पद्धति से श्रीएकलिंगजी की पूजा करते हैं। पूजन मे इनको कई व्रह्मचारियो द्वारा सहायता प्राप्त होती है। यहाँ त्रिकाल पूजा विधिपूर्वक होती है और भोगराग वडी श्रद्धा की दृष्टि से चढाया जाता है। विशेप पर्वो पर मणिजटित हार, पाग, आभूपण आदि से मूर्ति को सजाया जाता है। यहाँ मनाये जाने वाले उत्सवो मे शिवरात्रि तथा 'फाग' के महोत्सव वडे महत्त्व के है।[७२]

जैसा ऊपर वताया गया है, श्रीएकलिंगजी के मन्दिर का जीर्णोद्धार कई वार हुआ, अतएव मन्दिर का प्रमुख प्रवेश द्वार, मुख्य मार्ग तथा निकटवर्ती मन्दिरो का कोई निर्धारित क्रम नही दिखायी देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के सन्यासियो का मठ एक प्राधान्यता लिये हुए है, इसलिए मुख्य द्वार की सगति मठ से अधिक है। मुख्य मन्दिर मे जाने के लिए एक टेढा-मेढा सँकरा मार्ग है जिसके दोनो ओर छोटी देवलियाँ आगे जाकर आती हैं। इनके आगे बिना क्रम से ऊँचे-नीचे दालान आते है, तव कुछ निचाई मे पश्चिमाभिमुखी श्रीएकलिंगजी का मन्दिर आता है। मन्दिर शिखर-वन्द है जिसके दोनो ओर हाथी तथा सम्मुख मे नन्दीगढ का स्थान वना हुआ है। आगे सभा-मण्डप खम्भो से सुसज्जित है। आगे चलाकर श्रृगार-चोरी और उससे आगे गर्भ-गृह है। इसके केन्द्र मे श्याम पाषाण की मूर्ति है जिसके चार मुख चारो दिशा मे और एक मुख उर्द्ध भाग मे है। इस प्रतिमा के सम्वन्ध मे वताया जाता है कि इमको महाराणा हम्मीर ने वागड से मँगवाकर स्थापित किया था, क्योकि मूल प्रतिमा को तुर्की आक्रमण के समय पास वाले इन्द्र सरोवर मे सुरक्षित पधरा दिया गया था। मुख्य मन्दिर मे पार्वती, कार्तिकेय, गगा, यमुना और गणेश की प्रतिमाएँ भी

---

[७१] गोस्वामी राघवानन्द, भगवान एकलिंग और हारीत

[७२] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३२-३४

है। गर्भ-गृह के बाहर भ्रामणी बनी हुई है। दर्शन करने के लिए पश्चिम तथा दक्षिण मे द्वार बने हुए हैं।

इस मन्दिर के वितान मे सुर-सुन्दरियो का सुन्दर अकन हो रहा है और मध्य भाग मे श्री रामचन्द्र की सुन्दर मूर्ति बनी है। मन्दिर के प्रमुख स्थान पर राम की मूर्ति का होना यह प्रमाणित करता है कि यहाँ महाराणा राम के वशज होने के कारण अपने इष्ट देव के मन्दिर मे राम की विशेषता की मान्यता बनाये रखने मे गौरव का अनुभव करते थे। मण्डप के मध्य मे एक चाँदी का नन्दिकेश्वर बना हुआ है। ऐसी मान्यता है कि जब औरगजेब की फौज मन्दिर को तोडने के लिए यहाँ पहुँची तो इसमे से भौरे बडी सख्या मे निकल पडे और उन्होने मुगल फौजो को तितर-बितर कर दिया। आलमगीरनामा से इस प्रान्त मे मुगल फौजो की परेशानी का वर्णन अवश्य मिलता है। दक्षिण द्वार पर रायमल के समय की १०१ श्लोको की प्रशस्ति भी लगी हुई है जो मेवाड के इतिहास के लिए बडी उपयोगी है।[७३]

श्री एकलिगजी के मुख्य मन्दिर के दक्षिण मे कुछ ऊँचे भाग मे लकुलीश का प्रासाद है जो प्राचीनता की दृष्टि से बडे महत्त्व का है। इसमे स्थापित लकुलीश की मूर्ति, जटा, मुकुट, कुण्डल, भुजबन्द आदि कला की दृष्टि से अनुपम हैं। इस मन्दिर मे लगे हुए वि० स० १०२८ का शिलालेख[७४] मेवाड के प्राचीन इतिहास के लिए बडा उपयोगी है।

मुख्य मन्दिर के निकट महाराणा कुम्भा का बनवाया हुआ कुम्भश्याम का मन्दिर है जिसे भ्रान्ति से मीरा मन्दिर कहते हैं। इस मन्दिर के विभिन्न स्तरो मे देवताओ, पशुओ, मनुष्यो आदि की विभिन्न मूर्तियाँ बनी हुई है जो १५वी शताब्दी की वेशभूषा, रहन-सहन आदि पर पूरा प्रकाश डालती हैं। युद्ध, सम्भोग और दैनिक जीवन मे सम्बन्धित मनुष्य स्तर मे कई मूर्तियाँ हैं जो कला की दृष्टि से बडी सुन्दर है। ऊपर की प्रधान ताको मे विष्णु की त्रिमुखी प्रतिमाएँ तथा भीतर के सभा-मण्डप मे भी विविध मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बेजोड हैं।[७५]

श्रीएकलिगजी के मन्दिर के उत्तर-पूर्व के भाग मे इन्द्र सरोवर नामक तालाब है जिसके दो ओर सगमरमर का बाँध बना हुआ है जो चाँदनी रात मे सरोवर के नीर, उसमे उगने वाले कमल और कुमुदिनी सगम से बडा सुहावना दिखायी देता है। इसके पश्चिम में त्रिमुखी विशाल प्राचीर मे कुछ शिल्पियो के नाम उत्कीर्ण हैं जिन्होने इसकी मरम्मत की थी।[७६] इस तालाब के बाँध की पूरी मरम्मत राजसिंह और जयसिंह-कालीन है।

---

७३ भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ११७-२३

७४ बोम्बे एशियाटिक सोसाइटी जरनल, जि० २२, पृ० १६६-६७, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भा० १, पृ० २५६-५६

७५ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ३११-१२

७६ *श्रीएकलिंगमहात्म्य, अध्याय-६, श्लोक ७१-७२*

(स) स्तम्भ

कीर्तिस्तम्भ

कुम्भा का जयस्तम्भ, जो शिलालेखो मे कीर्तिस्तम्भ के नाम से विख्यात है, चित्तौड दुर्ग का स्थापत्य और उत्कीर्ण कला का प्रमुख प्रतीक है। यह हमारे देश का एक ही स्तम्भ है, जो भीतर और बाहर मूर्तियो से लदा पडा है। इसकी प्रतिष्ठा वि० स० १५०५, माघ कृष्णा १० को हुई थी और उसका प्रारम्भ अनुमानत १४६७ के लगभग हुआ था। इस स्तम्भ के बनाने के सम्वन्ध मे विविध मत हैं। यह प्रसिद्ध है कि मालवा के सुल्तान मोहम्मद को परास्त करने की प्रसन्नता के उपलक्ष मे इस स्तम्भ का निर्माण महाराणा कुम्भा ने करवाया था। किसी भी समसामयिक लेख मे इस प्रकार का उल्लेख न होने से इस प्रसिद्धि मे कुछ विद्वान विश्वास नही करते। कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति तथा अन्य साधनो से स्पष्ट है कि महाराणा ने अपने इष्टदेव विष्णु के निमित्त इस स्तम्भ को बनवाया था। हर्मन गूज इसे समिधेश्वर की अर्चना के निमित्त बनाया गया मानते हैं। एक तो समिधेश्वर के मन्दिर का सम्बन्ध मोकल से है, न कि कुम्भा से। दूसरा समिधेश्वर विष्णु का मन्दिर न होकर शिव का मन्दिर है। यदि विष्णु मन्दिर इस मम्वन्ध मे कोई हो सकता है तो वह कुम्भश्याम का मन्दिर इसी स्तम्भ के निकटवर्ती भाग मे है। इस मन्दिर का और इस स्तम्भ का वैष्णव धर्म से सम्वन्ध होना अनेक विष्णु की मूर्तियो से, जो इस पर उत्कीण हैं, स्पष्ट है। फिर भी हमारे विचार से विष्णु के निमित्त वनाने का जो उल्लेख इस स्तम्भ के विपय मे किया गया है वह किसी धर्म के निमित्त वास्तु के प्रतीक का सम्वन्ध जोडने की प्रचलित परिपाटी के अनुरूप है। मोहम्मद के परास्त होने की घटना की मान्यता जो इस स्तम्भ के निर्माण के साथ चली आती है, यकायक ठुकराई नही जा सकती, क्योकि सुल्तान का महाराणा के द्वारा हराना ऐतिहासिक सत्य है।[७७]

यह स्तम्भ १२ फुट ऊँचे और ४२ फुट चौडे चौकोर चबूतरे पर स्थित है। इसकी चौडाई ३० फुट और लम्वाई १२२ फुट है। इसमे कुल ६ मजिलें हैं।[७८] नीचे की मजिलें और ऊपर की मजिलें चौडी हैं और बीच मे कुछ सँकरी है। इस स्तम्भ के मध्य में से तथा भीतर ही भीतर बाजू से ऊपर तक सीढियाँ चली गयी है। प्रत्येक मजिल मे झरोको के होने से इसमे प्राय प्रकाश की कमी नही रहती। इतने विशाल कीर्तिस्तम्भ के वनने मे कई वर्ष लग गये, क्योकि स० १४६६ से लेकर स० १५१७ तक इसमे छोटे-मोटे कई शिलालेख लगे हुए हैं जो इसके कार्य को एक लम्बे

---

७७ हर्मन गूज, मार्ग, भा० १२, अक २, आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, वर्प १८७२-७३, पृ० १०४-११६, राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, १६२१, पृ० ५, मण्डन, राजवल्लभ, ४-२०; राणकपुर लेख, वि० स० १४६६, पृ० १७-१८, कुम्भलगढ प्रशस्ति, २६८-७०, नैणसी ख्यात, पत्र १७८, मेरा राजस्थान पर अध्याय, कोम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री, भा० ५, पृ० ७६१

७८ राजपूताना म्यूजियम रिपोर्ट, १६२१ ई०

समय तक चलते रहने के साक्षी हैं। ऐसे लेख स० १४९६, १५०७, १५१०, १५१५, १५१९ आदि के हैं। ये लेख कुम्भा या जेता, पूँजा, नापा, पेमा आदि से सम्बन्धित हैं। इन लेखों से यह भी प्रमाणित होता है कि इस स्तम्भ के निर्माण का कार्य जेता द्वारा करवाया गया था। जेता की मूर्ति कुर्सी पर बैठे होने के रूप मे और नापा तथा पूँजा की उसके साथ खडी मूर्तियों के रूप मे इस मत की पुष्टि करती हैं। जब पूरा कार्य समाप्त हो गया तब अन्तिम मजिल पर स० १५१७ के लेख लगा दिये गये। प्रतिष्ठा का स० १५०५ होना नाममात्र का है, वास्तव मे पूरा कार्य स० १५१७ मे ही समाप्त होना माना जाना चाहिए, जिस समय इस पर प्रशस्ति लगायी गयी थी।

यदि हम कीर्तिस्तम्भ को हिन्दू देवी-देवताओ से सजाया हुआ एक व्यवस्थित सग्रहालय या पौराणिक देवताओ का अमूल्य कोष[७९] कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। इसके नीचे के द्वार से प्रवेश करते ही जनार्दन की मूर्ति देखने को मिलती है और पार्श्व की ताको मे अनन्त, रुद्र और ब्रह्मा की मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियो के हाथ खण्डित हैं। सम्भवत किसी आक्रमणकारी दल ने ऐसा नृशस-कार्य कर कला के प्रति एक अन्याय किया। यहाँ ही नही ऊपर की मजिलो मे भी कई मूर्तियो को धर्म के नाम पर खण्डित कर कला का तिरस्कार किया जाना स्पष्ट है। इससे आगे ऊपर चढने पर दूसरी मजिल मे अर्द्धनारीश्वर और हरिहर पितामह की सायुध मूर्तियाँ मिलती हैं। इन्ही के साथ अग्नि, वरुण, भैरव आदि की मूर्तियाँ भी है। तीसरी मजिल मे छ हाथ वाली हरिहर पितामह, विरचि, जयन्तनारायण तथा चन्द्रार्क की प्रतिमाएँ है। चौथी मजिल मे देवियो की मूर्तियाँ है, जिनमे रेवती, हरिसिद्धि, पार्वती, क्षेमकरी, उमा, श्रीहिमवती, पट्ऋतु, गगा, यमुना, सरस्वती आदि प्रमुख हैं। पाँचवी मजिल मे फिर लक्ष्मीनारायण, महेश्वर, ब्रह्मा, सावित्री आदि की मूर्तियाँ हैं। छठे मे फिर देवियो की मूर्तियो मे महालक्ष्मी, महाकाली, भैरवी आदि की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। यहाँ नाचते, बजाते और गाती हुई नर्तक, मार्दनिका, श्रुतिधर, नर्तकी और नट की मूर्तियाँ भाव-प्रधान हैं। सातवी मंजिल मे पौराणिक गाथाओ का दिग्दर्शन मूर्तियो द्वारा व्यक्त किया गया है, जिनमे हिरण्यकश्यप को नृसिह द्वारा चीरा जाना बडा भावयुक्त है। आठवी मजिल मे कुछ दृश्य अकित हैं और नवी में चार प्रशस्तियो की तार्के हैं, जिनमे से दो ही प्रशस्तियाँ अब लगी हुई है। दर्शको ने इनको इतना घिस दिया है कि उनमे उत्कीर्ण विषय का पढा जाना कठिन है। पहले ऊपर की मजिल का भाग बिजली गिरने से नष्ट हो गया था जिसे १९११ ई० मे महाराणा स्वरूपसिंह ने फिर ठीक करवाया। इन मूर्तियो को समझने के लिऐ कलाकारो ने नीचे उनके नाम भी खोद दिये हैं, जिससे उनके सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करना सरल है। यहाँ की मूर्तियाँ कुम्भाकालीन अन्य मन्दिरो की मूर्तियो से साम्यता रखती हैं।

---

७९ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ५१

यह स्तम्भ केवल देवी-देवताओ की ही मूर्तियो का भण्डार हो ऐसा नही है। इसमे जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पहलुओ को मूर्तियो के द्वारा तथा उसके नाम के अकन द्वारा बताया गया है। इस पक्ष मे कीर्तिस्तम्भ बडा सम्पन्न है और विविधता लिये हुए है। यदि हम इसके द्वारा पन्द्रहवी शताब्दी के जनजीवन को देखना चाहते हैं तो कलाकार ने अपनी पेनी छेनी से उसको मूर्तिमान उपस्थित कर दिया है। अगर राजा या रानी को शय्या पर बताया गया है तो सेविका को भी उसके साथ कई उपकरणो के साथ खोदा गया है। दोनो को एक साथ उपस्थित कर उनके जीवन के वैषम्य को आभूषण, वस्त्रादि से आंका जा सकता है। इसी प्रकार जहाँ राम-लक्ष्मण और सीता की मूर्तियाँ एक साथ हैं वहाँ किरात, भील और शवरी की मूर्तियाँ भी उसी प्रभाव के साथ हमे मिलती हैं। एक प्रस्तर के उत्कीर्ण में भक्ति और शौर्य प्रदर्शित है तो दूसरे उत्कीर्ण प्रस्तर-खण्ड मे श्रम के महत्त्व को दर्शाया गया है। प्रेमी और प्रेमिका की मूर्तियो के साथ भक्ति भाव के दिखावे जीवन को सन्तुलित करने मे सहायक होते है। उस समय कितने प्रकार के शस्त्रो का प्रयोग होता था और कितने प्रकार के व्यवसाय प्रचलित थे उन्हें भी मूर्तियो द्वारा तथा उनके नामाकन द्वारा दर्शाया गया है। उस समय के प्रयुक्त वाद्य-यन्त्रो का भी यहाँ अभाव नही। जीवन के व्यावहारिक पक्ष को व्यक्त करने वाला यह स्तम्भ एक लोक-जीवन का रगमच है।[८०]

यदि हम मूर्तिकला तथा स्थापत्य-कला का सामजस्य कही देखना चाहे तो कीर्तिस्तम्भ मे बडे सन्तुलन के साथ मिलता है। इसमे हमे कलाकृतियो को मूर्तरूप देने का सफल प्रयास दिखायी देता है। इसमे ऊपर की दो मजिलें नीचे की मजिलो से अधिक अलकृत हैं। फर्ग्यूसन[८१] ने रोम के ट्राजन स्तम्भ की अपेक्षा इसको कलात्मक स्थापत्य और रुचि की अभिव्यक्ति मे ज्यादा अच्छा पाया है। कर्नल टॉड ने भी इसे कुतुबमीनार की अपेक्षा अच्छा बताया है।[८२] श्री सारदा ने इसकी प्रशसा मे लिखा है कि स्थापत्य के अत्यधिक अलकरण ने इसमे कभी स्तम्भ की रूपरेखा को या प्रभाव को गौण नहीं कर दिया है।[८२अ]

वैसे तो प्रभाव और भव्यता की दृष्टि से तथा विविध विपयो के सम्बन्ध मे सूचना देने के विचार से कीर्तिस्तम्भ अनुपम है, परन्तु जहाँ कलात्मक रोचकता और

---

८० जी० एन० शर्मा, चित्तौड, कॉलेज मैगजीन, १६५०

८१ "A pillar of victory like that of Trajan at Rome, but in infinitely better taste as an architectural object than the Roman example"
—Fergusson, *History of Indian and Eastern Architecture*, p 253

८२ "The only thing in India to compare with this is the Kootab Minar at Delhi, but though much higher, it is of a very inferior character"
—Tod, *Annals*, Vol II, p 761

८२अ "This mass of decoration is kept so subdued that in no way interferes either with the outline or the general effect of the pillar"
—Sarda, *Maharana Kumbha*, p 141

भाव प्रदर्शन की अभिव्यक्ति का प्रश्न है यह कुम्भाकालीन अन्य प्रतीको की तुलना मे नही टिकने पाता। इसमे उत्कीर्ण मूर्तियाँ कही-कही भाव शून्य इस प्रकार दिखायी देती है कि वे मूर्तरूप जडता हो। इनमे कभी-कभी सजीवता ढूंढने पर भी नहीं मिलती। इसका कारण यही हो सकता है कि इसके प्रत्येक भाग को अलकरणो से रिक्त नही रखने की महत्त्वकाक्षा ने इसे इस गुण से वंचित रख दिया हो। सम्भवत इसके बनाने मे देवी-देवताओ तथा जनजीवन की झाँकियो को ही प्रधानता देना था और उन्हें मूर्तमान उपस्थित करना था। इस प्रकार की अभिव्यक्ति का भार कलाकार के मस्तिष्क पर इतना था कि वह इन मूर्तियो मे सजीवता तथा चमत्कृति को जीवन नही दे सका।

(द) झील और बांध

राजसमुद्र और नोचौकी

राजसमुद्र झील[८३], जिसको कि स्थानीय भाषा मे 'राजसमन्द' या 'राजसमद' कहते है, एक कृत्रिम झील है, जो उदयपुर से लगभग ४२ मील[८४] उत्तर मे स्थित है। मावली-मारवाड ब्राच लाइन के कांकरोली स्टेशन से यह ५ मील की दूरी पर है। इस झील की लम्बाई अब २३/४ मील और चौडाई लगभग ११/२ मील रह गयी है। इसका सम्पूर्ण फैलाव पहाडी भाग से घिरा हुआ है। इसमे करीब १९५ वर्गमील भूमि का पानी आता है, परन्तु इसका मुख्य स्रोत गोमती नदी है। इसी नदी के पानी को रोककर यह एक झील के रूप मे बना दिया गया है। आजकल इस झील मे पडने वाली नदी तथा नालो को विकास योजना के अन्तर्गत लेकर इस के सुहावने दृश्य को फीका कर दिया है।

इस झील को बनाने का पहला विचार महाराणा अमरसिंह प्रथम को था।[८५] गोमती नदी मे बाढ आ जाने से राणा को इसके निर्माण-कार्य को बन्द करना पडा। पीछे से मुगलो के युद्ध मे लगे रहने से वह इसे सम्पादित न करवा सका। महाराणा राजसिंह अपने कुँवर अवस्था मे रावल मनोहरदास की पुत्री कृष्ण कुँवरी के साथ विवाह करने जैसलमेर जा रहा था, इस नदी की बाढ ने उसे तीन दिन तक रोक दिया।[८६] बताया जाता है कि तभी से उनके हृदय मे इसको तालाब के रूप मे बाँधने का विचार हुआ। इसके पश्चात जब वे मार्गशीर्ष, वि० स० १७१८ रूपनारायण के दर्शनार्थ इधर से निकले तो इन्होने इसको बँधवाने का विचार निश्चित कर लिया।[८७]

[८३] राजप्रशस्ति, सर्ग १ से २५, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० ६-७, भा० २, पृ० ५७५-७७
[८४] कर्नल टॉड, एनल्स, पृ० ३१०
[८५] राजविलास, विलास ८, पद्य ११०
[८६] जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, अध्याय ६
[८७] राजप्रशस्ति, सर्ग ६, श्लोक ३, ७, ६ व १०

राजरत्नाकर[८८] नामक ग्रन्थ से, जो महाराणा के समय मे लिखा गया था, जिन-जिन अधिकारियो को इस समूचे भाग को नापने व जांच-पडताल के लिए भेजा गया था, और जो अलग-अलग समितियाँ तालाब बनाने के सम्बन्ध मे नियुक्त हुई थी, उनका विस्तृत वर्णन हमे प्राप्त होता है।

इस तालाब के बनने के सम्बन्ध मे यह कथा प्रसिद्ध है कि घरेलू झगडो मे उलझकर महाराणा राजसिंह ने एक पुरोहित, एक रानी, एक कुँवर तथा एक चारण की हत्या कर दी थी। यह बताया जाता है कि कुंवर सरदारसिंह की माता, ज्येष्ठ कुँवर सुलतानसिंह को मरवाकर अपने पुत्र सरदारसिंह को राज्य दिलाने के प्रपच मे लग रही थी। उसने महाराणा को सुलतानसिंह के प्रति सन्देह पैदा करा दिया जिससे कुँवर सुलतानसिंह की हत्या महाराणा द्वारा करा दी गयी। फिर रानी ने स्वय महाराणा को मरवाने के प्रयत्न मे पुरोहित को एक पत्र लिखा। जब महाराणा को यह भेद मालूम हुआ तो उन्होने पुरोहित तथा रानी दोनो को मार डाला। इस घटना से दुखी होकर कुँवर सरदारसिंह भी स्वय विष खाकर मर गये। इसकी बुराई मे चारण उदयभाण ने महाराणा की एक कविता सुनाकर लज्जित किया। महाराणा ने क्रुद्ध होकर उसे मार डाला। अन्त मे इन सभी हत्याओ का महाराणा को बडा दुख हुआ। इन हत्याओ के प्रायश्चित्त से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणो ने किसी पुण्य-कार्य को सम्पादित करने की उन्हे सम्मत्ति दी, जिसके फलस्वरूप उन्होने इस तालाब का निर्माण[८९] करवाया। कुछ भी कारण रहे हो, इस तालाब के बनवाने का एक मुख्य अभिप्राय यह भी था कि उस समय महाराणा की प्रजा दुर्भिक्ष से पीडित थी, जिसकी सहायता करना अत्यन्त आवश्यक था।[९०]

इस तालाब की नीव की खुदाई का काम वि० स० १७१८, माघ कृष्णा ७, तदनुसार १ जनवरी, १६६२ ई० को आरम्भ किया गया।[९१] सम्पूर्ण काम को कई विभागो मे विभक्त किया गया। इन विभागो की देखरेख के लिए अलग-अलग सरदारो की नियुक्ति की गयी। टॉड[९२] के मतानुकूल तालाब की प्रथम आधारशिला पौष की अष्टमी, मगलवार हस्तिनक्षत्र मे रखी गयी थी। इस झील का प्रतिष्ठा कार्य वि० स० १७३२, माघ शुक्ला ९ (ई० स० १६७६, १४ जनवरी) को आरम्भ

---

८८ डा० जी० एन० शर्मा, 'राजरत्नाकर' इण्डियन हिस्टोरिकल रेकार्ड्स कमिशन, १९५१

८९ ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २, पृ० ५७०-७१, इस कथा का जिक्र सामयिक ग्रन्थो मे नही है।

९० टॉड, राजस्थान, पृ० ३१०-११, वीरविनोद, भाग २, पृ० ४४६

९१ राजप्रशस्ति, सर्ग ६, श्लोक १४

९२ टॉड, राजस्थान, पृ० ३१०, राजप्रशस्ति, सर्ग ६, श्लोक ३४ मे यह काल वै० शु० १३ दिया है।

किया गया जिसकी पूर्णाहुति[९३] माघ शुक्ला, पूर्णिमा, बृहस्पतिवार, वि० स० १७३२ (ई० स० १६७६, जनवरी २०) वडे धूमधाम से मनायी गयी। इस तालाव के वनाने मे १,०५,०७,६०८ रुपये व्यय[९४] हुए।

इस झील के दोनो ओर किनारो पर दो पहाडियाँ इस प्रकार आ गयी हैं कि जिसको २०० गज लम्बे व ७० गज चौडे वांध के द्वारा वाँधकर एक सुदृढ वांध तैयार कर लिया गया है। इस वांध को 'नोचौकी' कहते हैं। इस भाग का नाम 'नोचौकी' इसलिए पडा है कि वांध के नीचे वाले तीन वडे चवूतरो पर तीन-तीन छतरियो वाले मण्डप वने हुए हैं, जिनका योग 'नौ' होता है। इन मण्डपो का ढाँचा वैसा ही है जैसा किसी समाधि-छत्री[९५] या गरुड[९६] अथवा नन्दी[९७] की छत्री का होता है। परन्तु इन मण्डपो को तीन छत्री के समूहो मे इस प्रकार वनाया गया है कि वे मण्डप अपने आकार-प्रकार से अनुपम दिखायी देते हैं। समाधि छत्रियो या गरुड अथवा नन्दी की छत्री की भाँति इन मण्डपो पर शिखर या गुम्वज नही हैं, परन्तु छज्जे, पान, छवनो आदि के प्रयोग मे ये हिन्दू-शैली[९८] के दिखायी पडते हैं। फिर भी इन मण्डपो का राजस्थानी शिल्प-शास्त्र के इतिहास मे अपने ढग का प्रथम प्रयोग है। सम्भवत इस प्रयोग का आधार राजसिंह को अपनी १६४३ ई० की अजमेर यात्रा[९९] से प्राप्त हुआ हो, जवकि उन्होंने अन्नासागर पर 'वारादरियो'[१००] को देखा था। ये वारादरियाँ जैसे सपाट छत वाली हैं, ये मण्डप भी सपाट छत के हैं। जिस प्रकार वारादरियो को शाहजहाँ ने झील के किनारे वनाया था, उसी प्रकार इन मण्डपो को भी महाराणा ने झील पर वनाकर राजस्थानी शिल्प-कला मे एक नवीन शैली को जन्म दिया। आगे जाकर यह शैली अपने ढग से

---

[९३] राजप्रशस्ति, सर्ग १२, श्लोक १३, सर्ग १६, श्लोक २५, २७-२८, सर्ग १७, श्लोक १-६, सर्ग १७, श्लोक १-६

[९४] राजप्रशस्ति, सर्ग २६, श्लोक २२

[९५] महाराणा प्रताप, अमरसिंह, जगतसिंह आदि की छत्रियाँ

[९६] गरुड की छत्री, मीरावाई का मन्दिर चित्तौड, एकलिंगजी व जगदीश मन्दिर, उदयपुर

[९७] नन्दी की छत्री, एकलिंगजी का मन्दिर

[९८] पी० व्राउन, हिन्दू आर्किटेक्चर, प्रस्तावना

[९९] लाहौरी, वादशाहनामा (फारसी मूल), भा० ३, पृ० ३४५, जहीदखाँ, शाहजहाँ-नामा (अप्रकाशित), पृ० १६२, वीरविनोद, पृ० १२७-२८, डा० जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १५०

[१००] मआसिर-उल-उमरा, भा० २, पृ० ८१६ मे उललिखित है कि 'वारादरी' शाहजहाँ ने अन्नासागर पर १६३७ ई० मे वनवायी थी जो पूरे सगमरमर की वनी हुई है, हरविलास सारदा, अजमेर, पृ० ६३

उत्तरोत्तर अपनायी जाने लगी, जिसके कतिपय नमूने जलविलास, जगमन्दिर, मोहन-मन्दिर आदि पीछोला झील के प्रासादो मे देखने को मिलते हैं।

इन मण्डपो के स्तम्भो व छतो मे सुन्दर खुदाई का काम है। खम्भो की खुदाई मे पशु-पक्षी तथा स्त्री मूर्तियाँ बडी रोचक दिखायी देती हैं। पत्र, पुष्प तथा कुम्भो की जो खुदाई इन खम्भो मे है वह हिन्दू शैली के आधार पर है,[१०१] परन्तु जालियाँ तथा बेल-बूटो की खुदाई मुगल[१०२] ढग की है। पतले खम्भे जो चौरस आकार के हैं शाहजहाँकालीन[१०३] ढग के हैं। छवनो मे सूर्य, ब्रह्मा, इन्द्र इन्द्राणी, पार्षद, गन्धर्व, नर्तक-मण्डलियाँ आदि जो बनाये गये है उनमे सजीवता टपकती है। स्त्री मूर्तियो के वेश मेवाडी ढग के हैं, जिनमे ओढनी, लहँगा, कचुकी आदि मुख्य है।[१०४] नाचने वाली स्त्रियो के वेश मे हल्के कपडे दिखाये गये है जो उस समय की परम्परा[१०५] थी। आभूषणो के भी यहाँ अनेक आकार-प्रकार है जिनमे बाजूबन्द, पायल, हार, कर्णफूल आदि मुख्य है। इन आभूषणो का प्रयोग १५वी शताब्दी मे भी होता था,[१०६] परन्तु इनके आकार-प्रकार मे कुछ भेद इस काल तक बढ गया था। मुगल-कालीन[१०७] भारत मे ये आभूषण प्रयोग मे लाये जाते थे। कर्णफूल जो यहाँ दिखाये गये हैं वे लगभग उसी ढग के है जैसे कुम्भलगढ[१०८] से प्राप्त तथा चित्तौडगढ[१०९] से प्राप्त १५वी सदी की मूर्तियो मे हैं। अलबत्ता हार तथा नूपुरो मे बारीकी इस काल तक पहले की अपेक्षा अधिक बढ गयी थी, जैसा कि यहाँ की खुदाई से स्पष्ट है।

राजनगर के मण्डप मे खोदे गये सूर्य के रथ[११०] का ढाँचा भारतीय है, जैसा कि हम भारतीय प्राचीन शिल्प के नमूनो मे देखते है। नाचने वाली

---

[१०१] हेवल, हिन्दू आर्किटेक्चर, इन्ट्रोडक्शन

[१०२] बादशाहनामा, प्र० १, पृ० २२१

[१०३] सैयद अहमदखाँ, असर-नुस-सनादिद, प्र० २, पृ० ५४, कैम्ब्रिज हिस्ट्री, भा० ४, पृ० ५५८, ऐसे खम्भे पहाडी पर बने हुए जैन मन्दिर मे भी हैं।

[१०४] जगदीश मन्दिर की स्त्री मूर्तियाँ

[१०५] कुम्भा के विजय-स्तम्भ की नर्तकाएँ

[१०६] एकलिंगजी के 'मीराबाई' के मन्दिर के भीतर की छत मूर्तियो से भरी पडी है।

[१०७] आइने-अकबरी, भा ३, पृ० ३१३-१४, स्टोरिया, भा० २, पृ० ३३९-४०, हेमिल्टन, भा० १, पृ० १९३, थेवेनोट, भाग ३, अध्याय २०, पृ० ३७

[१०८] ये मूर्तियाँ विक्टोरिया हॉल मे सुरक्षित हैं।

[१०९] ये मूर्तियाँ मैंने महाराणा भूपाल कालेज मे सुरक्षित की हैं।

[११०] आठवी शताब्दी के चित्तौड वाले सूर्य मन्दिर में जो अब कालिका का मन्दिर कहलाता है।

मण्डपी के पास बाँसुरी, झाँझ, पखावज, तम्बूरा, इकतारा, मृदंग, वीणा आदि वाद्यित्र हैं जो प्राचीन भारतीय[111] पद्धति के परिचायक हैं। इन्हीं वाद्यित्रों का क्रम हमें कुम्भाकाल में कुम्भश्याम मन्दिर तथा विजय-स्तम्भ में कुछ परिवर्तनों के साथ देखने को मिलता है। इन मण्डपों की खुदाई की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि खुदाई के विषय के नमूने प्रत्येक छत, छबने, पाट तथा खम्भों में अपने-अपने ढंग से विभिन्न हैं, कोई एक खुदाई का विषय दूसरे खुदाई के विषय से समानता नहीं रखता, फिर भी देखने में समानता लिये हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यह उस समय के कलाकारों की, वैज्ञानिक रूप से अपने ज्ञान के प्रदर्शन की, चतुराई कही जा सकती है।

इस झील के बाँध के ऊपरी भाग के बड़े-बड़े चबूतरों के किनारों पर खोदे गये प्रस्तर उस समय के सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन की अनोखी झाँकियाँ हैं। तीसरे मण्डप में सामने वाले चबूतरे के स्तर में विविध प्रकार के पक्षियों को खोदा गया है जिनमें हास्य-मुद्रा, गम्भीर-मुद्रा या क्रीडा-मुद्रा का बड़ा अच्छा समावेश है। इन पक्षियों की खुदाई में कलाकार ने स्थानीय पक्षियों के रहन-सहन का चित्रण मुगल शैली के हाव-भाव के प्रयोग के द्वारा किया है, जिसे देखकर हमें उस्ताद मन्सूर[112] आदि मुगल कलाकारों की पक्षियों को व्यक्त करने की कला याद आती है।

तीसरे तोरण के सामने वाले चबूतरे के प्रस्तर में नृसिंहावतार, गोवर्द्धनधारण, माखनचोर लीला, अमृतमन्थन, गजेन्द्रमोक्ष आदि पौराणिक कथाओं को अंकित किया गया है जिनको देखकर समूचे कथा के अंश स्पष्ट हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन शिल्पियों ने इनको खोदा था वे भारतीय पौराणिक कथाओं से पूर्ण-रूपेण परिचित थे। अमृतमन्थन तथा गजेन्द्रमोक्ष में तो पानी की लहरों को अलग-अलग रूप से इस तरह बताया है कि उस पत्थर की खुदाई में वास्तविकता आ गयी है। मारीचवध वाले खण्ड में राम-लक्ष्मण की पोशाक मुगलों जैसी है जैसी कि हम जगतसिंह के समय के चित्रित आर्षरामायण[113] नामक ग्रन्थ में देखते हैं या जैसा कि कामा[114] के एक प्रस्तर-खण्ड पर खोदे गये राम-लक्ष्मण को हम पाते

---

[111] आर्टस-अक्षरी, भा० ३, पृ० २६३-२६५, फोक्स स्ट्रेंगवेज, म्यूजिक ऑफ हिन्दुस्तान, १९१४

[112] मुगल मिनिचर, ललित कला अकादमी, प्लेट नं० ८

[113] मेवाड चित्रकला पर मेरा लेख, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसिडिंग्ज, १९५८

[114] यह प्रस्तर-खण्ड भरतपुर म्यूजियम के पूर्वी गैलरी में सुरक्षित देखा गया है। इसमें राम को वस्त्र चुस्त पाजामा व अचकन, मुस्लिम वेश के आधार के अनुकूल पहनाये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि इस काल तक मुगलों के वेश ने हमारे समाज में एक ऐसा स्थान प्राप्त कर लिया था कि राम जैसे स्मरणीय देवता को भी उस वेश में देखकर हम गौरव अनुभव करते थे।

है। गोवर्द्धनधारण की ग्वाल व ग्वालनियाँ ऐसी वनी ह जैसे वे मेवाड के ही निवासी हो।

प्रथम चबूतरे के प्रारम्भिक स्थर के मुख भाग मे एक मनोरजक दृश्य दिया गया है। इसमे नव-वधु अपने ससुराल जा रही है, जिसके पहुँचाने के लिए गाँव के वाहर तक वृक्ष के नीचे वधु के सम्वन्धियो को दिखाया है जो उदासीन-मुद्रा मे हैं। आगे चलकर वधु ससुराल जाने से रुकती हुई वतायी गयी है और उसका वर उसे खीच कर ले जाता हुआ दिखायी दे रहा है। सामने एक ऊँट पर लदी हुई परदे वाली 'अम्वाडी' भी बतायी गयी है। ऊँट भी घसीटी जाने वाली तथा चिल्लाने वाली वधु की ओर करुणा भरे नेत्रो से देखता हुआ दिखाया गया है। ये दृश्य आणे[११५] का है, जो राजस्थान मे इसी ढग से अब भी पाया जाता है।

इसी प्रकार इससे आगे चलने पर हम एक स्थल के भाग मे सामन्त के घर नाच-गाने का आयोजन पाते है जिसमे सामन्त अपने दरबारियो के साथ एक ऊँची कुर्सी[११६] पर बैठा हुआ है और सामने एक नर्तकी झीने कपडो को पहने हुए नाच रही है और उसके अन्य साथी वाद्यित्र खडे-खडे वजा रहे हैं। यह दृश्य उस समय के समाज का है जव मुगल-विलासिता[११७] सामन्तो व समृद्ध घरानो मे घुसने लगी थी। सामन्तो की वेशभूषा मुगल प्रभाव से प्रभावित है।

दूसरे मण्डप के सामने वाले चबूतरे के स्थर मे पशुओ का लडाई का वडा अच्छा चित्रण है, जिसमे हाथी हाथी से, हाथी घोडे से, हाथी बैल से व मीढा मीढे से लडते हुए दिखाये गये हैं। जहाँ तक पशुओ की आकृति[११८] का प्रश्न है वह कला भारतीय है, परन्तु इस प्रकार के पशु-युद्धो[११९] के जो आयोजन दिखाये गये हैं वे मुगल आधार पर है। पशुओ के साथ जो आदमी दिखाये गये हैं उनकी वेशभूषा मुगल ठाठ की है, जैसे अटपटी पगडी, चाकदार जामा, कमरबन्द आदि। मीढो की लडाई मे दोनो ओर रस्सी को पकडकर इन पशुओ को लडाने वाले दो आदमी दिखाये गये हैं जिनका साफा, चुस्त पजामा, नुकीली दाढी ठीक मुगल और लडाने वाले दोनो

---

[११५] यह 'आणे' का रिवाज राजस्थान मे वडा प्राचीन है, परन्तु स्थर के रूप मे अकित किया गया यह दृश्य अपने ढग का प्रथम है।

[११६] कुर्सी वैसी ही वनायी गयी है जैसी चित्तौड के विजय-स्तम्भ मे वनायी गयी कुर्सी है जिस पर वेला, मुख्य शिल्पी बैठा है।

[११७] सरकार, स्टडीज इन मुगल इण्डिया, परिच्छेद, सामन्ती समाज

[११८] हाथियो की तथा घोडो व वैलो की आकृति चित्तौड के मोकल के मन्दिर के हाथियो, वैलो और घोडो के समान है।

[११९] आइने-अकवरी, भा० २, पृ० ७१-७२, पिटर मण्डी, ट्रेवल्स, भा० २, पृ० १२८, मेण्डेलसो, ट्रेवल्स, पृ० ४३, मुगल मिनेचर, प्लेट ५

आदमी भी स्पष्ट रूप से मुसलमान दिखायी देते हैं। ये आयोजन उस समय के समाज की रुचि के सूचक हैं तथा प्रचलित आमोद-प्रमोद के द्योतक हैं।

कहीं-कहीं स्थर के भाग मे शिकार के भी दृश्य दिखाये गये हैं जिनमें मुगलों की भाँति कुत्तो[१२७] का प्रयोग बताया गया है। इसके अतिरिक्त विलासप्रियता, कुश्ती, नाच-गान, पठन-पाठन, पूजन आदि प्रवृत्तियो के भी अंश इन स्थरो मे मिलते हैं, जिससे उस समय की स्थिति का स्पष्टीकरण होता है।

इन स्थरो मे केवल एक ही स्थान पर शिवलिंग की पूजा बतायी गयी है तथा दो-एक स्थानो मे भैरव व भवानी की मूर्तियाँ खोदी गयी हैं। इसके विपरीत कई स्थानो मे कृष्ण-लीला सम्बन्धी कथाओ को अंकित किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि राजसिंह के युग मे वल्लभ-सम्प्रदाय की ओर झुकाव अधिक बढता जा रहा था। हम यह जानते हैं कि महाराणा राजसिंह ने यहाँ अपने समय मे द्वारिकाधीश का मन्दिर स्थापित किया और सिंहाड मे श्रीनाथजी की मूर्ति को आश्रय दिया। द्वारिकाधीश वल्लभ-सम्प्रदाय के सात स्वरूप के अन्तर्गत आराध्य देव हैं और श्रीनाथजी इन स्वरूपो के टीकायत गादी के मुख्य देव कहलाते हैं। राजप्रशस्ति मे भी अन्य देवताओ की स्तुतियो के मुकाबले द्वारिकाधीश व कृष्ण की स्तुति के अधिक पद्य हैं।

इन चबूतरो के नीचे कई ताकें हैं जिनमें से एक बडे चबूतरे के नीचे वाली ताक मे एक सुन्दर स्त्री की मूर्ति है, जिसकी गोद मे बच्चा खण्डित अवस्था मे है तथा बाजू में मयूर है। इस मूर्ति के कर्णफूल ठीक १५वीं शताब्दी की मूर्तियो के अनुकूल हैं। पाँव के पगपान भी १५वी शताब्दी की मूर्तियो के आकार के हैं। गले के आभूषण जैसे तुलसी, चन्द्रहार, जवहार आदि बडी सुन्दर गढाई के बनाये गये है, जिस गढाई के नमूने हमे इस समय के पहले नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि मुगलों के साथ सम्बन्ध होने के काल से तथा विशेष रूप से १६१५ ई० की सन्धि[१२१] के समय से मुगल-मेवाड के दरबारो मे आदान-प्रदान, लेन-देन तथा उपहारादि के भेजने व लेने की व्यवस्था[१२२] हो चली थी जिसमे आभूषणो के पहनने मे विशेषता आ गयी। इस विशेषता को बताने मे यह मूर्ति अपने ढंग की ही कही जा सकती है। इस काल

---

१२० हाकिन्स, अर्ली ट्रैवल्स इन इण्डिया, पृ० १०४, स्टोरिया डी मोगोर, भा० ८, पृ० २५५

१२१ राजप्रशस्ति, सर्ग १०, राजस्थान में इसी काल मे वल्लभ-सम्प्रदाय की अधिक प्रगति होती रही। जयपुर, जोधपुर तथा किशनगढ मे इस सम्प्रदाय का खूब प्रचार हुआ। जोधपुर के आर्काइव्ज मे इस सम्बन्ध के कुछ पत्र सुरक्षित हैं। देखो मेरा लेख 'पोर्ट फोलियो फाइल' जोधपुर, अदियार लाइब्रेरी बुलेटिन, वोल्यूम २१, पार्ट ३-४

१२२ इकबालनामा (फारसी मूल), भा० ३, पृ० ५३६, कान्नू, अमल सलीह (मूल), भा० १, पृ० ६२, जी०एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १३५-१३७,

के बाद इन आभूपणो का प्रयोग स्थानीय रूप से होने लगा। नाक का फूल पूर्ण मुगल[१२३] ढग का है। पहले बनने वाली मूर्तियो मे इस प्रकार के नाक के आभूपण नही बनते थे।

यहाँ के कई स्थरो मे युद्ध से सम्वन्धित दृश्य भी वताये गये है, जिनके द्वारा मेवाड मे प्रयुक्त किये जाने वाले अस्त्र और शस्त्रो का भी हम अध्ययन कर सकते हैं। १५वी शताब्दी मे छोटी तलवारें, चपटी ढालें और छोटे भाले व सीधे वर्छे कार्य मे लाये जाते थे, जैसा कि 'मीराबाई' के मन्दिर, मोकल के मन्दिर तथा विजय-स्तम्भ के स्थरो से स्पष्ट है। इस काल मे राजपूतो ने मुगलो के सम्पर्क से युद्ध के ढग वदल दिये थे और मोटी तथा लम्वी तलवारो, गोल-गोल वडी ढालो तथा नुकीले टेढे वर्छो का प्रयोग करने लगे थे, जैसा कि स्थर से सम्वन्धित युद्ध के दृश्यो मे वताया गया है। हाथियो, रथो तथा घोडो के प्रयोग के लिए भी अनेक नये उपकरण इन स्थरो मे दिखायी देते हैं, जो मुगल ढग के है। इन दिखावो की प्रचुरता यह वताती है कि समूचा मेवाड उस समय औरगजेव के साथ लडे जाने वाले युद्ध के लिए जागरूक था, जिसका चित्रण शिल्पियो ने स्पष्टता से किया है।

उस समय के समाज के वारे में हमे और जानकारी राजसमुद्र के वाँध की ताको मे लगी हुई प्रशस्तियो से होती है। उदाहरणार्थ, राजप्रशस्ति मे वर्णित है कि जव वाँध का काम चल रहा था तो जगह-जगह वृष्टि होने से नीव मे पानी भर गया। जव काम को आगे बढाने मे रुकावट होने लगी तो वडे-वडे अरहटो[१२४] का प्रयोग किया गया। इनसे पानी सव उलीच दिया गया और काम उसी गति से चलने लगा। इससे स्पष्ट है कि शिल्पादि कार्य मे मशीनो के अभाव मे उस मध्यकालीन युग मे ऐसे साधन जुटाये जाते थे जिनसे काम मे अवरोध नही होता था। ये साधन खेतीवाडी के लिए भी बडे उपयोगी थे, जिनका जिक्र वावर ने भी वावरनामा मे किया है।

इस प्रशस्ति के अध्ययन से उस समय की शिक्षा-प्रणाली पर भी वडा प्रकाश पडता है। प्रशस्तिकार रणछोड भट्ट तैलग ब्राह्मण था, जिससे स्पष्ट है कि मेवाड उस समय विद्वानो को आश्रय[१२५] देकर भारतीय विद्योन्नति मे बडा साधक था। विद्या पाठशालाओ मे न होकर विशेष रूप से घर मे होती थी। पिता अपने पुत्र को पढाने

---

[१२३] तुजुक (फारसी मूल), भा० १, पृ० १३५, १४४, बादशाहनामा (लाहौरी), भा० १-२ आदि

[१२४] आइने-अकवरी, पृ० ३४३, ट्रेवल्स इन इण्डिया, पृ० ३८४, स्टोरिया, पृ० ३३९-४०, भा० २ आदि

[१२५] राजप्रशस्ति, सर्ग ९, श्लोक २४-३०

के लिए या अपने भाई या सम्बन्धियों को पढ़ाने के लिए पुस्तकें लिखता था, जैसा कि अनेक मध्यकालीन ग्रन्थों[१२६] तथा राजप्रशस्ति[१२७] से स्पष्ट है।[१२८]

उस समय मेवाड का सम्बन्ध केवल सास्कृतिक क्षेत्र मे ही दूसरे भारतीय भागो से न था, वरन् श्रमिक कार्यो मे भी मेवाड का सम्बन्ध अन्य भारतीय प्रान्तो से था। राजसमुद्र के बनाने के लिए कुल ६० हजार काम करने[१२९] वाले लगाये गये थे जो सभी स्थानीय न थे। राजसमुद्र मे पानी आ जाने पर जो एक वृहत् नौका का निर्माण किया गया था उसके बनाने वाले कारीगर[१३०] लाहौर, गुजरात तथा सूरत से बुलाये गये थे। राजसमुद्र की प्रतिष्ठा के समय दूर-दूर से मनुष्य यहाँ पर आये थे, जिनका उचित आतिथ्य[१३१] किया गया था। इस प्रशस्ति से हमे स्थानीय शिल्पियो का भी पता चलता है जो पीढियो से राज्याश्रित थे और जो कुम्भा के समय या आगे के समय से लेकर पीछे तक चलने वाले कामो की देखरेख करते रहे। ये शिल्पी अपने कार्य को शास्त्रीय ढग से जानते थे और उसी प्रकार पीढियो से उसका व्यवहार भी करते आ रहे थे। राजसिंह के प्रसिद्ध शिल्पियो मे, जो इस भाग के मेवाड के 'कमठानो' की देखरेख करते थे, मुकुन्द, जगन्नाथ, लाला, लघा, जसो, मेवो आदि मुख्य[१३२] है। इन शिल्पियो का परिवार चित्तौड, उदयपुर या दक्षिणी मेवाड के कमठाणो के शिल्पियो[१३३] से विभिन्न था और स्वतन्त्रता से राज्याश्रित रूप से इस भाग मे काम करता आ रहा था।

---

[१२६] राजप्रकाश की प्रतिलिपि १७१९ वि० स० मे शार्दुल द्वारा बनारस मे करायी गयी थी। उसी समय का लेखक मणिराम दशपुर का निवासी था। रामरासो का लिपिकार जोशी विट्ठल मारवाड का था। सदाशिव जो राजरत्नाकर का लेखक था, बनारस से यहाँ आया था। बुद्धिरासो (१७०४ वि० स०) को बनारस के तिलकचन्द ने लिखा था। कन्नौज निवासी केशवराय ने १७४६ वि० स० मे मानलीला को लिखा था।

[१२७] 'रतिगुणगोविन्द कल्याणदास भाटकृत सम्पूरण प्रतापे पठनार्थ सवत् १७२५ स० भ० पु० न० ५९१, 'इति श्री पाण्डव गीता भट सोमजेन लिपीत श्री भाणजी पठनार्थं, इति पृथ्वीराज वेलि समाप्त स्वामी श्रीकृष्णदास तत् शिष्य गिरधर भृत्यस्य पठनार्थंलिखत ब्राह्मण हरिदासेन स० १७७१। 'इति श्री गोर बादल पद्मनी चरित्रे स० १७५३ वर्षे आ० सु० १५ दीन श्री सागवाडा नगरे लि० श्री रामजी पुत्र श्री रघुनाथ जी पठनार्थं' (पाण्डुलिपि के अनुसार)

[१२८] राजप्रशस्ति, सर्ग २, ७, श्लोक १

[१२९] वही, सर्ग ९

[१३०] वही, सर्ग ११, श्लोक ३०, ३६

[१३१] वही, सर्ग २४

[१३२] वही, सर्ग २४

[१३३] अन्य शिल्पियो के परिवार के लिए मोकल के मन्दिर की प्रशस्ति, रसिया की छत्री की प्रशस्ति, राणकपुर की प्रशस्ति, जावर की प्रशस्ति, कुम्भलगढ व

यहाँ की ताको मे लगी हुई प्रशस्तियो से हमे उस समय के प्रचलित तोल का भी पता चलता है। सोना, चाँदी तथा जवाहरात तोलने के लिए 'पल'[१३४] और 'तोला' नामक तोल का प्रयोग होता था। एक 'पल' सोने की कीमत ५६ रुपये के बराबर होती थी।[१३५] धान्यादि वस्तुओं के तोलने मे मण[१३६] और राशि प्रयुक्त होते थे।[१३७] रुपयो की कीमत ढव्बुको[१३८] के हिसाब पर भी आँकी जाती थी। माप मे गज[१३९] तथा हाथ[१४०] दोनो का प्रयोग प्रचलित था।

चित्तौड स्तम्भ की प्रशस्ति, रायमल की प्रशस्ति, जगन्नाथराय की प्रशस्ति आदि देखो।

शिल्पियो के विभिन्न परिवार कब से कब तक मेवाड के विभिन्न भागो मे काम करते रहे हैं, इस सम्बन्ध मे पाठक मेरे मित्र श्रीरत्नचन्द्रजी अग्रवाल, डायरेक्टर राजस्थान म्यूजियम के शोधपूर्ण लेखो को पढें।

[१३४] राजप्रशस्ति, सर्ग ३, श्लोक १५

[१३५] वही, सर्ग १२, श्लोक २९, ३०, ३१, सर्ग १७, श्लोक २८ आदि

[१३६] वही, सर्ग ३, श्लोक १६

[१३७] राजप्रशस्ति, सर्ग १३, श्लोक १३-१५। उपरोक्त तोलो के अतिरिक्त राजस्थान मे विभिन्न तोल और भी प्रचलित थे, जैसे औषधियो के तोल के लिए 'टाक', 'सेर', 'पाइल', 'छिटाँक' आदि का प्रयोग होता था, जैसा कि वि० स० १७३६ के उषद नाम (हस्तलिखित) ग्रन्थ, पत्र न० १९ तथा नागमतनामी (हस्तलिखित) वि० स० १७०४ के ग्रन्थ, पत्र २८२ आदि से स्पष्ट है।

राजसिह के समय में बने हुए राजरत्नाकर नामक ग्रन्थ मे, जिसको रत्न परीक्षा तथा तोल आदि के लिए गरीबदास पुरोहित के आदेश से धुंढीराज ने बनाया था, जवाहरात आदि के तोल के लिए 'मन्जाली', 'माशा', 'गुंजा', सरसो, चावल, जौ आदि के अनेक भागो के तोलो का वर्णन मिलता है और कई तोलने के साधनो का भी बयान पाया जाता है जो बडा रोचक है। इस ग्रन्थ की रचना वि० स० १७२५ मे हुई थी।

[१३८] उस समय रुपये और ढव्बुक ही एकमात्र लेनदेन की मुद्रा न थी, वरन् दमडी, दाम, टका, पइसा, फदीउ, ढीगलो, कोडी आदि छोटी मुद्राओ का भी प्रयोग होता था पैसा का प्रयोग वि० स० १७५३ की एकादशी की कथा, सोनारी पारसी, वि० स० १७५३, पृ० ४६० तथा चन्दन मलयगिरी वार्ता वि० स० १७२२, पृ० ४ आदि हस्तलिखित ग्रन्थो से स्पष्ट है।

इसी प्रकार कर्षापण रूप्यक, फदीया, अर्द्ध-स्वर्ण मुद्रा, कपर्दिका आदि मुद्राओ का प्रचलन भी गोवध-व्यवस्था से, जो कि रामगोपाल भट्टाचार्य ने वि० स० १७४१ मे लिखी थी, स्पष्ट है (हस्तलिखित)। स्वर्ण मुद्रा का वर्णन अजितोदय में भी सर्ग ६ मे मिलता है।

[१३९] राजप्रशस्ति, सर्ग ११, श्लोक १

[१४०] राजप्रशस्ति, सर्ग १२, श्लोक २७

यह प्रशस्ति धार्मिक अध्ययन के लिए भी वडी उपयोगी है। उस समय के जीवन मे यात्राओ का वडा महत्त्व था। जाम्बुवती ने द्वारिका की यात्रा,[१४१] राजसिंह ने वनारस की यात्रा[१४२] तथा जयसिंह ने वृन्दावन, मथुरा आदि की यात्रा[१४३] सम्पादित की। तुलादान तथा अन्य दानो का भी उस समय वडा महत्त्व था। महाराणा उदयसिंह,[१४४] कर्णसिंह,[१४५] जावुवती,[१४६] राजसिंह[१४७] तथा अन्य सामन्तो द्वारा कई तुलादान किये गये जिनका वर्णन इस प्रशस्ति मे मिलता है। अन्य दानो[१४८] मे हिरण्य, कामधेनु, विश्वचक्र, पचकल्पद्रुम, स्वर्ण, पृथ्वी आदि का वर्णन है। तुलादान का प्रयोग मुगल भी करने लग गये थे, परन्तु अन्य वडे-वडे दानो की प्रथा धीरे-धीरे हिन्दू-समाज से भी उठने लग गयी।

उस समय की सीमा, नगर तथा भौगोलिक अध्ययन के लिए भी राजप्रशस्ति वडी उपयोगी हैं। अग, कलिंग, वग, उत्कल, मिथिल, मलय, चोल, ठट्टा, कच्छ, वल्क, कन्धार आदि भागो के नाम उस समय के प्रान्तो[१४९] पर प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार इस प्रशस्ति मे टोक, साम्भर, चाटसू, मालपुरा, रणस्तम्भ आदि कस्बो[१५०] की समृद्धि का भी पता चलता है। राजनगर[१५१] के वसाये जाने का भी उल्लेख इसमे है। श्रीएकलिंगजी के पास वहने वाली कुटिला[१५२] नदी तथा राजनगर से गुजरने वाली गोमती नदी का भी इसमे जिक्र है। कई गाँव[१५३] जो इस झील के वनने के पहले यहाँ विद्यमान थे उनके द्वारा उस समय की भौगोलिक परिस्थिति पर प्रकाश पडता है।

१४१ इसी समय नाप के लिए चार हाथ रस्सी, चार व आठ अँगुल, दण्ड आदि नापने के माप थे, जैसा कि १६८४ के जलाशय रामोत्सर्ग ग्रन्थ से स्पष्ट है।

१४२ राजप्रशस्ति, सर्ग ५ श्लोक ३१, ३२

१४३ वही, सर्ग ७, श्लोक ४६

१४४ वही, सर्ग २२, श्लोक ८-९

१४५ वही, सर्ग ४, श्लोक १९

१४६ वही, सर्ग ५, श्लोक १०

१४७ वही, सर्ग ७, श्लोक १

१४८ वही, सर्ग ७, श्लोक ३१

१४९ प्रशस्ति, सर्ग ६, श्लोक २७, ३५, सर्ग ८, श्लोक ४४-४५, सर्ग १०, श्लोक ५-६, २०-२१, ३३, ३४, सर्ग १२, श्लोक २९-३०, ३६, ३८ आदि

१५० राजप्रशस्ति, सर्ग ८, श्लोक १७-१८

१५१ वही, सर्ग ९, श्लोक, २, ३, ४, सर्ग ८, श्लोक २१,२३, ३१, ४०, ४२, आदि

१५२ वही, सर्ग १८, श्लोक १६, राजरत्नाकर मे राजनगर के जनजीवन की वडी उत्तम झाँकी मिलती है।

१५३ राजप्रशस्ति, सर्ग १२

सक्षेप मे यह कहा जा सकता है, १७वीं शताब्दी के मेवाड तथा राजस्थान को सामाजिक, सास्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक अवस्था को समझने के लिए राजसमुद्र की खुदाई तथा प्रशस्ति एक अनुपम साधन है।[१५४]

(ध) महासतियाँ

पत्थरो मे छिपी यादगारो मे हमारे इतिहास जानने के अमूल्य साधन उपलब्ध हैं। ऐसे साधनो मे महासतियो की यादगारें बडे महत्त्व की हैं। जिन स्थानो मे राजपूत महिलाएँ या अन्य जातियो की महिलाएँ अपने पतियो के शव के साथ जलकर भस्म हो जाती थी उन स्थानो को महासतियाँ कहा जाता है। सती होने की प्रथा वैसे तो भारत मे बडी पुरानी है, परन्तु राजस्थान मे मध्य युग मे विदेशी आक्रमणो से देश को बचाने के लिए सतत युद्ध होते रहे तो सामूहिक रूप मे नारियाँ अपने सतीत्व की रक्षा मे सहस्रो की सख्या मे अपने पतियो के प्रतीको के साथ सती होने लगी। उनकी स्मृति मे उन स्थानो पर बडे-बडे स्मारक भी बनने लगे। इन स्थानो मे साधारण मृत्यु से मरने वाले राजा, महाराजा तथा अन्य उच्च अधिकारियो को भी जलाया जाता था और उनकी पत्नियाँ भी अपने आपको अग्नि को सर्मपित करती थी। उन स्थानो मे बहुधा छत्रियाँ या देवल या देवलियाँ बनायी जाती थी। इनके मध्यवर्ती स्थान पर या तो शिवलिंग स्थापित कर दिया जाता था या शिलाखण्ड लगा दिया जाता था जिन पर राजाओ और सती होने वाली रानियो की प्रतिमाएँ बना दी जाती थी। ऐसे स्थानो को बडी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाने लगा। उनके चारो ओर आहते भी बना दिये जाते थे। आज भी अनेक नर-नारियाँ ऐसे स्थानो पर बडी सख्या मे जाते है और उनकी पूजा करते है। कही-कही उन सती साध्वी महिलाओ को श्रद्धाजलि अर्पित करने के उपलक्ष मे वहाँ मेले के आयोजन भी होते है।

वीर भूमि होने के नाते राजस्थान मे वैसे तो गाँव-गाँव मे ऐसे स्थान हैं जो हमें अनेक वीरागनाओ की स्मृति दिलाते हैं परन्तु चित्तौड, आहड, जोधपुर तथा बीकानेर आदि स्थानो के महासतियो के स्थल विशेष उल्लेखनीय है। चित्तौड का बलिदान ससार के इतिहास मे प्रमुख स्थान रखता है। यहाँ लाखो की सख्या मे वीर पुरुषो ने अपने देश के लिए प्राण न्यौछावर कर दिये। उनकी वीरागनाएँ भी लाखो की सख्या मे सती हुई या जौहर-व्रत के द्वारा भस्म हो गयी। गौमुख कुण्ड तथा सूर्य-कुण्ड के पास का भाग महासतियो का स्मारक स्थान है, जिसको देखकर दर्शको मे असीम श्रद्धा और वीरत्व की प्रशसा के भाव उमड आते हैं।

इसी तरह उदयपुर के निकट आहड गाँव मे गगोद्भव नामक तीर्थस्थान है जिसके निकट आहते से घिरा हुआ महाराणाओ का दाह-स्थान है जिसको 'महा-

---

[१५४] राजप्रशस्ति, सर्ग ६, श्लोक ५-६

सतियाँ' कहते है। महाराणा प्रताप के बाद राणाओ का अन्त्येष्टि संस्कार बहुधा यही होता रहा। यहाँ महाराणा अमरसिंह प्रथम के साथ १० राणियाँ, ६ खवासनें और ६ सहेलियाँ सती हुई थी जिनकी याद मे छत्री बनायी गयी थी। अमरसिंह द्वितीय तथा संग्रामसिंह द्वितीय की छत्रियाँ बडी भव्य है जो महाराणाओ के साथ होने वाली सतियो की याद दिलाती हैं। इस अहाते मे तथा इसके बाहर भी कई छत्रियाँ है, जहाँ अनेक छत्रियो के चिह्न दिखायी देते हैं और जहाँ विशेष घटनाओ से सम्बन्धित शिलालेख भी मिलते है।

जोधपुर के निकट मण्डोर मे पचकुण्ड नामक स्थान के समीप राजकीय श्मशान थे, जहाँ राव चूंडा, राव रणमल, राव जोधा तथा राव गांगा के स्मारक बने हुए है जिनके साथ अनेक रानियाँ सती हुई थी। मालदेव के समय से इस स्थान से श्मशान को हटाकर नागद्री नदी के पास लाया गया। यहाँ एक भव्य मन्दिर बना हुआ है जो अजीतसिंह के दाह-स्थान पर बनाया गया था और जिसके साथ उनकी कई रानियाँ और खवासनें सती हुई थी।

बीकानेर मे भी बीकाजी की टेकरी सती-स्थान का द्योतक है जहाँ बीकाजी तथा उनके दो उत्तराधिकारी नरा और लूणकर्ण का दाह-सस्कार किया गया था और जहाँ उनके पीछे उनकी रानियाँ सती हुई थी। ये स्मारक छिन्न-भिन्न हो गये हैं। १७वी शताब्दी के मध्य मे इनका जीर्णोद्धार करवाया गया। पीछे से बीकाजी की छत्री संगमरमर की बनवा दी और इन पर शिलालेख भी लगवा दिया गया। इसके बाद राजपरिवार का सती-स्थान बीकानेर से ५ मील पूर्व देवकुण्ड के पास बनाया गया। यहाँ राव जैतसी से लगाकर डूंगरसिंह तक की छत्रियाँ बनी हुई है। कुछ छत्रियाँ लाल पत्थर की हैं तो कुछ संगमरमर की। कुछ छत्रियो के मध्य भाग मे खडी हुई शिलाएँ लगी हुई है जिनमे अश्वारोही राजाओ की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। इनके आगे उनके साथ सती होने वाली राणियो की आकृतियाँ बनी हुई हैं। इस स्थान मे सती होने वाली अन्तिम रानी का नाम दीपकुँवरी था जो महाराजा सूरतसिंह के दूसरे पुत्र मोतीसिंह की स्त्री थी जो अपने पति की मृत्यु पर सन् १८२५ मे सती हुई थी।

इन महासतियो का हमारे इतिहास तथा लोक संस्कृति की दृष्टि से बडा महत्त्व है। कभी-कभी महासतियो की छत्रियो मे लगे हुए स्तम्भ, पाषाण खण्ड या शिलालेख मे दिये हुए संवत् तथा घटनाएँ इतिहास के लिए बडे काम के होते है। उदाहरण के लिए, मारवाड के एक गाँव बीठू से मिला सती स्मारक राव सिंहा की मृत्यु-तिथि निर्धारित करने मे बडा सहायक है। लेख के ऊपर घोडे पर चढी हुई सिंहाजी की प्रतिमा बनी हुई है और सामने उनकी रानी पार्वती हाथ जोडे खडी है। घोडे के नीचे एक मुसलमान पडा है। ये पुरुष और स्त्री अपनी वेशभूषा के साथ बनाये गये हैं। ये सभी अकन १३वी शताब्दी के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास जानने के बडे उपयोगी हैं। भीमलत कुण्ड के पास मिलने वाले एक सती स्तम्भ से बहादुरशाह के

हमले के समय हाडी कर्मेती के सतित्व का बोध होता है। इसी प्रकार कोटमदेन नामक तालाब के तट पर पुगल के स्वामी केल्हण की कन्या रणमल के मरने पर सती हुई जिसका उल्लेख वहाँ से मिलने वाले सती-स्मारक मे स्पष्ट है। बांसवाडा के निकट नागावाडा का १६७५ ई० का लेख जो छत्री पर लगा हुआ है, यह प्रमाणित करता है कि केशवदास की स्त्री जहाँगीर की फौजो मे लडकर मरने वाले अपने पति के बाद वहाँ सती हुई और रणस्थल से मुगल सेनाएँ भाग निकली। महारावल समरसिंह के १५ योद्धा वहाँ लडकर वीरगति को प्राप्त हुए। दक्षिणी राजस्थान के पुरुष और स्त्रियो की आकृति, वेशभूषा आदि के अध्ययन के लिए यह सती-लेख बडा उपयोगी है। घोडे पर आरुढ योद्धा के पहनाव मे मुगली वेशभूषा की झलक दिखायी देती है। इस लेख की उपयोगिता भाषा सम्बन्धी अध्ययन के लिए भी है। सम्पूर्ण लेख मे वागडी भाषा की प्राधान्यता है, जो दक्षिण-पश्चिमी राजस्थानी का एक स्वरूप है। राजस्थानी भाषा मे गुजराती भाषा का प्रवेश इस भाग मे किस सीमा तक हो पाया था, इसका यह लेख एक अच्छा उदाहरण है।

कुम्भलगढ में मामादेव कुण्ड के पास भी सती-स्मारक बने हुए हैं जिनमे रायमल के पुत्र पृथ्वीराज के मरने पर तारावाई के सती होने का स्मारक बडा रोचक है। स्मारक स्तम्भ के चारो ओर पृथ्वीराज के जीवन के कई पहलू बनाये गये हैं और उनके साथ-साथ पृथ्वीराज की स्त्रियाँ बनायी गयी हैं। इसके द्वारा हम पृथ्वीराज को योद्धा, शिव भक्त, राजकुमार के रूप मे ठीक समझ सकते हैं। १५वी शताब्दी की वेशभूषा के अध्ययन मे भी यह स्मारक बडा उपयोगी हो सकता है। इस सती-स्मारक से पृथ्वीराज के घोडे का नाम साहण तथा उसकी १७ रानियो के नाम भी मालूम हो जाते हैं।

राजस्थान के स्थापत्य को समझने के लिए महासतियो की छत्रियाँ बडे काम की हैं। महासतियो की छत्रियो का स्थापत्य प्रारम्भ मे, ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के आदिम निवासियो के जिनमे भील, मीण व मेव मुख्य हैं, काठ के छप्परो से लिया गया हो। आगे चलकर इन छप्परो का स्थापत्य पतले खम्भो, मेहरावो, गुम्वजो और बारादरियो मे, मुगल प्रभाव के कारण बदल गया। इन स्मारको मे आरम्भ मे रासलीला, पौराणिक कथाओ को उत्कीर्ण किया जाता था। धीरे-धीरे इनको मुस्लिम कला के अनुकूल बेल-बूटे, गमले, सुराही, जालियो आदि से सजाया जाने लगा। अमरसिंह की नागौर की छत्री मे यह परिवर्तित रूप स्पष्ट दिखायी देता है। पहले मन्दिरो के स्थापत्य की परिपाटी के अनुसार सती-स्मारक बनते थे। मण्डोर की अजीतसिंह की छत्री इसी स्थापत्य का नमूना है जिसमे शिखर, मण्डप, स्तम्भो की प्राधान्यता है। इसके विपरीत, बीकानेर के कर्णसिंह की छत्री में बसीदार खम्भे, पाखियो वाले मेहराब, शाहजहाँकालीन स्थापत्य के निकट दिखायी देती है। कई स्थानो में आठ, बारह और सोलह खम्बे वाली तथा बरामदे वाली सतियो की छत्रियाँ मुगल बारादरी के कक्ष की हैं।

अध्याय ३०

चित्रकला और राजस्थान

भारतीय चित्रकला की प्राधान्यता अनेक विद्वानो ने मानी है और विश्व मे उसकी एक विशिष्ट मान्यता है। परन्तु खेद का विषय है कि भारतीय चित्रकला मे राजस्थान की चित्रकला का क्या स्थान है, इस पर बहुत कम प्रकाश डाला गया हैं। कुछ वर्षो पूर्व कुमार स्वामी[1] ने अवश्य हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि राजस्थान मे भी चित्रकला का एक सम्पन्नस्वरूप है, परन्तु जिस स्तर तक राजस्थान की चित्रकला विकसित हुई उसका समुचित चित्रण करने मे उक्त विद्वान असमर्थ रहे। कुछ एक चित्रो के नमूनो के आधार पर उक्त विद्वान तथा ब्राउन[2] आदि लेखको ने यह धारणा बनायी कि राजस्थानी शैली राजपूत शैली है और नाथद्वारा शैली[3] के चित्र उदयपुर शैली के है। इसका यह फल हुआ कि राजस्थान शैली का स्वतन्त्र महत्त्व स्वीकार न किया जा सका। फिर भी अधिक समय तक यह स्थिति न रह सकी। अधिकारी विद्वानो की गवेषणा से राजस्थानी शैली[4] के चित्र प्रचुर सख्या मे उपलब्ध होने लगे जिससे क्रमश यह सिद्ध होता चला गया कि राजस्थानी शैली को राजपूत शैली मे समावेशित नही किया जा सकता, वरन् उसके अन्तर्गत अनेक शैलियो का समन्वय किया जा सकता है। उत्तरोत्तर एक शैली के बाद दूसरी शैली प्रकाश मे आने लगी और आज उन शैलियो को मेवाड, मारवाड, बूंदी, किशनगढ, जयपुर, अलवर, बीकानेर, कोटा, नाथद्वारा आदि शैलियो के नाम से सम्बोधित करते हैं। कुछ लेखक 'उणियारा शैली'[5] और 'अजमेर शैली'[6] भी मानते हैं।

१ कुमार स्वामी, राजपूत पेण्टिग, प्रस्तावना

२ ब्राउन, इण्डियन पेण्टिग, पृ० ५१, श्री एन० सी० मेहता अपनी पुस्तक स्टडीज इन इण्डियन पेंण्टिग (पृ० ५) मे इसे हिन्दू चित्रकला कहते हैं।

३ बुलेटिन, बडौदा स्टेट म्यूजियम, भाग १, पृ० ३१

४ नरेशो के सग्रह मे हजारो चित्र है जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

५ वास्तव मे आँखो की बनावट मे यह शैली जयपुर शैली से बिलकुल भिन्न है। इसमे आँखें इस तरह बनायी जाती हैं कि जिनको देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हे तस्वीर पर जमा कर बनाया गया हो। इस शैली के विशेष नमूनें देखने पर अन्य विशेषताओ पर प्रकाश डाला जा सकता है।

६ अजमेर शैली का स्वतन्त्र स्थान इसलिए है कि अन्य देशी रियासतो से अजमेर का इतिहास भिन्न रहा है। यहां तुर्की तथा मुगल प्रभाव अधिक रहने से कला मे भी उसकी छाप स्पष्ट दिखायी देती है।

लेखक को भी इन्ही दिनो मे कुछ ऐसे चित्रो तथा ग्रन्थो को देखने का अवसर मिला है, जिन्हें डूंगरपुर[७] और देवगढ[८] की उप-शैलियां कहा जा सकता है। यह ठीक है कि ये उप-शैलियां उसी भाग की शैलियो के रूपान्तर हैं, परन्तु अध्ययन की दृष्टि से उनका लाक्षणिक वर्गीकरण करना आवश्यक तथा युक्तिसगत दिखायी देता है। इस वर्गीकरण का सवसे वडा लाभ यह है कि हम राजस्थानी शैली का, जो व्यापक है, अध्ययन वैज्ञानिक विश्लेपण द्वारा कर सकते है और उसका एक स्वतन्त्र स्वरूप निर्धारित कर सकते हैं। यही मनन और वर्गीकरण हमे इस तथ्य पर भी पहुँचाता है कि राजस्थानी चित्रकला का भारतीय चित्रकला मे एक महत्त्व है।

यह तो निर्विवाद है कि राजस्थान मे कलात्मक प्रवृत्ति मौलिक रूप से प्रचलित थी और उसका सम्वन्ध भारतीय कला से घनिष्ठ था। जव हमारे देश में राजनीतिक उथल-पुथल होने लगी तो भौगोलिक दृष्टि से राजस्थान इन परिवर्तनो से अधिक समय वचा रहा, जिसके फलस्वरूप यहाँ की कला अधिक समय तक मौलिक वनी रही। इस कला को अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व वनाये रखने मे विशेप सहायता मिली। अभाग्यवश हमारे सामने उस मौलिक स्वरूप के चित्र नही है, फिर भी प्राचीनकाल के भग्नावशेपो तथा तक्षणकला, मुद्राकला और मूर्तिकला के कुछ एक नमूनो द्वारा यह स्पष्ट है कि राजस्थान मे चित्रकला का एक सम्पन्नस्वरूप रहा है। विक्रम सवत् के पूर्व के कुछ राजस्थानी सिक्को[९] पर अकित मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र, धनुप, वाण, स्तूप, वोधिद्रुम, स्वस्तिक, वज्र, पर्वत, नदी आदि के जो धार्मिक चिह्न मिलते है उनसे यहाँ की चित्रकला की प्राचीनता स्पष्ट होती है। वीर सवत् ८४ का वर्ली गाँव का शिलालेख[१०] तथा वि० स० पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्यमिका (नगरी) के दो शिलालेख व उनके परिवर्तित रूप जो हमे गुप्त लिपि और कुटिल लिपि मे देखने को मिलते है, यह वताते है कि राजस्थान मे चित्रकला का समृद्ध रूप रहा है। वैराट, रगमहल तथा आहड[११] से प्राप्त सामग्री पर वृक्षावली, रेखावली तथा रेखाओ का अकन भी इसका समर्थन करते हैं कि प्राचीनकाल मे राजस्थान चित्रकला की दृष्टि से वैभवशाली था।

---

७ इस शैली का एक अवतार चरित्र का चित्रित ग्रन्थ मुझे श्री मोहनलालजी शाह के सौजन्य से देखने को मिला और अन्य चित्र देखे गये। मैंने पाया कि इनमे पुरुपाकृति के चेहरे मेवाड शैली से विलकुल भिन्न हैं और पगडी का वन्धेज भी अटपटी पगडी से मेल नही खाता। स्त्रियो की वेशभूषा मे भी वागडीपन है।

८ देवगढ के चित्र वडी सख्या में मिलते हैं जिनमे मारवाड और मेवाड कलम का समावेश है। यह विभिन्नता विशेष भौगोलिक स्थिति के कारण देखी गयी है।

९ ओझा, राजपूताने का इतिहास, भाग १, पृ० ३८

१० ए० इ०, जि० ४, पृ० २१०-८५ आदि

११ जी० एन० शर्मा, 'घूल कोट मे खोदी गयी दो खाइयो पर प्रकाश', शोधपत्रिका, १९५२

जब राजस्थान इस अवस्था से गुजर रहा था, उस समय अजन्ता परम्परा भारत की चित्रकला मे एक नवजीवन का सचार कर रही थी, विशेष रूप से उस समय जब अरब आक्रमण से पश्चिमी भारतीय भाग आक्रान्त किया जाने लगा। इन आक्रमणो के झपेटो से बचने के लिए अनेक श्रीमन्त परिवार और कलाकार, अपने निवासस्थान, गुजरात, लाट आदि प्रान्तो को छोडकर अन्य भारतीय भागो मे जाकर बसने लगे। उन्होने बगाल, बिहार, जौनपुर, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश आदि भागो मे बसना शुरु किया। जो चित्रकार इधर आये थे उन्होने भी अजन्ता परम्परा की शैली को स्थानीय शैलियो से आबद्ध किया और चित्रकला-क्रम को परिवर्द्धित किया। इस क्रम के तत्त्वावधान मे अनेक चित्रपट तथा चित्रित ग्रन्थ[१२] बनने लगे जिनमे निशीथचूर्णि त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित्र, नेमिनाथचरित्र, कथा सरित्सागर, उत्तराध्ययन सूत्र, कल्पसूत्र और कालककथा विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका चित्रण का उपक्रम-११वी शताब्दी से १५वी शताब्दी तक माना जाता है।

राजस्थान, जहाँ पहले से ही चित्रकला अच्छे विकसित रूप मे थी इस अजन्ता परम्परा से प्रभावित होने से न बची। निकट होने के नाते इस परम्परा के गुजरात के कलाकार मेवाड और मारवाड मे सर्वप्रथम पहुँचे और उन्होने इन भागो मे बसना आरम्भ किया। इस सम्मेलन ने राजस्थान की मौलिक विधि के साथ मिलकर एक नवीनता उत्पन्न की, जिसके चित्रित नमूने तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु इस विधि के चिह्न मण्डोर[१३] द्वार के गोवर्द्धन-धारण और बाडोली तथा नागदा[१४] गाँव की मूर्तिकला मे स्पष्ट दिखायी देते हैं। इस कला की विशेषताओ मे ध्यान का एक निश्चित रूप, अगो व मुद्राओ की अकड प्रमुख है।

इस शैली को, जो भारत मे एक व्यापक रूप बना चुकी थी, अनेक नामो से पुकारा जाता है। क्योकि इस शैली के तत्त्वावधान मे अनेक जैन ग्रन्थ चित्रित किये गये और यह माना गया कि इन्हें जैन साधुओ ने बनाया था, अत उसे जैन शैली कहने लगे, लेकिन यह धारणा ठीक न उतरी। जब यह पता चला कि इन ग्रन्थो को अजैन चित्रकारो ने भी तैयार किया था और अनेक अजैन ग्रन्थ, जैसे बालगोपाल स्तुति, दुर्गासप्तशती, गीतगोविन्द आदि चित्रित किये गये थे, तो जैन शैली के नामकरण मे सन्देह किया जाने लगा। इसी प्रकार जब प्रथम बार अनेक जैन ग्रन्थ गुजरात मे प्राप्त हुए, तो जैन शैली को गुजरात शैली कहा जाने लगा। पर इस नाम मे भी बाधा उपस्थित हुई, जब गुजरात के बाहर पश्चिमी भारत मे उस युग के अनेक चित्रित ग्रन्थ मिलने लगे। इस स्थिति के

---

१२ रायकृष्णदास, भारत की चित्रकला, पृ० ३८-३९

१३ ऑर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९०९-१०, पृ० १०२-१०३, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, म० २०१३, पृ० २२-४०

१४ जी० एन० शर्मा, टू फोर्गोटन केपिटल्स ऑफ मेवाड, मॉडर्न रिव्यू, १९५९

कारण गुजरात शैली के स्थान पर पश्चिम भारतीय शैली का प्रयोग किया जाने लगा। शीघ्र ही खोज की दौर ने पश्चिम भारतीय शैली के चित्रो को मालवा, गढ माण्डू, जौनपुर, नेपाल आदि अपश्चिमीय भागो मे प्रचुर मात्रा मे पाया तो इस शैली का नाम बदलने की आवश्यकता हुई। क्योकि उस समय के साहित्य को अपभ्रश साहित्य कहते हैं और चित्रकला भी काल और स्वरूप से अपभ्रश साहित्य से मेल खाती दिखायी देती है, तो इस शैली को 'अपभ्रश-शैली' कहा जाने लगा। इस मत से चित्रकला की भारतीय व्यापकता की मर्यादा की रक्षा हो गयी।[१५]

राजस्थान मे प्रसारित इस प्रभाव को हम 'जैन शैली', 'गुजरात शैली', 'पश्चिम भारतीय शैली', 'अपभ्रश शैली' आदि कुछ भी कह दें। इसमे सन्देह नही कि ७वी शताब्दी से १५वी शताब्दी तक, अविरल रूप से, राजस्थान मे मौलिक कला तथा अजन्ता परम्परा की कला के सामजस्य से पैदा होने वाले सिद्धान्तो के अनुकूल मूर्तिकला तथा शिल्पकला की प्रगति होती रही। इस दृष्टि से गुजरात और राजस्थान मे कोई भेद भी न रहा। वागड तथा छप्पन के भाग मे गुजरात से अनेक कलाकार आकर यहाँ बस गये जो आज भी 'सोमपुरा' कहलाते है। महाराणा कुम्भा के समय का मण्डन[१६] शिल्पी गुजरात से आकर यहाँ बसा था। मण्डन का नाम आज भी राजस्थानी कला मे एक सम्मान का स्थान रखता है।

ऊपर के वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि राजस्थान चित्रकला का प्रारम्भिक और मौलिक रूप, जो सामजस्य के फलस्वरूप बनने पाया था, मेवाड शैली मे पाते हैं। वल्लभिपुर से गुहिलवशीय राजाओ के साथ ये कलाकार वहाँ से सर्वप्रथम मेवाड मे आये और उन्होने अजन्ता परम्परा को प्राधान्यता देना शुरू किया। स्थानीय विशेषताओ से मिलकर यह परम्परा अपना स्वतन्त्र रूप बना सकी, जिसे हम 'मेवाड-शैली' कहते हैं। १२६१ ई० का श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रचूर्णि[१७] नामक चित्रित ग्रन्थ इसी शैली का प्रथम उदाहरण है।

इसकी वेशभूषा नागदा के मन्दिर और चित्तौड के मोकल के मन्दिर[१८] की

---

[१५] भारतीय विद्या, १९४५, जरनल ऑफ इण्डियन म्यूजियम, भा० ९, राय कृष्णदास, भारतीय चित्रकला, पृ० ४०-४८, एन० सी० मेहता, स्टडीज इन इण्डियन पेण्टिंग, प्रस्तावना

[१६] ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृष्ठ ३१५, जी० एन० शर्मा, 'मोकल्स प्लेट', इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९५४

[१७] डब्लू० एच० ब्राउन, स्टडी ऑफ कुलकप्लेट, न० २, १९३३, कुमार स्वामी, ईस्टर्न आर्ट, भाग २, पृ० २३६-४०, साराभाई जैन प्रकाश, १९३६, शोधपत्रिका, भाग ५, मार्च १९५४, मेरा लेख, 'मेवाड पेण्टिंग थ्रू एजेज', जरनल ऑफ रिसर्च ऑफ यूनिवर्सिटीज ऑफ उत्तर प्रदेश, १९५६, भाग ५, पृष्ठ ६०

[१८] मेरा लेख 'चित्तौड एण्ड मानुमेण्ट्स' उदयपुर कॉलेज मेगजीन, १९४६

तक्षणकला की मान्यता मे आती है। इस शैली की विशेपता मे सवाचश्म, गरुड-नासिका, परवल की खडी फाँक से नेत्र, घुमावदार व लम्बी उँगलियाँ, लाल-पीले रग का बाहुल्य, गुड्डिकार जन-समुदाय, अलकार बाहुल्य, चहरो की जकडन आदि मुख्य विशेपताएँ हैं। यही शैली १४२३ ई० की देलवाडा मे लिखी गयी सुपासनाचर्यम्[१६] पुस्तक मे दिखायी देती है। इसी शैली की लडी को १५३६ का कल्पसूत्र[२०] जो सरस्वती भण्डार मे सुरक्षित है, पूरा करता है। इसमे श्रमणक, पाठक, मल्लयुद्ध आदि के जो चित्र है वे उस समय की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश डालते है। इनमे चित्रित वेश-भूपा कुम्भा के विजय-स्तम्भ की मूर्तियो की वेशभूपा के अनुरूप है।

मेवाड शैली का समृद्ध रूप हमे चित्तौड के प्राचीन महलो[२१] के रगो तथा फूल की पखडियो की रेखाओ मे दिखायी देता है जो सदियो के बीत जाने पर और अरक्षित होते हुए भी आज भी नवीन और सजीव दिखायी देता है। इस शैली का एक रागिनी चित्र[२२] श्रीगोपीकृष्ण कानोडिया के सग्रह मे है, जो १६०५ ई० मे चावण्ड मे बनवाया गया था। रोचकता और मौलिकता की दृष्टि से ये चित्र अपने ढग का अनूठा है।[२३]

जब मुगलो के साथ मेवाड राज्य ने राणा अमरसिह के समय १६१५ ई० में सन्धि[२४] की तब से उत्तरोत्तर मेवाड शैली मे मुगल विशेपताओ का समावेश होने लगा जो १६२५-१६५२ ई० तक के काल मे जाकर परिपक्व हो गया। इस अवधि मे मेवाड मे जितने सुन्दर चित्रो का सृजन हुआ, वैसा किसी युग मे न हो सका।

इस शैली के अनेक ग्रन्थ मेवाड और मेवाड के बाहर अन्य राजस्थानी भागो मे चित्रित किये जाने लगे। साहबदी द्वारा चित्रित मेवाड का भागवत (१६४८ ई०), जोधपुर और कोटा के भागवत की प्रतियाँ, मनोहर द्वारा चित्रित प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम की रामायण (१६४९), साहबदी द्वारा चित्रित सरस्वती भण्डार, उदयपुर

१६ श्री विजयवल्लभ स्मारक ग्रन्थ, बम्बई १९५६

२० मेरा लेख, 'सोसायटी इन वेस्टर्न इण्डिया एज रिवील्ड इन कल्पसूत्र', जरनल ऑफ इण्डियन म्यूजियम, भाग १२, १३५६

२१ मेरा लेख 'मेवाड स्कूल ऑफ पेण्टिग', इण्डियन हिस्ट्री काग्रेस, १९५४

२२ डॉ० मोतीचन्द, मेवाड पेण्टिग, ललित कला अकादमी, प्राक्कथन

२३ जी० एन० शर्मा, 'महाराणा प्रताप की उजडी हुई राजधानी', शोध पत्रिका, १९५६, जी० एन० शर्मा, 'फॉर्गोटन केपिटल ऑफ राणा प्रताप', कॉलेज मेगजीन, जोधपुर १९५५

२४ तुजुक-ए-जहाँगीरी (फारसी), भा० १, पृ० १३४, कास्बू, अमल-ए-सलीह, भा० १, पृ० ६०-६१, नैणसी की ख्यात (मूल प्रति), पत्र ८, अमरकाव्य वशावली, पत्र ४८, डा० जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १३६-३७

की आर्शरामायण (१६५१ ई०), नेशनल म्यूजियम की रागमाला, बीकानेर की रसिक-प्रिया, १६५० ई० का प्रिन्स ऑफ वेल्स का गीतगोविन्द, श्रीगोपीकृष्ण कानोडिया के सग्रह का सूरसागर आदि चित्रित ग्रन्थ इस युग की मेवाडी शैली के अनुपम उदाहरण हैं। इस शैली में मुगल ठाठ अधिक बढता गया जबकि राजसिंह के और उनके उत्तराधिकारियो के काल मे रागमाला, भागवत (श्रीगोपीकृष्ण कानोडिया के सग्रह), सूकरक्षेत्र महात्म्य (१७१२ वि०) कादम्बरी, एकादशी महात्म्य, पचतन्त्र, मालती माधव, सुन्दर शृगार (१७८२ वि०) आदि ग्रन्थ चित्रित किये गये।[२५]

इस शैली के चित्रो मे चमकीले पीले रग और लाख के लाल रग की प्राधान्यता देखी जाती है। पुरुषो और स्त्रियो की आकृति मे लम्बे नाक, गोल चहरे, छोटा कद और मीनाक्षी आँखें रहती हैं। पुरुषो की वेशभूषा मे जहाँगीरी पटका, अटपटी पगडी और चाकदार जामा रहता है, जो मुगल प्रभाव है। इसी प्रभाव का स्वरूप बारीक कपडो के दिखाव मे भी पाया जाता है। गुम्बजदार मकानो को बनाना मुगल शैली का प्रभाव है। पहाडी दिखावो मे फारस-कला, जो गुजरात कला के साथ यहाँ आयी, स्पष्ट झलकती है। इस शैली के चित्रो मे आमतौर से कदली वृक्षो का चित्रण स्थानीय परम्परा पर आधारित है।

मेवाड की भाँति मारवाड मे भी अजन्ता परम्परा लगभग उसी काल मे प्रविष्ट हो सकी, जिस काल से वह मेवाड की ओर चली थी। इसी शैली का पूर्व रूप मण्डोर के द्वार[२६] की कला से आँका जा सकता है। तारानाथ के कथनानुसार इस शैली का सम्बन्ध शृगधर[२७] से है जिसने मारवाड शैली को स्थानीय तथा अजन्ता परम्परा के सामजस्य द्वारा जन्म दिया। इसी शैली के आधार पर ६८७ ई० मे शिवनाग ने एक धातु की मूर्ति तैयार की जो पिण्डवाडा मे है। कला की दृष्टि से यह बडी रोचक है और यह सिद्ध करती है कि मारवाड चित्रकला और मूर्तिकला मे इस समय तक अच्छी प्रगति कर चुका था।

इसके पश्चात मारवाड मे यही परम्परा वृद्धि पाती है जिसके फलस्वरूप यहाँ लगभग १००० से १५०० ई० तक अनेक जैन ग्रन्थो को चित्रित किया जाता है। इस युग के कुछ ताडपत्र, भोजपत्र आदि पर चित्रित कल्पसूत्रो[२८] व अन्य ग्रन्थो की प्रतियाँ जोधपुर पुस्तक प्रकाश मे तथा जैसलमेर जैन भण्डार मे सुरक्षित हैं।

---

[२५] डा० मोतीचन्द, मेवाड पेण्टिग, ललितकला अकादमी मार्ग, भाग ४, न० ३, डा० जी० एन० शर्मा, 'मेवाड पेण्टिग', उत्तर भारती, १९५९

[२६] कुमार स्वामी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन आर्ट, पृ० ८६-८७, राय कृष्णदास, प्राचीन भारतीय मूर्तिकला, पृ० १०२, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १९५६

[२७] मार्ग, भाग ४, न० १, तारानाथ एण्ड बुद्ध आर्ट, पृ० ६३, शाह, स्टडीज इन जैन पेण्टिग्स, पृ० २९

[२८] डा० मोतीचन्द जैन, मिनेचर पेण्टिग्ज

ठीक इस युग के बाद कुछ समय तक मारवाड पर मेवाड का राजनीतिक प्रभुत्व[२९] रहा और लगभग महाराणा मोकल के काल से लेकर राणा सागा के समय तक मारवाड मे मेवाड शैली के चित्र बनते रहे। मालदेव के सैनिक प्रभाव ने (१५३१-६२ ई०) इस प्रभाव को कम कर मारवाड शैली का फिर स्वतन्त्र स्वरूप बनाया। इस प्रणाली के आधार पर उत्तराध्यानसूत्र[३०] का १५९१ ई० मे चित्रण किया गया जो बडौदा सग्रहालय मे सुरक्षित है। मालदेव की सैनिक रुचि की अभिव्यक्ति चोखेला महल, जोधपुर की वल्लियो और छतो के चित्रो से स्पष्ट है, जिसमे राम-रावण युद्ध तथा सप्तशती के अनेक अवतरणो को चित्रित किया गया है। चेहरो की बनावट भावपूर्ण दिखायी गयी है।

जब मारवाड का सम्बन्ध मुगलो से बढता गया तो मारवाड शैली का बाह्य रूप मुगल शैली का होता गया। इस अवस्था का दिग्दर्शन १६१० को भागवत[३१] से होता है। इसमे अर्जुन-कृष्ण आदि की वेशभूषा मुगली है, परन्तु उनके चेहरो की बनावट स्थानीय है। इसी प्रकार गोपिकाओ की वेशभूषा मारवाडी ढग की है परन्तु उनके गले के आभूषण मुगल ढग के है। इस ग्रन्थ मे पाठशाला और आँखमिचौनी के दिखाव स्थानीय है, परन्तु चित्रो के शीर्षक नागरी लिपि मे गुजराती भाषा मे दिये गये हैं।

औरगजेब और अजीतसिंह के काल मे मुगल विषयो को भी प्राधान्यता दी जाने लगी। ऐसे विषयो मे अन्त पुर की रगरेलियाँ, स्त्रियो के स्नान, होली के खेल, शिकार आदि को चित्रित किया जाने लगा। विजयसिंह और मानसिंह के काल मे भक्ति-रस और शृगार-रस के अधिक चित्र तैयार किये गये, जिनमे नाथ चरित्र, भागवत, शुकनासिक चरित्र, पचतन्त्र आदि प्रमुख है। ये चित्र महाराजा के पुस्तक प्रकाश पुस्तकालय मे सुरक्षित है।[३२]

इस शैली मे लाल और पीले रग का प्रयोग अधिक किया गया है जो स्थानीय विशेषता है। परन्तु बारीक कपडो का प्रयोग, गुम्बज तथा नोकदार जामा का चित्रण मुगली है। इस शैली के पुरुष और स्त्रियाँ गठीले आकार की रहती हैं और पुरुष के गलमुच्छ, ऊँची पगडी तथा स्त्रियो के लाल फूँदने का प्रयोग किया जाता है। इस

---

२९ बुलेटिन बडौदा म्यूजियम, भाग ४, पृ० ३१, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० २९६, २७३, ३०२ आदि, ब्रिग्ज, फरिश्ता, भाग ५, पृ० २२३-२४, बेले, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ० ४७-४९, कीर्तिस्तम्भ प्रशस्ति, श्लोक १८-१९

३० बुलेटिन बडौदा म्यूजियम, भाग ५, पृ० ४६

३१ इस भागवत मे स्थानीय शैली की प्राधान्यता है।

३२ जरनल ऑफ इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट, भाग ४, १९४८, स्टीला किरमिश, अरविन्दनाथ टैगोर, पृ० ३६, इसके अतिरिक्त वि० स० १८६० के लगभग के ढोलामारू, रामायण और सूर्यप्रकाश के बडे सुन्दर चित्र के सेट हैं जो इस शैली के हैं।

शैली मे सामाजिक जीवन के हर पहलू के चित्र १८वी सदी से ज्यादा मिलने लगते हैं। उदाहरणार्थ, पचतन्त्र तथा शुकनासिक चरित्र आदि मे कुम्हार, धोबी, मजदूर, लकडहारा, चिडीमार, नाई, भिश्ती, सुनार, सौदागर, पनिहारी, ग्वाला, माली, किसान आदि से सम्बन्धित जीवन घटनाओ का चित्रण मिलता है। १८वी शताब्दी के चित्रो मे सुनहरी रग का प्रयोग मुगल ढग से खूब लिया गया है।

मारवाड शैली से सम्बन्धित बीकानेर शैली भी है जिसका समृद्ध स्वरूप अनूपसिंह के राज्यकाल मे आता है। उसके समय के प्रसिद्ध कलाकारो मे रामलाल, अलीरजा, हसन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस शैली मे पजाब की कलम का भी प्रभाव देखा गया है, क्योकि भौगोलिक स्थिति से बीकानेर उत्तरी भाग से भी प्रभावित रहा है। दक्षिण से दूर होने पर भी यहाँ फव्वारो, दरबार के दिखावो आदि मे दक्षिणी शैली का प्रभाव दिखायी देता है, क्योकि यहाँ के शासको की नियुक्ति दक्षिण मे बहुत रही है।[33]

राजस्थान शैली के अन्तर्गत बूंदी शैली का भी बडा महत्त्व है। प्रारम्भिक काल मे राजनीतिक अधीनता के कारण बूंदी कला पर मेवाड शैली का बहुत प्रभाव रहा है। इस स्थिति को व्यक्त करने वाले १६२५ ई० के लगभग के दो चित्र जिनमे एक रागमाला[34] और दूसरा भैरवी रागिनी[35] का बडा उपादेय है। इन चित्रो मे पटोलाक्ष, नुकीली नाक, मोटे गाल, छोटा कद और लाल-पीले रग की प्राचुर्यता स्थानीय विशेषताओ के द्योतक हैं। इनमे गुम्बद का प्रयोग और बारीक कपडो का दिखावा मुगली है। स्त्री की वेशभूषा मेवाडी शैली की है। इस शैली मे राव सुर्जन के काल मे (१५५४-१५८५), जिसने मुगलो की अधीनता स्वीकार करली थी, एक नया मोड आता है, जिसमे चित्र बनाने की पद्धति मे मुगलपन बढता जाता है। राव रत्न के समय मे, जो जहाँगीर का कृपापात्र था और राव माधोसिंह के समय मे, जो शाहजहाँ का कृपापात्र था, मुगल ठाठ का दौर अधिक बढ गया। चित्रो[36] मे बाग, फव्वारे, फूलो की कतार, तारो की रातें आदि का समावेश मुगल ढग से किया जाने लगा। इस शैली की विशेषताओ के चित्र कार्ल खण्डालवाला द्वारा सम्पादित बूंदी चित्रावली मे तथा कोटा के जालिमसिंह की हवेली मे है। इन चित्रो मे स्त्रियो के चेहरे मेवाडी है और फल-फूल, पानी और वृक्षावलियो का चित्रण बूंदी का है। चित्रो के चेहरे कुछ लाल रहते हैं तथा गाल, आँख और नाक के पास कुछ परछाई-सी दिखायी जाती है। कोटा मे भी राजनीतिक स्वतन्त्रता से नवीन शैली आरम्भ होती

---

[33] गोएज, आर्ट एण्ड आॅर्किटेक्ट आॅफ बीकानेर, उमरा-ए-हनूद, पृ० ६३ आदि, मआसिर-उल-उमरा, अनूपसिंह के वर्णन का अश

[34] भारतीय कला भवन, बनारस

[35] इलाहाबाद म्यूनिसिपल सग्रहालय

[36] बूंदी पेंण्टिग, ललित कला अकादमी

है परन्तु वह बूंदी शैली के आधार पर ही चलती है। बूंदी पेण्टिग मे नायिका के स्नान के चित्र की हूबहू नकल जालिमसिंह की हवेली के ऊपर वाले बायें हाथ के कमरे मे, द्वार के पास की भित्ति पर बनी हुई है, जो उक्त चित्र के सभी विषयो मे समान-सी है। इससे स्पष्ट है कि आगे चलकर भी कोटा शैली बूंदी शैली से अलग नही हो सकी। इसी प्रकार कोटा सग्रहालय मे ऐसे अनेक चित्र हैं जो कोटा मे बने थे फिर भी उन्हे बूंदी से अलग नही किया जा सकता।

सुन्दरता की दृष्टि से किशनगढ शैली[३७] के चित्र बडे रोचक हैं। जोधपुर से वशीय सम्बन्ध होने पर भी और जयपुर से निकट होते हुए भी किशनगढ मे स्वतन्त्र शैली बनी, यह एक बडे महत्त्व की वस्तु है। अन्य स्थानो की भाँति यहाँ भी चित्र प्राचीन काल से बनते रहे, परन्तु किशनगढ शैली का समृद्धकाल सावन्तसिंह से जो नागरीदास के नाम से अधिक विख्यात हैं (१६९९-१७६४), आरम्भ होता है। नागरीदास की शैली मे वैष्णवधर्म के प्रति श्रद्धा, चित्रकला मे रुचि और अपनी प्रेयसी बनी-ठनी से प्रेम का बडा हाथ रहा है। इस काल के चित्रो के सृजन का श्रेय भी उनके समकालीन कलाकार निहालचन्द को है। नागरीदास का वैष्णवधर्म मे इतना विश्वास था और उनका प्रेम बनीठनी से उस कोटि का था कि वे उनके पारस्परिक प्रेम मे राधा-कृष्ण की अनुभूति करते थे। उन दोनो के चित्र इसी भाव को व्यक्त करते हैं। कला, प्रेम और भक्ति का सर्वांगीण सामजस्य हम किशनगढ शैली मे पाते हैं। चित्र के विषयो के आधार पर भी ब्रजभापा मे कविताएँ बनायी गयी हैं और वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक चित्र भी बनाये गये हैं। इस शैली के चेहरे लम्बे, कद लम्बा और नाक नुकीली रहती है। स्थानीय गोदोला तालाब तथा किशनगढ के नगर का दूर से दिखाया जाना भी इस शैली की विशेषताओ मे है। इस शैली की वेशभूषा फर्रुखसियरकालीन है। इन विशेषताओ को हम वृक्षो की घनी-पत्रावलि वाले दिखावो, अट्टालिकाओ तथा रात के दरवारी जीवन की झाँकियो, साँझी के चित्रो और नागरीदास तथा बनीठनी के वृन्दावन सम्बन्धी चित्रो मे पाते हैं। पीछे के चित्रो मे नगराम और रामनाथ ने भी इस शैली का उपयोग किया था।

राजस्थान शैली मे यदि मुगल शैली का कही आधिक्य रहा है तो वह जयपुर तथा अलवर शैली मे है। इसका कारण भी स्पष्ट है। इन राज्यो का मुगलो मे सम्बन्ध निकट का बना रहा है। विशेप रूप से मुगल जीवन और नीति पर जयपुर के महाराजाओ के प्रभाव की बडी छाप रही है। यहाँ के चित्रो मे रास-मण्डल, बारामासा, गोवर्द्धन-धारण, गोवर्द्धन-पूजा आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। पोथीखाने के आसावरी रागिणी के चित्र और उसी मण्डली के अन्य रागो के चित्रो मे स्थानीय

---

[३७] जयपुर पोथीखाना के दो चित्रपट जिसमे नागरीदास और बनीठनी बने हैं। अन्य चित्रो के लिए द्रष्टव्य खण्डालवाला द्वारा सम्पादित, किशनगढ पेण्टिग, ललित कला अकादमी

शैली की प्राधान्यता दिखायी देती है। कलाकार ने आसावरी रागिणी के चित्र मे शबरी के केशो, उसके अल्प कपडो, आभूषणो तथा चन्दन के वृक्ष के चित्रण मे जयपुर शैली की प्राचीनता को तथा वास्तविकता को खूब निभाया है। इसी तरह पोथीखाना के १७वीं शताब्दी के भागवत के चित्रो मे, जो लाहौर मे एक खत्री के द्वारा तैयार करवाये गये थे, स्थानीयता का अच्छा दिग्दर्शन है। १८वी शताब्दी की भागवत मे रगो की चटक मुगली है। चित्रो मे द्वारिका का चित्रण जयपुर नगर की रचना के आधार पर है और कृष्ण-अर्जुन की वेश-भूषा मुगली है। जयपुर शैली में आभूषणो मे मुगल प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। उसके द्वारा हम कई मुगल आभूषणो और जयपुर की कला का भी अध्ययन कर सकते है। स्त्रियो की वेश-भूषा मे भी मुगलीपन अधिक है। उनके अधोवस्त्र मे घेरदार घाघरा ऊपर से बांधा जाता है और स्त्रियो को पायजामा तथा छोटी 'ओढनी' पहनायी जाती है, जो मुगल परम्परा के अनुकूल है। चेहरो की चिकनाहट और गौरवर्ण फारस शैली के अनुकूल है। पोथीखाना के स्टेण्डो पर लगे हुए चित्रो मे फकीर को भिक्षा देती हुई स्त्रियाँ, कुरान पढती हुई राजकुमारी, जहाज आदि के चित्रो मे जयपुर शैली का अच्छा समर्थन है।

अलवर की शैली के चित्रो मे मुगल सम्राटो के और उनके अधिकारियो के चित्र, रागिणी के चित्र आदि स्थानीय सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। इस शैली के चित्र औरगजेब के काल से लेकर पिछले मुगलकालीन सम्राटो तथा कम्पनी काल तक प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। जब औरगजेब ने अपने दरबार की सभी कलात्मक प्रवृत्तियो को तिरस्कृत रूप से देखना शुरू किया तो राजस्थान की ओर आने वाले कलाकारो का प्रथम दल अलवर मे टिका, क्योकि मुगल दरबार से यह राज्य सबसे निकटतम था। मुगल शैली का प्रभाव वैसे तो पहले से भी यहाँ था, पर उस स्थिति मे यह प्रभाव अधिक बढ गया।[३८]

जिस प्रकार जोधपुर और जयपुर से सम्बन्धित होते हुए भी किशनगढ शैली अपने ढग की निराली है, उसी प्रकार मेवाड मे होते हुए भी नाथद्वारा शैली अपनी विलक्षणता लिये हुए है। इस शैली का प्रारम्भ १६७१ ई० से होता है जब श्रीनाथजी की मूर्ति व्रज से यहाँ आती है। तभी से इनके साथ आये हुए व्रजवासी चित्रकार श्रीनाथजी के प्रागट्य की छवियाँ बनाने लगे। क्योकि महाराणा राजसिंह के कारण मूर्ति को यहाँ रखा गया, प्रागट्य की छवियो मे महाराणा तथा रानियो के भक्ति भाव का दिखावा भी उनके साथ जोड दिया गया। बडौदा का चित्रपट इसी भाव को व्यक्त करता है। धीरे-धीरे नाथद्वारा वैष्णव धर्मावलम्बियो का यात्रा-स्थल बनता चला गया। इस स्थिति ने चित्रकाला को अधिक उन्नत बनाया। श्रीनाथजी की छवियो तथा वैष्णव धर्म मे आचार्यों और कृष्ण-लीला सम्बन्धी वार्ताओ के चित्रो की माँग बढने लगी जिससे आसपास के राज्यो से, जिनमे उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, अलवर आदि

---

[३८] आर्ट गेलेरी, अलवर सग्रहालय

मुख्य है, कलाकार यहाँ आकर बसने लगे। चित्रों के सृजन में मौलिक आधार श्रीनाथजी के प्रागट्य, आचार्यों के दैनिक जीवन और कृष्ण-लीला थे। इन कलाकारों ने अपने मौलिक स्थान की पद्धति का प्रयोग, जिसके वे अभ्यस्त थे, जारी रखा। इस प्रकार नाथद्वारा शैली में स्थानीय आधार के साथ राजस्थान तथा अन्य उत्तरी भागों की शैलियों को समुचित समावेश किया गया, जिसने नाथद्वारा शैली को जन्म दिया। स्थानीय चित्रकारों के घरानों तथा मोतीमहल के चित्रों में श्रीनाथजी, यमुना स्नान, आँख-मिचौनी, हिंडोला, जन्माष्टमी, अन्नकूट आदि उत्सवों के चित्र, विशेष रूप से १८वीं शताब्दी के, बड़े रोचक हैं। कुछ चित्रों का ठाठ जयपुर पोथीखाने के चित्रों और कुछ ठाठ सरस्वती भण्डार उदयपुर और कुछ एक का ठाठ अलवर तथा जोधपुर के चित्र संग्रहालय से मिलते हैं। १९वीं शताब्दी के अन्त में नाथद्वारा शैली ने व्यवसायी कला की ओर करवट बदली जिससे इस शैली में एक नया परिवर्तन आया। इस शैली के सहस्त्रों चित्र आज बाजार में बिकते हैं और छापे जाते हैं।[३९]

राजस्थान की इन सभी उप-शैलियों के वर्णन से एक बात अवश्य स्पष्ट है कि इनमें एक मौलिक एकता है। इन सभी उप-शैलियों के गर्भ में अजन्ता परम्परा की प्राधान्यता प्राचीनकाल के चित्रों में देखी जाती है। विषयों के चुनाव में राग-रागिनी, बारामासा, भागवत, रामायण, गीतगोविन्द आदि हैं जो सभी उप-शैलियों में पाये जाते हैं। प्रारम्भिक राजस्थानी उप-शैलियों में जो पुरुषों का पहनावा अर्थात् पगड़ी, जामा, पटका, पायजामा आदि पाया जाता है, उससे राजस्थानी कला की उत्पत्ति मुगल कला से नहीं वरन् उससे प्रभावित कही जानी चाहिए। सभी शैलियों में राजस्थानी कलाकार विशेष रूप से जन-समुदाय का साधारण व्यक्ति है न कि एक दरबारी कलाकार। अतएव उसका सम्बन्ध जनजीवन से अधिक है। राजस्थानी कलाकार को सम्मान और प्रसिद्धि की कामना नहीं रही। वह कला की सेवा से ही एक प्रसिद्धि का कारण मानता रहा है। ये विशेषता राजस्थानी कला की मौलिक एकता का प्रमुख आधार है।[४०]

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि राजस्थान चित्रकला की दृष्टि से बड़ा समृद्ध प्रान्त है। भारतीय चित्रकला के व्यवस्थित अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि इस चित्रकला की निधि को, जो अनेक राजप्रासादों की भित्तियों तथा संग्रहालयों में सुरक्षित

---

३९ बुलेटिन बड़ौदा स्टेट म्यूजियम, भा० १, संख्या २, पृ० ३१, गांगुली, मास्टर-पीसेज ऑफ राजपूत पेण्टिंग, प्लेट १०, एन० सी० मेहता, स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग, प्लेट २, रूपम, नं ४१, ४४,३०, पृ० १४ तथा ६०, डा० जी० एन० शर्मा, नाथद्वारा पेण्टिंग फ्रोम सेवन्टिन्थ टू ट्वण्टियथ सेन्चुरी', इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, (ट्रिवण्डम), पृ० ५५८, ५६४

४० राय कृष्णदास, भारत की चित्रकला, पृ० ५६, ५८ आदि, हिन्दुस्तानी, अप्रैल १९३१, पृ० २२७-३९

है, टटोला जाय और उनका वैज्ञानिक विश्लेपण किया जाय। पोथीखाना जयपुर, पुस्तक प्रकाश जोधपुर, सरस्वती भण्डार उदयपुर और स्थानीय महाराजाओं तथा सामन्तो के सग्रहालयो मे चित्रकला का ऐसा समृद्ध साहित्य उपलब्ध है जो न केवल राजस्थान को धनी बनाये हुए है वरन् भारत की अथाह कला निधि का एक कोप है। इसी प्रकार राजस्थान के कुछ एक कलात्मक सामग्री के सग्रहकर्ताओ के हम ऋणी हैं जिनमे श्री मोतीचन्दजी खजाची तथा श्री रामगोपालजी विजयवर्गीय के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं, जिन्होने विशेष रूप से प्राचीन तथा मध्यकालीन चित्रो का बहुत उपयोगी सग्रह किया है। इन्ही दिनो मुझे इन कला प्रेमियो के सग्रहो को देखने का अवसर मिला, जिसमें मैंने देखा कि इनकी रुचि और उदारता के कारण आज राजस्थान से निकल जाने वाली कला की समृद्धि यहाँ रह सकी, अन्यथा इनके बिना हमे चित्रकला की जानकारी प्राप्त करना कठिन था। श्री खजाचीजी के सग्रह मे मेवाड, बीकानेर, जयपुर, किशनगढ, बूंदी, दखिनी और मुगल शैली के अनेक चित्र उपलब्ध है जो तत्कालीन समाज और सस्कृति पर बडा प्रकाश डालते हैं। किशनगढ शैली के नौका-विहार, दीपावली, होली आदि के चित्र, मेवाड शैली का दास-प्रथा पर प्रकाश डालने वाला चित्र तथा अमरसिंह और शाहजादी का चित्र विशेप उल्लेखनीय हैं। इसी तरह अन्य कला-प्रेमियो के सग्रह के बारामासा, राग-रगिणी, गीतगोविन्द, भागवत, मुगल सम्राटो तथा नागौर शैली के फकीर और स्त्रियो के चित्र, शिकार के विविध प्रकार के चित्र तथा चकडोलर और दरबारी जीवन के चित्र राजस्थानी सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

बडे हर्ष का विपय है कि राजस्थान सरकार ने इस कलात्मक रुचि को प्रोत्साहन देने के लिए गत वर्षो से आर्ट अकादमी की स्थापना की है जिसके अध्यक्ष महोदय, सचिव तथा कार्यकारिणी के सदस्य इस अभिव्यक्ति को प्रदर्शनियो तथा विद्वानो के भाषणो द्वारा क्रियात्मक रूप देने मे सराहनीय और सफल प्रयत्न कर रहे हैं। इस दिशा में श्री कृपालसिंह शेखावत, श्री रामगोपालजी विजयवर्गीय, प्रो० श्री परमानन्दजी चोयल, श्री गोवर्द्धनजी जोशी, श्री द्वारिका प्रसादजी, श्री भूरसिंहजी शेखावत, श्री भवानी चरणजी गुई आदि हमारे समकालीन कलाकार भी राजस्थानी कला को साकार रूप प्रदान करने मे प्रयत्नशील है। उनका प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। आशा है इस प्रगति को आर्ट अकादमी प्रबुद्ध रखकर तथा प्राचीन और अर्वाचीन चित्रो और चित्रकारो की सूची तैयार करवाकर राजस्थान की कला को स्थायी सम्पन्नता प्रदान करेगी।

अध्याय ३१

राजस्थान का मध्यकालीन शासन

शासक और उनके आदर्श

मध्ययुगीन राजस्थान के नरेश, छोटी से छोटी इकाई के राजा होते हुए भी, अपने आपको प्रभुता सम्पन्न शासक मानते थे। इसी भावना से प्रेरित होकर वे अपने लिए महाराजाधिराज, राजराजेश्वर, नृपेन्द्र आदि विरुद को धारण करते थे। उनके आश्रित कवि या लेखक इन्हे इसी प्रकार के विरुद से सम्बोधित करते थे। कम से कम इनके मामन्त इन्हे पूर्ण प्रभुता सम्पन्न ही मानते थे। इनमे अपने वश-गौरव का बडा मान था। कोई राजवश यदि अपने को राम का वशज मानते थे तो कोई अपने को लक्ष्मण का। सूर्यवशी या चन्द्रवशी सज्ञा मे अपनी गणना करना एक प्रकार से श्रेष्ठता का दावा करना था। इस तरह की प्रधानता के साथ-साथ सशक्त शासक दिग्विजय की महत्त्वाकाक्षा रखना अपने जीवन का एक लक्ष्य मानते थे। पृथ्वीराज चौहान[१], हम्मीर चौहान[२] आदि राजाओ ने विजय योजना मे दिग्विजय को प्रमुखता दी। जब मुगलो की शक्ति बढ गयी तो दिग्विजय की स्मृति मे 'टीका दौड'[3] की परम्परा बनी। वर्षाऋतु की समाप्ति पर बहुधा शासक अपने राज्य की सीमा के बाहर शिकार के लिए निकल पडते थे और अपनी प्रभुता के आदर्श का सम्मान करते थे। म्लेच्छो से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने या उनसे पराजित होने की स्थिति मे भी राजस्थानी नरेश विदेशी शत्रुओ से युद्ध करना अपना धर्म समझते थे। महाराणा राजसिंह ने इसी भावना के आधार पर 'विजय कटकातु'[४] का विरुद धारण किया था और युद्ध के लिए तैयारी करना आरम्भ की थी। तीर्थस्थानो को म्लेच्छो से मुक्ति दिलाना वे अपना कर्तव्य समझते थे। महाराणा लाखा[५], राव जोधा[६] आदि के सम्बन्ध

---

१ पृथ्वीराज विजय, सर्ग १२

२ हम्मीर महाकाव्य, सर्ग ९

३ राजविलास, सर्ग ६, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १५७

४ पट्टा, वि० स० १७५४, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १६५

५ कुम्भलगढ का शिलालेख, श्लो० २०७, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ११९, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० १, पृ० २६०

६ घोसुण्डी लेख, वि० स० १५६१, रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा०

मे गया, काशी आदि पवित्र स्थानो को म्लेच्छो से छुडाने के उल्लेख मिलते है। इस पुनीत कार्य के सम्मान मे उनकी मान्यता गौ, ब्राह्मण तथा धर्म के प्रतिपालक के रूप मे थी।

इस काल के राजस्थानी नरेशो को जनता ईश्वर का प्रतिनिधि, भगवान का अश और ईश्वर का अवतार मानती थी। कम से कम वे समझते थे कि उनमे ईश्वर का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता है।[७] मेवाड के शासको ने श्री एकलिगजी को अपना अराध्य देव स्वीकार किया था और वे अपने आपको उनका दीवान कहते थे। इसीलिए मेवाड के सभी दस्तावेजो मे 'श्रीएकलिगजी प्रसादातु' और राणाओ के सम्बन्ध मे 'दीवणजी आदेशतु अकित रहता था।[८] मेवाड मे राज्य चिह्न 'श्री एकलिगजी' का स्वीकृत था और मारवाड मे वाज का, जो शक्ति का द्योतक था। इन नरेशो की कुल देवियो का भी शासन और दैनिक जीवन मे बडा सम्मान था। मेवाड राजवश की पवित्रता और प्रतिष्ठा इतनी सम्मानीय थी कि सभी राजपूत नरेश गुहिल और बप्प-वशीय शासको को अपना नेता स्वीकार करते थे। शिवाजी के महत्व को अधिक बढाने के लिए सीसोदिया राजपरिवार से उनका सम्बन्ध जोडा गया। नेपाल का राजवश भी अपने को सीसोदिया से सम्बन्धित मानता है। मराठो का विरोध करने के लिए भी राजस्थानी नरेशो ने हुर्डा[९] मे (१७३४ ई०) उदयपुर के महाराणा को प्रमुखता दी थी, क्योकि उसकी वशीय विशुद्धता और श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया था।

नरेशों का पद, अधिकार और कार्य

अपने वशीय महत्त्व से राजस्थान के शासक अपने राज्य के सर्वेसर्वा थे। राज्य का शासन, न्याय-वितरण, उच्च पदो पर नियुक्ति, दण्ड, सैन्य सचालन, सन्धि, आदेश आदि के सूत्र का सम्पूर्ण आधार इनके व्यक्तित्व मे निहित था। धर्म की रक्षा करने और प्रजा के पालन का उत्तरदायित्व इनके कन्धो पर था। इन कार्यो से उन्हें सतत् उद्‌बोधित रखने के लिए उनकी प्रजा प्राय उन्हें 'धर्मावतार' तथा 'माई बाप' कहती थी। उनसे रामराज्य की अपेक्षा की जाती थी और उन्हें 'रामावतार' के नाम से सम्बोधित किया जाना था। देश की रक्षा का भार उनके ऊपर होने से विशेष रूप से उन्हे खुम्माण पद से विभूषित किया जाता था। इन सभी कर्तव्यो से अवगत होने के नाते उस समय के शासक राजनीतिक और सैनिक आवश्यकताओ से प्रेरित रहते थे। सभी प्रकार की शक्ति उनमे निहित होने से वे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते थे। इस प्रकार के

---

७ "The rulers of Rajasthan being the counterpart of God on earth"
—G N Shama, *Rajasthan Studies*, p 178

८ जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १८४-८६

९ वशभास्कर, भा० ४, पृ० ३२२७-२८, टॉड, राजस्थान, जि० १, पृ० ४८२-८३, वीरविनोद, भा० २, पृ० १२१८-२१, ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, भा० २, पृ० ६२८-३०

विशेष अधिकार के कारण प्राय ज्येष्ठ पुत्र अथवा पूर्व-घोषित युवराज को राज देने की प्रथा चल पडी। महाराणा उदयसिंह ने प्रताप के होते हुए भी जगमाल को अपना उत्तराधिकारी चुना और महाराजा गजसिंह ने अमरसिंह के बजाय जसवन्तसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाया। अलबत्ता सामन्तो ने कभी-कभी राज्य के हित को दृष्टिकोण मे रखते हुए उत्तराधिकार के मामले मे हस्तक्षेप भी किया, जैसा कि प्रताप के सम्बन्ध मे सर्वविदित है।[१०]

नरेशो का सर्वाधिकार होने मे उनके द्वारा सम्मानित रानियाँ भी बडी प्रभावशील होती थी। वे भी राज्य-कार्य मे भाग लेती थी और विशेष रूप से युद्ध के अवसर पर अपने पति और परिवार के लिए प्रेरणा की स्रोत बनती थी। भाटी वशीय रानियो का दरबार मे बडा प्रभाव होता था और उनके कारण उत्तराधिकारियो की परम्परा को बदल दिया जाता था। अवसर आने पर, विशेष रूप से, अपने पुत्र के अल्पवयस्क होने पर, राजमाताएँ राज्य का कार्य सँभालती थी। हसाबाई और भट्टियानी रानी के उदाहरण सर्वविदित हैं। सैनिक सकट के समय भी ये रानियाँ अपने अपूर्व साहस और सूझबूझ का परिचय देती थी। रणथम्भौर, जालौर, चित्तौड आदि दुर्गों के आक्रमण के समय उस युग की रानियो ने सहस्रो महिलाओ के साथ सती-व्रत का पालन कर अपने अदम्य साहस का परिचय दिया। इसी प्रकार पद्मिनी ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से रत्नसेन को छुडाने मे कमाल दिखाया। इन्ही कारणो से राजमहल की स्त्रियो का शासन मे एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता था और वे शासक को बहुधा अपने मत से प्रभावित करती थी। कभी-कभी इनका प्रभाव जनहित के पक्ष मे भी होता था। सवाई जयसिंह के समय के कई सामाजिक सुधारो मे राजमहल की रानियो की सम्मति का हाथ होना माना जाता है।

मध्ययुगीन शासक अपने पूर्वजो की भाँति धर्म-सहिष्णु भी होते थे। विशेषत शैव, शाक्त अथवा वैष्णव होते हुए भी इतर धर्मावलम्बियो के प्रति इनकी नीति धर्मसहिष्णु होती थी। इस समय के कई शैव शासको ने शाक्त और वैष्णव मन्दिरो को अनुदान के द्वारा सम्मानित किया। पृथ्वीराज चौहान[११], हम्मीर चौहान[१२], महाराजा मालदेव[१३],

---

[१०] "They exercised supreme civil, criminal and military powers within the jurisdiction of the States All the high officials of the State were appointed by them In brief, the rulers of Rajasthan were vested with both temporal and religious powers, and as such no deed was beyond their authority"
—G N Sharma, *Rajasthan Studies*, p 179

[११] दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान-डाइनेस्टीज, पृ० ९३-९५

[१२] वही, पृ० ११४-१५

[१३] रेऊ, मारवाड का इतिहास, भा० १, पृ० १४४

महाराणा राजसिंह[१४], महाराजा रायसिंह आदि शासको ने अपने राज्य मे कई जैन मन्दिरो और आचार्यो के प्रति अनुदान और सम्मान द्वारा श्रद्धा प्रकट की। यहाँ तक कि इस युग के शासको[१५] ने अजमेर दरगाह के लिए गांवो को भेंट कर अपनी उदारता को व्यक्त किया। जोधपुर की हवाला वहियो तथा जयपुर के 'स्याह हजूर' के उल्लेखों से स्पष्ट है कि राजस्थान के नरेश जिस प्रकार हिन्दू धर्मावलम्बी साधु और सन्तो का सम्मान करते थे, उसी प्रकार वे काजियो, मौलवियो, दादूपन्थियो, खाखियो, नानकशाहियो आदि के प्रति उदार थे। महाराणा प्रताप, महाराजा मालदेव, सुर्जन हाड़ा आदि शासकों को लम्वे समय मुगलो का विरोध करना पडा, फिर भी उन्होने अपने आश्रित मुसलमानो को ऊँचे-ऊँचे पद दिये। महाराणा प्रताप का एक सेनानायक हकीम सूर था। राजस्थान मे मुगल विरोध काल मे भी मुसलमानो पर अत्याचार होने के उल्लेख नही मिलते। यहाँ तक कि यहाँ बर्बरता का वदला लेने के लिए मस्जिदें तोडने या स्त्रियों पर वलात्कार के उदाहरणो का पूर्ण अभाव है। खानखाना की स्त्रियो को सकुशल मेवाड से लौटा देना महाराणा प्रताप के व्यक्तित्व को वहुत ऊँचा उठा देता है। इस स्थिति से स्पष्ट है कि इस युग मे राजस्थानी नरेशो के लिए धर्म-सहिष्णु होना स्वाभाविक था।

इस काल के शासक केवल शान्ति स्थापना और देशरक्षा तथा प्रजापालन को ही अपने जीवन का लक्ष्य नही समझते थे, वे अपने राज्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति मे भी रुचि लेते थे। वे साहित्य, कला, उद्योग, व्यापार, वाणिज्य आदि की उन्नति मे लगे रहते थे। इसी विचार से इनकी नीति योग्य व्यक्तियो को प्रश्रय देने तथा प्रोत्साहित करने की रहती थी। भव्य राजप्रासाद, सुदृढ दुग, कलापूर्ण मन्दिर, सुन्दर उद्यानों आदि के निर्माण द्वारा इन्होने अपनी कलापूर्ण अभिरुचि की अभिव्यक्ति की जिसका विस्तार से वर्णन पहले के अध्यायो मे किया जा चुका है। उस समय के दरबारी कवि, चित्रकार, साहित्य सेवी तथा शिल्पकार ससार के किसी भी देश और काल के आभूषण हो सकते थे। अलवत्ता इस सम्बन्ध मे इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि उस युग की सुसस्कृत राज्य की व्याख्या दरवार के वैभव, तडक-भडक एव व्यक्तिगत सुविधाओ तक सीमित थी। उस ममय सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, चिकित्सा आदि का, हमारे समय की समुचित व्यवस्था का, अभाव अवश्य था।

उस समय के नरेशो के विशेषाधिकार उनकी श्रेष्ठतर महत्ता के परिचायक थे। इन अधिकारो का उपयोग या तो उनके तथा उनके परिवार के व्यक्तियो के लिए सीमित था या उनका उपयोग राजाज्ञा से किया जा मकता था। दरवार लगाना, उत्सवो या नियमित अवसरो पर सवारी निकालना, शिकार का आयोजन करना,

---

[१४] राजसिंहकालीन दानपत्र, ओल्ड डिपोजिट रेकार्ड, वि० स० १७२६, १७३४ आदि

[१५] दरगाह फाइल, १८२७-४४

नक्कारे का प्रयोग करना, उपाधि-वितरण करना, आज्ञा की मुहर का प्रयोग करना, मृत्यु-दण्ड, अग-भग आदि की आज्ञा देना, तुलादान करना अथवा पशु-युद्ध करवाना आदि इनके विशेषाधिकार थे। उन नरेशो की दिनचर्या भी साधारणत अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा कुछ विशेषताओ को लिए हुए होती थी। प्रात दरबार लगाने के समय सभी अधिकारी उनको अभिवादन करने पहुँचते थे। जबकि वे स्नानदि दिनचर्या से निवृत हो जाया करते थे, तब वहाँ राज्य के अधिकारियो को आवश्यक आदेश दे दिये जाते थे। भोजन के उपरान्त न्याय, शासन, व्यवस्था आदि का काम देखा जाता था। सध्या के पूर्व सवारी के समय फरियाद को सुना जाता था और निरीक्षण का कार्य किया जाता था। मनोरजन के कार्य भी इन कार्यो के अतिरिक्त किये जाते थे जो व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक भी होते थे। साधारणत इन राजाओ को प्रात काल से लेकर रात तक राजकार्य मे ही समय बिताना होता था। इस प्रकार के कार्यक्रम मे लोभ-विलोभ अवस्था भी कुछ शासको के लिए देखी जाती है, जो प्रमादी थे। फिर भी वह युग ऐसा था जब प्रत्येक व्यक्ति को अपने राज्य और निजी पद को सुरक्षित रखना पडता था, अतएव उन्हे अपनी दैनिकचर्या का अधिकाश समय राजकार्य मे ही लगाना पडता था, केवल कुछ समय स्नान, पूजा, विश्राम, भोजन, मनोरजन के लिए निर्धारित होता था।[१६]

ऊपर दिये गये वर्णन से यह तात्पर्य नही है कि राजस्थान के नरेश स्वच्छन्द शासक थे। उनके अधिकारो की सीमाएँ थी। जब उनके शासन मे कोई खराबी दीख पडती थी तो सामन्तगण, राज्य के मध्यम श्रेणी के वर्ग तथा पचायतें उनके अधिकार के क्षेत्र मे हस्तक्षेप कर सकते थे और उन्हे उचित व्यवस्था के लिए बाध्य कर सकते थे। भूमि के वितरण मे, मेले-त्यौहार के समय लगाये जाने वाले करो मे छूट, जाति परम्परा से सम्बन्धित झगडो मे स्थानीय सस्थाओ और समुदायो की सम्मति राजाओ के लिए मान्य होती थी। राजकीय व्यवस्था मे किये गये हस्तक्षेप के उल्लेख हकीकत बहियो और न्याय-निर्णय सम्बन्धी पत्रो मे उल्लेखित मिलते है। अधिक कर बढाने के अवसर पर या दुष्काल के समय करो की छूट के लिए देपुरा, बीदासर, जालौर, कोटा के निकटवर्ती भाग के किसानो और स्थानीय महाजनो ने अपने राज्यो मे कर सम्बन्धी छूट कराने मे सफलता प्राप्त की थी।[१७]

सामन्त वर्ग और शासन

शासको का महत्त्वपूर्ण सहयोगी वर्ग सामन्तो का होता था जो या तो शासक की वश-प्रणाली का होता था या दूसरे प्रान्त से आकर उनके साथ मिल-जुलकर रहता

---

१६ हकीकत बही, जोधपुर, वि० स० १७३६-१७६० आदि, दस्तूर कौमवार, जयपुर, स्याह हजूर, १७८८, १७८५, १७६० ई० आदि

१७ हकीकत बही, वि० १८३५-७०, ओल्ड डिपोजिट रेकार्ड, सहाडा, वि० १८७५, बीकानेर हकीकत बही, १८२५ आदि

था। जिस प्रकार एक राजा का धर्म देश सुरक्षा के लिए होता था उसी प्रकार इन सामन्तो को भी ऐसी सुरक्षा व्यवस्था मे अपना हाथ बटाना होता था। इसी के उपलक्ष मे वे अपने अधिकार की भूमि का उपभोग करते थे। कार्य के तथा अधिकार के विचार से वे राज्य के कार्यो के बाधक दिखायी देते थे, परन्तु इनकी सेवाएँ कई अर्थो मे शासक को शक्ति सम्पन्न बनाने मे उपयोगी सिद्ध हुई थी। जब राज्य पर आपत्ति आती थी तो वे अपने अनुयायियो सहित राज्य के लिए मर-मिटने को उद्यत रहते थे। वार्षिक कर को देकर वे राजकीय कोष की पूर्ति भी करते रहते थे। शान्ति काल मे उत्सव और त्यौहारो मे उपस्थित होकर दरबार की शोभा भी इनके द्वारा परिवर्द्धित होती थी। परन्तु यदि वे अपने अधिकारो का अतिक्रमण करते थे तो इनकी जागीर जब्त कर ली जाती थी या उन्हे कम कर दी जाती थी। महाराणा अमरसिंह प्रथम ने तथा अजीतसिंह ने ऐसे जागीरदारो पर प्रतिरोध के नियमो द्वारा शक्ति सन्तुलन बनाये रखा था। मेडता के जागीरदार तथा बीकानेर और उदयपुर के जागीरदारो पर, जो अपने अधिकारो का दुरुपयोग करने लगे थे, समय-समय पर राज्य द्वारा उनके विरुद्ध कदम उठाये गये थे। निर्बल शासको के समय इस प्रकार की स्थिति की अधिक सम्भावना थी।[१८]

मन्त्रियों के कार्य और उनका महत्त्व

-सर्वोपरि राजसत्तात्मक शासन मे भी राजस्थान के मन्त्रिमण्डल के उल्लेख मिलते हैं जिसकी नियुक्ति स्वय शासक करता था। ये कभी वशानुक्रम से आने वाले सदस्यों से बनता था और कभी इसमे नयी नियुक्तियाँ भी होती थी। इनके वेतन और समय का कोई निश्चित क्रम नही था। जो क्रम एक राज्य मे था उस क्रम का होना दूसरे राज्य के लिए आवश्यक नही था। पूर्व मध्यकाल मे, सारणेश्वर शिलालेख से विदित होता है कि मेवाड मे अमात्य (मुख्यमन्त्री), सन्धिविग्रहिक (युद्ध और सन्धि का मन्त्री), अक्षपटलिक (पुरालेख मन्त्री), वदिपति (मुख्य भाट), भिपगाधिराज (मुख्य वैद्य) आदि मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे। सतत् युद्ध की स्थिति से इनके सैनिक और

---

[१८] अर्जी फाइल, १८५८, भण्डार मुत्फर्कात, वि० १६५७, परिहार ख्यात इन्दा, २६-२७, शर्यारिंग, हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट, मेलकोम, मेमायर्स ऑफ सेण्ट्रल इण्डिया, पृ० ४४६, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० ८५-९०

"Though this kind of institution, in theory, may be regarded as a negation of political power, it was one of the most powerful institutions in Rajasthan which made the monarchy stable and strong Ofcourse the existence of the feudal order sometimes became a source of trouble"

—G N Sharma, *Rajasthan Studies*, pp 179-81

शासन कार्य का कोई विभाजन नही था। अन्य राज्यो मे भी इसी प्रकार के पद मन्त्रियो के लिए पाये जाते हैं।[१९]

प्रधान—मुगलो के आगमन से तथा उनसे सन्धि होने या उनके दरबार के सम्पर्क मे आने से राजस्थान के शासन मे कुछ परिवर्तन आये और विशेष रूप से कुछ नये पदो की व्यवस्था हुई तथा पुराने पदो को मुगल ढग से कहा जाने लगा। जो पद प्राचीन परम्परा के अनुसार बने रहे उनमे प्रधान पद बडे महत्त्व का था। यह राजा से दूसरी श्रेणी मे था जो शासन, सैनिक और न्याय सम्बन्धी कार्यों मे उसकी सहायता करता था। महाराणा रायमल का प्रधान पचोली हिम्मत था। सागा के समय गिरधर पचोली प्रधान पद पर था। उदयसिंह का प्रधान शाह आशा था तो प्रताप का भामाशाह। अमरसिंह के समय मे प्रधान को मुख्यमन्त्री कहते थे और वह डूंगरशाह था। राजसिंह के समय मे प्रधान को मन्त्रीप्रवर कहते थे।[२०]

जोधपुर राज्य मे प्रधान पद आउवा ठिकानेदार के लिए वश परम्परागत था। महाराजा विजयसिंह के समय इस पद को आसोप ठाकुर के लिए निर्धारित कर दिया गया था। मानसिंह के समय से पोखरन के ठाकुर इस पद को धारण करते थे। यह पदाधिकारी साधारण शासन और सैनिक शासन के अधिकारो का भोक्ता होता था। मारवाड तथा अन्य राज्यो मे भूमि के अनुदानो पर प्रधान के हस्ताक्षर होना आवश्यक था। उत्सव या सवारी के अवसर पर प्रधान शासक के ठीक पीछे बैठता था। एक अच्छे प्रधान के लिए एक अच्छा शासक और चतुर दरबारी होना आवश्यक था।[२१]

दीवान—कही प्रधान की अवस्था मे और कही प्रधान के न रहते हुए राज्यो का सर्वोच्च अधिकारी दीवान होता था, जो मुख्य रूप से अर्थ-विभाग का अध्यक्ष होता था। जहाँ प्रधान नही होते थे, दीवान प्रधान का कार्य भी करते थे। इस पदाधिकारी के कामो मे मुख्य रूप से आर्थिक कार्य, कोष और कर सग्रह के कार्य थे। इनके नीचे कई कारखाने जात के दरोगा, रोकडिया, मुशी, पोतदार आदि होते थे। प्रत्येक विभाग के सभी कार्यो के विवरण इसके पास आते थे। इनसे सम्बन्धी सभी पत्रो को वह आदेशार्थ शासक के सम्मुख रखता था और उसके आदेशानुसार उनके उत्तर भेजता था। राज्य की नियुक्तियाँ, पदोन्नति, स्थानान्तर आदि सम्बन्धी निर्णय

---

१९ भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, श्लो० ३५, ४४, जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १८१

२० अमरसार, अधिकार, १, श्लो० १९९, २५९, राजविलास, सर्ग २, पद्य ६७-७२, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १८९-९०

२१ हकीकत वही, न० ३७, ओहदा वही, न० १७, पृ० ६, टॉड, राजस्थान, भाग १, पृ० १५२

उसकी सम्मति के बिना नही लिये जाते थे। उसकी स्वतन्त्र मुहर होती थी जिस पर उसका नाम खोदा जाता था।[२२]

बख्शी—बख्शी भी राज्य का प्रभावशाली मन्त्री होता था। वह प्रमुख रूप से सेना विभाग का अध्यक्ष होने के नाते सेना के वेतन, रसद, सैनिको का शिक्षण तथा अनुशासन आदि को देखता था। वेतन सम्बन्धी पत्र उसके विभाग से प्रधान या दीवान के कार्यालय मे जाते थे। राजा का विश्वासपात्र होने से सभी गुप्त-मन्त्रणा मे वह सम्मिलित होकर शासन कार्य मे प्रभूत सहायता पहुँचाता था। इसके कार्य सम्बन्धी पत्रो से अनुमान लगाया जा सकता है कि वह पशु सम्बन्धी रोगो का निदान करता था और उनका उपचार भी जानता था। सम्भवत सैनिक अध्यक्ष होने से उसे पशु चिकित्सा मे भी विशेषज्ञ होना पडता हो। उसके निकट सहायक अधिकारी नायब-बख्शी कहलाते थे। खबर-नवीस और किलेदार भी इसके अधीन होते थे। इसे कही-कही फौज बख्शी भी कहते थे।[२३]

खान सामान—वैसे तो वह दीवान के अधीन होता था, परन्तु राजपरिवार के अधिक निकट होने से वह सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति समझा जाता था। उसके सुपुर्द निर्माण कार्य, वस्तुओ का क्रय, राजकीय विभागो के सामान की खरीद और सग्रह होते थे। राजदरबार तथा राजप्रासाद से सम्बन्धित सभी व्यक्तियो और कार्यो से उसका सम्बन्ध होता था। उपहारो मे दिये जाने वाली वस्तुओ का सग्रह उसे रखना होता था। इसका ईमानदार होना अत्यन्त आवश्यक था, क्योकि सभी आवश्यक वस्तुओ को बनवाना, सग्रह करना और उन्हे वितरण करना उसके अधिकार के अन्तर्गत था। राज्य के सभी कारखानो से उसका सीधा सम्बन्ध होता था।[२४]

कोतवाल—जन सुरक्षा और शान्ति सम्बन्धी व्यवस्था बनाये रखने के लिए हमे कोतवाल का उल्लेख मिलता है। उसके मुख्य कार्य चोरी-डकैती का पता लगाना, वस्तुओ के दामो को निर्धारित करना, नाप-तोल पर नियन्त्रण रखना, चौकसी का प्रबन्ध करवाना, मार्गों की देखभाल करना, साधारण झगडे निपटाना आदि थे। मुगल कोतवाल के कार्यो मे और राजस्थान के कोतवाल के कार्यो मे बहुत कुछ समानता थी। अर्द्ध-रात्रि के समय से दिन निकलने के ४ घडी पहले यदि कोई भी कस्बे या शहर की सडक से गुजरता था तो उसे दीपक रखना होता था। इसके अभाव मे ऐसे व्यक्ति पर सन्देह किया जाता था और हिरासत मे रख उसकी जाँच की जाती थी। यदि

---

२२ हकीकत वही, न० १०७, आइने अकबरी, दूसरा सस्करण, पृ० ६ आदि, हथबही, न० १, मुण्डियार ख्यात, २२-२३, वस्ता न० ४०, एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट मारवाड, १८८३-८४, पृ० २८४, जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १८३

२३ हकीकत वही, १८वीं सदी, जोधपुर, बीकानेर आदि, तोजी रेकार्ड, जयपुर १८वी शती, जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १८३

२४ हकीकत वही, न० १०, भण्डार न० १७, २३, ४५, १७११-१७२३

कोई शिष्ट व्यक्ति ऐसे व्यक्ति की जमानत देता था तो उसे मुक्त कर दिया जाता था। इस प्रकार का कडा अनुशासन घोर अपराधों अथवा चोरी को कम करने के हेतु ही था।[२५]

खजांची—राज्यों मे खजांची होते थे जो कोष रखने और रुपये जमा करने और व्यय करने का ब्यौरा रखते थे। मेवाड मे इस अधिकारी को कोषपति कहते थे। उसका ईमानदार और विवेकी होना गुण समझा जाता था। उसका यह धर्म भी माना जाता था कि वह खर्च करने के अतिरिक्त कुछ रकम इस प्रकार बचाये रखे जिसका उपयोग आवश्यकता पडने पर या जब लगान कम वसूल हो, किया जा सके।[२६]

अन्य विभागीय —उपरोक्त अधिकारियो के अतिरिक्त छोटे-मोटे विभाग होते थे जिनके अधिकारी अपने विभाग के कार्य से जाने जाते थे। उदाहरणार्थ, दारोगा-ए-डाक चौकी डाक प्रबन्ध रखता था, दरोगा-ए-सायर दाण वसूली करता था, मुशरिफ अर्थ-विभाग का सचिव होता था, वाका-ए-नवीस सूचना भेजने के विभाग पर था, दारोगा-ए-आबदार खाना-पानी का दारोगा था, दारोगा-ए-फराशखाना सामान के विभाग का अध्यक्ष था, दारोगा-ए-नक्कारखाना, बाजे और नगाडो के विभाग के ऊपर था आदि। इनके अतिरिक्त जवारखाना शिकारखाना, दारूखाना, अस्तवल, गौशाला, रसोडा आदि पर भी अलग-अलग विभागीय अधिकारी होते थे।[२७]

परगने का शासन—राज्यो से नीचे की छोटी इकाई परगना होती थी। चौहानो, गुहिलो और राठौडो के शिलालेखो से स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकाल मे राज्य मे छोटी इकाइयाँ होती थी, जिन्हे ग्राम, मण्डल, दुर्ग आदि कहते थे। ग्राम का प्रमुख अधिकारी ग्रामिक, मण्डल का मण्डलपति और दुर्ग का दुर्गाधिपति तथा तलारक्ष होता था। जब अकबर ने चित्तौड, जोधपुर, नागौर, रणथम्भोर आदि स्थानो पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और सन्धि होने पर इन स्थानो को उनके राजाओ को लौटा दिया तो इन भागो मे प्रचलित परगनो का विभाजन कुछ हेरफेर के बाद वैसा ही बना रहा। चित्तौड के रामपोल के शिलालेख मे माण्डलगढ, फुलेरा और भिनाव्दा नामक मेवाड के परगनो का उल्लेख १६१५ ई० की सन्धि के बाद मिलता है। महाराणा जगतसिह और राजसिह के कई दानपत्रो मे राजनगर, पुर आरिया,

---

२५ राजविलास, सर्ग ११, पत्र ३६ बी, मेरा लेख, दस्ती रेकार्ड्स,, जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, जि० ३४, भा० १

२६ हकीकत वही, वि० १७८०-१८०० आदि

२७ हकीकत वही, वि० १७८०-१८००, दस्तूर कौमवार, वि० १७८०-६०, १८०० आदि, कागजात कारखानाजात, उदयपुर, १८वी सदी, तोजी रेकार्ड, १८वी सदी, जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १८५

कनेरा, राश्मी, सहाडा, कपासन, वदनौर आदि परगने के नाम मिलते है जिनमे कई गाँव सम्मिलित थे।[२८]

मारवाड मे भी शेरशाह के प्रभाव के अनन्तर शिको की इकाई का प्रचलन दिखायी देता है। अकवर के समय से प्रचलित परगनो का विभाजन महाराजा उदयसिंह ने कायम रखा और मारवाड को छ परगनो मे बाँटा। अजीतसिंह के समय मे २१ परगने मारवाड मे कर दिये गये। भाटी गोविन्ददास ने मारवाड मे परगना शासन को मुगल ढग पर कर दिया। जयपुर राज्य मे महाराजा मानसिंह के समय से परगनो की इकाइयाँ वनायी गयी। कोटा मे भी महाराव माधोसिंह के समय से परगनो मे राज्य को वडे पैमाने मे वाँटा गया प्रतीत होता है।[२९]

राजस्थान के विभिन्न राज्यो मे परगना अधिकारियो के विभिन्न नाम मिलते हैं। जोधपुर की हकीकत वहियो मे हाकिम और फौजदार के पदो का उल्लेख आता है। सभी शासकीय तथा न्याय सम्बन्धी कार्यो के लिए हाकिम परगने का सर्वेसर्वा था, जो सीधा महाराजा द्वारा नियुक्त किया जाता था या पदच्युत किया जाता था। उसकी नियुक्ति खासा रुक्के से होती थी या जिसको प्रधान अपने आदेश से नियुक्त करता था। सैनिक निर्णयो मे भी उसकी सम्मति महत्त्व रखती थी।[३०]

परगने का दूसरा उच्च अधिकारी फौजदार होता था, जो पुलिस और सेना का अध्यक्ष होता था। वह परगने की सीमा की सुरक्षा का प्रवन्ध रखता था। वह अमलगुजार, अमीन तथा आमिल को राजस्व वसूल करने के सम्वन्ध मे सहायता पहुँचाता था। उसके नीचे कई थानो के थानेदार रहते थे, जो चोरो और डाकुओ का पता लगाते थे या उनकी निगरानी रखते थे।[३१]

कही-कही वडे परगनो में एक ओहदेदार भी होता था जो हाकिम को शासन मे सहायता पहुँचाता था। इन अधिकारियो के सहयोगी शिकदर, कानूनगो, खजाँची, शहने आदि होते थे जो वैतनिक तथा फसली अनाज के एवज मे राजकीय सेवा करते थे। परगनो के अधिकारी समय-समय पर अपने अधिकार क्षेत्र का दौरा भी कर लिया करते थे, जिससे नीचे के सेवको के काम का निरीक्षण भी हो जाया करता था और ग्रामवासियो की असुविधाएँ या फरियादें दूर की जा सकती थी या सुनी जा सकती थी।[३२]

---

२८ चीरवा लेख, वि० १३३०, रामपोल लेख, १६२१, आइने अकवरी (फारसी मूल), भाग १, पृ० २८६, जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १८५

२९ हथवही, न० ४, पृ० २२८-२९, कोटा भण्डार, न० २७, ३५, ३८, वि० १७२०-२५, जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १८५-८६

३० हवालावही, वि० १९०५, जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १८६

३१ जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १८६

३२ वही, पृ० १८६

राज्य और परगनो का सम्बन्ध

परगनो के अधिकारी समय-समय पर स्थानान्तर कर दिये जाते थे, जिससे केन्द्रीय सत्ता अपना प्रभाव भी उन पर बनाये रखती थी और साथ ही साथ प्रजा पर अत्याचारो की सम्भावना भी रोकी जा सकती थी। स्वय शासक या उनके उच्च कर्मचारी परगनो मे दौरा करते थे और वहाँ की गतिविधि से सम्पर्क बनाये रखते थे। गुप्तचर भी परगनो की व्यवस्था की सूचना भेजकर एक सतर्कता का वातावरण बनाये रखते थे। फिर भी परगनो की जनता पर अत्याचार होते थे जिनका विरोध जनता करती थी। उनकी जाँच होने पर अपराधियो को दण्डित किया जाता था।[33]

गाँव का शासन

गाँव आजकल की भाँति शासन की एक सबसे छोटी इकाई थी। पूर्व मध्य-कालीन युग मे ग्रामिक गाँव या ग्राम-समूह का मुखिया होता था। धीरे-धीरे ग्रामिक को पटवारी की सज्ञा दी गयी, क्योकि वह भूमि सम्बन्धी पत्रो को रखता था और उनके अनुसार राजस्व को इकट्ठा करता था। इसके अन्य सहयोगी भी होते थे जिन्हे कनवारी (खेत के रक्षक), तफेदार (राज्य का लेखा-जोखा रखने वाला), तलवाटी (जो उपज को तोलता था), शहनाह (प्रबन्धक), चौकीदार आदि कहते थे।

गाँवो की स्थानीय व्यवस्था के लिए ग्राम-पचायत होती थी जिसमे गाँव का मुखिया तथा गाँव के सयाने व्यक्ति रहते थे। ये लोग मिलकर न्याय, झगडे निपटाना, धार्मिक और सामाजिक विषयो पर विचार करना आदि कार्य सम्पादन करते थे। जाति-पचायतें भी ऐसे मामलो मे या जाति सम्बन्धी समस्याओ को निपटाने मे अपना सहयोग देती थी। इन दोनो सस्थाओ और राज्य के कर्मचारियो का ऐसा तारतम्य रहता था कि एक-दूसरे मे मिलजुलकर काम करते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि गाँव का शासन एकरूपता से चल रहा हो। इसीलिए ग्राम पचायत तथा जाति-पचायतो के निर्णय राज्य द्वारा माननीय होते थे। उस समय के गाँव स्वय एक इकाई होते थे जिनमे सरकारी दबाव का अभाव रहता था। एक प्रकार से उस समय के गाँव अपने आप मे शासित होते थे और इनको हर क्षेत्र मे स्वतन्त्रता होती थी। वहाँ के अधिकारीगण भी उन गाँवो के सदस्य होने से शासन-कार्य को आत्मीयता से करते रहते थे। जन-समुदाय और शासक-वर्ग मे एक बहुत बडा सामजस्य था।[34]

भूमि प्रबन्ध

राजस्व, कर तथा भूमि व्यवस्था, जिनका मध्ययुगीन राजस्थान से घनिष्ठ

---

[33] हवाला वही, वि० १६०५-११, हकीकत वही, वि० १८०५-२२, भण्डार न० ७, ११, २३, वि० स० १८००-३३

[34] हदुण्डी लेख, वि० १३३५, कान्हडदे प्रबन्ध, प्रबन्ध ४, पृ० ४०, जी० एन० शर्मा, कोपरेट लाइफ एण्ड ओरगेनाइजेशन ऑफ विलेज इन मेडीवल राजस्थान, राजस्थान रिसर्च इन्सटीट्यूट, १९६०

सम्बन्ध था, एक राज्य से दूसरे राज्य मे विभिन्न रूप की थी। परन्तु कुछ ऐसे आधार थे जिनमे अधिकतर साम्यता थी। भूमि के विभागो मे खालसा, हवाला, जागीर, भोम और शासन प्रमुख थे। खालसा भूमि राजस्व के लिए दीवान के निजी प्रवन्ध मे होती थी। हवाला जमीन की देखरेख हवलदार करते थे। जागीर के भागो का सीधा सम्बन्ध जागीरदारो से था और धर्मार्थ भूमि शासन भूमि होती थी जिसकी उपज का भाग मन्दिर, मठ, चारण, ब्राह्मण आदि को पुण्यार्थ दिया जाता था। भोम की भूमि भोमियो के लिए निश्चित थी, जो राज्य की कई प्रकार से सेवा करते थे, परन्तु उनसे कोई कर नही लिया जाता था और न उन्हे पैतृक भूमि से वेदखल किया जा सकता था, यदि वे राजकीय सेवा मे किसी प्रकार की कमी नही लाते थे।

भूमि की उपज के भाग को वसूल करने के कई ढग राजस्थान मे प्रचलित थे। कूत, लाटा, वटाई आदि तरीको को राजस्व वसूली के लिए अपनाया जाता था। कीमती फसलो पर बीगा के हिसाव से वीगोडी ली जाती थी। जमीन को मुकाते पर दिये जाने का भी उस समय प्रचलन था। उपज का १/३ या १/४ भाग राजकीय हिस्सा प्राय होता था।[३५]

भूमि का स्वामित्व उनका था जो खेती करते थे। ऐसी भूमि उनकी बपौती कहलाती थी। दूसरा अन्य व्यक्ति उस पर अपना अधिकार न जमा दे, सरकार उनको पट्टे देती थी। जागीरदार भी अपने अधिकार क्षेत्र मे काश्तकारो को पट्टे दिया करते थे। ऐसी भूमि को सरकारी रजिस्टर मे दर्ज किया जाता था जिसे दाखला कहते थे। यदि भूमि का मालिक बिना उत्तराधिकारी के मर जाता था तो ऐसी भूमि खालसे मे शुमार कर ली जाती थी। जागीरदार भी भूमि के स्वामी होने के नाते राज्य मे रेख की रकम जमा कराते थे। नये जागीरदार को हुक्मनामा देकर अपने अधिकार की मान्यता प्राप्त करना होता था।[३६]

सरकारी आय के साधनो मे राजस्व के अतिरिक्त कई कर होते थे जो पेशे पर, व्यक्ति पर या विशेष अवसर पर लिये जाते थे। घरबराड, चूल्हा, बराड, घासमारी, सवारखर्च, तैवारखर्च, सायर, सराई, वट्टो, टीप, अग, कँवरी, फौजवल, विछायत, थूँवो, अवाडो आदि अनेक कर होते थे जिनको किसी न किसी रूप मे राज्यो मे लिया जाता था। इनके अतिरिक्त दण्ड, सिंचाई, खान, नमक, फीस, व्यापार आदि राज्य की आय के साधन होते थे।[३७]

---

[३५] हथ वही, न० ३-४, पृ० ४१, ९४-९७, जी० एन० शर्मा, मेवाड एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ० १९०-९२, जी० एन० शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ० २९०-९३, जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १८८-१८९

[३६] जमाखर्च वही कोटा, वि० १७००-१७१८, हथ वही, न० ४, ५, पृ० ३५-४८

[३७] जी० एन० शर्मा, पोलिटिकल एण्ड सोशल कण्डीशन्स ऑफ राजस्थान एज रिवील्ड फ्रोम हवाला वहीज, जरनल ऑफ रिसर्च ऑफ दि यूनीवर्सिटीज ऑफ उत्तर प्रदेश, १९६०

मध्यकालीन अपराध और दण्ड

राजस्थान के इतिहास मे आरम्भिक मध्यकालीन अपराध और दण्ड शासन-व्यवस्था मे अपना विशेष महत्त्व रखते है। परन्तु इन विषयो पर कोई निश्चित रूप से स्वतन्त्र ग्रन्थ नही है। इनकी जानकारी के लिए साहित्य के साधनो से सामग्री को जुटाना पडता है जिससे उस काल की न्याय-व्यवस्था का धुंधला चित्र उपस्थित किया जा सके। वृहत् कथा-कोष ने इस काल के अपराधो और दण्ड-नीति का उल्लेख करते हुए बताया है कि साधारण से साधारण अपराधो के लिए कठोर दण्ड देने की प्रथा थी।[३८]

न्याय की व्यवस्था फरियाद करने पर होती थी। प्रथम सोपान तो छोटी अदालतो का था जहाँ राज्य के अधिकारी जिन्हे तलारक्ष, दण्ड-पाशिक, आरक्षक आदि कहते थे, मामले की जाँच-पडताल करते थे। साधानिक भी अपराधी के दोषो के सम्बन्ध मे पूछताछ करता था और धर्माधिकारी, जो न्याय का उच्च अधिकारी होता था, उसके समक्ष दोषो की विवेचना करता था। न्याय का अन्तिम सोपान स्वय शासक होता था। वह अपने ढग से अपराधो का औचित्य तथा अनौचित्य देखता था और अपराध के बलाबल पर न्याय-सम्बन्धी निर्णय देता था। यदि उसे न्याय-सम्बन्धी शका होती थी तो उस विषय के पण्डितो तथा धर्म-शास्त्रियो से सम्मति ग्रहण कर लेता था। न्याय के मामलो को निरकुशता से नही निपटाया जा सकता था।[३९]

जो मामले शासक या धर्माधिकारी या तलारक्ष, दण्ड-पाशिक या आरक्षिक के सामने आते थे उनमे नियोग, जायदाद, उत्तराधिकार, कर्ज, धरोहर, श्रम, ठेका, मार-पीट, व्यभिचार, हत्या, चोरी, डकैती, मिलावट, कम तोलना, घूंस आदि होते थे। ये मामले किसी भी स्तर के अधिकारी के पास जा सकते थे या सीधे शासक या धर्माधिकारी के समक्ष पेश हो सकते थे।[४०]

न्याय-व्यवस्था के लिए विवेक तथा परिस्थिति का अध्ययन मुख्य थे। परन्तु मनु, कौटिल्य, धर्मशास्त्र भी न्याय के बडे आधार थे। शासक को भी इन आधारो को मान्यता देनी होती थी। जहाँ लोकाचार और धर्म शास्त्र विरोध मे होते थे वहाँ धर्मशास्त्र न्याय निर्णय का अन्तिम साधन था। जहाँ रीति-रिवाज और न्याय-नियम विपरीत होते थे वहाँ न्याय-नियम ऊपरी समझे जाते थे।[४१]

विशेष रूप से मौखिक न्याय अच्छा समझा जाता था, परन्तु लम्बे मामलो को लेखबद्ध किया जाता था। निश्चित तिथि पर मामले सुने जाते थे और न्याय निर्णय की घोषणा खुले रूप से होती थी। छोटे-मोटे मामले गाँव के पचकुल या नगर के

---

३८ जिनेश्वर कथाकोष, पृ० १०८-१०९

३९ समरेच्छिका, पृ० १२६-२७, वृहत् कथाकोष, ११४, ११५, १३६

४० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र लिटरेचर, पृ० ६१२

४१ कुवलयमाला, पृ० १७१-७२

महामात्र सुलझा देते थे। यदि व्यापारिक काफिलो को लूट-खसोट से हानि होती थी तो उसका हर्जाना सामूहिक रूप से गाँवो की सीमा के निवासी देते थे। मार्ग की चोरी या यात्रियो को लूटने के मामले गाँव के सयाने मिलकर तय करते थे और अपराधी का पता चलाते थे। इस व्यवस्था से चोरी या डकैती का कम भय होता था। साधारणत व्यापारी नि शक होकर राज्यो मे विचरण करते थे, क्योकि जान और माल की हिफाजत का अच्छा प्रबन्ध था।[४२]

साधारण अपराध जैसे—कर चुराना, काला बाजार करना आदि के लिए प्राण-दण्ड तजवीज होता था। व्यभिचारी तथा विश्वासघातियो का अगच्छेद होना साधारण बात थी। कुछ अपराधो के लिए कारावास की भी व्यवस्था रहती थी। कारावासो की हालत नरक से भी बुरी होती थी।[४३]

वैसे तो आजकल की न्याय-व्यवस्था या दण्ड-नीति की तुलना मे आरम्भिक-मध्यकाल की दण्ड-नीति और अपराध का नाप बडा कठोर था, परन्तु यह मानना पडेगा कि न्याय की कठोरता ही अपराधो के अवरोध मे पर्याप्त रूप से सफल थी। स्वय मैगस्थनीज लिखता है कि मौर्यकालीन भारत मे लोग मुकदमेबाज नही थे, अपराधो का भी प्राचुर्य नही था और लोग स्पष्टवादी और कर्तव्यपरायण थे। कर्ज और धरोहर के सम्बन्ध मे यूनानी यात्री लिखता है कि गवाही और मुहर की ऐसे अवसरो पर कोई आवश्यकता नही रहती थी। स्ट्रेबो लिखता है कि चन्द्रगुप्त की चार लाख फौज के खीमे मे १०० रु० से अधिक की चोरी का जिक्र नही मिलता।[४४] गुप्तकाल के यात्री[४५] ने भी इसी प्रकार की व्यवस्था बताते हुए लिखा है कि मकानो की रखवाली की कोई आवश्यकता नही रहती थी, क्योकि लोग ईमानदार होते थे। यदि इसी व्यवस्था की कल्पना राजस्थान मे इस समय और कुछ आगे के समय के लिए कर ली जाय तो पक्षपात नही होगा। समरेच्छिका और कुवलयमाला मे ऐसी स्थिति के सकेत मिलते हैं।

इस प्रकार के कठोर दण्ड न्यायसगत इसलिए भी थे कि राज्यो को आतक से बचाये रखने के लिए न्याय-नियमो को कठोर बनाना आवश्यक था। ऐसे नियमो से राज्य और प्रजा एकसूत्र मे बँधे रहते थे। दण्ड के भय से केवल प्रजा भी भयभीत नही रहती थी, उसका भय अधिकारियो को भी रहता था। कठोर नियमो से प्रजा पर नियन्त्रण रहता था और वह जन-कल्याण का साधन बना। यदि उस युग का दण्ड कठोर था तो उसका उपयोग प्रजा के अधिकार की रक्षा के लिए किया गया।

---

[४२] कुवलयमाला, पृ० १७१-७२

[४३] समरेच्छिका, पृ० ३२६-२७

[४४] घोष, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १४५

[४५] वही, पृ० २५४-५५

परन्तु जहाँ हम इस कठोर दण्ड-नीति का समर्थन करते है वहाँ हम उस ओर भी सकेत करते है कि उस युग की दण्ड-नीति भय पर आधारित न होकर प्रेम व स्वत भावना से सचालित होती तो आज के अपराधो और दण्ड नियमो का स्वरूप कुछ और ही होता। प्रेम की भावना के प्रसार के जगत मे कठोरता और अपराध का कोई स्तम्भ न नही।

मध्ययुगीन राजस्थान मे न्याय-व्यवस्था का प्राचीन भारतीय स्वरूप था जिसे मुगलो के सम्पर्क से परिमार्जित कर दिया गया था। वास्तव मे न्याय का स्रोत व मुख्य आधार राजा होते थे जो स्मृतिकारो की आज्ञा, परम्परा तथा देशाचार को मान्यता देते थे। प्राचीनकाल के दण्डपतियो को बीकानेर और जोधपुर मे दारोगा-ए-अदालत कहते थे। जो परगने मुगलो के अधिकार मे अधिक समय रहे उनमे काजी द्वारा न्याय की व्यवस्था होती थी। ऐसे स्थानो मे आमेर, अजमेर, नागौर, पुर, माण्डल आदि मुख्य थे। परगनो मे हाकिम न्याय सम्बन्धी निर्णय देते थे। दरोगा-ए-अदालत इनके फैसलो की अपीले सुनते थे। उनसे असन्तुष्ट व्यक्ति राजा के पास अपने मामले को न्याय के लिए ले जा सकते थे। नीचे की अदालतो के बिना भी सीधी फरियाद राजा के पास हो सकती थी। वादी-प्रतिवादियो को बुलाकर भी राजा न्याय करते थे। पचायतो मे भी झगडे पेश होते थे और उनका निर्णय सर्वमान्य होता था। दण्ड मे अग-भग, मुद्रा वसूली, चाँच, यातना आदि का प्रयोग होता था। कारावास, मृत्यु-दण्ड, देश-निकाला आदि भी दण्ड-विधान मे सम्मिलित थे। न्यायाधीशो के लिए निष्पक्ष होना तथा हिन्दू शास्त्रो तथा रीति-रिवाजो से परिचित होना आवश्यक होता था। धार्मिक मामले पण्डित-वर्ग भी सुनते थे और अपनी सम्मति से न्यायाधीशो और राजाओ का पथ-प्रदर्शन करते थे। वकील जैसे माध्यम का अभाव-सा था।[४६]

सैनिक सगठन

मध्ययुग मे आन्तरिक सुरक्षा, वाह्य आक्रमणो से बचाव और राज्य-विस्तार की लालसा के लिए सैनिक सगठन आवश्यक था। इस सगठन की जानकारी के सम्बन्ध मे हमे एक जगह सामग्री उपलब्ध नही होती जिससे उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था पर प्रकाश डालना बडा कठिन है। फिर भी मध्ययुगीन मन्दिरो, वहियो, चित्रो तथा उपकरणो के देखने से हम इसके कई पक्षो को समझ सकते है। चित्तौड, श्रीएकलिंगजी, मण्डोर, विजयस्तम्भ, ओसियाँ आदि मन्दिरो की तक्षण-कला के प्रतीको तथा साहित्य के ग्रन्थो के उल्लेखो से स्पष्ट है कि मध्यकालीन युग मे हाथी, घोडे, रथ, ऊँट सैनिक सगठन के मुख्य अग थे। इन पर बैठकर अलग-अलग स्तर के सैनिक युद्ध मे लडते थे। लडने के साधनो मे तलवार, वर्छा, भाला, ढाल, गदा आदि मुख्य होते थे।

---

४६ अमरसार, सर्ग १, श्लो० ३४, राजविलास, सर्ग २, श्लो० १३४, जगतसिंह काव्य, सर्ग ७, श्लो० ४८, हथवही, न० ४, पृ० ५७-५८, २२० आदि, जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १६०

पैदल लडने वालो की कोई विशेष वर्दी नही होती थी । वे साधारण धोती, कच्छ और दुपट्टा पहनकर लड लेते थे । जो सैनिक प्रतिष्ठा प्राप्त होते थे या उच्च पदधारी होते थे तो उनकी वेशभूषा विशेष प्रकार की होती थी और वे कई सहयोगियो के साथ हाथी या रथ पर बैठकर लडते थे । उन दिनो कोई निश्चित सख्या मे सेना के रखे जाने के कोई उल्लेख नही मिलते, परन्तु सतत् युद्ध की स्थिति बनी रहने से प्रत्यक स्वस्थ व्यक्ति युद्ध मे जाने के लिए उद्यत रहता था। जागीरदार भी अपने-अपने दल-बल से युद्ध-स्थल मे उपस्थित होकर अपने राजा की सहायता करते थे । कई अन्य व्यक्ति भी लूट-खसोट मे भाग लेने के अभिप्राय से युद्ध मे सम्मिलित हो जाया करते थे ।[४७]

जब राजस्थानी नरेश मुगलो की सेवा मे रहने लगे तो यहाँ सैनिक व्यवस्था में एक परिवर्तन आया । मुगलो की भाँति वे ऐसे अस्त्र-शस्त्रो का प्रयोग करने लगे जो वार में शीघ्रगामी होते थे और उपयोग करने मे हल्के और अधिक पैने होते थे। बारूद, तोपें, बन्दूकें, छोटी तलवारे और हल्की ढालो तथा बर्छियो का प्रयोग राजस्थान मे होने लगा । पदाधिकारी सैनिक मुगलो की भाँति लम्बे कोट, पाजामा, लोह के टोप और अगरक्षक साधनो को काम मे लाने लगे, जैसा कई चित्रो से स्पष्ट है । १८वी सदी के खाते बहियाँ भी ऐसे शस्त्रो के बनाने और खरीदने का उल्लेख करती हैं, जिससे स्पष्ट है कि यहाँ सैनिक व्यवस्था मे एक बडा मोड आ चुका था । जगदीश के मन्दिर तथा राजसमुद्र के बाध पर बनी हुई घोडो की कतारो की प्राचुर्यता इस बात की साक्षी है कि अब राज्यो मे पैदलो की अपेक्षा घुडसवारो का प्रयोग, मुगलो की भाँति, अधिक हो गया था । जोधपुर की ओधा बही मे बक्षी की योग्यता में उसकी घोडे के सम्बन्ध मे जानकारी पर अधिक बल दिया गया है ।[४८]

सम्पूर्ण सेना का नेतृत्व वैसे तो स्वय राजा करते थे, परन्तु अलग-अलग सैनिक विभागो की व्यवस्था की देखरेख के लिए जुदे-जुदे अधिकारी होते थे जिनको पैदल-पति, गजपति, अश्वपति आदि कहते थे । मुगलो के प्रभाव से कई राज्यो मे सैनिको और सैनिक पदाधिकारियो को दारोगा-ए-फीलखाना, दारोगा-ए-तोपखाना, शमशेरबाज, बन्दूकची, किलेदार आदि कहने लगे । दुर्गों मे दक्षिण से लायी गयी तोपें रक्षा के लिए लगायी गयी थी जो चित्तौड, गागरौन, जोधपुर आदि किलो मे देखी जा सकती है । सेना में भी अफगानो, रोहिलो, मराठो, सिन्धियो, अहमदनगरियो आदि को स्थान दिये जाने लगे जिन्हें परदेशी कहा जाता था ।[४९]

---

[४७] राजरत्नाकर, सर्ग ७, अमर काव्य वशावली, पत्र ४५, राजविलास, सर्ग ८, जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १९०-९१

[४८] जमाखर्च बही, बीकानेर, जोधपुर आदि १८वी सदी, हकीकत बही, न० ७, कोटा भण्डार, २७, ३४, ५२ आदि ।

[४९] जी० एन० शर्मा, राजस्थान स्टडीज, पृ० १९०-१९३

राजपूत सैनिक सगठन के दोष और गुण

उस समय की परिस्थिति को देखते हुए यह स्वीकार करना होगा कि राजस्थान के राज्यो की सेनाएँ मुगलो की तुलना मे दुर्बल थी। इसका यह अर्थ नही कि राजपूत सैनिक वीर और साहसी नही थे। इनमे सम्भवत अधिक जोश और शौर्य की भावना थी। परन्तु जहाँ तक राजपूतो के सैन्य-सगठन का प्रश्न था वह दोषपूर्ण था। आक्रमणो के अवसर पर राजस्थानी नरेश अपने सामन्तो की कृपा पर निर्भर रहते थे। इनके सैनिक प्रधानत अपने स्वामी के प्रति भक्ति रखते थे। ऐसी स्थिति मे इन नरेशो का उन पर सीधा प्रभाव या नियन्त्रण नही रहता था। ऐसी सेना पर इनका पूरा नियन्त्रण न रहने के कारण न तो उनको ठीक सैनिक-शिक्षा मिल पाती थी और न उनसे उचित ढग के घोडे और अस्त्र-शस्त्रो की अपेक्षा की जा सकती थी। अपने निजी अध्यक्ष के मरने पर या उसके लौटने पर ऐसे सभी सैनिक युद्ध-स्थल से भाग खडे होते थे। समय पर वेतन न मिलने पर भी अनुशासनहीन होना इनके लिए स्वाभाविक था। वैसे तो मुगलो के अनुसार राजस्थानी नरेशों ने अपने अस्त्र-शस्त्रो के प्रयोग मे परिवर्तन कर लिया था, फिर भी इनके तोपची, तीरन्दाज और बन्दूकची निम्न-कोटि के थे। इनके घुडसवार पैदल दल की अपेक्षा कम होते थे, अतएव घुमाव पद्धति के युद्ध मे वे मुगलो से कम उतरते थे। राजपूत नरेशो ने नूतन पद्धति के अनुसार अपनी सेना को वैसा शिक्षित भी नही किया जैसा होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त ये नरेश अपनी सीमा के विस्तार के लिए आपस मे ही लडते-झगडते रहते थे, जिससे इनकी आन्तरिक शक्ति क्रमश क्षीण होती चली गयी और वे मुगलो से भी अधिक प्रभावशील ब्रिटिश शक्ति के सामने प्रभावहीन हो गये। इन दोषो के रहते हुए भी राजस्थानी नरेशो ने कुछ समय शत्रुओ से मुकाबला करने की क्षमता दिखायी थी। वह उनकी छापामार नीति का प्रयोग था। उस पद्धति का प्रयोग मेवाड के शासको ने पहाडी तथा जगली भागो मे बडी दक्षता से किया। यही कारण है कि मेवाडी तथा मारवाडी नरेश कई मर्तबा मुगल सेनाओ को दबाने मे सफल रहे।

सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था पर एक दृष्टि

राजस्थान के समूचे शासन पर यदि हम एक दृष्टि डालते हैं तो पाते है कि उसमे एकरूपता का अभाव दिखायी देता है। शासन-व्यवस्था मे सबसे बडा दुर्गुण यह था कि इसकी सफलता राजाओ के व्यक्तित्व पर निर्भर रहती थी। जब तक सुयोग्य शासक इन राज्यो मे रहे तब तक वहाँ के शासन की गतिविधि ठीक बनी रही। परन्तु जब निर्बल शासको पर शासन का भार डाला गया तब शासन-सूत्रो मे ढिलाई आने लगी और अव्यवस्था फैलने लगी। इस शासन मे नौकर-शाही के लिए निश्चित नियम न होने से उनके उचित हितो की रक्षा नही हो सकती थी। ऐसी स्थिति मे मन्त्रियो और विभागीय अधिकारियो को मनमानी करने का

अच्छा अवसर मिल जाता था। कई पद पितृ-परम्परागत चले आते थे, जिससे शासन का स्तर गिरता जाता था और पक्षपात बढने लगता था। राजस्व का अधिकाश भाग या तो राजपरिवार के पास या उच्च वर्ग के हाथ पहुँचता था। जिससे विलासमय जीवन मे उसका अधिक खर्च होता था। इस स्थिति का नीचे वाले वर्ग पर बुरा प्रभाव पडता था। उस युग की नैतिक दुर्व्यवस्था ने राज्यो के विघटन मे बडा योग दिया। इसी प्रकार उस मध्यकालीन भूमि-व्यवस्था मे अधिकाश भूमि उच्च वर्ग के अधिकार मे रहने से खेती करने वाला हमेशा घाटे मे रहता था। उच्च वर्ग और निम्न-वर्ग मे एक बडी खाई बनती जा रही थी, जिससे गरीब और दरिद्र और धनी अधिक समृद्धवान् होते चले जाते थे। न्याय-व्यवस्था मे भी कई ऐसे दोष थे जिनसे न्याय सन्तोजनक नही कहा जा सकता। अपराधो का पता लगाने की भी उचित व्यवस्था नही थी। दण्ड की वर्बरता होने से शासन-प्रणाली को जनमत का अनुमोदन नही प्राप्त हो सकता था। अलवत्ता उस समय की धार्मिक नीति उदार थी जिससे सभी जाति और धर्म के लोगो को सुख-शान्ति से रहने का अवसर मिलता था। गाँवो मे शासन का दवाव अधिक नही होने से साधारणत जनजीवन सुखमय था। ऐसे शासन मे निरकुशता तो थी, फिर भी सरकार और ग्रामीण व्यवस्था का ऐसा तारतम्य था कि शासन की परम्परा समुचित रूप से चलती रहती थी। उसके द्वारा सहयोग की भावना तथा जनसाधारण का लाभ और सम्पन्नता का विकास होता रहता था।[५०]

---

५० "Although the administrative structure in Rajasthan suffered from several drawbacks, yet the great merit attending upon it was that the village administration and the government machinery were never in isolation They endeavoured to promote a sense of co-operation, welfare and prosperity of the community"

—G N Sharma, *Rajasthan Studies*, p 193

अध्याय ३२

मध्ययुगीन राजस्थान मे स्वायत्त शासन का स्वरूप

राजस्थान के गाँवो और कस्बों का सहयोगी जीवन

स्थानीय अभिलेखो मे स्पष्ट है कि राजस्थान के ग्रामीण जीवन मे एक सहयोग की भावना थी। सभी गाँव वाले अपने गाँव मे बाँध बनाने, कुआँ खोदने, मन्दिर का निर्माण करवाने, उन्हे जीर्ण होने से बचाने आदि के कामो मे एकरूपता तथा श्रद्धा से लगे रहते थे। उदाहरणार्थ, नागदा मे सारग द्वारा वि० स० १४९४ मे जो जैन मन्दिर बनवाया गया था उसमे सार्वजनिक उपयोग की भावना प्रमुख थी।[1] इसी प्रकार कुम्भलगढ प्रशस्ति[2] मे दानशील व्यक्तियो द्वारा यात्रियो के लिए धर्मशालाएँ बनवाने का उल्लेख है। आनेर के दानपत्र[3] मे उस गाँव की सार्वजनिक सस्था द्वारा स्थानीय देवालय के लिए अनुदान देने का उल्लेख है। इसी प्रकार खेता ने राणकपुर के मन्दिर के लिए स्वर्ण-दण्ड को भेंट कर सार्वजनिक सस्था के प्रति अपनी श्रद्धा को व्यक्त किया था।[4]

कर्नल टॉड ने भी इस सहयोग की भावना को अपने समय मे सुसगठित रूप मे पाया और उसने अनुभव किया कि १९वी शताब्दी की ग्रामीण जनता सहयोगी कार्यों के लिए पूर्ण जागरूक थी। एक शिलालेख से, जिसको कर्नल टॉड ने राशमी से प्राप्त किया, उस गाँव की जनता की सगठन व्यवस्था पर काफी प्रकाश पडता है। उससे प्रतीत होता है कि वहाँ की जनता ने अपने गाँव के पचो से मिलकर एक शिला पर यह खुदवा दिया कि पाखर नामक व्यापारी को स्थानीय अधिकारी ने जब नाज और कपडे पर अत्यधिक कर देने के लिए बाध्य किया तो वह गाँव छोडकर चला गया। इस घटना से स्थानीय व्यापारी, साहूकार, पुजारी और पच बडे दुखी हुए। उन्होंने भी सामूहिक रूप से सरकार का विरोध किया। अन्त मे सरकार ने अपनी भूल को सुधारा और स्थानीय अधिकारी को आदेश दिया कि वह भविष्य मे इस प्रकार जनता

---

१ नागदा अभिलेख, वि० स० १४९४, भावनगर इन्सक्रिप्शन्स, भा० ७, पृ० ११२-१३

२ कुम्भलगढ प्रशस्ति, श्लो० ६३, ए० इ०, भा० २४, पृ० ३१४-२८

३ आनेर दानपत्र, वि० स० १५७०

४ जैन इन्सक्रिप्शन्स, भा० १, न० ७१४, पृ० १७१

पर दबाव न डाले। इस पर पालर को पुन गाँव मे सम्मानपूर्वक लाया गया और इस घटना का उल्लेख शिलालेख पर स्थानीय पचो की अनुमति से कर दिया गया जो आगे भी जनता के हितो की याद दिलाता रहे और उस प्रकार के अत्याचारो को रोके रहे।[५]

ऊपर वर्णित सहयोगी भावना से स्पष्ट है कि मध्ययुगीन काल मे राजस्थान के गाँवो मे एक सहयोगी जीवन था, उसमे कुछ एक स्थानीय सस्थाएँ थी जिनके द्वारा ग्रामीण जीवन मे एकरूपता और सगठन की भावना थी। चाहे धार्मिक क्षेत्र हो, राजनीतिक विषय हो या सामाजिक समस्या हो, गाँवो मे उनके निर्धारण के लिए एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा स्थानीय समस्याएँ आसानी से सुलझा दी जाती थी और उन सस्थाओ की परम्परा किसी न किसी रूप मे जनहित सम्पादन करती रहती थी। इन सस्थाओ का वर्गीकरण हम उनके कार्यो के अनुसार नीचे करते हैं

(१) सघ—जैन आधारो[६] से हमे ज्ञात होता है कि राजस्थान के गाँवो मे सघ नाम की एक सस्था होती थी जिसकी सदस्यता एतद् सम्बन्धी गाँव के कुछ एक सयाने व्यक्ति करते थे। कभी-कभी सघ मे स्त्री सदस्य तथा साधु और साध्वी भी हुआ करते थे। सघ का मुख्य कार्य यह रहता था कि वह धार्मिक उत्सवो, पर्वो, प्रवचनो, धर्म-यात्राओ और सघो के कार्यक्रमो तथा धार्मिक सस्थाओ के सम्बन्ध मे निर्णय लें और उनकी उचित व्यवस्था करें। सघ का प्रमुख सघपति कहलाता था। इसके अन्तर्गत विविध कार्यो के सम्पादन के लिए अलग-अलग समितियाँ होती थी जिनका अध्यक्ष मन्त्री कहलाता था। उसकी देखरेख मे अपने अधिकार-क्षेत्र के कार्य होते रहते थे। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कई सघो को मिलाकर उनका एक समुदाय बना दिया जाता था। ऐसे समुदाय का अध्यक्ष समुदाय-प्रमुख कहलाता था।

(२) गोष्ठी—सघो के अतिरिक्त हमें गोष्ठियो का उल्लेख भी मिलता है जो विविध प्रवृत्तियो से सम्बन्धित थी। इनका कार्य किसी व्यवसाय या धार्मिक सस्था की देखरेख रहता था। मन्दिरो की व्यवस्था के लिए भी गोष्ठियाँ थी, तो विशेष व्यवसायो के लिए भी। इनके पास एक धनराशि भी रहती थी जो मण्डपिका के करो से या अनुदान से बनती थी और उसका उपयोग उस व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले

---

५ टॉड, राजस्थान, भा० २, पृ० १७२९, जी० एन० शर्मा, ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ० ११२

६ ओसिया, अभिलेख, वि० स० १२४५, वृहद् गुर्वावलि, पृ० ५५, ५७ आदि, जैन इन्स०, भा० १, न० ८०७, पृ० १९८, पार्श्वनाथ इन्स० जैसलमेर, वि० स० १४१५, नाकोडा इन्स०, वि० स० १६७८, नडुलाई इन्स०, वि० स० १६८६ आदि

व्यक्तियो के लिए होता था। सुनारो, लुहारो, दर्जियो आदि की गोष्ठियाँ विशेष रूप से उन व्यवसायो के परिवर्द्धन मे लगी रहती थी।[७]

(३) पचकुल—पचकुल[८] एक स्थानीय सस्था होती थी जिन्हे अर्द्ध-सामाजिक और अर्द्ध-राजनीतिक कहा जा सकता है। तेरहवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक पचकुलो का जो उल्लेख हमे मिलता है उससे यह प्रतीत होता है कि इसमे गाँव के वे सयाने व्यक्ति होते थे जो गाँव के जाति समूह तथा धार्मिक सस्था के सदस्य होते थे। इनकी सहायता के लिए सरकार किसी मन्त्री, आमात्य, महामात्य या सल्यहस्त या किसी सरकारी अधिकारी को नियुक्त करती थी जिससे पचकुल के काम मे सुगमता रहे। हटुण्डी के शिलालेख[९] मे पल्हार, सज्जन, धीरा, देवसिंह और उधनसिंह के नाम प्राप्त होते है जो उस गाँव के पचकुल के सदस्य थे। इसी प्रकार साँभर के शिलालेख[१०] से श्रीकर्ण और लहाना के नाम ज्ञात होते हैं जो वहाँ के पचकुल के सदस्य थे। कान्हडदे प्रबन्ध[११] मे भी हमे पचकुल के ऐसे सदस्यो का नामोल्लेख मिलता है जो राज्य द्वारा पचकुल मे नियुक्त किये जाते थे और जो साधारण जन-समुदाय का प्रतिनिधित्व करते थे।

हमे पचकुलो के कार्यो के सम्बन्ध मे भी उस समय के ऐतिहासिक साधनो से कुछ जानकारी प्राप्त होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि पचकुलो का प्रमुख कार्य भूमि से सम्बन्धित था जिसमे भूमि का बदलना, उसका नाप, उपज की व्यवस्था करना आदि था। सरकार द्वारा जो भी आदेश भूमि सम्बन्धी होते थे उनका परिपालन पचकुल के द्वारा करवाया जाता था। इस सस्था द्वारा क्रय-विक्रय पर कर लगाये जाते थे और उसका कुल अश लोकोपकारी कामो मे व्यय किया जाता था। देलवाडा के लेख[१२] तथा कान्हडदे प्रबन्ध[१३] से पता चलता है कि पचकुल आयात-निर्यात पर कर लगाता था। महाराणा कुम्भा ने दस हल भूमि पुरोहित बोखा तथा शाह शाहना की साक्षी से दान मे दी थी।[१४] इसी तरह राव गगदास[१५] ने वि० स० १५४० मे

---

७ भण्डारकर रिपोर्ट, १९०४-१९०५, १९०६, न० ४९, जैन इन्स०, भा० १, न० ७२६, पृ० १७३, जैन इन्स०, न० ८५६, पृ० २१७ आदि

८ मजूमदार, चालुक्य ऑफ गुजरात, पृ० २३६, डा० दशरथ शर्मा, चौहान

९ हटुण्डी का शिलालेख, वि० स० १३३५, जैन इन्स० भा० १, न० ८९४

१० साँभर का लेख, वि० स० १३४५, जैन इन्स०, न० ८९७, पृ० २३३

११ कान्हडदे प्रबन्ध, ४, पद ४०

१२ देलवाडा लेख, वि० स० १४९१, जैन लेख सग्रह, भा० २, न० २००९, पृ० २५५-५६

१३ कान्हडदे प्रबन्ध, पद्य ४०-४१

१४ दानपत्र, वि० स० १४९४ (डिपोजिट रेकार्ड, उदयपुर के सग्रह मे)

१५ चीकली का दानपत्र, वि० स० १५४० (प्रतिलिपि डूंगरपुर राजपत्र, १९४३)

जोशीवेणा को गाँव के सयानो के समक्ष, जो भूमि की देखरेख रखते थे, चीकली मे भूमि का दान किया था।

(४) पचायत—पचकुल की यह परम्परा पचायत, चोतरा, चोरा, हथाई आदि सस्थाओ मे देखी जाती है। उदाहरणार्थ, महाराज उग्रसिह (उदपुर) ने अपने कनवे गाँव के हवाले से वसूल की गयी करो की रकम से वराह के मन्दिर को वि० स० १७४५ मे अनुदान देने का आदेश गाँव के सयानो को दिया था।[१६] इसी तरह वि० स० १७८५ मे कपासन के कर की रकम से गुलावचन्द को अपना हिस्सा दिलाये जाने का आदेश स्थानीय पचो को महाराणा द्वारा दिया गया था।[१७] वीकानेर की सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दी की माल की वहियो[१८] से स्पष्ट है कि उद्रामसर, जाजूरा, मुजासर, सवाई आदि गाँवो की पचायते अपनी अपनी सीमाओ मे होने वाले भूमि सम्वन्धी झगडो तथा खेतो की सरहद के फैसले करती थी। उन्नीसवी शताब्दी के पुरालेखो[१९] से प्रतीत होता है कि इन पचायतो का काम चौधरी द्वारा किया जाने लगा जो अपने आपको सरकार के प्रति उत्तरदायी मानता था। वह भूमि सम्वन्धी कामो के अतिरिक्त जन्म-मृत्यु की गणना का व्यौरा भी रखने लगा। उसी का यह काम होता था कि वह अपनी सीमा के गाँवो के सम्वन्धी पत्रो का आदान-प्रदान ऊपरी अधिकारियो से करता रहे। सरकारी आदेशो का भी परिपालन इसके द्वारा होता था।

(५) जातीय पचायत—सामाजिक सस्था के रूप मे हमे जातीय पचायतें प्रत्येक गाँव, कस्वे तथा नगरो में मिलती है। जितनी जातियाँ एक स्थान मे होती थी उतनी ही पचायतें वहाँ रहती थी। आज भी इनका वही स्वरूप दिखायी देता है, परन्तु उसका वह मध्ययुगीन प्रभाव नहीं दिखायी देता। इन सभी जातीय पचायतो का स्वरूप तथा कार्यक्षेत्र लगभग एकसा ही होता था। ये पचायातें विवाह सम्वन्धी झगडो, व्यभिचार के आरोपो, कुटुम्व की कटुताओ तथा जाति के सदस्यो की अशिष्टता सम्बन्धी कार्यो की जाँच किया करती थीं और उस सम्वन्ध में दण्ड तजवीज किया करती थीं। खुली वैठक मे जाँच का ढग अपनाया जाता था और आमतौर से खुले रूप मे ही फैसले सुनाये जाते थे। प्रायश्चित्त, क्षमायाचना, आर्थिक दण्ड, यात्रा के द्वारा पवित्र होना साधारण दण्ड होते थे। जाति से वहिष्कृत होना या सम्पूर्ण जाति समुदाय को भोजन देना भी कठोर दण्ड के अन्तगत थे। दो या अधिक गाँव के पच

---

[१६] पट्टा, वि० स० १७४५ (ओल्ड डिपोजिट रेकार्ड, उदयपुर)

[१७] पत्र, वि० स० १७८५ (उपरोक्त)

[१८] मालरी वही, वि० स० १८५४, १८५६, १८५७ आदि (वीकानेर अभिलेखागार)

[१९] वस्ता न० ४० (कोटा अभिलेखागार), हवाला वही, वि० स० १९०६ (जोधपुर अभिलेखागार), राठौड दानेश्वर वशावली, पृ० १८५ (वीकानेर अभिलेखागार)

मिलकर भी झगडो पर निर्णय देते थे। दण्ड अपराधी को मान्य होता था और उसका फैसला सरकार भी मानती थी।

ऐसे कई सामाजिक झगडो के उल्लेख हमे राजस्थान पुरालेख से प्राप्त होते हैं। बीजासर के नाई की पत्नी के चरित्र सम्बन्धी झगडे को बीजासर, विजपूरिया, समन्दसर और पूरनसर के नाइयो के मुख्य पचो ने मिलकर निपटाया। जब तक ये पच बीजासर मे रहे तो बीजासर के पचायती-कोष से उनके खाने का प्रबन्ध किया गया। जोधपुर के गाँव के कडुए का नियोग का झगडा, एक पीजारिन के नाते जाने का झगडा, शिवदास साधु की सगाई का झगडा आदि पचो ने निपटाया और उसकी मान्यता सरकार ने स्वीकार की।[२०]

वास्तव मे ऊपर वर्णित सस्थाओ की विद्यमानता जनता और सरकार दोनो के लिए उस युग मे लाभदायक थी। सरकारी अधिकारियो का इन सस्थाओ के साथ रहना भी इस अर्थ मे लाभप्रद था कि वे ग्रामीण समस्याओ से तथा स्थानीय नियमो से परिचित रहते थे। साथ ही स्थानीय सदस्यो के लिए सरकारी अधिकारी का अपने साथ रहना एक गौरव का विषय था, क्योकि साधारण और सरकारी अधिकारियो के बीच कोई भेदभाव नही रहता था। यह स्थिति शासन को सुचारु रूप से चलाने मे बडी उपयोगी थी, इसमे कोई सन्देह नही। जहाँ तक जाति पचायतो का सम्बन्ध है वे भी किसी हद तक निष्पक्ष न्याय देने मे सहयोगी साबित हुई। स्थानीय रीति-रिवाजो का इस व्यवस्था द्वारा एक स्तर बन सका और सामाजिक नियमो के परिपालन से समाज मे अनुशासन की भावना को बल मिला। हो सकता है, जहाँ पच सर्वेसर्वा थे वहाँ अन्याय और दबाव की आशका की जा सकती है, परन्तु जहाँ पचो के फैसलो की मान्यता सरकार करती थी और दूसरी स्थानीय पचायतें भी उनको उदाहरण बनाती थी, वहाँ न्याय की सम्भावना अधिक थी। आज हमारे लिए इस स्वरूप मे सघ, पचकुल, गोष्ठी आदि सस्थाएँ नही हैं, परन्तु हमारे समय की स्थानीय स्वायत्त शासन सस्थाओ के विकास और उनके सुधार के लिए उस समय के सामाजिक व धार्मिक नियम, जो उन सस्थाओ की देन हैं, वर्तमानकालीन समाज को प्रेरणा देने के लिए पूर्णरूपेण उपादेय हैं। अच्छा हो, हमारे पचायती राज्य का सगठन कुछ हद तक इन परम्पराओ को ध्यान मे रखते हुए किया जाय, तो स्थानीयता का महत्त्व भी बढ जायगा और हमारे शासन की गतिविधि मे एक नया मोड आ सकेगा।

---

२० डोढी तालिका बही, वि० स० १९११ (जोधपुर अभिलेखागार), टोडी ख्यात, न० ४०, बीकानेर